ॐ तत्सद्ब्रह्मणे नमः ॐ

॥ श्रीसंकर्षणप्रियानुजाय नमः ॥

श्रीभगवते वासुदेवाय नमः

अथ

श्रीमद्भगवद्गीता

कर्मकाण्डाख्ये प्रथमषट्के

* तृतीयोऽध्यायः *

ॐ सहनाववतु सहनौ भुनक्तु । सहवीर्य्यं करवावहै ।
तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै ॥
ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

त्वामतीन्द्रियमव्यक्तमक्षरं निर्गुणं विभुम् ।
ध्यानासाध्यं च सर्वेषां परमात्मानमीश्वरम् ॥
स्वेच्छामयं सर्वरूपं स्वेच्छारूपधरं परम् ।
निर्लिप्तं परमं ब्रह्म बीजरूपं सनातनम् ।
स्थूलात्स्थूलतरं प्राप्तमतिसूक्ष्ममदर्शनम् ॥
स्थितं सर्वशरीरेषु साक्षीरूपमदृश्यकम् ।
शरीरवन्तं सगुणमशरीरं गुणोत्करम् ।
प्रकृतिः प्रकृतीशं च प्राकृतं प्रकृतेःपरम् ॥
सर्वेशं सर्वरूपं च सर्वान्तकरमव्ययम् ।
सर्वाधारं निराधारं निर्व्यूहं स्तौमि किं विभुम् ॥

अहा ! वह देखो ! सामने एक बहुत बडा गम्भीर सागर लहरें लेताहुआ देखपडता है जिसमें एक नउका वहती चली जारही है और उस नउकापर एक कोई पथिक अपनी गठरी मोटरी लादे किसी कर्णधारसे पार उतारदेनेकी प्रार्थना कररहा है। चलो ! थोडा आगे बढकर देखो तो सही ! कैसी लीला है ?

आगे बढकर— सखे ! यह तो एक अद्भुतलीला दृष्टिमें आरही है। यह तो परम अपार महाभारतसंग्राम रूप गंभीर सागरके माझधार में गीता नामकी नउका बही जारही है, जिसपर अर्जुन नामका एक पथिक अपने शुभाशुभ कर्मोंकी गठरी मोटरी लादेहुए जगदभिराम घनश्यामरूप परम प्रवीण कर्णधारसे पार उतारदेनेकी प्रार्थना कररहा है। चलो ! शीघ्र चलो ! हमलोग भी इसी नउकापर चढ अर्जुनके साथ-साथ उसी सांवले कर्णधारसे प्रार्थना करतेहुए झट भवसागरके पार होजावें ॥

अर्जुन उवाच—

मू०— ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन ! ।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ! ॥१॥

+व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिम्मोहयसीव मे ।
तदेकं वद ! निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ॥२॥

पदच्छेदः— जनार्दन× ! (हे जनानामभिलषितसिद्धिकर्त्ता महेश्वर !) चेत् (यदि) कर्म्मणः (कर्मयोगापेक्षया) बुद्धिः (ज्ञानम्) ज्यायसी (प्रशस्ततरा) ते (तव) मता (मान्या) तत् (तर्हि) केशव ! (हे वासुदेव !) घोरे (बन्धुवधाख्येहिंसात्मके क्रूरे) कर्म्मणि (क्रियायाम्) माम् (शोकग्रस्तार्जुनम्) किम् (कथम्) नियोजयसि (प्रवर्त्तयसि । प्रेरयसि) व्यामिश्रेण (क्वचित्कर्मप्रशंसा क्वचित् ज्ञानप्रशंसा इत्येवं सन्देहोत्पादकेन) इव (सदृश) वाक्येन (वचनेन) मे (मम) बुद्धिम् (अल्पमेधाम्) मोहयसि (भ्रान्त्या योजयसि) इव । तत् (तयोः ज्ञानकर्मणोः मध्ये) एकम् (एकार्थम् । मुख्यम् । निश्च-

---

+ किसी किसी गीता में व्यामिश्रेणैव ऐसा पाठ है । तहां अन्वय में इव के स्थानमें एव समझना चाहिये ॥

× इस जनार्दन शब्द की विविध प्रकारकी व्युत्पत्ति अ० १ श्लोक ३५ में देखो । इनमें केवल यहां एक व्युत्पत्ति होनी चाहिये वह यों है—"सर्वैर्जनैरर्द्यते याच्यते स्वाभिलषित सिद्धय इति जनार्दनः" ।

यात्मकम्) निश्चित्य (निर्णयंकृत्वा) वद ! (कथय !) येन (निश्चयात्मकवाक्येन) अहम् (अर्जुनः) श्रेयः (परम कल्याण स्वरूपं मोक्षम्) आप्नुयाम् (प्राप्स्यामि) ॥ १, २ ॥

पदार्थः—(जनार्द्दन!) हे भक्तोंकी अभिलाषा पूर्त्तिकरनेवाले जनार्द्न!(चेत्) यदि (कर्मणः) कर्मयोगसे (बुद्धिः(ज्ञानयोग श्रेष्ठ है ऐसा (ते मता) तुमसे माना जाता है (तत्) तब (केशव !) हे केशव ! तुम (माम्) मुझ अल्पबुद्धिको (घोरे) ऐसे बन्धुओंकी हिंसारूप घोर (कर्मणि) कर्ममें (किम्) क्यों (नियोजयसि) प्रेरणा करते हो ? अथवा यों अर्थ करलीजिये, कि जब कर्मयोगसे ज्ञानयोग श्रेष्ठ मानतेहो तो क्यो मुझको फिर कर्ममें प्रवृत्त होनेकी आज्ञा देते हो ? ॥ १ ॥

भगवन् ! ऐसे (व्यामिश्रेण इव) दो प्रकारके मिलेहुए वचनोंके समान (वाक्येन) वाक्योंसे तुम (मे बुद्धिम्) मेरी अल्पबुद्धिको (मोहयसीव) मोहित करनेवालेके समान क्यों मोहमें डालते हो ? इसलिये (तत्) इन दोनोंमें जो श्रेष्ठ हो (एकम्) उसी एकको (निश्चित्य) निश्चयकरके (वद !) कहो ! (येन) जिससे (अहम्) मैं (श्रेयः) परमकल्याणरूप मोक्षको (आप्नुयाम्) प्राप्त होऊं ॥ २ ॥

भावार्थः—दूसरे अध्यायमें योगेश्वर भगवान् श्री कृष्णचन्द्र आनन्दकन्दने अर्जुनके कल्याण निमित्त "सांख्ययोग" और "कर्मयोग" का उपदेश किया । अर्थात् "प्रजहाति यदा कामान्"

(अध्याय २ श्लोक ५५) से "एषा ब्राह्मीस्थितिः पार्थ ०० ०" (श्लोक ७२) तक "ज्ञाननिष्ठा"का उपदेश किया, पर इससे पहले उसी अध्यायके ४७ वें श्लोकमें "कर्मण्येवाधिकारस्ते" तथा ४८ वें में "योगस्थः कुरु कर्म्माणि" कहकर कर्म्मनिष्ठा का उपदेश करचुकेथे। इसी कारण इन दो प्रकारकी बातोंको सुन अर्जुनके चित्तमें व्याकुलता उत्पन्न होआयी। विचारने लगा, कि यह बात कैसी हुई? (मैं तो श्रीपतिको अपना परम हितकारी गुरु जानकर ऐसी आपत्तिके समय अपना परम श्रेय पूछ रहाहूं और उनसे यों कहचुका हूं कि "पृच्छामि त्वां धर्म्मसंमूढचेताः" हे भगवन्! मैं धर्म्म विषयमें मूढ हूं। इसलिये मैं तुमसे यह पूछताहूं कि "यच्छ्रेयस्यान्निश्चितं-ब्रूहि तन्मे ० ००" जो मेरेलिये कल्याणकारेक हो सो निश्चय कर उपदेश करो!) पर बडे शोक की बात है, कि जनार्दनने ऐसा न किया।

ये वार्त्तायें तो मेरी उस प्रार्थनासे विपरीत देखपडती हैं। न जाने इनके गूढ-मर्म मेरी समझमें न आये वा ऐसे घोर समयमें केशव मेरी बुद्धिकी परीक्षा कररहा है। क्योंकि जिस "ज्ञाननिष्ठा"को मुक्तिका उपाय बतलाया है, मुझको तिस ज्ञान-निष्ठासे रोककर कर्म निष्ठाहीमें रहनेकी आज्ञा कीहै। जो कर्म इस एक जन्ममें मेरी मुक्ति का कारण नहीं होसकता। इससे बोध होता है, कि मुझको युद्धरूप घोर कर्ममें फंसाकर अनेक जन्मोंमें भटकनेकेलिये छोडदिया है। हा! मैं ऐसा मन्दभाग्य हूं।

ऐसे मनमें विचार, व्याकुल-चित्त होकर बोला, कि [ज्यायसी

चेत् कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्द्दन !] हे जनार्दन ! तुमको सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड जनार्दन इसी कारण कहता है, कि " सर्वैर्जनैरर्थ्यते याच्यते स्वाभिलषित सिद्धय इति जनार्दनः " अपनी अभिलाषा की सिद्धि निमित्त जो सर्वोंसे याचा जावे वा जिससे सब प्राणी अपनी मनोकामनाकी सिद्धिकी प्रार्थना करें उसे कहिये जनार्दन । अथवा " जनं जननं तत्कारणमज्ञानं च स्वसाक्षात्कारेणार्दयति हिनस्तीति जनार्दनः !" जो जन्मको अथवा मातृगर्भमें जन्म लेनेका जो मुख्य कारण अविद्या तिसे नाश करदेवे, उसे कहिये जनार्दन । सो हे भगवन् ! ये सब गुण तो तुममें विद्यमान ही हैं फिर तुम "जनार्दन" कहलाकर इस समय मेरी बुद्धिको व्याकुल क्यों कररहे हो ? यदि तुम्हारी समझमें यही निश्चय है, कि कर्मसे ज्ञान श्रेष्ठ है तो फिर मैंने जो पहले तुमसे यही कहा था, कि इन "भीष्म द्रोण इत्यादि श्रेष्ठ पुरुषोंके वध करनेसे सन्न्यासी हो, भीख मांगकर खाना उत्तम है" इस मेरे वचनको तुमने न माना । [तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव !] तब क्यों अपने बन्धुओंकी हिंसा रूप महा घोर नरकावह कर्ममें मुझको नियुक्त करते हो ? ऐसा क्यों ? ऐसे कर्म से मुझको मुक्त क्यों नहीं करते ? तुमतो कर्मोंका निषेध करते हो ! फिर कहते हो, कि युद्ध कर ! ऐसा क्यों ? जब तुम ऐसी बात करोगे तो मुझ अज्ञानीका कहां ठिकाना लगेगा ? । माता यदि दूधमें विष मिलाकर बच्चेको पिलावे तो उसके बचनेकी क्या आशा कीजासकती है ? इसी प्रकार तुम्हारा उपदेश श्रवण कर मैं मानो मरा चलाजाता हूं। क्योंकि [व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे]

दो तत्त्वोंके मिश्रित वचनोंसे मेरी बुद्धिको तुम मोहमें डालरहे हो। यदि तुम्हारे विचारसे तुम्हारे वचन उचित हों तो हों, पर मैं मन्दमति हूं, मेरी समझमें कुछ नहीं आते। कभी तो तुम कहते हो, कि "त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन" (अ० २ श्लो० ४५) वेद त्रिगुणात्मक कर्मोंके बतानेवाले हैं इसलिये तू इनको छोड निस्त्रैगुण्य होजा! और निर्द्वन्द्व, नित्य सत्त्वस्थ होकर योग क्षेमकी परवाह न करके आत्मानन्दमें प्रवेश करजा। अप्रमत्त होकर अपनेमें स्थिर होजा! ऐसा कहकर मुझको निवृत्तिमार्ग उपदेश करते हो। फिर कहते हो, कि "कर्मण्येवाधिकारस्ते ०००" (अध्या० २ श्लो० ४७) तथा "धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते" (अ० २ श्लो० ३१) अर्थात् कर्म ही में तेरा अधिकार है और क्षत्रियोंके लिये युद्धसे बढकर कोई दूसरा धर्म नहीं है। ऐसे कहकर प्रवृत्तिमार्ग में डुबाते हो। फिर कहते हो, कि "दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय!" (अ० २ श्लो० ४९) अर्थात् हे धनंजय बुद्धियोगसे कर्म अत्यन्त निकृष्ट है। इस वचनसे ज्ञाननिष्ठाकी अपेक्षा कर्मको निकृष्ट बतलाते हो। एवम् प्रकार हे भगवन! एकही अधिकारीको प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनोंका अधिकार कैसे होसकता है? जैसे एक ही प्राणी को कोई कहे, बैठे भी रहो और चलो भी, तो ऐसा नहीं होसकता।

हे भगवन! आपहीके उपदेशसे मैं इतना तो अवश्य समझ गया हूं, कि जो देहाभिमानी है, उसको कर्मकी आवश्यकता है। क्योंकि उसे अपने देहका पालन, पोषण तथा अपने नाम, यश, प्रभुता, महत्व इत्यादिके प्रचार करनेकी लालसा बनी रहती है। इसलिये वह कर्मोंमें

फँसा रहता है। इसीके प्रतिकूल जिसका देहाभिमान नष्ट होगया है उसीको ज्ञानकी प्राप्ती होती है। इसलिये यहतो एक सीधी बात सभी समझ सकते हैं, कि कर्म और ज्ञानका अधिकारी एकही पुरुष नहीं होसकता।" हे गोविन्द! तब तुम मुझ एक मन्दमतिके प्रति क्यों ऐसे मिश्रित वचनोंको कहकर मेरी बुद्धिको मोहमें डालरहे हो? यदि ऐसे कहो, कि "मैं तुझसे "कर्म" और "ज्ञान" दोनोंको विकल्प मात्र कहताहूं" तो हे भगवन्! स्वजातीय वस्तुमें विकल्प होसकता है पर विजातीयमें नहीं। जैसे धातुओंके गलाते समय स्वर्णकार सोना, चांदी, तांबा इत्यादि भिन्न-भिन्न धातुओंको मिलानेमें विकल्प करसकता है, पर इन धातुओंमें किसी काष्ठ वा फल, फूल इत्यादिका विकल्प नहीं होसकता। इसीप्रकार ज्ञान और कर्म जो तुम्हारे ही कहने सेविजातीय देख पडते हैं इनमें विकल्प नहीं होसकता। दूसरी बात यह है, कि जब कर्मसे ज्ञान श्रेष्ठ है, तो ऐसा कौन मूर्ख होगा जो ऐसे ज्ञानरूप हीराको छोड कर्मरूप कांचका ग्रहण करेगा? यदि यह कहो, कि इन दोनोंके अधिकारी भिन्न-भिन्न रहे, तो ऐसे अल्प समय में, मुझ एक अर्जुनके प्रति दोनों के कहनेकी क्या आवश्यकता थी? इसलिये हे जनार्दन! मेरी बुद्धि इस समय शान्तिको न प्राप्त करके औरभी व्याकुल होगयी है।

प्रिय पाठको! सत्य है। इस समय अर्जुनकी दशा ऐसी होरही है जैसे "ग्रहग्रहीत पुनि वातवश तेहि पुनि वीछी मार। ताहि पियाइये वारुणी कहहु कौन उपचार॥" (तुलसी) अर्थ—कोई पुरुष अपने किसी बुरे ग्रहसे ग्रसाहुआ दुःखी होरहा हो, तिसपर वातवश हो-

सपूर्णग्रन्थस्य वृत्तसख्या १६४९ 'माघः स्तुत्यः' एतन्मिता । पञ्चदशे सर्गे क्षेपकाः श्लोकाः३४ चतुस्त्रिंशत् समाप्तौ कविवंशवर्णनश्लोकाः ५ पञ्च एव समुदिता वृत्तसख्या १६८४ 'भज तपः' एतन्मिता ।

श्रीमद्वेङ्कटेशाय नमः ।

शिशुपालवधमहाकाव्यटीका प्रारभ्यते ।

इन्दीवरदलश्याममिन्दिरानन्दकन्दलम् ।
वन्दारुजनमन्दारं वन्देऽहं यदुनन्दनम् ॥ १ ॥
दन्ताञ्चलेन धरणीतलमुन्नमय्य
पातालकेलिषु धृतादिवराहलीलम् ।
उल्लाघनोत्फणफणाधरगीयमान-
क्रीडावदानमिभराजमुखं नमामि ॥ २ ॥
शारदा शारदाम्भोजवदना वदनाम्बुजे ।
सर्वदा सर्वदास्माकं सन्निधिं सन्निधिं क्रियात् ॥ ३ ॥
वाणीं काणभुजीमजीगणदवाशासीच्च वैयासकी-
मन्तस्तन्त्रमरंस्त पन्नगगवीगुम्फेषु चाजागरीत् ।
वाचामाचकलद्रहस्यमखिलं यश्चाक्षपादस्फुरां
लोकेऽभूद्यदुपज्ञमेव विदुषां सौजन्यजन्यं यशः ॥ ४ ॥
मल्लिनाथः सुधीः सोऽयं महोपाध्यायशब्दभाक्
विधत्ते माघकाव्यस्य व्याख्यां सर्वङ्कषाभिधाम् ॥ ५ ॥
ये शब्दार्थपरीक्षणप्रणयिनो ये वा गुणालङ्क्रिया-
शिक्षाकौतुकिनो विहर्तुमनसो ये च ध्वनेरध्वनि ।
क्षुभ्यद्भावतरङ्गिते रससुधापूरे मिमङ्क्षन्ति ये
तेषामेव कृते करोमि विवृतिं माघस्य सर्वङ्कषाम् ॥ ६ ॥
नेतास्मिन्यदुनन्दनः स भगवान्वीरप्रधानो रसः
शृङ्गारादिभिरङ्गवान्विजयते पूर्णा पुनर्वर्णना ।
इन्द्रप्रस्थगमाद्युपायविषयश्चैद्यावसादः फलं
धन्यो माघकविर्वयं तु कृतिनस्तत्सूक्तिसंसेवनात् ॥ ७ ॥
इहान्वयमुखेनैव सर्वं व्याख्यायते मया ।
नामूलं लिख्यते किञ्चिन्नानपेक्षितमुच्यते ॥ ८ ॥

श्रीः ।

सर्वङ्कषया समेतं—

शिशुपालवधम् ।

प्रथमः सर्गः ।

अथ तत्रभवान् माघकविः ' काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये । सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे ' इत्यालङ्कारिकवचनप्रामाण्यात्काव्यस्यानेकश्रेयःसाधनतां ' काव्यालापांश्च वर्जयेत् ' इति निषेधस्यासत्काव्यविषयतां च पश्यन् शिशुपालवधाख्यं काव्यं चिकीर्षुः चिकीर्षितार्थाविघ्नपरिसमाप्तिसम्प्रदायाविच्छेदलक्षणफलसाधनत्वात् ' आशीर्नमस्क्रिया वस्तुनिर्देशो वापि तन्मुखम् ' इत्याशीरादन्यतमस्य प्रबन्धमुखलक्षणत्वाच्च काव्यफलं शिशुपालवधबीजभूतं भगवतः श्रीकृष्णस्य नारददर्शनरूपं वस्तु आदौ श्रीशब्दप्रयोगपूर्वकं निर्दिशन् कथामुपक्षिपति—

श्रियः पतिः श्रीमति शासितुं जगज्जगन्निवासो वसुदेवसद्मनि ।
वसन्ददर्शावतरन्तमम्बराद्धिरण्यगर्भाङ्गभुवं मुनिं हरिः ॥ १ ॥

श्रिय इति । तत्रादौ श्रीशब्दप्रयोगात् वर्णगणादिशुद्धेरभ्युच्चयः । तदुक्तम् । ' देवतावाचकाः शब्दा ये च भद्रादिवाचकाः । ते सर्वे नैव निन्द्याः स्युर्लिपितो गणतोऽपि वा' ' इति । श्रियः लक्ष्म्याः पतिः अनेन रुक्मिणीरूपया श्रिया समेत इति सूचितम् । 'राघवत्वे भवेत्सीता रुक्मिणी कृष्णजन्मनि' इति विष्णुपुराणात् । जगन्निवासो जगतामाधारभूतः । कुक्षिस्थाखिलभुवन इति यावत् । तथापि जगत् लोकं शासितुं दुष्टनिग्रहशिष्टानुग्रहाभ्यां नियन्तुं श्रीमति लक्ष्मीयुक्ते वसुदेवसद्मनि वसुदेवरूपिणः कश्यपस्य वेश्मनि वसन् कृष्णरूपेण तिष्ठन् हरिर्विष्णुः अम्बरादवतरन्तमायान्तम् । इन्द्रसन्देशकथनार्थमिति भावः । हिरण्यस्य गर्भो हिरण्यगर्भो ब्रह्मा । ब्रह्माण्डप्रभवत्वात् तस्याङ्गभुवं तनूजम् । अथवा तस्याङ्गादवयवादुत्सङ्गाख्याद्भवतीति हिरण्यगर्भाङ्गभूस्तं मुनिम् । नारदमित्यर्थः । 'उत्सङ्गान्नारदो जज्ञे दक्षोऽङ्गुष्ठात्स्वयम्भुवः' इति [illegible]वतात् । ददर्श । कदाचिदिति शेषः । अत्राल्पीयसि वसुदेवसद्मनि सकलजगदाश्रयतया महीयसो हरेराधेयत्वकथनादधिकप्रभेदोऽर्थालंकारः । तदुक्तम् । ' आधाराधेययोरानुरूप्याभावोऽधिको मतः ' इति । जगन्निवासस्य जगदेकदेशनिवासित्वमिति विरोधश्च । तथा तकारसकारादेः केवलस्यासकृदावृत्त्या जगज्जगदिति सकृद्व्यञ्जनद्वयसादृश्याच्च वृत्त्यनुप्रासभेदौ शब्दालंकारौ । एषां चान्योन्यनैरपेक्ष्ये

णैकत्र समावेशात्तिलतण्डुलवत्संसृष्टिः । सर्गेऽस्मिन् वंशस्थवृत्तम् । ' जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरौ ' इति लक्षणात् ॥ १ ॥

तदानीं जनैर्विस्मयादीक्षितु प्रवृत्तमित्याह-

गतं तिरश्चीनमनूरुसारथेः प्रसिद्धमूर्ध्वज्वलनं हविर्भुजः ।
पतत्यधो धाम विसारि सर्वतः, किमेतदित्याकुलमीक्षितं जनैः ॥२॥

गतमिति । अविद्यमानावूरू यस्य सोऽनूरुः स सारथिर्यस्य तस्यानूरुसारथेः सूर्यस्य गतं गतिः । भावे क्तः । तिरश्चीनं तिर्यग्भूतम् "विभाषाऽञ्चेरदिक्स्त्रियाम्" इति तिरश्चशब्दादञ्चत्यन्तात्प्रातिपदिकात्स्वार्थे खप्रत्ययः । हविर्भुजोऽग्नेरूर्ध्वज्वलनमूर्ध्वस्फुरणं प्रसिद्धम् इदं तु सर्वतो विसारि धामावः पतति । किमेतदिति सूर्याग्निविलक्षणमदृष्टपूर्वमिदं धाम किनाम स्यादित्याकुलं विस्मयात् सम्भ्रान्तं यथा तथा, जनैरीक्षितम् ईक्षणं कृतम् । सकर्मकादपीक्षतेः कर्मणि भावे क्तः " प्रसिद्धेरविवक्षातः कर्मणोऽकर्मिका क्रिया " इति वचनात् केचित् कर्मणि क्तान्तं कृत्वा ईक्षितं मुनिं द्रष्टेति पूर्वेण योजयन्ति । अत्रोपमेयस्य मुनितेजसः सूर्याग्निभ्यामुपमानाभ्यामधःप्रसरणधर्मेणाधिक्यवर्णनात् व्यतिरेकः । तदुक्तं काव्यप्रकाशे । ' उपमानाद्यदन्यस्य व्यतिरेकः स एव सः ' इति ' धाम रश्मौ गृहे देहे स्थाने जन्मप्रभावयोः ' इति हेमचन्द्रः ॥ दिवाकरस्तु वृत्तरत्नाकरटीकायां प्रथमपठितेन

' द्विधाकृतात्मा किमयं दिवाकरो विधूमरोचिः किमयं हुताशनः '

इति चरणद्वयेन सहेममेव श्लोकं षट्पदच्छन्दस उदाहरणमाह-तत्राद्यचरणद्वयेन सन्देहाकारो गतमिति तन्निरासश्च बोध्य इत्युपरिष्टात् २ ॥

अथ भगवान्निरनैषीदित्याह-

चयस्त्विषामित्यवधारितं पुरा ततः शरीरीति विभाविताकृतिम् ।
विभुर्विभक्तावयवं पुमानिति क्रमादमुं नारद इत्यबोधि सः॥३॥

चय इति । विभुस्तत्त्वावधारणसमर्थः स हरिः पुरा प्रथमं त्विषां चय इत्यवधारितं तेजःपुञ्जमात्रत्वेन विनिश्चितं ततः प्रत्यासत्तेः विभाविता विमृष्टा आकृतिः संस्थानं यस्य त तथोक्तम् अत एव शरीरी चेतन इत्यवधारितम् । ततो विभक्ता विविच्य गृहीता अवयवा मुखादयो यस्य तं तथोक्तम् । अत एव पुमानित्यवधारितं अमुमागच्छन्तम् व्यक्तिविशेषं नारदं वास्तवाभिप्रायेणेति पुंलिङ्गतो निर्वाहः । क्रमात् पूर्वोक्तसामान्यविशेषज्ञानक्रमेण । लोकदृष्टयेदमुक्तं हरिस्तु सर्वं वेदैवेति तत्त्वम् । नारद इत्यबोधि । नारदं बुद्धवानित्यर्थः । नारदस्य कर्मत्वेऽपि निपातशब्देनाभिहितत्वान्न द्वितीया । तिङामुपसंख्यानस्योपलक्षणत्वात् । यथाह वामनः । " निपातेनाभिहिते कर्मणि न कर्मविभक्तिः । परिगणनस्य प्रायिकत्वात् " इति बुध्यतेः कर्तरि लुङ् " दीपजन " इत्यादिना चिण् " चिणोलुक् " इति तस्य लुक् । अत्र विभाविताकृतिं विभक्तावयवमित्यादिना आकृतिविभावनात्-

यत्रविभावनयो. पदार्थयोर्विशेषणवृत्त्या शरीरित्वपुंस्त्वावधारणहेतुत्वेनोपन्यासात् पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कारः । " हेतोर्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिङ्गमुदाहृतम् " इति लक्षणात् ॥ ३ ॥

अथ सप्तभिर्मुनिं विशिनष्टि—

नवानधोऽधो बृहतः पयोधरान्समूढकर्पूरपरागपाण्डुरम् ।
क्षणं क्षणोत्क्षिप्तगजेन्द्रकृत्तिना स्फुटोपमं भूतिसितेन शम्भुना ॥४॥

नवानित्यादि । कीदृशममुं नवान् सद्यःसम्भृतसलिलान् । अतिनीलानिति यावत् । बृहतो विपुलान् पयोधरान् मेघान् अधोऽधः मेघानां समीपाध प्रदेशे स्थितमिति शेषः । " उपर्यध्यधसः सामीप्ये " इति द्विर्भावः, तद्योगे द्वितीया । " उभसर्वतसोः कार्या धिगुपर्यादिषु त्रिषु" इत्यादिवचनात् । समूढः पुञ्जीकृतः 'समूढः पुञ्जिते शुभ्रे ' इति विश्वः । कर्पूरस्य परागश्चूर्णं तद्वत्पाण्डुरम् अत एव क्षणं मेघसमीपावस्थानक्षणे । अत्यन्तसंयोगे द्वितीया । क्षणेषु ताण्डवोत्सवेषु । ' निर्व्यापारस्थितौ कालविशेषोत्सवयोः क्षणः' इत्युभयत्राप्यमरः । उत्क्षिप्ता उपरि धारिता गजेन्द्रस्य कृत्तिश्चर्म येन तेन । 'अजिनं चर्म कृत्तिः स्त्री ' इत्यमरः । भूत्या भस्मना सितेन । ' भूतिर्भस्मनि सम्पदि ' इत्यमरः । शम्भुना स्फुटा उपमा सादृश्यं यस्य तं स्फुटोपमं शम्भूपममित्यर्थः । सापेक्षत्वेऽपि समासः । सदृशपर्यायपर्योस्तुलोपमाशब्दयोः "अतुलोपमाभ्याम् " इति निषेधात्सादृश्यवाचित्वे तृतीयेत्याहुः।केचिदिमं श्लोकं चयरिचयामित्यतः प्राक् लिखित्वा व्याचक्षते तेषां पुंस्त्वावधारणात् प्राक् तेजःपिण्डमात्रस्य शम्भूपमौचित्यं चिन्त्यम् ॥ ४ ॥

दधानमम्भोरुहकेसरद्युतीर्जटाः शरच्चन्द्रमरीचिरोचिषम् ।
विपाकपिङ्गास्तुहिनस्थलीरुहो धराधरेन्द्रं व्रततीततीरिव ॥ ५ ॥

दधानमिति । पुनश्च अम्भोरुहकेसरद्युतीः पद्मकिञ्जल्कप्रभापिशङ्गीरित्यर्थः । जटा दधानं स्वयं तु शरच्चन्द्रमरीचिरिव रोचिर्यस्य तं धवलमित्यर्थः । अत एव विपाकेन परिणामेन पिङ्गाः पिङ्गलाः तुहिनस्थल्यां रोहन्तीति तुहिनस्थलीरुहः व्रततीततीर्लतासमूहान् । ' वल्ली तु व्रतती लता ' इत्यमरः । दधानं धराधरेन्द्रं हिमवन्तं । तुहिनस्थलीनिर्दिष्टान् नारदोपमानत्वाच्च तमिव स्थितम् ॥ ५ ॥

पिशङ्गमौञ्जीयुजमर्जुनच्छविं वसानमेणाजिनमञ्जनद्युति ।
सुवर्णसूत्राकलिताधराम्बरां विडम्बयन्तं शितिवाससस्तनुम् ॥६॥

पिशङ्गेति । पुनः मुञ्जस्तृणविशेषः तन्मयी मेखला मौञ्जी पिशङ्गया मौञ्ज्या युज्यत इति पिशङ्गमौञ्जीयुक् तम् । "सत्सूद्विष " इत्यादिना क्विप्, " स्त्रियाः पुंवत्" इत्यादिना पिशङ्गशब्दस्य पुंवद्भावः । अर्जुनच्छविं धवलकान्तिम् । 'वलक्षो धवलोऽर्जुनः 'इत्यमरः । अञ्जनद्युति

अञ्जनवर्णम् एणाजिनं कृष्णमृगचर्म वसानम् आच्छादयन्तम् । 'वस आच्छादने' इति धातो. शानच् । सुवर्णसूत्रेण कनकमेखलया आकलितं बद्धम् अधराम्बरम् अन्तरीयकं यस्याम्ना शितिवाससो नीलाम्बरस्य रामस्य तनु विडम्बयन्तमनुकुर्वाणमित्यार्थीयमुपमा ॥ ६ ॥

विहङ्गराजाङ्गरुहैरिवायतैर्हिरण्मयोर्वीरुहवल्लितन्तुभिः ।
कृतोपवीतं हिमशुभ्रमुच्चकैर्घनं घनान्ते तडितां गणैरिव ॥ ७ ॥

विहङ्गेति । पुन. विहङ्गराजाङ्गरुहैरिव गरुत्मल्लोमतुल्यैः कै. आयतैर्दीर्घैः हिरण्यस्य विकारो हिरण्मयी । " दाण्डिनायन हास्तिनायन " इत्यादिना मयटि यलोपनिपात. । तस्या-मुर्व्या रुहा रूढाः इगुपधालक्षणः कप्रत्ययः । तासा वल्लीना तन्तुभिस्तत्तुल्यैः सूक्ष्मावयवै. उपादानगुणात् हिरण्मयै. कृतोपवीतं शोभार्थं कल्पितयज्ञसूत्र स्वयं हिमशुभ्रम् अत एव घनान्ते शरदि तडिता गणैरुपलक्षितम् । 'तडित्सौदामनी विद्युत्' इत्यमर. । उच्चैरेव उच्चकैरुन्नत घनं मेघमिव स्थितम् ॥ ७ ॥

निसर्गचित्रोज्ज्वलसूक्ष्मपक्ष्मणा लसद्बिसच्छेदसिताङ्गसङ्गिना ।
चकासतं चारुचमूरुचर्मणा कुथेन नागेन्द्रमिवेन्द्रवाहनम् ॥ ८ ॥

निसर्गेति । पुनः निसर्गात् स्वभावादेव चित्राणि शबलानि उज्ज्वलानि भास्वराणि सूक्ष्माणि पक्ष्माणि लोमानि यस्य तेन लसन् यो बिसच्छेदो मृणालखण्ड । 'छेदः खण्डोऽस्त्रि-याम्' इति त्रिकाण्डशेष । तद्वत्सिते अङ्गे वपुषि सङ्गिना सक्तेन चारुणा चमूरुचर्मणा मृगत्वचा कुथेन पृष्ठास्तरणेन । 'प्रवेण्यास्तरण वर्णः परिस्तोम' कुथो द्वयोः' इत्यमर. । इन्द्रवाहन नागेन्द्रम् ऐरावतमिव चकासत शोभमानम् । इन्द्रस्य वाहनमिति स्वस्वामिभावमात्रस्य विवक्षि-तत्वात् " वाहनमाहितात् " इति न णत्वम् । यथाह वामनः । 'नेन्द्रवाहनशब्दे णत्वमाहितत्व-स्याविवक्षितत्वात्' इति । चकासतेः शतरि " नाभ्यस्ताच्छतु " इति नुमभावः । " जक्षित्यादय षट् " इत्य. यस्तसंज्ञा ॥ ८ ॥

अजस्रमास्फालितवल्लकीगुणक्षतोज्ज्वलाङ्गुष्ठनखांशुभिन्नया ।
पुरः प्रवालैरिव पूरितार्द्धया विभान्तमच्छस्फटिकाक्षमालया ॥ ९ ॥

अजस्रमिति । पुनरजस्र प्राचुर्येणास्फालितास्ताडिता' । सौष्ठवपरीक्षार्थं न्युब्जाङ्गुष्ठेन तन्त्री-ताडन प्रसिद्धम् । तेषा वल्लकीगुणाना वीणातन्त्रीणा क्षतेन सङ्घर्षणेन उज्ज्वलैरङ्गुष्ठनखांशुभिर्भि-न्नया मिश्रया । तद्रागरक्तयेत्यर्थ । अतएव पुर. पुरोभागे प्रवालैर्विद्रुमै. । 'अथ विद्रुम. पुंसि प्रवाल पुनपुंसकम्' इत्यमरः । पूरितार्द्धयेव स्थितया अच्छस्फटिकाक्षमालया स्वच्छस्फटिकानां मालया । जपमालयेत्यर्थ. । 'अच्छो भल्लूके स्फटिकेऽमलेऽच्छाभिमुखेऽव्ययम्' इति हेमचन्द्र.- तथा प्रसिद्धस्फटिकग्रहणात् ऋषेर्मोक्षार्थित्वं व्यज्यते । 'स्फटिको मोक्षदः परम्' इति मोक्षार्थिनः

स्फटिकाक्षमालाभिधानात् । विभान्तं भासमानम् । भातेः शतृप्रत्ययः । अत्र नखांशुभिन्नयेति स्वगुणत्यागेनान्यगुणस्वीकारलक्षणस्तद्गुणालंकार उक्तः । 'तद्गुणः स्वगुणत्यागात्' । इति॥९॥

रणद्भिराघट्टनया नभस्वतः पृथग्विभिन्नश्रुतिमण्डलैः स्वरैः ।
स्फुटीभवद्ग्रामविशेषमूर्च्छनामवेक्षमाणं महतीं मुहुर्मुहुः ॥ १० ॥

रणद्भिरिति । पुनर्नभस्वतो वायोराघट्टनया आघातेन पृथगसङ्कीर्णं रणद्भिर्ध्वनद्भिः । अनुरणनोत्पद्यमानैरित्यर्थः । 'श्रुत्यारब्धमनुरणनं स्वरः' इति लक्षणात् । तदुक्तं रत्नाकरे । 'श्रुत्यनन्तरभावी यः स्निग्धोऽनुरणनात्मकः । स्वतो रञ्जयति श्रोतुश्चित्तं स स्वर उच्यते' इति । श्रुतिर्नाम स्वरारम्भकावयवः शब्दविशेषः । तदुक्तम् । 'प्रथमश्रवणाच्छब्दः श्रूयते ह्रस्वमात्रकः । सा श्रुतिः सम्परिज्ञेया स्वरावयवलक्षणा' इति । विभिन्नानि प्रतिनियतसङ्ख्यया व्यवस्थितानि श्रुतीनां मण्डलानि समूहा येषां तैर्विभिन्नश्रुतिमण्डलैः. श्रुतिसङ्ख्यानियमश्च दर्शितः । 'चतुश्चतुश्चतुश्चैव षड्जमध्यमपञ्चमाः । द्वे द्वे निषादगान्धारौ त्रिस्त्रिर्ऋषभधैवतौ' इति स्वराः षड्जादयः सप्तोक्तलक्षणाः । तदुक्तम् । 'श्रुतिभ्यः स्युः स्वराः षड्जर्षभगान्धारमध्यमाः । पञ्चमो धैवतश्चाथ निषाद इति सप्त ते । तेषां सञ्ज्ञाः सरिगमपधनीत्यपरा मताः' इति । तैः स्वरैः स्फुटीभवन्त्यो ग्रामविशेषाणां षड्जाद्यपरनामकानां स्वरसङ्घातभेदानां त्रयाणां मूर्छनाः स्वरारोहावरोहक्रमभेदा यस्याः तां महतीं निजवीणाम् । 'विश्वावसोस्तु बृहती तुम्बुरोस्तु कलावती । महती नारदस्य स्यात्सरस्वत्यास्तु कच्छपी' इति वैजयन्ती । मुहुर्मुहुरवेक्षमाणम् । तन्त्रीयोजनाभेदलक्षणमहिम्ना पुरुषप्रयत्नमन्तरेणैवाविसंवादं ध्वननीति कौतुकादनुसन्दधानमित्यर्थः । अथ ग्रामलक्षणम् । 'यथा कुटुम्बिनः सर्वेऽप्येकीभूता भवन्ति हि । तथा स्वराणां सन्दोहो ग्राम इत्यभिधीयते । षड्जग्रामो भवेदादौ मध्यमग्राम एव च । गान्धारग्राम इत्येतद्ग्रामत्रयमुदाहृतम्' इति । तथा च 'नन्द्यावर्तोऽथ जीमूतः सुभद्रो ग्रामकास्त्रयः । षड्जमध्यमगान्धारास्त्रयाणां जन्महेतवः' इति । मूर्च्छनालक्षणं च । 'क्रमात्स्वराणां सप्तानामारोहश्चावरोहणम् । सा मूर्च्छेत्युच्यते ग्रामस्था एताः सप्त सप्त च' इति । ग्रामत्रयेऽपि प्रत्येकं सप्त सप्त मूर्च्छना इत्येकविंशतिमूर्च्छना भवन्ति । तत्र नामानि तु 'नानपेक्षितमुच्यते' इति प्रतिज्ञाभङ्गभयान्न लिख्यन्ते इति सर्वमवदातम् । अत्र पुरुषव्यापारमन्तरेण स्वराद्याविर्भावोक्त्या कोऽपि लोकातिक्रान्तोऽयं शिल्पसौष्ठवातिशयो वीणायाः प्रतीयते । तेन सह स्वतःप्रसिद्धातिशयस्याभेदेनाध्यवसितत्वात् तन्मूलातिशयोक्तिरलंकारः । सा च महत्याः पुंव्यापारं विना मूर्च्छाद्यसम्बन्धेऽपि सम्बन्धाभिधानादसम्बन्धे सम्बन्धरूपतया पुंव्यापाराख्यरूपकारणं विनापि मूर्छनादिकार्योत्पत्तिद्योतनाद्विभावना व्यज्यत इत्यलङ्कारेणलङ्कारध्वनिरितिसङ्क्षेपः ॥ १० ॥

निवर्त्य सोऽनुव्रजतः कृतानतीनतीन्द्रियज्ञाननिधिर्नभस्सदः ।
समासदत्सादितदैत्यसम्पदः पदं महेन्द्रालयचारु चक्रिणः॥११॥

निवर्त्येति । अतीन्द्रिया इन्द्रियमतिक्रान्ता देशकालस्वरूपाद्विप्रकृष्टार्थाः ।" अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया " इति समासः । " द्विगुप्राप्तापन्नालम्पूर्वगतिसमासेषु परलिङ्गताप्रतिषेधो वक्तव्यः " इति विशेष्यलिङ्गत्वम् । तेषां ज्ञानं तस्य निधिः सर्वार्थद्रष्टेत्यर्थः । कृतानतीन् कृतप्रणामान् अनुव्रजतोऽनुगच्छतः नभसि आकाशे सीदन्ति गच्छन्तीति नभःसदः सुरान् । "सत्सूद्विष "इत्यादिना क्विप् । निवर्त्य प्रतिषिध्य स मुनिः सादितदैत्यसम्पदः सादिताः विध्वस्तीकृताः दैत्यानां सम्पदो येन तस्य चक्रिणः कृष्णस्य पदं स्थानं महेन्द्रालयचारु इन्द्रभवनमिव भासमानं समासदत् । समाङ्पूर्वात् पद्धातोर्लुङ् । "पुषादि " इत्यङ् । अत्र नतीनतो पदः पदमिति च द्वयोर्व्यञ्जनयुग्मयोरसकृदावृत्त्या छेकानुप्रासः अन्यत्र वृत्त्यनुप्रासः इत्यनयोः संसृष्टिः ॥११॥

पतत्पतङ्गप्रतिमस्तपोनिधिः पुरोऽस्य यावन्न भुवि व्यलीयत ।
गिरेस्तडित्वानिव तावदुच्चकैर्जवेन पीठादुदतिष्ठदच्युतः ॥ १२ ॥

पतदिति । पतन् यः पतङ्गः सूर्यः स प्रतिमा उपमानं यस्य सः । ' पतङ्गौ पक्षिसूर्यौ च' इत्यमरः । तपोनिधिर्मुनिः अस्य हरेः पुरो भुवि पुरःप्रदेशे यावन्न व्यलीयत नातिष्ठत् । " लीङ् गतौ " इति धातोर्दैवादिकात्कर्तरि लङ् । तावदच्युतो हरिर्गिरेः शैलात् तडितोऽस्य सन्तीति तडित्वान् मेघ इव " मादुपधायाश्च मतोर्वोऽयवादिभ्यः " इति मतुपो मकारस्य वकारः " तसौ मत्वर्थे " इति भसंज्ञायामेकसंज्ञाधिकारेणापदत्वान्न जश्त्वम् । उच्चैरुन्नतात्पीठात् आसनात् जवेनोदतिष्ठत् । मुनिचरणस्य भूस्पर्शात्प्रागेव समभ्युत्थितवान् । ' ऊर्ध्वं प्राणा ह्युत्क्रामन्ति यूनः स्थविर आयति । प्रत्युत्थानाभिवादाभ्यां पुनस्तान्प्रतिपद्यते ' इति शास्त्रमनुस्मरन्निति भावः । " उदोऽनूर्ध्वकर्मणि " इति नियमादिहोर्ध्वकर्म्मणि नात्मनेपदम् । पतत्पतङ्ग इत्यत्र पतङ्गस्य पतनासम्भवादियमभूतोपमा इत्याचार्यदण्डिप्रभृतयो बभणुः अतएवाप्रसिद्धस्योपमानत्वायोगादुत्प्रेक्षेत्याधुनिकालङ्कारिकाः सर्वे वर्णयन्ति ॥ १२ ॥

अथ प्रयत्नोन्नमितानमत्फणैर्धृते कथञ्चित्फणिनां गणैरधः ।
न्यधायिषातामभिदेवकीसुतं सुतेन धातुश्चरणौ भुवस्तले ॥ १३ ॥

अथेति । अथाच्युताभ्युत्थानानन्तरं धातुः सुतेन नारदेन प्रयत्नोन्नमितास्तथापि मुनिपादन्यासभारादानमन्त्यः फणा येषां तेषां फणिनां गणैः अधोऽधःप्रदेशे कथंचिद् धृते स्थापिते भुवस्तले भूपृष्ठे । अभिदेवकीसुतं देवकीसुतमभिलक्ष्यीकृत्येत्यर्थः । "लक्षणेनाभिप्रती आभिमुख्ये " इत्यव्ययीभावः । चरणौ पादौ । ' पदङ्घ्रिश्चरणोऽस्त्रियाम् ' इत्यमरः । न्यधायिषातां निहितौ । दधातेः कर्म्मणि लुङ् । " स्यसिच्सीयुट् " इत्यादिना चिण्वदिटि " आतो युक्चिण्कृतोः " इति युक् । अत्र फणानां नमनोन्नमनासम्बन्धेऽपि मुनिगौरवाय तत्सम्बन्धाभिधानादतिशयोक्तिभेदः ॥ १३ ॥

तमर्घ्यमर्घ्यादिकयादिपूरुषः सपर्यया साधु स पर्यपूपुजत् ।
गृहानुपैतुं प्रणयादभीप्सवो भवन्ति नापुण्यकृतां मनीषिणः ॥ १४ ॥

तमिति । आदिपूरुषः पुराणपुरुषः "अन्येषामपि दृश्यते" इति वा दीर्घः । स कृष्णः । अर्घं पूजामर्हतीति अर्घ्यः । "दण्डादिभ्यो यः" इति यः । तं नारदम् । अर्घार्थं द्रव्यमर्घ्यम् । "पादार्घाभ्यां च" इति यत्प्रत्ययः 'मूल्ये पूजाविधावर्घः', 'षट् तु त्रिष्वर्घ्यमर्घार्थे' इति चामरः । अर्घ्यमादिर्यस्यास्तया अर्घ्यादिकया । "शेषाद्विभाषा" इति विकल्पेन कप्प्रत्ययः । सपर्यया पूजया । 'पूजा नमस्यापचितिः सपर्यार्चार्हणाः समाः' इत्यमरः । साधु यथा तथा पर्यपूपुजत् परिपूजितवान् । णौ चङन्तं कर्त्तव्यम् । युक्तं चैतदित्यर्थान्तरं न्यस्यति **गृहानिति** । मनस ईषिणो मनीषिणः सन्तः पृषोदरादित्वात्साधुः । अपुण्यकृतां पुण्यमकृतवताम् । "सुकर्मपापमन्त्रपुण्येषु कृञः" इति भूते क्विप् । गृहान् प्रणयादुपैतुमभीप्सवः प्राप्तुमिच्छवः । आप्नोतेः सन्नन्तादुप्रत्ययः "आप्ज्ञप्यृधामीत्" इतीकारः । न भवन्ति किन्तु पुण्यकृतामेव । अतः कृच्छ्रलभ्याः सन्तः पूज्या इत्यर्थः ॥ १४ ॥

न यावदेतावुदपश्यदुत्थितौ जनस्तुषाराञ्जनपर्वताविव ।
स्वहस्तदत्ते मुनिमासने मुनिश्चिरन्तनस्तावदभिन्यवीविशत् ॥ १५ ॥

न यावदिति । उत्थितावेतौ मुनिकृष्णौ जनः तुषाराञ्जनौ पर्वताविव यावन्नोदपश्यन्नोत्प्रेक्षितवान् । तावच्चिरन्तनः पुराणो मुनिः कृष्णः । पुरा किल भगवान् बदरिकारण्ये नारायणावतारेण तपसि स्थितवानिति पुराणात् । "सायं चिरम्" इत्यादिना ट्युप्रत्ययः तुडागमश्च । स्वहस्तेन दत्ते आसने मुनिं नारदम् अभिन्यवीविशत् स्वाभिमुख्येनोपवेशितवान् । अभिनिपूर्वात् विशतेर्ण्यन्ताल्लुङि "णिश्रि" इति चङ् ॥ १५ ॥

महामहानीलशिलारुचः पुरो निषेदिवान् कंसकृषः स विष्टरे ।
श्रितोदयाद्रेरभिसायमुच्चकैरचूचुरच्चन्द्रमसोऽभिरामताम् ॥ १६ ॥

महामहेति । महत्या महानीलशिलायाः सिंहलद्वीपसम्भवेन्द्रनीलोपलस्य रुगिव रुग्यस्य तस्येत्युपमालङ्कारः । 'सिंहलस्याकराद्भूता महानीलास्तु ते स्मृताः' इति भगवानगस्त्यः । कंसकृषो हरेः पुरोऽग्रे उच्चैरुन्नते विष्टरे आसने । "वृक्षासनयोर्विष्टरः" इति पत्वम् । निषेदिवानुपविष्टवान् । "भाषायां सदवसश्रुवः" इति क्वसुः । स मुनिरभिसायं सायकालाभिमुखम् । अव्ययीभावसमासः । सायंकालस्य काष्ण्यात् कृष्णोपमानत्वम् । श्रित आश्रित उदयाद्रिरुदयाचलो येन तस्य चन्द्रमसोऽभिरामतां शोभामचूचुरत् चोरितवान् प्राप्तवानित्यर्थः । "चुर स्तेये" "णिश्रि", इति चङ् । अन्यस्यान्यधर्मसम्बन्धासम्भवात् चन्द्रमसोऽभिरामतामिवाभिरामतामित्यौपम्यपर्यवसानादसम्भवद्वस्तुसम्बन्धरूपो निदर्शनाभेदः, स चोक्तोपमया अङ्गाङ्गिभावेन सङ्कीर्यते ॥ १६ ॥

विधाय तस्यापचितिं प्रसेदुषः प्रकाममप्रीयत यज्वनां प्रियः ।
ग्रहीतुमार्यान्परिचर्यया मुहुर्महानुभावा हि नितान्तमर्थिनः॥१७॥

विधायेति । यज्वानो विधिनेष्टवन्त । 'यज्वा तु विधिनेष्टवान्' इत्यमरः । "सुयजोर्ङ्वनिप्" इति यजिधातोर्ङ्वनिप् । तेषां प्रियो हरिः प्रसेदुषः प्रसन्नस्य । "सदेः क्वसुरित्युक्तम्" । तस्य मुनेरपचितिं पूजाम् । 'पूजा नमस्यापचितिः' इत्यमरः । विधाय विशेषेण मनोवाक्कायकर्म्मभिस्तत्परतया कृत्वा । प्रकाममत्यर्थमप्रीयत प्रीतोऽभवत् । "प्रीयतेर्दैवादिकात्कर्त्तरि लङ्" । मुनिपूजायाः प्रीतिहेतुत्वेऽर्थान्तरं न्यस्यति । महानुभावा महात्मानः आर्यान् पूज्यान् परिचर्यया मुहुर्ग्रहीतुं वशीकर्त्तुम् । "ग्रहोऽलिटि दीर्घः" इतीटो दीर्घः । नितान्तमर्थिनोऽभिलाषवन्तो हि भवन्ति । अर्थोऽभिलाषः स एषामस्तीति मत्वर्थे इनिः, न तु णिनिः, कृद्वृत्तेस्तद्धितवृत्तिर्बलीयसीति भाष्यात् ॥ १७ ॥

अशेषतीर्थोपहृताः कमण्डलोर्निधाय पाणावृषिणाभ्युदीरिताः ।
अघौघविध्वंसविधौ पटीयसीर्नतेन मूर्ध्ना हरिरग्रहीदपः ॥ १८ ॥

अशेषेति । अशेषेभ्यस्तीर्थेभ्य उपहृता आहृतास्तथा कमण्डलोरुदकपात्रादुद्धृत्येत्यर्थः । पाणौ निधाय ऋषिणाभ्युदीरिता आक्षिप्ता अत एवाघौघाना पापसमूहाना विध्वंसविधौ विनाशकर्मणि पटीयसी समर्थतराः । पटुशब्दात् ईयसुनि "उगितश्च" इति ङीप् । अपो जलानि हरिर्नतेन मूर्ध्ना अग्रहीत् स्वीकृतवान् । "ग्रहेर्लुङ्" ॥ १८ ॥

स काञ्चने यत्र मुनेरनुज्ञया नवाम्बुदश्यामवपुर्न्यविक्षत ।
जिगाय जम्बूजनितश्रियः श्रियं सुमेरुशृङ्गस्य तदा तदासनम् १९॥

स काञ्चने इति । नवाम्बुदश्यामवपुः स हरिर्मुनेरनुज्ञया काञ्चने काञ्चनविकारे वैकारिकोऽण्प्रत्ययः । यत्रासने न्यविक्षत उपविष्टवान् । निपूर्वाद्विशो लुङि "नेर्विशः" इत्यात्मनेपदम् "शल इगुपधादनिटः क्सः" इति क्सः । तदासनं तदा हर्युपवेशनसमये जम्बूर्नीलफलविशेषः । 'जम्बूः सुरभिपत्रा च राजजम्बूर्महाफला' इत्यभिधानरत्नमालायाम् । तया जनिता श्रीर्यस्य तत्तथोक्तस्य । भाषितपुंस्कत्वात् पक्षे पुंवद्भावान्नुमभावः । सुमेरुशृङ्गस्य श्रियं जिगायाभिभावितवान् इत्यर्थः । "सन् लिटोर्जेः" इति कुत्वम् । उपमानानुप्रासयोः संसृष्टिः ॥ १९ ॥

स तप्तकार्तस्वरभास्वराम्बरः कठोरताराधिपलाञ्छनच्छविः ।
विदिद्युते वाडवजातवेदसः शिखाभिराश्लिष्ट इवाम्भसां निधिः २०

स तप्तेति । तप्तं पुटपाकशोधितं कार्त्तस्वरं सुवर्णम् । 'रुक्मं कार्तस्वरं जाम्बूनदमष्टापदोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः । तद्वद्भास्वरं दीप्यमानमम्बरं यस्य सः । पीताम्बर इत्यर्थः । कठोरताराधिपस्य पूर्णेन्दोर्लाञ्छनस्य छविरिव छविर्यस्य स इत्युपमानपूर्वपदो बहुव्रीहिः, उत्तरपदलोपश्च ।

स हरिर्वाडवजातवेदसो वाडवाग्नेः शिखाभिर्ज्वालाभिराश्लिष्टो व्याप्तोऽम्भसा निधिरिव समुद्र इव विदिद्युते बभौ ॥ २० ॥

रथाङ्गपाणेः पटलेन रोचिषामृषित्विषः संवलिता विरेजिरे ।
चलत्पलाशान्तरगोचरास्तरोस्तुषारमूर्तेरिव नक्तमंशवः ॥ २१ ॥

रथाङ्गपाणेरिति । रथाङ्गं चक्रं पाणौ यस्य तस्य हरेः । "प्रहरणार्थेभ्यः परे निष्ठासप्तम्यौ" इति पाणेः परनिपातः । रोचिषां छवीनां पटलेन समूहेन संवलिता मिलिता ऋषित्विषो नक्तं रात्रौ । सप्तम्यर्थेऽव्ययम् । तरोश्चलतां पलाशानां पत्राणामन्तराणि विवराणि गोचर आश्रयो येषां ते तुषारमूर्तेर्यस्य तस्येन्दोरंशव इव विरेजिरे चकाशिरे ॥ २१ ॥

प्रफुल्लतापिच्छनिभैरभीषुभिः शुभैश्च सप्तच्छदपांशुपाण्डुभिः ।
परस्परेण च्छुरितामलच्छवी तदैकवर्णाविव तौ बभूवतुः ॥ २२ ॥

प्रफुल्लेति । प्रफुल्लतीति प्रफुल्लं विकसितम् । फुल्लविकसने इति धातोः पचाद्यजन्तम् । फलेर्निष्ठायाम् "अनुपसर्गात्फुल्लक्षीबकृशोल्लाघाः" इति निपातनात् प्रफुल्लमित्येवेति क्षीरस्वामी । तापिच्छस्य तमालस्य पुष्पं तापिच्छम् । "फले लुक्" इति तद्धितलुक् । 'क्लीबं नपुंसकं सर्वम्' इति नपुंसकत्वम् । 'कालस्कन्धस्तमालः स्यात्तापिच्छोऽपि' इत्यमरः । तेन सदृशैः प्रफुल्लतापिच्छनिभैः । नित्यसमासत्वादस्वपदविग्रहः । अत एव 'स्युरुत्तरपदे त्वमी' । 'निभसंकाशनीकाशप्रतीकाशोपमादयः' इत्यमरः । सप्त सप्त च्छदाः पर्णानि पर्वसु यस्येति सप्तच्छदो वृक्षभेदः । 'सप्तपर्णो विशालत्वक्शारदो विषमच्छदः' इत्यमरः । सङ्ख्याशब्दस्य वृत्तिविषये वीप्सार्थत्वं सप्तपर्णादिवदित्युक्तं भाष्ये । शेषं तापिच्छवत् । तस्य पुष्पाणि सप्तच्छदानि तेषां पांशुवत्पाण्डुभिः शुभ्रैरभीषुभिरन्योऽन्यरश्मिभिः । 'अभीषुः प्रग्रहे रश्मौ' इति शाश्वतः । परस्परेण छुरिते रूषिते अमले छवी अन्योन्यकान्ती ययोस्तौ । छव्योरभीषूणामवयवावयविभावाद्भेदनिर्देशः । तौ हरिनारदौ तदा एकवर्णाविव बभूवतुः । उभयप्रभामेलनादुभयोरपि सङ्कीर्णो गङ्गायमुनासङ्गम इव स्फटिकेन्द्रनीलमणिप्रभामेलनप्रायः कश्चिदेको वर्णः प्रादुर्बभूव तन्निमित्ता चेयमनयोरेकवर्णत्वोत्प्रेक्षा ॥ २२ ॥

युगान्तकालप्रतिसंहृतात्मनो जगन्ति यस्यां सविकाशमासत ।
तनौ ममुस्तत्र न कैटभद्विषस्तपोधनाभ्यागमसम्भवा मुदः ॥ २३ ॥

युगान्तेति । युगान्तकाले प्रतिसंहृतात्मन आत्मन्युपसंहृता आत्मानो जीवा येन तस्य कैटभद्विषो हरेर्यस्यां तनौ जगन्ति सविकाशं सविस्तरमासत अतिष्ठन् । 'आस उपवेशने' लङ् । तत्र तनौ देहे तपोधनाभ्यागमेन सम्भवन्तीति सम्भवाः सम्भूताः । पचाद्यच् । मुदः संतोषा न ममुः अतिरिच्यन्ते स्मेत्यर्थः । चतुर्दशभुवनभरणपर्याप्ते वपुषि अन्तर्न मान्तीति कविप्रौढोक्तिसिद्धातिशयेन स्वतः सिद्धस्याभेदेनाध्यवसितातिशयोक्तिः सा च मुदामन्तःसम्बन्धेऽप्यसम्बन्धोक्त्या सम्बन्धासम्बन्धरूपा ॥ २३ ॥

कात्स्येऽपि कार्यत्वेन कारणत्वेन च पुंसि सुकृतसमवायमवगम्यते अत एतादृश दर्शनं कस्य न ाघ्यमिति भावः । अत्र हरतीत्यादिवाक्यत्रयस्यार्थस्य शरीरेत्यादिवाक्यत्रयोक्त्या वाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कार ॥ २६ ॥

**जगत्यपर्याप्तसहस्रभानुना न यन्नियन्तुं समभावि भानुना ।
प्रसह्य तेजोभिरसङ्ख्यतां गतैरदस्त्वया नुन्नमनुत्तमं तमः ॥ २७ ॥**

जगतीति । जगत्यपर्याप्ता अपरिच्छिन्नाः सहस्रं भानवः अंशवो यस्य तेन भानुना अर्केण भानवोऽर्कहराशवः' इति वैजयन्ती । यत्तमो नियन्तुं निवारयितुं न समभावि न शेके । "भावे लुङ्" । अविद्यमानमुत्तमं यस्मात् तदनुत्तमं सर्वाधिकमदस्तमो मोहात्मकम् असङ्ख्यतां गतैस्ते- जोभिः प्रसह्य बलात् त्वया नुन्नं छिन्नम् । अतः श्लाघ्यदर्शनो भवानिति भावः । "नुदविदु" इत्यादिना विकल्पान्निष्ठानत्वभाव. । अत्रोपमानाद्भानोर्मुनेराधिक्यप्रतिपादनाद्व्यतिरेकालङ्कार. २७

**कृतः प्रजाक्षेमकृता प्रजासृजा सुपात्रनिःक्षेपनिराकुलात्मना ।
सदोपयोगेऽपि गुरुस्त्वमक्षयो निधिः श्रुतीनां धनसम्पदामिव २८**

कृत इति । प्रजानाम् जनाना अपत्याना च क्षेमकृता कुशलकारिणा । 'प्रजा स्यात्सन्ततौ जने' इत्यमर. । सुपात्रे योग्यपुरुषे कटाहादिदृढभाजने च निक्षेपेण निधानेन च निराकुलात्मना स्वस्थचित्तेन । 'योग्यभाजनयो. पात्रम्' इत्यमर. । प्रजासृजा ब्रह्मणा पुत्रिणा च त्व धनसम्प- दामिव श्रुतीना वेदाना सदोपयोगे दानभोगाभ्या व्ययेऽपि अक्षयः एकत्राम्नानादन्यत्रानन्त्याच्चेति भाव' । गुरुरुपदेष्टा सम्प्रदायप्रवर्त्तक इति यावत् । अन्यत्र महान् । निधीयत इति निधिः निक्षेपः कृतः "उपसर्गे घोः" इति किः । श्रुतिसम्प्रदायद्वारा धर्माधर्मव्यवस्थापकतया जगत्प्र- तिष्ठाहेतूना भवादृशा दर्शन कस्य न श्लाघ्यमिति भावः । अत्र शब्दमात्रसाधर्म्याच्छेदोऽय प्रकृत- विषय इत्याहु ॥ २८ ॥

**विलोकनेनैव तवामुना मुने कृतः कृतार्थोऽस्मि निबर्हितांहसा ।
तथापि शुश्रूषुरहं गरीयसीर्गिरोऽथवा श्रेयसि केन तृप्यते ॥२९॥**

विलोकनेनेति । हे मुने ! निबर्हितांहसा अपहतपाप्मना अत एवामुना तव विलोकनेनैव कृतार्थः कृतोऽस्मि । तथाप्यह गरीयसीरर्थवत्तराः । "द्विवचनविभज्योपपदे तरबीयसुनौ" इति ईयसुन्प्रत्ययः, "उगितश्च" इति ङीप् , "प्रियस्थिर" इत्यादिना गुरोर्गरादेशः । गिरस्तव वाचोऽपि शुश्रूषु' श्रोतुमिच्छुरस्मि । "श्रृणोतेः सन्नन्तादुप्रत्ययः" । न चैतद्वृथेत्याह । अथवा । तथाहीत्यर्थः । 'अथवेति पक्षान्तरप्रसिद्ध्योः' इति गणव्याख्यानात् । श्रेयसि विषये केन तृप्यते न केनापीत्यर्थ' । कृतार्थताया इयत्ताभावादिति भावः । भावे लट् ॥ २९ ॥

एव प्रियमुक्त्वा सम्प्रत्यागमनप्रयोजन विनयेन पृच्छति—

गतस्पृहोऽप्यागमनप्रयोजनं वदेति वक्तुं व्यवसीयते यया ।
तनोति नस्तामुदितात्मगौरवो गुरुस्तवैवागम एष धृष्टताम् ॥ ३० ॥

गतस्पृहोऽपीति । गतस्पृहो विरक्तोऽपि त्वमागमनप्रयोजनं वदेति वक्तुं यया धृष्टतया व्यवसीयते उद्यम्यते । स्यतेर्भावे लट् । उदितमुत्पन्नम् उक्तम् वा आत्मनो मम गौरवं येन सः गुरुः श्लाघ्य एष तवागम आगमनमेव नोऽस्माकं धृष्टतां तनोति विस्तारयति । "तनु विस्तारे" लट् । भवतो निस्पृहत्वेऽपि प्रेक्षावत्प्रवृत्तेः प्रयोजनव्याप्त्या सावकाशः प्रश्न इति भावः ॥ ३० ॥

इति ब्रुवन्तं तमुवाच स व्रती न वाच्यमित्थं पुरुषोत्तम त्वया ।
त्वमेव साक्षात्करणीय इत्यतः किमस्ति कार्यं गुरु योगिनामपि ॥ ३१ ॥

इति ब्रुवन्तमिति । इति ब्रुवन्तं तं हरिं स व्रती मुनिरुवाच किमिति हे पुरुषोत्तम ! पुरुषेषु श्रेष्ठ ! "न निर्द्धारणे" इति षष्ठीसमासप्रतिषेधः । त्वया इत्थं गतस्पृहोऽपीति न वाच्यम् ! निस्पृहस्याप्यत्र प्रयोजनसम्भवादिति भावः । तदेवाह । योगिनामपि त्वमेव साक्षात्करणीयः प्रत्यक्षीकर्तव्य इत्यतोऽस्मादन्यद् गुरुकार्यं किमस्ति । न किञ्चिदित्यर्थः । तस्मात्र प्रयोजनान्तरप्रश्नावकाश इति भावः ॥ ३१ ॥

तदुक्तं योगिनापि त्वमेव साक्षात्करणीय इति तदेव द्रढयति—

उदीर्णरागप्रतिरोधकं जनैरभीक्ष्णमक्षुण्णतयातिदुर्गमम् ।
उपेयुषो मोक्षपथं मनस्विनस्त्वमग्रभूमिर्निरपायसंश्रया ॥ ३२ ॥

उदीर्णरागेति । उदीर्ण उद्रिक्तो रागो विषयाभिलाषः स एव प्रतिरोधकः प्रतिबन्धकः पाटच्चरश्च यस्मिन् । 'प्रतिरोधिपरास्कन्दिपाटच्चरमलिम्लुचाः' इत्यमरः । अभीक्ष्णमक्षुण्णतया अनभ्यस्तत्वेनाप्रतिहतत्वेन च जनैरतिदुर्गमं मोक्षपथमपवर्गमार्गं कान्तारं चोपेयुषः प्राप्तवतः । "उपेयिवान्" इत्यादिना क्वस्वन्तो निपातः । मनस्विनः सुमनसो धीरस्य च । प्रशस्तायां विनिः । त्वमेव निरपायः पुनरावृत्तिरहितः संश्रयः प्राप्तिर्यस्याः सा तथोक्ता । 'न स पुनरावर्त्तते' इति श्रुतेः । अग्रभूमिः प्राप्यस्थानम् । 'अग्रमालम्बने प्राप्ये' इति विश्वः । 'सोऽहम्' इत्यादिश्रुतेस्तत्प्राप्तेरेव मोक्षत्वादिति भावः । तस्मान्मुमुक्षूणामपि त्वमेव साक्षात्करणीय इति सिद्धम् । 'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति, नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' इति श्रुतेः । यथा कश्चित् कुतश्चित्सकटात् निर्गतस्य केनचित्कान्तारेणागतस्य किञ्चिन्निर्बाधस्थानप्राप्तिरभयाय कल्पते, तथा त्वमपि मुमुक्षोरिति ध्वनिः ॥ ३२ ॥

ननु प्रकृतिविविक्तपुरुषसाक्षात्कारान्मोक्षो नास्मत्साक्षात्कारादित्याशङ्क्य सोऽपि त्वमेवेत्याह—

उदासितारं निगृहीतमानसैर्गृहीतमध्यात्मदृशा कथंचन ।
बहिर्विकारं प्रकृतेः पृथग्विदुः पुरातनं त्वां पुरुषं पुराविदः ॥ ३३ ॥

उदासितारमिति । पुराविदः पूर्वज्ञा कपिलादयस्त्वां निगृहीतमानसैरन्तर्निबद्धचित्तैर्योगिभिः आत्मनि अधि इत्यध्यात्मम् । " विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः " "अनश्च" इति समासान्तष्टच् । अध्यात्मं यादृग् ज्ञानं तया अध्यात्मदृशा प्रत्यग्दृष्टया कथञ्चन गृहीत साक्षा कृतम् । केन रूपेण गृहीतमित्यत आह । उदासितारम् उदासीनम् । प्रकृतौ स्वार्थप्रवृत्तायामपि स्वयमप्राकृतत्वाद्स्पृष्टमित्यर्थ । " आसेस्तृच् " विकारेभ्यो वहि वहिर्विकार महदादिभ्यः पृथग्भूतमित्यर्थः । "अपपरिवहिरञ्चवः पञ्चम्या" इत्यव्ययीभाव । किञ्च प्रकृतेस्त्रैगुण्यात्मनो मूलकारणात् पृथग् भिन्नम् । ' प्रकृतिः पञ्च भूतेषु प्रधाने मूलकारणे ' इति यादव. । पुरातनमनादिम् । " सायञ्चिरम् " इत्यादिना ट्युप्रत्यय. । पुरुषं पुरुषपदवाच्यं विज्ञानवन विदुर्विदन्ति । " विदो लटो वेति " झेरुसादेशः । ' मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त । षोडशकश्च विकारो न प्रकृतिर्न विकृति. पुरुष ' इति । 'अजामेका लोहितशुक्लकृष्णाम् ' इत्यादिश्रुतिश्च । सोऽपि त्वमेव ' तत्त्वमसि इत्यादिवाक्यैरैक्यश्रवणात् । तस्मात्त्वमेव साक्षात्करणीय इति सुष्ठूक्तमिति भाव ॥ ३३ ॥

एवं भगवतो निर्गुणस्वरूपमुक्त्वा सम्प्रति प्रस्तुतोपयोगितया सगुणमाश्रित्य षड्भि. स्तौति—

निवेशयामासिथ हेलयोद्धृत फणाभृतां छादनमेकमोकसः ।
जगत्त्रयैकस्थपतिस्त्वमुच्चकैरहीश्वरस्तम्भशिरःसु भूतलम् ॥ ३४ ॥

निवेशयामासिथेति । जगत्त्रयस्य एकस्थपतिरेकाधिपति एकशिल्पी च । 'स्थपतिरधिपतौ तक्षिण बृहस्पतिसचिवयो. ' इति वैजयन्ती । त्व हेलयोद्धृत वराहावतारे इति भावः । फणाभृतामोकस. आश्रयस्य सद्मनश्च । ' ओकः सद्मनि चाश्रये ' इति विश्वः । एक छादनमावरणं भूतलमुच्चैकैरुन्नतेषु अहीश्वरः शेष एव स्तम्भः तस्य शिरःसु मूर्द्धसु अग्रेषु च । फणासहस्रेष्विति भाव. । निवेशयामासिथ निवेशितवानासि । " विशतेर्ण्यन्तात् " लिटि थल् । "कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि" इत्यस्तेरनुप्रयोगः । अत्र श्लिष्टाश्लिष्टरूपकयोर्हेतुहेतुमद्भावाच्छ्लिष्ट परम्परितरूपकम् ॥ ३४ ॥

अनन्यगुर्वास्तव कन केवलः पुराणमूर्तेर्महिमाऽवगम्यते ।
मनुष्यजन्मापि सुरासुरान्गुणैर्भवान्भवच्छेदकरैःकरोत्यधः ॥ ३५ ॥

अनन्येति । न विद्यतेऽन्यो गुरुर्यस्यास्तस्या अनन्यगुर्वा इत्यनीकारान्तः पाठः । समासात्प्राङ्ङीपि, "नद्यृतश्च" इति कप्प्रसङ्ग स्यात् पश्चात्त्वनुपसर्जनाधिकारात् ' वोतो गुणवचनात् " इति न प्राप्नोति, " ङिति ह्रस्वश्च " इति वा नदीसञ्ज्ञत्वात्, "आण्नद्याः" इत्याडागम । केचित्तु "समासान्तविधिरनित्य."इति कप वारयन्ति । तस्या सर्वोत्तमायास्तव पुराणमूर्तेरमानुषस्वरूपस्य केवलः कृत्स्न । 'केवल कृत्स्न एकः स्यात्केवलश्चावधारण ' इति विश्व । महिमा केनावगम्यते न केनापीत्यर्थ. । कृतः मनुष्यजन्म यस्य स मनुष्यजन्मा भवान् । "अवर्ज्यो हि बहुव्री-

उपप्लुतमिति । विश्वं बिभर्तीति विश्वम्भरस्तत्सम्बुद्धौ हे विश्वम्भर ! विश्वत्रातः । " संज्ञायां भृतृवृजि " इत्यादिना खच्प्रत्यये, " अरुर्द्विषत् " इत्यादिना मुमागमः मदोद्धतैः कंसादिभिः उपप्लुतं पीडितमदो विश्वं पातु त्वमेव ईशिषे शक्तोऽसि विश्वम्भरत्वादिति भावः । " ईश " ऐश्वर्ये लिटि थासि रूपम् । अत्र वैधर्म्येण दृष्टान्तमाह । क्षपायास्तमस्काण्डैस्तमोवर्ग । ' काण्डोऽस्त्री दण्डबाणार्ववर्गावसरवारिषु ' इत्यमरः । " कम्कादिषु च " इति विसर्जनीयस्य सत्वम् । ' मलीमसं मलिनम् ' ' मलीमसं तु मलिनं कच्चरं मलदूषितम् ' इत्यमरः । "ज्योत्स्नातमिस्रा" इत्यादिना मत्वर्थीयो निपातः नभः क्षालयितुं रवेः ऋते रविं विना । " अन्यारादितरर्ते" इति पञ्चमी । कः क्षमेत शक्नुयात् न कोऽपीत्यर्थः । अत्र वाक्यद्वये समानधर्मस्यैकरूपेणैव क्षमेनेति शब्दद्वयेन वस्तुभावेन निर्देशात्तत्रापि व्यतिरेकमुखत्वाद्वैधर्म्येण प्रतिवस्तूपमालङ्कारः । तदुक्तम् ' सर्वस्य वाक्यार्थगतत्वेन सामान्यस्य वाक्यद्वये पृथग्निर्देशे प्रतिवस्तूपमा ' इति ॥ ३८ ॥

करोति कंसादिमहीभृतां वधाज्जनो मृगाणामिव यत्तव स्तवम् ।
हरे हिरण्याक्षपुरःसरासुरद्विपद्विपः प्रत्युत सा तिरस्क्रिया ॥३९॥

करोतीति । किञ्च जनो मृगाणामिव कंसादिमहीभृतां वधाद्धेतोः स्तवं स्तोत्रम् । 'स्तवः स्तोत्रं स्तुतिर्नुतिः ' इत्यमरः । करोतीति यत् हे हरे हे कृष्ण ! हे सिंहेति च गम्यते । सा स्तुतिक्रिया हिरण्याक्षपुरःसराः हिरण्याक्षप्रभृतयो ये असुरास्त एव द्विपास्तेषां द्विपः हन्तुरित्यर्थः । तस्य तव प्रत्युत वैपरीत्येन ' प्रत्युतत्यु नैपरीत्ये ' इति गणव्याख्यानात् तिरस्क्रिया अवमानः । यदिति सामान्ये नपुंसकम् । सेति विधेयलिङ्गम् । गजघातिनः सिंहस्य मृगवधवर्णनमिव महासुरहन्तुस्तव कंसादिक्षुद्रनृपवधवर्णनं तिरस्कार एवेत्यर्थः । अत्रासुरद्विपानामिति हरिविद्वरिरिति श्लिष्टपरम्परितरूपकं मृगाणामिवेत्युपमयाऽङ्गाङ्गिभावेन सङ्कीर्यते ॥ ३९ ॥

एवं स्तुत्या देवमभिमुखीकृत्यागमनप्रयोजनं वक्तुमुपोद्घातयति—

प्रवृत्त एव स्वयमुज्झितश्रमः क्रमेण पेष्टुं भुवनद्विषामसि ।
तथापि वाचालतया युनक्ति मां मिथस्त्वदाभाषणलोलुपं मनः ॥४०॥

प्रवृत्त इति । त्वमुज्झितश्रमस्त्यक्तश्रमः सन् क्रमेण भुवनानि द्विषन्तीति भुवनद्विषः दुष्टास्तेषां पेष्टुं तान् हिंसितुमित्यर्थः । "जासिनिप्रहण" इत्यादिना कर्मणि शेषे षष्ठी । स्वयमपरप्रेरित एव प्रवृत्तोऽसि । एवं तर्हि पिष्टपेषणं किमिति चेत्तत्राह । तथापि स्वतः प्रवृत्तेऽपि मिथो रहसि त्वदाभाषणे यया सह सलापे लोलुपं लुब्धम् 'लुब्धोऽभिलाषुकस्तृष्णक्समौ लोलुपलोलुभौ" इत्यमरः । मनो मां वाचालतया सह युनक्ति वाचालं करोतीत्यर्थः । वाचो बहवोऽस्य सन्तीति वाचालः । " आलजाटचौ बहुभाषिणि " इत्यालच् । 'स्याज्जल्पाकस्तु वाचालो वाचाटो बहुगर्ह्यवाक् ' इत्यमरः ॥ ४० ॥

अथ स्ववाक्यश्रवणं सहेतुकं प्रार्थयते—

तदिन्द्रसन्दिष्टमुपेन्द्र ! यद्वचः क्षणं मया विश्वजनीनमुच्यते ।
समस्तकार्येषु गतेन धुर्यतामहिद्विषस्तद्भवता निशम्यताम् ॥ ४१ ॥

तदिति । तत्तस्मादिन्द्रमुपगतः उपेन्द्र इन्द्रावरज । अत एवेन्द्रसन्दिष्टं श्रोतव्यमिति भावः । किञ्च विश्वस्मै जनाय हितं विश्वजनीनम् । "आत्मन्विश्वजनभोगोत्तरपदात् ख" इति खः । यद्वचः क्षणं न तु चिरं मयोच्यते । तद्वचोऽहिद्विषो वृत्रघ्नः । "नमुचौ वृत्रासुरेऽप्यहिः" इति वैजयन्ती । समस्तकार्येषु धुर्यतां धुरन्धरत्वं गतेन अतोऽपि भवता निशम्यताम् । प्रार्थनायां लोट् । धुरं वहतीति धुर्यः । "धुरो यड्ढकौ" इति यत्प्रत्ययः । स्फुटमत्र पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलंकारः ॥ ४१ ॥

अथ शिशुपालो हन्तव्य इति वक्तुं तस्यापराधमवध्यत्वेऽनर्थावहत्वं ज्ञापयितुं पापिकतयाऔद्धत्यप्रकटनार्थं जन्मान्तरवृत्तान्तं तावदुद्घाटयति-

अभूदभूमिः प्रतिपक्षजन्मनां भियां तनूजस्तपनद्युतिर्दितेः ।
यमिन्द्रशब्दार्थनिषूदनं हरेर्हिरण्यपूर्वं कशिपुं प्रचक्षते ॥ ४२ ॥

अभूदिति । प्रतिपक्षाच्छत्रोः जन्म यासां तासां भियामभूमिरविषयः । निर्भीक इत्यर्थः । तपनद्युतिः सूर्यतापो दितेस्तनूजो दैत्योऽभूत् । कोऽसावत आह । हरेरिन्द्रस्य इन्द्रशब्दार्थनिषूदनं इन्दतीति इन्द्रः । "इदि" परमैश्वर्ये, "ऋज्रेन्द्र"इत्यादिना रन्प्रत्ययान्तः औणादिकनिपातः । तस्य इन्द्र इति शब्दस्येन्द्र इति सञ्ज्ञापदस्य योऽर्थः परमैश्वर्यलक्षणः तस्य निषूदनं निवर्त्तकम् । कर्त्तरि ल्युट् । हरेरैश्वर्यनिहन्तारमित्यर्थः । यं दैत्यं हिरण्यपूर्वं कशिपुं प्रचक्षते हिरण्यकशिपुमाहुरित्यर्थः । अत्र हिरण्यशब्दपूर्वकत्वं कशिपुशब्दस्यैव न तु सञ्ज्ञिनस्तदर्थस्येति शब्दपरस्य कशिपुशब्दस्यार्थगतत्वेनाप्रयोज्यस्य प्रयोगादवाच्यवचनाख्यार्थदोषमाहुः । 'यदेवावाच्यवचनमवाच्यवचनं हि तत्' इति समाधानम् । एवंविधविषये शब्दपरेणार्थलक्षणेति कथञ्चित्सम्पाद्यमित्युक्तमस्माभिः । देवपूर्वं गिरं ते । इति । 'धनुर्गन्धमस्मै वेदमभ्यादिदेश' इत्येतद्व्याख्यानावसरे सञ्जीविन्यां रघुवंशे च, विशेषश्चात्र यं दैत्यमुद्दिश्य हिरण्यपूर्वं कशिपुं प्रचक्षते सञ्ज्ञात्वेन प्रयुङ्क्ते ॥ ४२ ॥

समत्सरेणासुर इत्युपेयुषा चिराय नाम्नः प्रथमाभिधेयताम् ।
भयस्य पूर्वावतरस्तरस्विना मनस्सु येन द्युसदां न्यधीयत ॥ ४३ ॥

समत्सरेणेति । समत्सरेण अन्यशुभद्वेषसहितेन । 'मत्सरोऽन्यशुभद्वेषे' इत्यमरः । अस्यतीत्यसुरः । 'असेरुरन्' असुर इति नाम्नः चिराय चिरकालेन । 'चिराय चिररात्राय चिरस्याद्याश्चिरार्थकाः ।' इत्यमरः । प्रथमाभिधेयतामुपेयुषा अन्वर्थतया मुख्यार्थतां गतेन । तरस्विना बलवता । 'तरसी बलरंहसी' इति विश्वः । येन हिरण्यकशिपुना दिवि सीदन्तीति तेषां द्युसदां देवानां मनस्सु भयस्य पूर्वावतारः प्रथमप्रवेशः । "ऋदोरप्" इत्यप् । न्यधीयत निहितः । धाञः कर्मणि लङ् । अस्मादेव देवानां प्रथमं भयस्योत्पत्तिरभूदित्यर्थः ॥ ४३ ॥

दिशामधीशांश्चतुरो यतः सुरानपास्य तं रागहृताः सिषेविरे ।
अवापुरारभ्य ततश्चला इति प्रवादमुच्चैरयशस्करं श्रियः ॥४४॥

दिशामिति । श्रियः सम्पदः यतः । यदेत्यर्थः । दिशामधीशान् दिक्पतीनपि चतुरः सुरान् इन्द्रवरुणयमकुबेरान् अपास्य त्यक्त्वा तं हिरण्यकशिपुं रागहृताः रागकृष्टाः सत्यः । न तु बलादिति भावः । सिषेविरे । यतो वीरप्रियाः श्रियः इति भावः । तत आरभ्य तदाप्रभृति अयशः करोतीत्ययशस्करं दुष्कीर्तिहेतुमित्यर्थः । "कृञो हेतुताच्छील्यानुलोम्येषु" इति टप्रत्ययः । 'अतः कृकमि' इत्यादिना विसर्जनीयस्य सत्वम् । उच्चैः प्रचुरं चला अस्थिरा इति प्रवादं जनापवादमापुः । दिगीशानामपि सर्वस्वहारित्वात्तदौद्धत्यस्य प्राकट्यमिति भावः ॥ ४४ ॥

पुराणि दुर्गाणि निशातमायुधं बलानि शूराणि घनाश्च कञ्चुकाः ।
स्वरूपशोभैकफलानि नाकिनां गणैर्यमाशङ्क्य तदादि चक्रिरे ॥४५॥

पुराणीति । किञ्च नाकिनां सुराणां गणैः यं हिरण्यकशिपुमाशङ्क्य बाधकत्वेनोत्प्रेक्ष्य स कालः आदिर्यस्मिंस्तत्तदादि तदाप्रभृति स्वरूपशोभैवैकं फलं मुख्यं प्रयोजनं येषां तेषां सुरादीनां तानि तथोक्तानि । प्रागरिगसाध्ययत्नोरभावादिति भावः । 'नपुंसकमनपुंसकेन' इत्यादिना नपुंसकैकशेषः । पुराणि दुर्गाणि प्राकारपरिखादिना अगम्यानि चक्रिरे । 'सुदुरोरधिकरणे' इति गप्रत्ययः । आयुधं निशातं निशितं चक्रे इति विभक्तिविपरिणामेनान्वयः । 'शो तनूकरणे' इति धातोः क्तः, "शाच्छोरन्यतरस्याम्" इतीत्वविकल्पात्पक्षे आत्वम् । बलानि सैन्यानि शूराणि शौर्यवन्ति चक्रिरे सम्पादितानि । कञ्चुका वारबाणाः । लोहवर्माणीत्यर्थः 'कञ्चुको वारबाणोऽस्त्री' इत्यमरः । घना दुर्भेदाश्चक्रिरे । इत्थं नित्यसन्नद्धा जाग्रति स्मेत्यर्थः ॥४५॥

स सञ्चरिष्णुर्भुवनान्तरेषु यां यदृच्छयाशिश्रियदाश्रयः श्रियः ।
अकारि तस्यै मुकुटोपलस्खलत्करैस्त्रिसन्ध्यं त्रिदशैर्दिशे नमः ॥४६॥

स इति । अन्येषु भुवनेषु भुवनान्तरेषु । "सुप्सुपा" इति समासः । सञ्चरिष्णुः सञ्चरणशीलः । "अलङ्कृञ्" इत्यादिना चरेरिष्णुच् । श्रियो लक्ष्म्याः आश्रयः स हिरण्यकशिपुः । यदृच्छया स्वैरवृत्त्या । 'यदृच्छा स्वैरवृत्तिः' इत्यमरः । यां दिशमशिश्रियत् अगमत् । श्रयतेर्लुङ् "णिश्रि" इत्यादिना चङि द्विर्भावः । इयङादेशः । मुकुटोपलेषु मौलिरत्नेषु स्खलन्तः करा येषां तैः । शिरसि बद्धाञ्जलिभिरित्यर्थः । 'उपलः प्रस्तरे रत्ने' इति विश्वः । तिस्रो दशा बाल्यकौमारयौवनानि जन्मसत्तावृद्धयो वा येषां तैस्त्रिदशैर्देवैः । तिस्रः सन्ध्याः समाहृतास्त्रिसन्ध्यम् । 'तद्धितार्थोत्तरपद" इत्यादिना समाहारे द्विगुः । 'द्विगुरेकवचनम्' वा टाबन्त इति पक्षे नपुंसकत्वम्, "अत्यन्तसंयोगे द्वितीया" इति द्वितीया । तस्यै दिशे करैर्हस्तैः । "नमः स्वस्ति" इत्यादिना चतुर्थी । नमः नमस्कारोऽकारि कृतम् । कृञः कर्मणि लुङ् "चिण् भावकर्मणोः"

इति चिण् । सन्ध्यावन्दनेऽपि दिङ्नियमं परित्यज्य तदागमनभयात्तस्यै दिशे नमस्कारः कृत इति भावः ॥४६॥

अथ सोऽपि त्वयैव हत इत्याह—

सटाच्छटाभिन्नघनेन बिभ्रता नृसिंह सैंहीमतनुं तनुं त्वया ।
स मुग्धकान्तास्तनसङ्गभङ्गुरैरुरोविदारं प्रतिचस्करे नखैः ॥४७॥

सटाच्छटेति । हे नृसिंह ! नरः सिंह इवेत्युपमितसमासः । ना चासौ सिंहश्चेत्यपि प्रस्तावात् । सिंहस्येमां सैंहीं तनुं कायं बिभ्रता नृसिंहावतारभाजेत्यर्थः । किम्भूताम् । अतनुं विस्तीर्णाम् । अत एव सटाच्छटाभिः केशरसमूहैः । भिन्नाः घना मेघा येन । अप्राकृतविग्रहत्वादिति भावः । 'सटा जटाकेशरयोः' इति । 'तनुः कायें कृशेऽल्पे च' इति च विश्वः । त्वया सः दैत्यः मुग्धौ नवौ । 'मुग्धः सौम्ये नवे मूढे' इति वैजयन्ती । यौ कान्तास्तनौ तयोः सङ्गेनापि भङ्गुरैः कुटिलैर्नखैरुरोविदारम् उरो विदार्य " परिक्लिश्यमाने च " इति णमुल् प्रत्ययः । प्रतिचस्करे हतः । किरतेः कर्मणि लिट् " ऋच्छत्यृताम् " इति गुणः, " हिंसायां प्रतेश्च " इति सुडागमः । वज्रकठिनोऽपि नखैर्विदारित इति वाङ्मनसयोरगोचरमहिम्नस्ते किमसाध्यमिति भावः ॥ ४७ ॥

अथास्य जन्मान्तरचेष्टितान्याचष्टे—

विनोदमिच्छन्नथ दर्पजन्मनो रणेन कण्ड्वास्त्रिदशैः समं पुनः ।
स रावणो नाम निकामभीषणं बभूव रक्षः क्षतरक्षणं दिवः ॥४८॥

विनोदमिति । अथ स हिरण्यकशिपुः पुनः भूयोऽपि त्रिदशैः समं सह । 'साकं सार्द्धं समं सह' इत्यमरः । रणेन दर्पादन्तस्साराज्जन्म यस्यास्तस्याः कण्डाः भुजकण्ड्वा विनोदमपनोदमिच्छन् । प्रागभवनखक्षतैस्तदपनोदाभावादित्यर्थः । दिवः स्वर्गस्य । क्षतं नष्टं रक्षणं रक्षा येन तत् । क्षतसुरक्षणमित्यर्थः । सापेक्षत्वेऽपि गमकत्वात्समासः । अनेन देवसर्वस्वापहारित्वमुक्तम् । भीषयत इति भीषणः । "नन्द्यादित्वात् ल्युः ।" " भियो हेतुभये षुक् " इति षुक् । निकामं भीषणः । "सुप्सुपा " इति समासः । रावणो नाम रावण इति प्रसिद्धः रक्षो बभूव राक्षसयोनौ जात इत्यर्थः । विश्रवसोऽपत्यं पुमान् रावण इति विग्रहः । " तस्यापत्यम् " इत्यणि कृते ' विश्रवसो विश्रवणरवणौ " इति प्रकृतेः रवणादेशः । पौराणिकास्तु रावयतीति व्युत्पादयन्ति । तदुक्तमुत्तरकाण्डे । ' यस्माल्लोकत्रयं चैतद्रावितं भयमागतम् । तस्मात्त्वं रावणो नाम नाम्ना वीरो भविष्यसि' इति । " रौतेर्ण्यन्तात्कर्त्तरि ल्युट् " । रावणरक्षसोर्नियतलिङ्गत्वाद्विशेषणविशेष्यभावेऽपि स्वलिङ्गता ॥ ४८ ॥

अथास्यौद्धत्यमष्टादशश्लोक्याचष्टे—

प्रभुर्बुभूषुर्भुवनत्रयस्य यः शिरोतिरागाद्दशमं चिकर्त्तिषुः ।
अतर्कयद्विघ्नमिवेष्टसाहसः प्रसादमिच्छासदृशं पिनाकिनः ॥४९॥

प्रभुरिति । यो रावणः भुवनत्रयस्य प्रभुः स्वामी बुभूषुः भवितुमिच्छुः भुवः सन्नन्तादुप्रत्ययः । अतिरागादुत्साहात् । न तु फलविलम्बननिर्वेदादिति भावः । दशमं शिरः चिकर्तिषुः कर्तितुं छेत्तुमिच्छुः । "कृती छेदने" इति धातोः सन्नन्तादुप्रत्ययः । इष्टसाहसः प्रियसाहसः सतत्त्वेच्छामदत्तमिच्छानुरूपं पिनाकिनः प्रसादं वरं विघ्नमिवातर्कयत् उत्प्रेक्षितवान् । इति परमानन्दिकत्वोक्तिः । इत आरभ्य श्लोकषट्केऽपि यच्छब्दस्य स रावणो नाम रक्षो बभूवेति पूर्वेणान्वयः । गङ्गाधरस्तु 'न चक्रमस्याक्रमताधिकन्धरमिति' उपरिष्टादन्वय इत्याह । तदसत् । गुणानां च परार्थत्वादसम्बन्धः स्यात्समत्वात् । इति न्यायादारुण्यादिवत्प्रत्येकं प्रधानान्वयिनां मिथः सम्बन्धायोगादित्यलम् शाखाचङ्क्रमणेन । पुरा किल रावणः काम्ये कर्मणि पशुपतिप्रीणनाय नव शिरांसि अग्नौ हुत्वा दशमारम्भे सन्तुष्टात्तस्मात् त्रैलोक्याधिपत्यं वव्रे इति पौराणिकी कथात्रानुसन्धेया ॥ ४९ ॥

अथ कैलासोत्क्षेपणवृत्तान्तमाह—

समुत्क्षिपन्यः पृथिवीभृतां वरं वरप्रदानस्य चकार शूलिनः ।
त्रसत्तुषाराद्रिसुतासंसम्भ्रमस्वयङ्ग्रहाश्लेषसुखेन निष्क्रयम् ॥ ५० ॥

समुत्क्षिपन्निति । यो रावणः पृथिवीभृतां पर्वतानां वरं श्रेष्ठं कैलासं समुत्क्षिपन् । दर्पादिति शेषः । शूलिनो वरप्रदानस्य पूर्वोक्तस्य । त्रसन्त्याः शैलचलनेन बिभ्यत्यास्तुषाराद्रिसुतायाः पार्वत्याः ससम्भ्रमो यः स्वयङ्ग्रहः प्रियप्रार्थनां विना कण्ठग्रहणम् । "सुप्सुपा" इति समासः । तेन आश्लेषः संमेलनं तेन यत्सुखं तेन । त्रैलोक्याधिपत्यसुखादुत्कृष्टेनेति भावः । निष्क्रयं प्रत्युपकारनिर्गतिं चकार । 'निष्क्रयो बुद्धियोगे स्यात्सामर्थ्ये निर्गतावपि' इति वैजयन्ती । यद्वा निष्क्रयं चकार क्रयेण व्यवहारेण याच्ञादोषदैन्यं ममार्ज्जेत्यर्थः । अत्र सुखवरदानयोर्विनिमयात् परिवृत्तिरलङ्कारः ॥ ५० ॥

पुरीमवस्कन्द लुनीहि नन्दनं मुषाण रत्नानि हरामराङ्गनाः ।
विगृह्य चक्रे नमुचिद्विषा बली य इत्थमस्वास्थ्यमहर्दिवं दिवः ॥ ५१ ॥

पुरीमिति । यो बली बलवान् रावणः नमुचिद्विषा इन्द्रेण विगृह्य विरुध्य पुरीममरावतीमवस्कन्द अवरोध । नन्दनम् इन्द्रवनम् । 'नन्दनं वनम्' इत्यमरः । लुनीहि चिच्छेद । "ई हल्यघोः" इतीकारः । रत्नानि श्रेष्ठवस्तूनि मणीन्वा 'रत्नं श्रेष्ठे मणावपि' इति विश्वः । मुषाण मुमोष । मुष स्तेये "हलः श्नः शानज्झौ" इति श्नः शानजादेशः । अमराङ्गनाः हर जहार । सर्वत्र पौनःपुन्येनेत्यर्थः । इत्थमनेन प्रकारेण अहनि च दिवा चाहर्दिवम् अहन्यहनीत्यर्थः । "अचतुर" इत्यादिना सप्तम्यर्थवृत्तौ द्वन्द्वे समासान्तो निपातः । दिवः स्वर्गस्यास्वास्थ्यमुपद्रवं चक्रे । अत्रावस्कन्देत्यादौ "क्रियासमभिहारे लोट् लोटो हिस्वौ वा च तध्वमोः" इत्यनुवृत्तौ "समुच्चयेऽन्यतरस्याम्" इति विकल्पेन कालसामान्ये लोट् । तस्य यथोपग्रहं मध्यमपुरुषैकवचनादेशो हिस्वौ च प्रकार-

णादिना त्वर्थविशेषावसानम् " अतो हे " इति यथायोग्य हिलुक् । पौन पुन्य भृशार्थो वा क्रियासमभिहार अवस्कन्दनादिक्रियाविशेषाणा समुच्चय क्रियासमभिहार तत्सामान्यस्य करोते "समुच्चये सामान्यवचनस्य " इत्यनुप्रयोगश्चके इति अत्र तिङ् वैचित्र्यात्सोशब्दाख्यो गुण । 'सुपा तिङा पराबृत्ति सौशब्दामिति कीर्त्यते' इति लक्षणात् । समुच्चयश्चालङ्कार ॥ ५१ ॥

सलीलयातानि न भर्तुरभ्रमोर्न चित्रमुच्चैःश्रवसः पदक्रमम् ।
अनुद्रुतः संयति येन केवलं बलस्य शत्रुः प्रशशंस शीघ्रताम् ॥५२॥

सलिलेति । सयति युद्धे । 'समुदाय. स्त्रिया सयत्सामित्याजिसमिद्युध ' इत्यम" । येन रावणेन अनुद्रुतोऽनुधावित' बलस्य शत्रुरिन्द्र' अभ्रमोर्भर्तुरैरावतस्य सलीलयातानि सभङ्गिकगमनानि न प्रशशस । तथा उच्चै श्रवस स्वाश्वस्य चित्र नानाविध पदक्रम पादविक्षेपम् । अर्द्धपलायितादिगतिविशेषमित्यर्थ । न प्रशशस । किन्तु केवल शीघ्रता शीघ्रगामित्वमेव प्रशशस । अन्यथ शीघ्र मामास्कन्द्य ग्रहीष्यतीति भयादिति भाव ॥ ५२ ॥

अशक्नुवन्सोढुमधीरलोचनः सहस्ररश्मेरिव यस्य दर्शनम् ।
प्रविश्य हेमाद्रिगुहागृहान्तरं निनाय बिभ्यद्दिवसानि कौशिकः॥५३॥

अशक्नुवन्निति । अधीरलोचन अस्थिरदृष्टि कौशिको महेन्द्र उलूकश्च । 'महेन्द्रगुग्गुलूलूकव्यालग्राहिषु कौशिक ' इत्यमर । सहस्ररश्मे सूर्यस्येव यस्य रावणस्य विक्रमकर्मणो दर्शनं सोढुमशक्नुवन् । हेमाद्रेर्गुहैव गृह तस्यान्तर प्रविश्य बिभ्यत्तत्रापि वेपमान एव । बिभेते शतरि " नाभ्यस्ताच्छतु " इति नुमभाव । दिवसानि वासराणि निनाय । 'वा तु क्लीबे दिवसवासरौ ' इत्यमर । यथा पेचक सूर्योदये भीत. सन्तिष्ठति तथा सोऽपीति भाव । कौशिक इत्यभिधाया प्रस्तुतैकगोचरत्वेनोभयश्लेषेऽपि विशेष्यश्लेषासम्भवात् उलूकविषयशब्दशक्तिमूलो ध्वनि । सहस्ररश्मेरिवेत्युपमानिर्वाहकत्वाद्वाच्यानिद्रूयङ्गम् ॥ ५३ ॥

बृहच्छिलानिष्ठुरकण्ठघट्टनाद्विकीर्णलोलाग्निकणं सुरद्विषः ।
जगत्प्रभोरप्रसहिष्णु वैष्णवं न चक्रमस्याक्रमताधिकन्धरम् ॥५४॥

बृहच्छिलेति । बृहति शिलेव निष्ठुरे कण्ठे घट्टनादभिघाताद्विकीर्णा विक्षिप्ता लोलाश्चाग्निकणा स्फुलिङ्गा यस्य तत् अत एवाप्रसहिष्णु अनभिभावकम् । प्रसहनमभिभव इति वृत्तिकार । "अलङ्कृञ्" इत्यादिना इष्णुच् । वैष्णव चक्र सुदर्शन जगत्प्रभो सकललोकैकस्वामिन अस्य सुरद्विषो रावणस्य कन्धरायामधि अधिकन्धरम् आधिग्रीवम् । विभक्त्यर्थेऽव्ययीभाव . " अव्ययीभावश्च " इति नपुसकत्वात् " ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य " इति ह्रस्वत्वम् । 'कण्ठो गलोऽथ ग्रीवाया शिरोधि' कन्धरेत्यपि ।' इत्यमर । नाक्रमतामतिहत न क्रमतेस्म न प्रवर्ततेस्म । किन्तु प्रतिहतमेवेत्यर्थ । "वृत्तिसर्गतायनेषु क्रम " इति तृत्तायामात्मनेपदम् । ग्रामेऽप्रतिबन्ध ॥ ५४ ॥

**विभिन्नशङ्खः कलुषीभवन्मुहुर्मदेन दन्तीव मनुष्यधर्मणः ।
निरस्तगाम्भीर्यमपास्तपुष्पकं प्रकम्पयामास न मानसं न सः॥९५॥**

विभिन्नेति । स रावणो मदेन । दर्पेणेभदानेन च । 'मदो दर्पेभदानयोः' इति विश्वः । दन्तीव गज इव विभिन्नो विघट्टितः शङ्खो निधिर्भेदः कम्बुश्च येन स सन् । 'शङ्खो निध्यन्तरे कम्बुललाटास्थिनखेषु च' इति विश्वः । अकलुषः कलुषः क्षुब्धमाविलं च भवन् कलुषीभवन् । निरस्तगाम्भीर्यमविकारित्वमगाधित्वं च यस्य तत् । अपास्तानि पुष्पाणि पुष्पकं विमानं च यस्मात् तत् । पुष्पपक्षे वैभाषिकः कप् प्रत्ययः । मनुष्यस्येव धर्मः श्मश्रुलत्वादिर्यस्येति स्वामी । तस्य मनुष्यधर्मणः । धर्मादनिच् केवलात् '' इत्यनिच् । मानसं चित्तं तदाख्यं सरश्च । 'मानसं मनसि स्वान्ते ' इति विश्वः । मुहुर्न प्रकम्पयामास न क्षोभयामासेति न किन्तु प्रकम्पयामासैवेत्यर्थः । कुबेरस्य महामहिमतया सम्भावितात्प्रकम्पित्वनिवारणाय नञ्द्वयम् । सम्भाव्य निषेधनिवर्तने नञ्द्वयमिति वामनः । अत्र दन्तिरावणयोः प्रकृताप्रकृतयोः श्लेषः ॥ ९५ ॥

**रणेषु तस्य प्रहिताः प्रचेतसा सरोषहुङ्कारपराङ्मुखीकृताः ।
प्रहर्तुरेवोरगराजरज्जवो जवेन कण्ठं सभयाः प्रपेदिरे ॥९६॥**

रणेष्विति । किञ्च रणेषु प्रचेतसा वरुणेन प्रहिताः प्रयुक्ताः उरगराजा महासर्पास्ते रज्जव इव उरगराजरज्जवः । नागपाशा इत्यर्थः । तस्य रावणस्य सरोषहुङ्कारेण पराङ्मुखीकृताः व्यावर्तिताः अत एव सभयाः सन्तः जवेन वेगेन प्रहर्तुः प्रयोक्तुः प्रचेतस एव कण्ठं प्रपेदिरे प्राप्ताः । अत्र परहिंसाप्रयुक्तस्यायुधस्य वैपरीत्येन स्वकण्ठग्रहणादनर्थोत्पत्तिरूपो विषमालङ्कारः ॥ ९६ ॥

**परेतभर्तुर्महिषोऽमुना धनुर्विधातुमुत्खातविषाणमण्डलः ।
हृतेऽपि भारे महतस्त्रपाभरादुवाह दुःखेन भृशानतं शिरः ॥९७॥**

परेतभर्तुरिति । अमुना रावणेन धनुः शार्ङ्गं विधातुं निर्मातुं मुत्खातमुत्पाटितं विषाणयोः शृङ्गयोर्मण्डलं वलयं यस्य स परेतभर्तुः यमस्य महिषः । वाहनभूत इति भावः । भारे विषाणरूपे भृङ्गे धनुः । हृतेऽपि महतस्त्रपैव भरस्तस्मात् । ततोऽपि दुर्भरादिति भावः । भृञ् क्र्यादित्वात् । 'ऋदोरप्' इति अप्प्रत्ययः । भृशमत्यर्थमानतं नम्रं शिरो दुःखेनोवाह वहति स्म । अस्यैवागारित्किरितत्वात् '' वचिस्वपि '' इत्यादिना सम्प्रसारणम् । हृतेऽपि भारे नतमिति विरोधः तदनुप्राणिता चेयमवनतिहेतुत्वसाधर्म्यात् त्रपाभारत्वोत्प्रेक्षा ॥ ९७ ॥

**स्पृशन्सशङ्कः समये शुचावपि स्थितः कराग्रैरसमग्रपातिभिः ।
अघर्मघर्मोदकबिन्दुमौक्तिकैरलङ्कारास्य वधूरहस्करः ॥९८॥**

स्पृशन्निति अहः करोतीत्यहस्करः सूर्यः '' दिवाविभानिशा '' इत्यादिना टप्रत्ययः । कस्कादित्वात्सत्वम् । शुचौ समये ग्रीष्मकाले अनुपहते आचारे च स्थितोऽपि । 'शुचिः शुद्धेऽनु-

पहते शृङ्गागाढयोरपि । ग्रीष्मे हुतवहेऽपि स्यात्' इति विश्व । 'समया शपथाचारकालसिद्धान्तसंविद ' इत्यमर । असमग्रपातिभि । सङ्कुचितवृत्तिभिरित्यर्थ । कराणामग्रूना हस्ताना चाग्रै: । ' बाल्हिहस्तांशव करा. ' इत्यमर । सगर्क स्पृशन् । अविश्वासभयादिति भाव । अवर्मा: अनुष्णा. घर्मोदकबिन्दव स्वेदोदबिन्दव । " मन्थौदन " इत्यादिना विकल्पादुदकशब्दस्योदादेशाभाव । तैरेव मौक्तिकैरस्य वधूरलञ्चकार । ग्रीष्मे तद्भयात्तान्नलिनतपनीयर्थ । अत्र प्रस्तुतधर्मविशेषणमात्रसाम्यादप्रस्तुतप्रसाधकप्रतीते समासोक्तिरलकार ॥ ५८ ॥

कलासमग्रेण गृहानमुञ्चता मनस्विनीरुत्कयितुं पटीयसा ।
विलासिनस्तस्य वितन्वतारतिं न नर्मसाचिव्यमकारि नेन्दुना॥५९

कलासमग्रेणेति । कलाभि षोडशांशै. शिल्पविद्याभिश्च समग्रेण सम्पूर्णेन । ' कला शिल्पे वित्तवृद्धौ चन्द्रांशे कलने कला' इति वैजयन्ती । गृहानमुञ्चता सदा तद्गृहेष्वेव वसता । दण्डभयात् सेवाधर्मत्वाच्चेति भाव । मनस्विनीर्मानिनीरुत्का उत्सुका कर्तुम् उत्कयितुम् । ' उत्क उन्मना. ' इति निपातादुत्कशब्दात् ' तत्करोति" इति ण्यन्तात्तुमुन् । पटीयसा समर्थेनचतुरेणेत्यर्थः । कुत । रति वितन्वता चन्द्रिकाभिश्चतुरोक्तिभिश्च राग वर्द्धयता इन्दुना विलासिनो विलसनशीलस्य । ' वौ कषलस " इत्यादिना घिनुण् प्रत्यय । तस्य रावणस्य नर्मसाचिव्य क्रीडासम्बन्ध्यविकारित्वे सचेष्टत्वम् । ' लीला क्रीडा च नर्म च ' इत्यमर । नाकारीति न। किन्त्वकार्यैवेत्यर्थ । अनौचित्यात्प्राप्तनर्मसाचिव्यनिषेधनिवारणार्थ नञ्द्वयम् । ' सम्भाव्यनिषेधनिवर्त्तने नञ्द्वयम्' इति वामन । अत्रेन्दो प्रकृतस्याप्रकृतेन नर्मसचिवेन श्लेष ॥ ५९ ॥

विदग्धलीलोचितदन्तपत्रिकाविधित्सया नूनमनेन मानिना ।
न जातु वैनायकमेकमुद्धृतं विषाणमद्यापि पुनः प्ररोहति ॥६०॥

विदग्धेति । मानिना अहकारिणा अनेन रावणेन विदग्धलीलाश्चतु विलासिन्य इत्यर्थ । तासामुचिताश्च ता दन्तपत्रिकाश्च कर्णभूषणानि विलासिनीविभ्रमदन्तपत्रिकेति साधीयान्पाठ । अन्यथा विप्रकृष्टार्थप्रतीतिकत्वेन कष्टाख्यार्थदोषापत्ते । कष्टं तदर्थावगमो दूरायत्तो भवेत् ' इति लक्षणात् । विलासिनीना या विभ्रमदन्तपत्रिका विभ्रमार्थानि यानि दन्तमयपत्राणि । विभ्रमदन्तशब्दयो षष्ठीसमासपर्यवसानात् तादर्थ्यलाभ' । तासा विधित्सया विधातुमिच्छया । विपूर्वाद्धाते: " सनि मी " इत्यादिना इकार । " अत्र लोपोऽभ्यासस्य " इत्यभ्यासलोपस्तत. स्त्रियामित्यनुवृत्तौ " अ प्रत्ययात् " इत्यकारप्रत्यये टाप् । नून निश्चित जातु कदाचिदपि । ' कदाचिज्जातु ' इत्यमरः । उद्धृतमुत्पाटित विनायकस्य गणेशस्येद वैनायकम् एक विषाण दन्त । 'विषाण पशुशृगे स्यात्क्रीडाद्विरदन्तयो ' इति विश्व । अद्यापि पुनर्न प्ररोहति न प्रादुर्भवति । प्रपूर्वात् " रुह प्रादुर्भावे " इत्यस्मात् लट् । किमन्यदकार्यमस्येति भाव । एतदन्यथा कथ गजाननस्यैकदन्तत्वमुत्प्रेक्ष्यते नूनमिति ॥ ६० ॥

निशान्तनारीपरिधानधूननस्फुटागसाप्यूरुषु लोलचक्षुषः।
प्रियेण तस्यानपराधबाधिताःप्रकम्पनेनानुचकम्पिरे सुराः॥६१॥

निशान्तेति। निशान्तं गृहम्। 'निशान्त गृहशान्तयो ' इति विश्व , तत्र या. नार्यः। शुद्धान्तास्त्रिय इत्यर्थः। तासा परिधानानि अन्तरीयाणि। ' अन्तरीयोपसव्यानपरिधानान्यधोंऽशुके ' इत्यमर.। तेषा धूनन चालनम्। धूञो ण्यन्तात् ल्युट् " धूञ्प्रीञोर्नुग्वक्तव्यः " इति नुक्। तेन स्फुटागसा व्यक्तापराधेनापि अन्त.पुरद्रोहस्य महापराधत्वादिति भाव'। ऊरुषु तासां सक्थिषु लोलचक्षुषः सतृष्णदृष्टेः। ' सक्थि क्लीवे पुमानूरुः ' इति ' लोलश्चलसतृष्णयोः ' इति चामर। अत एव तस्य रावणस्य प्रियेण प्रमोदास्पदभूतेन अङ्गीकृता म्लानिर्न दोषायेति न्यायादिति भाव। प्रकम्पनेन वायुना अनपराधे अपराधाभावेऽपि बाधिता' ।राजपुरुषैरिति शेष। सुरा अनुचकम्पिरे स्वयमुपायेनान्त प्रविश्यानपराधबाधानिवेदनेन मोचयता वायुना अनुकम्पिता इत्यर्थः। एकस्य वैदग्ध्याद्बहवो जीवन्तीति भावः। ६१॥

तिरस्कृतस्तस्य जनाभिभाविना मुहुर्महिम्ना महसां महीयसाम्।
बभार वाष्पैर्द्विगुणीकृतं तनुस्तनूनपाद्धूमवितानमाधिजैः॥६२॥

तिरस्कृत इति। किञ्च तस्य रावणस्य जनाभिभाविना लोकतिरस्कारिणा महीयसामतिमहता महसा तेजसा महिम्ना महत्त्वेन। "पृथ्वादिभ्य इमनिज्वा" इति इमनिच्। मुहुस्तिरस्कृत. अत एव तनु कृश तनु न पातयति जाठररूपेण शरीर धारयतीति तनूनपादग्निरिति स्वामी। "न भ्राट्" इत्यादिसूत्रेण निपातनान्नञो लोपाभाव'। आधिजैर्दु.खोत्थैर्वाष्पै' निश्वासोष्मभि। ' वाष्पौ नेत्रजलोष्मणोः ' ' पुस्याधिर्मानसी व्यथा ' इति विश्वामरौ। द्वौ गुणावावृत्ती यस्य स द्विगुणः। ततश्च्विः। द्विगुणीकृत द्विरावृत्तम्। ' गुणस्त्वावृत्तिशब्दादिज्येन्द्रियामुख्यतन्तुषु ' इति वैजयन्ती। धूमवितान धूममण्डल बभार। अग्निरपि तत्सन्निधौ निस्तेजस्को धूमायमान आस्त इत्यर्थ'। धूमद्वैगुण्यासम्बन्धे सम्बन्धाभिधानादतिशयोक्ति' ॥६२॥

परस्य मर्माविधमुज्झतां निजं द्विजिह्वतादोषमजिह्मगामिभिः।
तमिद्धमाराधयितुं सकर्णकैः कुलैर्न भेजे फणिनां भुजङ्गता॥६३॥

परस्येति। किञ्च इद्ध दीप्तम्। उग्रमित्यर्थः। "ञि इन्धी दीप्तौ" कर्त्तरि क्त। त रावणमाराधयितु सेवितु परस्य स्वेतरस्य मर्माणि हृदयादिजीवस्थानानि कुलाचारव्रतानि च विध्यति भिनत्तीति मर्मावित्। विध्यते क्विप्, " ग्रहिज्या" इति सम्प्रसारणम् "नहिवृति" इत्यादिना पूर्वस्य दीर्घः। त मर्माविध निज स्वीय द्विजिह्वतायां सर्पत्वे यो दोषो दृष्टिविषत्वादिस्तम्। अन्यत्र द्विजिह्वता पिशुनता ' द्विजिह्वौ सर्पसूचकौ ' इत्यमरः। सैव दोषस्तमुज्झता त्यजता फणिना सम्बन्धिभिरजिह्मगामिभि। कस्चरणादिमद्विग्रहधारित्वात् ऋजुगातिभिः। अकपटचारिभिश्च तथा कर्णाभ्य सह वर्त्तन्त इति सकर्णका' तैश्चक्षुःश्रवस्त्व विहायाविष्कृतकर्णैरित्यर्थः " तेन सहेति तुल्ययोगे "

इति बहुव्रीहि, "शेषाद्विभाषा" इति कप्। अन्यत्र कर्णयति सर्वं शृणोतीति "कर्णको नियन्ता कर्णयतेर्ण्वुल्" ततः पूर्ववत्समासे सकर्णकैः सनियामकैरित्यर्थः। फणिनां सर्पाणां कुलैर्वर्गैर्भुजङ्गता सर्पता विटत्वं च 'भुजगो विटसर्पयोः' इति हलायुधः। न भेजे त्यक्ता। भुजैर्गच्छन्तीति भुजङ्गाः। "गमेः सुपि खच्च डिद्वा वाच्यः"। तस्मिन्नियन्तरि खलैः खलत्वमपि सर्पैः सर्पत्वमपि विहाय त्वेषभावक्रियाभिः सौम्यत्वं श्रितमित्यर्थः। अत्र प्रस्तुतसर्पविशेषणसाम्यादप्रस्तुतखलव्यवहारप्रतीतेः समासोक्तिः ॥ ६३ ॥

तदीयमातङ्गघटाविघट्टितैः कटस्थलप्रोषितदानवारिभिः ।
गृहीतदिक्कैरपुनर्निवर्तिभिश्चिराय याथार्थ्यमलम्भि दिग्गजैः ॥ ६४ ॥

तदीयेति । तदीयमातङ्गानां घटाभिर्व्यूहैः विघट्टितैरभिहतैः। 'गजानां घटना घटा' इत्यमरः। अत एव कटस्थलेभ्यः प्रोषितान्यपगतानि दानवारीणि येषां तैः गृहीताः पलाय्य संश्रिता दिशो यैस्तैर्गृहीतदिक्कैः। "शेषाद्विभाषा" इति कप्। अपुनर्निवर्तिभिर्भयात्तत्रैव स्थितैर्दिग्गजैः चिराय याथार्थ्यं दिक्षु स्थिता गजाः दिग्गजा इत्यनुगतार्थनामकत्वमलम्भि लब्धम्। लभेर्ण्यन्तात्कर्मणि लुङ्, "विभाषा चिण्णमुलोः" इति विकल्पानुगमः ॥ ६४ ॥

अभीक्ष्णमुष्णैरपि तस्य सोष्मणः सुरेन्द्रबन्दीश्वसितानिलैर्यथा ।
सचन्दनाम्भःकणकोमलैस्तथा वपुर्जलार्द्रापवनैर्न निर्ववौ ॥ ६५ ॥

अभीक्ष्णमिति । ऊष्मणा स्मरज्वरेण सहितः सोष्मा तस्य सोष्मणस्तस्य रावणस्य वपुरभीक्ष्णं भृशमुष्णैरपि। शोकादिति भावः। सुरेन्द्रस्य बन्द्यः बन्दीकृताः स्त्रियः तासां श्वसितानिलैः निःश्वासमारुतैर्यथा निर्ववौ निर्वृतम्। 'निर्वाणं निर्वृतौ मोक्षे' इति वैजयन्ती। तथा सचन्दनाम्भःकणाः चन्दनोदकबिन्दुसहिताः ते च ते कोमला मृदुलाश्च तैर्जलार्द्राणां जलोक्षिततालवृन्तानां पवनैर्न निर्ववौ। 'पवित्रं तालवृन्तं स्यादुत्क्षेपव्यजनं च तत्। जलेनार्द्रं जलार्द्रा स्यात्' इति वैजयन्ती। अत्र सन्ततस्योष्णोपचारान्निर्वृतिरिति कारणविरुद्धकार्योत्पत्तिरूपो विषमालङ्कारः ॥ ६५ ॥

तपेन वर्षाः शरदा हिमागमो वसन्तलक्ष्म्या शिशिरः समेत्य च ।
प्रसूनक्लृप्तिं दधतः सदर्तवः पुरेऽस्य वास्तव्यकुटुम्बितां ययुः ॥ ६६ ॥

तपेनेति । सदा नित्यम्। न तु यथाकालं प्रसूनक्लृप्तिं कुसुमसम्पत्तिम्। 'प्रसूनं कुसुमं सुमम्' इत्यमरः। दधतो धारयन्त ऋतवो वर्षाः प्रावृट् तपेन ग्रीष्मेण 'उष्ण उष्मागमस्तपः' इति 'स्त्रियां प्रावृट् स्त्रियां भूम्नि वर्षा अथ शरत्स्त्रियाम्' इति चामरः। तथा हिमागमो हेमन्तः शरदा तथा शिशिरो वसन्तलक्ष्म्या च समेत्य मिथुनीभावेन मिलित्वा अस्य रावणस्य पुरे वसन्तीति वास्तव्याः वस्तारः "वसेस्तव्यत्कर्तरि णिच्च" इति तव्यत्प्रत्ययः ते च कुटुम्बिनश्च तेषां भावस्तत्तां प्रति-

यासित्वमित्यर्थः । ययु समेत्य ययुरिति समुदायिनोरभेदविवक्षया समानकर्तृत्वम् । अत्र पुरे युगपन् सर्वर्तुसम्बन्धाभिधानादसम्बन्धे सम्बन्धरूपातिशयोक्तिः ॥ ६६ ॥

स चायमासन्नविनाशस्त्वयैव हत इति युग्मेनाह—

अमानवं जातमजं कुले मनोः प्रभाविनं भाविनमन्तमात्मनः ।
मुमोच जानन्नपि जानकीं न यः सदाभिमानैकधना हि मानिनः ॥ ६७ ॥

अमानवमिति । मनोरयं मानवः । 'तस्येदम्' इत्यण् प्रत्यये पर्यवसानाज्जाताविकवचनम् । अन्यथा मनोर्जातमित्येव स्यात् । अमानवममानुषं न जायत इत्यजम् "अन्येष्वपि दृश्यते" इति डप्रत्ययः । तथापि मनोः कुले जातं गमस्वरूपेणोत्पन्नमिति विरोधः । स चाभासत्वादलङ्कार इत्याह । प्रभाविनमिति महानुभावं तन्मिन्न कश्चिद्विरोध इति भावः । 'आभीक्ष्ण्ये णिनिः' इति णिनिः । इनिर्वा मत्वर्थीयः । भवमिति शपः । आत्मन. स्वस्यान्तं करोतीति अन्तम् । अन्तशब्दात् । "तत्करोति" इति ण्यन्तात्पचाद्यच् । भाविनं भविष्यन्तम् । "भविष्यति गम्यादयः" इति णिन्यन्तनिपातः । जानन्नपि यो रावण·जनकस्यापत्यं स्त्री जानकी सीता तां न मुमोच नामुञ्चदित्यन्वयः । जानतोऽपि अमोचने कारणमाह । मानिनः सदा प्राणात्ययेऽपि अभिमान एवैकं मुख्यं धनं येषां ते प्राणात्ययेऽपि न मानं मुञ्चन्तीत्यर्थः । कारणेन कार्यसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ ६७ ॥

स्मरस्यदो दाशरथिर्भवन्भवानमुं वनान्ताद्वनितापहारिणम् ।
पयोधिमावद्धचलज्जलाविलं विलङ्घ्य लङ्कां निकषा हनिष्यति ॥ ६८ ॥

स्मरतीति । भातीति भवान् । 'भातेर्डवतुः' । दशरथस्यापत्यं पुमान्दाशरथिः । "अत इञ्" इतीञ् प्रत्ययः । भवन् राम सन्नित्यर्थः । भवनेलट. शत्रादेशः । वनान्ताद्दण्डकारण्यात् वनितापहारिणं सीतापहर्तारम् अमुं रावणम् । आवद्ध. प्रक्षिप्ताद्रिभिर्बद्धसेतुः । अत एव चलन्ति जलानि यस्य च । अत एव आविलश्च तम् आवद्धचलज्जलाविलं पयोधिं विलङ्घ्य लङ्कां निकषा लङ्कासमीपे । 'समयानिकषाशब्दौ सामीप्ये त्वव्यये मतौ' इति हलायुधः । "अभितः परितः-समयानिकषाहाप्रतियोगेऽपि" इति द्वितीया । हनिष्यति अवधीत् । "अभिज्ञावचने लृट्" इति भूते लृट् । अदो हननं भवान् स्मरतीति काकुः प्रत्यभिजानासि किमित्यर्थः । "शेषे प्रथमः" ॥ ६८ ॥

अथोपपत्तिं छलनापरोऽपरामवाप्य शैलूष इवैष भूमिकाम् ।
तिरोहितात्मा शिशुपालसंज्ञया प्रतीयते सम्प्रति सोऽप्यसःपरैः ॥ ६९ ॥

अथेति । अथ राक्षसदेहत्यागानन्तरं सम्प्रति छलनापरः परप्रतारणापरः एष रावणः शैलूषो नटः तस्य भूमिकां रूपान्तरमिव । 'शैलूषो नटभिल्लयो.' । 'भूमिका रचनायां स्यान्मूर्त्यन्तरपरिग्रहे' इति विश्वः । अपरामुपपत्तिं जन्मान्तरमित्यर्थः । अवाप्य शिशुपालसंज्ञया तिरोहितात्मा तिरोहित-

स्वरूप सन् सोऽपि रावण एव सन्नपि परैरितरैः स न भवतीत्यसः तस्मादन्य एव ।" नञ् " इति नञ्समासः । अत एव " एतत्तदो सुलोपो" इत्यादिना न सुलोपः । प्रतीयते ज्ञायत इति "प्रति-पूर्वादिणः कर्मणि लट् " । यथैक एव शैलूष रूपान्तरमास्थाय तद्देशभाषादिभिरन्य एव प्रतीयते तद्वद्वयमपि मानुषदेहपरिग्रहादन्य इव भाति, दौर्जन्यं तु तदेवेत्यवश्यं सहार्य इति भाव ॥ ६९ ॥

अथैतद्दौर्जन्य त्रिभिराविष्करोति-

स बाल आसीद्वपुषा चतुर्भुजो मुखेन पूर्णेन्दुनिभस्त्रिलोचनः ।
युवा कराक्रान्तमहीभृदुच्चकैरसंशयं सम्प्रति तेजसा रविः ॥७०॥

स बाल इति । स शिशुपालो बाल सन् वपुषा चतुर्भुजो भुजचतुष्टयवानासीत् । विष्णुरिति ध्वनि । मुखेन पूर्णेन्दुनिभस्तत्तुल्यः त्रिलोचनो लोचनत्रयवानासीत् । त्र्यम्बक इति ध्वनिः । बाल-विशेषणात्सम्प्रति तत्सर्वमन्तर्हितमिति भाव । सम्प्रति तु युवा सन् करेण बलिना आक्रान्तमहीभृ-दवष्टितराजक सन् अन्यत्राक्रान्तशैलः । ' बलिहस्तांशवः कराः ' इत्यमर । उच्चकैस्तेजसा रविरसंशयं संशयो नास्तीत्यर्थ । ' अर्थाभावेऽव्ययीभाव " । वपुषा मुखेन चेति । " येनाङ्गवि-कार " इति तृतीया । हानिवदाधिक्यस्यापि विकारत्वात् । तथा च वामन । हानिवदाधिक्य-मप्यङ्गविकार इति । तेजसेति " प्रकृत्यादिभ्य उपसङ्ख्यानम् " इति तृतीया । कराक्रान्तेत्यादिना श्लेषानुप्राणितेयमुत्प्रेक्षा । रविरसंशयमिति । तस्य पूर्णेन्दुनिभ इत्युपमया संसृष्टिः। हरिहरादितुल्यमहिमत्वादतिदुर्दर्प स इति भाव ॥ ७० ॥

स्वयं विधाता सुरदैत्यरक्षसामनुग्रहावग्रहयोर्यदृच्छया ।
दशाननादीनभिराद्धदेवतावितीर्णवीर्यातिशयान्हसत्यसौ ॥७१॥

स्वयमिति । यदृच्छया स्वेच्छया । स्वय सामर्थ्येन । न तु देवताप्रसादबलादिति भाव । सुरदैत्यरक्षसा देवदानवयातुधानानाम् अनुग्रहावग्रहयो प्रसादनिग्रहयोर्विधाता कर्ता असौ शिशुपालः अभिराद्धाभिराधिताभिर्देवताभिरीश्वरादिभिर्वितीर्णो दत्तो वीर्यातिशय प्रभावातिशयो येषा तान्द-शाननादीन् हसति । अनन्यप्रसादलब्धैश्वर्ये मयि कथ याचकैस्तुल्यत्वेनेति गर्वाद्धसतीत्यर्थ ॥ ७१ ॥

बलावलेपादधुनापि पूर्ववत्प्रबाध्यते तेन जगज्जिगीषुणा ।
सतीव योषित्प्रकृतिःसुनिश्चला पुमांसमभ्येति भवान्तरेष्वपि॥७२॥

बलेति । जिगीषुणा नित्योत्साहवतेत्यर्थः । तेन शिशुपालेन बलावलेपाद्बलगर्वादधुनापि पूर्ववत्पूर्वजन्मनीव जगत्प्रबाध्यते । तथाहि । सती पतिव्रता योषिदिव सुनिश्चला अतिस्थिरा प्रकृतिः स्वभावो भवान्तरेष्वपि पुमासमभ्येति । ' पति या नाभिचरति मनोवाक्कायसयता । सा भर्तुर्लोक-माप्नोति सद्भि साध्वीति चोच्यते ॥ ' इति मनु । उपमोपमेयपुरस्कृतोऽर्थान्तरन्यास ॥७२॥

तदेनमुल्लङ्घितशासनं विधेर्विधेहि कीनाशनिकेतनातिथिम् ।
शुभेतराचारविपक्त्रिमापदो विपादनीया हि सतामसाधवः ॥७३॥

तदेनमिति । तत्तस्माद्विधेर्विधातुरपि उल्लङ्घितशासनम् । स्वत्र विधातेव्युद्युक्तरीत्यातिक्रान्तदैवमित्यर्थः । सापेक्षत्वेऽपि गमकत्वात्समासः । एनं शिशुपालं कीनाशनिकेतनातिथिं कीनाशो यमः तस्य निकेतनं गृहं तत्र अतिथिं प्राघूर्णिकं विधेहि कुरु । यमगृहं प्रेषयेत्यर्थः । 'कीनाशः कर्षके क्षुद्रे कृतान्तोपांशुघातिनोः ' इति विश्वः । न चैतत् प्राघूर्णिकहस्तेन सर्पमारणं भवादृशामयुक्तं कर्तव्यत्वादित्याह । शुभेतराचारेण दुराचारेण विपक्त्रिमा परिपाकेन निर्वृत्ता कालपरिपाकेन प्राप्ता आपदो येषां ते तथोक्ताः । "ड्वितः क्त्रिः " इति पचेः क्त्रिप्रत्ययः, "क्त्रेर्मम्नित्यम्" इति तद्धितो मप्प्रत्ययः । असाधवो दुष्टाः । सतां भवादृशां जगन्नियन्तॄणां निपातनीया वध्याः । न च नैर्घृण्यदोषः । स्वदोषेणैव तेषां विनाशे निमित्तमात्रत्वादस्माकमित्याशयेन शुभेतराचारेत्यादिविशेषणोक्तिः । सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ ७३ ॥

किञ्चैवं दुष्टनिग्रहे शिष्टानुग्रहः स्यादित्याह—

हृदयमरिवधोदयादुदूढद्रढिम दधातु पुनः पुरन्दरस्य ।
घनपुलकपुलोमजाकुचाग्रद्रुतपरिरम्भनिपीडनक्षमत्वम् ॥ ७४ ॥

हृदयमिति । अरिवधोदयाद्रिपुनाशलाभात् उदूढद्रढिम नैश्चिन्त्यात् धृतदार्ढ्यम् । स्वस्थमेवेति यावत् । पृथ्वादित्वात् दृढशब्दात् 'पृथ्वादिभ्य इमनिज्वा " इति इमनिच् प्रत्ययः "र ऋतो हलादेर्लघोः " इति ऋकारस्य रेफादेशः । पुरः शत्रुपुराणि दारयतीति पुरन्दर इन्द्रः । "पूःसर्वयोर्दारिसहोः " इति खच् प्रत्ययः 'खचि ह्रस्वः " इति उपधाह्रस्वः ' वाचंयमपुरन्दरौ च" इति निपातनादमन्तत्वं मुमागमश्च । तस्य हृदयं पुनर्भूयोऽपि । पूर्ववदेवेति भावः । घनपुलकयोः सान्द्ररोमाञ्चयोः पुलोम्नो जाता पुलोमजा शची तस्याः कुचाग्रयोः द्रुतपरिरम्भ औत्सुक्यात् शीघ्रालिङ्गनं तत्र यत्पीडनं तस्य क्षमत्वं सहत्वं दधातु प्राक् चित्तविक्षेपात्त्यक्तभोगेन शक्रेण सम्प्रति त्वत्प्रसादान्निष्कण्टकं स्वकीयं राज्यं भुज्यतामित्यर्थः । अत्र दार्ढ्यपदार्थस्योदूढद्रढिमेति विशेषणगत्या निपीडनक्षमत्वं प्रति हेतुत्वोक्त्या पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गम् । हृदयनिपीडनक्षमत्वसम्बन्धेऽप्यसम्बन्धोक्त्या सम्बन्धेऽसम्बन्धरूपातिशयोक्तिरित्यर्थालङ्कारो वृत्त्यनुप्रासश्च तैरन्योन्यं संसृज्यते । पुष्पिताग्रावृत्तम् । 'अयुजि नयुगरेफतो यकारो युजि च नजौ जरगाश्च पुष्पिताग्रा ।' इति लक्षणात् ॥ ७४ ॥

ओमित्युक्तवतोऽथ शार्ङ्गिण इति व्याहृत्य वाचं नभ-
स्तस्मिन्नुत्पतिते पुरः सुरमुनाविन्दोः श्रियं बिभ्रति ।
शत्रूणामनिशं विनाशपिशुनः क्रुद्धस्य चैद्यं प्रति
व्योम्नीव भ्रुकुटिच्छलेन वदने केतुश्चकारास्पदम् ॥ ७५ ॥

ओमिति। तस्मिन्सुरमुनौ नारदे इति इत्थम्भूता वाच व्याहृत्योक्त्वा नभ उत्पतिते खमुद्गते पुरोऽग्र इन्दो श्रिय बिभ्रति सति अथ मुनिवाक्यानन्तरमोमित्युक्तवतस्तथास्त्वित्यङ्गीकृतवत. । 'ओम्प्रश्नेऽङ्गीकृतौ रोषे' इति विश्व । चेदिनां जनपदानामय चैद्यः शिशुपालः " वृद्धेत्कोसलाजादाञ्ञ्यङ् " इति ञ्यङ् प्रत्यय । त प्रति क्रुद्धस्य शार्ङ्गिणो माधवस्य वदने व्योम्नीवानिश सर्वदा अव्यभिचारेणेत्यर्थ. । शत्रूणा विनाशस्य पिशुन सूचक । 'चन्द्रमस्युत्थित केतुः क्षितीशाना विनाशकृत्' इति शास्त्रादिति भाव । केतुरुत्पातविशेष । केतुर्द्युतौ पताकाया ग्रहोत्पातारिलक्ष्मसु ' इत्यमर । भ्रुकुटिच्छलेन भ्रूभङ्गव्याजेनास्पद प्रतिष्ठा स्थिति चकार "आस्पद प्रतिष्ठायाम् " इति निपातनात् सुडागमः । अनेन वाक्यार्थभूतस्य वीररससहकारिणो रौद्रस्य स्थायी क्रोध स्वानुभावेन भ्रुकुट्या कारणभूतोऽनुमेय इत्युक्तम् । तथा तदविनाभूतस्याङ्गिनो वीरस्य स्थायी प्रयत्नोपनेय उत्साहोऽप्युत्पन्न एवेत्यनुसन्धेयम् । इन्दो श्रिय बिभ्रति इत्यत्र मुनेरिन्दुश्रियोऽयोगात्तत्सदृशामिति सादृश्याक्षेपादसम्भवाद्वस्तुसम्बन्धरूपो निदर्शनालङ्कार । वदने व्योम्नीवेत्युपमा । भ्रुकुटिच्छलेन केतुरिति छलादिशब्देनासत्यत्वप्रतिपादनरूपोऽपह्नव तत्र शत्रुविनाशसूचके त्वपेक्षितेन्दुसान्निध्यव्योमावस्थानसम्पादकत्वे निदर्शनोपमयोरपह्नवोपकारसत्त्वादङ्गाङ्गिभावेन सङ्कर । चमत्कारकारितया मङ्गलाचरणरूपतया च सर्गान्त्यश्लोकेषु श्रीशब्दप्रयोग. । यथाह भगवान् भाष्यकारः । 'मङ्गलादीनि मङ्गलमध्यानि मङ्गलान्तानि शास्त्राणि प्रथन्ते वीरपुरुषाण्यायुष्मत्पुरुषाणि च भवन्ति अध्येतारश्च प्रवक्तारो भवन्तीति' । शार्दूलविक्रीडित वृत्तम् । 'सूर्याश्वैर्मसजस्तता' सगुरवः शार्दूलविक्रीडितम् । ' इति लक्षणात् । सर्गान्तत्वाद् वृत्तभेदः । यथाह दण्डी । 'सर्गैरनतिविस्तीर्णै' श्राव्यवृत्तै सुसन्धिभि' । सर्वत्र भिन्नसर्गान्तैरुपेत लोकरञ्जकम् ' इति ॥ ७९ ॥

इति श्रीमाघकृतौ शिशुपालवधे महाकाव्ये कृष्णनारदसम्भाषणं नाम प्रथमः सर्गः ॥ १ ॥

अथ कवि काव्यवर्णनीयाख्यानपूर्वकसर्गसमाप्ति कथयति । **इतीति** । इतिशब्द. समाप्तौ माघकृताविति कविनामकथन महाकाव्ये इति महच्छब्देन लक्षणसम्पत्ति सूचिता शिशुपालवध इति काव्यनामकथन प्रथमः सर्ग इति । समाप्त इति शेष. । एवमुत्तरत्रापि द्रष्टव्यम् ।

इति श्रीमहामहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचितायां शिशुपालवधव्याख्यायां सर्वङ्कषाख्यायां प्रथमः सर्गः ॥ १ ॥

द्वितीयः सर्गः ।

अस्मिन्सर्गे मन्त्रवर्णनाय बीजं वपति—

यियक्षमाणेनाहूतः पार्थेनाथ द्विषन्मुरम् ।
अभिचैद्यं प्रतिष्ठासुरासीत्कार्यद्वयाकुलः ॥ १ ॥

यियक्षमाणेनेति । अथेन्द्रसन्देशश्रवणानन्तरं यियक्षमाणेन यष्टुमिच्छता । यजतेः सन्नन्ताल्लटः शानच् । पार्थेन पृथापुत्रेण युधिष्ठिरेण । "तस्येदम्" इत्यण् । अन्यथा "स्त्रीभ्यो ढक्" स्यात् । आहूत आकारितः । ह्वयतेः कर्मणि क्ते सम्प्रसारणदीर्घौ । तथा अभिचैद्यं शिशुपालं प्रति । "लक्षणेनाभिप्रती आभिमुख्ये" इत्यव्ययीभावः "अभिरभागे" इति कर्मप्रवचनीयत्वे तद्योगे "कर्मप्रवचनीययुक्ते" इति वा द्वितीया । प्रतिष्ठासुः प्रस्थातुमिच्छुः । तिष्ठतेः सन्नन्तादुप्रत्ययः । मुरं द्विषन्मुरारिः "द्विषोऽमित्रे" इति शतृप्रत्यये "द्विषः शतुर्वा" इति वैकल्पिकः षष्ठीप्रतिषेधः कार्यद्वयेन सुरकार्यसुहृत्कार्यरूपेणाकुलो विप्रतिषेधादावश्यकत्वाच्च द्वयोः कार्ययोर्विषये सन्दिहान आसीत् । अतो मन्त्रस्यायमवसर इति भावः ॥ १ ॥

एवं मन्त्रबीजसन्देहमुपन्यस्य मन्त्रोचितं देशमाह—

सार्धमुद्धवसीरिभ्यामथासावासदत्सदः ।
गुरुकाव्यानुगां बिभ्रच्चान्द्रीमभिनभः श्रियम् ॥ २ ॥

सार्धमिति । अथ सन्देहानन्तरम् असौ हरिः अभिनभः । पूर्ववदव्ययीभावः । कर्मप्रवचनीयत्वे वा द्वितीया । गुरुकाव्यौ बृहस्पतिशुक्रावनुगावनुयायिनौ यस्यां ताम् । "गीष्पतिर्धिषणो गुरुः" इति "शुक्रो दैत्यगुरुः काव्यः" इति चामरः । चन्द्रस्येमां चान्द्रीं श्रियं बिभ्रत् । अत्र श्रीतुल्यां श्रियमिति निदर्शनाभेदः । उद्धवसीरिभ्यां सार्धम् उद्धवरामाभ्यां सह सदः सभामासदत् अगमत् । राजसदनं प्रासादत्वादिति भावः । "सदेर्लुङि पुषादित्वात् च्लेरङादेशः" । अत्र मनुः । "गिरिपृष्ठं समारुह्य प्रासादं वा रहो गतः । अरण्ये निःशलाके वा मन्त्रयेदविभाविनौ ॥" इति ॥ २ ॥

जाज्वल्यमाना जगतः शान्तये समुपेयुषी ।
व्यद्योतिष्ट सभावेद्यामसौ नरशिखित्रयी ॥ ३ ॥

जाज्वल्यमानेति । जगतः शान्तयेऽनुपद्रवाय समुपेयुषी मिलिता जाज्वल्यमाना भृशं ज्वलती । "धातोरेकाचो हलादेः क्रियासमभिहारे यङ्" इति यङ् । ततो लटः शानजादेशे टाप् । असौ नरा पुरुषा एव शिखिनोऽग्नयस्तेषां त्रयी । "द्वित्रिभ्याम्" इत्यादिना तयस्यायजादेशे

कृतं "टिड्ढाणञ्" इत्यादिना ङीप् । सभा आस्थानी सैव वेदिः । 'वेदिः परिष्कृता भूमिः' इत्यमरः । तस्यां व्यद्योतिष्ट दीप्यते स्म । "द्युद्भ्यो लुङि" इत्यभावे नङ् । रूपकालङ्कारः ॥ ३ ॥

रत्नस्तम्भेषु संक्रान्तप्रतिमास्ते चकाशिरे ।
एकाकिनोऽपि परितः पौरुषेयवृता इव ॥ ४ ॥

रत्नेति । रत्नानां स्तम्भाः । इति षष्ठीसमासस्य विशेषे पर्यवसानाद्विकारार्थत्वम् । तेषु सङ्क्रान्तप्रतिमाः सङ्क्रान्तप्रतिबिम्बाः । 'प्रतिमानं प्रतिबिम्बं प्रतिमा' इत्यमरः । ते त्रयः एकाकिनोऽसहाया अपि । "एकादाकिनिच्चासहाये" इत्याकिनिच् प्रत्ययः । परितोऽभितः सर्वतः "पर्यभिभ्यां च" इति तसिल्प्रत्ययः. स च सर्वोभयार्थाभ्यामिष्यते । पौरुषेयेण प्रतिबिम्बभूयस्त्वात् पुरुषसमूहेनावृता इवेत्युत्प्रेक्षा । चकाशिरे । "सर्वपुरुषाभ्यां णढञौ ।" पुरुषाद्वधविकारसमूहतेनकृतेष्विति वक्तव्यम्" इति समूहे ढञ्प्रत्ययः । एतेन विजनत्वमुक्तम् । यद्यपि 'निस्तम्भे निर्गवाक्षे च निर्भिद्यन्तरसंश्रये । प्रासादाग्रे त्वरण्ये वा मन्त्रयेद्भावभाविनौ ॥' इति कामन्दकीये मन्त्रभूमेः स्तम्भप्राचुर्यनिषेधो गम्यते तथापि तस्यापि विजनोपलक्षणत्वाददोष इति भावः ॥ ४ ॥

अध्यासामासुरुत्तुङ्गहेमपीठानि यान्यमी ।
तैरूहे केसरिक्रान्तत्रिकूटशिखरोपमा ॥ ५ ॥

अध्यासामासुरिति । अमी त्रयो रामकृष्णोद्धवा यान्युत्तुङ्गहेमपीठानि आसनानि अध्यासामासुरधितष्ठुः । येषूपविष्टा इत्यर्थः । "अधिशीङ्स्थासां कर्म" इति कर्मत्वम् । 'आस उपवेशने' "लिट् दयायासश्च" इत्याम्प्रत्ययः "कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि" इति अस्तेरनुप्रयोगः 'आम्प्रत्ययवत्कृञोऽनुप्रयोगस्य" इति कृञ एवेति नियमादस्मेर्नात्मनेपदम् । तैः पीठैः केसरिभिः सिंहैः क्रान्तानां त्रिकूटस्य त्रिकूटाद्रेः शिखराणामुपमा सादृश्यं ऊहे ऊढा । वहेः "कर्मणि लिट्" सम्प्रसारणम् । त्रीणि कूटान्यस्येत्यन्वर्थसंज्ञा । 'कूटोऽस्त्री शिखरं शृङ्गम्' इत्यमरः । उपमालङ्कारः ॥ ५ ॥

गुरुद्वयाय गुरुणोरुभयोरथ कार्ययोः ।
हरिर्विप्रतिषेधं तमाचचक्षे विचक्षणः ॥ ६ ॥

गुर्विति । अथोपवेशनानन्तरं विचष्टे इति विचक्षणः वक्ता 'कर्तरि ल्युडिति" न्यासकारः । 'असनयोश्च प्रतिषेधो वक्तव्यः" इति चक्षिङः ख्याञादेशाभावः । हरिर्गुर्वोः उद्धवरामयोः पितृव्यज्येष्ठभ्रात्रोर्द्वयाय । द्वाभ्यामित्यर्थः । गुरुणोर्महतोरुभयोः कार्ययोः पूर्वोक्तयोः तं विप्रतिषेधं विरोधमाचचक्षे आख्यातवान् । तुल्यबलविरोधो विप्रतिषेधः ॥ ६ ॥

द्योतितान्तःसभैः कुन्दकुड्मलाग्रदतः स्मितैः ।
स्नपितेवाभवत्तस्य शुद्धवर्णा सरस्वती ॥ ७ ॥

द्योतितेति । कुन्द माघ्यमत्र पुष्पविशेषः । 'माघ्य कुन्दम्' इत्यमरः । कुन्दकुड्मलाग्राणीव दन्ता यस्य तस्य कुन्दकुड्मलाग्रदतः । "अग्रान्तशुद्धशुभ्रवृषवराहेभ्यश्च" इत्यग्रान्तपूर्वपदबहुव्रीहेः समासान्तो वैभाषिको दतादेशः । तस्य हरेः सरस्वती अन्तःप्रधाना सभा अन्तःसभा सभाभ्यन्तरमित्यर्थः । सा द्योतिता प्रकाशिता यैस्तैः स्मितैः स्नपितेव क्षालितेव । "स्नातेर्ण्यन्तात् क्तः" "अर्तिह्रीव्ली" इत्यादि । पुगागमः "मितां ह्रस्वः" इति ह्रस्वः । शुद्धवर्णा स्फुटाक्षरत्वात् स्वच्छकान्तिरभवत् । अत्र स्वाभाविकवर्णशुद्धेः स्नानहेतुकत्वमुत्प्रेक्ष्यते । स्मितपूर्वाभिभाषी हरिरिति भावः ॥ ७ ॥

कार्यविप्रतिपत्तेर्निवेद्य तत्र स्वमतमावेदयिष्यन् पण्डितमानित्व तावत्परिहरति—

भवद्भिरामवसरप्रदानाय वचांसि नः
पूर्वरङ्गप्रसङ्गाय नाटकीयस्य वस्तुनः ॥ ८ ॥

भवद्भिरामिति । भवद्भिः युष्मद्वाचाम् अवसरप्रदानाय । प्रसञ्जनायेत्यर्थः । नोऽस्माकं वचांसि । सिद्धान्तोन्नयनार्थमुच्यते न तु सिद्धान्तत्वेनेत्यर्थः । तथाहि । पूर्वं रज्यतेऽस्मिन्निति पूर्वरङ्गः नाट्यशाला तस्य कर्मापि पूर्वरङ्ग इति दशरूपके । अतः पूर्वरङ्गो नाम रङ्गप्रधानाख्यो रङ्गविघ्नशान्तिकारी नान्दीपाठगीतवादित्राद्यनेकाङ्गविशेषो नाट्यादौ कर्तव्यः कर्मविशेषः । तदुक्तं वसन्तराजीये । 'यन्नाट्यवस्तुनः पूर्वं रङ्गविघ्नोपशान्तये । कुशीलवाः प्रकुर्वन्ति पूर्वरङ्गः प्रकीर्तितः ॥ ' इति । स पूर्वरङ्गः । नाटके भव नाटकीय तत्र वर्त्यमित्यर्थः । "वृद्धाच्छः" तस्य "आयनेयीनीयि" इत्यादिनेयादेशः । तस्य वस्तुनः प्रसिद्धस्य प्रसङ्गाय प्रसञ्जनाय । प्रवर्तनायेति यावत् । अत्र प्रथमवादो न दोषायेति भावः । पूर्वरङ्ग प्रस्तावनेति रङ्गराजः । तच्चिन्त्यम् । 'पूर्वरङ्गं विधायादौ सूत्रधारे विनिर्गते । प्रविश्य तद्वदपरः काव्यमास्थापयेन्नटः ॥ प्रथमं पूर्वरङ्गश्च ततः प्रस्तावनेति च' । 'आरम्भे सर्वनाट्यानामेतत्सामान्यमिष्यते' ॥ इति दशरूपकाद्युक्तभेदविरोधादिति । अत्र हरिवाक्यपूर्वरङ्गयोः प्रसञ्जकत्वस्वरूपसामान्यस्य वाक्यद्वये शब्दान्तरेण पृथङ्निर्देशात्प्रतिवस्तूपमालङ्कारः । तल्लक्षणं तूक्तम् ॥ ८ ॥

सम्प्रति स्वमतमाह—

करदीकृतभूपालो भ्रातृभिर्जित्वरैर्दिशाम् ।
विनाप्यस्मदलंभूष्णुरिज्यायै तपसः सुतः ॥ ९ ॥

करदीकृतेति । दिशां जित्वरैः जयनशीलैः । "इण्नशजिसर्तिभ्यः क्वरप्" इति क्वरप् । कृद्योगात्कर्मणि षष्ठी । भ्रातृभिर्भीमादिभिर्हेतुभिः करदाः षष्ठभागप्रदाः । 'भागधेयः करो बलिः'

इत्यमरः। तनञ्चि "ऊर्यादिच्विडाचश्च" इति गतिसञ्ज्ञाया "कुगति प्रादय" इति नित्यसमासः। अकरदा करदा सम्पद्यमाना कृता. करदीकृता भूपाला यस्य स वशीकृतराजमण्डल. तपस सुतो धर्मपुत्रः। 'तपश्चान्द्रायणादौ स्याद्धर्मे लोकान्तरेऽपि च' इति विश्वः। अस्मद्विना अस्माभिर्विनापीत्यर्थ 'पृथग्विनानाना" इत्यादिना तृतीयाविकल्पात्पञ्चमी। इज्यायै यागाय। यजेर्भावे क्यप् "वचिस्वपि" इत्यादिना सम्प्रसारणम्, "नम स्वस्ति" इत्यादिना चतुर्थी। अल समर्थो भूष्णुर्भवनशील। 'भूष्णुर्भविष्णुर्भविता' इत्यमर। "ग्लाजिस्थश्च ग्स्नु" इति ग्स्नुप्रत्यय "क्ङिति च" इत्यत्र गकारप्रश्लेषाद् गुणाभावः। तथा च जयादित्यः। तत्रैव गकारोऽपि च तत्त्वभूतो निर्दिश्यते इति। अतो जैत्रयात्रैव कार्या न यज्ञयात्रेति भाव ॥ ९ ॥

ननु यज्ञतो जैत्रयात्रायामुभयानुसरण स्यात्तत्राह—

उत्तिष्ठमानस्तु परो नोपेक्ष्यः पथ्यमिच्छता।
समौ हि शिष्टैराम्नातौ वर्त्स्यन्तावामयः स च ॥१०॥

उत्तिष्ठमान इति। उत्तिष्ठमानो वर्द्धमान। "उदोऽनूर्ध्वकर्मणि" इत्यात्मनेपदम्। पर. शत्रु पथोऽनपेत पथ्य हितमारोग्य चेच्छता। पुंसेति शेषः। नोपेक्ष्यो नौदासीन्येन द्रष्टव्य। कुत। हि यस्माद्वर्त्स्यन्तौ वर्धिष्यमाणौ। "लृट सद्वा" इति सदादेशे. "वृद्भ्यः स्यसनोः" इति विभाषया परस्मैपदम् "न वृद्भ्यश्चतुर्भ्य" इतीडभाव। आमयो व्याधि। 'रोगव्याधिगदामया' इत्यमर। स शत्रुश्च शिष्टैर्नीतिज्ञै समौ तुल्यवृत्ती आम्नातावाख्यातौ अल्पीयसोऽप्यरेर्वृद्धिर्महानर्थाय रोगवत्। अतस्तस्यानुपेक्ष्यत्वादुभयानुसृति कुत इति भाव। उपमालङ्कार ॥ १० ॥

नन्वेत्र स्वार्थपरत्वदोष स्यादिति चेन्न लोकानुग्रहार्थत्वादस्या प्रवृत्तेरित्याशयेनाह—

न दूये सात्त्वतीसूनुर्यन्मह्यमपराध्यति।
यत्तु दन्दह्यते लोकमदो दुःखाकरोति माम् ॥११॥

नेति। सत्वतोऽपत्य स्त्री सात्वती नाम हरेः पितृष्वसा। "उत्सादिभ्योऽञ्" इत्यञ् तस्याः सूनुश्चैद्य। बन्धुरपि खलो न मृष्यत इति भाव। यन्मह्यमपराध्यति द्रुह्यतीति यावत् "क्रुधद्रुहेर्ष्या" इत्यादिना चतुर्थी। तत इति शेष। यत्तदोर्नित्यसम्बन्धात्। न दूये न परितप्ये। दूङो दैवादिकात्कर्त्तरि लट्। उत्तमपुरुषैकवचनम्। किन्तु लोक दन्दह्यते गर्हित यथा स्यादेवं दहतीति यत्। 'लुपसदचरजप" इत्यादिना गर्हायां यङ्। "जपजभदहदशभञ्जपशां च" इत्यभ्यासस्य नुगागम। अदो लोकदहन मा दुःखाकरोति दुःखमनुभावयतीत्यर्थः। "दुःखात्प्रातिलोम्ये" इति डाच्प्रत्यय। अतश्चैद्य एवाभिघातव्य.। पार्थस्तु प्रार्थनयापि पश्चात्समाधेय इत्यर्थ ॥ ११ ॥

स्वमत निगमयन्परमत शुश्रूषुः पृच्छति—

मम तावन्मतमिदं श्रूयतामङ्ग वामपि ।
ज्ञातसारोऽपि खल्वेकः सन्दिग्धे कार्यवस्तुनि ॥ १२ ॥

ममेति । तावद्भवन्मतश्रवणपर्यन्तमित्यर्थः । मम मतमिदम् । अङ्गेत्यामन्त्रणेऽव्ययम् ।' अथ सम्बोधनार्थकाः । स्युः प्याट् पाडङ्ग हे है भोः' इत्यमरः । वा युवयोः । " युष्मदस्मदोः षष्ठीचतुर्थी " इत्यादिना वामादेशः । मत श्रूयताम् । विधौ लोट् । तदिद मया श्रोतव्यमन्यथा सन्देहानिवृत्तेरिति भावः । विद्वांस्ते कुत सन्देहस्तत्राह । ज्ञातसारः ज्ञाततत्त्वार्थोऽप्येकः एकाकी कार्यवस्तुनि कर्त्तव्यार्थे सन्दिग्धे सशेते खलु निश्चये । अतो मयापि सन्दिह्यत इत्यर्थः । ' दिह उपचये ' कर्तरि लट् बत्वधत्वे । सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ १२ ॥

यावदर्थपदां वाचमेवमादाय माधवः ।
विरराम महीयांसः प्रकृत्या मितभाषिणः ॥ १३ ॥

यावदिति । माधवो हरिर्यावानर्थो , यावदर्थम् । " यावदवधारणे " इत्यव्ययीभावः । यावदर्थं पदानि यस्यास्ताम् अभिधेयसम्मिताक्षरामित्यर्थः । एवमुक्तप्रकारेण वाचमादाय गृहीत्वा । उक्त्वेत्यर्थः । विरराम तूष्णीमास । " व्याङ्परिभ्यो रमः " इति परस्मैपदम् । तथाहि । महीयांस उत्तमाः प्रकृत्या स्वभावेन मितभाषिण भवन्तीति शेषः । वृथालापनिषेधादिति भावः । पूर्ववदलङ्कारः ॥ १३ ॥

अथाष्टभिः कुलकेन रामं वर्णयन्तद्वाक्यमवतारयति—

ततः सपत्नापनयस्मरणानुशयस्फुरा ।
ओष्ठेन रामो रामोष्ठबिम्बचुम्बनचुञ्चुना ॥ १४ ॥

तत इति । ततो रामो जगादेत्युत्तरेणान्वयः । सपत्नो रिपुः । ' रिपौ वैरिसपत्नारि ' इत्यमरः । तस्यापनयोऽपकारः तस्य स्मरणेन योऽनुशयः पश्चात्तापः । ' भवेदनुशयो द्वेषे पश्चात्तापानुबन्धयोः' इति विश्वः । तेन स्फुरतीति अनुशयस्फूः तेन सपत्नापनयस्मरणानुशयस्फुरा । ओष्ठो बिम्बमिवेत्युपमितसमासः । रामायाः ओष्ठबिम्बस्य चुम्बनेन वित्तो रामोष्ठबिम्बचुम्बनचुञ्चुः " तेन वित्तश्चुञ्चुप्चणपौ " इति चञ्चुप्रत्ययः । "ओत्वोष्ठयोः समासे वा " पररूप वक्तव्यम् इति विकल्पेन पररूपम् । तेनौष्ठेनोपलक्षितः । समरसुरतयोः समरस इति भावः । उपमानुप्रासयोः संसृष्टिः ॥ १४ ॥

विवक्षितामर्थविदस्तत्क्षणप्रतिसंहृताम् ।
प्रापयन्पवनव्याधेर्गिरमुत्तरपक्षताम् ॥ १५ ॥

विवक्षितामिति । विवक्षिता वृद्धत्वाभिमानादग्रे वक्तुमिष्टाम् । " वचेर्ब्रूञो वा " सन्नन्तात्कर्मणि क्तः । तत्क्षणे विवक्षाक्षणे एव इत्यविलम्बोक्तेः । प्रतिसहृतां समानुरोधादनुरुद्धाम्

अर्थविदः कार्यज्ञस्य अत एव पवनव्याधेरुद्धवस्य गिरमुत्तरपक्षतः सिद्धान्तपक्षतां प्रापयन् । स्वयमसत्पक्षावलम्बित्वादिति भावः । अनेन रामस्य व्यग्रतोक्ता ॥ १५ ॥

घूर्णयन्मदिरास्वादमदपाटलितद्युती ।
रेवतीवदनोच्छिष्टपरिपूतपुटे दृशौ ॥ १६ ॥

घूर्णयन्निति । पुनः मदिरास्वादेन मद्यपानेन यो मदस्तेन पाटलिता रक्तीकृता द्युतिर्ययोस्ते । रेवत्या देव्याः वदने यदुच्छिष्टं मद्यलेपताम्बूलादि । अक्षिचुम्बनलक्रान्तमिति भावः । तेन परिपूते शुद्धे पुटे ययोस्ते दृशौ घूर्णयन् भ्रामयन्निति मद्यविकारोक्तिः । उच्छिष्टपरिपूतेत्यत्र 'रतिकाले मुखं स्त्रीणां शुद्धमाखेटके शुनाम्' । इति स्मरणात् । उच्छिष्टस्य पावित्र्यजनकत्वविरोधस्याभासत्वाद्विरोधाभासोऽलङ्कारः । 'आभासत्वे विरोधस्य विरोधाभास उच्यते' । इति लक्षणात् ॥ १६ ॥

आश्लेषलोलुपवधूस्तनकार्कश्यसाक्षिणीम् ।
म्लापयन्नभिमानोष्णैर्वनमालां मुखानिलैः ॥ १७ ॥

आश्लेषेति । पुनराश्लेषलोलुपाया आलिङ्गनलुब्धाया वध्वाः स्तनयोः कार्कश्यस्य काठिन्यस्य साक्षिणीम् उपद्रष्ट्रीं नित्यं पीड्यमानामिति भावः । "साक्षाद्द्रष्टरि संज्ञायाम्" इति साक्षाच्छब्दादिनिप्रत्ययः । वनमालामभिमानोष्णैरहङ्कारतप्तैर्मुखानिलैः निश्वासमारुतैर्म्लापयन् ग्लापयन् । ग्लायतेर्ण्यन्ताल्लटः शत्रादेशः । "आदेच" इत्यादिनात्वे पुगागमः । अम्लाने म्लानसम्बन्धादतिशयोक्तिः ॥ १७ ॥

दधत्सन्ध्यारुणव्योमस्फुरत्तारानुकारिणीः ।
द्विषद्द्वेषोपरक्ताङ्गसङ्गिनीः स्वेदविप्रुषः ॥ १८ ॥

दधदिति । पुनः सन्ध्यायामरुणे व्योम्नि स्फुरन्तीस्तारा अनुकुर्वन्तीति तथोक्ताः । कुतः द्विषतः शत्रोर्द्वेषेण क्रोधेनोपरक्ते अङ्गे वपुषि सङ्गिनीः सक्ताः । स्वेदविप्रुषः स्वेदबिन्दून् । 'पृषन्ति बिन्दुपृषताः पुमांसो विप्रुषः स्त्रियाम्' इत्यमरः । दधद्दधानः । "नाभ्यस्ताच्छतुः" इति नुमभावः । उपमालङ्कारः ॥ १८ ॥

प्रोल्लसत्कुण्डलप्रोतपद्मरागदलत्विषा ।
कृष्णोत्तरासङ्गरुचं विदधच्चौतपल्लवीम् ॥ १९ ॥

प्रोल्लसदिति । पुनः प्रकर्षेणोल्लसतां कुण्डलयोः प्रोतानां स्यूतानां पद्मरागदलानां माणिक्यशकलानां त्विषा कान्त्या । प्रोतेति "प्रपूर्वाद्वेञः" कर्मणि क्तः । यजादित्वात्सम्प्रसारणम् । कृष्णोत्तरासङ्गो नीलोत्तरीयम् । 'द्वौ प्रावारोत्तरासङ्गौ समौ बृहतिका तथा । संव्यानमुत्तरीयं च' इत्यमरः । तस्य रुचं चूतपल्लवस्येमां चौतपल्लवीम् विदधत् कृष्णलोहितमिश्रवर्णचू-

तपल्लववद् धूम्रा कुर्वन्नित्यर्थः । 'धूम्रधूमलौ कृष्णलोहिते' इत्यमरवचनात् । अत्रान्यरुचोऽन्यदीयत्वायोगात्तादृश्याक्षेपान्निदर्शनालङ्कार. ॥ १९ ॥

ककुद्मिकन्यावक्त्रान्तर्वासलब्धाधिवासया ।
मुखामोदं मदिरया कृतानुव्याधमुद्वमन् ॥ २० ॥

ककुद्मीति । पुनः ककुद्मिकन्यायाः रेवत्याः वक्त्रस्यान्तः अभ्यन्तरे वासेन स्थित्या लब्धोऽधिवासो वासना यया तया । तन्मुखसौरभवासितयेत्यर्थः । 'संस्कारो गन्धमाल्याद्यैरधिवासनमुच्यते' । मदिरया कृतानुव्याधं कृतसंसर्गम् । प्रियागण्डूषगन्धिनमित्यर्थः । "व्यधजपोरनुपसर्गे" इत्यनुपसृष्टाद'प्रत्ययविधानादुपसृष्टाद्व्यधेर्घञ् प्रत्यय. मुखामोद स्वमुखगन्धविशेषम् । 'आमोदः सोऽतिनिर्हारी' इत्यमरः । उद्वमन् उद्गिरन् अत्र मदिरारामसुखगन्धयोः स्वगन्धतिरोधानेन रामामुखतद्गण्डूषमद्यगन्धस्वीकारात्तद्गुणयोस्तत्रोत्तरस्यात्मविशेषकत्वेन पूर्वसापेक्षत्वादङ्गाङ्गिभावेन सङ्कर. । 'तद्गुणः स्वगुणत्यागादन्योत्कृष्टगुणाहृतिः'। इति तल्लक्षणात्॥२०॥

जगाद वदनच्छद्मपद्मपर्यन्तपातिनः ।
नयन्मधुलिहः श्वैत्यमुदग्रदशनांशुभिः॥ कुलकम् ॥ २१ ॥

जगादेति । वदनमेव छद्म कपटं यस्य तत् पद्म वदनमेव पद्ममित्यर्थः । पद्मशब्देनासत्यत्वप्रतिपादनरूपोऽपह्नव· । तस्य पर्यन्तपातिन. प्रान्तसञ्चारिणः । मधु लिहन्तीति मधुलिहस्तान् मधुपान् । क्विप् । उदग्रैः उच्छ्रितैः दशनांशुभिः श्वैत्य धावल्य नयन् एव जगाद । तद्गुणालङ्कारः । तस्य मधुपसन्निधापकवदनापह्नवसापेक्षत्वात्तेन सङ्करः ॥ २१ ॥

रामो जगादेत्युक्तं किं तदित्याकाङ्क्षायामाह—

यद्वासुदेवेनादीनमनादीनवमीरितम् ।
वचसस्तस्य सपदि क्रिया केवलमुत्तरम् ॥ २२ ॥

यदिति । वासुदेवेन न दीनमित्यदीनम् अकातरम् न आदीनवोऽस्येत्यनादीनव निर्दोषम् । 'दोष आदीनवो मतः' इत्यमरः । यद्वचः ईरितम् 'उत्तिष्ठमानस्तु पर' इत्यादिपक्षमाश्रित्य यदुक्तमित्यर्थः । तस्य वचसः सपदि क्रिया केवल सद्योऽनुष्ठानमेवोत्तरम् । सिद्धान्तस्योक्तत्वादिति भावः ॥ २२ ॥

अथ तदेव प्रतिपादयिष्यन् अनन्यातिशयतयोपस्करोति—

नैतल्लघ्वपि भूयस्या वचो वाचातिशय्यते ।
इन्धनौघधगप्यग्निस्त्विषा नात्येति पूषणम् ॥ २३ ॥

नैतदिति । लघु सङ्क्षिप्तमप्येतद्वचो भूयस्या बहुतरया । विस्तृतयापीत्यर्थः । "द्विवचनविभज्य" इत्यादिना ईयसुनि "बहोर्लोपो भू च बहोः" इतीकारलोपो बहोश्च भूरा-

देशः । वाचा नातिशय्यते नातिरिच्यते । गुर्वर्थत्वादिति भावः । शीङः कर्मणि लटि यक् " अयङ्यि क्ङिति" इति अयङादेशः । तथाहि इन्धनौघान् दहतीति इन्धनौघधक् काष्ठराशिदाहकः । भूयानपीत्यर्थः । क्विपि घत्वे धत्वम् (भष्भावः) । अग्निस्त्विषा प्रभया पूषणं सूर्यम् । अल्पीयांसमपीति भावः । न अत्येति नातिक्रामति । तेजसः प्रभावत्त्वमिव वचसोऽर्थवत्त्वमलङ्घ्यत्वहेतुरित्यर्थः । अत्र समानधर्मबिम्बप्रतिबिम्बिततया दृष्टान्तालङ्कारः ॥ २३ ॥

यदि हरिवचो नातिशय्यते अलं तर्हि तवापि वागारम्भैरित आह—

संक्षिप्तस्याप्यतोऽस्यैव वाक्यस्यार्थगरीयसः ।
सुविस्तरतरा वाचो भाष्यभूता भवन्तु मे ॥ २४ ॥

संक्षिप्तस्येति । अतो हरिवचसोऽनतिशयनीयत्वादेव सुविस्तरतराः प्रपञ्चतराः । "प्रथने वावशब्दे" इति घञः प्रतिषेधे 'ऋदोरप्' इत्यप् । मे वाचः संक्षिप्तस्याऽल्पाक्षरस्याप्यर्थेन गरीयसः सूत्रकल्पस्येत्यर्थः । 'अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद्विश्वतोमुखम् । अस्तोभमनवद्यं च सूत्रं सूत्रविदो विदुः ' ॥ इति लक्षणात् । अस्यैव नान्यस्य भाष्यभूता भाष्यैः समाः । नित्यसमासः । 'क्ष्मादौ जन्तौ भूतं क्लीबं समेऽतीते चिरे त्रिषु ' इति वैजयन्ती । व्याख्यानरूपा भवन्त्वित्यर्थः । सूत्रव्याख्यानविशेषो भाष्यम् । "सूत्रस्थं पदमादाय वाक्यैः सूत्रानुसारिभिः । स्वपदानि च वर्ण्यन्ते भाष्यं भाष्यविदो विदुः" इति भाष्यलक्षणात् । मया तु तदेव विशेषप्रकाशनाय व्याख्यायते न त्वतिशयाय प्रत्याख्यायते इत्यदोष इत्यर्थः । उपमालङ्कारः ॥ २४ ॥

इत्थं यानं सिद्धान्तयित्वा तत्रोद्धवप्रतिरोधं हृदि निधाय त्रिभिः प्रत्याचष्टे—

विरोधिवचसो मूकान्वागीशानपि कुर्वते ।
जडानप्यनुलोमार्थान्प्रवाचः कृतिनां गिरः ॥ २५ ॥

विरोधीति । कृतिनां कुशलानां गिरः । कर्त्र्यः । विरोधिवचसः प्रतिकूलवादिनो वागीशान्वाक्पतीनपि । 'वागीशो वाक्पतिः समौ' इत्यमरः । मूकान्निर्वाचः कुर्वते जडयन्तीत्यर्थः । अनुलोमोऽनुकूलोऽर्थोऽभिधेयं येषां तेऽनुलोमार्थाः अनुकूलवादिनस्तान् जडानन्धानपि प्रवाचः प्रगल्भवाचः कुर्वते । अतोऽस्मद्गिरः प्रमाण्या इति भावः । अत्र वागीशानां मूकीकरणाज्जडानां प्रवाक्त्वकरणाच्च शक्यवस्तुकरणरूपो विशेषोलङ्कारः । असम्बन्धे सम्बन्धातिशयोक्तिप्रतिभोत्थापित इति सङ्करः ॥ २५ ॥

नन्वात्मदर्शिनेन स्वामिना 'बुद्धेः फलमनाग्रहः' इति न्यायेन शास्त्रवचनं प्रतिकूलमपि ग्राह्यमेवेत्याशङ्क्याह—

षड्गुणाः शक्तयस्तिस्रः सिद्धयश्चोदयास्त्रयः ।
ग्रन्थानधीत्य व्याकर्तुमिति दुर्मेधसोऽप्यलम् ॥ २६ ॥

षडिति । दुष्टा मेधा येषां ते दुर्मेधसः मन्दबुद्धयोऽपि । " नित्यमसिच् प्रजामेधयोः " इति समासान्तोऽसिच्प्रत्ययः । मन्थानौशनसादीनधीत्य पठिताः गुणाः सन्धिविग्रहयानासनद्वैधीभावसमाश्रयाख्याः षट् । शक्तयः प्रभुत्वमन्त्रोत्साहाख्यास्तिस्रः । सिद्धयः पूर्वोक्तशक्तित्रयसाध्याः पुरुषार्थलाभात्मिकाः ताश्च तिस्रः प्रभुसिद्धिर्मन्त्रसिद्धिरुत्साहसिद्धिश्चेति । उदयः वृद्धिक्षयावस्थानानि क्षत्रियन्यायेनोदया उच्यन्ते । तत्र वृद्धिक्षयौ स्वशक्तिसिद्ध्योः पूर्वावस्थानादुपचयापचयौ स्थानं ते च त्रय इति व्याकर्तुं व्याख्यातुमलं समर्थाः । " पर्याप्तिवचनेष्वलमर्थेषु" इति तुमुन् । पञ्चाङ्गनिर्णयशक्तिविकलानां सन्ध्यादिरूपसङ्ख्यामात्रपाठकानाम् अशास्त्रज्ञत्वादुद्धवादयो न ग्राह्यवचना इत्यभिसन्धिः । अत्रामरः । 'सन्धिर्ना विग्रहो यानमासनं द्वैधमाश्रय । षड्गुणाः शक्तयस्तिस्रः प्रभावोत्साहमन्त्रजाः । क्षयः स्थानं च वृद्धिश्च त्रिवर्गो नीतिवेदिनाम् ' इति । तत्रारिविजिगीष्वोरर्थवशाकरणमैक्यं सन्धिः, विरोधो विग्रहः विजिगीषोरारिं प्रति यात्रा यानं तयोर्मिथः प्रतिबद्धशक्त्योः कालप्रतीक्षया तूष्णीमवस्थानमासनम् । दुर्बलबलवतोर्वाचिकमात्मसमर्पणं द्वैधीभावः । अरिणा पीड्यमानस्य बलवदाश्रयणं सश्रयः, कोषदण्डोत्थं तेजः प्रभावः कर्तव्यार्थेषु स्थेयान् प्रयत्न उत्साहः, षड्गुणचिन्तनं मन्त्रः । गतमन्यदिति सक्षेपः ॥ २६ ॥

ननु शास्त्रोक्तार्थव्याख्यातैव शास्त्रज्ञः स एव ग्राह्यवचनश्चेत्याशङ्क्याह—

> अनिर्लोडितकार्यस्य वाग्जालं वाग्मिनो वृथा ।
> निमित्तादपराद्धेषोर्धानुष्कस्येव वल्गितम् ॥ २७ ॥

अनिर्लोडितेति । अनिर्लोडितं नालोकितं कार्यं येन तस्य । कार्याकार्यमजानत इत्यर्थः । वाचोऽस्य सन्तीति वाग्मी वावदूकः । ' वाचो युक्तिपटुर्वाग्मी वावदूकोऽतिवक्तरि ' इत्यमरः । "वाचो ग्मिनिः" इति ग्मिनिप्रत्ययः । तस्य वाग्जालं वागाडम्बरो निमित्तात् लक्ष्यात् । 'वेध्यं लक्ष्यं निमित्तं च शरव्यं च समं विदुः' इति वैजयन्ती । अपराद्धेषोः स्खलितबाणस्य धनुः प्रहरणमस्येति धानुष्को धन्वी । " प्रहरणम् " इति ठक् " इसुसुक्तान्तात्कः " इति कः । 'अपराद्धपृषत्कोऽसौ लक्ष्याद्यश्च्युतसायकः । धन्वी धनुष्मान् धानुष्कः' इत्यमरः । तस्य वल्गितमिव तथा निष्फलम् । कार्यज्ञस्य वचो ग्राह्यं न तु वाचालस्येति भावः ॥ २७ ॥

षाड्गुण्यादिपाठमात्रं न मन्त्र इति सिद्धे सम्प्रति स्वयं मन्त्रस्वरूपमाह—

> सर्वकार्यशरीरेषु मुक्त्वाङ्गस्कन्धपञ्चकम् ।
> सौगतानामिवात्मान्यो नास्ति मन्त्रो महीभृताम् ॥ २८ ॥

सर्वेति । सर्वाणि कार्याणि सन्ध्यादीनि शरीराणीव इत्युपमितसमासः । सौगतानामिवेति लिङ्गात्तेषु सर्वकार्यशरीरेषु सर्वेषु शरीरेष्विव सर्वकार्येष्वित्यर्थः । अङ्गानि स्कन्धा इवेत्युपमितसमासः । तेषां पञ्चकं मुक्त्वा स्कन्धपञ्चकमिवाङ्गपञ्चकं हित्वेत्यर्थः । पञ्च परिमाणमस्येति

पञ्चकम् । " सङ्ख्यायाः संज्ञासङ्घसूत्राध्ययनेषु " इति कप्रत्ययः । सुगतो भक्तिर्भजनीय एषां सौगता. बौद्धाः । " भक्तिः " इत्यण्प्रत्ययः तेषामन्य आत्मेव महीभृतामन्यो मन्त्रो नास्ति । कर्मणामारम्भोपायः, पुरुषद्रव्यसम्पत्, देशकालविभागः, विपत्तिप्रतीकारः, कार्यसिद्धिश्चेति पञ्चाङ्गानि । यथाह कामन्दकः । 'सहायाः साधनोपाया विभागो देशकालयोः । विपत्तेश्च प्रतीकारः सिद्धिः पञ्चाङ्गमिष्यते ' ॥ इति । रूपवेदनाविज्ञानसंज्ञासंस्कारा. पञ्च स्कन्धा । तत्र विषयप्रपञ्चो रूपस्कन्धः । तज्ज्ञानप्रपञ्चो वेदनास्कन्धः । आलयविज्ञानसन्तानो विज्ञानस्कन्धः । नामप्रपञ्च संज्ञास्कन्धः । वासनाप्रपञ्चः संस्कारस्कन्धः । एवं पञ्चधा परिवर्तमानो ज्ञानसन्तान एवात्मा इति बौद्धाः । एवं यथा बौद्धानां सर्वेषु शरीरेषु स्कन्धपञ्चकातिरिक्त आत्मा नास्ति तथा राज्ञामङ्गपञ्चकातिरिक्तो मन्त्रो नास्तीत्युपमालकारः । तच्चास्माक समग्रमेवेत्ययमेव यात्राकाल इति भावः ॥ २८ ॥

अथ मन्त्रितार्थक्रियाविलम्बे दोषमाह-

मन्त्रो योध इवाधीरः सर्वाङ्गैः संवृतैरपि ।
चिरं न सहते स्थातुं परेभ्यो भेदशङ्कया ॥ २९ ॥

मन्त्र इति । संवृतैर्गुप्तैः सर्वाङ्गैः पूर्वोक्तैरुपायादिभिरुरःस्थलादिभिश्च उपलक्षितोऽपि सर्वाङ्गसंवृतोऽपीत्यर्थः । मन्त्रो विचार अधीरो भीरु युध्यत इति योधो भट इव पचाद्यच् । परेभ्योऽन्येभ्योऽरिभ्यश्च । ' पर दूरान्यमुख्येषु परोऽरिपरमात्मनो. ' । इति वैजयन्ती । भेदो विदारणं तृतीयगामित्व च तस्य शङ्कया चिर स्थातु विलम्बितुमित्यर्थ । न सहते न क्षमः । "शकधृष" इत्यादिना तुमुन्प्रत्ययः । अतो न विलम्बितव्यमन्यथा मन्त्रभेदे कार्यहानिः स्यादिति भावः ॥ २९ ॥

किञ्च नीतिसर्वस्वपर्यालोचनयापि न विलम्बः कार्य इत्यभिप्रेत्याह-

आत्मोदयः परज्यानिर्द्वयं नीतिरितीयती ।
तदूरीकृत्य कृतिभिर्वाचस्पत्यं प्रतायते ॥ ३० ॥

आत्मोदय इति । आत्मन उदयो वृद्धिः परस्य शत्रोर्ज्यानिर्हानिः । " वीज्याहाज्वरिभ्यो निः " इत्यौणादिको निः प्रत्ययः । इति द्वयम् इद परिमाणमस्या इति इयती एतावती । " किमिदम्भ्या वो घः " इति वतुपो वस्य घश्च " उगितश्च " इति ङीप् । नीतिः नीतिसङ्ग्रहः एतद्व्यतिरिक्तो न कश्चिन्नीतिपदार्थोऽस्तीत्यर्थः । यदन्यत् षाड्गुण्यादिवर्णन तत्सर्वमस्यैव प्रपञ्च इत्याह । तदिति तद्द्वयमूरीकृत्याङ्गीकृत्य । 'ऊरीकृतमुररीकृतमङ्गीकृतम् ' इत्यमरः । " ऊर्यादिच्विडाचश्च " इति गतिसंज्ञायाम् " कुगतिप्रादयः " इति समासे क्त्वो ल्यप् । कृतिभिः कुशलैः वाचस्पत्यम् वाग्मित्वम् । कस्कादित्वादलुक् सत्वे "षष्ठ्याः पतिपुत्र"

१ ग्लानिरित्यपि पाठः ।

इत्यादिना सत्यमिति स्वामी । तन्न । तस्य छन्दोविषयत्वात् । ब्राह्मणादित्वात् भावे ष्यञ् प्रत्ययः । प्रतायते विस्तार्यते । कर्मणि लट् " तनोतेर्यकि " इत्यात्वम् । तस्मादात्मोदयार्थिभिः अविलम्बाच्छत्रुरुच्छेत्तव्यः । तन्नान्तरीयत्वात्तस्येति भावः ॥ ३० ॥

ननु लब्धोदयस्य किं परोच्छित्त्येत्यत्राह—

तृप्तियोगः परेणापि महिम्ना न महात्मनाम् ।
पूर्णश्चन्द्रोदयाकाङ्क्षी दृष्टान्तोऽत्र महार्णवः ॥ ३१ ॥

तृप्तियोग इति । महीयसा महात्मना परेणापि प्रभूतेनापि महिम्ना ऐश्वर्येण तृप्तियोगः सन्तोषलाभो न । अत्र तृप्त्यभावे पूर्ण सन् चन्द्रोदयाकाङ्क्षी । वृद्ध्यर्थमिति भावः । महार्णवो दृष्टान्तः । दृष्ट अन्तो निश्चयो यस्मिन् स दृष्टान्तो निदर्शनमुपमानमिति यावत् । राज्ञा तृप्त्यवलम्बुद्धिर्न कार्या । " असन्तुष्टा द्विजा नष्टा सन्तुष्टाश्च महीभुजः । सलज्जा गणिका नष्टा निर्लज्जा च कुलाङ्गना " ॥ इति न्यायादिति भावः । नाय दृष्टान्तालङ्कारः । बिम्बप्रतिबिम्बभावेनौपम्यस्य गम्यत्वे तस्योत्थानात् । किन्तु दृष्टान्तशब्देन तस्याभिधानादुपमालङ्कारः ॥ अत एव दृष्टान्तोदाहरणनिदर्शनरूपा शब्दा न प्रयोक्तव्या पौनरुक्त्यापत्तेरित्येकावल्यलङ्कार. ३१

तथापि सन्तोष दोषमाह—

सम्पदा सुस्थिरम्मन्यो भवति स्वल्पयापि यः ।
कृतकृत्यो विधिर्मन्ये न वर्धयति तस्य ताम् ॥ ३२ ॥

सम्पदेति । यः स्वल्पयापि सम्पदा सुस्थिरमात्मानं मन्यत इति सुस्थिरम्मन्यः स्वस्थमानी भवति । " आत्ममाने खश्च " इति खश्प्रत्यये मुमागमः । तस्याल्पसन्तुष्टस्य तां स्वल्पसम्पदं कृतकृत्यस्तावतैव कृतार्थः विधिर्दैवमपि न वर्धयति अहमिति मन्ये । पौरुषहीनाद्दैवमपि जुगुप्सते । तत्प्रवृत्तेः परमर्द्धिप्राप्तिरिति भावः ॥ ३२ ॥

किञ्च पराक्रमलब्ध एवोदयो नान्यलब्ध इत्याह—

समूलघातमघ्नन्तः परान्नोद्यन्ति मानिनः ।
प्रध्वंसितान्धतमसस्तत्रोदाहरणं रविः ॥ ३३ ॥

समूलेति । मानिनः अभिमानिनः । परान् शत्रून् समूल हत्वा समूलघातम् । अघ्नन्तः । अनुन्मूलयन्त इत्यर्थः । " समूलाकृतजीवेषु हन्कृञ्ग्रहः " इति णमुल्प्रत्ययः, " कषादिषु यथाविध्यनुप्रयोगः " इति हन्तेरनुप्रयोगः । नोद्यन्ति किन्तु हत्वैवोद्यन्तीत्यर्थः । तत्र हत्वैवोदये अन्धयतीत्यन्धं गाढं तमोऽन्धतमसम् । 'ध्वान्ते गाढेऽन्धतमसम्' इत्यमरः " अवसमन्धेभ्यस्तमसः " इत्यच्प्रत्ययः । प्रध्वंसितमन्धतमसं येन सः । उदयात्प्रागिति भावः । रविरुदाहरणं दृष्टान्तः ॥ अत्रापि दृष्टान्तोऽत्र महार्णव इतिवदुपमालङ्कारो न तु दृष्टान्त इति द्रष्टव्यम् ॥ ३३ ॥

किञ्चानुच्छिन्नशत्रोः प्रतिष्ठैव दुर्घटेत्याह—

विपक्षमखिलीकृत्य प्रतिष्ठा खलु दुर्लभा ।
अनीत्वा पङ्कतां धूलिमुदकं नावतिष्ठते ॥ ३४ ॥

विपक्षमिति । विपक्ष शत्रुमखिलीकृत्य । खिलमुत्सन्नमकृत्वा । अनुन्मूल्येत्यर्थः । प्रतिष्ठा दुर्लभा खलु । तथाहि । उदकम् । कर्तृ । धूलिम् । स्वपरिभाविनीमितिभावः । पङ्कतामनीत्वा । नाधः कृत्वेत्यर्थः । नावतिष्ठते । किन्तु नीत्वैव तिष्ठतीत्यर्थः। " समवप्रविभ्यः स्थ " इत्यात्मनेपदम् । वाक्यभेदेन प्रतिबिम्बानपेक्षो दृष्टान्तालङ्कारः ॥ ३४ ॥

नन्वय शिशुपाल एकाकी नः किं करिष्यतीत्याशङ्क्याह—

ध्रियते यावदेकोऽपि रिपुस्तावत्कुतः सुखम् ।
पुरः क्लिश्नाति सोमं हि सैंहिकेयोऽसुरद्रुहाम् ॥ ३५ ॥

ध्रियत इति । एकोऽपि रिपुर्यावत् ध्रियते अवतिष्ठते । "धृङ् अवस्थाने " इति धातो स्तौदादिकात्कर्त्तरि लट् " रिङ्शयग्लिङ्क्षु " इति रिङादेशः । तावत्तदवधि सुख कुत । ' यावत्तावच्च साकल्येऽवधौ ' इत्यमरः । तथाहि । सिंहिकाया अपत्य पुमान् सैंहिकेयो राहु । ' तमस्तु राहु. स्वर्भानुः सैंहिकेयो विधुन्तुद ' इत्यमर. । स्त्रीभ्यो ढक् " । असुरद्रुहा देवाना पुरः अग्रे सोम क्लिश्नाति बाधते । प्राचुर्यात्सोमग्रहण सूर्यं चेति भाव । तस्मादेकोऽपि शत्रुरुच्छेत्तव्य इति भाव. । ' अग्नेः शेपमृणाच्छेष शत्रोः शेष न शेषयेत् ' । इति तात्पर्यम् । विशेषेण सामान्यसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यास. ॥ ३५ ॥

ननु क्षुद्रोऽय चैद्यः किं नः करिष्यतीत्याशङ्क्य तस्य बलवत्ता वक्तु मित्रामित्रबलाबलविवेक तावत्करोति—

सखा गरीयाञ्छत्रुश्च कृत्रिमस्तौ हि कार्यतः ।
स्याताममित्रौ मित्रे च सहजप्राकृतावपि ॥ ३६ ॥

सखेति । क्रियया उपकारापकारान्यतररूपया निर्वृत्तः कृत्रिम. । " ड्वितः क्त्रिः " " क्त्रेर्मम्नित्यम् " सखा सुहृत् शत्रुश्च कृत्रिमो गरीयान् । कुत. । हि यस्मात्तौ कृत्रिममित्रशत्रू कार्यत उपकारापकाररूपकार्यवशात् । निवृत्ताविति शेष । उक्तकार्योपाधेर्यावज्जीवमनपायादनयोर्मित्रामित्रभावोऽपि अनपायीति गरीयस्त्वमिति भाव । सहजप्राकृतौ तु नैवमित्याह स्यातामिति । सह जातः सहजः एकशरीरावयवत्वात् तत्र सहज मित्र मातृष्वसेयपितृष्वसेयादिः सहजशत्रुस्तु पितृव्यतत्पुत्रादिः । प्रकृत्या सिद्धः प्राकृतः पूर्वोक्तसहजकृत्रिमलक्षणरहित इत्यर्थः । तत्र विषयान्तरः प्राकृतः शत्रु, तदनन्तर. प्राकृत मित्रम् । अपिरप्यर्थे । तौ सहजप्राकृतौ शत्रुमित्रे च स्यातां तावात्मकार्यवशादनियमेनोभयरूपतामापद्येते न कृत्रिमशत्रुमित्रे कृत्रिम शत्रु शत्रुरेव

मित्रं च मित्रमेवेति कृत्रिमावेव मित्रामित्रौ गरीयासौ न तु सहजौ नापि प्राकृतावित्यर्थः । अनेन कृत्रिमस्य सर्वापवादीति सिद्धम् ॥ ३६ ॥

एवं चेदस्माकं पैतृष्वसेयः शिशुपालः सहजमित्रत्वात्सन्धातव्यो न तु यातव्य इत्यत आह—

उपकर्त्रारिणा सन्धिर्न मित्रेणापकारिणा ।
उपकारापकारौ हि लक्ष्यं लक्षणमेतयोः ॥ ३७ ॥

उपकर्त्रेति । उपकर्त्रा उपकारकारिणा अरिणापि । सहजेन प्राकृतेन वेति शेषः । सन्धिः कार्यः । अरित्वापवादेन कृत्रिममित्रताया बलीयस्या यावज्जीवभाविन्यास्तत्रोत्पन्नत्वादिति भावः । एवमपकारिणा मित्रेणापि । सहजेन प्राकृतेन वेति शेषः । सन्धिर्न कार्यः । मित्रत्वापवादेन कृत्रिमशत्रुताया बलीयस्या यावज्जीवभाविन्यास्तत्रोत्पन्नत्वादिति भावः । ननु साक्षादरिणा सन्दध्यात् मित्रेण कथं विरुन्ध्यादित्याशङ्क्य क्रियया नयोर्वैपरीत्याददोष इत्याह । हि यस्मादुपकारापकारावेव नयोर्मित्रामित्रयोर्लक्षणं स्वरूपं लक्ष्यं द्रष्टव्यम् । उपकर्तैव मित्रम् अपकर्तैव शत्रुरित्यर्थः । तस्मात्सहजमित्रत्वेऽपि चैद्यः क्रियया शत्रुत्वात् यातव्य एवेति भावः ॥ ३७ ॥

अथ चैद्यस्य कृत्रिमशत्रुत्वमनुभिगाह—

त्वया विप्रकृतश्चैद्यो रुक्मिणीं हरता हरे ।
बद्धमूलस्य मूलं हि महद्वैरतरोः स्त्रियः ॥ ३८ ॥

त्वयेति । हे हरे । रुक्मिणीं हरता । बन्धुभिस्तस्मै प्रदत्तां राक्षसधर्मेणोद्वहतेत्यर्थः । 'राक्षसो युद्धहरणात्' इति याज्ञवल्क्यः । 'गान्धर्वो राक्षसश्चैव धर्म्यौ क्षत्रस्य तौ स्मृतौ ।' इति मनुः । त्वया चैद्यो विप्रकृतः । विप्रियं प्रापितः । तथाहि बद्धमूलस्य रूढमूलस्य वैरतरोः स्त्रियो महत् प्रधानं मूलम् । हि निश्चये । रूपकसंसृष्टोऽयं सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ ३८ ॥

अथ तेनापि त्वं विप्रकृत इत्याह—

त्वयि भौमं गते जेतुमरौत्सीत्स पुरीमिमाम् ।
प्रोषितार्यमणं मेरोरन्धकारस्तटीमिव ॥ ३९ ॥

त्वयीति । त्वयि भूमेरपत्यं पुमांसं भौमं नरकासुरं जेतुं गते सति स चैद्य इमां पुरीं द्वारकां प्रोषितोऽर्यमा सूर्यो यस्यास्तां मेरोस्तटीं सानुमन्धकार इवारौत्सीत् रुद्धवान् । रुधेरनिटो लुङि रूपम् । उपमालङ्कारः ॥ ३९ ॥

अपकारान्तरमाह—

आलप्यालमिदं बभ्रोर्यत्स दारानपाहरत् ।
कथापि खलु पापानामलमश्रेयसे यतः ॥ ४० ॥

आलप्येति । स चैद्यो बभ्रोर्यादवभेदस्य दारान् भार्याम् । ' भार्या जायाथ दाराः स्यात्तु कुटुम्बिनी ' इत्यमरः । अपाहरत् इति यदिद दारापहरणम् आलप्योच नालपनीयमित्यर्थः । ' अलंखल्वो' प्रतिषेधयोः प्राचां क्त्वा" इति क्त्वाप्रत्यये समासे ल्यप् । यतः । पापाना पाप्मनां कथनमुच्चारणमपि । "चिन्तिपूजिकुथिकुम्बि" इत्यादिना अप्रत्यय अश्रेयसेऽनर्थायाल समर्थम् । ' नमः स्वस्ति " इत्यादिना चतुर्थी । अत्र निषिध्यमानस्य निषेधनसमर्थनात्कार्येण कारणसमर्थकोऽर्थान्तरन्यासः ॥ ४० ॥

फलितमाह-

विराद्ध एवं भवता विराद्धा बहुधा च नः ।
निर्वर्त्यतेऽरिः क्रियया स श्रुतश्रवसः सुतः ॥ ४१ ॥

विराद्ध इति । एव भवता विराद्ध विप्रकृतः । राधेरनिटः कर्मणि क्तः । बहुधा नोऽस्माकं च विराद्धा विप्रकर्ता । श्रुतश्रवा नाम हरेः पितृष्वसा तस्याः सुतः । पैतृष्वसेयत्वात्सहजामित्रमपीति भाव । स चैद्य क्रियया पूर्वोक्तान्योन्यापकारक्रियया अरिर्निर्वर्त्यते कृत्रिमः शत्रुः क्रियते । अतो बलीयस्त्वादनुपेक्ष्य इति भावः ॥ ४१ ॥

अत्राप्युपेक्षायां दोषमाह-

विधाय वैरं सामर्षे नरोऽरौ य उदासते ।
प्रक्षिप्योदर्चिषं कक्षे शेरते तेऽभिमारुतम् ॥ ४२ ॥

विधायेति । ये नरः पुमासः ' स्युः पुमासः पञ्चजनाः पुरुषाः पूरुषा नरः ' । इत्यमर । सामर्षे प्रागेव सरोषे अरौ वैरं विधाय स्वयं चाकृत्येत्यर्थः । उदासते उपेक्षन्ते । ते नरः कक्षे गुल्मे । कक्षस्तु गुल्मे दोर्मूले पापे जीर्णवने तृणे ' इति वैजयन्ती । उदर्चिषम् अग्निं प्रक्षिप्य अभिमारुतम् । अभिमुख्येऽव्ययीभाव । शेरते स्वपन्ति । तद्वन्नाशहेतुरित्यर्थः । " शीङो रुट् " इति रुडागमः । अत्र ये उदासते ते शेरते इति विशिष्टोदासीन्यशयनयोर्वाक्यार्थयोर्निर्दिष्टैकत्वासम्भवात्सादृश्यलक्षणायामसम्भवद्वस्तुसम्बन्धो वाक्यार्थनिर्वृत्तिरिति निदर्शनाभेदः । न चात्र दृष्टान्तः । वाक्यभेदेन प्रतिबिम्बकारणाभावे तस्योत्थानात् । अत्र तु वाक्यार्थे वाक्यार्थसमारोपाद्वाक्यैकवाक्यतया तदभाव इत्यलङ्कारसर्वस्वकारः ॥ ४२ ॥

तथापि बान्धवत्वात् सोढव्य इत्याशङ्क्याह-

मनागनभ्यावृत्त्या वा कामं क्षाम्यतु यः क्षमी ।
क्रियासमभिहारेण विराध्यन्तं क्षमेत कः ॥ ४३ ॥

मनागिति । यः क्षमी सहनः "शमित्यष्टाभ्यो घिनुण्" इति घिनुण् प्रत्ययः । स सोढ मनागल्पम् । अभ्यावृत्तावपीति भावः । अभ्यावृत्त्यासकृद्वा अनल्पत्वेऽपीति भावः । विराध्यन्तमपकुर्वाण कामं भृशं क्षाम्यतु क्षम्यताम् । सम्भावनाया लोट् । "शमामष्टाना दीर्घः"

---

१ ' सहते ' इत्यपि साधु ।

क्रियासमभिहारेण भृशं पौनःपुन्येन चेत्यर्थः । न च पुनाक्येष्वनेकार्थत्वं दोषाय । विराध्यन्तं कः क्षमेत सहेत सोढुं शक्नुयात् । न कोऽपीत्यर्थः । " शकि लिङ् " इति शक्यार्थे लिङ् । 'क्षमूष् सहने' दैवादिकश्च ॥ ४२ ॥

ननु सर्वदा क्षमैव पुंसो भूषणम् अतोऽपराधेऽपि क्षन्तव्यमत आह—

अन्यदा भूषणं पुंसः क्षमा लज्जेव योषितः ।
पराक्रमः परिभवे वैयात्यं सुरतेष्विव ॥ ४४ ॥

अन्यदेति । अन्यदा सुरतव्यतिरिक्ते काले योषितो लज्जेव पुंसोऽन्यदा अपरिभवे क्षमा शमो[1] भूषणम् । परिभवे तु योषितः सुरतेषु वैयात्यं धार्ष्ट्यमिव । 'धृष्टे धृष्णुर्वियातश्च' इत्यमरः । पराक्रमः पौरुषं भूष्यतेऽनेनेति भूषणम् आभरणम् । एवं च क्रियावचनत्वाविरोध इति वल्लभोक्तं प्रत्युक्तम् ॥ ४४ ॥

अथ परिभवेऽप्यपराक्रमे त्रिभिर्निन्दामाह—

मार्जीवन्यः परावज्ञादुःखदग्धोऽपि जीवति ।
तस्याजननिरेवास्तु जननीक्लेशकारिणः ॥ ४५ ॥

मार्जीवन्निति । यः परस्यापकर्तुरवज्ञया अमानेन यद्दुःखं तेन दग्धस्तप्तोऽत एव मार्जीवन् गर्हितजीवी सन् । 'माङ्याक्रोशे' इति लटः शत्रादेशः । जीवति प्राणान्धारयति । जनन्याः क्लेशकारिणः गर्भधारणप्रसवादिवेदनाकारिणः । तद्व्यतिरिक्तार्थक्रियाहीनस्येत्यर्थः । तस्याजननमजननिरनुत्पत्तिरेवास्तु । जननीक्लेशनिवृत्त्यर्थमिति भावः । " आक्रोशे नञ्यनिः " इति नञ्पूर्वाज्जनिधातोरनिप्रत्ययः ॥ ४५ ॥

पादाहतं यदुत्थाय मूर्द्धानमधिरोहति ।
स्वस्थादेवापमानेऽपि देहिनस्तद्वरं रजः ॥ ४६ ॥

पादेति । यद्रजो धूलिः पादेनाहतं सत् उत्थायोड्डीय मूर्द्धानमाहन्तुरेव शिरोऽधिरोहति आक्रमति तद्रजः । अचेतनमपीति भावः । अवमाने सत्यपि स्वस्थात्सन्तुष्टाद्देहिनः चेतनाद्वरं श्रेष्ठम् । व्यतिरेकालङ्कारः ॥ ४६ ॥

असम्पादयतः कञ्चिदर्थं जातिक्रियागुणैः ।
यदृच्छाशब्दवत्पुंसः संज्ञायै जन्म केवलम् ॥ ४७ ॥

असम्पादयत इति । किञ्च जातिः ब्राह्मणत्वादिः क्रिया इज्याध्ययनादिः गुणः शौर्यादिः तैः साधनैः । करणे तृतीया । कञ्चिदर्थं सुकृतकीर्त्यादिपौरुषार्थमन्यत्र गोत्वपाचकत्व-शौक्ल्यादिभिः स्वाभिधेयभूतैः करणैः कञ्चिदर्थं व्यवहाररूपं प्रयोजनमसम्पादयतः । उभयत्र

---

[1] 'शमो' इति वा पाठः ।

नादरजात्याद्यसम्भवादिति भावः । पुंसो जन्म सत्तालाभः यदृच्छाशब्दवत् इच्छानकार जात्यादिप्रवृत्तिनिमित्तशून्यस्य डित्थादिशब्दस्येव । नत्र तस्येव " इति वतिप्रत्ययः 'स्वेच्छा यदृच्छा स्वच्छन्द. स्वैरता चेति ते समाः' । इति केशवः । सञ्ज्ञायै केवल नाम मेव एकत्र पारिभाषिक किञ्चिन्नाममात्रम् अनुभवितुम् अन्यत्र तादृक्तामनुभवितुमित्यर्थः ॥ ४७

एवमपौरुष दूषयित्वा पौरुष भूषयति–

तुङ्गत्वमितरा नाद्रौ नेदं सिन्धावगाधता ।
अलङ्घनीयताहेतुरुभयं तन्मनस्विनि ॥ ४८ ॥

तुङ्गत्वमिति । अद्रौ पर्वते तुङ्गत्वमौन्नत्यमस्तीति शेषः । 'अस्तिर्भवन्तीपरोऽप्रयुज्यमानोऽप्यस्ति' इत्यादिभाष्यात् । भवन्ती पूर्वाचार्याणां लटः सञ्ज्ञा । इतरा अगाधता नास्ति । सिन्धौ समुद्रे अगाधता गम्भीरतास्ति इद तुङ्गत्व नास्ति । मनस्विनि वीरे तु अलङ्घनीयताहेतुरलङ्घ्यत्वकारण तदुभय तुङ्गत्वमगाधता च । तस्मादद्रिसिन्धुभ्यामधिको मनस्वीति व्यतिरेकालङ्कारः ॥ ४८ ॥

सम्प्रति शत्रौ मार्दवमनर्थायेत्याह–

तुल्येऽपराधे स्वर्भानुर्भानुमन्तं चिरेण यत् ।
हिमांशुमाशु ग्रसते तन्म्रदिम्नः स्फुटं फलम् ॥ ४९ ॥

तुल्य इति । स्वर्भानुः राहुः अपराधे तुल्येऽपि भानुमन्त सूर्य चिरेण ग्रसते हिमांशुं चन्द्रमाशु शीघ्र ग्रसते गिलतीति यत् । 'ग्रसिते गिलित गीर्णम्' इत्यभिधानात् तत् म्रदिम्नो मार्दवस्य फल स्फुटम् । "पृथ्वादिभ्य इमनिच्" इतीमनिच्प्रत्ययः । तस्माद्विपक्षे तीव्रेण भवितव्यम् । अन्यथा मृदुः सर्वत्र बाध्यत इति भाव । एतच्च प्रस्तुतमप्रस्तुतार्केन्दुकथनेन सारूप्यात्प्रतीयते इत्यप्रस्तुतप्रशसाभेदोऽयम् । 'अप्रस्तुतस्य कथनात्प्रस्तुत यत्र गम्यते । अप्रस्तुतप्रशसेय सारूप्यादिनियन्त्रिता' इति लक्षणात् ॥ ४९ ॥

एतदेव भङ्ग्यन्तरेणाह–

स्वयं प्रणमतेऽल्पेऽपि परवायावुपेयुषि ।
निदर्शनमसाराणां लघुर्बहुतृणं नरः ॥ ५० ॥

स्वयमिति । असाराणा दुर्बलाना निदर्शन दृष्टान्त. अत एव ईषदसमाप्त तृणं बहुतृणम् । तृणकल्पमित्यर्थः । "विभाषा सुपो बहुच् पुरस्तात्तु" इति बहुच्प्रत्ययः प्रकृतेः पूर्वं च भवति 'स्यादीषदसमाप्तौ तु बहुच् प्रकृतिलिङ्गकः' इति वचनात् प्रकृतिलिङ्गता । लघुर्निष्पौरुषो नरोऽल्पेऽपि परो वायुरिवेत्युपमितसमासः । बहुतृणमिति स्पष्टोपमासाहचर्यात्कल्पब्देश्यदेशीयदेश्यादिति दाण्डिना कल्पवादीनामौपम्यवाचकेष्वभिधानात् । तस्मिन्नुपेयुषि प्राप्ते सति स्वय प्रणमते स्वयमेव प्रह्वीभवति । " कर्मवत्कर्मणा तुल्यक्रियः " इति कर्मवद्भावात " भावकर्मणो "

इत्यात्मनेपदम् । " न दुहस्नुनमा यक्चिणौ " इति यक्प्रतिषेधः । वायुना तृणमिवाल्पीयसापि रिपुणा लघुक्लेशेन परिभूयत इत्यर्थः । उपमालङ्कारः ॥ ९० ॥

पुनः पौरुषे गुणमाह—

तेजस्विमध्ये तेजस्वी दवीयानपि गण्यते ।
पञ्चमः पञ्चतपसस्तपनो जातवेदसाम् ॥ ९१ ॥

तेजस्वीति । दवीयानपि दूरस्थोऽपि । "स्थूलदूर" इत्यादिना पूर्वगुणयणादिपरलोपौ । तेजस्विनां मध्ये गण्यते सङ्ख्यायते । तथाहि । पञ्चाग्निसाध्यं तपो यस्य स तथा तस्य पञ्चतपसः पञ्चाग्निमध्ये तप्यतः तपनोऽर्को जातवेदसामग्नीनां पञ्चमः पञ्चानां पूरणः । पञ्चमो जातवेदा भवतीत्यर्थः । विशेषेण सामान्यसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ ९१ ॥

गुणान्तरं च व्यतिरेकेणाह—

अकृत्वा हेलया पादमुच्चैर्मूर्धसु विद्विषाम् ।
कथङ्कारमनालम्ब्या कीर्तिर्द्यामधिरोहति ॥ ९२ ॥

अकृत्वेति । उच्चैरुन्नतेषु विद्विषां मूर्द्धसु हेलया पादमकृत्वा अनिधाय "अनव्ययं" इति निषेधात्समासेऽपि न ल्यबादेशः । कीर्तिः कथङ्कारं कथमित्यर्थः । "अन्यथैवंकथमित्थंसु सिद्धाप्रयोगश्चेत्" इत्यनर्थकाद्देव करोतेः कथम्पूर्वाण्णमुल् । अनालम्ब्या निराधारा कीर्तिः दिवमधिरोहति । न कथञ्चिदित्यर्थः । किञ्चिन्निःश्रेण्यादिकं विनानाक्रम्योच्चसौधस्य दुरारोहत्वादिति भावः । तस्मात्कीर्तिमिच्छता पौरुषमेवाश्रयणीयम् इति श्लोकतात्पर्यम् । कीर्तितद्वतोरभेदोपचारात्समानकर्तृतानिर्वाहः । अत्र प्रस्तुतायाः कीर्तेर्विषयमहिम्ना अप्रस्तुतप्रासादारोहणस्त्रीव्यवहारप्रतीतेः समासोक्तिः ॥ ९२ ॥

पौरुषमेवाश्रयणीयमित्यत्रान्वयव्यतिरेकदृष्टान्तावाचष्टे—

अङ्काधिरोपितमृगश्चन्द्रमा मृगलाञ्छनः ।
केसरी निष्ठुरक्षिप्तमृगयूथो मृगाधिपः ॥ ९३ ॥

अङ्केति । अङ्कमुत्सङ्गमधिरोपितो मृगो येन स चन्द्रमाः मृगलाञ्छनः मृगाङ्कः तथा निष्ठुरं यथा तथा क्षिप्तो हतो मृगयूथो मृगसमूहो येन स केसरी सिंहो मृगाधिपः । उभयत्रापि ख्यात इति शेषः । तस्माच्छत्रौ मार्दवं दुष्कीर्तये पौरुषं तु कीर्त्तये इति भावः । अत्राप्रस्तुतकथनात् प्रस्तुतार्थप्रतीतेरप्रस्तुतप्रशंसा ॥ ९३ ॥

ननु सामादिसुकरोपायमुपेक्ष्य किं पाक्षिकसिद्धिना दण्डेन । यथाह मनुः 'साम्ना भेदेन दानेन समस्तैरुत वा पृथक् । विजेतुं प्रयतेतारीन्न युद्धेन कदाचन' ॥ इति । तस्मात्सान्त्वमेव युक्तमित्याशङ्क्य द्वाभ्यां निराचष्टे—

चतुर्थोपायसाध्ये तु रिपौ सान्त्वमपक्रिया ।
स्वेद्यमामज्वरं प्राज्ञः कोऽम्भसा परिषिञ्चति ॥ ५४ ॥

चतुर्थोपायेति । चतुर्थोपायसाध्ये दण्डसाध्ये रिपौ सान्त्वम् साम । 'सामसान्त्वमुभे समे' इत्यमरः । अपक्रिया अपकारः । तथा हि । स्वेद्यं स्वेदार्हं स्वेदनकार्यार्हमित्यर्थः । 'स्वेदस्तु स्वेदने घर्मे' इति विश्वः । आमज्वरमपक्वज्वरं प्राप्य । 'आमो रोगे रोगभेदे आमोऽपक्वे तु वाच्यवत्' इति विश्वः । कः प्राज्ञः पण्डितः अम्भसा जलेन परिषिञ्चति । न कोऽपीत्यर्थः । ज्वरितस्याम्भःसेकवत् क्रुद्धस्य सान्त्वमुद्दीपकं स्यात् । अतो दण्डय एवेति भावः । वाक्यभेदेन प्रतिबिम्बकरणापेक्षो दृष्टान्तालङ्कारः ॥ ५४ ॥

सामवादाः सकोपस्य तस्य प्रत्युत दीपकाः ।
प्रतप्तस्येव सहसा सर्पिषस्तोयबिन्दवः ॥ ५५ ॥

सामेति । सकोपस्य रूढवैरस्य तस्य चैद्यस्य सामवादाः प्रियोक्तयः सहसा प्रतप्तस्य क्वथितस्य सर्पिषो घृतस्य तोयबिन्दव इव प्रत्युत वैपरीत्येन दीपकाः प्रज्वलनकारिणः । न तु शान्तिकरा इत्यर्थः । तस्माद्दण्डय एव सः । मनुवचनं त्वप्ररूढवैरविषयमिति भावः ॥ ५५ ॥

एवं स्थिते केचिदुद्धवादयः प्रत्याचक्षीरन् तान् प्रत्याह—

गुणानामायथातथ्यादर्थं विप्लावयन्ति ये ।
अमात्यव्यञ्जना राज्ञां दूष्यास्ते शत्रुसंज्ञिताः ॥ ५६ ॥

गुणानामिति । सन्ध्यादीनां गुणानामायथातथ्यात् तथात्वमनतिक्रम्य यथातथं यथायोग्यम् इति यावत् । 'यथार्थे तु यथातथम्' इत्यमरः । यथार्थेऽव्ययीभावः "स नपुंसकम्" इति नपुंसकत्वम् "ह्रस्वो नपुंसके" इति ह्रस्वत्वम् । ततो नञ्समासे अयथातथम् तस्य भावः आयथातथ्यं ब्राह्मणादित्वात् ष्यञ् प्रत्ययः । "यथातथयथापुरयोः पर्यायेण" इति विकल्पान्नञ्पूर्वपदवृद्धिः तस्मादायथातथ्यादयथायोग्यत्वादन्यकालेऽन्यप्रयोगादित्यर्थः । अर्थं प्रयोजनं ये विप्लावयन्ति निघ्नन्ति कार्यहानिं कुर्वन्तीत्यर्थः । अमात्यानां व्यञ्जनं चिह्नं येषां ते तथोक्तास्तद्वेषधारिण इत्यर्थः । "अव्ययो बहुव्रीहिर्व्यधिकरणे जन्माद्युत्तरपद " इति वामनः । वस्तुतस्तु शत्रुरिति संज्ञा एषां संजाता शत्रुसंज्ञिताः शत्रव एव ते कूटमन्त्रिणो राज्ञां दूषयितुमर्हाः दूष्या गर्ह्यास्त्याज्या इति यावत् । "कृत्यानां कर्त्तरि वा " इति षष्ठी । अतः स्वोक्तम् । प्रतिरोद्धव्यमिति भावः ॥ ५६ ॥

ननु यातव्योऽपि काले यातव्य इत्याशङ्क्यायमेव काल इत्याह—

स्वशक्त्युपचये केचित्परस्य व्यसनेऽपरे ।
यानमाहुस्तदासीनं त्वामुत्थापयति द्वयम् ॥ ५७ ॥

स्वेति । केचिद् वृद्धाः स्वस्य शक्त्युपचये सामर्थ्यातिरेके यानं यात्रामाहुः । यथाह कामन्दकः । 'प्रायेण सन्तो व्यसने रिपूणां यातव्यमित्येव समादिशन्ति । तथा विपक्षे व्यसनानपक्षी क्षमो द्विषन्तं मुदितः प्रतीयात्' इति । अपरे वृद्धाः परस्य शत्रोर्व्यसने विपदि । 'व्यसनं विपदि भ्रंशे' इत्यमरः । यानमाहुः । अत्र मनुः । 'तदा यायाद्विगृह्यैव व्यसने चोत्थिते रिपोः' इति । तद्द्वयमुक्तपक्षद्वयं कर्तृ । आसीनमनुयुञ्जानम् । " ईदासः " इति शानजाकारस्यैकारादेशः । त्वामुत्थापयति प्रेरयति । तदुभयलाभादीदृक् कालो न कदापि लभ्यत इत्यर्थः ॥ ५७ ॥

तत्र स्वशक्त्युपचयं तावल्लक्षयति—

लिलङ्घयिषतो लोकानलङ्घ्यानलघीयसः ।
यादवाम्भोनिधीन्रुन्धे वेलेव भवतः क्षमा ॥ ५८ ॥

लिलङ्घयिषत इति । लोकान् लङ्घयितुमिच्छतो लिलङ्घयिषतः । लङ्घयतेः सन्नन्ताल्लटः शतरि शत् । अलङ्घ्यान् स्वयं दुर्लङ्घ्यान् । कुतः । अलघीयसः अतिगुरून् अत एव यादवा अम्भोनिधय इवेत्युपमितसमासः । तान् यादवाम्भोनिधीन् भवतः क्षमा तितिक्षा वेलेव कूलमिव । 'वेला कूलेऽपि वारिधेः' इति विश्वः । रुन्धे प्रतिबध्नाति । अन्यथा प्रागेव सर्वं संहरेयुरिति भावः ॥ ५८ ॥

अभ्युच्चयप्रायमपरं यदक्लेशेनैव ते विजयलाभ इत्याह—

विजयस्त्वयि सेनायाः साक्षिमात्रेऽपदिश्यताम् ।
फलभाजि समीक्ष्योक्ते बुद्धेर्भोग इवात्मनि ॥ ५९ ॥

विजय इति । सेनायाः । कर्त्र्याः । विजयः साक्षिमात्रे उदासीने एव फलभाजि त्वयि समीक्ष्योक्ते साङ्ख्योक्ते । 'साङ्ख्यं समीक्ष्यम्' इति त्रिकाण्डः । आत्मबुद्धेर्महत्तत्त्वस्य मूलप्रकृतेः प्रथमविकारस्य । कर्त्र्याः । भोगः सुखदुःखानुभव इवापदिश्यतां व्यवह्रियताम् । भृत्यजयपराजययोः स्वामिगामित्वादिति भावः । साङ्ख्या अप्याहुः । कर्तैव भवत्युदासीन इति सर्वं प्रत्युपभोगं यस्मात्पुरुषस्य साधयति बुद्धिरिति च ॥ ५९ ॥

अथ परस्य व्यसनमाह—

हते हिडिम्बरिपुणा राज्ञि द्वैमातुरे युधि ।
चिरस्य मित्रव्यसनी सुदमो दमघोषजः ॥ ६० ॥

हत इति । हिडिम्बरिपुणा भीमेन द्वयोर्मात्रोरपत्यं पुमान् द्वैमातुरः "मातुरुत्सङ्ख्यासम्भद्रपूर्वायाः" इत्यण् प्रत्ययः । उकारश्चान्तादेशो रेफपरः । तस्मिन् राज्ञि जरासन्धे । स हि ताभ्यां पत्नीभ्याम् अर्द्धशः प्रसूतो जरया नाम पिशाच्या सन्धितश्चेति कथयन्ति । युधि हते सति चिरस्य चिरकालेन । 'चिराय चिररात्राय चिरस्याद्याश्चिरार्थकाः' । इत्यमरः । मित्रव्यसनवान्

मित्रभ्रशवानिति यावत् । 'व्यसन विपदि भ्रंशे' इत्यमरः । दमघोषाज्जातो दमघोषजस्त्वं यः सुखेन दम्यत इति सुदम. एकाकिन्यानुमान्य इत्यर्थ ॥ ६० ॥

कष्टश्चाय पक्षोऽभ्युपेत्यवादेनोक्तः । वस्तुतस्तु शूराणाम् अग्रिमपक्ष एव इष्ट शास्त्रमवादी । यथाह कामन्दक. 'यदा समस्त प्रसभ निहन्तु पराक्रमादूर्जितमन्यमित्रम् । तदाभियायाद्विहितानि कुर्वन्नुपान्तत कर्षणपीडनानि ' ॥ इतीत्यभिप्रेत्याह—

नीतिरापदि यद्गम्यः परस्तन्मानिनो ह्रिये ।
विधुर्विधुन्तुदस्येव पूर्णस्तस्योत्सवाय सः ॥ ६१ ॥

नीतिरिति । परः शत्रुः आपदि गम्यो गमनार्हः नीतिरिति यत्तदापदि गमन मानिन. शौर्याभिमानिनः । ह्रिये । लज्जाकरमित्यर्थ । किन्तु पूर्ण उपचितगात्रः स शत्रुस्तस्य मानिन । विधुश्चन्द्र विधु तुदति हिनस्तीति विधुन्तुदो राहु."विध्वरुषोस्तुदः" इति खश् प्रत्यये मुमागम । तस्येवोत्सवाय अत एव बलिना बलवानेव यातव्यः । बलिनश्च वयमिति भावः ॥ ६१ ॥

तर्हि पूर्वोदाहृतमन्वादिशास्त्रविरोध स्यादित्याशङ्क्याह—

अन्यदुच्छृङ्खलं सत्त्वमन्यच्छास्त्रनियन्त्रितम् ।
सामानाधिकरण्यं हि तेजस्तिमिरयोः कुतः ॥ ६२ ॥

अन्यदिति । अन्यदुच्छृङ्खलमनर्गलम् । प्रसह्य पीडनक्षमामिति भावः । सत्त्व बलम् अन्यत् । शास्त्रेण मन्वादिशास्त्रेण नियन्त्रितम् उदाहृत परव्यसनकाले सत्त्वमन्यत् । तयो सापेक्षत्वनिरपेक्षत्वाभ्या मिथो विरोधान्नैकशास्त्रत्व सम्भवतीत्यर्थ. । अत्र दृष्टान्तमाह । तेजस्तिमिरयोः समानमधिकरण ययोस्तयोर्भाव. सामानाधिकरण्यम् एकाश्रयत्व कुत. । न कुतश्चित् । तयो सहावस्थानविरोधादिति भाव. । तस्मादुभयोरुदितानुदितहोमवद्भिन्नविषयत्वादितरेतरशास्त्रविरोधो न बाधक इति भाव ॥ ६२ ॥

तर्हि नः किमिदानीं कार्यमत आह—

इन्द्रप्रस्थगमस्तावत्कारि मा सन्तु चेदयः ।
आस्माकदन्तिसान्निध्याद्वामनीभूतभूरुहः ॥ ६३ ॥

इन्द्रप्रस्थेति । इन्द्रप्रस्थस्य गमः पार्थनगरस्य गमनम् । "ग्रहवृदृनिश्चिगमश्च" इत्यप्रत्यय । माकारि तावन्न क्रियतामेवेत्यर्थः । 'यावत्तावत्परिच्छेदे कार्त्स्न्ये मानावधारणे' । इति विश्व । कृञः कर्मणि लुङ् "माङि लुङ्" इत्याशीरर्थे लुङ् "न माङ्योगे" इत्यट्प्रतिषेधः । किन्तु चेदय चेदिदेशा' अस्माकमिमे आस्माका । "युष्मदस्मदोरन्यतरस्या खञ् च" इति विकल्पादण् प्रत्यय' । "तस्मिन्नणि च युष्माकास्माकौ" इत्यस्माकादेश. । सन्निधिरेव सान्निध्यम् । स्वार्थे ष्यञ् प्रत्यय । आस्माकाना दन्तिनां सान्निध्यात् वामनीभूता.शाखाभङ्गात् खर्वीभूता भूरुहो वृक्षा येषा ते तथोक्ताः सन्तु । चेदिष्वत्रैव क्रियतामित्यर्थ' । सा च प्रस्तुता प्रस्तुतेनैव

स्वकार्येण गम्यत इति पर्यायोक्तालङ्कारः । ' कारण गम्यते यत्र प्रस्तुतात्कार्यवर्णनात् । प्रस्तुतेनैव सम्बन्धात्पर्यायोक्तः स उच्यते ' ॥ इति लक्षणात् ॥ ६३ ॥

निरुद्धवीवधासारप्रसारा गा इव व्रजम् ।
उपरुन्धन्तु दाशार्हाः पुरीं माहिष्मतीं द्विषः ॥ ६४ ॥

निरुद्धेति । किञ्च दाशार्हाः यादवाः वीवधो धान्यादिप्राप्तिः आसारः सुहृद्बल प्रसारस्तृणकष्टादेः प्रवेशः । ' धान्यादेर्वीवधः प्राप्तिरासारस्तु सुहृद्बलम् । प्रसारस्तृणकाष्ठादेः प्रवेशः ' । इति वैजयन्ती । ते निरुद्धा यैस्ते तथोक्ताः अन्यत्र निरुद्धौ वीवधाना पर्याहारापरनाम्ना स्कन्धवाह्यक्षीराद्याहरणसाधनभारविशेषाणाम् आसारप्रसारौ प्रवेशनिर्गमौ यैस्ते तथोक्ताः । ' विवधो वीवधो भारे पर्याहाराध्वनोरपि ' । इति हेमचन्द्र. । व्रजं गोष्ठम् ' व्रज. स्याद्गोकुलं गोष्ठम् । इति वैजयन्ती । गा इव माहिष्मतीं पुरीं द्विषोऽरीनुपरुन्धन्तु व्रजे गा इव माहिष्मत्यामरीन् आवृण्वन्त्वित्यर्थः । " दुह्याच्पच्दण्ड्रुधि " इति द्विकर्मकत्वम् । तत्र पुरीव्रजावकथितं कर्म अन्यदीप्सित कर्म ॥ ६४ ॥

तर्हि पार्थप्रार्थनाया. का गतिरित्याशङ्क्य उपेक्षैव गतिरित्याह—

यजतां पाण्डवः स्वर्गमवत्विन्द्रस्तपत्विनः ।
वयं हनाम द्विषतः सर्वः स्वार्थं समीहते ॥ ६५ ॥

यजतामिति । पाण्डवो युधिष्ठिरो यजता याग करोतु । इन्द्र स्वर्गमवतु रक्षतु । इनोऽर्कः। 'इनः पत्यौ नृपार्कयोः '। इति मेदिनी । तपतु प्रकाशताम् । वय द्विषोऽरीन् हनाम मारयाम । " आडुत्तमस्य पिच्च " इत्याडागमः, सर्वत्र प्राप्तकाले लोट् । तथाहि सर्वो जनः स्वार्थं स्वप्रयोजन समीहते अनुसन्धत्ते । इन्द्रादिसमानयोगक्षेमो नः पार्थ इत्यर्थ. । अर्थान्तरन्यास. ॥ ६५ ॥

प्राप्यतां विद्युतां सम्पत्सम्पर्कादर्करोचिषाम् ।
शस्त्रैर्द्विषच्छिरश्छेदप्रोच्छलच्छोणितोक्षितैः ॥ ६६ ॥

प्राप्यतामिति । किञ्च द्विषता शिरश्छेदेन प्रोच्छलता उद्गच्छता शोणितेनोक्षितैः सिक्तैः शस्त्रैरर्करोचिषां सम्पर्काद्विद्युता सम्पत् लक्ष्मी. प्राप्यताम् । इति निदर्शनालङ्कारः ॥ ६६ ॥

इति संरम्भिणो वाणीर्बलस्यालेख्यदेवताः ।
सभाभित्तिप्रतिध्वानैर्भयादन्ववदन्निव ॥ ६७ ॥

इतीति । इतीत्थं संरम्भिणः क्षुभितस्य बलभद्रस्य वाणीरालेख्यदेवताश्चित्रलिखितदेवताः सभायाः सदोगृहस्य भित्तीना प्रतिध्वानैः प्रतिध्वनिव्याजेनेत्यर्थः । भयादन्ववदन् अन्वमोदयन्निवेत्युत्प्रेक्षा ॥ ६७ ॥

निशम्य ताः शेषगवीरभिधातुमधोक्षजः ।
शिष्याय बृहतां पत्युः प्रस्तावमदिशद्दृशा ॥ ६८ ॥

निशम्येति । अधःकृतमक्षजमिन्द्रियज ज्ञान येन सोऽधोक्षजो हरि ताः शेषस्य शेषावतारस्य बलभद्रस्य गा. वाच शेषगवी । 'गोरतद्धितलुकि' इति टच् । टित्त्वान्डीप् । निशम्य श्रुत्वा । निशाम्यतीति श्रवणे तथा निशमयत्यपीति भट्टमल्ल । तत्र शाम्यतेर्ण्यि रूपम् । अन्यथा निशमय्येति स्यात् । अत एव वामन. " निशम्यनिशमय्यशब्दौ प्रकृतिभेदात्" इति । बृहता वाचा पत्यु' बृहस्पतेस्तस्य शिष्याय उद्धवायाभिधातु वक्तु दृशा दृक्सञ्ज्ञया प्रस्तावमवसरमदिशत् अनिसृष्टवान् । ' प्रस्ताव' स्यादवसर ' इत्यमर ॥ ६८ ॥

भारतीमाहितभरामथानुद्धतमुद्धवः ।
तथ्यामुतथ्यानुजवज्जगादाग्रे गदाग्रजम् ॥ ६९ ॥

भारतीमिति । अथ कृष्णानुज्ञानन्तरम् उद्धव आहितो भरोऽर्थगौरव यस्या सा ता तथ्या यथार्थां भारतीं वाचम् अनुद्धतमगर्वित यथा तथा गदस्याग्रज कृष्णम् । अग्रे पुरत इति प्रागल्भ्योक्तिः । उतथ्यस्य महर्षेरनुजो बृहस्पतिः । 'उतथ्यावरजो जीवः' इति विश्वः । तद्वत्तेन तुल्य जगाद । " तेन तुल्य क्रिया चेद्वति " इति वति । तद्धितगेयमुपमा ॥ ६९ ॥

किं जगादेत्याह—

सम्प्रत्यसाम्प्रतं वक्तुमुक्ते मुसलपाणिना ।
निर्धारितेऽर्थे लेखेन खलूक्त्वा खलु वाचिकम् ॥ ७० ॥

सम्प्रतीति । सम्प्रति मुसलपाणिना बलभद्रेण । केवल शूरेणेति ध्वनिः । उक्ते सति वक्तुमसाम्प्रतम् अयुक्तम् । असाधूक्तत्वादभ्याससमानयोगक्षेमप्रसङ्गादिति ध्वनि । साम्प्रतशब्दस्यार्हार्थत्वात्तद्योगे " शकधृष " इत्यादिना तुमुन् । तथाहि । लेखेन पत्रेणार्थे वाच्ये निर्धारिते निर्णीते सति वाचिक व्याहृतार्थां वाचम् । सन्देशवचनमित्यर्थ ' सन्देशवाग्वाचिक स्यात् ' । इत्यमरः । " वाचो व्याहृतार्थायाम् " इति ठक् । उक्त्वा खलु । न वाच्य खल्वित्यर्थ । खल्वाद्य. प्रतिषेधे, अन्यो वाक्यालङ्कारे । ' निषेधवाक्यालङ्कारे जिज्ञासानुनये खलु ' इत्युभयत्राप्यमर' । "अलङ्खल्वो. प्रतिषेधयो. प्राचां क्त्वा" इति क्त्वा प्रत्ययः। इह 'न पादादौ खल्वादय ' इति निषेधस्योद्वेजकाभिप्रायत्वात् । नञर्थखलुशब्दस्यानुद्वेजकत्वात् नञ्वदेव पादादौ प्रयोगे न दूष्यतीत्यनुसन्धेयम् । लिखितार्थे वाचिकमिव बलोक्ते मदुक्तिरनवकाशेति वाक्यार्थप्रतिबिम्बकरणात् स्पष्टस्तावद्दृष्टान्त स्तुतिव्याजेन निन्दावगमात् व्याजस्तुतिश्च लक्षण चाग्रे वक्ष्यते ॥ ७० ॥

तर्हि किं तूष्णीम्भूतेन भाव्यम्, नेत्याह—

तथापि यन्मय्यपि ते गुरुरित्यस्ति गौरवम् ।
तत्प्रयोजककर्तृत्वमुपैति मम जल्पतः ॥ ७१ ॥

तथापीति । तथापि बलेन निर्णीतेऽपि ते तव मय्यपि बलभद्र इवेत्यपिशब्दार्थः । गुरावित्येव यद्गौरवमादरः तद्गौरवं जल्पतः जल्पने प्रयोज्यकर्मणो मे प्रयोजककर्तृत्वं प्रेरकत्व-मुपैति । अतो वक्ष्यामीत्यर्थः । न हि पण्डितैः सादरं पृष्टस्य विशेषज्ञस्य अज्ञवत्तूष्णींभावो युक्त इति भावः ॥ ७१ ॥

ननु रामेणैव सर्वं प्रपञ्चेनोक्तम्, सम्प्रति किं ते वाच्यमस्तीत्याशङ्क्य वृथाप्रपञ्चोऽयमिति हृदि निधाय स्तुवन्नाह त्रयेण—

वर्णैः कतिपयैरेव ग्रथितस्य स्वरैरिव ।
अनन्ता वाङ्मयस्याहो ! गेयस्येव विचित्रता ॥ ७२ ॥

वर्णैरिति । कतिपयैः परिमितैर्वर्णैः पञ्चाशतैव मातृकाक्षरैः कतिपयैः सप्तभिरेव स्वरैर्नि-षादादिभिः ग्रथितस्य गुम्फितस्य वाङ्मयस्य शब्दजालस्य । ' एकाचोऽपि नित्यं मयटमि-च्छन्ति '' इति स्वार्थे मयट् । गीयत इति गेयं तस्य गानस्येव विचित्रता रचनाभेदादनन्ता अपरिमिता भवतीत्यर्थः । अहो ! अतस्तेनसाधूक्तेऽपिविशेषानन्त्यात् ममापि वक्तव्यमस्तीत्ये-कोभावः । तस्य दुरुक्तत्वान्ममैवास्तीत्यन्यः । प्रत्ययत्रयमिवोपादानादनेकैवेयमुपमा ॥ ७२ ॥

बह्वपि स्वेच्छया कामं प्रकीर्णमभिधीयते ।
अनुज्झितार्थसम्बन्धः प्रबन्धो दुरुदाहरः ॥ ७३ ॥

बह्वपीति । स्वेच्छया स्वप्रतिभानुसारेण प्रकीर्णमसङ्गतं बह्वपि कामं यथेष्टमभिधीयते किन्तु अनुज्झितोऽर्थसम्बन्धः पदार्थसङ्गतिर्यस्मिन् स प्रबन्धः सन्दर्भः दुरुदाहरो दुर्वचः हरतेः खल् प्रत्ययः । रामेण तु सङ्गतमेवोक्तमिति स्तुतिः । असङ्गतमेवोक्तमिति निन्दा च गम्यते ॥ ७३ ॥

म्रदीयसीमपि घनामनल्पगुणकल्पिताम् ।
प्रसारयन्ति कुशलाश्चित्रां वाचं पटीमिव ॥ ७४ ॥

म्रदीयसीमिति । कुशलाः वक्तारो म्रदीयसीमतिसुकुमाराक्षरां श्लक्ष्णतरां च तथापि घनामर्थगुर्वीम् अन्यत्र सान्द्राम् । कदलीदलकल्पामित्यर्थः । अनल्पैर्बहुभिर्गुणैः श्लेषादिभिस्तन्तु-भिश्च कल्पितां रचितां निर्मितां च चित्रां शब्दादिविचित्रां विचित्ररूपां च वाचं पटीं शाटीमिव प्रसारयन्ति । रामवागप्येवंविधेति स्तुतिः । रामवाक् तु नैवंविधेति निन्दा च गम्यते । अत्र श्लेषस्य शुद्धविषयासम्भवेन सर्वालङ्कारबाधकत्वादुपमाप्रतिभोत्थापित प्रकृताप्रकृतश्लेषोऽयमित्य-लङ्कारसर्वस्वकारः । एवञ्च पूर्णोपमाया निर्विषयत्वप्रसङ्गात् श्लेषप्रतिभोत्थापितेयमुपमैवेत्यन्ये ॥ ७४ ॥

अथोद्धवः स्वसिद्धान्तं वर्णयिष्यन् स्तुत्या गर्वं परिहरन्हरिमभिमुखीकरोति—

विशेषविदुषः शास्त्रं यत्तवोद्ग्राह्यते पुरः ।
हेतुः परिचयस्थैर्ये वक्तुर्गुणनिकैव सा ॥ ७५ ॥

विशेषेति । विशेष वेत्ति इति विशेषविद्वान् तस्य विशेषविदुषो विशेषज्ञस्य । गतिगम्यादि पाठात् द्वितीयासमासः । तत्र पुरोऽग्रे शास्त्र नीतिशास्त्रमुद्ग्राह्यते उपन्यस्यत इति यत् । 'उद्ग्राहितमुपन्यस्ते ' इति वैजयन्ती । सा तद्ग्रहणामित्यर्थ । विधेयप्राधान्यात् स्त्रीलिङ्गत्व वक्तुः उद्ग्राहयितु' परिचयस्थैर्ये अभ्यासदार्ढ्ये हेतुर्गुणनिका । आम्रेडितमेवेति यावत् । नतु वैदुष्यप्रकटनमिति भावः । " गुण आम्रेडने " " चौरादिकात् " ण्यासश्रन्थो युच् " इति युच्, ततः सज्ञाया कन्, कात्पूर्वस्येकार. ॥ ७९ ॥

सम्प्रति स्वमतमुपन्यस्यति-

प्रज्ञोत्साहावतः स्वामी यतेताधातुमात्मनि ।
तौ हि मूलमुदेष्यन्त्या जिगीषोरात्मसम्पदः ॥ ७६ ॥

प्रज्ञेति । अतोऽस्मात्कारणात् स्वमस्यास्तीति स्वामी प्रभु । ' स्वामिन्नैश्वर्ये " इति निपातः । प्रज्ञोत्साहौ मन्त्रोत्साहशक्ती आत्मनि स्वस्मिन्नाधातु सम्पादयितु यतेत । स्वयमुभयशक्तिमान् भवेदित्यर्थ' । कुत । हि यस्मात् तौ प्रज्ञोत्साहौ उदेष्यन्त्या वर्त्स्यन्त्या. । जिगीषोरात्मन. सम्पदः प्रभुशक्तेर्मूलम् । अत्रोत्साहग्रहणदृष्टान्तार्थम् । यथोत्साहस्तथा मन्त्रोऽपि ग्राह्यो न तु केवलोत्साह इति बलभद्रापवाद ॥ ७६ ॥

उत्साहवत्प्रज्ञापि ग्राह्यो इत्युक्त तस्या प्रयोजनमाह-

सोपधानां धियं धीराः स्थेयसीं खट्वयन्ति ये ।
तत्रानिशं निषण्णास्ते जानते जातु न श्रमम् ॥ ७७ ॥

सोपधानामिति । ये धीरा धीमन्तः सोपधाना सविशेषाम् । युक्तियुक्तामित्यर्थ अन्यत्र सगेन्दुका सोपवर्हामित्यर्थ. । ' उपधान विशेषे स्याद्गेन्दुके प्रणयेऽपि च ' इति विश्व' । स्थेयसीं स्थिरतराम् अचपला द्रढीयसीं च । स्थिरशब्दादीयसुनि " प्रियस्थिर " इत्यादिना स्थादेशः । धिय खट्वयन्ति खट्वा पर्यङ्क कुर्वन्ति । आश्रयन्तीत्यर्थ 'शयन मञ्चपर्यङ्कपल्यङ्काः खट्वया समाः' इत्यमर "तत्करोति तदाचष्टे" इति णिच् । धीरास्तत्र धीखट्वायामनिशमश्रान्त निषण्णा' विश्रान्ता सन्तो जातु कदाचिदपि श्रम खेद न जानते न विदन्ति । श्रम. खेदो ग्ल्यादेरिति लक्षणम् । धीपूर्वक एवोत्साह' सेव्यो न केवल इति सर्वथा धीराश्रयणीयेत्यर्थः । अत्र धिय आरोप्यमाणाया प्रकृतश्रमापनोदरूपोपकारपर्यन्ततया परिणामालङ्कार । 'आरोप्यमाणस्य प्रकृतोपयोगित्वे परिणाम ' इति लक्षणात् ॥ ७७ ॥

अथ प्रज्ञाऽप्रज्ञयोर्द्वाभ्या वैषम्यमाह-

स्पृशन्ति शरवत्तीक्ष्णास्तोकमन्तर्विशन्ति च ।
बहुस्पृशापि स्थूलेन स्थीयते बहिरश्मवत् ॥ ७८ ॥

स्पृशन्तीति । तीक्ष्णाः निशितप्रज्ञा शरवच्छरेण तुल्य स्तोकमल्पमेव स्पृशन्ति । अन्तः कार्यस्य चान्तरं विशन्ति । अल्पायासेन बहुकार्यं साधयन्तीत्यर्थ. । बहुस्पृशा व्यापिना स्थूलेन मन्देन बृहता चाश्मना उपलेन तुल्यमश्मवत् । "तेन तुल्यं क्रिया चेद्वति·" । बहिरेव कार्यस्याकार्यस्य चेति भाव' । स्थीयते स्थितिः क्रियते । मूढो हि अल्पस्य हेतोर्बहुप्रयासकरोति । मूषकग्रहणाय शिखरिखनन परिहासास्पद भवतीति भाव तद्धितगतेयमुपमा ॥ ७८ ॥

आरभन्तेऽल्पमेवाज्ञाः कामं व्यग्रा भवन्ति च ।
महारम्भाः कृतधियस्तिष्ठन्ति च निराकुलाः ॥ ७९ ॥

आरभन्त इति । किञ्चाज्ञा अल्पन्तुच्छमेवारभन्ते प्रक्रमन्ते काममत्यन्त व्यग्रा' त्वरिताश्च भवन्ति । न च पार गच्छन्तीति भाव । कृतधिय शिक्षितबुद्धयस्तु महारम्भा महोद्योगा भवन्ति निराकुला अव्यग्राश्च भवन्ति पार गच्छन्तीति भाव ॥ ७९ ॥

अथ प्रज्ञावानपि न प्रमाद्येदित्याह—

उपायमास्थितस्यापि नश्यन्त्यर्थाः प्रमाद्यतः ।
हन्ति नोपशयस्थोऽपि शयालुर्मृगयुर्मृगान् ॥ ८० ॥

उपायमिति । उपायमास्थितस्य प्राप्तस्यापि उपायेनैव कार्य साधयतोऽपीत्यर्थः । किमुत व्यग्रतयेति भाव । प्रमाद्यतोऽनवधानस्य । 'प्रमादोऽनवधानता' इत्यमर' । अर्थाः प्रयोजनानि नश्यन्ति । यथा 'हि शयालुर्निद्रालु । आलुचि शीङो वक्तव्यत्वादालुच् । मृगान् यातीति मृगयुर्व्याधः । "मृगय्वादयश्च" इत्योणादिक कुप्रत्ययान्तो निपात. 'व्याधो मृगवधाजीवो मृगयुर्लुब्धकश्च सः' इत्यमर । उप शेरतेऽस्मिन्नित्युपशयो मृगमार्गस्थायिनो व्याधस्यात्मगुप्तिस्थान गर्तविशेषः । "एरच्" इत्यच् प्रत्ययः । तत्र तिष्ठतीत्युपशयस्थोऽपि मृगान् न हन्ति विशेषेण सामान्यसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यास. ॥ ८० ॥

एव प्रज्ञाया आवश्यकत्वमुक्तम् तथोत्साहस्याप्याह—

उदेतुमत्यजन्नीहां राजसु द्वादशस्वपि ।
जिगीषुरेको दिनकृदादित्येष्विव कल्पते ॥ ८१ ॥

उदेतुमिति । जेतुमिच्छुर्जिगीषुरेक एव द्वादशस्वपि राजसु मध्ये द्वादशस्वादित्येषु दिनकृद्यो दिनकरणे व्याप्रियमाण. आदित्यः स इवेहामुत्साहमत्यजन् । प्रयुञ्जान एव । न तु निरुद्योग इति भाव. । उदेतु कल्पते उदयाय प्रभवति । उत्साहशक्तिरेव प्रभुशक्तेरपि मूलमित्यर्थ । नानाङ्कित्वाद्धेतून नानासूयत्वमिति श्रुत । प्रतिमासमादित्यभेदात् द्वादशत्वम्' तच्चकस्यैव द्वादशात्मकत्वम्'द्वादशात्मा दिवाकर 'इत्यभिधानात् । ते चार्यमादयःपुराणोक्ता द्रष्टव्याः।राजानस्तु "अरिर्मित्रमरेर्मित्र मित्रमित्रमत परम्।तथारिमित्रमित्र च विजिगीषोः पुर.सरा." पञ्चेतिशेष' । पार्ष्णि-

ग्राहस्ततः पश्चादाक्रन्दस्तदनन्तरम् । आसारावनयोश्चैव विजिगीषोस्तु पृष्ठतः ” । पार्ष्णिग्राहासारः आक्रन्दासारश्चेत्यर्थः । अत्र चत्वार इति शेषः । एवं भवन्ति विजिगीषुर्दश मः । ‘अरेश्च विजिगीषोश्च मध्यमो भूम्यनन्तरः । अनुग्रहे संहतयोः समर्थो व्यस्तयोर्वधे । मण्डलाद्बहिरेतेषामुदासीनो बलाधिकः’ । इति मध्यमोदासीनाभ्यां सह द्वादश वेदितव्याः । पूर्णोपमा ॥ ८१ ॥

उपायमास्थितस्येत्यत्र राजा न प्रमाद्येदित्युक्तम्, अप्रमादप्रकारमाह—

बुद्धिशस्त्रः प्रकृत्यङ्गो घनसंवृतिकञ्चुकः ।
चारेक्षणो दूतमुखः पुरुषः कोऽपि पार्थिवः ॥ ८२ ॥

बुद्धिशस्त्र इति । बुद्धिरेव शस्त्रं यस्य स बुद्धिशस्त्रः । अमोघपातित्वात्तस्या इति भावः । प्रकृतयः स्वाम्योदिराज्याङ्गानि । ‘राज्याङ्गानि’ प्रकृतयः’ इत्यमरः । ता एवाङ्गानि यस्य सः । तद्वैकल्ये राज्ञो वैकल्यं स्यादिति भावः । घना दुर्भेदा संवृतिर्मन्त्रगुप्तिरेव कञ्चुकः कवचो यस्य स तथोक्तः मन्त्रभेदे राज्यभेदादिति भावः । चरतीति चरः पचाद्यच् स एव चारो गूढपुरुषः । प्रज्ञादित्वात् स्वार्थिकोऽण् प्रत्ययः ‘ चारश्च गूढपुरुषः’ इत्यमरः । स एवेक्षणं चक्षुर्यस्य स चारेक्षणः । अन्यथा स्वपरमण्डलवृत्तान्तादर्शनादन्धस्येवास्वलम्बस्य विनिपातः पदे पदे इति भावः । दूतः सन्देशहरः । ‘स्यात्सन्देशहरो दूतः’ इत्यमरः । स एव मुखं वाग्यस्यासौ दूतमुखः । अन्यथा मूकस्येव वाग्व्यवहारासिद्धौ तत्साध्यासाध्यकार्यप्रतिबन्धः स्यादिति भावः । एवम्भूतः पार्थिवः कोऽपि पुरुषः अन्य एवायं लोकविलक्षणः पुमानित्यर्थः । अतो राज्ञा बुद्ध्यादिसम्पन्नेन भवितव्यम् । एतदेवाप्रमत्तत्वम् । अन्यथा स्वरूपहानिः स्यादिति भावः । अत्र कोऽपीति राज्ञो लोकसम्बन्धेऽपि तदसम्बन्धोक्त्या तद्रूपातिशयोक्तिः । सा च बुद्धिशस्त्र इत्यादिरूपकनिर्व्यूढेति तेन सहाङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः ॥ ८२ ॥

चतुर्थोपायसाध्य इत्यादिना यत् क्षात्रमेव कर्त्तव्यमुक्तं, तत्रोत्तरमाह—

तेजः क्षमा वा नैकान्तं कालज्ञस्य महीपतेः ।
नैकमोजः प्रसादो वा रसभावविदः कवेः ॥ ८३ ॥

तेज इति । कालं जानातीति कालज्ञः तस्य अयं काल इति विदुष इत्यर्थः । “आतोऽनुपसर्गे कः” न तु “इगुपध” इत्यादिना कविधिः, समासे कर्मोपपदस्यैव बलवत्त्वभाषणात् । तस्य महीपतेस्तेजः क्षात्रमेवेति वा क्षमैव वा एकान्तं नियमो नास्ति । किन्तु यथाकालमुभयमप्याश्रयणीयमित्यर्थः । तथा हि । रसान् शृङ्गारादीन् भावान् निर्वेदादींश्च वेत्ति यस्तस्य रसभावविदः । भावग्रहणं सम्पातायातम् । कवेः कवितुरेकं केवलमोजः प्रौढप्रबन्धत्वं वा एकः प्रसादः सुकुमारप्रबन्धत्वं वा न, किं तु तत्र हि रसानुगुण्येन यथायोग्यमुभयमप्युपादेयम् । दृष्टान्तालङ्कारः ॥ ८३ ॥

यदुक्तम् ' क्रियासमभिहारेण विराध्यन्त क्षमेत क ' इति तत्रोत्तरमाह-

कृताप¹चारोऽपि परैरनाविष्कृतविक्रियः ।
असाध्यः कुरुते कोपं प्राप्ते काले गदो यथा ॥ ८४ ॥

कृतापचार इति । परै· शत्रुभि कृत· अपचारोऽपथ्य च यस्य सः तथापि अनाविष्कृतविक्रिय· अन्तर्गूढविकारः अत एवासाध्योऽप्रतिसमाधेय सन् गदो यथा रोग इव । 'इववद्वा यथाशब्दः' इति दण्डी । काले बलक्षयावसरे प्राप्ते सति कोप कुरुते प्रकुप्यतीत्यर्थः । तदुक्तम् । 'वहेदमित्र स्कन्धेन यावत्कालविपर्यय । तमेव चागते काले भिन्द्याद्घटमिवाश्मना' इति ॥ ८४ ॥

इतश्च क्षन्तव्यमिदानीमित्याह-

मृदुव्यवहितं तेजो भोक्तुमर्थान्प्रकल्पते ।
प्रदीपः स्नेहमादत्ते दशयाभ्यन्तरस्थया ॥ ८५ ॥

मृद्विति । मृदुना मृदुवस्तुना व्यवहितमन्तर्हित तेज अर्थान् भोक्तु प्रकल्पते प्रभवति । तथाहि प्रदीपोऽभ्यन्तरस्थया मध्यस्थया दशया वर्त्या । 'दशा वर्तावस्थाया स्नेहस्तैलादिके रसे' । इति विश्वः । स्नेह तैलादिकमर्थमादत्ते । अन्यथा स्वयमेव निर्वायादिति । ततः क्षान्तिपूर्वमेव क्षात्र फलतीति सर्वथा प्रथम क्षन्तव्यमिति भाव. । विशेषणसामान्यसमर्थनादर्थान्तरन्यासः ॥ ८५ ॥

तर्हि पौरुष माभून्नित्य, क्षममाणस्य दैवमेव श्रेयो विधास्यतीत्याशङ्क्याह-

नालम्बते दैष्टिकतां न निषीदति पौरुषे ।
शब्दार्थौ सत्कविरिव द्वयं विद्वानपेक्षते ॥ ८६ ॥

नालम्बत इति । विद्वानभिज्ञ दिष्टे मतिर्यस्येति दैष्टिक । दैवप्रमाणक इत्यर्थ । ' दैव दिष्ट भागधेयम् ' इत्यमरः । "अस्ति नास्ति दिष्ट मति " इति ठक् । तद्भाव दैष्टिकतामेव नालम्बते । सर्वथा यद्भविष्यस्य विनाशादिति भाव । तथा पौरुषे केवलपुरुषकारेऽपि । युवादित्वादण्प्रत्यय. । न निषीदति न तिष्ठति । दैवप्रातिकूल्ये तस्य वैफल्यादिति भाव । किन्तु सत्कवि· सत्कविता शब्दार्थाविव । तयो काव्यशरीरत्वादिति भाव· । यथाह वामनः । 'अदोषौ सगुणौ सालङ्कारौ शब्दार्थौ काव्यम् ' इति द्वय पौरुष दैव चापेक्षते अतः पौरुषमप्यावश्यक, किन्तु काले कर्तव्यमिति विशेष· पौरुषादृष्टयो परस्परसापेक्षत्वादिति भावः ॥ ८६ ॥

अथ क्षान्तेः फलमाह-

स्थायिनोऽर्थे प्रवर्त्तन्ते भावाः सञ्चारिणो यथा ।
रसस्यैकस्य भूयांसस्तथा नेतुर्महीभृतः ॥ ८७ ॥

---

१ कृतापराधोऽपि इति वा पाठ ।

स्थायिन इति । रस्यते स्वाद्यते इति रसः शृङ्गारादि 'रसते स्वादनार्थत्वाद्रसन्त इति ते रसाः' इति निर्वचनात् । तस्य रसस्य रसीभवतः स्थायिभावस्य 'रत्यादेः' । 'रतिर्हा-सश्च क्रोधश्च शोकोत्साहभयानि च । जुगुप्साविस्मयशमाः स्थायिभावाः प्रकीर्तिताः' ॥ इत्युक्त-त्वात् एकस्यैवार्थे स्वादुभावरूपे प्रयोजने भूयांसः सञ्चारिणो व्यभिचारिणो भावा निर्वेदादयः । विभावादीनामुपलक्षणमेतत् । यथा प्रवर्त्तन्ते तदुक्तम् 'विभावैरनुभावैश्च सात्त्विकैर्व्यभिचारिभिः । आनीयमानः स्वादुत्वं स्थायिभावो रसः स्मृतः' इति । तथा स्थायिनः स्थिरस्य क्षान्त्या । कालं प्रतीक्षमाणस्येत्यर्थः । एकस्यैव नेतुर्विजिगीषोर्नायकस्यार्थे प्रयोजने भूयांसो महीभृतो राजानः प्रवर्त्तन्ते । स्वमेवास्य कार्यं साधयन्तीत्यर्थः । ततः क्षन्तव्यमिति भावः । केचित्तु भाव-पदस्यापि रसपरत्वमाश्रित्य यथा सञ्चारिणः प्रसङ्गादागन्तुकाः अन्ये रसाः स्थायिनः स्थिरस्यैकस्य मुख्यस्यार्थे प्रवर्त्तन्ते । यथास्मिन्नेव काव्ये वीरस्य शृङ्गारादय इति व्याचक्षते । उपमालङ्कारः ॥ ८७ ॥

क्षान्तिपक्ष एव गुणान्तरमाह-

> तन्त्रावापविदा योगैर्मण्डलान्यधितिष्ठता ।
> सुनिग्रहा नरेन्द्रेण फणीन्द्रा इव शत्रवः ॥ ८८ ॥

तन्त्रेति । तन्त्रावापौ स्वपरराष्ट्रचिन्तनम् अन्यत्र तन्त्रावापौ शास्त्रौषधप्रयोगं च वेत्ति यस्तेन तन्त्रावापविदा । 'तन्त्रं स्वराष्ट्रचिन्तायामावापः परचिन्तने । शास्त्रप्रधानतमुख्येषु तन्त्रम्' इति वैजयन्ती । योगैः सामाद्युपायैः अन्यत्र देवताध्यानैश्च । 'योगः सन्नहनोपायध्यानसङ्गतियु-क्तिषु' इत्यमरः । मण्डलानि स्वपरराष्ट्राणि माहेन्द्रादिदेवतायतनानि च । अधितिष्ठता अनिक्र-मता नरेन्द्रेण राज्ञा विषवैद्येन च । 'नरेन्द्रो वार्तिके राज्ञि विषवैद्ये च कथ्यते' । इति विश्वः । शत्रव फणीन्द्रा इव सुनिग्रहाः सुखेन निग्राह्या एव च प्रकृताप्रकृतविषयः श्लेषः । उपमेति केचित् ॥ ८८ ॥

प्रज्ञोत्साहावतः स्वामीत्यत्रैव तावत् प्रभुशक्तेर्मूलमित्युक्तं तदेव व्यनक्ति-

> करप्रचयोत्तुङ्गः प्रभुशक्तिं प्रथीयसीम् ।
> प्रज्ञाबलबृहन्मूलः फलत्युत्साहपादपः ॥ ८९ ॥

करेति । उत्तुङ्गो महोन्नतः प्रज्ञाबलं मन्त्रशक्तिरेव बृहत्प्रधानं मूलं यस्य सः, उत्साह एव पादपः करेण बलिना प्रचेया वर्धनीया हस्तग्राह्या च । 'बलिहस्तांशवः कराः' इत्यमरः । प्रथी-यसीं पृथुतराम् । 'रऋतो हलादेर्लघोः' इति रेफादेशः । प्रभुशक्तिं तेजोविशेषम् । 'स प्रतापः प्रभावश्च यत्तेजः कोषदण्डजम्' इत्यमरः । फलति प्रसूते इत्यर्थः । 'फलनिष्पत्तौ' मन्त्रपूर्वक एवोत्साहः स्यात् । विपरीतस्तु छिन्नमूलो वृक्ष इव शुष्यतीति भावः । रूपकालङ्कारः ॥ ८९ ॥

विमृष्यकारिणस्तु, विश्वमपि विधेयं स्यादिति त्रयेणाह—

अनल्पत्वात्प्रधानत्वाद्वंशस्येवेतरे स्वराः ।
विजिगीषोर्नृपतयः प्रयान्ति परिवारताम् ॥ ९० ॥

अनल्पत्वादिति । अनल्पत्वात्प्रज्ञोत्साहाधिकत्वादत एव प्रधानत्वान्मण्डलाभिज्ञत्वादन्यत्रानल्पत्वादुच्चैस्तरत्वात् प्रधानत्वान्नायकस्वरत्वाच्च वशस्य वशवाद्यस्वरस्य इतरे स्वराः वीणागानादिशब्दा इव । अथवा आश्रयत्वाद्वंश इव वशस्तत्कालविहितः स्वर उच्यते तस्य स्वरस्येतराः षड्जादयः विजिगीषोर्नृपतयः अन्ये मण्डलपरिवर्तिनो राजानः परिवारता पोष्यता प्रयान्ति तत्कार्यमेव साधयन्तीत्यर्थः । तस्माद्विमृश्य कर्त्तव्यमित्यर्थः ॥ ९० ॥

अप्यनारभमाणस्य विभोरुत्पादिताः परैः ।
व्रजन्ति गुणतामर्थाः शब्दा इव विहायसः ॥ ९१ ॥

अपीति । किञ्च अनारभमाणस्य स्वयमकिञ्चित्कुर्वाणस्यापि विभोः प्रभो व्यापकस्य च परैरन्यैर्नृपतिभि शङ्खभेर्यादिभिश्च उत्पादिताः सम्पादिता जनिताश्चार्था प्रयोजनानि विहायसः आकाशस्य शब्दा इव गुणता विशेषणता कारणत्वाद् गुणत्वं व्रजन्ति।शक्तो हि राजा स्वयम् उदासीन एवाकाशवत् स्वमहिम्नैव कार्यदेशं व्याप्नुवन् शब्दानिव सर्वार्थानपि स्वकीयता नयतीत्यर्थः । 'गुणस्त्वावृत्तिशब्दादिज्येन्द्रियामुख्यतन्तुषु ' इति वैजयन्ती ॥ ९१ ॥

यातव्यपार्ष्णिग्राहादिमालायामधिकद्युतिः ।
एकार्थतन्तुप्रोतायां नायको नायकायते ॥ ९२ ॥

यातव्येति । किञ्च एकार्थ एकप्रयोजन स एव तन्तु. सूत्रं तत्र प्रोतायाम् एकाभीष्टाभिलाषिण्यामित्यर्थः । प्रपूर्वाद्वेञ कर्मणि क्त "वचिस्वपि " इत्यादिना सम्प्रसारणम् । यातव्योऽभिषेणयितव्यः अरि पार्ष्णि गृह्णातीति पार्ष्णिग्राह पृष्ठानुधावी । "कर्मण्यण् " । तावादी येषा ते पूर्वोक्ताः पङ्क्तिश स्थिता त एव माला रत्नमालिका तस्यामधिकद्युतिर्महातेजाः नायक शक्तिसम्पन्नो जिगीषुर्नायकायते मध्यमणिरिवाचरति । स्वयमेव सर्वोत्कर्षेण वर्तते इत्यर्थः । तस्माद्विमृष्य कर्तव्यमिति भाव । 'नायको नेतरि श्रेष्ठे हारमध्यमणावपि' इति विश्व । "उपमानादाचारे" इति क्यच् । "अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः" इति दीर्घ । नायकायते इत्युपमा, अन्यथानुशासनविरोधात्। एकार्थतन्त्वित्यत्र तु रूपकमधिष्ठानतिरोधानेन आरोप्यमाणतन्तुत्वस्यैवोद्भटत्वात् प्रोतत्वसिद्धेस्त देव युक्तम् । तद्बलात्पार्ष्णिग्राहादिमालायामित्यत्रापि रूपकमेव । तदनुप्राणिता चेयमुपमेत्यङ्गाङ्गिभावेन तयोः सङ्कर. ॥ ९२ ॥

अथ विमृष्यकरणप्रकारमाह—

षाड्गुण्यमुपयुञ्जीत शक्त्यपेक्षो रसायनम् ।
भवन्त्यस्यैवमङ्गानि स्थास्नूनि बलवन्ति च ॥ ९३ ॥

षाड्गुण्यमिति । शक्ति प्रभावादित्रय बल चापेक्षते इति शक्त्यपेक्ष सन् । पचाद्यच् । 'शक्तिर्बले प्रभावादौ' इति विश्वः । षड्गुणा एव षाड्गुण्य सन्धिविग्रहादि षट्कम् । चातुर्वर्ण्यादित्वात् स्वार्थे ष्यञ् प्रत्यय । तदेव रसायनमौषधविशेषमुपयुञ्जीत सेवेत । 'रसायनं विहङ्गेऽपि जराव्याधिभिदौषधे' इति विश्व' । एव सत्यस्य प्रयोक्तुरङ्गानि स्वाम्यादीनि गात्राणि च स्थास्नूनि स्थिराणि कालान्तरक्षमाणीत्यर्थ । "ग्लाजिस्थश्च ग्स्नु" इति ग्स्नु । बलवन्ति च परपीडाक्षमाणि च भवन्ति श्लिष्टपरम्परितरूपकम् ॥ ९३ ॥

स्थाने शमवतां शक्त्या व्यायामे वृद्धिरङ्गिनाम् ।
अयथाबलमारम्भो निदानं क्षयसम्पदः ॥ ॥ ९४ ॥

स्थाने इति । किञ्च स्थाने शक्यविषये शमवता क्षमावतामङ्गिना सप्ताङ्गिना राज्ञा शरीरिणां च शक्त्या प्रभावाद्यनुसारेण बलेन च व्यायामे व्यापारे षाड्गुण्यप्रयोगे गमनादौ च सतीत्यर्थ । वृद्धिरुपचय राज्यस्य शरीरस्य चेतिभाव' । विपक्षे बाधकमाह । अयथाबल शक्त्यतिक्रमेण । "यथा सादृश्ये" इत्यव्ययीभावे नञ्समास । आरम्भोव्यायाम क्षयसम्पदोऽत्यन्तहानेर्निदानम् आदिकारणम् । अङ्गानामिति भाव' । तस्मादस्माकमस्त्स्थैर्यास्कन्दनमश्रेयस्करमिति भाव । अत्र विशेषस्यापि श्लिष्टत्वात् शब्दशक्तिमूलो वस्तुना वस्तुध्वनि । अतो द्वयानामङ्गिनामौपम्य च गम्यते इति सक्षेप ॥ ९४ ॥

फलितमाह--

तदीशितारं चेदीनां भवांस्तमवमंस्त मा ।
निहन्त्यरीनेकपदे य उदात्तः स्वरानिव ॥ ९५ ॥

तदिति । तस्मादशक्यार्थाकार्यत्वात्त चेदीनामीशितार शिशुपाल भवान् नावमन्त नावमन्यस्व । मन्यते "माङि लुङ्" अनुदात्तत्वान्नेडागम कृत । यश्चैद्यः उदात्त स्वरान् अनुदात्तानिवारीनेकपदे एकस्मिन्पदन्यासे सुप्तिङन्तलक्षणे च निहन्ति हिनस्ति नीचैः करोति च । अतिशूरत्वात् । अनुदात्त पदमेकवर्जमिति परिभाषावलाचेति भाव ॥ ९५ ॥

न चायमेकाकी किं नःकरिष्यतीति मन्तव्यमित्याह--

मा वेदि यदसावेको जेतव्यश्चेदिराडिति ।
राजयक्ष्मेव रोगाणां समूहः स महीभृताम् ॥ ९६ ॥

मावेदीति । असौ चेदिराट् एकः एकाकी अतो जेतव्य सुजय इति मावेदि मा ज्ञायि । वेत्ते कर्मणि 'माङि लुङ्" । यद्यस्मात्स चेदिराट् राज्ञश्चन्द्रस्य यक्ष्मा राजा चासौ यक्ष्मेति वा राजयक्ष्मा क्षयरोगो रोगाणामिव महीभृता समूह समष्टिरूपः । तथाह वाग्भटः 'अनेकरोगानुगतो बहुरोगपुर सर । राजयक्ष्मा क्षय शोषो रोगराडिति च स्मृत. ॥ नक्षत्राणा द्विजाना

च राज्ञोऽभूद्यदय पुरा । यच्च राजा च यक्ष्मा च राजयक्ष्मा ततो मत' ' इति । अतो दुर्जेय इति भाव । एतेन 'चिरय मित्रव्यसनी सुदमो दमघोषज'' इति निरस्तम् ॥ ९६ ॥

अथास्य सर्वराजसमष्टितामेव द्वाभ्या व्याचष्टे—

सम्पादितफलस्तेन सपक्षः परभेदनः ।
कार्मुकेणेव गुणिना बाणः सन्धानमेष्यति ॥ ९७ ॥

सम्पादितेति । सम्पादित फल लाभो बाणाग्र च यस्य सः । ' फल लाभशराग्रयोः' इति शाश्वतः । सपक्षः ससुहृत्कङ्कादिपत्रयुतश्च परेषा भेदक शत्रुविदारण बाणो बाणासुरः, शरश्च । गुणिना शौर्यादिगुणवता, अविज्येन च तेन चैद्येन कर्मणे प्रभवतीति कार्मुकम् । ''कर्मण उकञ् '' । तेनैव सन्धान सन्धिमेष्यति अतो नैकाकीति भाव । अत्रा'युपमा श्लेषो वा मनभेदात् ॥ ९७ ॥

य चान्ये कालयवनशाल्वरुक्मिद्रुमादयः ।
तमःस्वभावास्तेऽप्येनं प्रदोषमनुयायिनः ॥ ९८ ॥

ये चेति । ये चान्ये कालयवनशाल्वरुक्मिद्रुमादयो राजानस्तम स्वभावा. तमे गुणात्मका' अत एव तेऽपि प्रदोप प्रकृष्टदोपम् । 'प्रदोपो दुष्टरात्र्यगे' इति वैजयन्ती । तामसमेवैन चैद्यमनुयायिन अनुयास्यन्ति । सादृश्यादिति भाव । ''भविष्यति गम्यादय' '' इति णिनिर्भविष्यदर्थे, ' 'अकेनोर्भविष्यदाधमर्ण्ययो' '' इति षष्ठीप्रतिषेधात् द्वितीया । यथा ध्वान्त रजनीमुखमनुयाति तद्वत् इति वस्तुना अलङ्कारध्वनि. ॥ ९८ ॥

ननु बाणादयोऽस्माभि. कृतसन्धाना इदानीं न विराध्यन्तीत्यत आह—

उपजापः कृतस्तेन तानाकोपवतस्त्वयि ।
आशु दीपयिताल्पोऽपि साग्नीनेधानिवानिलः ॥ ९९ ॥

उपेति । तेन चैद्येन कृतोऽल्पोऽपि उपजापो भेद । ' भेदोपजापौ ' इत्यमरः । त्वय्याकोपवतस्तान् बाणादीन् अनिलः साग्नीनेधानिन्धनानीव । 'काष्ठ दार्विन्धनं त्वेध इध्ममेध' समित् स्त्रियाम्' इत्यमर. । आशु दीपयिता सद्य प्रज्वलयिष्यति । दीपेर्ण्यन्ताल्लुट् । अन्तर्वैराः महिता आपदि सति रन्ध्रे सद्यो विश्लिष्यन्तीति भाव ॥ ९९ ॥

ततः किमत आह—

बृहत्सहायः कार्यान्तं क्षोदीयानपि गच्छति ।
सम्भूयाम्भोधिमभ्येति महानद्या नगापगा ॥ १०० ॥

बृहदिति । बृहत्सहायो महासहायवान् क्षोदीयान् क्षुद्रतरोऽपि । '' स्थूलदूर '' इत्यादिना यणादिपरलोप पूर्वगुणश्च । कार्यस्यान्तं पार गच्छति । तथा हि । अपा समूह आपम् ।

" तस्य समूह " इत्यण् । तेन गच्छतीत्यापगा नगापगा गिरिनदी महानद्या गङ्गादिकया सम्भूय मिलित्वा अम्भोधिमभ्येति । क्षुद्रोऽप्येवं तादृक् महावीरश्चैद्यस्तु किमु वक्तव्य इत्यपिशब्दार्थ । विशेषेण सामान्यसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यास' ॥ १०० ॥

किञ्च न केवलं शत्रोरसाध्यत्वं मित्रविरोधश्चाधिकोऽनर्थकर इत्याह द्वयेन-

तस्य मित्राण्यमित्रास्ते ये च ये चोभये नृपाः ।
अभियुक्तं त्वयैनं ते गन्तारस्त्वामतः परे ॥ १०१ ॥

तस्येत्यादि । ये च तस्य चैद्यस्य मित्राणि नृपाः ये च ते तवामित्रा नृपा ते उभये त्वयाभियुक्तमभियातमेन चैद्यं गन्तारो गमिष्यन्ति । गमे. कर्तरि लुट् । अतः परे उक्तोभयव्यतिरिक्तास्तव मित्राणि तवामित्राश्चेत्यर्थ. । त्वा गन्तार. । इति मध्यमणिन्यायेनोभयत्राप्यभिसन्धिः ॥ १०१ ॥

तत किमत आह-

मखविघ्नाय सकलमित्थमुत्थाप्य राजकम् ।
हन्त जातमजातारेः प्रथमेन त्वयारिणा ॥ १०२ ॥

मखेति । इत्थमनेन प्रकारेण । " इदमस्थमु " इति थमुप्रत्यय. । मखविघ्नाय मखविघाताय सकल राजकं राजसमूहम् । "गोत्रोक्ष" इत्यादिना वुञ् । उत्थाप्य क्षोभयित्वा हन्त इति खेदे । अजातारेः अजातशत्रोर्युधिष्ठिरस्य त्वया प्रथमेनारिणा जातमजनि । नपुंसके भावे क्त ॥ १०२ ॥

अस्तु सोऽपि शत्रुः, को दोषस्तत्राह-

सम्भाव्य त्वामतिभरक्षमस्कन्ध स बान्धवः ।
सहायमध्वरधुरां धर्मराजो विवक्षते ॥ १०३ ॥

सम्भाव्येति । बन्धुरेव बान्धव स धर्मराज. अतिभरस्य क्षम' स्कन्धो यस्य स त त्वा सहाय सम्भाव्याभिसन्धाय अध्वरस्य धुरमध्वरधुराम् । "ऋक्पूर" इत्यादिना समासान्तोऽच्प्रत्ययः । समासान्तानां प्रकृतिलिङ्गत्वात्तत्पुरुषे परवल्लिङ्गत्वे टाप् । विवक्षते वोढुमिच्छति । वहते स्वरितेत । सन्नन्ताल्लट् । तथा हि । विरोधे विश्वासघातो बन्धुद्रोहश्च स्यातामिति भावः ॥ १०३ ॥

ननु प्रतिश्रुत्याकरणे दोषः प्रागेव परिहारे तु को दोष इत्यत आह-

महात्मानोऽनुगृह्णन्ति भजमानान् रिपूनपि ।
सपत्नीः प्रापयन्त्यब्धिं सिन्धवो नगनिम्नगाः ॥ १०४ ॥

महात्मान इति । महात्मानो भजमानान् शरणागतान् रिपूनप्यनुगृह्णन्ति । किमुत बन्धूनिति भावः । अर्थान्तरं न्यस्यति- । सिन्धवो महानद्यः समान एकः पतिर्यासां ताः सपत्नीः । 'नित्यं सपत्न्यादिषु" इति ङीप् नकारश्च निपातित । नगनिम्नगाः गिरिनिर्झरिणीः अब्धिं गापयन्ति । स्वसौभाग्यं ताभ्यः प्रयच्छन्तीति भावः । अत' परिहारोऽप्यनर्थ इति भाव.॥ १०४॥

तर्हि सम्प्रत्युपेक्षायामपि पश्चात्प्रार्थनया पार्थमार्जवयेयमित्यत आह-

चिरादपि बलात्कारो बलिनः सिद्धयेऽरिषु ।
छन्दानुवृत्तिदुस्साध्याः सुहृदो विमनीकृताः ॥ १०५ ॥

चिरादिति । बलिनः स्वयं बलवतोऽप्यरिषु विषये बलात्कारो दण्ड. चिराच्चिरकालेनापि सद्यो मा भूदिति भावः । सिद्धये वशंवदत्वसिद्धये भवतीति शेष । अविमनसो विमनस. सम्पद्यमाना कृता विमनीकृताः वैमनस्यं प्रापिता इत्यर्थ. । "अरुर्मनश्चक्षुश्चेतोरहोरजसा लोपश्च" इति च्विप्रत्ययसलोपौ "अस्य च्वौ" इतीकार' । शोभनं हृदयं येषां ते सुहृदो मित्राणि तु । "सुहृद्दुर्हृदौ मित्रामित्रयोः" इति निपात । छन्दस्याभिप्रायस्यानुवृत्त्या चित्तानुरोधेनापि दु'साध्याः । आर्जवयितुमशक्या इत्यर्थ' । 'अभिप्रायश्छन्द आशयः' इत्यमरः । शत्रै. शत्रुर्दण्डेनापि वशो भवति, मित्रं वैमनस्येन साम्नापि इति भाव ॥ १०५ ॥

ननु सुहृत्कार्यात् सुरकार्यं बलीय इत्यत्राह-

मन्यसेऽरिवधः श्रेयान्प्रीतये नाकिनामिति ।
पुरोडाशभुजामिष्टमिष्टं कर्तुमलन्तराम् ॥ १०६ ॥

मन्यसे इति । नाकिना देवानां प्रीतयेऽरिवध' श्रेयान् प्रशस्ततरः । "प्रशस्यस्य श्र." इति श्रादेश' । इति मन्यसे चेत् तर्हि पुरोडाशभुजा हविर्भोजिनाम् अत एव नाकिनामिष्टमभीप्सितं कर्तुम् । इषे कर्मणि क्त । इष्टम् इष्टि. याग इति यावत् । यजेर्भावे क्तः "वचिस्वपि" इत्यादिना सम्प्रसारणम् । अलन्तरामतिपर्याप्तम् । अव्ययात्तरप्प्रत्यय आम्वागमश्च । शत्रुवधादतिप्रियकरो याग एव नाकिना भुक्त्वापि शत्रुवधस्य सुकरत्वादिति भाव ॥ १०६ ॥

तथापि अमृताशिना तेषा देवाना किमेभि पिष्टभक्षणप्रलोभनैरत आह-

अमृतं नाम यत्सन्तो मन्त्रजिह्वेषु जुह्वति ।
शोभैव मन्दरक्षुब्धक्षुभिताम्भोधिवर्णना ॥ १०७ ॥

अमृतमिति । अमृतं नाम सन्तो विद्वांसः मन्त्रा एव जिह्वा येषां तेषु मन्त्रजिह्वेष्वग्निषु । 'मन्त्रजिह्वः सप्तजिह्वः हुजिह्वो हव्यवाहनः ' इति वैजयन्ती । यत्पुरोडाशादिकं जुह्वति तदेवेति शेप । यत्तदोर्नित्यसम्बन्धात् । मन्दर एव क्षुब्धो मन्थनदण्डः । "क्षुब्धध्वान्त" इत्यादिनास्मिन्नर्थे निपातनात्सिद्धम्, तेन क्षुभितस्य मथितस्य अम्भोधेर्वर्णना शोभैव अलङ्कार एव ।

अब्धिमन्थनेनाहृतमुत्पादितमिति । यत्तत्कीर्तिमात्रम् अतो हुतमेवामृतमिति भावः । वाक्यार्थस्याहेतुहेतुमद्भावाद्वाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कारः ॥ १०७ ॥

यात्रायाः प्रतिबन्धं कश्चिदुदुन्नरस्तवाम्नीत्याह—

सहिष्ये शतमागांसि सूनोस्त इति यत्त्वया ।
प्रतीक्ष्यं तत्प्रतीक्ष्यायै पितृष्वस्रे प्रतिश्रुतम् ॥ १०८ ॥

सहिष्य इति । प्रतीक्ष्यायै पूज्यायै 'पूज्यः प्रतीक्ष्यः' इत्यमरः । पितृष्वस्रे पितृभगिन्यै । "विभाषा स्वसृपत्योः" इति विकल्पादलुगभावः । "मातृपितृभ्यां स्वसा" इति षत्वम् । ते तव सूनोः शतमागांस्यपराधान् । 'आगोऽपराधो मन्तुश्च' इत्यमरः । सहिष्ये सोढाहे इति यत्त्वया प्रतिश्रुतं प्रतिज्ञातं तत्प्रतीक्ष्यं प्रतिपालनीयम् । अन्यथा महादोषस्मरणादिति भावः ॥ १०८ ॥

सत्यमस्ति प्रतिश्रुतम् किन्त्वस्योन्मत्तवदौद्धत्यात्तदपि जिहासितमत आह-

तीक्ष्णा नारुन्तुदा बुद्धिः कर्म शान्तं प्रतापवत् ।
नोपतापि मनः सोष्म वागेका वाग्मिनः सतः ॥ १०९ ॥

तीक्ष्णेति । सतः सत्पुरुषस्य बुद्धिस्तीक्ष्णा निशिता स्यात् इति क्रियाध्याहारः । एव-मुत्तरत्रापि तथाप्यरुन्तुदतीत्यरुन्तुदा शस्त्रवन्मर्मच्छेदिनी न भवेत् । अहिंसयैव परं पीडयेदि-त्यर्थः । कर्म व्यापारः प्रतापवत् तेजस्वि भवद् स्यात् तथापि शान्तं स्यात् । न तु सिंहादि-वत् हिंस्रं भवेदित्यर्थः । मनश्चित्तं सोष्म अभिमानोष्ण स्यात्तथापि उपतापयतीत्युपतापि अग्न्या-दिवत् परसन्तापि न स्यात् । वाग्मिनः वक्तुः वागेका एकरूपा स्यात् । वाग्मी सत्यमेव वदेदि-त्यर्थः । अतः सत्यसन्धस्य प्रतिश्रुतार्थहानिरनर्हेति भावः । अत्र प्रकृताया वाचोऽप्रकृतानां बुद्धिकर्ममनसां च तुल्यधर्मादौपम्यावगमाद्दीपकालङ्कारः । प्रकृताप्रकृतानां च साम्ये तु तुल्य-धर्मतः । औपम्यं गम्यते यत्र दीपकं तन्निगद्यते ॥' इति लक्षणात् । बुद्ध्यादीनां शस्त्रादिव्य-तिरेको व्यज्यते ॥ १०९ ॥

अगत्याश्चाकाले चैद्यवध इत्याह—

स्वयंकृतप्रसादस्य तस्याह्नो भानुमानिव ।
समयावधिमप्राप्य नान्तायालं भवानपि ॥ ११० ॥

स्वयमिति । किंच अह्नो भानुमानिव स्वयं कृतः प्रसादोऽनुग्रहः प्रकाशश्च यस्य तस्य चैद्यस्यान्ताय समयावधिं नियतकालावसानम् अप्राप्य भवानपि नालं शक्तो न । तथा च वृथाप-कीर्तिरेवान्यन्न किञ्चित् फलं स्यादिति ॥ ११० ॥

तर्हि किमयमुपेक्ष्य एव नेत्याह—

कृत्वा कृत्यविदस्तीर्थेष्वन्तःप्रणिधयः पदम् ।
विदाङ्कुर्वन्तु महतस्तलं विद्विषदम्भसः ॥ १११ ॥ ३ ॥

कृत्वेति । किन्तु कृत्यविद कार्यज्ञा विधिज्ञाश्च प्रणिधीयन्त इति प्रणिधयो गूढचारिण । 'प्रणिधिर्गूढपूरुष' ' इति हलायुध. । तरन्त्येभिरिति तीर्थानि मन्त्राद्यष्टादशस्थानानि जलावतारश्च । 'योनौ जलावतारे च मन्त्राद्यष्टादशस्वपि । पुण्यक्षेत्रे तथा पात्रे तीर्थ स्यात्' इति हलायुध. । तेष्वन्त पद स्थान पादप्रक्षेप च कृत्वा महतो दुरवगाहस्य पूज्यस्य च विद्विषन् शत्रुरेवाम्भ तस्य तल स्वरूप प्रमाणमिति यावत् । 'अथ स्वरूपयोरस्त्री तलम्' इत्यमरः । विदाकुर्वन्तु विदन्तु "विद् ज्ञाने" लोट् "विदाकुर्वन्त्वित्यन्यतरस्याम्" इति विकल्पादाम्प्रत्ययनिपात' । अम्भस इव शत्रोः कृततीर्थस्य सुप्रवेशत्वात् प्रागन्त. प्रविश्य परीक्ष्य इत्यर्थ । श्लिष्टपरम्परितरूपकम् ॥ १११ ॥

आवश्यक चैतदित्याह—

अनुत्सूत्रपदन्यासा सद्वृत्तिः सन्निबन्धना ।
शब्दविद्येव नो भाति राजनीतिरपस्पशा ॥ ११२ ॥

अनुदिति । उत्सूत्र उच्छास्त्रो नीतिशास्त्रविरुद्धः पदन्यास एकपदप्रक्षेपोऽपि । स्वल्प व्यवहारोऽपीति यावत् । स नास्ति यस्या साऽनुत्सूत्रपदन्यासा नीतिपूर्वकसर्वव्यवहारेत्यर्थ. । अन्यत्रानुत्सूत्रपदन्यासा अनुत्सृष्टसूत्राक्षरदृष्टयुपसङ्ख्यानानपेक्ष्येण सूत्राक्षरैरेव सर्वार्थप्रतिपादको न्यासो वृत्तिर्व्याख्यानग्रन्थविशेषो यस्या सा तथोक्ता तथा सती यथार्थ कल्पनया शोभना वृत्तिर्भृत्यामात्यादीनामाजीविका यस्या सा । सद्वृत्ति । अन्यत्र सती वृत्ति काशिकाख्यसूत्रव्याख्यानग्रन्थविशेषो यस्या सा ।'वृत्तिर्ग्रन्थजीवनयो.'इति वैजयन्ती।सन्ति निबन्धनानि अनुजीव्यादीना क्रियावसानेषु दत्तानि गोहिरण्यादिशाश्वतपारितोषिकदानानि यस्या सा।एतच्च दत्वा भूमिनिबन्धन चेत्येतद्वचनव्याख्याने मिताक्षराया द्रष्टव्यम्।अन्यत्र सन्निबन्धन भाष्यग्रन्थो यस्या सा एवभूतापि राजनीति राजवृत्तिः अपगत· स्पशः चारो यस्याः सा अपस्पशा चेत् । ' यथार्थवर्णे मन्त्रज्ञः स्पशो हरक उच्यते ' इति हलायुध· । अन्यत्र अविद्यमान. पस्पश. शास्त्रारम्भसमर्थक उपोद्घातसन्दर्भग्रन्थो यस्या सा अपस्पशा शब्दविद्या व्याकरणविद्येव नो भाति न शोभते । तस्माच्चारप्रेषणमावश्यक तद्रहितस्य राज्ञोऽन्धप्रायत्वादिति भाव. । अत्र पस्पशेत्यत्र जतुकाष्ठवच्छब्दयोरेव श्लिष्टत्वाच्छब्दश्लेष. । सद्वृत्तिः सन्निबन्धनेत्यत्रैकवृन्तावलम्बिफलद्वयवदर्थश्लेष । अनुत्सूत्रपदन्यासेत्यत्र तूभयसम्भवादुभयश्लेष । शब्दविद्येवेति पूर्णोपमा व्यक्तैव तयो सापेक्षत्वात्सङ्कर ॥ ११२ ॥

न केवल चारमुखेन वृत्तान्तज्ञानमपि तु उपजापश्च कर्तव्य इत्याह—

अज्ञातदोषैर्दोषज्ञैरुद्दूष्योभयवेतनैः ।
भेद्याः शत्रोरभिव्यक्तशासनैः सामवायिकाः ॥ ११३ ॥

'म· ९

वेति अज्ञातेति । किञ्चाज्ञातदोषैःपरैरज्ञातस्वकर्मभिर्दोषज्ञैः स्वय परमर्मज्ञैः अभिव्यक्तानि दिनास्मिन्ग्रे प्रकटितानि शासनानि तदमात्याद्यविश्वासकराणि । कूटलिखितानि येषा तैः । उभय-

वेतनैः उभयत्र मेघे स्वामिनि च वेतन भृतिर्येषा तैः उभयजीविकाग्राहिभिः मेचनगन्धाम्नव्यै-श्चरैरित्यर्थः। 'भृतयो भर्म वेतनम्' इत्यमरः। शत्रोः सम्बन्धिनः समवाय समवयन्ति इति सामवायिकाः सङ्घमुख्याः सचिवाद्य। "समवायान्समवैति" इति ठक्। उद्दूष्य द्विगामेते दत्तहस्ताः अस्माभिरेषा लिखितान्येव गृहीतानि इत्युच्चैर्दूषयित्वा भेद्याः विघट्टनीया ॥ ११३ ॥

उपेयिवांसि कर्त्तारः पुरीमाजातशात्रवीम् ।
राजन्यकान्युपायज्ञैरेकार्थानि चरैस्तव ॥ ११४ ॥

उपेयिवांसीति। किञ्च उपायज्ञैः कार्यसाधनकुशलैः तत्र चरन्तीति चरैर्गूढचारिभि। पचाद्यच्। एकार्थानि त्वया सहैकप्रयोजनानि। राजन्यानां समूहाः राजन्यकानि। "गोत्रोक्ष" इत्यादिना वुञ्। अजातशत्रोरिमामाजातशात्रवीं पुरीम् इन्द्रप्रस्थमुपेयिवांसि प्राप्नुवन्ति। 'उपेयिवान्' इत्यादिना क्वसुप्रत्ययान्तो निपातः। कर्त्तारः करिष्यन्ते। कृञ कर्मणि लुट्। इन्द्रप्रस्थेऽस्माकं महत्कार्यं भविष्यति। तदध्वरयात्राव्याजेन सन्नद्धैरागन्तव्यमिति गूढं सन्दिश्य तत्र सर्वे मेलयितव्या इत्यर्थः ॥ ११४ ॥

ननु तत्राध्वरकर्मणि को युद्धावकाश इत्याशङ्क्य तत्रैव महत्कलहबीज सम्प्राद्भुयति–

सविशेषं सुते पाण्डोर्भक्तिं भवति तन्वति ।
वैरायितारस्तरलाः स्वयं मत्सरिणः परे ॥ ११५ ॥

सविशेषमिति। पाण्डो सुते युधिष्ठिरे भवति पूज्ये त्वयि सविशेष यथा तथा भक्तिं तन्वति सति तरलाश्चपला मत्सरिणो द्वेषवन्तः परे शत्रवः स्वयमेव वैरायितारः वैरं कर्त्तारः। 'शब्दवैरकलह" इत्यादिना क्यङ् ततः कर्त्तरि लुट् ॥ ११५ ॥

कि तेऽपि सर्वे वैरायिष्यन्ते, नेत्याह–

य इहात्मविदो विपक्षमध्ये सह संवृद्धियुजोऽपि भूभुजः स्युः।
बलिपुष्टकुलादिवान्यपुष्टैः पृथगस्मादचिरेण भाविता तैः ११६

य इति। ये इह विपक्षमध्ये शत्रुमध्ये सह संवृद्धियुजोऽपि चैद्येन सहैश्वर्यं गता अपि। 'सत्सूद्विष" इत्यादिना क्विप्। ये भूभुजो राजानः आत्मविद स्वामिजनवेदिन स्युस्तैर्भूभुग्भि बलिपुष्टकुलात् काककुलात्। 'काके तु करटारिष्टबलिपुष्टसकृत्प्रजा' इत्यमर। अन्यपुष्टै परभृतैरिवाचिरेण सद्योऽस्मात् विपक्षमध्यात् "अन्याराद्" इत्यत्रान्यशब्दस्यार्थपरत्वात् पृथगादिप्रयोगेऽपि पञ्चमी। पृथग्भाविता पृथग्भविष्यते। भावे लुट्। 'चिण्वदिटि वृद्धि" तेष्वपि केचिदस्माभि सङ्गच्छन्ते इत्यर्थ। औपच्छन्दसिकं वृत्तम् ॥ ११६ ॥

अथ फलितं निगमयन्नाशिष प्रयुङ्क्ते–

सहजचापलदोषसमुद्धतश्चलितदुर्बलपक्षपरिग्रहः ।
तव दुरासदवीर्यविभावसौ शलभतां लभतामसुहृद्गणः ११७॥

सहजेति । सहजं स्वाभाविकं चापलं दुर्विनीतत्वम् अनवस्थितत्वं च । 'चपलः पारदे शीघ्रे दुर्विनीतेऽनवस्थिते' इति वैजयन्ती । तेनैव दोषेण समुद्धतो दृप्तः पक्षः सहायो यस्य । 'पक्षः पार्श्वगरुत्साध्यसहायबलभित्तिषु' इति वैजयन्ती । चलितोऽस्थिरो दुर्बलपक्षपरिग्रहो यस्य सः असुहृद्गणः शत्रुवर्गः तव दुरासदवीर्यविभावसौ दुस्सहतेजोवह्नौ । 'वीर्यं शुक्रे प्रभावे च तेजःसामर्थ्ययोरपि । सूर्यवह्नी विभावसू' इति विश्वामरौ । शलभतां पतङ्गत्वम् । 'समौ पतङ्गशलभौ' इत्यमरः "भावे तल" शलभतां गच्छतु । रूपकालङ्कारः । द्रुतविलम्बितं वृत्तम् ॥ ११७ ॥

इति विशकलितार्थामौद्धवीं वाचमेना-
मनुगतनयमार्गामर्गलां दुर्नयस्य ॥
जनितमुदमुदस्थादुच्चकैरुच्छ्रितोर-
स्थलनियतनिषण्णश्रीश्रुतां शुश्रुवान्सः ॥ ११८ ॥

इति श्रीमाघकृतौ शिशुपालवधे महाकाव्ये द्वितीयः सर्गः ॥ २ ॥

इतीति । स हरिः इत्थं विशकलितार्थां विवेचितार्थाम् अनुगतनयमार्गां नीतिमार्गानुसारिणीं दुर्नयस्य बलभद्राद्युक्तस्येत्यर्थः । अर्गला निवारयित्रीम् । इति वैधर्म्यरूपकालङ्कारः । 'तद्विष्कम्भोऽर्गलं न ना' इत्यमरः । अत एव जनितमुदं हरेः कृतानन्दाम् उच्छ्रिते उन्नते उरःस्थले नियतं निषण्णया अविश्रान्तमाश्रितया श्रिया श्रुताम् । नान्ययेति मन्त्रगुप्तिः । उद्धवस्येमामौद्धवीम् एनां पूर्वोक्तां वाचं शुश्रुवान् श्रुतवान् । "भाषायां सदवसश्रुवः" इति क्वसुः । उच्चैरेवोच्चकैरुन्नतः सन् । "अव्ययसर्वनाम्नामकच् प्राक् टेः" इत्यकच् प्रत्ययः । उदस्थादासनादुत्थितवान् । "उदोऽनूर्ध्वकर्मणि" इत्यस्य प्रत्युदाहरणमेतत् । रूपकानुप्रासालङ्कारौ । मालिनी वृत्तम् ॥ ११८ ॥

इति श्रीमल्लिनाथसूरिविरचिते माघकाव्यव्याख्याने सर्वङ्कषाख्ये द्वितीयः सर्गः ॥ २ ॥

तृतीयः सर्गः ।

कौबेरदिग्भागमपास्य मार्गमागस्त्यमुष्णांशुरिवावतीर्णः ।
अपेतयुद्धाभिनिवेशसौम्यो हरिर्हरिप्रस्थमथ प्रतस्थे ॥ १ ॥

कौबेरेति । अथोद्धववाक्यश्रवणानन्तरम् । अपेतो युद्धे अभिनिवेश आग्रहो यस्य सः । शान्तक्रोध इत्यर्थः । अत एव सौम्यः प्रसन्नः अतः एव कौबेर्या दिशो भागमुत्तरायणमित्यर्थः । "स्त्रियाः पुंवत्" इत्यादिना पुंवद्भावः । तमपास्यागस्त्यस्येममागस्त्यं मार्गमवतीर्णः । दक्षिणायनगत इत्यर्थः । उष्णांशुरिव स्थितः । अनेन हरेः क्रोधः कार्यवशादाकालमन्तःस्तम्भितो न त्वैकान्ततो निवृत्त इति सूचितम् । हरिः कृष्णः हरिप्रस्थमिन्द्रप्रस्थं प्रतस्थे प्रचचाल । 'इन्द्रो

दुश्च्यवनो हरि. ' इति हलायुधः । "समवप्रविभ्य स्थः " इत्यात्मनेपदम् । 'देशकालाध्वगन्तव्या कर्मसञ्ज्ञा ह्यकर्मणाम् ' इति गन्तव्यकर्मत्वम् । उपमालङ्कार. । सर्गेऽस्मिन्निन्द्रोपेन्द्रवज्रामिश्रणादुपजातिवृत्तम् । 'अनन्तरोदीरितलक्ष्मभाजौ पादौ यदीयावुपजातयस्ता ' इति लक्षणात् ॥ १ ॥

अथास्य प्रस्थानसन्नाह वर्णयन्नादौ छत्रधारणमाह–

जगत्पवित्रैरपि तन्न पादैः स्प्रष्टुं जगत्पूज्यमयुज्यतार्कः ।
यतो बृहत्पार्वणचन्द्रचारु तस्यातपत्रं बिभराम्बभूवे ॥ २ ॥

जगदिति । अर्को जगत्पूज्य त हरिम् अत एव जगत्पवित्रैरपि पादैश्चरणैः किरणैश्चस्प्रष्टुन्नायुज्यत नार्हत । युजेर्दैवादिकात्कर्तरि लङ् । अत. तस्य हरेः बृहद्विपुल पार्वणचन्द्रचारु पूर्णेन्दुसुन्दरम् इत्युपमालङ्कार । आतपात्त्रायत इत्यातपत्र छत्रम् । "सुपि" इति योगविभागात् कः । बिभरावभूवे दध्रे । भृञ कर्मणि लिट् "भीह्रीभृहुवाम् " इति विकल्पादाम्प्रत्ययः । आतपत्रान्तर्हितस्य द्वयैरपि पादै स्प्रष्टुमशक्यत्वादित्यर्थ । जगत्पूज्यस्य हरे पादेन स्पर्शनिषेधादिति भावः ॥ २ ॥

अथ चामरधारणमाह–

मृणालसूत्रामलमन्तरेण स्थितश्चलच्चामरयोर्द्वयं सः ।
भेजेऽभितः पातुकसिद्धसिन्धोरभूतपूर्वां रुचमम्बुराशेः ॥ ३ ॥

मृणालेति । मृणालसूत्रामल विसतन्तुविशदम् इत्युपमा । चलन्ती च ते चामरे च चलच्चामरे । बीजनादिति भाव । तयोर्द्वयमन्तरेण स्थितः । द्वयस्य मध्ये स्थित इत्यर्थ । "अन्तरान्तरेण युक्ते " इति द्वितीया । स हरिरभित पातुका उभयतः पातिनी सिद्धसिन्धुराकाशगङ्गा यस्य स तथोक्तः। 'पर्यभिभ्या च " इति तसिल् प्रत्ययः । "सर्वोभयार्थवर्त्तमानाभ्याभिष्यते" इत्युभयार्थत्वम् "सुप्सुपा" इति समास । पातुकेति " लषपत " इत्यादिना उकञ् प्रत्यय । तस्याम्बुराशे समुद्रस्य अभूतपूर्वां पूर्वमभूताम् । "सुप्सुपा" इति समास. । रुच कान्ति. भेजे अत एव निदर्शना । सा चाम्बुराशे सम्भावनामात्रोक्त्या अभित पातुकसिद्धसिन्धुसम्बन्धमूलया असम्बन्धे सम्बन्धरूपातिशयोक्त्या स्वोपजीवकसयोगेन सङ्कीर्यत इति सक्षेप. ॥ ३ ॥

अथाष्टभिरस्य प्रसाधनविधि वर्णयन् मुकुटधारणमाह--

चित्राभिरस्योपरि मौलिभाजां भाभिर्मणीनामनणीयसीभिः ।
अनेकधातुच्छुरिताश्मराशेर्गोवर्द्धनस्याकृतिरन्वकारि ॥ ४ ॥

चित्राभिरिति । अस्य हरेरुपरि ऊर्ध्वदेशे मौलिभागे मौलिभाजा मुकुटगताना मणीनामनणीयसीभिर्महतीभिश्चित्राभिरनेकवर्णाभिर्भाभिः प्रभाभिः । कर्त्रीभि. । ' स्युः प्रभारुग्रुचिस्त्विड्भा भाश्छविद्युतिदीप्तयः ' इत्यमर. । सान्तपक्षे "भोभगो " इत्यादिना रोर्यकारे तस्य "हलि सर्वे

षाम्'' इति लोपः। अनेकैर्धातुभिर्गैरिकादिभिश्छुरिताना रूषितानाम् अश्मनां मणीनां राशिः समूहो यस्य तस्य गोवर्द्धनाख्यपर्वतस्याकृतिरन्वकारि अनुकृता। तत्सादृश्यममाजीत्यर्थः। पूर्णोपमेयम्॥ ४॥

कुण्डले च धृते इत्याह—

तस्योल्लसत्काञ्चनकुण्डलाग्रप्रत्युप्तगारुत्मतरत्नभासा।
अवाप बाल्योचितनीलकण्ठपिच्छावचूडाकलनामिवोरः॥५॥

तस्येति। तस्य हरेरुरः उरस्थलमुल्लसन्त्या काञ्चनकुण्डलाग्रयोः प्रत्युप्ताना खचिताना गारुत्मतरत्नाना मरकतमणीनां भासा दीप्त्या। उरसि प्रसरन्त्येति भावः। बाल्य शैशवम् "ब्राह्मणादित्वात् ष्यञ्" । तत्रोचितमभ्यस्तं यन्नीलकण्ठपिच्छ मयूरबर्हम्। 'अभ्यस्तेऽप्युचित न्याय्ये' इति यादवः। 'पिच्छबर्हे नपुंसके' इत्यमरः। तेन निर्मितावचूडा मालिका तस्याः कलनामामोचनमवमोचन वा अवापेव। इत्युत्प्रेक्षा। 'यत्रान्यधर्मसम्बन्धादन्यदेवोपतर्कितम्। प्रकृते हि भवेत्प्राज्ञास्तामुत्प्रेक्षां' प्रचक्षते। इति लक्षणात्॥ ५॥

तमङ्गदे मन्दरकूटकोटिव्याघट्टनोत्तेजनया मणीनाम्।
बंहीयसा दीप्तिवितानकेन चकासयामासतुरुल्लसन्ती॥ ६॥

तमङ्गदे इति। त हरिं मन्दरकूटकोटिव्याघट्टन मन्दराचलशिखराग्रसङ्घर्षणं सैवोत्तेजना शाणोल्लेखना तया बंहीयसा बहुतरेण "प्रियस्थिर" इत्यादिना बहुलशब्दस्येयसुनि बंहादेशः। मणीना दीप्तिवितानकेन प्रभापटलेन उल्लसन्ती दीप्यमाने। "आच्छीनद्योर्नुम्" इति नुमागमः। अङ्गदे केयूरे। 'केयूरमङ्गद तुल्ये' इत्यमरः। चकासयामासतुः शोभयाञ्चक्रतु। अङ्गदे धृतवानित्यर्थः। चकास्तेर्ण्यन्ताल्लिटि आम्प्रत्ययेऽस्तेरनुप्रयोग.। अत्राङ्गदयोः प्राग्भवीयाङ्गदभेदेऽप्यभेदोक्तिमुत्प्रेक्ष्य तयोर्मन्दरकूटकोटयसम्बन्धेऽपि सबन्धोक्त्या द्वयोरतिशयोक्त्योः सङ्करः॥ ६॥

निसर्गरक्तैर्वलयावनद्धताम्राश्मरश्मिच्छुरितैर्नखाग्रैः।
व्यद्योतताद्यापि सुरारिवक्षोविक्षोभजासृक्स्नपितैरिवासौ॥७॥

निसर्गेति। असौ हरिर्निसर्गरक्तै. स्वभावलोहितैः। किञ्च वलये कटके 'कटके वलयोऽस्त्रियाम्' इत्यमर.। तयोरवनद्धानां प्रत्युप्ताना ताम्राश्मना पद्मरागाणा रश्मिभिः छुरितैः अत एवाद्यापि सुरारेर्हिरण्यकशिपो. वक्षसो विक्षोभेण विदारणेन जातं यत् असृक् तेन स्नपितै. सिक्तैरिवस्थितैः इत्युत्प्रेक्षा। स्नातेर्ण्यन्तात् क्तः। "अर्तिह्री" इत्यादिना पुगागम "मिता ह्रस्व" नखाग्रैर्व्यद्योतत। कटके च धृतवानित्यर्थः॥ ७॥

उभौ यदि व्योम्नि पृथक्प्रवाहावाकाशगङ्गापयसः पतेताम्।
तेनोपमीयेत तमालनीलमामुक्तमुक्तालतमस्य वक्षः॥ ८॥

उभाविति । तमालवन्नीलम् आमुक्ते आसञ्जिते मुक्तालते । लतादैर्घ्यत्वसाम्येन मौक्तिकहारौ यस्मिन् तदस्य हरेर्वक्ष आकाशगङ्गाया पयसः उभौ प्रवाहौ व्योम्नि यदि पृथक् पतेता प्रवहेता चेत् । सम्भावनाया लिङ् । तेन व्योम्नोपमीयेत समीक्रियेत । नास्योपमान किञ्चित्पश्याम इति भावः । मुक्ताहार धृतवानित्यर्थः । अत्र व्योम्नो गङ्गाप्रवाहद्वयासम्बन्धेऽपि सम्भावनाया सम्बन्धकथनादतिशयोक्तिः । तदेतत् 'पुष्पं प्रवालोपहित यदि स्यात्' इत्याद्युदाहृत्यालङ्कारसर्वस्वकारः स्पष्टीचकार ॥ ८ ॥

तेनाम्भसां सारमयः पयोधेर्दध्रे मणिर्दीधितिदीपिताशः ।
अन्तर्वसन्बिम्बगतस्तदङ्गे साक्षादिवालक्ष्यत यत्र लोकः९॥

तेनेति । तेन हरिणा दीधितिभिर्दीपिताः आशा येन सः । दिगन्तविश्रान्ततेजा इत्यर्थः । पयोधेरम्भसा सारस्य विकार सारमय. मणिः समुद्रमन्थनोत्थ । कौस्तुभाख्य इत्यर्थः । दध्रे धृतः "धृञ् धारणे" कर्मणि लिट् । यत्र मणौ बिम्बगत प्रतिबिम्बगतो लोक बाह्यप्रपञ्च तदङ्गे तस्य हरे शरीरे साक्षात् । बहिः प्रत्यक्षेण लक्ष्यमाण इत्यर्थ । अन्तर्वसन् अन्तर्गतो लोक इवालक्ष्यत । यत्र मणौ प्रतिबिम्बितो बाह्यलोकस्तदङ्ग एव नैर्मल्याद्बहि प्रतिफलित कुक्षिस्थलोक इवालक्ष्यत इत्युत्प्रेक्षा ॥ ९ ॥

मुक्तामयं सारसनावलम्बि भाति स्म दामाप्रपदीनमस्य ।
अङ्गुष्ठनिष्ठ्यूतमिवोर्ध्वमुच्चैस्त्रिस्रोतसः सन्ततधारमम्भः१०॥

मुक्तेति । अस्य हरेर्मुक्तामयं मुक्ताप्रचुरम् । "तत्प्रकृतवचने मयट्" । सारसने कटिसूत्रेऽवलम्बेन इति सारसनावलम्बि । 'क्लीबे सारसन चाथ पुंस्कटया शृङ्खल त्रिषु' इत्यमरः । आप्रपदीनम् आसमन्तात्प्रपद प्राप्नोतीति खञ्प्रत्ययः । 'पादाग्रं प्रपद पाद' इत्यमर । दाम मुक्तासार अगुष्ठेन निष्ठ्यूतम् । विसृष्टमित्यर्थः । गौणार्थत्वादग्राम्यत्वम् । यथाह दण्डी'निष्ठ्यूतोद्गीर्णवान्तादि गौणवृत्तिव्यपाश्रयम् । अतिसुन्दरमन्यत्र ग्राम्यकक्षा विगाहते' इति । ऊर्ध्वम् ऊर्ध्वप्रवाह मुच्चैरुन्नत त्रिस्रोतसो मन्दाकिन्या सन्ततधारमविच्छिन्नसम्पातमम्भ इव भाति स्मेत्युत्प्रेक्षा॥ १० ॥

स इन्द्रनीलस्थलनीलमूर्ती रराज कर्चूरपिशङ्गवासाः ।
विसृत्वरैरम्बुरुहां रजोभिर्यमस्वसुश्चित्र इवोदभारः ॥ ११॥

सइति । इन्द्रनीलस्थलमिव नीलमूर्तिः श्यामाङ्ग । संहितायाम् "रो रि" इति रेफलोप. "ढ्रलोपे पूर्वस्य" इति दीर्घः । कर्चूर हरितालमिव पिशङ्गं वासो यस्य सः पीताम्बरो हरि. । 'हरिताल तु कर्चूरम्' इति वैजयन्ती । स हरि. विसृत्वरै विसृमरैः । "इण्नशजिसर्तिभ्यः क्वरप्" इति क्वरप् । अम्बुरुहाम् अम्बुजानाम् । रुहेः क्विप् । रजोभिः परागैश्चित्रश्चित्रवर्ण यमस्वसुर्यमुनायाः उदकस्य भारः पूरः उदभारः स इव रराज "मन्थोदन" इत्यादिना उदकस्योदादेशः ॥ ११ ॥

**प्रसाधितस्यास्य मधुद्विषोऽभूदन्यैव लक्ष्मीरिति युक्तमेतत् ।
वपुष्यशेषेऽखिललोककान्ता सानन्यकान्ता ह्युरसीतरा तु ॥ १२ ॥**

प्रसाधितस्येति । प्रसाधितस्यालङ्कृतस्यास्य मधुद्विषः हरेः अन्यैवासदृशी विभिन्ना च । 'अन्यौ विभिन्नासदृशौ' इति वैजयन्ती । लक्ष्मीः शोभा पद्मा च । 'शोभासम्पत्तिपद्मासु लक्ष्मीः श्रीरपि गद्यते' इति विश्वः । अभूदित्येतद्युक्तम् । कुतः । हि यस्मात् सा प्रसाधनरूपा लक्ष्मीरशेषे वपुषि । वसतीति शेषः । किञ्चाखिललोकस्य कान्ता प्रिया इतरा नित्या तु अन्यस्य कान्ता प्रिया न भवतीत्यनन्यकान्ता किन्तु तस्यैवेत्यर्थः । उरसि । उरस्येव वसतीत्यर्थः । अत्र हरेः प्रसाधनादसाधरणी शोभा जातेति पारमार्थिको वाक्यार्थः । अत्र लक्ष्मीशब्देन श्लेषमहिम्ना वाच्यायाः शोभायाः प्रतीयमानायाः श्रीदेव्या सहाभेदाध्यवसायादियमन्यैव लक्ष्मीरित्यभेदे भेदरूपातिशयोक्तिरलङ्कारः ॥ १२ ॥

अथैनमेवार्थं भङ्ग्यन्तरेणाह—

**कपाटविस्तीर्णमनोरमोरःस्थलस्थितश्रीललनस्य तस्य ।
आनन्दिताशेषजना बभूव सर्वाङ्गसङ्गिन्यपरैव लक्ष्मीः ॥ १३ ॥**

कपाटेति । कपाटवद्विस्तीर्णे मनोरमे चोरःस्थले स्थिता श्रीरिति ललना कान्ता यस्य तस्य हरेरानन्दिताशेषजना सर्वाङ्गलङ्गिनी सकलदेहव्यापिनी अत एवापरैवासाधारण्येव श्रीदेव्या अन्यैव लक्ष्मीः शोभा रमा च बभूव । स एवालङ्कारः । प्रायेणैकार्थमप्यनेकश्लोकमुक्तिविशेषलाभाल्लिखन्ति कवयः । यथाह नैषधे 'आदावेव निपीय' इत्यादि श्लोकद्वय तथा 'स्वकेलिलेशे' इत्यादि श्लोकद्वय चेति ॥ १३ ॥

अथ देवीसहचरस्यैवास्य यात्रेति सूचयन् प्रसाधनविधेः फलमाह—

**प्राणच्छिदां दैत्यपतेर्नखानामुपेयुषां भूषणतां क्षतेन ।
प्रकाशकार्कश्यगुणौ दधानाः स्तनौ तरुण्यः परिवव्रुरेनम् ॥ १४ ॥**

प्राणेति । भूषणतामुपेयुषाम् । न तु प्रहरणतामिति भावः । दैत्यपतेः हिरण्यकशिपोः प्राणच्छिदां प्राणमुषां प्राणापहारिणाम् । वज्रादपि कठोराणामित्यर्थः । नखानां क्षतेन व्रणेन प्रकाशो व्यक्तः कार्कश्यमेव गुणो ययोस्तौ स्तनौ । स्तनानित्यर्थः । जातावेकवचने प्राप्ते जातिभूयस्सु स्तनादिषु जातेर्द्वित्वविशिष्टत्वात् द्विवचनम् । यथाह वामनः । "स्तनादीनां द्वित्वविशिष्टा जातिः प्रायेण" इति । दधानास्तरुण्यो युवतयः । "वयसि प्रथमे" इति ङीप् । एनं हरिं परिवव्रुः । अत्र हरिनखानां नरहरिनखभेदेऽप्यभेदोक्त्या स्तनयोश्च तादृक्काठिन्यासम्बन्धेऽपि तत्सम्बन्धोक्त्यतिशयोक्ती, तयोश्च सापेक्षत्वात्सङ्करः ॥ १४ ॥

**आकर्षतेवोर्ध्वमतिकृशीयानत्युन्नतत्वात्कुचमण्डलेन ।
ननाम मध्योऽतिगुरुत्वभाजा नितान्तमाक्रान्त इवाङ्गनानाम् ॥ १५ ॥**

आकर्षतेति । अत्युन्नतत्वाद्धेतोः ऊर्ध्वमाकर्षतेव नमन्तं मध्यमुन्नमयतेव स्थितेनेत्युत्प्रेक्षा । अतिगुरुत्वमतिभारत्वम् अतिप्रवृद्धत्वं च भजतीति भाक् "भजो ण्वि" इति ण्वि । तेनाङ्गनाना कुचमण्डलेनातिक्रशीयान् अत्यन्तकृशतर । तनीयान् क्षीणश्च "रऋतो हलादेर्लघोः" इति रेफादेश । मध्यो नितान्तमाक्रान्त पीडित इव ननाम नत प्रणतश्च । अत्र मध्यकुचमण्डलयोर्विशेषणसाम्यादरिविजिगीषुराजप्रतीते. समासोक्तिः, तथा वाच्ययो प्रतीयमाना भेदेनाक्रमणक्रियाकर्मकर्तृभावसम्भावितेय नमनस्याक्रमणहेतुकत्वोत्प्रेक्षा इत्यनयो सङ्कर । उत्प्रेक्षयोस्तु नैरपेक्ष्याटसंसृष्टिरिवेति विवेकः ॥ १९ ॥

यांयां प्रियः प्रैक्षत कातराक्षी सा सा ह्रिया नम्रमुखी बभूव ।
निःशङ्कमन्याः सममाहितेर्ष्यास्तत्रान्तरे जघ्नुरमुं कटाक्षैः॥१६॥

यांयामिति । प्रियो हरिर्यायामङ्गनाम् । 'नित्यवीप्सयोः' इति वीप्साया द्विर्भाव । एकपदम् । प्रैक्षतालोकयत सासा । पूर्ववत् द्विर्भाव. । कातराक्षी साध्वसाचकितलोचना सती ह्रिया नम्रमुखी बभूव । एतेन कार्यद्वारा लज्जासाध्वसभावोदय उक्तः । अन्यासामीर्ष्याभावोदयमाह । अन्या अप्रेक्षिताङ्गना. आहितेर्ष्याः कृताक्षमा सत्यः । 'परोत्कर्षाक्षमेर्ष्या स्यात्' इति लक्षणात् । तत्रान्तरे तस्मिन्ननीक्षणावसरे । 'क्लीबेऽन्तर चावकाशे तादर्थ्येऽवसरेऽवधौ' इति वैजयन्ती । नि.शङ्क तदनीक्षणादेव विस्रब्ध यथा तथा समं युगपत् कटाक्षैरमु हरिं जघ्नुः प्रजघ्नु सरोषमद्राक्षु ॥ १६ ॥

अथास्य पञ्चभिर्दिव्यास्त्रसन्निधानमाह-

तस्यातसीसूनसमानभासो भ्राम्यन्मयूखावलिमण्डलेन ।
चक्रेण रेजे यमुनाजलौघः स्फुरन्महावर्त्त इवैकबाहुः ॥ १७ ॥

तस्येति । अतसीसूनेन क्षुमाकुसुमेन समानभास तुल्यकान्ते. । स्निग्धश्यामस्येत्यर्थ । 'अतसी स्यादुमा क्षुमा' इत्यमरः । तस्य हरेरेकबाहुः भ्राम्यदावर्त्तमान मयूखावलीना मण्डल चक्रवाल यस्य तेन चक्रेण सुदर्शनेन स्फुरन्महानावर्त्तो भ्रमो यस्य स । 'स्यादावर्त्तोऽम्भसा भ्रमः' इत्यमर. । यमुनाजलानामोघः पूर इव रेजे । चक्र दधावित्यर्थ ॥ १७ ॥

विरोधिनां विग्रहभेददक्षा मूर्त्तेव शक्तिः क्वचिदस्खलन्ती ।
नित्यं हरेः सन्निहिता निकामं कौमोदकी मोदयति स्म चेतः॥१८॥

विरोधिनामिति । विरोधिनां वैरिणां विग्रहभेदे शरीरविदारणे दक्षा । 'शरीर वर्ष्म विग्रह' इत्यमर । क्वचित् क्वापि अस्खलन्ती । सर्वत्राप्रतिहतवृत्तिरित्यर्थः । नित्य सन्निहिता अनपायिनी अत एव मूर्त्ता मूर्तिमती शक्ति. सामर्थ्यमिव स्थितेत्युत्प्रेक्षा । कौमोदकी गदा हरेश्चेतो निकाम मोदयति स्म । स्वसन्निधानेनेति भावः ॥ १८ ॥

न केवलं यः स्वतया मुरारेरनन्यसाधारणतां दधानः ।
अत्यर्थमुद्वेजयिता परेषां नाम्नापि तस्यैव स नन्दकोऽभूत् ॥ १९ ॥

न केवलमिति । अन्यस्य साधारणो न भवतीत्यनन्यसाधारणस्तस्य भावस्तत्ता तां दधानः। तथापि यो नन्दकः स्वतया केवलं गजाश्वादिवत् स्वत्वेनैव मुरारेर्नन्दको न, किन्तु परेषां शत्रूणाम् अत्यर्थमुद्वेजयिता भीषयिता सन् अत एव नाम्नापि चन्द्रादिवन्नन्दयतीति नन्दक इत्यन्वर्थसञ्ज्ञाबलेनापि नन्दयितृत्वेनापीति यावत् । तस्यैव तदीय एव योऽनन्यसाधारणत्वात्परोद्वेजकत्वाच्च तस्यैव नन्दको नन्दयिता चेत्यर्थः । स नन्दको नन्दकाख्यः खड्गोऽभूत् । सन्निहितोऽभूदित्यर्थः । सम्बन्धानुवादेन सन्निधानमेवात्र विधेयं प्रकरणात् । अत्रानन्यसाधारणत्वपरोद्वेजकत्वपदार्थाभ्यां विशेषणगत्या नन्दकस्य तदीयतासमर्थनात् पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कारः ॥ १९ ॥

न नीतमन्येन नतिं कदाचित्कर्णान्तिकप्राप्तगुणं क्रियासु ।
विधेयमस्याभवदन्तिकस्थं शार्ङ्गं धनुर्मित्रमिव द्रढीयः ॥ २० ॥

न नीतमिति । अन्येन पुरुषान्तरेण नतिमाकर्षणं भेदेन स्वानुकूल्यं च न नीतं न प्रापितम् । क्रियासु रणकर्मसु-हिताहितकृत्येषु च कर्णान्तिकं कर्णगोचरं प्राप्तो गुणो मौर्वी, आप्तताधर्मश्च यस्य तद्विधेयं क्रियासु वश्यं द्रढीयः दृढतरं पीडासहतरमिति यावत् । शृङ्गस्य विकारः शार्ङ्गं नाम धनुः मित्रमिवास्य हरेरन्तिकस्थं सन्निहितमभवत् ॥ २० ॥

प्रवृद्धमन्द्राम्बुदधीरनादः कृष्णार्णवाभ्यर्णचरैकहंसः ।
मन्दानिलापूरकृतं दधानो निध्वानमश्रूयत पाञ्चजन्यः ॥ २१ ॥

प्रवृद्धेति । धियं यातीति धीरो मनोहरः मन्द्रो गम्भीरोऽम्बुदस्य मेघस्येव धीरश्च नादः प्रवृद्धो येन सः प्रवृद्धमन्द्राम्बुदधीरनादः । इत्युपमा । कृष्ण एवार्णवः समुद्रस्तस्याभ्यर्णचरोऽन्तिकचरः । 'उपकण्ठान्तिकाभ्यर्णा' इत्यमरः । स चासावेकहंसश्चेति श्लिष्टपरम्परितरूपकम् । मन्दानिलस्यापूरः आपूरणं तेन कृतं जनितं निध्वानं दधानः अनाध्मातोऽपि मन्दमारुतप्रवेशादेव ध्वननीति पाठवादतिशयोक्तिः । ध्वन्यसम्बन्धेऽपि सम्बन्धकथनात् । पञ्चजनो नाम कश्चिदसुरस्तत्र भवः पाञ्चजन्योऽस्य शङ्खः । "वहिर्देवपञ्चजनेभ्यश्च वक्तव्यम्" इति ञ्यप्रत्ययः । अश्रूयत श्रूयते स्म । पाञ्चजन्योऽपि सन्निहितः अभूदित्यर्थः । वीणा श्रूयते पुष्पाण्याघ्रायन्ते इत्यादिवद्धर्मधर्मिणोरभेदोपचारात् पाञ्चजन्यस्य श्रवणोक्तिः ॥ २१ ॥

रराज सम्पादकमिष्टसिद्धेः सर्वासु दिक्ष्वप्रतिषिद्धमार्गम् ।
महारथः पुष्यरथं रथाङ्गी क्षिप्रं क्षपानाथ इवाधिरूढः ॥ २२ ॥

रराजेति । महान् रथो यस्य स महारथो रथिकविशेषः । 'आत्मानं सारथिं चाश्वान् रक्षन् युद्ध्येत यो नरः । स महारथसञ्ज्ञः स्यादित्याहुर्नीतिकोविदाः' इति । रथाङ्गं चक्रमस्यास्तीति रथाङ्गी हरिः इष्टसिद्धेः सम्पादकं लक्षणवत्त्वात् । पुष्यः सर्वार्थसाधक इति शास्त्रादिति भावः ।

-सर्वासु दिक्ष्वप्रतिषिद्धमार्गम् । अनिषिद्धगमनमित्यर्थः । अधिष्ठानशक्तेर्निरङ्कुशत्वात् । 'पुष्यो हस्तो मैत्रमप्याश्विनञ्च चत्वार्याहुः सर्वदिग्द्वारकाणि' इति शास्त्रादिति भाव । क्षिप्र क्षिप्रगामिन अन्यत्र क्षिप्रनामकम् । 'क्षिप्र चाश्विदिनेशपुष्यम'इति शास्त्रात् । पुष्यरथ क्रीडारथम् 'असौ पुष्यरथश्चक्रयानं न समराय यत्' इत्यमर । अधिरूढ. सन् पुष्यो रथ इव त पुष्यरथमधिरूढ पुष्यनक्षत्रगतः क्षपानाथश्चन्द्र इव रराज ॥ २२ ॥

ध्वजाग्रधामा ददृशेऽथ शौरिः संक्रान्तमूर्तिर्मणिमेदिनीषु ।
फणावतस्त्रासयितुं रसायास्तलं विविक्षन्निव पन्नगारिः ॥ २३ ॥

ध्वजेति । अथ रथारोहणानन्तर शौरे. कृष्णस्य ध्वजाग्र धाम स्थान यस्य स. मणिमेदिनीषु मणिमयकुट्टिमेषु सक्रान्तमूर्ति प्रतिबिम्बिताङ्ग. सन् पन्नगारिर्गरुत्मान् फणावत सर्पान् त्रासयितु द्रावयितु रसायास्तल पाताल विविक्षन् प्रवेष्टुमिच्छन्निवेत्युत्प्रेक्षा । विशते सन्नन्ताल्लट शत्रादेशः । ददृशे दृष्टः । सोऽपि सन्निहितोऽभूदित्यर्थ ॥ २३ ॥

यियासतस्तस्य महीध्ररन्ध्रभिदापटीयान्पटहप्रणादः ।
जलान्तराणीव महार्णवौघः शब्दान्तराण्यन्तरयाञ्चकार ॥ २४ ॥

यियासत इति । यातुमिच्छतो यियासत । याते सन्नताल्लटः शत्रादेशः । तस्य हरे सम्बन्धी महीं धरन्तीति महीध्रा. पर्वता. । मूलविभुजादित्वात्कप्रत्यय । यदाह—वामन । "महीध्रादयो मूलविभुजादिदर्शनात्' इति । तेषा रन्ध्राणि विलानि तेषा भिदा भेदनम् ।"षिद्भिदादिभ्योऽङ्" । तस्या पटीयान् समर्थतरः । पटहप्रणादः आनकघोष महार्णवस्यौघः समुद्रस्य प्रवाह अन्यानि जलानि जलान्तराणीव । " सुप्सुपा " इति समास । अन्यान् शब्दान् शब्दान्तराणि । पूर्ववत्समासः । अन्तरयाञ्चकार अन्तर्हितानि चकार छादयामासेत्यर्थ. । अन्तरशब्दादन्तर्द्धार्थात् "तत्करोति" इति ण्यन्ताल्लिट् । ' अन्तरमवकाशावधिपरिधानान्तर्द्धिभेदतादर्थ्ये' इत्युभयत्राप्यमरः ॥ २४ ॥

यतः स भर्ता जगतां जगाम धर्त्री धरित्र्याः फणिना ततोऽधः ।
महाभरा भुग्नशिरःसहस्रसाहायकव्यग्रभुजं प्रसस्रे ॥ २५ ॥

यत इति । जगता भर्ता धारयिता । कुक्षिस्थाखिललोक इत्यर्थ । "कर्तृकर्मणो कृति " इति कर्मणि षष्ठी । स हरिर्यतो येन भूमार्गेण जगाम ततस्तस्मिन् भूभागे अधः पाताले धरित्र्या धरण्या धर्त्री धारयिता । पूर्ववत् षष्ठी । फणिना शेषेण महता भरेण आसमन्ताद्भुग्नस्य कुब्जीभूतस्य शिरःसहस्रस्य सहायके सहायकर्मणि । " योपधाद्गुरूपोत्तमाद्वुञ् " । व्यग्रास्त्वरमाणाः भुजा यस्मिन् तद्यथा तथा प्रसस्रे प्रसृतम् । भावे लिट् । हरिश्चचालेत्यर्थः अत्र शेषस्य विशिष्टप्रसरणासम्बन्धेऽपि सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिरलकारः ॥ २५ ॥

अथोच्चकैस्तोरणसङ्गभङ्गभयावनम्रीकृतकेतनानि ।
क्रियाफलानीव सुनीतिभाजं सैन्यानि सोमान्वयमन्वयुस्तम् ॥ २६ ॥

अथेति । अथ हरिचलनानन्तरम् उच्चकैरुन्नते तोरणे द्वारदारुणी सङ्गेन भङ्गस्तस्माद्भयेनावनम्रीकृतानि केतनानि यैस्तानि सैन्यानि सोमस्यान्वयः सन्तानस्तं सोमान्वयं हारं सुनीतिभाजं सुष्ठुनीतिमन्तं क्रियाः सामाद्युपायप्रयोगास्तासां फलानि हिरण्यभूमित्रादिलाभा इवान्वयुः अन्वगच्छन् । यातेर्लङ् "लङः शाकटायनस्य" इति झेर्जुस् ॥ २६ ॥

श्यामारुणैर्वारणदानतोयैरालोडिताः काञ्चनभूपरागाः ।
आनेमिमग्नैः शितिकण्ठपक्षक्षोदद्युतश्चुक्षुदिरे रथौघैः ॥ २७ ॥

श्यामेति । श्यामानि च अरुणानि च तैः श्यामारुणैः कृष्णलोहितैः । "वर्णो वर्णेन" इति समासः । वारणदानतोयैर्गजमदोदकैरालोडिताः सम्मिलिता अत एव शितिकण्ठपक्षक्षोदा मयूरबर्हचूर्णा इव द्योतन्त इति तथोक्ताः । क्विप् । उपमालङ्कारः । काञ्चनस्य भूः काञ्चनभूस्तस्याः परागाः पांसवः आनेमि नेमिमभिव्याप्य । 'चक्रं रथाङ्गं तस्यान्ते नेमिः स्त्री' इत्यमरः । "आङ् मर्यादाभिविध्योः" इत्यभिविधावव्ययीभावः । मग्नै रथौघैः चुक्षुदिरे पिष्टा इत्यर्थः । परागाणां विशिष्टपेषणासम्बन्धेऽपि तत्सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिः तथा च । महती गजरथसम्पत्तिर्व्यज्यत इत्यलङ्कारेण वस्तुध्वनिः ॥ २७ ॥

न लङ्घयामास महाजनानां शिरांसि नवोद्धतिमाजगाम ।
अचेष्टताष्टापदभूमिरेणुः पदाहतो यत्सदृशं गरिम्णः ॥ २८ ॥

नेति । अष्टसु धातुषु पदं प्रतिष्ठा अस्येति अष्टापदं सुवर्णम् । 'रुक्मं कार्तस्वरं जाम्बूनदमष्टापदोऽस्त्रियाम्' इति सुवर्णपर्यायेष्वमरः । तस्य भूमिस्तस्याः रेणुः काञ्चनभूरजः पदाहतो रथाश्वादिचरणताडितोऽपि सन्नित्यर्थः । महाजनानां बहुजनानां पूज्यानां च शिरांसि न लङ्घयामास नाक्रामति स्म । किं बहुना उद्धतिमुत्पतनं दर्पं च नैवाजगाम । कुतः यद्यस्मात् गरिम्णो गुरुत्वगुणस्य माहात्म्यस्य च । "प्रियस्थिर" इत्यादिना गुरोर्गरादेशः । सदृशमनुरूपं यथा तथा अचेष्टत । अलङ्घनव्यवहारे गुरुत्वस्यौद्धत्यप्रतिबन्धकत्वादिति भावः । अत्रानौद्धत्यादिप्रस्तुतसुवर्णपरागविशेषणसाम्यादप्रस्तुतसुजनप्रतीतेः समासोक्तिरलङ्कारः ॥ २८ ॥

निरुध्यमाना यदुभिः कथञ्चिन्मुहुर्यदुच्चिक्षिपुरग्रपादान् ।
ध्रुवं गुरून्मार्गरुधः करीन्द्रानुलङ्घ्य गन्तुं तुरगास्तदीषुः ॥ २९ ॥

निरुध्यमाना इति । तुरगाः । यदुभिः । आरूढैरिति भावः । कथञ्चिदतिप्रयत्नेन निरुध्यमाना वल्गाकर्षणेन वार्यमाणा अपि यद्यस्मादग्राश्च ते पादाश्च तानग्रपादान् । 'हस्ताग्राग्रहस्तादयो गुणगुणिनोरभेदभेदयोगादिति' वामनः । सामानाधिकरण्येन समासः । मुहुरुच्चिक्षिपुरु-

त्क्षिप्तवन्त तत्तस्मान्मार्गं रुन्धन्तीति मार्गरुध मन्दगमनेन मार्गरोधिनः । क्विप् । गुरून् महतः पूज्यांश्च । अलङ्घ्यानपीति भाव. । करीन्द्रानुल्लङ्घ्य गन्तुमीषुरिच्छन्तिस्म । ध्रुवमित्युत्प्रेक्षायाम् । गुरवोऽपि सन्मार्गरोधका. पैरुल्लङ्घ्यन्त इति अलङ्कारेण वस्तुध्वनि' ॥ २९ ॥

अवेक्षितानायतवल्गमग्रे तुरङ्गिभिर्यत्ननिरुद्धवाहैः ।
प्रक्रीडितान्रेणुभिरेत्य तूर्णं निन्युर्जनन्यः पृथुकान्पथिभ्यः ॥ ३० ॥

अवेक्षितानिति । आयता आकृष्टा वल्गा मुखरज्जुर्यस्मिन् कर्मणि तद्यथा तथा यत्नन दुर्वारवेगत्वात् अतिप्रयत्नेन निरुद्धा वाहा वाजिनो यैस्तै' । ' वाजिवाहार्वगन्धर्व ' इत्यमर' । तुरङ्गिभिरश्वसादिभिरग्रे पुरोदेशेऽवेक्षितानालोकितान् रेणुभिः प्रक्रीडन्तीति प्रक्रीडितान् । पांसुक्रीडाकरान् " कर्त्तरि क्त " । पृथुकान् शिशून् । ' पृथुक' शावकः शिशुः ' इत्यमरः । जनन्यस्तूर्णमेत्य पथिभ्यो निन्युः अपसारयाञ्चक्रुरिति स्वभावोक्ति. ॥ ३० ॥

दिदृक्षमाणाः प्रतिरथ्यमीयुर्मुरारिमारादनघं जनौघाः ।
अनेकशः संस्तुतमप्यनल्पा नवंनवं प्रीतिरहो करोति ॥ ३१ ॥

दिदृक्षमाणा इति । अनघमकलङ्कं मुरारिं दिदृक्षमाणाः द्रष्टुमिच्छन्त' । दृशेः सन्नन्ताल्लट शानजादेश " ज्ञाश्रुस्मृदृशा सन " इत्यात्मनेपदम् । जनौघा रथ्यायां प्रतिरथ्य याथार्थ्येऽव्ययीभावः । आरात्समीपम् । ' आराद्दूरसमीपयो' ' इत्यमर. । ईयुर्जग्मुः इणो लिट् " दीर्घ इणः किति " इत्यभ्यासदीर्घ' । ननु नित्यपरिचिते का दिदृक्षेत्यत्राह । अनेकश इति । अनेकशो बहुवारमित्यर्थः । " बह्वल्पार्थाच्छस्कारकादन्यतरस्याम् " इति शस्प्रत्ययः । संस्तुत परिचितमपि वस्तु । जनेनेति शेषः । ' संस्तवः स्यात्परिचय' ' इत्यमरः । अनल्पा अधिका प्रीति प्रेमकर्त्री नवनवम् । आभीक्ष्ण्येन नव करोति । " नित्यवीप्सयो." इति द्विर्भाव अहोशब्द पुराणस्यापि नूतनत्वमित्याश्चर्ये । यथा परप्रेमास्पद वस्तु नित्यदृष्टमपि अदृष्टचरमिव प्रतिक्षणदिदृक्ष्यते भगवानपि तथैवेति भावः । सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ ३१ ॥

उपेयुषो वर्त्म निरन्तराभिरसौ निरुच्छ्वासमनीकिनीभिः ।
रथस्य तस्यां पुरि दत्तचक्षुर्विद्वान्विदामास शनैर्न यातम् ॥ ३२ ॥

उपेयुष इति । विद्वानभिज्ञ' अत एव तस्या पुरि नगर्यां दत्तचक्षुः । निसृष्टदृष्टिरसौ हरिर्निरन्तराभिर्नीरन्ध्राभिरनीकिनीभि' सेनाभिर्निरुच्छ्वासम् अतिसंकटं वर्त्म उपेयुषः प्राप्तस्य रथस्य शनैर्यातं सम्बन्धनिबन्धनं मन्दगमन न विदामास न विवेद । " उषविदजागृभ्योऽन्यतरस्याम् " इति पाक्षिक आम्प्रत्यय । व्यासङ्गादसंवेदन, न तु तत्त्वज्ञानादिति भावः । व्यासङ्गस्य पदार्थत्वात् पदार्थहेतुक काव्यलिङ्गम् ॥ ३२ ॥

अथैकत्रिंशच्छ्लोकैर्द्वारका वर्णयति–

मध्येसमुद्रं ककुभः पिशङ्गीर्या कुर्वती काञ्चनवप्रभासा ।
तुरङ्गकान्तामुखहव्यवाहज्वालेव भित्त्वा जलमुल्ललास॥३३॥

मध्य इति । समुद्रस्य मध्ये मध्येसमुद्रम् । "पारे मध्ये षष्ठ्या वा " इति विकल्पादव्ययीभावः । मध्यशब्दस्य तत्संनियोगादेकारान्तत्वम् । काञ्चनवप्रभासा हेमप्राकारप्रभया ककुभो दिशः पिशङ्गीः पिङ्गलवर्णाः । गौरादित्वान्ङीप् । कुर्वती या पूः जलं समुद्रोदकं भित्त्वा । उत्थितेति शेषः । तुरङ्गकान्ताया वडवाया मुखे हव्यं वहतीति हव्यवाहोऽग्निः कर्मण्यण् प्रत्ययः । तस्य वाडवाग्नेः ज्वालेव उल्ललास उद्बभासे । अत्र समुद्रान्तर्लीनायां वडवानलज्वालाया कदाचित्सम्भाव्यमानस्य मध्योल्लसनस्य पुरि दर्शनाभेदाध्यवसायेनास्या ज्वालात्वमुत्प्रेक्ष्यते, इवशब्दोऽयमुत्प्रेक्षाया एव व्यञ्जको, नोपमायाः, ईदृग्ज्वालाया अप्रसिद्धत्वेनोपमानत्वायोगात् । 'मन्ये शङ्के ध्रुवं नूनं प्राय इत्येवमादिभिः । उत्प्रेक्षा व्यज्यते शब्दैरिवशब्दोऽपि तादृशः ' ॥ इत्याचार्यदण्डी ॥ ३३ ॥

कृतास्पदा भूमिभृतां सहस्रैरुदन्वदम्भःपरिवीतमूर्तिः ।
अनिर्विदा या विदधे विधात्रा पृथ्वी पृथिव्याः प्रतियातनेव॥३४॥

कृतास्पदेति । भूमिभृतां राज्ञां गिरीणां च सहस्रैः कृतास्पदा कृताधिष्ठाना । "आस्पदं प्रतिष्ठायाम्" इति निपातः । उदकमस्यास्तीत्युदन्वानुदधिः । 'उदन्वानुदधिः सिन्धुः ' इत्यमरः । "उदन्वानुदधौ च" इति निपातनात्साधुः । तस्याम्भोभिः परिवीता परिवेष्टिता मूर्तिः स्वरूपं यस्याः सा पृथ्वी पृथुः । " वोतोगुणवचनात् " इति ङीप् । एवम्भूता या पूः न निर्विद्यते न खिद्यते इत्यनिर्वित् । विदेर्ज्ञानार्थत्वान्निःपूर्वात् "सत्सूद्विष" इत्यादिना क्विप् । तेनानिर्विदा अखिन्नेन अन्यथा शिल्पसौष्ठवासिद्धेरिति भावः । विधात्रा प्रथत इति पृथिवी भूः । प्रथेरौणादिकः षिवन्, "षिद्गौरादिभ्यश्च" इति ङीष् । तस्याः प्रतियातना प्रतिकृतिरिव विदधे विहिता । 'प्रतियातना प्रतिच्छाया प्रतिकृति ' इत्यमरः । भूप्रतिनिधित्वोत्प्रेक्षया पुरो वैचित्र्यविस्तारादिवस्तु व्यज्यते, ॥ ३४ ॥

त्वष्टुः सदाभ्यासगृहीतशिल्पविज्ञानसम्पत्प्रसरस्य सीमा ।
अदृश्यतादर्शतलामलेषुच्छायेव या स्वर्जलधेर्जलेषु ॥ ३५ ॥

त्वष्टुरिति । त्वष्टुर्विश्वकर्मणः सदाभ्यासेन गृहीतो लब्धो यः शिल्पविज्ञानसम्पदः प्रसरः प्रकर्षः तस्य सीमा अवधिरप्रतिमेति यावत् । या पूरादर्शतलामलेषु दर्पणपृष्ठस्वच्छेषु । 'दर्पणे मुकुरादर्शौ' इत्यमरः । जलधेर्जलेषु स्वः स्वर्गस्य । 'स्वरव्ययं स्वर्गनाक' इत्यमरः । छायाप्रतिबिम्बमिवादृश्यत इत्युत्प्रेक्षा । 'छाया त्वनातपे कान्तौ प्रतिबिम्बार्कजाययोः' इति वैजयन्ती ॥ ३५ ॥

रथाङ्गभर्त्रेऽभिनवं वराय यस्याः पितेव प्रतिपादितायाः ।
प्रेम्णोपकण्ठं मुहुरङ्कभाजो रत्नावलीरम्बुधिराबबन्ध ॥ ३६ ॥

रथाङ्गेति । अम्बुधि पितेव वराय श्रेष्ठाय जामात्रे च । 'वरो जामातरि श्रेष्ठे' इति विश्व । रथाङ्गभर्त्रे चक्रधराय हरये अभिनव यथा तथा प्रतिपादितायाः अङ्क समीप उत्सङ्गश्च तद्भाज ' अङ्कः समीप उत्सङ्गे चिह्ने स्थानापराधयोः' इति केशवः । यस्याः पुर उपकण्ठमन्तिके । अन्यत्र कण्ठे विभक्त्यर्थेऽव्ययीभाव । मुहु' प्रेम्णा रत्नावलीराबबन्ध आसमन्ताद्बबन्ध । श्लेषानुप्राणितो-यमुपमेति सङ्कर ॥ ३६ ॥

यस्याश्चलद्वारिधिवारिवीचिच्छटोच्छलच्छङ्खकुलाकुलेन ।
वप्रेण पर्यन्तचरोडुचक्रः सुमेरुवप्रोऽन्वहमन्वकारि ॥ ३७ ॥

यस्या इति । चलन्तीना वारिधिवारिवीचीना छटासु परम्परासु उच्छलद्भिरुत्पतद्भिः शङ्खाना कुलैराकुलेन सङ्कीर्णेन यस्याः पुरो वप्रेण प्राकारेण पर्यन्ते चरतीति तत् तादृशम् उडुचक्र नक्षत्र-मण्डल यस्य स. सुमेरोर्वप्र. सानुः । 'सानुप्राकारयोर्वप्रम्' इत्युभयत्रापि सज्जन. । अहन्यहनी-त्यन्वहम् । " अव्यय विभक्ति" इत्यादिना याथार्थ्येऽव्ययीभावः, "अनश्च, नपुसकादन्य-तरस्याम्" इति समासान्तोच् । अन्वकारि अनुकृत तत्साम्य प्रापित इत्यर्थ मेरूपमानाद्वप्रस्य तत्तुल्यमौन्नत्य व्यज्यते ॥ ३७ ॥

वणिक्पथे पूगकृतानि यत्र भ्रमागतैरम्बुभिरम्बुराशिः ।
लोलैरलोलद्युतिभाञ्जि मुष्णन्रत्नानि रत्नाकरतामवाप ॥ ३८ ॥

वणिक्पथ इति । यत्र यस्या पुरि वणिजां पथि वणिक्पथे आपणे अपूगा पूगाः सम्पद्य-मानानि कृतानि पूगकृतानि पुञ्जीकृतानि । "श्रेण्यादयः कृतादिभि·" इति समासः । "श्रेण्यादिषु च्व्यर्थवचनम्" इति च्व्यर्थता । अलोलद्युतिभाञ्जि स्थिरप्रभावन्ति रत्नानि लोलैश्चलैः अत एव भ्रमागतै जलनिर्गममार्गादागतै । 'भ्रमाश्च जलनिर्गमा ' इत्यमर· । अम्बुभिर्मुष्णन् अपहरन् अम्बु-राशिरर्णवः । जलमात्रसारोऽपीति भाव' । रत्नाकरतामवाप प्राप । न तु प्रागिति भाव । अम्बु-राशे प्राक् रत्नसम्बन्धेऽप्यसम्बन्धोक्तेरतिशयोक्ति· । तथा च पुर्याः समुद्रातिशायिनी रत्नसमृ-द्धिर्वस्तु व्यज्यते ॥ ३८ ॥

अम्भश्च्युतः कोमलरत्नराशीनपांनिधिः फेनपिनद्धभासः ।
यत्रातपे दातुमिवाधितल्पं विस्तारयामास तरङ्गहस्तैः ॥ ३९॥

अम्भ इति । यत्र पुरि अपानिधिः समुद्र अम्भश्च्योतन्ति क्षरन्तीत्यम्भश्च्युतो जलस्रा-विणःअत एव फेनै पिनद्धभासः पिहितकान्तीन् । अपिपूर्वान्नह्यतेः कर्मणिक्त. । "वष्टि भागु-रिरल्लोपमवाप्योरुपसर्गयो ' इत्यपेरकारलोप । कोमलानुत्कृष्टान् रत्नराशीनातपे दात गोपणार्थ

निधातुमिवेति फलोत्प्रेक्षा । तल्पेष्वट्टेषु अधितल्पम् । 'तल्प शय्याट्टदारेषु' इत्यमरः विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः । तरङ्गैरेव हस्तैर्विस्तारयामास प्रसारितवान् । अत्रातपदानस्य तरङ्गहस्तसाध्यत्वेनोत्प्रेक्षारूपकयोः सङ्कर ॥ ३९ ॥

यच्छालमुत्तुङ्गतया विजेतुं दूरादुदस्थीयत सागरस्य ।
महोर्मिभिर्व्याहतवाञ्छितार्थैर्व्रीडादिवाभ्याशगतैर्विलिल्ये ॥४०॥

यच्छालमिति । सागरस्य महोर्मिभिः कर्तृभिः यच्छाल यस्याः प्राकारम् । 'प्राकारो वरण. शालः' इत्यमरः । उत्तुङ्गतया औन्नत्यगुणेन जेतुमिवेत्यर्थः फलोत्प्रेक्षेयम् । व्यञ्जकाप्रयोगाद्गम्या । दूरादुदस्थीयत उत्थितम् । भावे लङ् अभ्याशगतैः । ' समीपनिकटाभ्याशसनिकृष्टसनीडवत् ' इत्यमर । व्याहतो वाञ्छितार्थे शालविजयरूपो येषा तैर्विजयाक्षमैरित्यर्थः । अत एव व्रीडादिवेति हेतूत्प्रेक्षा ऊर्मिभिर्विलिल्ये विलीनम् । लीयतेर्भावे लिट् । अत्र शक्तस्यापि अविजिगीषोर्व्रीडानुदयात्सापक्षत्वेनोत्प्रेक्षयो सङ्करः ॥ ४० ॥

कुतूहलेनेव जवादुपेत्य प्राकारभित्त्या सहसा निषिद्धः ।
रसन्नरोदीद्भृशमम्बुवर्षव्याजेन यस्या बहिरम्बुवाहः ॥ ४१ ॥

कुतूहलेनेति । अम्बु वहतीत्यम्बुवाहो मेघ । कर्मण्यण् । कुतूहलेनान्तःप्रवेशकौतुकेनेवेति हेतूत्प्रेक्षा । जवात् उपेत्य यस्याः प्राकारभित्त्या सहसा निषिद्धो निवारित अत एव बहिरेव रसन् गर्जन् दुःखात् क्रन्दश्चेति श्लेष. । अम्बुवर्षव्याजेन भृशमरोदीत् अश्रूणि मुक्तवान् । "रुदिर् अश्रुविमोचने" लङ् "रुदश्च पञ्चभ्यः" इतीडागम । अत्राम्बुवर्षव्याजेनोत्पादकस्योक्तश्लेषोत्प्रेक्षासापेक्षत्वात्सङ्करः ॥ ४१ ॥

यदङ्गनारूपसरूपतायाः कञ्चिद्गुणं भेदकमिच्छतीभिः ।
आराधितोऽद्धा मनुरप्सरोभिश्चक्रे प्रजाः स्वाःसनिमेषचिह्नाः४२

यदङ्गनेति । यस्यां पुर्यामङ्गनाना रूप सौन्दर्यमाकारो वा 'रूप स्वभावे सौन्दर्ये आकारश्लोकयोरपि' । इति विश्व । तस्य सरूपतायाः सारूप्याद्भेदक व्यावर्तक कञ्चिद्गुण धर्ममिच्छतीभिरपेक्षमाणाभिः । " आच्छीनद्योर्नुम् " इति विकल्पान्नुमभाव. । अप्सरोभिराराधितः प्रार्थितो मनुर्मानुषसृष्टिकर्ता स्वाः स्वकीया. प्रजाः निमेषः पक्ष्मपात एव चिह्न व्यावर्तक तेन सह वर्तन्त इति सनिमेषचिह्नाः । "तेन सहेति तुल्ययोगे " इति बहुव्रीहिः । चक्रे अद्धा तत्त्वमित्युत्प्रेक्षा । ' तत्त्वे त्वद्धाञ्जसा द्वयोः ' इत्यमरः । अत्र स्वाभाविकानिमेषस्याप्सरसः प्रार्थनाहेतुकत्वोत्प्रेक्षया द्वारकाङ्गनानां निमेषमात्रभिन्नममानुषं सौन्दर्यं वस्तु व्यज्यते ॥ ४२ ॥

स्फुरत्तुषारांशुमरीचिजालैर्विनिह्नुताः स्फाटिकसौधपङ्क्तीः ।
आरुह्य नार्यः क्षणदासु यत्र न भोगता देव्य इव व्यराजन् ॥४३॥

स्फुरदिति । यस्या पुरि क्षणदासु रात्रिषु नार्यः स्फुरद्भिस्तुषारगौरश्चन्द्रस्य मरीचिजालैश्च-न्द्रिकाभिः विनिह्नुता. अपह्नुता नटैकरूपतापत्तेरगृह्यमाणा इत्यर्थ. । अतएव सामान्यालङ्कारः । 'सामान्यगुणसाम्येन यत्र वस्त्वन्तरैकता' इति लक्षणात् । स्फाटिकाना स्फटिकविकाराणा सौधाना पङ्क्तीरारुह्य नभोगता देव्यो देवाङ्गना इव । देवशब्दस्य पचादिषु देवडिति पाठात् "टिड्ढाणञ्" इत्यादिना ङीप् । व्यराजन् । सौधानामग्रहणादभ्रङ्कषत्वाच्च तत्र लक्ष्यमाणा स्त्रिय खेचर्य इव रेजुरित्यर्थ. अत्र नभोगतत्वोत्प्रेक्षायाः पूर्वोक्तसामान्यसापेक्षत्वात्सङ्कर ॥ ४३ ॥

कान्तेन्दुकान्तोपलकुट्टिमेषु प्रतिक्षपं हर्म्यतलेषु यत्र ।
उच्चैरधःपातिपयोमुचोऽपि समूहमूहुः पयसां प्रणाल्यः ॥ ४४ ॥

कान्तेति । यत्र पुरि क्षपासु रात्रिषु प्रतिक्षपम् । विभक्त्यर्थेऽव्ययीभाव । कान्तानि रम्याणि इन्दुकान्तोपलाना चन्द्रकान्तमणीना कुट्टिमानि बद्धभूमयो येषु तेषु । 'कुट्टिम बद्धभूमिः स्यात्' इति हलायुध । हर्म्यतलेषु उच्चैरुन्नता प्रणाल्यो जलमार्गा. । 'द्वयो प्रणाली पयस पद-व्याम्' इत्यमर । अध' पातिनोऽवश्वरा पयोमुचो मेघा यासा ता । अत्र कृतमेवमण्डलत्वात् अजातवृष्टिपाता अपीत्यर्थ' विरोधालङ्कार' । पयसा समूह पय. पूरमूहुर्वहन्ति स्म । चन्द्रकान्तनि-ष्यन्दैरिति भाव । वहेर्लिट् "वचिस्वपि" इत्यादिना सम्प्रसारणम् । अत्र सौधाना प्रणालीना च तादृगौन्नत्यपय पूरासम्बन्धेऽपि तत्सम्बधोक्त्यातिशयोक्ति ॥ ४४ ॥

रतौ ह्रिया यत्र निशाम्य दीपाञ्जालागताभ्योऽधिगृहं गृहिण्यः ।
बिभ्युर्बिडालेक्षणभीषणाभ्यो वैदूर्यकुड्येषु शशिद्युतिभ्यः ॥४५॥

रताविति । यत्र पुरि गृहेष्वधिगृहम् । विभक्त्यर्थेऽव्ययीभाव । गृहिण्य. कुलाङ्गना अत एव रतौ रतिकाले ह्रिया दीपान्निशाम्य निर्वाप्य । शमेर्मित्त्वाद्ध्रस्वापेक्षाभावश्चिन्त्य । जालाग-ताभ्यो गवाक्षमार्गप्रविष्टाभ्य । 'जालं गवाक्ष आनाये' इति विश्व । विदूरात्प्रभवन्तीति वैदू-र्याणि वालवायजानि मणय । 'वैदूर्य वालवायजम्' इति विश्वः । "विदूराञ्ज्य" इति ञ्ज्यप्रत्यय अत्र विदूरशब्दो वालवायस्य देश पर्यायो वा तत्रोपचरितो वा तेन वालवायादि-रेरसौ प्रभवति न विदूरान्नगरात् । तत्र तु संस्क्रियत इत्याक्षेप प्रयुक्त । यदुक्तम् 'वालवायो विदूर च प्रकृत्यतरमेव वा । न वै तत्रेति चेद्ब्रूयाज्जित्वरीवदुपाचरेत्' इति । तेषा कुड्ये-षु भित्तिषु सङ्क्रान्ताभ्य इति शेष । अतएव तच्छायापत्त्या पैङ्गल्यात् बिडालेक्षणवत् भीषयन्त इति भीषणाभ्यो भयङ्कराभ्य । नन्द्यादित्वात्कर्तरि ल्युप्रत्यये टाप् । शशिद्युतिभ्यो बिभ्युः भीता मौग्ध्यादिति भाव बिभेतेर्लिट् । अत्र लज्जावारणाय दीपनिर्वापणे न केवलं तदसिद्धिः, प्रत्युत भयं चोत्पन्नमित्यनर्थोत्पत्तिरूपो विषमभेदः । 'विरुद्धकार्यस्योत्पत्तिर्यत्रानर्थस्य वा भवेत् विरूपघटना या स्याद्विषमालङ्कृतिर्मता' इति लक्षणात् ॥ ४५ ॥

यस्याम तिश्लक्ष्णतया गृहेषु विधातुमालेख्यमशक्नुवन्तः ।
चक्रुर्युवानः प्रतिबिम्बिताङ्गाःसजीवचित्रा इव रत्नभित्तीः॥४६॥

यस्यामिति । यस्यां पुरि गृहेष्वतिश्लक्ष्णतया रत्नभित्तीनामतिस्निग्धतया आलेख्यं चित्रं विधातु निर्मातुमशक्नुवन्तो युवानः प्रतिबिम्बिताङ्गाः स्वयं तासु सङ्क्रान्तमूर्तयः सन्तो रत्नभित्तीः सजीवचित्राः सचेतनचित्रवतीरिव चक्रुरित्युत्प्रेक्षा ॥ ४६ ॥

सावर्ण्यभाजां प्रतिमागतानां लक्ष्यैः स्मरापाण्डुतयाङ्गनानाम् ।
यस्यां कपोलैः कलधौतधामस्तम्भेषु भेजे मणिदर्पणश्रीः ॥४७॥

सावर्ण्येति । यस्यां पुरि कलधौतधामस्तम्भेषु हेमागारस्तम्भेषु । 'कलधौत रौप्यहेम्नोः' इति विश्वः । प्रतिमागतानां प्रतिबिम्बगतानां सावर्ण्यभाजाम् । तत्सावर्ण्यादगृहीतभेदानामित्यर्थः । अत एव सामान्यालङ्कारः । 'सामान्यं गुणसाम्येन यत्र वस्त्वन्तरैकता' । इति लक्षणात् । अङ्गनानां स्मरापाण्डुतया । लक्ष्यैर्विभिन्नवर्णत्वाद्भेदेन गृह्यमाणैरित्यर्थः । कपोलैर्मणिदर्पणानां स्फटिकमुकुराणां श्रीरिव श्रीर्भेजे भासा इति निदर्शना । सा चोक्तसामान्यप्रसादलब्धेति तेनास्याः सङ्करः॥४७॥

शुकाङ्गनीलोपलनिर्मितानां लिप्तेषु भासा गृहदेहलीनाम् ।
यस्यामलिन्देषु न चक्रुरेव मुग्धाङ्गना गोमयगोमुखानि ॥४८ ॥

शुकाङ्गेति । यस्यां पुरि मुग्धाङ्गनाः शुकाङ्गवन्नीलोपलाः नीलमणयः । मरकतानीत्यर्थः । 'उपल प्रस्तरे मणौ' इति विश्वः । तैर्निर्मितानां गृहाणां देहल्यो गृहद्वारशाखाधारदारूणि । 'गृहावग्रहणी देहली' इत्यमरः । तासां भासा लिप्तेषु अलिन्देषु द्वारबहिर्भागेषु । 'प्रघाणप्रघणालिन्दा बहिर्द्वारप्रकोष्ठके ' इत्यमरः । गोः पुरीषं गोमयम् । " गोश्च पुरीषे" इति मयट् । तस्य गोमुखानि विलेपनानि । ' गोमुख कुटिलाकार वाद्यभाण्डे विलेपने' इति विश्वः । न चक्रुरेव । मरकतप्रभाया विलेपनभ्रान्त्येति भावः । अत एव भ्रान्तिमदलङ्कारः । कविसम्मतसादृश्याद्वस्त्वन्तरमतिर्हि यत् । स भ्रान्तिमान् इत्यलङ्कारसर्वस्वकारलक्षणात् ॥ ४८ ॥

गोपानसीषु क्षणमास्थितानामालम्बिभिश्चन्द्रकिणां कलापैः ।
हरिन्मणिश्यामतृणाभिरामैर्गृहाणि नीध्रैरिव यत्र रेजुः ॥ ४९ ॥

गोपानसीष्विति । यत्र पुरि गृहाणि गोपानसीषु वलभीच्छादनाधारेषु वक्रपञ्जरेष्वित्यर्थः । अत एव 'गोपानसी तु वलभीच्छादने वक्रदारुणि' इत्यत्र पटलाधारवक्रपञ्जरे इत्याह स्वामी । क्षणमीषत्कालम् । " अत्यन्तसंयोगे द्वितीया " । आस्थितानामासीनानां चन्द्रकाः मेचकाः । 'समौ चन्द्रकमेचकौ ' इत्यमरः । तद्वतां चन्द्रकिणां मयूराणाम् आलम्बिभिर्लम्बमानैः कलापैः बर्हैः । 'कलापो भूषणे बर्हे ' इत्यमरः । हरिन्मणयो मरकतानि । ' गारुत्मतं मरकतमश्मगर्भं हरिन्मणिः ' इत्यमरः । तद्वत् श्यामैस्तृणैरभिरामाणि । हरिततृणमयानीत्यर्थः ।

तैर्नीध्रैः पटलप्रान्तैरिव रेजुः । 'वलीकनीध्रे पटलप्रान्तेऽथ पटलं छदिः ' इत्यमर । छादनपर्यायौ पटलच्छदी छद्मवल्लवाचिनी वलीकनीध्रे छदेराधारो वक्षपञ्जरो गोपानसीति विवेक । अत एव हरितत्वालम्बनादिगुणक्रियानिमित्तत्वान्नीध्रैरिवेति जातिस्वरूपोत्प्रेक्षा ॥ ४९ ॥

बृहत्तुलैरप्यतुलैर्वितानमालापिनद्धैरपि चावितानैः ।
रेजे विचित्रैरपि या सचित्रैर्गृहैर्विशालैरपि भूरिशालैः ॥ ५० ॥

बृहदिति । या पु बृहत्यस्तुला उपरिस्थाप्यदार्वाधारभूतानि स्तम्भाग्रपीठानि येषु तैः बृहत्तुलैः तथाप्यतुलैः तद्रहितैरिति विरोध. । अनुपमैरित्यविरोध. ' तुला माने पलशते सादृश्ये राशिभाण्डयोः । गृहाणा दारुबन्धाय पीठ्याम् ' इति हैमः । वितानानामुल्लोचाना मालाभिः पङ्क्तिभि पिनद्धैराच्छादितैः, तथाप्यवितानैस्तद्रहितैरिति विरोध । अशून्यैरित्यविरोधः । समस्तवस्तुसमृद्धैरित्यर्थ' । ' अस्त्री वितानमुल्लोचो वितान त्रिषु तुच्छकम् ' इत्युभयत्राप्यमरः । विचित्रैरालेख्यरहितैरपि सचित्रै' तत्सहितैरिति विरोध । विचित्रैरद्भुतैरिति परिहार । 'आलेख्याश्चर्ययोश्चित्रम् ' इत्यमर. । विगताः शालागृहैकदेशा येषा तानि । 'शाला गृहे तरुस्कन्धे शाखागारैकदेशयोः ' इति विश्वः । तै' विशालैरपि भूरिशालैः प्रचुरगृहैकदेशविशिष्टैः । इति विरोध । विशालैः पृथुलैरित्यविरोध । ' विशाल पृथुल महत् ' इत्यमरः । " वेः शालच्छङ्कटचौ " इति शालच् प्रत्ययः । गृहैः रेजे । अपिरय सर्वत्र विरोधे विरुद्धवदाभासाद्विरोधालङ्कार । 'विरोधः सोऽविरोधेऽपि विरुद्धत्वेन यद्वचः' इति काव्यप्रकाशलक्षणात् ॥ ५० ॥

चिक्रंसया कृत्रिमपत्रिपङ्क्तेः कपोतपालीषु निकेतनानाम् ।
मार्जारमप्यायतनिश्चलाङ्गं यस्यां जनः कृत्रिममेव मेने ॥५१ ॥

चिक्रंसयेति । यस्या पुरि निकेतनाना वेश्मनाम् । 'वेश्म सद्म निकेतनम् ' इत्यमरः । कपोतान्पक्षिण' पाल्यन्तीति कपोतपाल्यो विटङ्कापरनामान' स्तम्भाग्रप्रसारिताःदारुविशेषाः।'कपोतपालिकाया तु विटङ्कं पुन्नपुंसकम्' इत्यमरः ॥ कर्मण्यणि ङीप् । तासु कृत्रिमपत्रिणा दारुमयपक्षिणा पङ्क्तेः । कर्मणिषष्ठी । चिक्रंसया क्रमितुमिच्छया । जिघृक्षयेत्यर्थः । क्रमे. सन्नन्तात् "अप्रत्ययात्" इत्यकारप्रत्यये टाप् "स्नुक्रमोरनात्मनेपदनिमित्ते" इतीडागमो न भवति । अत्र क्रमेर्वृत्त्यादिव्यतिरिक्तार्थेऽपि "अनुपसर्गाद्वा" इति वैकल्पिकस्यात्मनेपदनिमित्तस्यानुपसर्गत्वस्य वैवक्षिकस्य सम्भवात् । आयतमानत वा निश्चलमङ्गं यस्य त मार्जार विडालमपि । 'ओतुर्विडालो मार्जार.' इत्यमर । जन' कृत्रिमं क्रियानिर्वृत्तमेव मेने, न तु वास्तवमित्यर्थः।"ड्वितः क्त्रिः""क्त्रेर्मम्नित्यम्" इति मप्प्रत्ययः । अनेन कृत्रिमाकृत्रिमभेदो दुर्ग्रह इति शिल्प ज्ञानातिशयोक्तिः । अत्र कविकल्पितसादृश्यान्मार्जारजनयोः कृत्रिमाकृत्रिमेषु विपरीतमतिवर्णनाद्भ्रान्तिमदलङ्कारः ॥५१॥

क्षितिप्रतिष्ठोऽपि मुखारविन्दैर्वधूजनश्चन्द्रमधश्चकार ।
अतीतनक्षत्रपथानि यत्र प्रासादशृङ्गाणि वृथाध्यरुक्षत् ॥५२॥

क्षिनीति । यस्या पुरि वधूजन क्षितौ प्रतिष्ठा यस्य स भूमिस्थितोऽपि चन्द्रम । दिवि स्थितामिति भावः । तत्रापि मुखैरेवारविन्दैरधश्चकारेति विरोधः स्वलावण्यमहिम्ना अवनीचकारेति परिहारादिरोधाऽलंकारः । अतीतानि नक्षत्रपथमतीतनक्षत्रपथानि । " अत्यादय. क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया" इति समासः " द्विगुप्राप्तापन्न"इत्यादिना परवल्लिङ्गताप्रतिषेध' । प्रासादशृङ्गाणि वृथा अध्यरुक्षत् अधिरोहति स्म । अनधिरोहेणैवाधःकरणादिति भावः । रोहितेर्लुङ् " शल इगुपधादनिटः क्स. " इति च्लेः क्सादेशः । अत्राधःकरणवाक्यार्थस्य श्लेषविरोधोपजीव्यवैयर्थ्ये हेतुत्वात्सङ्कीर्णः काव्यलिङ्गभेदः ॥ ९२ ॥

रम्या इति प्राप्तवतीः पताका रागं विविक्ता इति वर्द्धयन्तीः ।
यस्यामसेवन्त नमद्वलीकाः समं वधूभिर्वलभीर्युवानः ॥ ९३ ॥

रम्या इति । यस्या पुरि युवानो रम्या रमणीया इति हेतो पताका प्राप्तवतीः।उच्छ्रितध्वजा इत्यर्थः । अन्यत्र रम्या इत्येव पताका. प्राप्तवतीः प्रसिद्धिं गता इत्यर्थ । 'पताका वैजयन्त्या च सौभाग्येऽङ्कध्वजेऽपि च' । 'इति हेतौ प्रकरणे प्रकारादिसमाप्तिषु' इत्युभयत्रापि विश्व' । विविक्ता विजना विमलाश्च इति हेतोः राग वर्द्धयन्ती. । 'विविक्तौ पूतविजनौ' इत्यमर. । नमद्वलीका. नम्रनीध्रा. " वलीकनीध्रे पटलप्रान्ते' इत्यमर । अन्यत्र नमन्त्यो वल्यस्त्रिवल्याख्या मध्यरेखा यासां ता नमद्वलीका । "नद्यृतश्च" इति कप्प्रत्ययः । 'वली मध्यमरेखोर्मिर्जीर्णत्वग्गृहदारुषु' इति वैजयन्ती । वलभी. कूटागाराणि । ' कूटागार तु वलभी' इत्यमर' । वधूभि सममसेवन्त वधूसहिता असेवन्तेत्यर्थ. । अत्र वधूना वलभीना च प्रकृतानामेव धर्मसाधर्म्येणौपम्यावगमात्केवलप्रकृतगोचरा तुल्ययोगिता, न श्लेषः । तत्र विशेष्यस्यापि श्लिष्टत्वनियमात् । यथाहुः । 'प्रस्तुताना तथान्येषां केवल तुल्यधर्मत' । औपम्यं गम्यते यत्र सा मता तुल्ययोगिता' । इति ।। ९३ ॥

सुगन्धितामप्रतियत्नपूर्वां बिभ्रन्ति यत्र प्रमदाय पुंसाम् ।
मधूनि वक्त्राणि च कामिनीनामामोदकर्मव्यतिहारमीयुः॥ ९४ ॥

सुगन्धितामिति । यत्र पुरि न प्रतियत्न' सस्कार. पूर्वो यस्यास्तामप्रतियत्नपूर्वामकृत्रिमाम् । स्वाभाविकीमित्यर्थ' । ' प्रतियत्नस्तु सस्कारः' इति वैजयन्ती । शोभनो गन्धो येषा तेषा भावस्तत्ता तां सुगन्धितां सौरभ्य'गन्धस्येत्, इत्यादिनेकार. ।बिभ्रन्ति बिभ्राणानि।"वा नपुसकस्य" इति नुमागमः । मधूनि मद्यानि कामिनीनां वक्त्राणि च यूनां प्रमदाय प्रीत्यै आमोदकर्मणो वासनाव्यानस्य व्यतिहार परस्परकरणमीयुः । अन्योन्यगन्धेन अन्योन्यं वासयामासुरित्यर्थ. । इणो लिट् । अत्रापि मधूना वक्त्राणां च प्रकृतत्वात्तत्पूर्वकएव तुल्ययोगिताभेदः । तेन यूना मधुवासितवधूवदन पानं वदनवासितगण्डूषपानं च वस्तु व्यज्यते । तेन च निरातङ्कभोगाः पौरा इति गम्यते ॥ ९४ ॥

रतान्तरे यत्र गृहान्तरेषु वितर्दिनिर्यूहविटङ्कनीडः ।
रुतानि शृण्वन्वयसां गणोऽन्तेवासित्वमाप स्फुटमङ्गनानाम्॥९५॥

रुतान्तर इति । यत्र पुरि गृहान्तरेषु वितर्दयो विहारवेदिकाः । 'स्याद्वितर्दिस्तु वेदिका' इत्यमरः । तासां निर्यूहा मत्तवारणाख्या उपाश्रयाः । 'निर्यूहो मत्तवारणः' इति वैजयन्ती । तेषां विटङ्काः उपरितन्यः कपोतपालिकाः त एव नीडाः कुलायाः यस्य सः । 'कुलायो नीडमस्त्रियाम्' इत्यमरः । वयसां शुकसारिकादिपक्षिणां गणः । 'वयः पक्षिणि बाल्यादौ' इति विश्वः । अङ्गनानाम् । वितर्दिषु रममाणानामिति भावः । रुतान्तरे रुतानि रतिकूजितानि शृण्वन् अन्ते समीपे वसन्त इत्यन्तेवासिनः शिष्याः । 'छात्रान्तेवासिनौ शिष्ये' इत्यमरः । "शयवासवासिष्वकालात्" इत्यलुक् । तेषां भावस्तत्त्वमाप । समीपे प्रतिशब्दः यथाश्रुतमुच्चारणादेवमुत्प्रेक्ष्यते । अत एव स्फुटमिति व्यञ्जकप्रयोगः ॥ ९९ ॥

छन्नेष्वपि स्पष्टतरेषु यत्र स्वच्छानि नारीकुचमण्डलेषु ।
आकाशसाम्यं दधुरम्बराणि न नामतः केवलमर्थतोऽपि ॥ ९६ ॥

छन्नेष्विति । यत्र पुरि छन्नेषु आच्छादितेषु । 'वा दान्त' इत्यादिना वैकल्पिको निपातः । स्पष्टतरेषु स्फुटतरं लक्ष्यमाणेष्वित्यर्थः । नारीकुचमण्डलेषु स्वच्छानि स्फटिकादिवदनिरोधायकानि अम्बराणि वस्त्राणि केवलं नामतोऽम्बरमिति नाम्नैवाकाशसाम्यं न दधुः । 'अम्बरं व्योम्नि वाससि' इति विश्वः । किन्तु अर्थतोऽपि अर्थक्रिययापि तत्साम्यं दधुः । स्वयमतिसूक्ष्मत्वादव्यवधायकत्वं दृष्ट्यादेर्मूर्तान्तरगतप्रविघातित्वं चेत्यादिनापि साम्यं दधुरित्यर्थः । उपमालङ्कारः ॥ ९६ ॥

यस्यामजिह्मा महतीमपङ्काः सीमानमत्यायतयोऽत्यजन्तः ।
जनैरजातस्खलनैर्न जातु द्वयेऽप्यमुच्यन्त विनीतमार्गाः ॥ ९७ ॥

यस्यामिति । यस्यां पुरि अजिह्मा अवक्राः अन्यत्राकपटाः । दम्भादिरहिता इत्यर्थः । 'आचरेत्सदृशीं वृत्तिमजिह्मामशठां तथा' । इति स्मरणादिति भावः । 'जिह्मः कपटवक्रयोः' इति विश्वः । अपङ्काः कर्दमरहिता निष्पापाश्च । 'पङ्कोऽघे कर्दमे' इति हैमः । महतीं सीमानं राजकल्पितक्षेत्रमानमर्यादां कुलागतानुष्ठानस्थितिं च अत्यजन्तः । अत्यक्तमहामर्यादा इत्यर्थः । अतिमात्रा आयतिरायामः उत्तरकालश्च येषां ते अत्यायतयः । 'आयतिस्तूत्तरे काले संयमायामयोरपि' इति विश्वः । द्वये द्विरूपा अपि । "प्रथमचरमतय" इत्यादिना जसि विभाषया सर्वनामसंज्ञा । विनीतमार्गाः सुरचितपुरवीथयः सुशिक्षिताचारपद्धतयश्च न जातं स्खलनं पाषाणादिप्रतिघातो विरुद्धाचरणं च येषां तैर्जनैः जातु कदाचिदपि नामुच्यन्त न त्यक्ताः । न कदाचित् खिलीकृता इत्यर्थः । अत्र मार्गशब्दस्य साधर्म्यादेकवृन्तावलम्बिफलद्वयवदेकशब्देनार्थद्वयप्रतीतेः द्वयानामपि मार्गाणां प्रकृतत्वाच्च केवलप्रकृतविषयोऽर्थश्लेषः । विशेष्यस्यापि श्लिष्टत्वान्न तुल्ययोगिता ॥ ९७ ॥

परस्परस्पार्द्धिपरार्द्ध्यरूपाः पौरस्त्रियो यत्र विधाय वेधाः ।
श्रीनिर्मितिप्राप्तघुणक्षतैकवर्णोपमावाच्यमलं ममार्ज ॥ ५८ ॥

परस्परेति । यत्र पुरि परस्परस्पर्द्धीन्यहमहमिकयान्योन्यसामर्षाणि परार्द्ध्यानि श्रेष्ठानि रूपाणि सौन्दर्याणि यासां ताः । 'रूपं स्वरूपे सौन्दर्ये' इति विश्वः । पुरे भवाः पौराः ताः स्त्रियः पौरस्त्रियः । "स्त्रियाः पुंवत्" इत्यादिना पुंवद्भावः । विधाय निर्माय वेधाः स्रष्टा श्रियो लक्ष्मीदेव्याः निर्मित्या निर्माणेन प्राप्तं यत् घुणेन वज्रकीटेन क्षतस्योत्कीर्णस्यैकवर्णस्य उपमया साम्येन वाच्यमपवादः तदलमत्यन्तम् । तदेवमलमिति केचित् । ममार्ज घुणाक्षरवत् यादृच्छिकमिदं श्रीदेवतासौन्दर्यशिल्पं न कौशलमित्यागयं क्षालितवानित्यर्थः । अनया चातिशयोक्त्या पौरस्त्रीणां रमान्समानसौन्दर्यं वस्तु व्यज्यते ॥ ५८ ॥

क्षुण्णं यदन्तःकरणेन वृक्षाः फलन्ति कल्पोपपदास्तदेव ।
अध्यूषुषो यामभवज्जनस्य याः सम्पदस्ता मनसोऽप्यगम्याः ५९

क्षुण्णमिति । यदन्तःकरणेन क्षुण्णमभ्यस्तम् । ममेदं भूयादिति भूयोभूयः सङ्कल्पितमित्यर्थः । कल्पयन्ति मनोहरितार्थानिति कल्पाः कल्पा इत्युपपदं व्यावर्त्तकं येषां ते कल्पोपपदाः वृक्षाः कल्पवृक्षाः तदेव फलन्ति निष्पादयन्ति । 'फल निष्पत्तौ' इति धातोर्लट् । किन्तु यां पुरमध्यूषुषः अध्यासुषितवन्तः । "उपान्वध्याङ्वसः" इति कर्मत्वम् "भाषायां सदवसश्रुवः" इति क्वसुप्रत्ययः । जनस्य याः सम्पदोऽभवन् ता मनसोऽप्यगम्याः वाचामभूमय इति किमु वक्तव्यमिति भावः । गृहे गृहे कल्पवृक्षसम्बन्धातिशयोक्त्या पौराणां देवेन्द्रभोगो व्यज्यते । इह कल्प इत्युपपदं स्वसंज्ञैकदेशो येषामिति व्याख्याने हिरण्यपूर्वकशिपुमित्यादिवदवाच्यवचनदोषावकाशः ॥ ५९ ॥

कला दधानः सकलाः स्वभाभिरुद्भासयन्सौधसिताभिराशाः ।
यां रेवतीजानिरियेष हातुं न रौहिणेयो न च रोहिणीशः ॥ ६० ॥

कला इति । सकलाः समग्राः कलाश्चतुःषष्टिविद्याः षोडश भागाश्च दधानः । 'कला शिल्पे कालभेदे' इति 'कला तु षोडशो भागः' इति चामरः । सुधयावलिप्तं सौधं तद्वत्सिताभिः स्वभाभिराशा दिशः उद्भासयन् रेवती ककुद्मिकन्या पूर्वकं भं च जाया यस्य स रेवतीजानिः । "जायाया निङ्" इति समासान्तो निङादेशः, "लोपो व्योर्वलि" इति यलोपः । रोहिण्या अपत्यं पुमान् रौहिणेयः बलभद्रः । "स्त्रीभ्यो ढक्" यां पुरीं हातुं त्यक्तुं न इयेष नेच्छति स्म । लिट् । रोहिणीशश्चन्द्रश्च हातुं न इयेष । अत्र रौहिणेयरोहिणीशयोः परोत्कर्षावहत्वेन द्वयोः प्रकृतत्वाद्विशेष्यस्याश्लिष्टत्वाच्च केवलप्रकृतविषया तुल्ययोगिता । गतमन्यत् ॥ ६० ॥

बाणाहवव्याहतशम्भुशक्तेरासत्तिमासाद्य जनार्दनस्य ।
शरीरिणा जैत्रशरेण यत्र निःशङ्कमूषे मकरध्वजेन ॥ ६१ ॥

बाणेति । यत्र पुरि बाणाहवे बाणासुरयुद्धे व्याहता क्षय नीता शम्भुशक्तियेन तस्य हरिजयिनो जनार्दनस्य कृष्णस्यासत्ति प्रत्यासत्तिमासाद्य । पुत्रत्व प्राप्येत्यर्थः । शरीरिणा विग्रहवता । न त्वनङ्गेनेति भावः । जेतार एव जैत्रा जयशीला । तृन्नन्तात्प्रज्ञादित्वादण् प्रत्ययः । ते शरा यस्य तेन मकरध्वजेन कामेन । प्रद्युम्नरूपेणेति भावः । नि शङ्क निर्भीकमगे उषितम । 'वस निवासे' इति धातोर्भावे लिट् । "वचिस्वपि" इत्यादिना सम्प्रसारणम् । 'शङ्का वितर्कभययो ' इति विश्व । अत्रशम्भुशक्तिव्याघातपदार्थस्य विशेषणगत्या नि'शङ्कनिवासहेतुत्वोक्ते काव्यलिङ्गभेद । पुरा किल भगवान् भक्तवत्सलो धूर्जटिर्बाणप्रेम्णा बाणाभियोगिन हरिमभियुज्य निर्जित इति पौराणिकाः कथयन्ति ॥ ६१ ॥

निषेव्यमाणेन शिवैर्मरुद्भिरध्यास्यमाना हरिणा चिराय ।
उदृश्मिरत्नाङ्कुरधाम्नि सिन्धावाह्वास्त मेरावमरावतीं या ॥६२॥

निषेव्यमाणेनेति । शिवैर्मरुद्भिर्मन्दमारुतै अन्यत्र शिवैः रुद्रैर्मरुद्भिर्मरुद्गणैश्च चिराय निषेव्यमाणेन हरिणा श्रीकृष्णेन शक्रेण चाध्यास्यमाना अधिष्ठीयमाना उदर्च्चीना रत्नाङ्कुराणा धाम्नि स्थाने एकत्र रत्नाकरत्वादन्यत्र रत्नसानुत्वाच्चेति भावः । सिन्धौ स्थितेति शेषः ।या पूर्मेरौ स्थिताम् अमरा यस्या सन्तीत्यमरावतीमैन्द्रनगरीम् । " मतौ बह्वचोऽनजिरा" इत्यादिना दीर्घः "सज्ञाया मादुपधायाश्च" इत्यादिना वत्वम् । आह्वास्त स्पर्द्धया आहूतवती । अमरावतीमनुचकारेत्यर्थः । ह्वयतेर्लुङ् "स्पर्द्धायामाङ " इत्यात्मनेपदम्, "लिपि सिचि ह्वश्च " इति । "आत्मनेपदेष्वन्यतरस्याम् " इति च्लेरङ्भावपक्षे सिजादेशः । अत्र प्रथमार्थे श्लेषेऽपि सिन्धौ मेरौ स्थितेति प्रतिबिम्बाभावेन साधर्म्योक्ते । श्लेषानुप्राणितेयमुपमेति संक्षेपः । आह्वास्तेति सादृश्यप्रतिपादकः शब्द । ' स्पर्द्धते ह्वयते द्वेष्टि ' इत्यनुशासनात् ॥ ६२ ॥

स्निग्धाञ्जनश्यामरुचिः सुवृत्तो वध्वा इवाध्वंसितवर्णकान्तेः ।
विशेषको वा विशिशेष यस्याः श्रियं त्रिलोकीतिलकः स एव६३

स्निग्धेति । स्निग्ध यदञ्जन तद्वत्तेन च श्यामरुचि सुवृत्तः सद्वृत्तिः सुष्ठु वर्त्तुलश्च त्रयाणा लोकाना समाहारस्त्रिलोकी । " तद्धितार्थ" इत्यादिना समासः, "सङ्ख्यापूर्वो द्विगु " इति द्विगुसंज्ञा ' अकारान्तोत्तरपदो द्विगुः स्त्रियामिष्यते" इति स्त्रीत्वम्, "द्विगोः" इत्यादिना ङीप् । तस्यास्तिलको भूषणभूत स हरिरेव विशेषको वा तिलक इवेत्यर्थः । "इववद्वायथाशब्दौ " इत्यनुशासनात् । ' तमालपत्रतिलकचित्रकाणि विशेषकम् । द्वितीय च तुरीयं च न स्त्रियाम् ' इत्यमरः । अध्वसिता वर्णाना ब्राह्मणादीना कान्तिरौज्ज्वल्य यस्याः पुरः अन्यत्राध्वसितो वर्णो गौरादिः कान्तिर्लावण्य च यस्यास्तस्याः । वर्णो द्विजादौ शुक्लादौ' इत्युभयत्राप्यमर । वध्वा इव श्रिय विशिशेष विशेषितवान् । अनेकशाब्देयमुपमेत्येके । शब्दमात्रसादृश्यात् श्लेष इत्यन्ये श्लेषोपमेत्याह दण्डी ॥ ६३ ॥

तामीक्षमाणः स पुरं पुरस्तात्प्रापत्प्रतोलीमतुलप्रतापः ।
वज्रप्रभोद्भासिसुरायुधश्रीर्या देवसेनेव परैरलङ्घ्या ॥ ६४ ॥

तामिति । अतुलप्रतापः स हरिः तां पूर्वोक्तां पुरमीक्षमाणः पुरस्तात् पूर्वस्यां दिशि । सप्तम्यर्थे तसिल्प्रत्ययः प्रतोलीं रथ्याम् । 'रथ्या प्रतोली विशिखा' इत्यमरः । प्रापत् प्राप्तवान् । लुङि "पुषादि" इत्यादिना च्लेरङादेशः । वज्राणां तोरणप्रासादादिगतहीरकादिमणीनां प्रभाभिरुद्भासिनी सुरायुधश्रीरिन्द्रचापलक्ष्मीर्यस्यां सा । इह वज्रग्रहणं मणिमात्रोपलक्षणम् अन्यथेन्द्रायुधाभावापत्तेरिति भावः । अन्यत्र वज्रस्य कुलिशस्य प्रभाभिरुद्भासिनी सुरायुधानामितरदेवतायुधानां श्रीर्यस्याः सा । 'वज्रोऽस्त्री हीरके पवौ' इत्यमरः । या प्रतोली देवसेना सुरचमूरिव परैः शत्रुभिरलङ्घ्या दुष्प्रधर्ष्या ॥ ६४ ॥

प्रजा इवाङ्गादरविन्दनाभेः शम्भोर्जटाजूटतटादिवापः ।
मुखादिवाथ श्रुतयो विधातुः पुरान्निरीयुर्मुरजिद्ध्वजिन्यः ॥ ६५ ॥

प्रजा इति । अरविन्दनाभेर्विष्णोरङ्गात् प्रजा इव । 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इति श्रुतेरिति भावः । शम्भोर्जटाजूटतटादापः इव गङ्गाजलानीव विधातुर्मुखात् श्रुतय इव मुरजितो हरेः ध्वजिन्यः सेनाः पुरान्निरीयुः निर्गताः । मालोपमेयम् ॥ ६५ ॥

श्लिष्यद्भिरन्योन्यमुखाग्रसङ्गस्खलत्खलीनं हरिभिर्विलोलैः ।
परस्परोत्पीडितजानुभागा दुःखेन निश्चक्रमुरश्ववाराः ॥ ६६ ॥

श्लिष्यद्भिरिति । अन्योन्येषां मुखाग्रेषु सङ्गेन स्खलन्तः खलीनाः कविका यस्मिन्कर्मणि तद्यथा तथा । 'कविका तु खलीनोऽस्त्री' इत्यमरः । श्लिष्यद्भिः सङ्घृष्यद्भिः विलोलैः मुहुरुच्चरद्भिर्हरिभिस्तुरङ्गैः करणैः । अश्वान्वारयन्ति ये तेऽश्ववारा अश्वारोहाः परस्परेणोत्पीडितजानुभागाः सन्तो दुःखेन निश्चक्रमुः निर्जग्मुः । अत्र स्वभावोक्त्यातिशयोक्त्योः सङ्करः ॥ ६६ ॥

निरन्तरालेऽपि विमुच्यमाने दूरं पथि प्राणभृतां गणेन ।
तेजोमहद्भिस्तमसेव दीपैर्द्विपैरसम्बाधमयाम्बभूवे ॥ ६७ ॥

निरन्तराल इति । तमसा तिमिरेणेव प्राणभृतां गणेन प्राणिवर्गेण कर्त्रा । निरन्तरालेऽपि पूर्वं सेनैवातिसङ्कटेऽपि पथि सम्प्रति दूरं दूरत एव विमुच्यमाने सति । एकत्र दीपभयादन्यत्र द्विपभयाच्चेत्यर्थः । तेजोमहद्भिर्बलाधिकैः प्रभासम्पन्नैश्च । 'तेजो बलं प्रभा तेजः' इति विश्वः । द्विपैर्दीपैरिवासम्बाधमसङ्कीर्णमयाम्बभूवे जग्मे । नत्वश्वैरिव कृच्छ्रादिति भावः । 'अय गतौ' भावे लिट् "दयायासश्च" इत्याम्प्रत्ययः । स्वतेजसैव दूरोत्सारिततमस्के दीपा इव तथोत्सारितप्राणिके पथि निरर्गलं द्विपाः प्रययुरित्यर्थः । तमसीति सप्तम्यन्तपाठे तु तमसः पथ्युपमानत्वे द्विपागमनात्पथ इव तमसो दीपागमनात्प्राक्तनप्राणिवर्गेण निरन्तराले

पश्चान्मुच्यमानत्वं च न सम्भवतीत्युपमानोपमेययोर्वैरूप्यं स्यात् । तृतीयान्तपाठे तमन्नं प्राणिवर्गोपमानत्वे तत्सारूप्यसाकल्यात्स एव साधीयानित्यालङ्कारिकाणां पन्थाः ॥ ६७ ॥

शनैरनीयन्त रयात्पतन्तो रथाः क्षितिं हस्तिनखादखेदैः ।
सयत्नसूतायतरश्मिभुग्नग्रीवाग्रसंसक्तयुगैस्तुरङ्गैः ॥ ६८ ॥

शनैरिति । रयात्पतन्तो धावन्तो रथाः सयत्नैः सूतैः सारथिभिः । 'सूतः क्षत्ता च सारथिः' इत्यमरः । आयता आकृष्टा ये रश्मयः प्रग्रहाः । 'किरणप्रग्रहौ रश्मी' इत्यमरः । तैर्भुग्नेषु वक्रेषु ग्रीवाणामग्रेषु संसक्ता युगा युग्याः स्कन्धवाह्याः दारुविशेषाः येषां तैरत एवाखेदैरश्रमैः तुरङ्गैः हस्तिनखात् हस्तिनखः पूर्द्वारि मृत्कूटः । 'कूटं पूर्द्वारि यद्धस्तिनखस्तस्मिन्' इत्यमरः । तस्माच्छनैः क्षितिमनीयन्त नीता इति स्वभावोक्तिः यथावद्वस्तुवर्णनात् ॥ ६८ ॥

बलोर्मिभिस्तत्क्षणहीयमानरथ्याभुजाया वलयैरिवास्याः ।
प्रायेण निष्क्रामति चक्रपाणौ नेष्टं पुरो द्वारवतीत्वमासीत् ॥ ६९ ॥

बलोर्मिभिरिति । बलान्यूर्मय इव तैर्बलोर्मिभिः वलयैः कङ्कणैरिव तत्क्षणे हरिनिष्क्रमणक्षण एव हीयमाना अपरिच्यमाना रथ्या भुजेव यस्याः तस्याः अत एवास्याः पुरो द्वारवत्याश्चक्रपाणौ कृष्णे निष्क्रामति निर्गच्छति सति प्रायेण भूम्ना द्वारवतीत्वं द्वारकात्वम् । स्वस्वरूपमिति यावत् । इष्टं नासीत् । हरिविरहे तद्वैफल्यादिति भावः । द्वारवतीशब्दस्य सञ्ज्ञात्वात् "त्वतलोर्गुणवचनस्य" इति न पुंवद्भावः । अन्यत्र द्वारवतीत्वं द्वारवत्त्वं नेष्टं तस्य हरिनिष्क्रमणहेतुत्वात् । इत्युभयथाप्युपमितभुजवलयगलनहेतुत्वादुपमासङ्कीर्णेयमनिष्टत्वोत्प्रेक्षा प्रायेणेत्यनेन व्यज्यते ॥ ६९ ॥

अथासर्गसमाप्तेः समुद्रं वर्णयति-

पारेजलं नीरनिधेरपश्यन्मुरारिरानीलपलाशराशीः ।
वनावलीरुत्कलिकासहस्रप्रतिक्षणोत्कूजितशैवलाभाः ॥ ७० ॥

पार इति । मुरारिर्नीरनिधेः समुद्रस्य जलानां पारे परतीरे पारेजलम् । 'पारावारे परार्वाची तीरे' इत्यमरः । "पारे मध्ये षष्ठ्या वा" इत्यव्ययीभावः । तत्संयोगादेकारान्तत्वं च पारेशब्दस्य । आसमन्तान्नीलाः पलाशानां पत्राणां राशयो यासां ताः । हरितपर्णपूर्णा इत्यर्थः । 'पत्रं पलाशं छदनम्' इत्यमरः । अत एवोत्कलिका ऊर्मयः । 'ऊर्मिरुत्कलिकोल्लोलकल्लोललहरिस्तथा' इति हलायुधः । तासां सहस्रैः प्रतिक्षणमुत्कूलिताः कूलमुद्गताः कूलं प्रापिता इत्यर्थः । उत्कूलशब्दात्तत्करोतीति ण्यन्तात्कर्म्मणि क्तः । तेषां शैवलानाम् आभेवाभा यासां ताः । तत्सदृशीरित्यर्थः । वनावलीरपश्यत् । अत्रोत्कूलितशैवलस्य स्वतःसिद्धसन्देहादुपमोत्प्रेक्षयोः सन्देहसङ्करः ॥ ७० ॥

लक्ष्मीभृतोऽम्भोधितटाधिवासान्द्रुमानसौ नीरदनीलभासः ।
लतावधूसम्प्रयुजोऽधिवेलं बहूकृतान्स्वानिव पश्यति स्म ॥ ७१ ॥

लक्ष्मीभृत इति । असौ हरिर्लक्ष्मीं शोभां श्रीदेवीं च बिभ्रतीति लक्ष्मीभृतस्तान् अम्भोधितटे अधिवासो येषां तान् । नीरदवन्नीलभासः नीलवर्णान् । लतावध्वः इवेत्युपमितसमासः । अन्यत्र लता इव वध्वः इति शाकपार्थिवादित्वान्मध्यमपदलोपी समासः । ताभिः सम्प्रयुज्यन्त इति सम्प्रयुजः सङ्गतान् । क्विप् । अधिवेल वेलायाम् । विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः । द्रुमान् बहूकृताननेकीकृतान् स्वान् स्वकीयविग्रहानिवेत्यर्थः । एवञ्च पुंल्लिङ्गतानिर्वाह । आत्मपरत्वे नपुंसकत्वापातः । 'स्वो ज्ञातावात्मनि स्वं त्रिष्वात्मीये स्वोऽस्त्रिया धने' इत्यमरः । पश्यति स्म । श्लेषसङ्कीर्णेयमुत्प्रेक्षा ॥ ७१ ॥

आश्लिष्टभूमिं रसितारमुच्चैर्लोलद्भुजाकारबृहत्तरङ्गम् ।
फेनायमानं पतिमापगानामसावपस्मारिणमाशशङ्के ॥ ७२ ॥

आश्लिष्टेति । आश्लिष्टभूमिमालिङ्गितभूतलम् उच्चैस्तारं रसितारं क्रन्दितारं लोलता चञ्चलतामितस्ततः पततां भुजानाम् आकार इव आकारो येषां ते बृहत्तरङ्गाः यस्य तं तथोक्तं फेनायमानं फेनमुद्वमन्तम् । "फेनाच्चेति वक्तव्यम्" इति क्यङ् । अपां समूह आपम् "तस्य समूहः" इत्यण् । तेन गच्छन्तीत्यापगाः. तासां पतिं समुद्रम् असौ हरिरपस्मारिणमपस्माररोगिणमाशशङ्के । तत्कर्मयोगात्तथा उत्प्रेक्षाञ्चक्रे इत्यर्थः । यथाहुर्नैदानिकाः "क्रुद्धैर्वातादिभिराहतेऽथ मनसि प्राणी मनःसन्दिग्धान्धतमः खादति फेनमुद्गिरति दोःपादौ क्षिपन्मूढधीः । पश्यन् रूपमसाक्षितौ निपतति द्रव्यथा करोति क्रियां विश्वन्न स्वयमेव शाम्यति गते वेगे त्वपस्माररुक्' इति ॥ ७२ ॥

पीत्वा जलानां निधिनातिगार्ध्याद्वृद्धिंगतेऽप्यात्मनि नैवमान्तीः ।
क्षिप्ता इवेन्दोः स रुचोऽधिवेलं मुक्तावलीराकलयाञ्चकार ॥ ७३ ॥

पीत्वेति । जलानां निधिना समुद्रेण गर्द्ध एव गार्ध्यम् । औपम्यादिवच्चातुर्वर्ण्यादित्वात्स्वार्थे ष्यञ् । तदतिमात्रमतिगार्ध्यं तस्मात्तृष्णाभरादित्यर्थः । गृध्नोः पुनर्गुणः 'वान्तो यि प्रत्यये' इति गार्ध्यमिति स्यात् । पीत्वा । क्षेपणाक्रियापेक्षया पूर्वकालता । अथ वृद्धिंगते आत्मनि देहे । चन्द्रोदये समुद्रस्य वृद्धिरित्यागमः । नैव मान्तीरमान्तीः अतिरिच्यमाना इत्यर्थः । मातेः शतरि ङीप् "आच्छीनद्योर्नुम्" इति नुम् । क्षिप्ता उद्गीर्णा अतितृष्णयोत्कटं पीत्वा अन्तरमानाद्बहिरुद्वान्ता इत्यर्थः । इन्दो रुचो मरीचिरिवेत्युत्प्रेक्षा । स हरिरधिवेलमधितीरम् 'वेला कूलविकारयोः' इति विश्वः । मुक्तावलीः आकलयाञ्चकार आकलयामास ॥ ७३ ॥

साटोपमुर्वीमनिशं नदन्तो यैः प्लावयिष्यन्ति समन्ततोऽमी ।
तान्येकदेशान्निभृतं पयोधेः सोऽम्भांसि मेघान्पिबतो ददर्श ॥ ७४ ॥

साटोपमिति । अमी मेघाः साटोपं ससम्भ्रमम् 'सम्भ्रमाटोपसंरम्भाः' इति यादवः । अनिशं नदन्तो गर्जन्तो यैस्तोयैरम्भोभिरुर्वीं समन्ततः प्लावयिष्यन्ति तान्यम्भांसि पयोधेरेकदेशादेककोणान्निभृतं निश्चलं यथा तथा पिबतो मेघान्स हरिर्ददर्श । एतेन समुद्रस्यापरिच्छिन्नरूपत्वं व्यज्यते ॥ ७४ ॥

उद्धृत्य मेघैस्तत एव तोयमथ मुनीन्द्रैरिव सम्प्रणीताः ।
आलोकयामास हरिः पतन्तीर्नदीः स्मृतीर्वेदमिवाम्बुराशिम् ॥७५॥

उद्धृत्येति । मुनीन्द्रैस्ततो वेदात् वेदार्थमिव मेघैस्ततोऽम्बुराशेरेव तोयमुद्धृत्य सम्प्रणीताः कृता अम्बुराशिं पतन्तीः प्रविशन्तीर्नदीर्वेदं पतन्ती स्मृतीर्मन्वादिसंहिता इव हरिरालोकयामास । श्रुतिमूलत्वेनैव प्रामाण्यात् स्मृतीनां तत्सम्बन्ध एव तत्सम्प्रवेश अनेकैवेयमुपमा ॥ ७५ ॥

विक्रीय दिश्यानि धनान्युरूणि द्वैप्यानसावुत्तमलाभभाजः ।
तरीषु तत्रत्यमफल्गुभाण्डं सांयात्रिकानावपतोऽभ्यनन्दत् ॥७६॥

विक्रीयेति । दिक्षु भवानि दिश्यानि । दिगन्तरानीतानीत्यर्थः । "दिगादिभ्यो यत्" इति यत् । उरूणि महान्ति धनानि नानाद्रव्याणि विक्रीय मूल्येन दत्त्वा उत्तमलाभं द्वैगुण्यादिकं भजन्तीति तानुत्तमलाभभाजः तत्रत्यं द्वैप्यमित्यर्थः "अव्ययात्त्यप्" इति त्यप् । अफल्गु सारवत् । 'फल्गु तुच्छमसारं च ' इति यादवः । भाण्डं मूलधनं पण्यद्रव्यमित्यर्थः । 'वणिङ्मूलधने पात्रे भाण्डं भूषाश्वभूषयो ' इति वैजयन्ती । तरीषु नौषु । 'स्त्रियां नौस्तरणिस्तरिः ' इत्यमरः । "अविस्तृस्तन्त्रिभ्य ईः" इत्यौणादिक ईकारप्रत्ययः । आवपत आदधतः । वपतेः शतृप्रत्ययः । द्वैप्यान् समुद्रद्वीपवासिनः । "द्वीपादनुसमुद्रं यञ्" इति यञ् प्रत्ययः । समयात्रा सम्भूय यात्रा सा प्रयोजनमेषां तान् सांयात्रिकान् पोतवणिजः । 'सांयात्रिकः पोतवणिक्' इत्यमरः । 'प्रयोजनम्'' इति ठक् । असौ हरिरभ्यनन्दत् ॥ ७६ ॥

उत्पित्सवोऽन्तर्नदभर्तुरुच्चैर्गरीयसा निःश्वसितानिलेन ।
पयांसि भक्त्या गरुडध्वजस्य ध्वजानिवोच्चिक्षिपिरे फणीन्द्राः ॥७७॥

उत्पित्सव इति । नदभर्तुः समुद्रस्यान्तरभ्यन्तरात् उत्पित्सवः उत्पतितुमिच्छवः पततेः सन्नन्तादुप्रत्ययः "सनि मीमा" इत्यादिना इसादेशः, "अत्र लोपोऽभ्यासस्य" इति अभ्यासलोपः । फणीन्द्राः सर्पाः भक्त्या गरुडध्वजस्य हरेर्ध्वजानिव गरीयसातिमहता निःश्वसितानिलेन मुखमारुतेन पयांस्युच्चैरुच्चिक्षिपिरे उत्क्षिप्तवन्तः । उत्प्रेक्षा । स्वरितेत्त्वादात्मनेपदम् ॥ ७७ ॥

तमागतं वीक्ष्य युगान्तबन्धुमुत्सङ्गशय्याशयमम्बुराशिः ।
प्रत्युज्जगामेव गुरुप्रमोदप्रसारितोत्तुङ्गतरङ्गबाहुः ॥ ७८ ॥

तमिति । अम्बुराशिः युगान्तबन्धुमापद्बन्धुमित्यर्थः । उत्सङ्ग एव शय्या तस्यां शेत इति तथोक्तम् "अधिकरणे शेतेः" इत्यच्प्रत्ययः । आगतमभ्यागतं तं हरिं वीक्ष्य गुरुणा प्रमोदेन प्रसारिता उत्तुङ्गास्तरङ्गा एव बाहवो यस्य सः सन् प्रत्युज्जगाम सम्मिलनार्थमागतवानिवेति क्रियास्वरूपोत्प्रेक्षा ॥ ७८ ॥

उत्सङ्गिताम्भःकणको नभस्वानुदन्वतः स्वेदलवान्ममार्ज ।
तस्यानुवेलं व्रजतोऽधिवेलमेलालतास्फालनलब्धगन्धः ॥७९॥

उत्सङ्गितेति । उत्सङ्गिनः ससङ्गिनः कृता उत्सङ्गिता । ' तत्करोति " इति ण्यन्तात् कर्मणि क्त । उत्सङ्गिताः अम्भःकणा येनेति " शेषाद्विभाषा " इति कप् । एलालतानाम् आस्फालनेन सवर्पणेन लब्धगन्ध एव शिशिरसुरभिरुदन्वतो नभस्वान्समुद्रस्य वायुः अधिवेलम् वेलायाम् । विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः । व्रजतस्तस्य हरेः स्वेदलवाननुवेलं प्रतिक्षणम् । यथार्थेऽव्ययीभावः । ममार्ज जहार ' वेला काले च जलधेर्वेला तीरविकारयो ' इति विश्वः । काव्यलिङ्गमलङ्कारः ॥७९॥

उत्तालतालीवनसम्प्रवृत्तसमीरसीमन्तितकेतकीकाः ।
आसेदिरे लावणसैन्धवीनां चमूचरैः कच्छभुवां प्रदेशाः॥ ८० ॥

उत्तालेति । चमूषु चरन्तीति चमूचराः सैनिकाः " चरेष्टः " इति टप्रत्ययः । तैरुत्तालेषून्नतेषु तालीवनेषु सम्प्रवृत्तेन समीरणेन मारुतेन सीमन्तिताः सीमन्तिन्यः कृताः । सीमन्तशब्दात्सम्प्रवृत्तात् " तत्करोति " इति ण्यन्तात्कर्मणि क्तः, णाविष्टवद्भावे विन्मतोर्लुक् । ताः केतक्यो येषु ते तथोक्ताः । " नद्यृतश्च " इति कप् । लवणसिन्ध्वोरिमाः लावणसैन्धव्यः । " तस्येदम् " इत्यण्. " हृद्भगसिन्ध्वन्ते पूर्वपदस्य च " इत्युभयपदवृद्धिः । तासां कच्छभुवामनूपभूमीनाम् । जलप्रायमनूपं स्यात्पुंसि कच्छस्तथाविधः ' इत्यमरः । प्रदेशा देशा आसेदिरे प्राप्ताः । सीदतेः कर्मणि लिट् । अत्र स्वभावोक्तिरनुप्रासश्चालङ्कारौ । ओजः श्लेषसौशब्दसौकुमार्याद्यनेकगुणसम्पत्तिः स्पष्टा ॥ ८० ॥

लवङ्गमालाकलितावतंसास्ते नारिकेलान्तरपः पिबन्तः ।
आस्वादितार्द्रक्रमुकाः समुद्रादभ्यागतस्य प्रतिपत्तिमीयुः ॥८१॥

लवंगेति । लवङ्गमालाभिः लवङ्गकुसुममाल्यैः कलितावतंसाः कृतभूषणाः । नारिकेलान्तरित्यव्ययम् । नारिकेलाभ्यन्तर इत्यर्थः । अप इति पृथक् पदम् । समासे " ऋक्पूर " इत्यादिना समासान्तप्रसङ्गात् । पिबन्तः आस्वादिता भक्षिताः आर्द्रक्रमुका आर्द्रपूगीफलानि यैस्ते । ' घोण्टा तु पूगः क्रमुकः' इत्यमरः । ते चमूचराः समुद्रादभ्यागतस्यातिथेः प्रतिपत्तिं गौरवं सत्कारमीयुः । प्रतिपत्तिः पदप्राप्तौ प्रवृत्तौ गौरवेऽपि च ' इति विश्वः । अत्राभ्यागतप्रतिपत्तिप्राप्तेर्विशेषणगत्या । अवतंसकलनादिपदार्थहेतुत्वात्काव्यलिङ्गमलङ्कारः । तेन समुद्रचमूचराणां गृहस्थाभ्यागतौपम्यप्रतीतेरलङ्कारेणालङ्कारध्वनिः ॥ ८१ ॥

तुरगशताकुलस्य परितः परमेकतुरङ्गजन्मनः ।
प्रमथितभूभृतः प्रतिपथं मथितस्य भृशं महीभृता ॥

परिचलतो बलानुजबलस्य पुरः सततं धृतश्रिय-
श्चिरविगतश्रियो जलनिधेश्च तदाभवदन्तरं महत् ॥ ८२ ॥

इति श्रीमाघकृतौ शिशुपालवधे महाकाव्ये पुरीप्रस्थानवर्णनो
नाम तृतीयः सर्गः ॥ ३ ॥

तुरगेति । परितस्तुरगशतैराकुलस्य अपरिमिताश्वस्येत्यर्थः । प्रतिपथं प्रतिमार्गम् । याथार्थ्येऽव्ययीभावे समासान्तः । प्रमथिताः क्षुण्णाः भूभृतो राजानो गिरयश्च येन तस्य । न तु स्वयं केनापि मथितस्येति भावः । सततं धृता श्री शोभा रमा च येन तस्य धृतश्रियः पुरोऽग्रे नगराद्वा परिचलतः परिगच्छतः बलो रामस्तदनुजस्य हरेर्बलस्य सैन्यस्य । बलं सैन्ये ' बलो रामे ' इत्युभयत्रापि शाश्वतः । परं केवलमेकस्यैव । तुरगस्य जन्म जन्ममात्रं यस्य तस्यैकतुरगजन्मनः । एकोऽपि जात एव न त्वस्तीति भावः । महीभृता मन्दराद्रिणा राज्ञा च मथितस्य न तु स्वयं कस्यापि मन्थिता सततं विगतश्रियः । उत्तरान्यनन्तरमेवास्याः हरिस्वीकरणादिति भावः । जलनिधेश्च तदा प्रस्थानसमये महदन्तरं दूरगमनादिव्यवधानम् उक्तरीत्या महत्तारतम्यं चाभवत् । अत्रोपमेयस्य हरिबलस्य उपमानाज्जलधेराधिक्यवर्णनात् व्यतिरेकालङ्कारः । पञ्चकावली वृत्तम् । ' नजभजजा जरौ नरपते कथिता भुवि पञ्चकावली ' इति लक्षणात् ॥ ८२ ॥

इति श्रीमहामहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचिते माघकाव्यव्याख्याने सर्वङ्कषाख्ये तृतीयः सर्गः ॥ ३ ॥

चतुर्थः सर्गः ।

निःश्वासधूमं सह रत्नभाभिर्भित्त्वोत्थितं भूमिमिवोरगाणाम् ।
नीलोपलस्यूत विचित्रधातुमसौ गिरिं रैवतकं ददर्श ॥ १ ॥

निःश्वासेति । नीलोपलैरिन्द्रनीलमणिभिः स्यूताः प्रोता विचित्रा नानावर्णा धातवो गैरिकादयो यस्य तम् । अत एव रत्नभाभिर्मणिप्रभाभिः सह भूमिं भित्त्वा उत्थितम् ऊर्ध्वं निर्गतम् उरगाणां निःश्वासधूमं फूत्कारबाष्पमिव स्थितं रैवताख्यं गिरिमसौ हरिर्ददर्श । स्यूतेति । सीव्यतेः कर्मणि क्तः । " च्छ्वोः शूडनुनासिके च " इत्यूठादेशे यणादेशः । अत्र गिरेर्विशिष्टवर्णनीयत्वेन विशिष्टधूमत्वोत्प्रेक्षणाद्गुणनिमित्तजातिस्वरूपोत्प्रेक्षा । सर्गेऽस्मिन्नानावृत्तानि तत्रादावष्टादशोपजातयः तल्लक्षणं तूक्तम् अतीतानन्तरसर्गादौ । अत्रासर्गसमाप्तेर्गिरिवर्णनमेव ॥ १ ॥

गिरिं ददर्शेत्युक्तं कीदृगसौ गिरिरित्याकाङ्क्षायामेकान्वयेनाष्टाभिर्विशिनष्टि—

गुर्वीरजस्रं दृषदः समन्तादुपर्युपर्यम्बुमुचां वितानैः ।
विन्ध्यायमानं दिवसस्य भर्तुर्मार्गं पुना रोद्धुमिवोन्नमद्भिः ॥२॥

गुर्वीरिति । गुर्वीर्महतीर्दृषद. शिलातटीरित्यर्थ. । पाषाणप्रस्तरग्रावोपलाश्मान. शिला दृषत्' इत्यमरः । उपर्युपरि दृषदा समीपे उपरिप्रदेश इत्यर्थः । "उपर्यध्यधस. सामीप्ये" इति द्विर्भावे तद्योगात् द्वितीयेति । यथाह वामन 'उपर्यादिषु सामीप्ये द्विरुक्तेषु द्वितीया' । इति । समन्तादजस्रमुन्नमद्भिः देशकालाविच्छेदेनोत्पतद्भिरित्यर्थ. । अत एव तैरम्बुमुचा वितानैर्मेघवृन्दैर्निमित्तैर्दिवसस्य भर्तु. सूर्यस्य मार्ग पुन रोद्धुम् । संहितायाम् "रो रि" इति रलोप. "ढ्रलोपे' इति दीर्घ. । विन्ध्यायमानमिवविन्ध्यवदाचरन्त तद्वद्वर्धमानमिव स्थितमित्यर्थ. । आचारे क्यङन्ताल्लटः शानजादेश । अत्राविच्छिन्नमेघोन्नमनेन विन्ध्यायमानत्वोत्प्रेक्षणात् क्रियानिमित्तक्रियास्वरूपोत्प्रेक्षा ॥ २ ॥

क्रान्तं रुचा काञ्चनवप्रभाजा नवप्रभाजालभृतां मणीनाम् ।
श्रितं शिलाश्यामलताभिरामं लताभिरामन्त्रितषट्पदाभिः ॥ ३ ॥

क्रान्तमिति । पुनर्नवानि प्रभाजालानि बिभ्रतीति नवप्रभाजालभृत· तेषा मणीना सम्बन्धिन्या काञ्चनवप्रभाजा स्वर्णसानुप्रसृतया रुचा दीप्त्या क्रान्त व्याप्त पुनः शिलाना मेचकोपलानाम् इन्द्रनीलाना वा श्यामलतया श्यामलिम्ना अभिराम तथा आमन्त्रितषट्पदाभि 'मकरन्दप्रसिन्त्याहूतभृङ्गाभि' लताभिः श्रित व्याप्तम् । इत· पर वृत्तन्तरमेक यमक वक्ष्यति । तत्र तदेवालङ्कार । अर्थालङ्कारस्त्वस्मुच्चेय इति यथासम्भवमूह्यम् । यमकलक्षणन्त्वाचार्य्यदण्डिनोक्तम् । अव्यपेतव्यपेतात्मा या वृत्तिर्वर्णसहते. । यमक तच्च पादानामादिमध्यान्तगोचरम् । एकद्वित्रिचतुष्पादयमकाना प्रकल्पना । आदिमध्यान्तमध्यान्तमध्याद्याश्चैव सर्वत· । अत्यन्ता बहवस्तेषा भेदा सम्भेदयोनय. । सुकरा दुष्कराश्चैव दृश्यन्ते तत्र केचन' इति ॥ ३ ॥

सहस्रसङ्ख्यैर्गगनं शिरोभिः पादैर्भुवं व्याप्य वितिष्ठमानम् ।
विलोचनस्थानगतोष्णरश्मिनिशाकरं साधु हिरण्यगर्भम् ॥ ४ ॥

सहस्रेति । सहस्रमिति सख्या येषां तै सहस्रसख्यै शिरोभिः शिखरै शीर्षैश्च गगनं तथा तत्सख्यै पादै· प्रत्यन्तपर्वतैश्चरणैश्च भुवं च व्याप्य वितिष्ठमानम् अवतिष्ठमानम् "समवप्रविभ्य· स्थ·" इत्यात्मनेपदम् । विलोचनयोर्यत् स्थानं योग्यदेश तद्गतावुष्णरश्मिनिशाकरौ यस्य तम् अन्यत्र नेत्रीकृतार्केन्दुमित्यर्थ । अतः साधु सत्य हिरण्यगर्भ ब्रह्माणमिवेत्युत्प्रेक्षा 'सहस्रशीर्षा' इत्यादिश्रुतेरिति भाव हिरण्यगर्भो निधिगर्भश्च ॥ ४ ॥

क्वचिज्जलापायविपाण्डुराणि धौतोत्तरीयप्रतिमच्छवीनि ।
अभ्राणि बिभ्राणमुमाङ्गसङ्गविभक्तभस्मानमिव स्मरारिम् ॥ ५ ॥

क्वचिदिति । पुनः क्वचिदेकदेश जलानामपायेनापगमेन विपाण्डुराणि शुभ्राणि अत एव धौतं क्षालित यदुत्तरीय तत्प्रतिमा तत्समा छविर्येषा तानि अभ्राणि मेघान् बिभ्राण दधानम् । "भृञः कर्तरि शानच्" । अत एवोमायाः पार्वत्याः अङ्गसङ्गेनार्द्धभागेन विभक्तम् एकभागस्थापितं भस्म यस्य त स्मरारिं हरमिव स्थितमित्युपमालङ्कार. ॥ ५ ॥

छायां निजस्त्रीचटुलालसानां मदेन किंचिच्चटुलालसानाम् ।
कुर्वाणमुत्पिञ्जलजातपत्रैर्विहङ्गमानां जलजातपत्रैः ॥ ६ ॥

छायामिति । पुन निजस्त्रीणा चटुषु प्रियवचनेषु लालसा लोलुपा. । 'लोलुपो लोलुभो लोलो लम्पटो लालसोऽपि च' इति यादवः । तेषा निजस्त्रीचटुलालसाना मदेन किञ्चिदीषच्चटुलाश्चपलास्ते अलसाश्च । विशेषणयोरपि मिथो विशेषणविशेष्यभावविवक्षया विशेषणसमास । तेषा चटुलालसाना विहङ्गमाना हसादीनाम् उत्पिञ्जलानि जातानि उत्पिञ्जलजातानि पूर्ववत्समास, तानि पत्राणि येषा तैरुत्पिञ्जलजातपत्रैरुत्पिञ्जरीभूतदलैरित्यर्थ । रलयोरभेद । जलजातपत्रैः जलजैरेवातपत्रै छाया कुर्वाणाम् एतेन महती कमलाकरसमृद्धिर्व्यज्यते यमकरूपकयो सङ्कर. ॥ ६ ॥

स्कन्धाधिरूढोज्ज्वलनीलकण्ठानुर्वीरुहः श्लिष्टतनूनहीन्द्रैः ।
प्रनर्त्तितानेकलताभुजाग्रान् रुद्राननेकानिव धारयन्तम् ॥ ७ ॥

स्कन्धेति । पुन स्कन्ध प्रकाण्डमधिरूढा उज्ज्वला नीलकण्ठा मयूरा येषा तान् । अन्यत्र स्कन्धाधिरूढा असस्थिता 'नीला:कण्ठा येषा तान् 'असप्रकाण्डयो स्कन्धः' इति विश्व । अहीन्द्रैः श्लिष्टतनून् व्याप्तदेहान् । एकत्र तदावासत्वादन्यत्र तद्भूषणत्वाच्चेति भाव । प्रनर्त्तितानि अनेकलतानामेव भुजाना लतानामिव च भुजानाम् अग्राणि येषा तानत एवानन्तानसङ्ख्यान्रुद्रानिव स्थितानित्युत्प्रेक्षा । उर्वीरुहो वृक्षान्धारयन्तमुद्वहन्तम् ॥ ७ ॥

विलम्बिनीलोत्पलकर्णपूराः कपोलभित्तीरिव लोध्रगौरीः ।
नवोलपालङ्कृतसैकताभाः शुचीरपः शवलिनीर्दधानम् ॥८॥

विलम्बीति । विलम्बिनो नीलोत्पलान्येव कर्णपूरा कर्णावतसा यासा ता । लोध्रेण लोध्ररजसा गौरीरवदाता "षिद्गौरादिभ्यश्च" इति ङीप् । कपोलभित्ती स्त्रीणा गण्डस्थलीरिव स्थिता । उपमान्तरमाह । नवा उलपा वल्वजतृणानि । 'उलपा वल्वजा प्रोक्ता' इति विश्व । तैरलङ्कृताना सैकतानामाभेवाभा यासा ता कुत शुचीः शुद्धा' शैवलिनीः शैवलवती' अपो दधानम् । शुचित्वशैवलत्वाभ्या बिम्बप्रतिबिम्बभावेनोपमाद्वयम् ॥ ८ ॥

राजीवराजीवशलोलभृङ्गं मुष्णन्तमुष्णं ततिभिस्तरूणाम् ।
कान्तालकान्ताललनाः सुराणां रक्षोभिरक्षोभितमुद्वहन्तम्॥९॥

राजीवेति । पुनः राजीवराजीना पद्मपङ्क्तीना वशा अधीना लोलाश्चला भृङ्गा यस्मिन् त राजीवराजीवशलोलभृङ्ग तरूणा ततिभि' सघैरुष्णमातप मुष्णन्त हरन्त कान्ता' रम्या अलकान्ताश्चूर्णकुन्तलाग्राणि यासा ता. कान्तालकान्ता. । अलकाश्चूर्णकुन्तला' इत्यमर । सुराणा ललना स्त्रियोऽप्सरसः रक्षोभीराक्षसैरक्षोभितमनभिभूत यथा तथा उद्वहन्तम् ॥ ९ ॥

न्वस्मीयानय कश्चिद्रैवतकोनाम शिलोच्चय' कथमियद्वर्ण्यत इति शङ्कानिरस्यति—

मुदे मुरारेरमरैः सुमेरोरानीय यस्योपचितस्य शृङ्गैः ।
भवन्ति नोद्दामगिरां कवीनामुच्छ्रायसौन्दर्य्यगुणा मृषोद्याः १०॥

मुद इति । मुरारेर्मुदे सन्तोषाय अमरैः कर्तृभिः सुमेरोः शृङ्गैः करणैरानीयोपचितस्य वर्द्धितस्य अनीतैः शृङ्गैरुपचितस्येत्यर्थ । उपचये करणाना शृङ्गाणामर्थादानयनकर्मत्वम् । यस्य शैलस्य उच्छ्रायः औन्नत्य सौन्दर्य्य च तयो गुणा उत्कर्षा उद्दामगिरा प्रगल्भवाचा कवीनामृषा उद्यन्त इति मृषोद्या मिथ्या वाच्या न भवन्ति । मेरुशृङ्गेषु सर्वगुणसम्भवादिति भावः। 'राजसूयसूर्य्यमृषोद्य'' इत्यादिना वदे क्यबन्तो निपात । उत्कृष्ट श्राय उच्छ्राय इति घञन्तेनोपसर्गस्य समास नतूपसृष्टात् घञ् प्रत्यय । ''श्रिणीभुवोऽनुपसर्गे''इति नियमात् । मुद इत्यादि श्लोकसप्तक यच्छब्दस्य दृष्टोऽय शैल स इत्यनेनान्वयः । मेरुशृङ्गासम्बन्धेऽपि सम्बन्धवर्णनादतिशयोक्तिः ॥ १० ॥

यतःपरार्ध्यानि भृतान्यनूनैः प्रस्थैर्मुहुर्भूरिभिरुच्छिखानि ।
आढ्यादिव प्रापणिकादजस्रं जग्राह रत्नान्यमितानि लोकः ११॥

यत इति । लोक परार्ध्यानि श्रेष्ठानि अनूनैर्महद्भि भूरिभिः प्रभूतैः । 'प्रभूत प्रचुर प्राज्य भूरि ' इत्यमरः । प्रस्थै सानुभिर्मानविशेषैश्च । ' प्रस्थोऽस्त्री सानुमानयो ' इत्यमरः । भृतानि सम्भृतानि मितानि च उच्छिखान्युद्रश्मीनि अमितानि अपरिमितानि रत्नानि यत शैलाढ्यादनिकाद् । 'इभ्य आढ्यो धनी' इत्यमर' । प्रपणो व्यवहारप्रयोजनमस्य प्रापणिको वणिक् । तदस्य प्रयोजनम् '' इति ठक् । ' पण्याजीवाः प्रापणिका वैदेहा नैगमाश्च ते । वणिजः ' इति वैजयन्ती । तस्मादिवाजस्र मुहुर्जग्राह । उपमालङ्कार. ॥ ११ ॥

अखिद्यतासन्नमुदग्रतापं रविं दधानेऽप्यरविन्दधाने ॥
भृङ्गावलिर्यस्य तटेनिपीतरसा नमत्तामरसा न मत्ता ॥ १२ ॥

अखिद्यतेति । आसन्नमौन्नत्यात्सान्निहितमत एवोदग्रताप दुःसहातप रवि दधानेऽपि अरविन्दधान इति विरोध. । अरविन्दाना धाने निधाने इति परिहार । धीयतेऽस्मिन्निति धानम् । अधिकरणे ल्युट् । शब्दश्लेषमूलो विरोधालङ्कारः । यस्य गिरेस्तटे निपीतरसा नितरा पीतमकरन्दा नमन्ति तामरसानि पङ्केरुहाणि भारभूतया यया सा नमत्तामरसा । ' पङ्केरुह तामरसम्' इत्यमरः । अत एव मत्ता भृङ्गावलिर्नाखिद्यत न खिन्ना । खिदेर्दैवादिकात्कर्त्तरि लङ् । अत्यन्तसूर्यसान्निधानेऽप्यरविन्दाकरविहारान्मधुकरास्ताप नापुरित्यर्थः ॥ १२ ॥

यत्राधिरूढेन महीरुहोच्चैरुन्निद्रपुष्पाक्षिसहस्रभाजा ।
सुराधिपाधिष्ठितहस्तिमल्ललीलां दधौ राजतगण्डशैलः ॥१३॥

यत्रेति । यत्र शैले रजतस्य विकारो राजत । "प्राणिरजतादिभ्योऽञ्" इत्यञ् प्रत्ययः । स चासौ गण्डशैलश्च । 'गण्डशैलास्तु च्युताः स्थूलोपला गिरेः' इत्यमरः । उन्निद्राणि विकसितानि पुष्पाण्यक्षीणीवेत्युपमितसमासः । तेषां सहस्रं भजन्तीति तद्भाजा अविरूढेनोच्चैर्महीरुहा वृक्षेण सुराधिपेन देवेन्द्रेण अधिष्ठितो यो हस्ती मल्ल इव तस्यैरावतस्य लीलां शोभां दधौ । ऐरावतस्य धावल्यादिति भावः । 'हस्तिमल्लोऽभ्रमातङ्गे हस्तिमल्लो विनायके' इति विश्वः । अत्र लीलामिव लीलामिति सादृश्याक्षेपान्निदर्शनालङ्कारः ॥ १३ ॥

विभिन्नवर्णा गरुडाग्रजेन सूर्यस्य रथ्याः परितः स्फुरन्त्या ।
रत्नैः पुनर्यत्र रुचा रुचं स्वामानिन्यिरे वंशकरीरनीलैः ॥ १४ ॥

विभिन्नेति । गरुडाग्रजेनारुणेन विभिन्नवर्णा अन्यथाकृतवर्णा अरुणिमानमापादिता इत्यर्थः । सूर्यस्य सम्बन्धिनो रथं वहन्तीति रथ्या रथाश्वाः 'तद्वहति रथयुगप्रासङ्गम्' इति यत्प्रत्ययः । यत्र शैले वंशकरीरनीलैः वंशाङ्कुरश्यामैः रत्नैर्मरकतैरित्यर्थः । 'वंशाङ्कुरे करीरोऽस्त्री' इत्यमरः । वंशशब्दस्याम्लानताहेतोरङ्कुरताया प्रतिपत्त्यर्थत्वादपौनरुक्त्यम् । अत एवैकार्थपदमप्रयोज्यमित्युक्त्वा करिकलभकर्णावतंसादिषु न दोष इत्याह वामनः । न विशेषश्चेदिति । परितः स्फुरन्त्या रुचा स्वप्रभया करणेन पुनः स्वां रुचं निजहरितवर्णमेव आनिन्यिरे आनीताः । 'नयतेर्द्विकर्म्मकात्प्रधाने कर्म्मणि लिट्' । 'प्रधानकर्म्मण्याख्येये लादीनाहुर्द्विकर्म्मणाम्' इति वचनात् । अत्र विभिन्नवर्णा इत्येकस्तद्गुणः । रथ्यानां स्वगुणत्यागेन गरुडाग्रजगुणग्रहणात्पुनस्तत्त्यागेन मरकतगुणग्रहणादपरस्तद्गुणस्तदुपजीवीति सजातीययोः सङ्करः । तेन गिरेः सूर्यमण्डलपर्यन्तमौन्नत्यं वस्तु व्यज्यते । 'तद्गुणः स्वगुणत्यागादन्योत्कृष्टगुणग्रहः' ॥ १४ ॥

यत्रोज्झिताभिर्मुहुरम्बुवाहैः समुन्नमद्भिर्न समुन्नमद्भिः ।
वनं बबाधे विषपावकोत्था विपन्नगानामविपन्नगानाम् ॥ १५ ॥

यत्रेति । यत्र शैले समुन्नमद्भिः समुत्पतद्भिरम्बुवाहैरुज्झिताभिस्त्यक्ताभिरद्भिर्मुहुः समुन्नं सम्यक् उन्नं क्लिन्नं सिक्तमित्यर्थः । "उन्दी क्लेदने" इति धातोः कर्म्मणि क्तः "नुदविदे"त्यादिना निष्ठानत्वं विपन्नगा विगतसर्पा न भवन्तीत्यविपन्नगाः सपन्नगा इत्यर्थः । तेषामविपन्नगानां नगानां वृक्षाणां विषपावकोत्था विषाग्निसमुत्था विपदापत् न बबाधे । नित्यं वर्षानुषङ्गाद्विषाग्निक्षोभो वृक्षाणामकिंचित्कर इति भावः ॥ १५ ॥

फलद्भिरुष्णांशुकराभिमर्षात्कार्शानवं धाम पतङ्गकान्तैः ।
शशंस यः पात्रगुणाद्गुणानां संक्रान्तिमाक्रान्तगुणातिरेकाम् ॥ १६ ॥

फलद्भिरिति । यः शैलः उष्णांशुकराभिमर्षादर्ककरसम्पर्कात्कृशानोरिदं कार्शानवम् आग्नेयं धाम तेजः फलद्भिरुद्गिरद्भिः अग्निकरसामर्थ्याभिव्यञ्जकैरिति भावः । पतङ्गकान्तैः सूर्यकान्तैः

दृष्टान्तभूतैरिति भावः । गुणानां सङ्क्रान्तिमन्यत्र सङ्क्रमणं सङ्क्रान्तगुणानित्यर्थः । पात्रगुणादाधारगुणसहकारादाक्रान्तः प्राप्तो गुणातिरेकः कार्यविशेषाधानरूपो गुणोत्कर्षो यस्यास्ता शशस प्रतिपादयमास अर्कत्विषा सर्वत्र संक्रमणाविशेषेऽपि सूर्यकान्तेष्वेव ज्वलनजननदर्शनात् सर्वत्रापि सङ्क्रमणकारिणा गुणानामाधारगुणसहकारात्कार्यविशेषाधायकत्वमिति निश्चयोऽत्रैव जायत इत्यर्थः । ततश्च सहकारशक्तिविरहिणी सहजशक्तिरनुपकारिणीति भावः । वृत्त्यनुप्रासोऽलङ्कारः १६

दृष्टोऽपि शैलः स मुहुर्मुरारेरपूर्ववद्विस्मयमाततान ।
क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः ॥ १७ ॥

दृष्टोऽपीति । मुहुर्दृष्टोऽपि स शैलो मुरारेरपूर्वेणादृष्टपूर्वेण तुल्यमपूर्ववत् "तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः" इति वतिः विस्मयमाततान अतिरमणीयत्वादिति भावः । तथाहि क्षणे क्षणे प्रतिक्षणम् वीप्सायां द्विर्भावः । नवतामपूर्ववद्भावम् उपैतीति यत् नवनवोद्गमनमेव रमणीयतायाः रूपं स्वरूपं लक्षणमित्यर्थः । अत्र रमणीयत्वलक्षणस्य वाक्यार्थस्य विस्मये हेतुत्वसमर्थनाद्वाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कारः ॥ १७ ॥

उच्चारणज्ञोऽथ गिरां दधानमुच्चारणत्पक्षिगणास्तटीस्तम् ।
उत्कन्धरं द्रष्टुमवेक्ष्य शौरिमुत्कन्धरं दारुक इत्युवाच ॥ १८ ॥

उच्चारणज्ञ इति । अथ हरिविस्मयानन्तरं गिरां वाक्यानामुच्चारणं जानातीत्युच्चारणज्ञः उक्तिनिपुणः । 'आतोऽनुपसर्गे कः' इति कप्रत्ययः । नेगुपधेत्यादिना । आकारादनुपपदात्कर्म्मोपपदेऽप्यत्र विप्रतिषेधेनेति वचनात् दारुकः कृष्णसारथिः उच्चाः उन्नताः रणन्तः पक्षिगणा यासु ताः उच्चरत्पक्षिगणास्तटीर्दधानं तं पूर्वोक्तं धरतीति धरः पर्वतम् । "पचाद्यच्" । 'अहार्य्यधरपर्वताः' इत्यमरः । द्रष्टुमुत्कम् उन्मुखम् । "उत्क उन्मनाः" इति निपातः । उत्कन्धरमौत्सुक्यादुन्नितकन्धरं शौरिमवेक्ष्य इति वक्ष्यमाणक्रमेण वाचमुवाच । 'नहीङ्गितज्ञोऽवसरेऽवसीदति' इति भावः ॥ १८ ॥

इत प्रभृति यमकानन्तरश्लोकेषु वसन्ततिलकावृत्त नियमेनाह –

आच्छादितायतदिगम्बरमुच्चकैर्गा-
माक्रम्य संस्थितमुदग्रविशालशृङ्गम् ।
मूर्ध्नि स्खलत्तुहिनदीधितिकोटिमेन-
मुद्वीक्ष्य को भुवि न विस्मयते नगेशम् ॥ १९ ॥

आच्छादितेति । आच्छादितान्यावृतानि आयतानि दीर्घाणि दिशोऽम्बरं ख च दिगम्बराणि येन तम् अन्यत्र आच्छादितं वसितमायतं दिगेवाम्बरं वासो येन तं तथोक्तम् उच्चकैरुन्नतां गां भुवमाक्रम्य व्याप्य संस्थितम् । तथा उदग्राणि उन्नतानि विशालानि च शृङ्गाणि शिखराणि

यस्य तम् अन्यत्र उदग्रे विशाले शृंगे विषाणे यस्य तम् उच्चकैरुन्नत गा वृषभमाक्रम्याधिष्ठाय सस्थितमित्यर्थः । 'शृंगं विषाणे शिखरे' इति 'गौ स्वर्गे वृषभे रश्मौ वज्रे चन्द्रमसि स्मृत । अर्जनीनेत्रदिग्बाणभूवाग्वारिषु गौर्मता' इति च विश्वः । मूर्ध्नि शिखरे अन्यत्र शिरसि स्फुरन्ती तुहिनदीधितेरिन्दो कोटिः रश्मि कला च यस्य तमेन नगेश नगश्रेष्ठ रैवतक कैलासनामक-मीश्वर चोद्वीक्ष्य को न विस्मयते सर्वोऽपि विस्मयत इत्यर्थ नेय तुल्ययोगिता प्रकृताप्रकृत-विषये तदनुत्थानात् । नापि समासोक्ति. तस्याविशेषणसाम्यजीवित्वात् । नापि श्लेषः । उभयश्लेषे विशेष्यश्लेषयोगात् । तस्मात्प्राकरणिकार्थमात्रपर्य्यवसिताभिधाव्यापारेणापिशब्देनार्थान्तरधीकृद्ध्व-निरित्याहु' । तदुक्तं काव्यप्रकाशे । 'अनेकार्थस्य शब्दस्य वाचकत्वे नियन्त्रिते । संयोगाद्यैरवा-च्यार्थधीकृद्व्यापृतिरञ्जनम्' इति । वृत्तलक्षण तु 'उक्ता वसन्ततिलका तभजाजगौ ग.' इति॥ १९॥

उदयति विततोर्ध्वरश्मिरज्जावहिमरुचौ हिमधाम्नि याति चास्तम्।
वहति गिरिरयं विलम्बिघण्टाद्वयपरिवारितवारणेन्द्रलीलाम् ॥२०॥

उदयतीति । वितता ऊर्ध्वाश्च रश्मिरज्जवो रश्मयो रज्जव इव यस्य तस्मिन्विततोर्ध्व-रश्मिरज्जौ अहिमरुचौ सूर्य्ये उदयति उदयमाने । "अय गतौ" इति स्वरितेत केचिदिच्छ-न्ति ततः शतरि सप्तमी । तथा विततोर्ध्वरश्मिरज्जौ हिमधाम्नि चन्द्रे चास्त याति अस्तमयमाने । यातेः शतरि सप्तमी । अयं गिरीर्विलम्बिनाविशेष लम्बमानेन घण्टाद्वयेन परिवारितस्य वेष्टि-तस्य वारणेन्द्रस्य लीला शोभा वहति । अत्र लीलामिव लीलामिति सादृश्याक्षेपान्निदर्शना । तथा सूर्य्याचन्द्रमसावस्य कुक्षिसमानकक्षा बिभ्रत इति महत्त्वमित्यं व्यज्यते । पुष्पिताया वृत्तम् । 'अयुजि नयुगरेफतो यकारो युजि च नजौ जरगाश्च पुष्पिताग्रा' ॥ २० ॥

वहति यः परितः कनकस्थलीः सहरिता लसमाननवांशुकः ।
अचल एष भवानिव राजते स हरितालसमाननवांशुकः ॥२१॥

वहतीति । लसमाना दीप्यमाना नवाशवो यस्य स लसमाननवाशुक. । शैषिक' कप्प्र-त्ययः । योऽचल' सहरिता । सदूर्वा. । 'हरितेति च दूर्वाया हरिद्वर्णयुतेऽन्यवत्' इति विश्वः । कनकस्य स्थली. स्वर्णभूमी । "जानपद" इत्यादिना अकृत्रिमार्थे ङीप् । परितो वहति स एषोऽचलः हरितालेन कर्चूरेण समान नवमशुकं वासो यस्य स हरितालसमाननवाशुकः पीताम्बरो भवानिव राजते । द्रुतविलम्बित वृत्तम् । 'द्रुतविलम्बितमाह नभौ भरौ' इति लक्षणात् ॥ २१ ॥

पार्श्वस्थभागमिह सानुषु सन्निषण्णाः
पश्यन्ति शान्तमलसान्द्रतरांशुजालम् ।
सम्पूर्णलब्धललनालपनोपमान-
मुत्सङ्गसङ्गहरिणस्य मृगाङ्कमूर्तेः ॥ २२ ॥

पाश्चात्येति । इहाद्रौ सानुषु सन्निषण्णा स्थिता जना शान्तमल कलङ्कस्य पुरोवर्त्तित्वान्निष्कलङ्कमत एव सान्द्रतरमंशुजाल यस्य तं सम्पूर्णं परिपूर्णं लब्ध प्राप्त ललनालपनोपमान स्त्रीमुखसादृश्य येन तम्। 'आनन लपन मुखम्' इत्यमर' । कुतः । उत्सङ्गसङ्गिहरिणस्य॥- स्थमृगस्य मृगाङ्कमूर्तेश्चन्द्रस्य पश्चाद्भवः पाश्चात्यः । " दक्षिणापश्चात्पुरसस्त्यक् " इति त्यक् । स चासौ भागश्च त पाश्चात्यभाग पृष्ठभाग पश्यन्ति । पाश्चात्यभागदर्शनातिशयोक्त्या तादृगौन्नत्यध्वनि. । वसन्ततिलका वृत्तम् ॥ २२ ॥

कृत्वा पुंवत्पातमुच्चैर्भृगुभ्यो मूर्ध्नि ग्राव्णां जर्जरा निर्झरौघाः ।
कुर्वन्ति द्यामुत्पतन्तः स्मरार्त्तस्वर्लोकस्त्रीगात्रनिर्वाणमत्र ॥ २३॥

कृत्वेति । अत्राद्रौ निर्झरौघाः गिरिनदीप्रवाहाः । 'प्रवाहो निर्झरो झर ' इत्यमरः । चूतवृक्ष इत्यादिवत्सामान्यविशेषभावादपुनरुक्तिः पुंवत्पुम्भिस्तुल्यम् । 'तेन तुल्य क्रिया चेद्वति ' इति वतिः । उच्चैर्भृगुभ्यस्तटेभ्यः । 'प्रपातस्त्वतटो भृगुः' इत्यमर' । ग्राव्णा शिलाना मूर्ध्नि पात कृत्वा पतित्वा जर्जराः शकलीभूता द्यामाकाशमभ्युत्पतन्तः स्मरार्ताना स्वर्लोकस्त्रीणा खेचरीणामप्सरसा गात्रनिर्वाणमङ्गनिर्वृतिं कुर्वन्ति । 'अनुष्ठानासमर्थस्य वानप्रस्थस्य जीर्यत. । भृग्वग्निजलसम्पातैर्मरण प्रविधीयते' इति विहितभृगुपातिना पुसा स्वर्लोकगामिनामिहोपमानता । शालिनी वृत्तम् ' शालिन्युक्ता म्तौ तगौ गोऽब्धिलोकैः ' इति लक्षणात् ॥ २३ ॥

स्थगयन्त्यमूः शमितचातकार्त्तस्वरा
जलदास्तडित्तुलितकान्तकार्त्तस्वराः ।
जगतीरिह स्फुरितचारुचामीकराः
सवितुः क्वचित् कपिशयन्ति चामीकराः ॥ २४ ॥

स्थगयन्तीति । इहाद्रौ क्वचिदमूर्जगतीर्भूमी. । ' जगती भुवने भूमौ ' इति विश्व । शमिताश्चातकानामार्त्तस्वराः यैस्ते शमितचातकार्त्तस्वराः । ' सर्वसहापतितमम्बु न चातकानाम्' इति भूमिगस्य तेषा विषाम्भस्त्वादभौमाम्बुदानेनोज्जीवयन्तीत्यर्थः । किञ्च तडिद्भिस्तुलितानि उपमितानि कान्तानि कार्त्तस्वराणि सुवर्णानि यैस्ते तडित्तुलितकान्तकार्त्तस्वरा । तडित्स्फुरणे तेषामपि तद्वत् स्फुरणादिति भावः । ते जलदा' स्थगयन्ति आच्छादयन्ति । ' स्थग आच्छादने " इति चौरादिक' । क्वचित्तु स्फुरितानि उल्लसितानि चारूणि चामीकराणि सुवर्णानि येषु स्फुरितचारुचामीकरा अमी सवितु' करा' आतपाश्च कपिशयन्ति कपिशिना' कुर्वते क्वचिद्वृष्टिः क्वचिदातपश्चेति महदाश्चर्यमिति भाव । पथ्यावृत्तम् । सजसा सगौ च सह गेन पथ्या मता' इति लक्षणात् ॥ २४ ॥

उत्क्षिप्तमुच्छ्रितसितांशुकरावलम्बैरुत्तम्भितोडुभिरतीवतरां शिरोभिः । श्रद्धेयनिर्झरजलव्यपदेशमस्य विष्वक्तटेषु पतति स्फुटमन्तरिक्षम् ॥ २५ ॥

उत्क्षिप्तमिति । उच्छ्रिता उत्क्षिप्ताः सितांशोश्चन्द्रस्य कराः अंशवो हस्ताश्चावलम्बो येषां तैः । उत्तम्भितान्युडूनि यैस्तैः । उडूनि चावष्टभ्येत्यर्थः । शिरोभिः शिखरैर्मस्तकैश्चातीवतरां भृशतरम् । अतीवशब्दादव्ययादामुप्रत्ययः । उत्क्षिप्तमुद्यम्य धृतम् अन्तरिक्षं श्रद्धेयः सादृश्याद्विश्वसनीयः निर्झरजलमिति व्यपदेशो व्यवहारो यस्य तत् । दृढतरं निर्झरजलमिव कुर्वदित्यर्थः । अस्याद्रेः तटेषु विष्वक्समन्तात्पतति स्फुटं सत्यम् इन्दुकरानुडूनि चावष्टभ्य शिरोभिर्ध्रियमाणमपि दुरुद्धरत्वाद्भ्रश्यदन्तरिक्षमेवेदम् न तु जलं सादृश्यात्तु व्यपदेशो दुर्वार इति सर्वतः पातिना निर्झरजलं चोत्प्रेक्ष्यते तेनोत्सेधविस्तारावस्य व्यज्येते ॥ २५ ॥

एकत्र स्फटिकतटांशुभिन्ननीरा नीलाश्मद्युतिभिदुराम्भसोऽपरत्र । कालिन्दीजलजनितश्रियः श्रयन्ते वैदग्धीमिह सरितः सुरापगायाः ॥ २६ ॥

एकत्रेति । एकत्र एकस्मिन्भागे स्फटिकस्य यत्तटं तस्यांशुभिर्विभिन्ननीराः मिश्रोदकाः शुभ्रजला इत्यर्थः । अपरत्रापरस्मिन् भागे नीलाश्मनामिन्द्रनीलानां द्युतिभिः भिदुराणि मिश्राण्यम्भांसि यासां ताः नीलसलिला इत्यर्थः । इहाद्रौ सरितः कलिन्दस्याद्रेरपत्यं स्त्री कालिन्दी यमुना । 'कालिन्दी सूर्यतनया यमुना शमनस्वसा' इत्यमरः । तस्या जले जनिता श्रीः शोभा यस्यास्तस्याः तत्सङ्गताया इत्यर्थः । सुरापगाया गङ्गायाः वैदग्धीं शोभां श्रयन्ते भजन्ति । विदग्धस्य भावः वैदग्धी । ब्राह्मणादित्वात् "गुणवचन" इत्यादिना ष्यञ् प्रत्ययः । "षिद्गौरादिभ्यश्च" इति ङीष् । सोऽपीत्वस्य बाहुलकत्वादिह वैकल्पिकः । अत एव "ष्यञः षित्करणादीकारो बहुलम्" इति वामनः । अत्र सितासितमणिगुणग्रहणात्सरितां यमुनासङ्गतगङ्गाशोभासादृश्याक्षेपात्तद्गुणोत्थापिता निदर्शना । प्रहर्षिणी वृत्तम् । 'म्नौ ज्रौ गस्त्रिदशयतिः प्रहर्षिणीयम्' ॥ २६ ॥

इतस्ततोऽस्मिन्विलसन्ति मेरोः समानवप्रे मणिसानुरागाः । स्त्रियश्च पत्यौ सुरसुन्दरीभिः समा नवप्रेमणि सानुरागाः ॥ २७ ॥

इत इति । मेरोः समानवप्रे तुल्यप्रस्थे अत एवास्मिन्नद्रावितस्ततो मणिसानुरागा रत्नतटकान्तयो विलसन्ति प्रसरन्ति । किञ्च नवं प्रेम यस्य तस्मिन्नवप्रेमणि पत्यौ अनुरागेण सह वर्तन्त इति सानुरागाः सुरसुन्दरीभिः समाः सरूपाः स्त्रियश्च इतस्ततो विलसन्ति क्रीडन्ति अन्योन्यमनुरागिणोऽनुरूपाश्चेह विलासिनस्तदनुरूपाणि च विहारस्थलानि सन्तीति भावः ॥ २७ ॥

व्योमस्पृशः प्रथयता कलधौतभित्तीरुन्निद्रपुष्पचणचम्पक-पिङ्गभासः । सौमेरवीमधिगतेन नितम्बशोभामेतेन भारत-मिलावृतवद्विभाति ॥ ३१ ॥

व्योमेति । व्योमस्पृशाऽभ्रंकषा उन्निद्रैर्विकसितैः पुष्पैर्वित्ता उन्निद्रपुष्पचणाः । "तेन वित्तः" इत्यादिना चणप्प्रत्ययः । ते च ते चम्पकाश्च तद्वत्पिङ्गभासः पिङ्गवर्णाः कलधौताभित्तीः कनकतटीः । 'कलधौतं रौप्यहेम्नो' इति विश्वः । प्रथयता प्रकटयता अत एव सौमेरवीं सुमेरु-सम्बन्धिनीं नितम्बशोभां कटकलक्ष्मीम् अधिगतेन प्राप्तवता । "गत्यर्थाकर्मक" इत्यादिना गमेः कर्त्तरि क्तः । एतेन रैवतकाद्रिणा भारतं भरतस्य राज्ञ इदं भारताख्यं वर्षं भूखण्डम् । 'स्याद्वृष्टौ लोकधात्वंशे वत्सरे वर्षमस्त्रियाम्' इत्यमरः । इलावृतवदिलावृतवर्षमिव विभातीत्युपमा । नव-खण्डस्य जम्बूद्वीपस्य हिमाद्रेर्दक्षिणभूखण्डं हैमवतापरनामकं भारतवर्षं सुमेरुयोगात्सौमेरवाप राख्यं मध्यमखण्डमिलावृतवर्षम् अत एव 'नाम्नेदं भारतं वर्षं हिमाद्रेस्तच्च दक्षिणे । तेन हैमवतं नाम परेष्वप्येवमुन्नयेत् । इलावृतं सौमेरवं सुमेरोः परितो हि तत्'इतिवैजयन्ती ॥ ३१ ॥

रुचिरचित्रतनूरुहशालिभिर्विचलितैः परितःप्रियकव्रजैः ।
विविधरत्नमयैरभिभात्यसाववयवैरिव जङ्गमतां गतैः ॥ ३२ ॥

रुचिरेति । असौ गिरिः रुचिरैः उज्ज्वलैः चित्रैर्नानावर्णैस्तनूरुहै रोमभिः शालन्त इति तथोक्तैः परितः प्रचलितैः प्रसरद्भिः प्रियकाः कम्बलप्रकृतयो मृगविशेषाः । 'प्रियको रोमभिर्युक्तो मृदूच्चमसृणैर्घनैः ' इति वैजयन्ती । तेषां व्रजैः समूहैः जङ्गमतां चारिष्णुतां गतैर्विविधरत्नमयैः-रवयवैः स्वाङ्गैरिव प्रतिभातीत्युत्प्रेक्षा । द्रुतविलम्बितं वृत्तम् ॥ ३२ ॥

कुशेशयैरत्र जलाशयोषिता मुदा रमन्ते कलभा विकस्वरैः ।
प्रगीयते सिद्धगणैश्च योषितामुदारमन्ते कलभा विकस्वरैः ॥३३॥

कुशेशयैरिति । अत्राद्रौ जलाशयोषिताः । जलाशयेषु ह्रदेषु उषिताः वसन्तः "गत्यर्था-कर्म्मक" इत्यादिना वसतेः कर्त्तरि क्तः सम्प्रसारणम् । "मतिबुद्धिपूजार्थेभ्यश्च" इति चकारा-द्वर्तमानार्थता । कलभास्त्रिंशद्वर्षकरिणः । 'त्रिंशद्वर्षस्तु कलभ' इति वैजयन्ती । विकस्वरैर्विक-सनशीलैः "स्थेशभासपिसकसो वरच्" इति वरच् । कुशेशयैः शतपत्रैः मुदा प्रीत्या रमन्ते क्रीडन्ति । करिविहाराणां कमलाकराणामयमाकर इति भावः । किञ्च कला अव्यक्तमधुराः विकारो मानसो भावः स प्रयोजनमेषां भाविका उद्दीपका इत्यर्थः ।कला भाविकाश्च स्वराःषड्-जादयो येषां तैः कलभाविकस्वरैः सिद्धगणैः सुरसङ्घैः योषितां स्त्रीणामन्ते समीपे उदारमुच्चैः प्रगीयते च । भूस्वर्गोऽयमिति भावः ॥ ३३ ॥

विद्वद्भिरागमपरैर्विवृतं कथञ्चिच्छ्रुत्वापि दुर्ग्रहमनिश्चितधीभि-रन्यैः । श्रेयान्द्विजातिरिव हन्तुमघानि दक्षं गूढार्थमेष निधि-मन्त्रगणं बिभर्ति ॥ ३७ ॥

विद्वद्भिरिति । एषोऽद्रिः श्रेयान् श्रेष्ठः द्विजातिर्ब्राह्मण इवागमो निधिकल्पो मन्त्रशास्त्रं च स एव परं प्रधानं येषां तैरागमपरैर्विद्वद्भिर्निधीनां मन्त्राणां च साधनविधानैः कथञ्चिद्विवृतं स्वरूपेण प्रकाशितं नास्ति निश्चिता इदमित्थमिति निश्चयात्मिका धीर्येषां तैरनिश्चितधीभिरन्यैरशास्त्रज्ञैः श्रुत्वापि इह निधिरस्ति, ईदृक् महिमा असौ मन्त्र इति चाप्तमुखादाकर्ण्यापि दुर्ग्रहं दुःसाधनम् अघानि दुःखान्येनांसि च हन्तुं दक्षं समर्थम् । 'दुःखैनोव्यसनेष्वघम्' इति वैजयन्ती । गूढः संवृतोऽर्थो धनमभिधेयं च यस्मिन् तं गूढार्थं निधयो मन्त्रा इवान्यत्र निधय इव मन्त्रास्तेषां गणं बिभर्ति द्विजातिर्मन्त्रगणमिव निधिगणमेष बिभर्तीत्युपमार्थः ॥ ३७ ॥

बिम्बोष्ठं बहु मनुते तुरङ्गवक्त्रश्चुम्बन्तं मुखमिह किन्नरं प्रियायाः । श्लिष्यन्तं मुहुरितरोऽपि तं निजस्त्रीमुत्तुङ्गस्तन-भरभङ्गभीरुमध्याम् ॥ ३८ ॥

बिम्बोष्ठमिति । इहाद्रौ तुरङ्गस्य वक्त्रमिव वक्त्रं यस्य स तुरङ्गवक्त्रो देवयोनिविशेषः । सप्तम्युपमानपूर्वपदस्य बहुव्रीहिरुत्तरपदलोपश्चेत्युष्ट्रमुखवत्समासः । बिम्बकल्पो ओष्ठो यस्य तं बिम्बोष्ठमित्युपमालङ्कारः । 'ओत्वोष्ठयोः समासे वा' पररूपं वक्तव्यम् इत्योकारः । प्रियाया मुखं चुम्बन्तं किन्नरं मानुषमुखमश्वाङ्गं देवयोनिविशेषं बहु गुरु यथा तथा मनुतेऽवबुध्यते तुरङ्गवक्त्रस्य चुम्बनासम्भवादिति भावः । इतरः किन्नरोऽपि उत्तुङ्गस्तनभरेण यो भङ्गस्तस्माद्भीरुर्मध्यो यस्यास्तां निजस्त्रीं स्वस्त्रियम् । "वाम्शसोः" इति विकल्पादियङादेशाभावः । मुहुः श्लिष्यन्तं मानुषाङ्गत्वादालिङ्गन्तं तुरङ्गवक्त्रं बहु यथा तथा मनुते । तुरङ्गवपुषः किन्नरस्याश्लेषासम्भवादिति भावः । दुर्लभं प्रियं भवतीति रहस्यम् । मध्यस्याभङ्गेऽपि भङ्गोक्तेरतिशयोक्तिः उपमया संसृज्यते प्रहर्षिणी वृत्तमुक्तम् ॥ ३८ ॥

यदेतदस्यानुतटं विभाति वनं ततानेकतमालतालम् ।
न पुष्पितात्र स्थगितार्करश्मावनन्तताने कतमा लतालम् ॥ ३९ ॥

यदिति । अस्याद्रेरनुतटं तटेषु । विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः । तता विस्तृता अनेके बहवस्तमालास्तालाश्च यस्मिन् तत्ततानेकतमालतालं यदेतत् पुरोवर्ति वनं विभाति स्थगितार्करश्मौ तिरोहितातपे अनन्तताने अपारविस्तारेऽत्र वने कतमा लता का वा लता अलमत्यन्तं न पुष्पिता सञ्जातपुष्पा न भवतीति शेषः । सर्वापि पुष्पितेत्यर्थः ॥ ३९ ॥

दन्तोज्ज्वलासु विमलोपममेखलान्ताः सद्रत्नचित्रकटकासु बृहन्नितम्बाः। अस्मिन्भजन्ति घनकोमलगण्डशैला नार्य्यो-ऽनुरूपमधिवासमधित्यकासु ॥ ४० ॥

दन्तोज्ज्वलास्विति। अस्मिन्नद्रौ दन्ता निकुञ्जा दशनाश्च । 'दन्तो निकुञ्जे दशने' इति विश्वः । तैरुज्ज्वलासु रुचिरासु सद्रत्नैश्चित्राणि कटकानि सानूनि वलयानि च यासां तासु । 'कटक वलये सानौ' इति विश्वः । अधित्यकासूर्ध्वभूमिषु । 'भूमिरूर्ध्वमधित्यका' इत्यमरः । "उपाधिभ्या त्यकन्नासन्नारूढयोः" इत्यधिशब्दात्यकन् प्रत्ययः । विमलोपलाः उज्ज्वलशिला उज्ज्वलमणयो वा मेखलाः काञ्च्यो नितम्बभूमयश्च । 'मेखला खड्गबन्धे स्यात्काञ्ची शैलनितम्बयोः' इति विश्व । ताभिरन्ता रम्याः । 'मृतावबसिते रम्ये समाप्तावन्त इष्यते' इति शब्दार्णवे । बृहन्तो नितम्बाः कटिपश्चाद्भागाः शिखराणि च यासां ताः । 'नितम्बो नेघसि स्कन्धे शिखरेऽपि कटेरपः' इति विश्वः । घना विपुलाः कोमलाः श्लक्ष्णाः गण्डशैलाः गण्डस्थलानि स्थूलोपलाश्च यासा ताः नार्योऽनुरूपमिच्छासदृशम् आत्मसदृशं वाऽधिवासं भजन्ति । अत्र नारीणामधित्यकाना च प्रकृतत्वात्केवलप्रकृतगोचराः श्लेषोपस्थापिता तुल्ययोगिता अत एवोभयविशेषणानि उभयत्र विभक्तिविपरिणामेन योज्यानि ॥ ४० ॥

अनतिचिरोज्झितस्य जलदेन चिरस्थितबहुबुद्बुदस्य पयसो-ऽनुकृतिम् । विरलविकीर्णवज्रशकला सकलामिह विदधाति धौतकलधौतमही ॥ ४१ ॥

अनतिचिरेति। इहाद्रौ विरलं यथा तथा विकीर्णाः प्रसरणशीला वज्रशकलाः श्वेतहीरकखण्डानि यस्यां सा धौता शुभ्रा कलधौतमही रजतभूमिः 'कलधौतं रूप्यहेम्नोः' इति विश्वः । जलदेनानतिचिरोज्झितस्य तत्कालमुक्तस्य शुभ्रस्येति भावः । चिरस्थिताश्चिरस्थायिनो बहवश्च बुद्बुदा जलस्फोटा यस्मिन् तस्य पयसोऽम्भसः सकलामनुकृति समग्रसादृश्यं विदधाति । अत्र मेघोज्झितजलस्य स्थिरबुद्बुदासम्बन्धेऽपि सम्भावनया सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिः । कुररीरुतावृत्तम् । 'कुररीरुता नजभजैर्लगयुक्' इति लक्षणात् ॥ ४१ ॥

वर्जयन्त्या जनैः सङ्गमेकान्ततस्तर्कयन्त्या सुखं सङ्गमेका-न्ततः । योषयैष स्मरासन्नतापाङ्गया सेव्यतेऽनेकया सन्न-तापाङ्गया ॥ ४२ ॥

वर्जयन्त्येति। एकान्ततः एकान्ते रहसीत्यर्थः । कान्ततः कान्तेन प्रियेणेत्यर्थः । उभयत्रापि सार्वविभक्तिकस्तसिः । सङ्गमे सति सुखं तर्कयन्त्या उत्प्रेक्षमाणया विस्रब्धं विहारमाकाङ्क्षन्त्येत्यर्थः । अत एव जनैः सङ्गं वर्जयन्त्या, कुतः स्मरेणासन्नतापानि प्राप्तज्वराणि अङ्गानि यस्या-

स्तया स्मरासन्नतापाङ्गया । " अङ्गगात्रकण्ठेभ्यश्चेति वक्तव्यम् " इति विकल्पादिह पक्षे टाप् । सन्नता-वपाङ्गौ यस्यास्तया सन्नतापाङ्गया स्मरतापात् कूणितनेत्रया अनेकया योषया अनेकाभिर्योषाभिरित्य-र्थः । जातावेकवचनम् ' स्त्री योषिदबला योषा नारी सीमन्तिनी वधूः ' इत्यमरः । यत्रोऽद्रिः सेव्यते इच्छाविहारस्थानानि बहू सन्तीति भावः । स्रग्विणीवृत्तम् । ' रैश्चतुर्भिर्युता स्रग्विणी सम्मता ' इति लक्षणात् ॥ ४२ ॥

सङ्कीर्णकीचकवनस्खलितैकवालविच्छेदकातरधियश्चलितुं-
चमर्यः । अस्मिन्मृदुश्वसनगर्भतदीयरन्ध्रनिर्यत्स्वनश्रुतिसु-
खादिव नोत्सहन्ते ॥ ४३ ॥

संकीर्णेति । अस्मिन्नद्रौ सकीर्णाः मिथः सन्दष्टा कीचका वेणुविशेषा. ' वेणवः कीचकास्ते स्युर्ये स्वनन्त्यनिलोद्धता ' इत्यमर । तेषां वने स्खलितस्यैकवालस्यैकरोम्णो विच्छेदात् कातरा त्रस्ता धीर्यासा ताश्चमर्यः मृदुश्वसनो मन्दमारुतो गर्भे येषां तेभ्यस्तदीयरन्ध्रेभ्यः कीचकविवरेभ्यो निर्यतो निर्गच्छतः स्वनस्य श्रुत्या श्रवणेन यत् सुखं तस्मादिवेति हेतूत्प्रेक्षा । चलितुं नोत्सहन्ते । वस्तुतस्तु वालप्रियत्वादिति भाव । "शकधृष" इत्यादिना तुमुन्प्रत्ययः ॥ ४३ ॥

मुक्तं मुक्तागौरमिह क्षीरमिवाभ्रैर्वापीष्वन्तर्लीनमहानीलद-
लासु । शस्त्रीश्यामैरंशुभिराशु द्रुतमम्भश्छायामच्छामृच्छति
नीलीसलिलस्य ॥ ४४ ॥

मुक्तमिति । इहाद्रावन्तर्लीनानि महानीलदलानि इन्द्रनीलविशेषखण्डानि यासु तासु 'सिंहलस्थाकरोद्भूता महानीलास्तु ते मताः ' । इति भगवानगस्त्य । वापीषु दीर्घिकासु अभ्रैर्मेघैर्मुक्तं वृष्टं मुक्तागौरं मौक्तिकशुभ्रम् अत एव क्षीरमिव स्थितम् । शस्त्री छुरिका । ' स्याच्छस्त्री चासिपुत्री च छुरिका चासिधेनुका ' इत्यमरः । " वह्वादिभ्यश्च " । इति ङीष् । शस्त्रीवत् श्यामैरंशुभिरन्तर्गतेन्द्रनीलमरीचिभिः आशु तत्क्षणमेव द्रुतं लोलितं सत् । छुरितमित्यर्थः । नीलीसलिलस्य नीलाख्यौषधिपत्ररसस्य । ' नीली काला क्लीतकिका' इत्यमर । अच्छा छायां कान्तिमृच्छति तत्सदृशी छाया गच्छतीत्यर्थः । अतो निदर्शनालङ्कारः । स च मुक्तगौरं क्षीरमिव शस्त्रीश्यामैरिति चोपमात्रयेणान्तर्लीनमहानीलदलासु वापीष्विति पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गं तेनोत्थापितेनाशुभिर्द्रुतमिति तद्गुणोत्थापित इत्यङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः । क्षीरमिवेत्यनेनेन्द्रनीलाना सौष्ठवं सूचितम् ' क्षीरमध्ये क्षिपेन्नील क्षीरश्चेन्नीलता व्रजेत् । इन्द्रनीलमिति ख्यातम् ' इति लक्षणसम्भवात् । तेनात्र नीलीरसोपमानेन तद्वर्णा एवेति सूचितम् । ' नीलीरसनिभाः केचिच्छम्भुकण्ठनिभाः परे ' इत्यादिना अगस्त्येन रत्नशास्त्रे एषामेकादशविधच्छायाभिधानादिति । मत्तमयूर वृत्तम् । ' वेदरन्ध्रैर्म्तौ यसगा मत्तमयूरम् ' इति लक्षणात् ॥ ४४ ॥

या न ययौ प्रियमन्यवधूभ्यः सारतरागमना यतमानम् ।
तेन सहेह बिभर्ति रहः स्त्री सा रतरागमनायतमानम् ॥ ४५ ॥

यानेति । इहाद्रावन्यवधूभ्यः स्त्र्यन्तरेभ्यः । "पञ्चमी विभक्ते" इति पञ्चमी । सारतर श्रेष्ठमागमन यस्याः सा सारतरागमना । श्लाघ्यसंगमेत्यर्थः । या स्त्री यतमान स्वप्राप्त्यै प्रयतमान प्रार्थयमानमित्यर्थः । यती प्रयत्ने शानच् । प्रिय न ययौ सा तथा प्रतिकूलापि स्त्री रहस्तेन प्रियेण सह अनायतमानमदीर्घरोप यथा तथा रतराग सुरताभिलाष विभर्ति । अयमतिमानवतीरपि सद्य एवोद्दीपयतीति भावः । दोधकवृत्तम् 'दोधकवृत्तमिद भभभा गौ' इति लक्षणात् ॥ ४५ ॥

भिन्नेषु रत्नकिरणैः किरणेष्विहेन्दोरुच्चावचैरुपगतेषु सहस्रसंख्याम् । दोषापि नूनमहिमांशुरसौ किलेति व्याकोशकोकनदतां दधते नलिन्यः ॥ ४६ ॥

भिन्नेष्विति । इहाद्राविन्दोः किरणेषु उदञ्चश्चावाञ्चश्च तैरुच्चावचैरनेकविधैरित्यर्थः 'उच्चावच नैकभेदम्' इत्यमरः । मयूरव्यसकादिपूच्चावचीनीचाप्पराद्योचावचकिञ्चनाकुतोभयानीति तत्पुरुषे निपातनात् साधु' । रत्नकिरणैर्भिन्नेषु मिश्रेषु अत एव सहस्रसङ्ख्यामुपगतेषु सत्सु नलिन्यः पद्मिन्यः । 'नल पद्मे नल तृणम्' इति शाश्वतः । असौ प्रकाशमानोऽहिमांशु किलेति सहस्रकिरणत्वात् सूर्य एवेति सम्भावनाबुद्ध्येत्यर्थः । वार्तासम्भाव्ययोः किल इत्यमर. । दोषापि रात्रावपि । सप्तम्यर्थेऽव्ययम् । 'दिवाह्नीत्यथ दोषा च नक्त च रजनौ' इत्यमरः । व्याकोशकोकनदता विकचपद्मता दधते नूनमित्युत्प्रेक्षायाम् । 'अथ रक्तसरोरुहम् । रक्तोत्पलं कोकनदम्' इति ' व्याकोशविकचस्फुटाः ' इति चामरः । इह देवभूमित्वान्नित्यपद्मा नलिन्य इति भाव. । इह नलिनीना दोषातनविकासासवन्धेऽपि तत्सवन्धरूपयातिशयोक्त्या तस्येन्दावर्कभ्रान्तिमदलङ्कारो व्यज्यते ॥ ४६ ॥

अपशङ्कमङ्कपरिवर्तनोचिताश्चलिताः पुरः पतिमुपेतुमात्मजाः ।
अनुरोदितीव करुणेन पत्रिणां विरुतेन वत्सलतयैष निम्नगाः ४७

अपशङ्कमिति । अपशङ्क निःशङ्कमङ्कपरिवर्तनेषु उत्सङ्गलुण्ठनेषूचिता' परिचिताः पतिं भर्तारमुपेतुं पुरोऽग्रे चलिताः प्रयाताः आत्मजाः स्वसम्भवा दुहितॄश्च निम्नगाः' नदीः करुणेन दीनेन पत्रिणा पक्षिणा विरुतेन क्रोशनेन निमित्तेनैषोऽद्रिर्वत्सलतया वात्सल्येन स्नेहेनेत्यर्थः । ' श्रीमान् स्निग्धस्तु वत्सलः' इत्यमरः "वत्सासाभ्या कामवले" इति वलच् प्रत्ययः । अनुरोदितीवानुक्रोशतीवेत्युत्प्रेक्षा । "रुदश्च पञ्चभ्यः" इति गुणः "रुदादिभ्यः सार्वधातुके" इतीट् ॥ ४७ ॥

मधुकरविटपानमितास्तरुपङ्क्तीर्बिभ्रतोऽस्य विटपानमिताः ।
परिपाकपिशङ्गलतारजसा रोधश्चकास्ति कपिशङ्गलता ॥ ४८॥

मधुकरेति । मधुकरा एव विटास्तेषां पानं चुम्बनमिताः प्राप्ताः । "इणः कर्त्तरि क्तः" विटपैः शाखाविस्तारैरानमिताः विटपानमिताः । 'विस्तारो विटपो स्त्रियाम्' इत्यमरः । तरुकुर्लैर्विभ्रतोऽस्याद्रेः रोधो नितम्बो गलता पतता परिपाकेण पिशङ्गीनां लतानां रजः पुष्परेणुः तेन परिपाकपिशङ्गलतारजसा कपिशं पिशङ्गं चकास्ति । मात्रावृत्तिष्वियमार्य्यागीतिरष्टगणा । 'अष्टवसुगणा आर्य्यागीतिः' इति पिङ्गलनागः ॥ ४८ ॥

प्राग्भागतःपतदिहेदमुपत्यकासुशृङ्गारितायतमहेभकराभमम्भः ।
संलक्ष्यते विविधरत्नकरानुविद्धमूर्द्ध्वप्रसारितसुराधिपचापचारु ॥ ४९ ॥

प्राग्भागत इति । इहाद्रौ प्राग्भागतः ऊर्ध्वप्रदेशात् उपत्यकासु अधःप्रदेशेषु । 'उपत्यकाद्रेरासन्ना' इत्यमरः । "उपाधिभ्याम्" इत्यादिनोपशब्दात् त्यकन् प्रत्ययः । पतत् शृङ्गारं सिन्दूरादिमण्डनमस्य सञ्जातः शृङ्गारितः । 'शृङ्गारः सुरते नाट्ये रसे दिग्गजमण्डने' इति विश्वः आयतो दीर्घः तस्य महेभकरस्याभेवाभा यस्य तत् विविधरत्नानां करैरंशुभिरनुविद्धमनुरञ्जितमिदमम्भः ऊर्ध्वप्रसारितं यत् सुराधिपचापमिन्द्रधनुस्तद्वच्चारु संलक्ष्यते । अत्रेन्द्रचापस्योर्ध्वत्वासम्बन्धेऽपि सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिः । अभूतोपमेति मतान्तरम् । तिरोहितविवक्षाया तूपमानस्य प्रसिद्धत्वादुपमैवेयम् ॥ ४९ ॥

दधति च विकसद्विचित्रकल्पद्रुमकुसुमैरभिगुम्फितानिवैताः ।
क्षणमलघुविलम्बिपिच्छदाम्नः शिखरशिखाः शिखिशेखरानमुष्य ॥ ५० ॥

दधतीति । किञ्चेति चार्थः । अमुष्याद्रेरेताः शिखराणि शृङ्गाण्येव शिखाः केशपाशाः । 'शिखा चूडा केशपाशी' इत्यमरः । विकसद्भिर्विचित्रैः नानावर्णैः कल्पद्रुमकुसुमैरभिगुम्फितान् ग्रथितानिव स्थितानित्युत्प्रेक्षा । अलघूनि विलम्बीनि लम्बमानानि च पिच्छान्येव दामानि स्रजो येषु तान् शिखिनः केकिन एव शेखरान् आपीडान् क्षणं दधतीव । शिखावलः शिखी केकी' इति 'शिखास्वापीडशेखरौ' इति चामरः । अत्र कुसुमगुम्फनोत्प्रेक्षालिङ्गेन पिच्छादीनां दामादिरूपकसिद्धिस्तदुत्थापिता चोत्प्रेक्षेति सङ्करः । पुष्पिताग्रा वृत्तमुक्तम् ॥ ५० ॥

सवधूकाः सुखिनोऽस्मिन्ननवरतममन्दरागतामरसदृशः ।
नासेवन्ते रसवन्नवरतममन्दरागतामरसदृशः ॥ ५१ ॥

सवधूका इति । अस्मिन्नद्राववरे न भवन्तीत्यनवराः श्रेष्ठाः अनवरतमाः श्रेष्ठतमाश्च मन्दरागतैरमरैः सदृशः सरूपाश्च अनवरतममन्दरागतामरसदृशः अमन्दरागाण्यतिरक्तानि तामरसानि पङ्केरुहाणीव दृशो येषां ते अमन्दरागतामरसदृशः रक्तनेत्राः । 'पङ्केरुहं तामरसम्' इत्यमरः । सुखिनो भोगिनः सह वधूभिः सवधूकाः सन्तः । "तेन सहेति तुल्ययोगे" बहुव्रीहिः "नद्यृतश्च" इति कप् । रसवत्सानुरागम् । 'गुणे रागे द्रवे रसः' इत्यमरः । नवरतं नूतनसुरतं नासेवन्त इति न, किन्त्वासेवन्त एवेत्यर्थः । 'सम्भाव्यनिषेधनिवर्तने द्वौ प्रति-

षेधौ" इति वामनः। विशिष्टसुरतानां सेवनस्य सामान्यतः प्रसक्तेः। उपमालङ्कारः। गतेयमार्यागीतिः॥ ९१॥

आच्छाद्य पुष्पपटमेष महान्तमन्त-
रावर्त्तिभिर्गृहकपोतशिरोधराभः।
स्वाङ्गानि धूमरुचिमागुरवीं दधानै-
र्धूपायतीव पटलैर्नवनीरदानाम्॥ ९२॥

आच्छाद्येति। एषोऽद्रिर्महान्त पुष्पाण्येव पट इति रूपकं तमाच्छाद्य अन्तः पटाभ्यन्तरे आवर्तिभिरभीक्ष्ण भ्रमद्भिः। "बहुलमाभीक्ष्ण्ये" इति णिनिः। गृहकपोतशिरोधराया गृहपारावतकण्ठस्याभेवाभा येषां तैरित्युपमा। 'पारावते कपोतः स्यात्, इति विश्वः। अगुरोः कालागुरोरिमामागुरवीम्। 'कालागुर्वगुरु स्यात्' इत्यमरः। धूमरुचि धूमकान्ति तत्सदृशीमित्यर्थः। अत एव निदर्शना। दधानैर्नवनीरदाना पटलैः स्वाङ्गानि धूपायतीव धूपैरिवाधिवासयतीवेत्युत्प्रेक्षा रूपकोपमानिदर्शनाभिरङ्गैः सकीर्यते। "धूप सन्तापे" इति धातोः "गुपूधूपविच्छिपणिपनिभ्य आयः" इत्यायप्रत्ययः॥ ९२॥

अन्योन्यव्यतिकरचारुभिर्विचित्रैरत्रस्यन्नवमणिजन्मभिर्मयूखैः।
विस्मेरान्गगनसदःकरोत्यमुष्मिन्नाकाशे रचितमभित्तिचित्रकर्म॥ ९३॥

अन्योन्येति। अमुष्मिन्नद्रावन्योन्येषा व्यतिकरणे मिश्रणेन चारुभिः अत एव विचित्रैर्नानावर्णैरत्रस्यन्तः त्रासदोषेणादुष्यन्तः। 'त्रासो भीमणिदोषयोः' इति विश्वः। "वा भ्राश" इत्यादिना वैकल्पिकः श्यन्प्रत्ययः। तेभ्यो नवमणिभ्यो जन्म येषा तैर्मयूखैराकाशे रचितमभित्ति अकुड्यम् अनाधारमित्यर्थः। चित्रकर्म कर्तृ। गगनसदः खेचरान् विस्मेरान् विस्मयशीलान् करोति। "नमिकम्पि" इत्यादिना रप्रत्ययः। अत्रमणिमयूखेषु खे चित्रकर्मभ्रान्तिमतामेवाभित्तिचित्रकर्मेति अकारणकार्योत्पत्तिवर्णनात् भ्रान्तिमदलङ्कारोत्थापिता विभावनेति सकर 'कारणेन विना कार्यस्योत्पत्तिः स्याद्विभावना' इति लक्षणात्। प्रहर्षिणी वृत्तम्॥ ९३॥

समीरशिशिरः शिरःसु वसतां सतां जवनिका निकामसुखिनाम्।
बिभर्त्ति जनयन्नयं मुदमपामपायधवला बलाहकततीः॥ ९४॥

समीरेति। समीरेण मारुतेन शिशिरः शीतलः शिरःसु शिखरेषु वसतां निकामसुखिनां अत्यन्तसुखिनां सतां पुण्यवतां मुदञ्जनयन्नयमद्रिरपामम्भसामपायेनापगमेन धवला बलाहकततीर्मेघपङ्क्तीरेव जवनिकास्तिरस्कारिणीर्बिभर्ति। अनावृतेष्वपि शिखरेषु क्रीडने मेघैरेवावरणता सम्पाद्य मुदं जनयतीत्यर्थः। अत्र बलाहकततिष्वारोप्यमाणाना जवनिकानां मुदं जनयन्निति प्रकृतोपयोगिवर्णनात् परिणामालङ्कारः। 'आरोप्यमाणस्य प्रकृतोपयोगित्वे परिणामः' इति लक्ष-

णात् । रूपके तूपरञ्जनमात्रमिति भेदः । जलोद्धतगतिर्वृत्तम् । 'रसैर्जसजसा जलोद्धतगतिः' इति लक्षणात् ॥ ९४ ॥

मैत्र्यादिचित्तपरिकर्मविदो विधाय क्लेशप्रहाणमिह लब्धस-
बीजयोगाः । ख्यातिं च सत्त्वपुरुषान्यतयाधिगम्य वाञ्छ-
न्ति तामपि समाधिभृतो निरोद्धुम् ॥ ९५ ॥

मैत्रीति । इहाद्रौ समाधिं योगं बिभ्रतीति समाधिभृतो योगिनः मैत्री करुणा मुदिता उपेक्षेति चतस्रश्चित्तवृत्तयः । तत्र पुण्यकृत्सु मैत्री दुःखिषु करुणा सुखिषु मुदिता अनुमोदनं पापिषु उपेक्षा । मैत्री आदिर्येषां तानि चित्तस्य परिकर्म्माणि प्रसादकानि शोधकानीत्यर्थः । तानि विन्दन्ति लभन्ते इति तद्विदः तद्वाजस्तैः । क्षीणान्तःकरणमला इत्यर्थः । अत एव क्लेशप्रहाणं विधाय अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः । तत्रानित्येषु नित्यत्वाभिमानः अनात्मनि च देहेन्द्रियादावात्मधीरित्यादिविभ्रमोऽविद्या । अस्मिता अहंकारः । रागोऽभिमतविषयाभिलाषः । द्वेषोऽनभिमतेषु रोषः । अभिनिवेशः कार्याकार्येष्वाग्रहः । ते हि पुरुषं क्लिश्यन्तीति क्लेशाः क्लेशहेतवः । "पचाद्यच्" तेषां प्रहाणं क्षयः । 'कृत्यचः" इति णत्वम् । तद्विधाय क्लेशान्हित्वेत्यर्थः । अतो लब्धः सबीजः सावलम्बनो योगो यैस्ते लब्धसबीजयोगाः सन्तः । आलम्बनमेव व्यनक्ति । सत्त्वेति । सत्त्वपुरुषयोः प्रकृतिपुरुषयोरन्यतया अन्यत्वेन मिथो भिन्नत्वेन ख्यातिं ज्ञानं चाधिगम्य प्रकृतिपुरुषौ भिन्नाविति ज्ञात्वेत्यर्थः । प्रकृतिपुरुषयोर्विवेकाग्रहणात्संसारः । विवेकग्रहणान्मुक्तिरिति साङ्ख्याः । अथ तां ख्यातिमपि । निरोद्धुं निवर्तयितुं वाञ्छन्ति वृत्तिरूपां तां निवर्त्य स्वयम्प्रकाशतयैव स्थातुमिच्छन्तीत्यर्थः । प्रकृतावुपरतायां पुरुषस्वरूपेणावस्थानं मुक्तिरिति सांख्यसिद्धान्तः । न केवलं भोगभूरियं किन्तु मोक्षक्षेत्रमपीति भावः ॥ ९५ ॥

मरकतमयमेदिनीषु भानोस्तरुविटपान्तरपातिनो मयूखाः ।
अवनतशितिकण्ठकण्ठलक्ष्मीमिह दधति स्फुरिताणुरेणुजालाः ९६

मरकतेति । इहाद्रौ मरकतानां विकारा मरकतमय्यस्तासु मेदिनीषु । "स्त्रियाः पुंवत्" इत्यादिना पुंवद्भावः । तरूणां विटपाः पल्लवाः तेषामन्तरैरवकाशैः पतन्तीति तथोक्ताः । 'विटपः पल्लवे षिङ्गे विस्तारे स्तम्भशाखयोः' इति विश्वः । स्फुरितान्यणुरेणूनां सूक्ष्मरजसां जालानि येषु ते भानोर्मयूखाः अवनतस्य शितिकण्ठकण्ठस्य मयूरकन्धरायाः लक्ष्मीं दधतीति निदर्शनालङ्कारः । पुष्पिताग्रा वृत्तम् ॥ ९६ ॥

या बिभर्ति कलवल्लकीगुणस्वानमानमतिकालिमालया ।
नात्र कान्तमुपगीतया तया स्वानमा नमति कालिमालया ॥ ९७ ॥

येति । अत्राद्रावत्यन्तः कालिमा कार्ष्ण्यं यस्याः सा अतिकालिमा । अतिश्यामेत्यर्थः । न विद्यते लयो लयन क्वचिदवस्थान यस्याः सा अलया । भ्रमन्तीत्यर्थः । अत एव सस्वनेति भावः । या अलिमाला कलोऽव्यक्तमधुरः वल्लकीगुणस्वानस्य वीणातन्त्रीशब्दस्य मानमुपमान बिभ्रत्त तन्त्रीवद्धनतीत्यर्थं । उपमालङ्कारः । उपगीतया समीपे गातु प्रवृत्तयैव न तु पूर्वं गमयन्त्येवेति भावः । "आदिकर्म्मणि क्तः कर्त्तरि च" इति क्तः । तया अलिमालया भृङ्गावल्या स्वानमा-सुखेनानमयितुमाक्रष्टु शक्या । "ईषद्दुर" इत्यादिना खल्प्रत्ययः । का वा स्त्री कान्त प्रियं न नमति सर्वापि मान विहाय कान्तं सद्यः प्रणमत्येव तथोद्दीपकत्वाद्गानस्येत्यर्थः । रथोद्धता वृत्तम् । 'रो नराविति रथोद्धता लगौ' इति लक्षणात् ॥ ५७ ॥

सायं शशाङ्ककिरणाहतचन्द्रकान्त-
निस्यन्दिनीरनिकरेण कृताभिषेकाः ।
अर्कोपलोल्लसितवह्निभिरह्नितप्ताः
तीव्रंमहाव्रतमिवात्र चरन्ति वप्राः ॥ ५८ ॥

सायमिति । इहाद्रौ वप्राः सानवः । 'वप्रोऽस्त्री सानुमानयोः' इत्यमरः । सायं रात्रौ शशाङ्ककिरणैराहतेभ्यश्चन्द्रकान्तेभ्यो निस्यन्दिना प्रस्राविणा नीरनिकरेण जलपूरेण कृताभिषेकाः कृतस्नाना अह्नि अर्कोपलेभ्यः सूर्यकान्तेभ्यः उल्लसितैरुत्थितैर्वह्निभिस्तप्ताः सन्तः तीव्रम् उग्र दुश्चरं महाव्रत महत्तपश्चरन्तीवेत्युत्प्रेक्षा ॥ ५८ ॥

एतस्मिन्नधिकपयः श्रियं वहन्त्यः संक्षोभं पवनभुवा जवेन नीताः
वाल्मीकेररहितरामलक्ष्मणानां साधर्म्यं दधति गिरां महासरस्यः॥

एतस्मिन्निति । एतस्मिन्नद्रावधिकपयः श्रियमधिका जलसमृद्धि वहन्त्यः अन्यत्र तु अधिकाः कपयः सुग्रीवादयो वर्ण्यत्वेन यासु ताः अधिकपयः श्रियं गुणालङ्कारादिशोभा वहन्त्यः पवनाद्भवतीति पवनभूस्तेन पवनभुवा वायुजन्येन जवेन वेगेन सक्षोभ चलन नीताः अन्यत्र तु जवेन जविना । 'जवो जविनि वेगे स्यात्' इति विश्वः । पवनभुवा हनुमता सक्षोभमौद्धत्य नीता हनुमद्वे-गवर्णनया प्रागल्भ्यं नीता इत्यर्थः। वाक्पक्षे सर्वत्र षष्ठ्या विपरिणाम कार्यः। महासरस्यो महासरांसि अरहिताववर्जितौ रामलक्ष्मणौ याभिस्तासाम् अन्यत्र तु रामो रमणः अरहितरामा अवियुक्तरामाः लक्ष्मणाः सारसयोषितो यासु ताः केचित्त्वरहितरामाः अवियुक्तस्त्रीकाः लक्ष्मणाः सारसा इति पुंपक्षिपरत्वेन व्याचक्षते तेषाम् 'हंसस्य योषिद्वरटा सारसस्य तु लक्ष्मणा' 'लक्ष्मणौषधिसारस्योः' इत्याद्यमरविश्वप्रकाशादिवाक्यगतनियतद्व्यर्थताविरोधः । तासां वाल्मीकेर्गिरां साधर्म्यं सादृश्यं दधति । अत्र पवनभुवा जवेनेत्यत्रैकवृन्तावलम्बिफलद्वयवदभग्नैकपादगतत्वेनार्थद्वयप्रतीतेरर्थश्लेषः । अन्यत्र पदभङ्गेनार्थद्वयप्रतीतेर्जतुकाष्ठवच्छब्दयोरेव मिथः श्लिष्टत्वाच्छब्दश्लेष इत्युभयसाहि-त्यादुभयश्लेषोऽय प्रकृताप्रकृतगोचरः । उपमा त्वङ्गमिति सङ्करः ॥ ५९ ॥

इह मुहुर्मुदितैः कलभै रवः प्रतिदिशं क्रियते कलभैरवः ।
स्फुरति चानुवनं चमरीचयः कनकरत्नभुवां च मरीचयः ६० ॥

इहेति । इहाद्रौ मुदितैरिच्छाविहारसन्तुष्टैः कलभैः करिपोतैः । 'कलभः करिशावकः' इत्यमरः । दिशि दिशि प्रतिदिशम् । याथार्थ्येऽव्ययीभावः । "अव्ययीभावे शरत्प्रभृतिभ्यः" इति समासान्तोऽच्प्रत्ययः । कलश्चासौ भैरवश्च कलभैरवो मधुरभीषणः । विशेषणयोरपि कृपाणिखञ्जवदैच्छिकोपसर्जनत्वविवक्षया विशेषणसमासः । रवो बृंहणध्वनिः मुहुः क्रियते अनुवनं वने वने चमरीचयः चमरीमृगसङ्घः स्फुरति । किञ्च कनकरत्नानां या भुवस्तासां मरीचयः किरणाश्च स्फुरन्ति । समृद्धिमद्वस्तुवर्णनादुदात्तालङ्कारे यमकस्याभ्युच्चयः ॥ ६० ॥

त्वक्साररन्ध्रपरिपूरणलब्धगीतिरस्मिन्नसौ मृदितपक्ष्मलरल्लकाङ्गः।
कस्तूरिकामृगविमर्दसुगन्धिरेति रागीव सक्तिमधिकां विषयेषु वायुः।

त्वगिति । अस्मिन्नद्रौ त्वचि सारो येषां ते त्वक्सारा वंशाः । 'वंशे त्वक्सारकर्मारत्वचिसारतृणध्वजाः' इत्यमरः । तेषां रन्ध्राणि तेषां परिपूरणेन ध्मापनेन लब्धा गीतिर्गानसुखं येन सः मृदितानि समृष्टानि पक्ष्मलानि लोमशानि रल्लकानां कम्बलमृगाणां कम्बलानां वाङ्गानि शरीराणि येन सः । 'रल्लकः कम्बलमृगे कम्बले परिकीर्तितः' इति वैजयन्ती । एतेन स्पर्शसुखमुक्तम् । कस्तूरिकामृगाणां विमर्देन सघर्षेण सुगन्धिः शोभनगन्धः । यद्यपि 'गन्धस्येत्त्वे तदेकान्तग्रहणं कर्त्तव्यम्' इत्युक्तं तथापि निरङ्कुशाः कवय इत्यपर्यनुयोगः । असावेवम्भूतो वायू रागीव कामीव विषयेषु प्रदेशेषु च । 'विषयः स्यादिन्द्रियार्थे देशे जनपदेऽपि च' इति विश्वः । अधिकं सक्तिं व्यासक्तिमेति गच्छति ॥ ६१ ॥

प्रीत्यै यूनां व्यवहिततपनाः प्रौढध्वान्तं दिनमिह जलदाः ।
दोषामन्यं विदधति सुरतक्रीडायासश्रमशमपटवः ॥ ६२ ॥

प्रीत्या इति । इहाद्रौ युवतयश्च युवानश्च तेषां यूनाम् । "पुमान् स्त्रिया" इत्येकशेषः । प्रीत्यै व्यवहिततपनाः तिरोहितार्काः अत एव सुरतान्येव क्रीडास्ताभिर्य आयासो व्यायामस्तेन यः श्रमः खेदः । 'श्रम खेदोऽध्वरत्यादेः' इति लक्षणात् । तस्य शमे वारणे पटवः समर्था जलदाः प्रौढध्वान्तं मेघावरणाद्गाढान्धकारं दिनं दिवसं दोषां रात्रिमात्मानं मन्यते इति दोषामन्यं रात्रिमानिनं विदधति मेघावरणमहिम्ना दिवसः स्वयमप्यात्मानं रात्रिं मन्यते किमुतान्य इत्यर्थः । दोषेत्यव्ययं तदुपपदान्मन्यतेर्धातोः "आत्ममाने खश् च" इति खश् प्रत्ययः । इह यूनां दोषावद्दिवापि विस्रम्भविहाराः सम्भवन्तीति भावः । भ्रमरविलसितं वृत्तम् । 'म्भौ न्लौ गः स्याद्भ्रमरविलसितम्' इति लक्षणात् ॥ ६२ ॥

भग्नो निवासोऽयमिहास्य पुष्पैः सदानतो येन विषाणिनागः ।
तीव्राणि तेनोज्झति कोपितोऽसौ सदानतोयेन विषाणि नागः ६३

भग्न इति । इहाद्रावस्य नागस्य निवास. आश्रयः सदा पुष्पैरानतो नम्रोऽयं न गच्छतीत्यगो वृक्षः दानतोयैर्मदोदकै. सह वर्त्तते यस्तेन सदानतोयेन मत्तेनेत्यर्थः । येन विषाणिना दन्तिना भग्नस्तेन विषाणिना कोपित कोपम्प्रापितः असौ नागः ,सर्पस्तीव्राणि विषाणि गरलान्युज्झति वमति । परप्रतीकारापक्षमस्य क्रोधः स्वाश्रयमेव व्याहन्तीति भावः ॥ ६३ ॥

प्रालेयशीतमचलेश्वरमीश्वरोऽपि सान्द्रेभचर्म्मवसनावरणेऽधिशेते । सर्वर्तुनिर्वृतिकरे निवसन्नुपैति न द्वन्द्वदुःखमिह किञ्चिदकिञ्चनोऽपि ॥ ६४ ॥

प्रालेयेति । ईश्वर शिवोऽपि किमुतान्य इति भावः । सान्द्र यदिभचर्म तदेव वसन तदेवावरण छादनं यस्य सः तथा सन्नत्वनावरणो नापि शिथिलावरण इति भावः । प्रलयादागत प्रालेय हिमम् । "तत आगतः" इत्यणि,"केकयमित्रयुप्रलयाना यादेरियः" इति यशब्दस्येयादेशः । तेन शीत शीतलमचलेश्वर हिमवन्तमधिशेते तस्मिन् शेत इत्यर्थः । " अधिशीङ्स्थासा कर्म" इति कर्म्मत्वम् । सर्वर्तुभिर्निर्वृतिकरे सदा सुखकरे इहाद्रौ निवसन् पुनर्नास्ति किञ्चिनास्येत्यकिञ्चनो नि स्वोऽपि । उच्चावचेत्यादिना मयूरव्यंसकादिषु निपातनात्तत्पुरुषः । किञ्चिदल्पमपि द्वन्द्वदुःखं शीतोष्णदु ख नोपैति नित्य सन्निहितानामृतूनामन्योन्यदोषनिवारकत्वादिति भावः । 'द्वन्द्व युग्महिमोष्णादि मिथुन कलहो रहः' इति वैजयन्ती । अत्रोपमानात् हिमाचलादुपमेयस्याधिक्यवर्णनाद्व्यतिरेक ॥ ६४ ॥

नवनगवनलेखाश्याममध्याभिराभिः स्फटिककटकभूमिर्नाटयत्येष शैलः । अहिपरिकरभाजो भास्मनैरङ्गरागैरधिगतधवलिम्नः शूलपाणेरभिख्याम् ॥ ६५ ॥

नवेति । एष शैलो रैवतको नवया नगवनलेखया तरुवनपङ्क्त्या श्यामो मध्यो मध्यभागो यासां ताभिराभिः स्फटिकाना कटकभूमिः तटप्रदेशैः करणैरहिरेव परिकरो गात्रिकाबन्धस्त भजतीति तस्य अहिपरिकरभाजः 'भवेत्परिकरो व्राते पर्यङ्कपरिवारयोः । प्रगाढे गात्रिकाबन्धे विवेकारम्भयोरपि' इति विश्वः । "भजो ण्विः" । भास्मनैः भस्ममयैः । वैकारिकोऽण् प्रत्ययः । "अन्" इति प्रकृतिभावात् "नस्तद्धिते" इति टिलोपो न । अङ्गरागैरनुलेपनैरधिगतधवलिम्नः प्राप्तधावल्यस्य शूल पाणौ यस्य तस्य शूलपाणेरीश्वरस्य । "प्रहरणार्थेभ्यः परे निष्ठासप्तम्यौ भवतः" इति पाणिशब्दस्य परनिपातः । अभिख्या शोभाम् । 'अभिख्या नामशोभयो' इत्यमरः । "आतश्चोपसर्गे" इत्यङ् प्रत्ययः । नाटयत्यनुकरोति । निदर्शनालङ्कारः । मालिनीवृत्तमेतत् ॥ ६५ ॥

दधद्भिरभितस्तटौ विकचवारिजाम्बूनदैर्विनोदितदिनक्लमाः कृतरुचश्च जाम्बूनदैः । निषेव्य मधु माधवाः सरसमत्र कादम्बरं हरन्ति रतये रहः प्रियतमाङ्कमादम्बरम् ॥ ६६ ॥

दधद्भिरिति । अत्राद्रौ माधवस्य इमे माधवाः यादवाः विकचानि वारिजानि येषु तान्यम्बूनि ययोस्तौ विकचवारिजाम्बू अभित उभयतस्तटौ दधद्भि' नदैः अम्बुप्रवाहैः प्राक्स्रोतसो नद्यः प्रत्यक्स्रोतसो नदाः नर्मदा विनेत्याह । विनोदितो दिनक्लमो येषां ते विहारापनीताह्निकसन्तापा इत्यर्थः । किञ्च जाम्बूनदस्य विकारैर्जाम्बूनदैः कनकभूषणैः कृतरुचो जनितशोभाः सन्तः रसवत् स्वादवत् । 'रसो गन्धे रसे स्वादे' इति विश्वः । कादम्बं इक्षुः । 'कादम्ब कलहंसेक्ष्वो' इति विश्व । कादम्ब राति ग्लयोरभेदाल्लाति प्रकृतित्वेनादत्त इति कादम्बरमैक्षवम् । 'पानस द्राक्षमाधूक खार्जूर तालमैक्षवम्' इति स्मरणात् । "आतोऽनुपसर्गे क." । मधु मद्यम् । एवञ्च मधुकादम्बरशब्दयो सामान्यविशेषपरत्वादपौनरुक्त्यम् । निषेव्य पीत्वा । क्षत्रियाणा पैष्ट्या एव निषेधादिति भाव' । रतये सुरतार्थं रह' प्रियतमा ना प्रेयसीनामङ्कादेवाङ्कादात्रादम्बर वस्त्र हन्ति । यादवाश्चेह मधुपानरतोत्सवैर्विलस्य विहरन्तीति भावः । पृथ्वी वृत्तम् । 'जसौ जसयला वसुग्रहयतिश्च पृथ्वी गुरु' इति लक्षणात् ॥ ६६ ॥

दर्प्पणनिर्म्मलासु पतिते घनतिमिरमुषि ज्योतिषि रौप्यभित्तिषु पुरः प्रतिफलति मुहुः । व्रीडमसम्मुखोऽपि रमणैरपहृतवसनाः काञ्चनकन्दरासु तरुणीरिह नयति रविः ॥ ६७ ॥

दर्प्पणेति । इहाद्रौ रविर्दर्प्पणनिर्मलासु पुर रौप्यभित्तिषु । काञ्चनकन्दराग्रवर्तिरजतसानुषु पतिते सङ्क्रान्ते घन सान्द्र यत्तिमिर तन्मुष्णाति हरतीति तन्मुट् । क्विप् । तस्मिन् ज्योतिषि स्वतेजसि काञ्चनकन्दरासु मुहु प्रतिफलति सम्मूर्छति सति रमणैरपहृतवसनास्तरुणीरसमुखोऽपि कन्दरानभिमुखोऽपि व्रीड त्रपाम् । यद्यपि " गुरोश्च हल " इति स्त्रियामप्रत्य. । अत एव 'मन्दाक्षं ह्रीस्त्रपा व्रीडा' इत्यमर. । तथापि तत्र स्त्रीत्वाविवक्षाया बाहुलकत्वान्नपुंसकत्व च अत एवाविधौ गुरो स्त्रिया बहुलविवक्षेति वामन । नयति प्रापयति । नीवह्योर्हरतेश्चैवेति द्विकर्म्मकता । यस्मिन् सुवर्णकन्दरासु क्रीडार्थं प्रविष्टा स्त्रियोऽन्धकार इति कृत्वा पुरुषैरपहृतवस्त्रा सत्यः पुरः स्थितरौप्यभित्तितेजसामन्त प्रतिबिम्बवत्प्रकाशे सति सलज्जा इति भाव । अत्र काञ्चनकन्दराणामसमुखार्कज्योतिः प्रतिफलनासम्बन्धेऽपि सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्ति । वंशपत्रपतित वृत्तम् । 'दिङ्मुनि वंशपत्रपतितं भरनभनलगैः' इति लक्षणात् ॥ ६७ ॥

अनुकृतशिखरौघश्रीभिरभ्यागतेऽसौ त्वयि सरभससम्भ्युत्तिष्ठतीवाद्रिरुच्चैः । द्रुतमरुदुपनुन्नैरुन्नमद्भिः सहेलं हलधरपरिधानश्यामलैरम्बुवाहैः ॥ ६८ ॥

इति श्रीमाघकविकृतौ शिशुपालवधे महाकाव्ये रैवतकवर्णनं नाम चतुर्थः सर्गः ॥ ४ ॥

अनुकृतेति । असावुच्चैरुन्नतोऽद्रिः रैवतकः त्वयि अभ्यागते सति अनुकृता शिखरौघाणां श्रीर्यैस्तैस्तथोक्तैः । शिखरैरिवभ्रमकारिभिरिति भाव. । अत एवात्र श्रीरिव श्रीरिति निदर्शनया भ्रान्तिमदलङ्कारो व्यज्यते । द्रुतमरुता शीघ्रमारुतेनोपनुन्नै. प्रेरितैः अतएव सहेल सलीलमुन्नमद्भिः उत्पतद्भि. । धरन्तीति धरः पचाद्यच् । हलस्य धरो हलधरो बलभद्र' तस्य परिधानानि अम्बराणि तद्वत् श्यामलैः श्यामैरम्बुवाहैः निमित्तेन सम्भ्रमसमभ्युत्तिष्ठतीव प्रत्युत्थानं करोतीवेति क्रियानिमित्ता क्रियास्वरूपोत्प्रेक्षा गिशिष्टमेघोन्नमनक्रियया प्रत्युत्थानक्रियोत्प्रेक्षणात् सा चोक्तनिदर्शनानुप्राणितेति सङ्करः । शाब्दस्तु वृत्त्यनुप्रास' । मालिनी वृत्तम् ॥ ६८ ॥

इति श्रीमहामहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचिते माघकाव्यव्याख्याने सर्वङ्कषाख्ये चतुर्थ' सर्गः ॥ ४ ॥

पञ्चमः सर्गः ।

इत्थं गिरः प्रियतमा इव सोऽव्यलीकाः शुश्राव सूततनयस्य तदा व्यलीकाः । रन्तुं निरन्तरमियेष ततोऽवसाने तासां गिरौ च वनराजिपटं वसाने ॥ १ ॥

इत्थमिति । स हरिरित्थमनेन प्रकारेण "इदमस्थमु" इति थमुप्रत्ययः । अव्यलीका' अप्रियरहिता । 'व्यलीकं त्वप्रियेऽनृते' इत्यमर' । प्रियतमा. प्रेयस्य इव स्थिताः । कान्तासम्मिता इत्यर्थ' । व्यलीका विगतानृताः सत्याः सूततनयस्य सारथिकुमारस्य दारुकस्य गिर' तदा शुश्राव । तत' श्रवणानन्तर तासा गिरामवसाने समाप्तौ निरन्तर नीरन्ध्रं वनराजिरेव पटस्त वसाने आच्छादयति । "वस आच्छादने" इति धातोः कर्त्तरि लटः शानजादेश । गिरौ रैवतकाद्रौ रन्तु क्रीडितुमियेष तत्र वसतिं कर्तुमिच्छति स्मेत्यर्थः । उपमायमकयोः संसृष्टि' । सर्गेऽस्मिन् वसन्ततिलका वृत्तम् । 'उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ ग' इति ॥ १ ॥

तं स द्विपेन्द्रतुलितातुलतुङ्गशृङ्गमभ्युल्लसत्कदलिकावनराजिमुच्चैः । विस्ताररुद्धवसुधोऽन्वचलश्चचाल लक्ष्मीं दधत्प्रतिगिरेरलघुर्बलौघः ॥ २ ॥

तमिति । कदल्य एव कदलिकाः वैजयन्त्यो रम्भातरवश्च । 'कदली वैजयन्त्या च रम्भाया हरिणान्तरे' इति विश्वः । अभ्युल्लसन्त्यः कदल्यो वैजयन्त्यो वनराजय इव यस्य स । अन्यत्र रम्भावनपङ्क्तयो यस्य तमिति योज्यम् । उच्चैरुन्नतः विस्तारेण रुद्धवसुधः व्याप्तभूमि' अत एव प्रतिगिरेर्लक्ष्मीं दधत् स्वयमप्यन्यो गिरिरिव स्थित इत्यर्थः । अलघुर्महान् स बलौघः सेनासंङ्घः द्विपेन्द्रैस्तुलितान्यतुलान्यप्रतिमानि द्विपेन्द्रव्यतिरिक्तप्रतिमारहितानि उत्तुङ्गशृङ्गाणि यस्य

त तथोक्तमन्वचल रैवतकमनुचचाल त प्रति ययावित्यर्थः । " अनुर्लक्षणे" इति कर्मप्रवचनीयत्वा-त्तद्योगे द्वितीया । अत्र प्रतिगिरे. कस्यचिदप्रसिद्धत्वात् गिरिधर्मयोगी बलीव प्रतिगिरेर्लक्ष्मीमिव लक्ष्मी दधातीति निदर्शनामुखेन प्रतियोगित्वनोत्प्रेक्ष्यते इत्युत्प्रेक्ष्यते इत्युत्प्रेक्षैवेव श्लेषा-नुप्राणितेति सङ्करः ॥ २ ॥

भास्वत्करव्यतिकरोल्लसिताम्बरान्ताः सापत्रपा इव महाजन-दर्शनेन ॥ संविव्युरम्बरविकाशि चमूसमुत्थं पृथ्वीरजः करभकण्ठकडारमाशाः ॥ ३ ॥

भास्वदिति । आशा दिशो भास्वत्करव्यतिकरेण सूर्यांशुव्याप्त्या उल्लसिताम्बरान्ताः प्रकाशिताकाशदेशा. । अन्यत्र भास्वान् भास्वर· अभिरूप· । ' भास्वान्भास्वरसूर्ययोः' इति विश्वः । तस्य हस्तस्य स्पर्शनेन उल्लसिताम्बरान्ताः स्रस्तवस्त्राञ्चला. । अत एव महाजनदर्श-नेन सापत्रपा इव । लज्जा सापत्रपान्यतः ' इत्यमर. । अम्बरविकाशि व्योमव्यापि वासश्शोभि च । ' अम्बर व्योमवाससो. ' इति विश्वः । चमूषु समुत्थ करभ उष्ट्रपोत· । ' उष्ट्रे क्रमेलकम-यमहाङ्गाः करमः शिशु· ' इत्यमरः । तस्य कण्ठ इव कडारं कपिशम् । 'कडार कपिश. पिङ्गः' इत्यमरः । पृथ्वीरजः संविव्यु संवव्रुराच्छादयामासुरित्यर्थ· । " वेञ् " संवरणे लिट् किच्वात्सम्प्र-सारणे द्विर्भावः, " एरनेकाच " इत्यादिना यणादेश स्त्रियो वस्त्रापहारे लज्जया यत्किञ्चिदाच्छाद-यन्तीति भावः । अत्राचेतनास्वाशासु श्लिष्टविशेषणमहिम्ना स्त्रीप्रतीतौ तदभेदाध्यवसायेन सव्या-नव्यवहारसमारोपात्समासोक्तिः । सा च सापत्रपत्वोत्प्रेक्षानुप्राणितेति सकर ॥ ३ ॥

आवर्तिनः शुभफलप्रदशुक्तियुक्ताः सम्पन्नदेवमणयो भृत-रन्ध्रभागाः । अश्वाः प्यधुर्वसुमतीमतिरोचमानास्तूर्णं पयो-धय इवोर्म्मिभिरापतन्तः ॥ ४ ॥

आवर्त्तिन इति । आवर्त्तिनः दशावर्त्तवन्तः । " प्रशसायाम् " इति णिनिः । ते च ' द्वावुरस्यौ शिरस्यौ द्वौ द्वौ द्वौ रन्ध्रोपरन्ध्रयोः । एको भाले वपाने च दशावर्त्ता ध्रुवाः स्मृताः ' इत्युक्ता दश ध्रुवाख्या विवक्षिता. । अन्येषामनन्तरमेव पृथगभिधानात् । अन्यत्र तु जलभ्र-मवन्त । ' स्यादावर्तोऽम्भसा भ्रमः ' इत्यमर. । रोमसस्थाने तु तत्साम्याद्व्यपदेशः । तदुक्तम् । आवर्त्तसाम्यादावर्त्तो रोमसंस्थानमङ्गिनाम् ' इति । शुभफलानि राज्यलाभादीनि प्रददतीति शुभफलप्रदाः । " प्रे दाज्ञः " इति कः । ताभिः शुक्तिभिः सरथानैरावर्तविशेषैर्युक्ताः । तदुक्तम् । ' वक्षःस्थाः शुक्तयस्तिस्र ऊर्ध्वरोमा जयावहाः ' इति । अन्यत्र शुभफलानि मुक्ताफलानि तत्प्रदाः शुक्तयो मुक्तास्फोटाः ताभिर्युक्ताः । ' मुक्तास्फोटे हयावर्ते शुक्तिः शङ्खकपालयोः ' इति यादवः । सम्पन्नाः समग्राः देवमणयो निगालावर्त्ताः कौस्तुभादिदिव्यमणयश्च येषां ते ' आवर्तो रोमजो देवमणिस्त्वेष निगालजः ' निगालस्तु गलोद्देशे सकृत् ' इति वैजयन्ती । भृताः पूर्णा रन्ध्रभागाः

पार्श्वदेशा निम्नप्रदेशाश्च येषां ते । अतिशयिता रोचमानाः कण्ठावर्त्ता येषां ते अतिरोचमानाः । 'कण्ठजो रोचमानश्च स्वाम्यसौभाग्यवर्द्धनः' इति वैजयन्ती । अन्यत्र तु अत्यन्तं दीप्यमाना इत्यर्थः। ऊर्मिभिर्गतिविशेषैर्वीचिभिश्च पतन्तः आधावन्तः 'पङ्क्तीकृतानामश्वानां नमनोन्नमनाकृतिः । अतिवेगसमायुक्ता गतिरूर्म्मिरुदाहृता' इति वैजयन्ती । ईदृशोऽश्वाः पयोधय इव तूर्णं वसुमतीं व्यधुः छादयन्तिस्म । 'अपिधानतिरोधानपिधानाच्छादनानि च' इत्यमरः । "अपिपूर्वाद्दधातेर्लुङ्" "वष्टि भागुरिरल्लोपमवाप्योरुपसर्गयोः' इत्यकारलोपः एकनालावलम्बिफलद्वयवदेकशब्देनार्थद्वय-प्रतीतरर्थश्लेषोऽय प्रकृताप्रकृतगोचर उपमा त्वङ्गमिति सङ्करः ॥ ४ ॥

आरक्षमग्नमवमत्य सृणिं शिताग्रमेकःपलायत जवेन कृता-र्त्तनादः । अन्यः पुनर्मुहुरुदप्लुवतास्तभारमन्योन्यतः पथि वताबिभितामिभोष्ट्रौ ॥ ५ ॥

आरक्षेति । पथि मार्गे इभोष्ट्रावन्योन्यतः अन्योन्यस्मादविभिता भीतवन्तौ । "ञिभी भये" लङ् "भियोऽन्यतरस्याम्" इतीत्वम् वतेत्यनयोरपि भीतिरिति खेदेऽतिविस्मये वा । 'खेदानुकम्पासन्तोषविस्मयामन्त्रणे वत' इत्यमरः । तत्र लिङ्गमाह । एक इभ आरक्षः कुम्भयोरव प्रदेशस्तत्र मग्न प्रविष्ट शिताग्र तीक्ष्णमुख सृणिमकुश 'अकुशोऽस्त्री सृणिर्द्वयोः' इत्यमरः । अवमत्यावधूय कृत आर्त्तनादो येन सः अतिकरुण क्रन्दन्नित्यर्थः । जवेन पलायत पलायितवान् । परापूर्वादयतेर्लङ् "उपसर्गस्यायतौ" इति रेफस्य लत्वम् । अन्यः पुनरुष्ट्रस्तु अस्तभारं निरस्तभार यथा तथा मुहुरुदप्लवत उत्प्लवितवान् । "प्लुङ्गतौ" इति लङ् । स्वभावोक्तिः ॥ ५ ॥

आयस्तमैक्षत जनश्चटुलाग्रपादं गच्छन्तमुच्चलितचामरचारु-मश्वम् । नागं पुनर्मृदु सलीलनिमीलिताक्षं सर्वः प्रियः खलु भवत्यनुरूपचेष्टः ॥ ६ ॥

आयस्तमिति । जनश्चटुलाग्रपाद चञ्चलपूर्वचरणं यथा तथा गच्छन्त शीघ्र धावन्तमित्यर्थः । उच्चलितैः उल्लसितैश्चामरैश्चारुमश्वमायस्त सयत्नमाहृत यथा तथा "यसु प्रयत्ने" कर्त्तरिक्तः क्तान्त क्रियाविशेषणम् । ऐक्षत ईक्षितवान् । ईक्षतेर्लङ् "आडजादीनाम्" इत्यादि "आटश्च" इति वृद्धिः । नाग पुनर्गज त सलील निमीलिते अक्षिणी यस्मिन् कर्म्मणि तत् "बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः स्वाङ्गात्षच्" । मृदु मन्द गच्छन्तमायस्तमैक्षत । कथ शीघ्रमन्दयोस्तुल्यदृष्टिरत आह सर्वः प्राणी अनुरूपचेष्टः स्वजात्युचितव्यापारःसन् प्रीणातीति प्रियःप्रीतिकरो भवति खलु । "इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः" इति कः प्रत्ययः । अर्थान्तरन्यास ॥ ६ ॥

त्रस्तः समस्तजनहासकरः करेणोस्तावत्खरः प्रखरमुल्ललया-ञ्चकार । यावच्चलासनविलोलनितम्बबिम्बविस्रस्तवस्त्रमवरो-धवधूः पपात ॥ ७ ॥

त्रस्यन्निति । करेणोरिभ्याः 'करेणुरिभ्यां स्त्री नेभे' इत्यमरः । "भीत्रार्थानां भयहेतुः" इत्यपादानत्वम् । त्रस्तो भीतः खरो गर्दभः समस्तजनस्य हासं करोतीति तत्करः सन् 'कृञो हेतु' इत्यादिना टप्रत्ययः । तावत्तदवधि प्रखरं भृशमुल्ललयाञ्चकार उत्पपात यावत् चलात् स्थानचलितादासनात् पल्ययनात् विलोलोऽपसृतस्तस्मान्नितम्बबिम्बाद्विस्रस्तं वस्त्रं यस्मिन् कर्मणि तद्यथा तथा अवरोधवधूः पपात । स्वभावोक्तिः ॥ ७ ॥

शैलोपशल्यनिपतद्रथनेमिधारानिष्पिष्टनिष्ठुरशिलातलचूर्णगर्भाः । भूरेणवो नभसि नद्धपयोदचक्राश्चक्रीवदङ्गरुहधूम्ररुचो विसस्रुः ॥ ८ ॥

शैलेति । शैलस्य रैवतकाद्रेरुपशल्यं प्रान्तम् । यद्यपि 'ग्रामान्त उपशल्यं स्यात्' इत्यमरः तथापि उपचाराददोषः । तत्र निपततां धावतां रथानां नेमयश्चक्रान्ताः । 'चक्रं रथाङ्गं तस्यान्ते नेमिः स्त्री स्यात्प्रधिः पुमान्' इत्यमरः । तासां धाराभिः निष्पिष्टानां चूर्णितानां निष्ठुरशिलातलानां चूर्णो गर्भे येषां ते तथोक्ताः।नभसि नद्धानि पयोदचक्राणि पयोदाकारमण्डलानि यैस्ते । चक्रवच्चङ्क्रमणमस्यास्तीति चक्रीवान् गर्दभः । 'चक्रीवन्तस्तु बालेया रासभा गर्दभाः खराः' इत्यमरः । "आसन्दीवदष्ठीवच्चक्रीवत्" इत्यादिना साधुः । तस्याङ्गरुहाणि रोमाणि तद्वत् धूम्ररुचः कृष्णलोहितवर्णाः । 'धूम्रधूमलौ कृष्णलोहिते' इत्यमरः । भूरेणवो विसस्रुः प्रसृताः ॥ ८ ॥

उद्यत्कृशानुशकलेषु खुराभिघाताद्भूमीसमायतशिलाफलकाचितेषु । पर्य्यन्तवर्त्मसु विचक्रमिरे महाश्वाः शैलस्य दर्दुरपुटानिव वादयन्तः ॥ ९ ॥

उद्यदिति । खुराः शफानि । 'शफं क्लीबे खुरः पुमान्' इत्यमरः । तेषामभिघातादुद्यन्तः कृशानुशकलाः स्फुलिङ्गा येभ्यस्तेषु । टङ्कप्राया खुरा इति भावः । भूम्याः समानि समतलानि आयतानि च यानि शिलाफलकानीव शिलाफलकानि तैराचितेष्वास्तृतेषु शैलस्य पर्यन्तवर्त्मसु प्रान्तमार्गेषु महाश्वा दर्दुराणां वाद्यविशेषाणां पुटान्मुखानि वादयन्त इव विचक्रमिरे जग्मुः । पादन्यासैः तादृशं शब्दमकुर्वन्नित्यर्थः । "वेः पादविहरणे" इत्यात्मनेपदम् । "दर्दुरस्तोयदे भेके वाद्यभाण्डाद्रिभेदयोः' इत्यमरः । उत्प्रेक्षालङ्कारः ॥ ९ ॥

तेजोनिरोधसमतावहितेन यन्त्रा सम्यक्कशात्रयविचारवता नियुक्तः । आरट्टजश्चटुलनिष्ठुरपातमुच्चैश्चित्रं चकार पदमर्द्धपुलायितेन ॥ १० ॥

तेज इति । तेजोनाम दर्पापरनामा सत्त्वगुणविकारः प्रकाशको अन्तःसारविशेषः । यथाह भोजराजः 'तेजो निसर्गजं सत्त्वं वाजिनां स्फुरणं रजः । क्रोधस्तम इति ज्ञेयास्त्रयोऽपि सहजा

गुणा'' इति । तच्च द्विविध सततोत्थित भयोत्थित चेति ।यथाह स एव ''वारासु योजितानां च निसर्गात्वेग विना । अविच्छिन्नमिवाभाति तत्तेजः सततोत्थितम् । कशापादादिघातैर्यत्सा ऽत्रसात्स्फुरितं तु तत्'' इति।अत्र तेजःशब्देन तत्कार्य वेगो लक्ष्यते।तथा च तेजसि वेगे निरोधे तन्निवारणे समतायां वेगसाम्ये चावहितेन वल्गाविभागकुशलेनेत्यर्थ कशा । ताडिनी । 'अश्वादेस्ताडिनी कशा'इत्यमर. । अत्र कशा' कशाघातास्तासा त्रयमुत्तममध्यमाधमेषु यथासख्यं मृदुसमनिष्ठुरसकृद्द्विद्वित्रिरूप त्रितय तस्य विचार । एतेषु निमित्तेषु अङ्गेष्वेव ताडय इति विमर्पः तद्वता तज्ज्ञेन । यथाह भोज. । ' मृदुर्नैकेन घातेन दण्डकालेषु ताडयेत् । तीक्ष्ण मध्य पुनर्द्वाभ्या जघन्य निष्ठुरैस्त्रिभि । उपवेशेऽथ निद्राया स्खलिते दुष्टचेष्टिते । वडवालोकनौत्सुक्ये वहुगर्वितहेषिते । सन्त्रासे च दुरुत्थाने विमार्गगमने भये । शिक्षात्यागस्य समये सञ्जाते चित्तविभ्रमे । दण्ड प्रयोज्यो वाहाना कालेषु द्वादशस्वपि । ग्रीवाया भीतमाहन्यात् त्रस्तञ्चैव च वाजिनम् । विभ्रान्तचित्तमधरे त्यक्तशिक्ष च ताडयेत् । प्रहेषित स्कन्धबाह्वोर्वडवालोकिनं तथा । उपवेशेच निद्राया कटिदेशे च ताडयेत्।दुश्चेष्टित मुखे हन्यादुन्मार्गप्रस्थित तथा । जघने स्खलित हन्यान्नेत्रमार्गे दुरुत्थितम् । यः कुण्ठप्रकृतिर्वाजी तं सर्वत्रैव ताडयेत्'' इति । एवम्भूतेन यन्त्रा सादिना सम्यग्यथाशास्त्र नियुक्त ईरित उच्चैरुन्नतः आरट्टोऽश्व गोनिदेशविशेषः तज्जोऽश्व आरट्टज. । विशेषणमात्रप्रयोगे सागराम्बरादिवत्तावतैव विशेष्यप्रतीतेरित्याह वामन' । विशेषणप्रयोगो विशेष्यप्रतिपत्ताविति । चटुलश्चपलो निष्ठुर । परुपश्च पात' प्रक्षेपो यस्मिन् कर्मणि तद्यथा तथा । अर्द्धपुलायितेन मण्डलगतिविशेषेण चित्रमद्भुत पद पदक्रम चकार 'शतार्द्धार्द्धक्रमादूर्नैर्मण्डलायितवल्गितै. । उन्मुखस्याश्वमुख्यस्य गतिरर्द्धपुलायितम् इति लक्षणात् । पुला नाम प्लुताद्यनेकापरनामा हयाना गतिविशेष । तदुक्त हयलीलावन्याम् 'प्लुता प्रवल्गितामाहुर्या धारा पुलनाभिधा । पुनरेना रलोपान्ता पुलामित्याह दैशिक'' तल्लक्षणञ्च तत्रैवोक्तम् । 'क्षिपति समविशेषानुत्क्षिपत्यग्रपादान्प्रसरति पुरतोऽश्वः साथ धारा पुलाख्या । विलसति समपादोत्क्षेपणाकुञ्चनाना करुणमिह गतिज्ञाः प्राहुरन्ये पुलाख्याम्' इति । 'पार्ष्णिप्रधान प्रविधाय रागाद्वल्गा श्लथीकृत्य वहेत्पुलाख्याम्' इत्यादि । पुलाख्यया अयित गति. पुलायित ''अय गतौ' भावे क्त । तच्छतार्धेत्याद्युक्तरीत्या अनुष्ठितमर्द्धपुलायितमित्यलमतिविस्तरेण॥ १०॥

नीहारजालमलिनः पुनरुक्तसान्द्राः कुर्व्वन्वधूजनविलोचनपक्ष्ममालाः।क्षुण्णः क्षणं यदुबलैर्दिवमाततांसुः पांसुर्दिशांमुखमतुत्थयदुत्थितोऽद्रेः ॥ ११ ॥

नीहारेति । नीहारजालवत् तुहिनव्यूहवन्मलिनः वधूजनविलोचनाना पक्ष्ममालाः पुनरुक्तसान्द्रा' द्विगुणसान्द्रा कुर्वन् स्वभावतोऽपि सान्द्रत्वादिति भाव । ''मयूरव्यसकादित्वाद्विस्पष्टपटुवत्समासः'' । क्षणं यदूना वलै. सैन्यै क्षुण्ण अतेरुत्थितः दिवमाकाशमाततितुमवततितुमिच्छु आतिताँसुः । तनोते सन्नन्तादुप्रत्यय , ''सनीवन्तर्द्ध'' इत्यत्र तनिपतिद-

रिद्राणामुत्पन्नस्यानार्द्रकल्पिक इडभावः, 'तनोतेर्विभाषा' इति दीर्घः । पांसुर्दिशां मुखमतुत्थयदाच्छादयदिति । "तुस्थ आच्छादने" इति धातोश्चौरादिकाल्लङ् ॥ ११ ॥

उच्छिद्य विद्विष इव प्रसभं मृगेन्द्रानिन्द्रानुजानुचरभूपतयोऽध्यवात्सुः । वन्येभमस्तकनिखातनखाग्रमुक्तमुक्ताफलप्रकरभाञ्जि गुहागृहाणि ॥ १२ ॥

उच्छिद्येति । इन्द्रानुजस्योपेन्द्रस्य हरेरनुचरा अनुजीविनो नृपतयो मृगेन्द्रान् सिंहान् विद्विषः शत्रूनिव प्रसभं प्रसह्योच्छिद्य हत्वा वन्येभानां मस्तकेषु निखातैर्निक्षिप्तैर्नखाग्रैः सिंहनखमुखैर्मुक्तानि कीर्णानि मुक्ताफलप्रकराणि भजन्तीति तथोक्तानि गुहागृहाणीवेत्युपमितसमासः । विद्विष इवेति लिङ्गात् अध्यवात्सुरध्युषितवन्तः । 'उपान्वध्याङ्वसः' इति कर्मत्वम् "वस निवासे" लुङि सिचि वृद्धिः 'सस्यार्द्धधातुके' इति तत्वम् ॥ १२ ॥

बिभ्राणया बहलयावकपङ्कपिङ्गपिच्छावचूडमनुमाधवधाम जग्मुः । चञ्च्वग्रदष्टचटुलाहिपताकयान्ये स्वावासभागमुरगाशनकेतुयष्ट्या ॥ १३ ॥

बिभ्राणयेति । अन्ये भूपतयः याव एव यावकोऽलक्तकः । 'राक्षा लाक्षा जतु क्लीबे यावोऽलक्तो द्रुमामयः' इत्यमरः । 'यावादिभ्यः कन्' इति स्वार्थे कन् । बहलेन यावकपङ्केन पिङ्गं पिङ्गलं पिच्छं बर्हमेवावचूडः अग्रेलम्बि कलापः तं बिभ्राणया । 'अस्योऽन्तावचूडा स्यादूर्ध्वाधोमुखचूडकौ' इति ध्वजाङ्गेषु हलायुधः । चञ्चुस्त्रोटिः । 'चञ्चुस्त्रोटिरुभे स्त्रियाम्' इत्यमरः । तस्या अग्रेण दष्टा चटुला चञ्चला अहिरेव पताका यस्यास्तथा उरगाशनो गरुडस्तस्य केतुयष्टिस्तदधिष्ठितो ध्वजदण्ड इत्यर्थः । तया अभिज्ञानेनेति भावः । अनुमाधवधाम हरिशिबिरमनु स्वावासभागं स्वनिवेशदेशं जग्मुः प्रापुः दूरादेव गरुडध्वजेन माधवधाम ज्ञात्वा तत्सन्निहितान्नियतदिक्कान् स्वावासान्निश्चित्य । जग्मुरित्यर्थः ॥ १२ ॥

छायामपास्य महतीमपि वर्त्तमानामागामिनीं जगृहिरे जनतास्तरूणाम् ॥ सर्वो हि नोपगतमप्यपचीयमानं वर्द्धिष्णुमाश्रयमनागतमभ्युपैति ॥ १४ ॥

छायामिति । जनानां समूहा जनताः । "ग्रामजनबन्धुभ्यस्तल्" तरूणां वर्त्तमानां विद्यमानां महतीमपि छायामपास्य त्यक्त्वा आगामिनीं छायां जगृहिरे । वर्धिष्णुत्वादिति भावः । न च प्राप्तत्यागो दोषाय त्यागस्वीकारयोः क्षयवृद्धिप्रयुक्तत्वादिति भावः । सर्व इति । तथा हि सर्वो जनः उपगतं प्राप्तमप्यपचीयमानं क्षीयमाणम् । कर्मकर्त्तरि प्रयोगः । आश्रयं नोपैति न गृह्णाति किं त्वनागतमप्राप्तमपि वर्द्धिष्णुं वर्द्धनशीलं आश्रयमुपैति । सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ १४ ॥

अग्रे गतेन वसतिं परिगृह्य रम्यामापात्यसैनिकनिराकरणाकुलेन। यान्तोऽन्यतः प्लुतकृतस्वरमाशु दूरादुद्बाहुना जुहुविरे मुहुरात्मवर्ग्याः ॥ १५ ॥

अग्र इति । अग्रे गतेन पुरःप्रयातेन रम्या वसतिं निवासम् "वहिवस्यर्त्तिभ्यश्च" इति वसेरौणादिकोऽतिप्रत्ययः । परिगृह्यापतन्तीत्यापात्याः स्वयमाक्रमितुमागच्छन्तः । "भव्यगेय" इत्यादिना कर्त्तरि ण्यदन्तो निपातः । तेषां सैनिकानां निराकरणे निरसने आकुलेन व्यग्रेण उद्बाहुना उद्यतहस्तेन । केनचिदिति शेषः । अन्यतो यान्तो गच्छन्त आत्मवर्ग्याः स्वयूथ्याः प्लुतः त्रिमात्रिकः यथा तथा कृतः स्वरो नादः अह्वानं यस्मिन् कर्मणि तद्यथा तथा । "दूराद्धूते च" इति दूरादाह्वाने प्लुतविधानादिति भावः । आशु दूरान्मुहुराजुहुविरे आहूताः ह्वयतेराङ्पूर्वात्कर्मणि लिट्, "अभ्यस्तस्य च" इति सम्प्रसारणे द्विर्वचनमुवङादेशश्च ॥ १५ ॥

सिक्ता इवामृतरसेन मुहुर्जनानां क्लान्तिच्छिदो वनवनस्पतयस्तदानीम्। शाखावसक्तवसनाभरणाभिरामाः कल्पद्रुमैः सह विचित्रफलैर्विरेजुः ॥ १६ ॥

सिक्ता इति । अमृतरसेन सिक्ता इवेत्युत्प्रेक्षा । मुहुर्जनानां क्लान्तिच्छिदः श्रमहराः । कल्पद्रुमवदमृतसेकाभावादपि तद्वदाह्लादका इति भावः । शाखास्ववसक्तैर्लग्नैर्वसनैराभरणैश्चाभिरामाः । एकत्र सेनास्थापितैरन्यत्र स्वप्रसूतैरिति भावः । वनवनस्पतयो वनवृक्षाः विचित्रफलैर्वस्त्राभरणाद्यनेकफलयुक्तैः कल्पद्रुमैः तत्रत्यैरिति शेषः । सह तदानीं विरेजुः तद्वद्विरेजुरित्यर्थः । सहेति सादृश्ये । 'सह साकल्यसादृश्ययौगपद्यसमृद्धिषु' इति विश्वः । तथा-चोपमालङ्कारः ॥ १६ ॥

यानाज्जनः परिजनैरवतार्य्यमाणा राज्ञीर्नेरापनयनाकुलसौविदल्लाः। स्रस्तावगुण्ठनपटाः क्षणलक्ष्यमाणवक्त्रश्रियः सभयकौतुकमीक्षते स्म ॥ १७ ॥

यानादिति । परिजनैर्यानाद्वाहनादवतार्य्यमाणा अवरोप्यमाणाः । रुहेर्ण्यन्तात्कर्मणि लटः शानजादेशः, "रुहः पोऽन्यतरस्याम्" इति पकारः । नराणामालोकिजनानामपनयनेऽपसारणे आकुलाः सौविदल्लाः कञ्चुकिनो यासां ताः । 'सौविदल्लाः कञ्चुकिनः' इत्यमरः । स्रस्ता अवरोपणसंक्षोभादपसृता अवगुण्ठनपटा नीरङ्गीवस्त्राणि यासां ताः अत एव क्षणं लक्ष्यमाणाः वक्त्रश्रियो यासां ताः तथोक्ताः राज्ञीः राजस्त्रीः "पुयोगादाख्यायाम्" इति ङीष् । जनः सभयकौतुकमीक्षते स्म । ताडनाद्भयं कामात्कौतुकम् ॥ १७ ॥

**कण्ठावसक्तमृदुबाहुलतास्तुरङ्गाद्राजावरोधनवधूरवतारयन्तः ।
आलिङ्गनान्यधिकृताः स्फुटमापुरेव गण्डस्थलीः शुचितया
न चुचुम्बुरासाम् ॥ १८ ॥**

कण्ठेति । तुरङ्गाद्राजावरोधनवधूः राज्ञामवरोधस्त्रीरवतारयन्तोऽवरोपयन्तोऽधिकृताः अन्तःपुराधिकारिणः कण्ठेषु स्वकीयेष्ववसक्ता मृदवो बाहुलतास्तदीया येषां ते तथोक्ताः सन्तः स्फुटं व्यक्तमालिङ्गनान्यापुरेव अन्यथा दुरवरोहत्वाद्व्याजाच्चेति भावः । आसां वधूनां गण्डस्थलीः शुचितया स्वयं शुद्धवर्तित्वाद्गण्डानां नैर्मल्याच्च न चुचुम्बुः । यावत्कर्त्तव्यकारिणः शुद्धात्मानो नातिचरन्तीति भावः । अन्यत्र तु पापाचाराः पापलिङ्गानि प्रकाशयन्तीति भावः ॥ १८ ॥

दृष्ट्वेव निर्जितकलापभरामधस्ताद्व्याकीर्णमाल्यकबरां कबरीं तरुण्याः । प्राद्रुद्रवत्सपदि चन्द्रकवान्द्रुमाग्रात्संहर्षिणा सह गुणाभ्यधिकैर्दुरासम् ॥ १९ ॥

दृष्ट्वेति । अधस्तात्तलतले निर्जितः कलापभारो बर्हभारो यया ताम् । 'कलापो भूषणे बर्हे' इत्यमरः । व्याकीर्णेन विक्षिप्तेन माल्येन कबरां शाराम् । 'कबरः कर्बुरः शारः' इति हलायुधः । तरुण्याः कबरीं केशपाशम् । 'कबरी केशपाशोऽथ' इत्यमरः "जानपद" इत्यादिना ङीष् । दृष्ट्वेवेत्युत्प्रेक्षा । सपदि चन्द्रका अस्य सन्तीति चन्द्रकवान्मयूरः द्रुमाग्रात्प्राद्रुद्रवत् प्रद्रुतवान् । "द्रु गतौ" लुङि "णिश्रि" इत्यादिना च्लेश्चङादेशः, 'अचि श्नुधातु' इत्यादिना उवङादेशः । तथा हि संहर्षिणा मत्सरिणा । कर्त्रा । गुणाभ्यधिकैर्गुणोत्कृष्टैः सह दुरासमासितुमशक्यमित्यर्थः । आसेरकर्मकात् 'ईषद्दुः' इत्यादिना भावे खल्प्रत्ययः, "तयोरेव कृत्यक्तखलर्थाः" इति नियमात् । अत्र भयहेतुकस्य पलायनस्य कबरीदर्शनहेतुकत्वमुत्प्रेक्ष्य तत्समर्थनसमर्थोऽयम् अर्थान्तरन्यासः । कृत इत्यस्यानयाङ्गेन सङ्करः । न हि जितैर्जेतुरग्रे स्थातुमुचितमिति भावः ॥ १९ ॥

रोचिष्णुकाञ्चनचयांशुपिशङ्गिताशा वंशध्वजैर्जलदसंहतिमुल्लिखन्त्यः । भूभर्तुरायतनिरन्तरसन्निविष्टाः पादा इवाभिबभुरावलयो रथानाम् ॥ २० ॥

रोचिष्णिवति । रोचनशीलाः । "अलङ्कृञ्" इत्यादिना इष्णुच् प्रत्ययः । तेषां काञ्चनचयानां कनकचयानामंशुभिः पिशङ्गिताः पिशङ्गीकृताः आशा याभिस्ताः वंशानां तत्तद्राजकुलानां ध्वजैः प्रतिनियतकुलानामङ्कुशादिचिह्नितकेतुभिः अन्यत्र वंशा वेणवस्तैरेव ध्वजैर्जलदसंहतिं मेघसंघातमुल्लिखन्त्यः आयतं दीर्घं निरन्तरं नीरध्रं च सन्निविष्टाः संस्थिताः रथानामावलयः भूभर्तू रैवतकाद्रेः पादाः प्रत्यन्तपर्वता इवाभिबभुः भान्ति स्म । आशापिशङ्गीकरणादिक्रियानिमित्ता जातिस्वरूपोत्प्रेक्षा ॥ २० ॥

छायाविधायिभिरनुज्झितभूतिशोभैरुच्छ्रायिभिर्बहुलपाटलधातुरागैः । दूष्यैरिव क्षितिभृतां द्विरदैरुदारताराबलीविरचनैर्व्यरुचन्निवासाः ॥ २१ ॥

छायेति । क्षितिभृता राज्ञा निवसन्त्यत्रेति निवासाः निवासदेशाश्छायाविधायिभि कान्तिकरैरनातपसम्पादकैश्च । 'छाया त्वनातपे कान्तौ' इति विश्व. । अनुज्झिताभूतीना भस्मरचनाना सम्पदा च शोभा यैस्तै । 'भूतिर्भस्मनि सम्पदि' इत्यमरः । उच्छ्रायिभिरुन्नमद्भिर्बहुलः सान्द्र पाटल आरक्तधातुरागो गैरिकादिरञ्जन येषा तै' उदारा ताराबलीना शुद्धमुक्तावलीना विरचना येषु तै' मुक्तासारभूषितैरित्यर्थ । तारा मुक्तादिसशुद्धौ तरले शुद्धमौक्तिके' इति विश्व' । दूष्यपक्ष ताराबलीरज्जुसन्ततिरिति केचित् । द्विरदैर्दूष्यै' पटमण्डपैरिव । 'दूष्य वस्त्रे च तद्गृहे' इति विश्व. । व्यरुचन् रोचन्ते स्म । "रुच दीप्तौ" "द्युद्भ्यो लुङि" इति परस्मैपदे । " पुषादि" इत्यादिना च्लेरङादेशः । अत्र द्विरदाना दूष्याना च प्रकृतत्वान्नोपमा, नापि श्लेषभेदः विशेष्यस्य विशेषणाना च केषाञ्चिदश्लिष्टत्वात् । तस्मात्केवलप्रकृतास्पदा तुल्ययोगितेयम् । इवशब्दस्तु सादृश्यमात्रानुवाचक इति सक्षेपः ॥ २१ ॥

उत्क्षिप्तकाण्डपटकान्तरलीयमानमन्दानिलप्रशमितश्रमघर्मतोयैः । दूर्वाप्रतानसहजास्तरणेषु भेजे निद्रासुखं वसनसद्मसु राजदारैः ॥ २२ ॥

उत्क्षिप्तेति । उत्क्षिप्त उद्धृतो यः काण्डपट एव काण्डपटक' दूष्यावलम्बिवायुसञ्चारार्थ' पट । 'अपट' काण्डपटी स्यात् ' इति वैजयन्ती । तस्यान्तरेऽवकाशे लीयमानेन मन्दानिलेन प्रशमित श्रमेणाध्वखेदेन यत् धर्मतोय स्वेदाम्बु तद्येषा तै राजदारै राजावरोधैः दूर्वाणा प्रतानं प्रचय एव सहजमकृत्रिममास्तरण तल्पं येषु तेषु वसनसद्मसु पटमण्डपेषु निद्रासुख भेजे ॥ २२ ॥

प्रस्वेदवारिसविशेषविषक्तमङ्गे कूर्पासकं क्षतनखक्षतमुत्क्षिपन्ती । आविर्भवद्घनपयोधरबाहुमूला शातोदरी युवदृशां क्षणमुत्सवोऽभूत् ॥ २३ ॥

प्रस्वेदेति । अङ्गे गात्रे प्रस्वेदवारिणा सविशेषं सातिशय यथा तथा विषक्तम् अतिश्लिष्टं कूर्पासक चोलक कञ्चुकमित्यर्थः । 'चोल कूर्पासकोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः । क्षतानि पुनर्विदीर्णानि नखक्षतानि यस्मिन् कर्मणि तद्यथा तथा । उत्क्षिपन्ती उन्मोचयन्ती अत एवाविर्भवत्प्रकाशमान घनपयोधरबाहुमूल घनौ पयोधरौ बाहुमूलं च यस्या सा शातोदरी । "नासिकोदर" इत्यादिना ङीप् । युवदृशा क्षणमुत्सवोऽभूत् । एतेन यूना त्वराचिन्तादिकरमिष्टवस्त्ववलोकननिमित्त कालाक्षमत्वलक्षणमौत्सुक्य व्यज्यते । नायिकाभिसारिणी प्रगल्भा वा ॥ २३ ॥

यावत्स एव समयः सममेव तावदव्याकुलाः पटमयान्यभितो वितत्य । पर्य्यापतन्क्रयिकलोकमगण्यपण्यपूर्णापणा विपणिनो विपणीर्विभेजुः ॥ २४ ॥

यावदिति । विपणो व्यवहार एषामस्तीति विपणिनो वणिजो यावत्स एव समयः सेनानिवेशलक्षण एव तावत्क्षण एव सम युगपत् अव्याकुला अव्यग्राः सन्त पटमयानि पटविकाराणि पटमण्डपानीत्यर्थः । अभितो वितत्य उभयतः श्रेण्या वितत्य विस्तीर्य क्रयेण जीवतीति क्रयिक । "वस्तुक्रयविक्रयात्" इति ठक् । पर्यापतत् परितोऽधावत् । क्रयिकलोक क्रेतृजनो यस्मिन् कर्माणि तत् अगण्यैरसंख्येयै पण्यैः पण्यद्रव्यै पूर्णा आपणा पण्यप्रसारणस्थानानि यासु ता विपणी पण्यवीथी 'आपणस्तुनिषद्यायां विपणि पण्यवीथिका' इत्यमर. ॥ विभेजुरलङ्कीर्ण निर्ममुरित्यर्थ । स्वभावोक्त्यनुप्रासौ ॥ २४ ॥

अल्पप्रयोजनकृतोरुतरप्रयासैरुद्गूर्णलोष्टलगुडैः परितोऽनुविद्धम् । उद्यन्तमुद्भुतमनोकहजालमध्यादन्यः शशं गुणमनल्पमवन्नवाप ॥ २५ ॥

अल्पेति । अल्पप्रयोजनेनाल्पफलेन निमित्तेन कृत उरुतरो भूयान्प्रयासो यैस्ते. अल्पस्यैकस्य शशपिण्डस्य । भूयसामकिञ्चित्करत्वादिति भाव । उद्गूर्ण. उद्यता लोष्टानि मृत्खण्डलगुडाश्च दण्डकाष्टानि यैस्तैः पुम्भिरिति शेष । परितोऽनुविद्धमनुरुद्धम् अनस शकटस्याक गति हन्तीत्यनोकहा वृक्षा तेषा जालमध्यादुद्यन्तमुत्थितम् । "उदुपधाद्भेने कर्तरि क्त" । उद्द्रुत पलायितं शश मृगविशेषम् अन्य पर अवन् हन्तृन्निवार्य्य रक्षन्ननल्प गुण महान्तमुत्कर्षमवाप । दयालोरनामिषलोलुपस्य सुकीर्ति सुलभेति भाव । अत्रार्थान्तर चाहु । अन्यो गुण पाशमवन् प्रयुञ्जान' शशमवाप जग्राह । यो हन्ता तस्यैव मृग इति । व्याधसमयादिति भाव ॥ २५ ॥

त्रासाकुलः परिपतन्परितो निकेतान्पुम्भिर्न कैश्चिदपि धन्विभिरन्वबन्धि ॥ तस्थौ तथापि न मृगः क्वचिदङ्गनानामाकर्णपूर्णनयनेषुहतेक्षणश्रीः ॥ २६ ॥

त्रासेति । त्रासाकुलो जनदर्शनाद्भयविह्वलोऽत एव निकेतान्निवेशान् परित. सर्वत । "अभित परित" इत्यादिना द्वितीया । परिपतन्धावन् मृगो हरिण कैश्चिदपि धन्विभिर्धनुष्मद्भिः । 'धन्वी धनुष्मान्धानुष्क' इत्यमर । व्रीह्यादित्वादिनिरिति स्वामी । पुम्भिर्नान्वबन्धि नानुयात' । बध्नाते कर्म्मणि लुङ् । तथाप्यङ्गनानामाकर्णपूर्णा विस्तीर्ण्णा आकृष्टाश्च ये नयनान्येवेषवस्तैर्हता ईक्षणश्रीर्यस्य स । अत क्वचिदपि न तस्थौ, किन्तु वीरविशिखापाताभावेऽप्यङ्गनापाङ्गविशिखपातात्पलायित एवेति भाव. । अत्र जनालोकनोत्थभयहेतुकस्य मृगानवस्थान-

स्याङ्गनापाङ्गेषु हृतिहेतुकत्वोत्प्रेक्षणाद्धेतूत्प्रेक्षा । सा च व्यञ्जकाप्रयोगात्प्रतीयमाना । हेतोश्च हृते- क्षणश्रीरिति विशेषणगत्योक्तत्वात्काव्यलिङ्गमिति सङ्करः ॥ २६ ॥

आस्तीर्णतल्परचितावसथः क्षणेन वेश्याजनः कृतनवप्रति- कर्म्मकाम्यः ॥ खिन्नानखिन्नमतिरापततो मनुष्यान्प्रत्यग्रही- च्चिरनिविष्ट इवोपचारैः ॥ २७ ॥

आस्तीर्णेति । क्षणेनास्तीर्णतल्प वेश्यावृत्ते शय्याप्रधानत्वात् प्रागेव सज्जितशय्य यथा- तथा रचितावसथः कल्पितनिकेत । ' स्थानावसथवास्तु च ' इति कोष. । कृतेन नवप्रतिकर्म्मणा नूतनेन प्रसाधनेन काम्य· स्पृहणीय. अखिन्नमतिरश्रान्तचित्त. अगणिताध्वखेद इत्यर्थ. । वेश्याजन. खिन्नानश्रान्तानापतत आगच्छतो मनुष्यान्पुरुषान् चिरनिविष्ट इव तत्रैव नित्यवा- स्तव्य इवेत्युत्प्रेक्षा । उपचारैः शीताम्बुताम्बूलदानादिसत्कारैः प्रत्यग्रहीत् वशीचकारेत्यर्थ ॥२७॥

सस्नुः पयः पपुरनेनिजुरम्बराणि जक्षुर्बिसं तविकासिबिसप्र- सूनाः । सैन्याः श्रियामनुपभोगनिरर्थकत्वदोषप्रवादममृज- न्नगनिम्नगानाम् ॥ २८ ॥

सस्नुरिति । सेनाया समेता. सैन्या सैनिकजना । " सेनाया च " इति ण्यप्रत्यय· । नग- निम्नगाना या श्रिय समृद्धय तासामनुपभोगः उपभोगाभावः । " क्वचित्प्रसज्यप्रतिषेधेऽपि नञ्स- मास इष्यते " यथाऽदर्शनमश्रवणमनुच्चारणम् अनुपलब्धिरभाव इत्यादि । तेन यन्निरर्थकत्व निष्फ- लत्व तदेव दोष तेन य· प्रवादो निन्दा तममृजन् अमार्जन् । "मृजूष् शुद्धौ" अदादित्वाल्लङि शपो लुक् "मृजेरजादौ किति विभाषा वृद्धिर्वक्तव्या" इति विकल्पाद्वृद्ध्यभाव. मार्जनप्रकारमाह । सस्नुः स्नान चक्रु पय पानीय पपु. । "ष्णा शौचे, पा पाने" लिट् । अम्बराण्यनेनिजु· अक्षालयन् । "णिजिर् शौचे" जुहोत्यादित्वाल्लङि "श्लौ" इति द्विर्भाव: "सिजभ्यस्तविदि- भ्यश्च" इति झेर्जुसादेश "णिजान्त्रयाणा गुण· श्लौ" इत्यभ्यासस्य गुण । धृतानि विकासि- बिसप्रसूनानि विकसितपुष्कराणि यैस्ते । 'बिसप्रसूनराजीवपुष्कराम्भोरुहाणि च' इत्यमर. । बिसं मृणाल जक्षु· भक्षयाञ्चक्रु· । घसेर्लिटि 'गमहन'इत्यादिना उपधालोपे चर्त्वम् "शासिव- सिघसीना च" इति षत्वम् । स्नानाद्युपभोगेनोक्तनैरर्थ्यं निराचक्रुरित्यर्थः । अत्र दोषमार्जनस्य स्नानादिना कृतत्वाद्वाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कारः । स्नानादिक्रियासमुच्चयस्त्वङ्गमस्येति सङ्करः ॥ २८ ॥

नाभिह्रदैः परिगृहीतरयाणि यत्र स्त्रीणां बृहज्जघनसेतुनिवा- रितानि । जग्मुर्जलानि जलमड्डुकवाद्यवल्गुवल्गद्घनस्तन- तटस्खलितानि मन्दम् ॥ २९ ॥

नाभीति । स्त्रीणां नाभिभिरेव ह्रदैः परिगृहीतरयाणि प्रतिषिद्धवेगानि बृहद्भिर्जघनैरेव सेतुभिर्निवारितानि । प्रतिहतगतिकानीत्यर्थः । पश्चान्नितम्बः स्त्रीकटयां क्लीबे तु जघनं पुरः इत्यमरः । जलमेव मड्डुकवाद्यं वाद्यविशेषः । जलमेकेन पाणिनोत्थापितमपरेण ताडितं मड्डुकवत् ध्वनतीति प्रसिद्धम् । तेन वल्गु सुन्दरं यथा तथा वल्गद्भिश्चलद्भिः स्तनतटैः स्खलितं निस्खलनं गतानि गमितानि वा जलानि पूर्वोक्तनगनिम्नगासलिलानि मन्दं जग्मुः । अत्र जलमन्दगमनस्य विशेषणगत्या स्थगितत्वादिपदार्थहेतुकत्वात्काव्यलिङ्गम् ॥ २९ ॥

आलोलपुष्करमुखोल्लसितैरभीक्ष्णमुक्षाम्बभूवुरभितो वपुरम्बुवर्षैः । खेदायतश्वसितवेगनिरस्तमुग्धमूर्द्धन्यरत्ननिकरैरिव हास्तिकानि ॥ ३० ॥

आलोलेति । हस्तिनां समूहा हास्तिकानि "अचित्तहस्तिधेनोष्ठक्" इति ठक् । आलोलानि यानि पुष्कराणि हस्ताग्राणि । 'पुष्करं करिहस्ताग्रे' इत्यमरः । तेषां मुखैरग्रैरुल्लसितानि उत्क्षिप्तानि तैरम्बुवर्षैः खेदेनाध्वश्रमेणायतेन द्राघीयसा श्वसितस्योच्छ्वासमारुतस्य वेगेन निरस्ता बहिरुत्क्षिप्ता ये मुग्धाः सुन्दराः मूर्द्धन्या मूर्ध्नि भवाः "शरीरावयवाच्च" इति यत्प्रत्ययः, "ये चाभावकर्मणोः" इति प्रकृतिभावात् "नस्तद्धिते" इति टिलोपाभावः । रत्ननिकरा मुक्ताफलप्रकरास्तैरिवेत्युत्प्रेक्षा । वपुरभीक्ष्णमुक्षाम्बभूवुः सिषिचुः । "उक्ष सेचने" "इजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छः" इत्याम्प्रत्ययः । गजेन्द्रजीमूतवराहशङ्खमत्स्याहिशुक्त्युद्भववेणुजानि । मुक्ताफलानि प्रथितानि लोके तेषां तु शुक्त्युद्भवमेव भूरि' इति गजानां मुक्ताकरत्वे प्रमाणम् ॥ ३० ॥

ये पक्षिणः प्रथममम्बुनिधिङ्गतास्ते येऽपीन्द्रपाणितुलितायुधलूनपक्षाः । ते जग्मुरद्रिपतयः सरसीर्विगाढुमाक्षिप्तकेतुकुथसैन्यगजच्छलेन ॥ ३१ ॥

य इति । ये पक्षिणः पक्षवन्तः इन्द्रेणाच्छिन्नपक्षा इत्यर्थः । ससर्गे इनिः प्रत्ययः । तेऽद्रिपतयो मैनाकादयः प्रथममम्बुनिधिं गताः प्रविष्टाः येऽपि ये ये इत्यर्थः । इन्द्रस्य पाणिना तुलितेन प्रेरितेनायुधेन वज्रेण लूनपक्षाः छिन्नपक्षास्तेऽद्रिपतयः आक्षिप्ता आनीताः केतवो ध्वजाः कुथाः पृष्ठास्तरणानि च येषाम् "प्रवेण्यास्तरणं वर्णः परिस्तोमः कुथो द्वयोः" इत्यमरः । तेषां सैन्यगजानां छलेन सरसीर्विगाढुं विगाहितुम् । "स्वरतिसूति" इति विकल्पादिडागमः । जग्मुः । अत्र गजच्छलेनेति छलशब्देन गजत्वमपह्नुत्याद्रित्वारोपणाच्छलादिशब्दैरसत्यत्वप्रतिपादनरूपोऽपह्नवालङ्कारः । तेन पक्षच्छेदनामर्षीणां सागरावगाहनदर्शनात्मत्सरात् स्वयमपि सलिलमवगाहमानाः साक्षाल्लूनपक्षपर्वता इवेत्युत्प्रेक्षा व्यज्यते ॥ ३१ ॥

आत्मानमेव जलधेः प्रतिबिम्बिताङ्गमूर्मौ महत्यभिमुखापतितं

निरीक्ष्य। क्रोधादधावदपभीरभिहन्तुमन्यनागाभियुक्त इव युक्तमहो महेभः॥ ३२॥

आत्मानमिति। महेभो जलधेर्जलाशयस्य महत्यूर्मौ प्रतिबिम्बितमङ्गं यस्य तमभिमुखापतितमभिमुखमागतमात्मानमेव आत्मप्रतिबिम्बमेवेत्यर्थः। निरीक्ष्यान्यनागेन प्रतिगजेनाभियुक्तोऽभिद्रुत इवातितूर्णमपभीर्निर्भीकः सन् क्रोधादधावत् अहो इति मौढ्येन विस्मयः। न च युक्तं महेभस्येति भावः। अभियुक्त इवेत्युत्प्रेक्षाया प्रतिगजभ्रान्तिनिबन्धनत्वात् भ्रान्तिमदुत्प्रेक्षयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः॥ ३२॥

नादातुमन्यकरिमुक्तमदाम्बुतिक्तं धूताङ्कुशेन न विहातुमभीच्छताम्भः। रुद्धे गजेन सरितः सरुषावतारे रिक्तोदपात्रकरमास्त चिरं जनौघः॥ ३३॥

नेति। अन्यकरिणा प्रतिगजेन मुक्तेन मदाम्बुना तिक्तं सुरभि। 'कटुतिक्तकषायास्तु सौरभ्येऽपि प्रकीर्तिता' इति केशवः। अम्भः आदातुं ग्रहीतुं नेच्छता विहातुं त्यक्तुमपि नेच्छता अनिच्छता क्रोधपिपासाभ्यामिति भावः। धूताङ्कुशेन सरुषा सक्रोधेन गजेन नगरसरितोऽवतारे तीर्थे रुद्धे सति जनौघः रिक्तान्युदपात्राणि येषु ते कराः यस्मिन् तद्यथा तथा चिरमास्त अतिष्ठत् "आस उपवेशने" लङ्। "एकहलादौ पूरयितव्येऽन्यतरस्याम्" इत्युदकशब्दस्योदादेशः॥ ३३॥

पन्थानमाशु विजहीहि पुरः स्तनौ ते पश्यन्प्रतिद्विरदकुम्भविशङ्किचेताः। स्तम्बेरमः परिणिनंसुरसावुपैति षिङ्गैरगद्यत ससम्भ्रममेव काचित्॥ ३४॥

पन्थानमिति। पन्थानमाशु विजहीहि। "ओहाक् त्यागे" लोटि सेर्ह्यादेशः "आ च हौ" इति विकल्पादीकारादेशः। पुरोऽग्रे ते स्तनौ पश्यन् प्रतिद्विरदस्य कुम्भौ विशङ्कत इति तद्विशङ्कि चेतो यस्य सः कुम्भभ्रान्तिमानित्यर्थः। अतएव भ्रान्तिमदलङ्कारः। स्तम्बे तृणे रमत इति स्तम्बेरमः। 'इभः स्तम्बेरमः पद्मी' इत्यमरः। "स्तम्बकर्णयो रमिजपोः" इत्यच् प्रत्ययः, "तत्पुरुषे कृति बहुलम्" इत्यलुक्। परिणन्तुं तिर्यक् प्रहर्तुमिच्छुः परिणिनंसुः। नमेः सन्नन्तादुप्रत्ययः, "एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्" इतीट् प्रतिषेधः। असावुपैति। पुरेति। पाठे पुरोपैतीत्यन्वयः उपैष्यतीत्यर्थः। "यावत्पुरानिपातयोर्लट्" इति भविष्यदर्थे लट्। षिङ्गैर्विटैः। "षिङ्गः पल्लविको विटः" इति कोषः। काचिदेवमुक्तरीत्या ससम्भ्रमं सत्वरम् अगद्यत गदिता॥ ३४॥

कीर्णं शनैरनुकपोलमनेकपानां हस्तैर्विगाढमदतापरुजः शमाय । आकर्णमुल्लसितमम्बु विकासिकाशनीकाशमाप समतां सितचामरस्य ॥ ३५ ॥

कीर्णमिति । अनेकपानां द्विपानां विगाढः प्ररूढो यो मदेन तापः स एव रुक् रोगः तस्याः रुजः शमाय शनैर्मन्दं हस्तैरनुकपोलं कपोलयोः कीर्णं क्षिप्तम् आकर्णं कर्णपर्यन्तम् । "आङ् मर्यादाभिविध्योः" इत्यव्ययीभावः । उल्लसितमुत्पतितं विकासि यत्काशं काशकुसुमं तेन सदृशं काशनीकाशम् । नित्यसमासत्वादस्वपदविग्रहः । अत एव 'स्युरुत्तरपदे त्वमी । निभसङ्काशनीकाशप्रतीकाशोपमादयः' इत्यमरः । अम्बु पानीयम् । सितचामरस्य समतां सादृश्यमाप । "तुल्यार्थैः" इत्यादिना षष्ठी । उपमालङ्कारः ॥ ३५ ॥

गण्डूषमुज्झितवता पयसः सरोषं नागेन लब्धपरवारणमारुतेन । अम्भोधिरोधसि पृथुप्रतिमानभागरुद्धोरुदन्तमुसलप्रसरं निपेते ॥ ३६ ॥

गण्डूषमिति । लब्धः परवारणस्य प्रतिगजस्य मारुतो मदगन्धवाहो येन तेन अत एव सरोषं यथा तथा पयसः पानीयस्य गण्डूषं मुखपूरणं मुखान्तर्गतं पय इत्यर्थः । 'गण्डूषो मुखपूरणे' इति हलायुधः । द्विलिङ्गत्वेऽपि पुलिङ्गमेवाह वामनो लिङ्गाव्याहारादित्यत्र । उज्झितवता त्यक्तवता नागेन गजेन । 'मतङ्गजो गजो नागः' इत्यमरः । अम्भोधिरोधसि सागरतीरे । 'दन्तयोरुभयोर्मध्यं प्रतिमानमिति स्मृतम्' पृथुना प्रतिमानभागेन रुद्धः प्रतिबद्धः उरू दन्तौ मुसलाविव तयोः प्रसरः प्रसारो यस्मिन् कर्मणि तत् । 'अयोग्रं मुसलोऽस्त्री स्यात्' इत्यमरः । निपेते निपतितम् । भावे लिट् । क्रोधवेगादलब्धरोधः प्रहृत्य पारवश्यात् स्वयं चाधोमुखः पपातेत्यर्थः । क्रोधान्धाः किं न कुर्वन्तीति भावः ॥ ३६ ॥

दानं ददत्यपि जलैः सहसाधिरूढे को विद्यमानगतिरासितुमुत्सहेत । यद्दन्तिनः कटकटाहतटान्मिमङ्क्षोर्मङ्क्षूदपाति परितः पटलैरलीनाम् ॥ ३७ ॥

दानमिति । दीयत इति दानं वनं मदश्च । 'दानं गजमदे त्यागे' इति विश्वः । तद्ददति वितरत्यपि दातर्यपीत्यर्थः । सहसा अकस्मात् । स्वरादित्वादव्ययत्वमिति शाकटायनः । जलैर्जडैर्नीरैश्च । 'जलं गोकलले नीरे ह्रीबेरे च जडेऽन्यवत्' इति विश्वः । अधिरूढे आक्रान्ते सति विद्यमानगतिः गत्यन्तरवान्समर्थश्च कः पुमनासितुं तत्र स्थातुमुत्सहेत न कोऽपीत्यर्थः । "शकधृष" इत्यादिना तुमुन् । यस्मान्मिमङ्क्षोर्मङ्क्तुमिच्छोः मज्जेः सन्नन्तादुप्रत्ययः । दन्तिनः कटो गण्डः स कटाहः खर्पर इव 'कटाहः खर्परस्तु ना' इति वैजयन्ती । तस्य तटात्प्रदेशा-

दलीनां पटकैः परितो मङ्क्षु द्राक् । 'द्राक् मङ्क्षु सपदि द्रुते' इत्यमरः । उदपाति -उत्पतितम् । भावे लुङ् "चिण् भावकर्मणोः" इति चिण् "चिणो लुक्" । विशेषेण सामान्यसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ ३७ ॥

अन्तर्जलौघमवगाढवतः कपोलौ हित्वा क्षणं विततपक्षतिरन्तरिक्षे । द्रव्याश्रयेष्वपि गुणेषु रराज नीलो वर्णः पृथग्गत इवालिगणो गजस्य ॥ ३८ ॥

अन्तरिति । जलौघे अन्तर्जलौघम् । विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः । अथवा जलौघ जलपूरमन्तरस्यन्तरे अवगाढवतः प्रविष्टवतः । गाहेर्निष्ठाक्तवतुप्रत्ययः " ढत्वष्टुत्वढलोपाः" गजस्य कपोलौ हित्वा क्षणमन्तरिक्षे उपर्याकाशे विततपक्षतिर्विस्तृतपक्षमूलः आमूलात् विततपक्ष इत्यर्थः । 'स्त्री पक्षतिः पक्षमूलम्' इत्यमरः । "पक्षात्तिः" इति तिप्रत्ययः । अलिगणो गुणेषु रूपादिषु द्रव्यमाश्रयो येषां तेषु द्रव्याश्रयेषु अपि अयुतसिद्धत्वात् द्रव्यसमवेतत्वाच्च द्रव्याधीनसत्ताकेषु सत्स्वपीत्यर्थः । पृथग्गतः जलमज्जनभयात् स्वाश्रयपरिहारेण स्थितो नीलो वर्णो नीलरूपं गजस्य नीलिमेव रराज । 'गुणे शुक्लादयः पुंसि' इत्यमरः । अत्रालिगणे सादृश्याद्गजनीलत्वाश्रयादन्यत उपलब्धिनिर्वाहाय पृथक् स्थितिविशिष्टत्वमुत्प्रेक्ष्यते ॥ ३८ ॥

संसर्पिभिः पयसि गैरिकरेणुरागैरम्भोजगर्भरजसाङ्गनिषङ्गिणा च । क्रीडोपभोगमनुभूय सरिन्महेभावन्योन्यवस्त्रपरिवर्तमिव व्यधत्ताम् ॥ ३९ ॥

संसर्पिभिरिति । सरिच्च महेभश्च सरिन्महेभौ पयसि संसर्पिभिः गजात्सरिज्जले विसृत्वरैः गैरिकरेणवो धातव एव रागास्तैः । करणे घञ् । अङ्गनिषङ्गिणा गजाङ्गसङ्गिना अम्भोजगर्भरजसा पद्मान्तःपरागेण च निमित्तेन क्रीडया लीलया उपभोगं सम्भोगमनुभूयान्योन्यं मिथो वस्त्रयोः परिवर्तं विनिमयं व्यधत्तामकुरुतामिव । दधातेर्लङि परस्मैपदे तसस्तामादेशः । अत्र सरिन्महेभयोः प्रतीयमाननायिकादेरभेदाध्यवसायेन वस्त्रविनिमयोत्प्रेक्षा ॥ ३९ ॥

यां चन्द्रकैर्मदजलस्य महानदीनां नेत्रश्रियं विकसतो विदधुर्गजेन्द्राः । तां प्रत्यवापुरविलम्बितमुत्तरन्तो धौताङ्गलग्ननवनीलपयोजपत्रैः ॥ ४० ॥

यामिति । गजेन्द्राः विकसतः समन्तात्पयसि तैलबिन्दुवत्प्रसरतो मदजलस्य चन्द्रकैश्चन्द्राकारैर्मण्डलैर्महानदीनां या नेत्रश्रियं विदधुः चक्रुस्तां नेत्रश्रियमुत्तरन्तो जलान्निर्गच्छन्तो धौतेषु क्षालितेष्वङ्गेषु लग्नैः सक्तैर्नवनीलपयोजपत्रैर्नवनीलोत्पलदलैरविलम्बितं क्षिप्रमेव प्रत्यवापुः प्रतिपेदिरे । अत्र गजानां नदीनां च समनेत्रश्रीविनिमयोक्त्या समपरिवृत्तिरलङ्कारः । 'समन्यूनाधिकानां च यदा विनिमयो भवेत् । साक् समाधिकन्यूनैः परिवृत्तिरसौ मता' इति लक्षणात् ॥ ४० ॥

प्रत्यन्यदन्ति निशिताङ्कुशदूरभिन्ननिर्य्याणनिर्यदसृजं चलितं निषादी। रोद्धुं महेभमपरिव्रढिमानमागादाक्रान्तितो न वशमेति महान्परस्य ॥ ४१ ॥

प्रतीति । अन्यदन्तिन प्रति प्रत्यन्यदन्ति प्रतिगजाभिमुखमित्यर्थ । " लक्षणनाभिप्रती-अभिमुख्ये " इत्यव्ययीभाव । चलित धावन्तम् अत एव निशितेनाङ्कुशेन दूर गाढ यथा तथा भिन्न यत् निर्याणमपाङ्गदेश । 'अपाङ्गदेशो निर्य्याणम्' इत्यमर । तस्मान्निर्यन् नि सरदसृक् यस्य त महेभ रोद्धु ग्रहीतु निषादी यन्ता परिवृहते प्रभवतीति परिवृढ प्रभु । वृहेर्वृहेर्वा कर्त्तरि क्तप्रत्यये " प्रभौ परिवृढः " इति नकारहकारयोर्लोप निष्ठातकारस्य ढत्व च निपात्यते। अन्यथा ढलोपस्य सर्वत्रासिद्धेरिष्ठन्नादिषु " र ऋतो हलादेर्लघो " इति रेफादेशो न स्यात्। तस्मा-दिमनिचि रेफादेशे परिव्रढिमा ततो नञ्समास तमपरिव्रढिमानमसामर्थ्यमागात्प्राप । 'इणो गा लुङि "इति गादेश । तथाहि महान् बलवान् आक्रान्तितो बलात्कारात्परस्य वश नैति। सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यास. ॥ ४१ ॥

सेव्योऽपि सानुनयमाकलनाय यन्त्रा नीतेन वन्यकरिदामकृताधिवासः। नाभाजि केवलमभाजि गजेन शाखी नान्यस्य गन्धमपि मानभृतः सहन्ते ॥ ४२ ॥

सेव्य इति । यन्त्रा निषादिना आकलनाय बन्धनाय सानुनय ससान्त्व नीतेन समीप प्रापितेन गजेन वन्यगजदानै कृतोऽधिवासो वासना यस्य स. तद्गन्धीत्यर्थ । शाखी वृक्ष. । व्रीह्या-दित्वाण्णिनि' । सेव्योऽपि सन्नाभाजि नासेवि । " भज सेवायाम् " कर्म्मणि लुङि चिणो लुग्वृद्धिश्च । किन्तु केवलमभाज्यभञ्जीत्यथ 'भञ्जो आमर्दने' "भञ्जेश्च चिणि " इति विभाषा नलोप । शेष पूर्ववत्। तथा हि मानभृतोऽहङ्कारिणोऽन्यस्य गन्धमपि न सहन्ते पर किमुतेति भाव. । अतो वृक्षभञ्जन गजस्य युक्तमेवेत्यर्थ । पूर्ववदलङ्कार ॥ ४२ ॥

अद्रीन्द्रकुञ्जचरकुञ्जरगण्डकाषसंक्रान्तदानपयसोः वनपादपस्य। सेनागजेन मथितस्य निजप्रसूनैर्मम्ले यथागतमगामि कुलैरलीनाम् ॥ ४३ ॥

अद्रीन्द्रेति । अद्रीन्द्रस्य रैवतकस्य कुञ्जेषु चरति यस्तस्य कुञ्जचरस्य कुञ्जरस्य गण्डकाषेण कपोलकषणेन सङ्क्रान्त दानपयो मदाम्बु यस्य तस्यात एव सेनागजेन मथितस्य भग्नस्य वनपादपस्य निजैरात्मीयै. प्रसूनै' पुष्पै । 'निजमात्मीयनित्ययो' ' इति वैजयन्ती । मम्ले म्लानम्। म्लायते-र्भावे लिट् । अलीना कुलैस्तु यथागतमगामि गतम् । आगतक्रमेणैव गत न तु म्लानमित्यर्थ । आपद्यात्मीयानात्मीययोर्भेद इति भाव. । गमेर्गत्यर्थस्याकर्म्मकत्वविवक्षणाद्भावे लुङ् । द्रुमननगा-दपादीना विशेषणसाम्यादापन्नाद्यौपम्यप्रतीते. कथञ्चित्समासोक्तिरूह्या ॥ ४३ ॥

नोच्चैर्यदा तरुतलेषु ममुस्तदानीमाधोरणैरभिहिताः पृथुमूलशाखाः। बन्धाय चिच्छिदुरिभास्तरसात्मनैव नैवात्मनीनमथ वा क्रियते मदान्धैः ॥ ४४ ॥

नेति । इभा यदा उच्चैरुन्नतत्वात् तरुतलेषु न ममुर्नावर्त्तन्त तदानीम् आधोरणैर्नियन्तृभिरभिहिता इमाश्छिन्तेत्युपदिष्टाः पृथुमूलशाखाः बन्धाय स्वबन्धनायैव तरसा बलेनात्मना स्वयमेव चिच्छिदुः । न चैतद्युक्तमिति भावः । यद्वा मूढानां युक्तमेवेत्याह । अथ वेति । अथ वा मदान्धैरात्मनीनमात्मने हितं न क्रियत एव । "आत्मन्विश्वजनभोगोत्तरपदात् खः" इति खप्रत्ययः "आत्माध्वानौ खे" इति प्रकृतिभावात् "नस्तद्धिते" इति टिलोपो न । पूर्ववदर्थान्तरन्यासः ॥ ४४ ॥

उष्णोष्णशीकरसृजः प्रबलोष्मणोऽन्तरुत्फुल्लनीलनलिनोदरतुल्यभासः । एकान्विशालशिरसो हरिचन्दनेषु नागान्बबन्धुरपरान्मनुजा निरासुः ॥ ४५ ॥

उष्णोष्णेति । मनुजा नरा उष्णोष्णा उष्णप्रकाराः । "प्रकारे गुणवचनस्य" इति द्विर्वचनं कर्मधारयवद्भावात्सुपो लुक् । तान् शीकरान्सृजन्ति मुञ्चतीति तथोक्तान् । क्विप् । अन्तः प्रबलोष्मणः प्रवृद्धतापान् उत्फुल्लं विकचम् । "उत्फुल्लसम्फुल्लयोरुपसंख्यानम्" इत्युपसर्गेऽपि फुल्लेर्निष्ठानत्वम् । तस्य नीलनलिनस्य नीलोत्पलस्योदरेण तुल्यभासः समानकान्तीन् । कृष्णवर्णानित्यर्थः । विशालशिरसो विपुलमस्तकानेकान् कतिचिन्नागान् गजानित्यर्थः । हरिचन्दनेषु चन्दनविशेषेषु 'तैलपर्णिकगोशीर्षे हरिचन्दनमस्त्रियाम्' इत्यमरः । बबन्धुः अपरान्नागानहीनित्यर्थः । 'दुष्टाश्राहिगजा नागाः' इत्युभयत्रापि वैजयन्ती । निरासुः निष्कासयामासुः अस्यतेर्लिट् । अत्रोभयेषामपि नागानां प्रकृतत्वात्केवलप्रकृतश्लेषः ॥ ४५ ॥

कण्डूयतः कटभुवं करिणो मदेन स्कन्धं सुगन्धिमनुलीनवता नगस्य । स्थूलेन्द्रनीलशकलावलिकोमलेन कण्ठेगुणत्वमलिना वलयेन भेजे ॥ ४६ ॥

कण्डूयत इति । कटभुवं गण्डस्थलं कण्डूयतः कर्षतः । "कण्ड्वादिभ्यो यक्" इति यक्, ततः शतृप्रत्ययः । कण्डूयतेर्ञिद्धातुप्रकृतित्वादुभयपदित्वम् । करिणो मदेन सुगन्धिं शोभनगन्धम् । गन्धस्येत्त्वे तदेकान्तग्रहणं नाद्रियन्ते कवयः । नगस्य वृक्षस्य स्कन्धं प्रकाण्डम् अनुलीनवता तत्र संश्लिष्टेनेत्यर्थः । लीयतेर्निष्ठा इति क्तवतुप्रत्ययः "ल्वादिभ्यः" इति निष्ठानत्वम् । स्थूलानामिन्द्रनीलशकलानाम् आवलिवत्कोमलेन मनोहरेणालिना वलयेन कण्ठे गुणत्वम् कण्ठवलयत्वम् "अमूर्द्धमस्तकात्स्वाङ्गादकामे" इत्यलुक् । भेजे प्राप्तम् । कर्मणि लिट् । अत्रालिवलये इन्द्रनीलमयकण्ठभूषणत्वारोपाद्रूपकालङ्कारः ॥ ४६ ॥

निर्धूतवीतमपि बालकमुल्ललन्तं यन्ता क्रमेण परिसान्त्वनतर्जनाभिः । शिक्षावशेन शनकैर्वशमानिनाय शास्त्रं सुनिश्चितधियां क न सिद्धिमेति ॥ ४७ ॥

निर्धूतेति । यन्ता निषादी निर्धूतं निरस्तं वीतं पादघाताङ्कुशवारणं यस्मिन् कर्म्मणि तद्यथा तथा उल्ललन्तमुत्प्लवमानमपि । 'पादकर्म्म यत प्रोक्तं यतमङ्कुशवारणम् । उभयं वीतमाख्यातम्' इति हलायुधः । बालकं पञ्चवर्षगजम् । 'पञ्चवर्षो गजो बालः पोतस्तु दशवार्षिकः' इति वैजयन्ती । शिक्षावशेन स्वकीयेन गजशास्त्राभ्यासबलेन क्रमेण परिपाट्या परिसान्त्वनान्युपलालनानि तर्जनाभर्त्सनाश्च ताभिः शनैरेव शनकैः । "अव्ययसर्वनाम्नामकच् प्राक् टेः" इति स्वार्थेऽकच् प्रत्ययः । वशमानिनाय । तथा हि सुष्ठु निश्चितार्था धीरेषां तेषां पुंसामित्यर्थः । शास्त्रं क सिद्धिं नैति स्वभ्यस्तं शास्त्रं सर्वत्र फलतीत्यर्थः । विभक्तधना भ्रातरो विभक्ता इतिवद्विनिश्चितार्था धीर्निश्चितेत्युपचर्य्यते । अत एवात्र गम्यमानार्थत्वादुत्तरपदस्याप्रयोगलक्षणो लोप इत्याहु ॥ ४७ ॥

स्तम्भं महान्तमुचितं सहसा मुमोच दानं ददावतितरां सरसाग्रहस्तः । बद्धापराणि परितो निगडान्यलावीत्स्वातन्त्र्यमुज्ज्वलमवाप करेणुराजः ॥ ४८ ॥

स्तम्भमिति । करेणुश्चासौ राजा च करेणुराजो गजश्रेष्ठः करेणूनां राजेति गजपतिराजा च ध्वन्यते । उभयत्रापि " राजाहःसखिभ्यष्टच् " इति टच् । उज्ज्वलमुच्छृङ्खलं स्वातन्त्र्यं स्वेच्छाचारित्वमवाप । तदेवाह उचितं चिरपरिचितं महान्तं स्तम्भमालानं जाड्यं च सहसा मुमोच । 'स्तम्भः स्थूणाजडत्वयोः ' इति विश्वः । सरसः आर्द्रोऽग्रहस्तः पुष्करं पाणिश्च यस्य स सन् दानं मदं दीयत इति दानं धनं चातितरामतिमात्रम् । अव्ययादामुप्रत्ययः । ददौ ववर्षेत्यर्थः । परितो बद्धापराणि बद्धपश्चिमपादानि बद्धान्यानि च 'अपरः पश्चिमः पादः' इति गजप्रकरणे वैजयन्ती । निगडानि शृङ्खलानि 'अथ शृङ्खले । अन्दुको निगडोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः । अलावीत् लुनाति स्म । लूञ् 'छेदने' लुङ् "अस्तिसिचोऽपृक्ते" इतीट्, "इट ईटि" इति सलोपः । अत्र करेणुराजपदसाधर्म्यध्वनिः विशेष्यस्यापि श्लिष्टत्वान्न श्लेष इत्युक्तम् ॥ ४८ ॥

जज्ञे जनैर्मुकुलिताक्षमनाददाने संरब्धहस्तिपकनिष्ठुरचोदनाभिः । गम्भीरवेदिनि पुरः कवलं करीन्द्रे मन्दोऽपि नाम न महानवगृह्य साध्यः ॥ ४९ ॥

जज्ञ इति । गम्भीरं मन्दं वेत्तीति गम्भीरवेदी । 'त्वग्भेदाच्छोणितस्रावान्मांसस्य व्यवनादपि । आत्मानं यो न जानाति तस्य गम्भीरवेदिता' इति राजपुत्रीये । 'चिरकालेन यो वेत्ति

शुक्लेति । शुक्लाशुक्ले शुक्लपटे उपरचितानि उपकल्पितानि अन्यत्र तु अल्पा अशावोऽशुक्लः सूक्ष्मास्तेजोऽवयवा. "अल्पो" इत्यल्पार्थे कन्प्रत्यय । शुक्लैस्तैरुपचितानि व्याप्तानि रश्मिभिः प्रग्रहै· किरणैश्च विततानि विस्तृतानि । 'किरणप्रग्रहौ रश्मी' इत्यमर· । चन्द्रस्येवाकृतिर्येषा तानि चन्द्राकृतीनि चन्द्रमण्डलनिभानीत्यर्थ । नराधिपाना वेश्मानि दूष्याणि । निरन्तराभिर्नीरन्ध्राभिस्त्वैर्गजमण्डलिकाभिर्गजपरिधिभि । स्वार्थे कप्रत्यय· कात्पूर्वस्येकार· । नीलाभ्रपङ्क्तिभि परिवेश परिधि परिवेष्टनमिति यावत् । 'परिवेशस्तु परिधि· ' इत्यमर । अधिजग्मुरिवेत्युत्प्रेक्षा ॥ ९२ ॥

गत्यूनमार्गगतयोऽपि गतोरुमार्गाः स्वैरं समाचकृषिरे भुवि वेल्लनाय । दर्पोदयोल्लसितफेनजलानुसारसंलक्ष्यपल्ययनवर्ध्रपदास्तुरङ्गाः ॥ ९३ ॥

गत्यूनेति । गत्यूना विशिष्टगमनहीना मार्गगतयोऽध्वगमनानि येषा ते तथापि गतोरुमार्गा प्रस्थितदूराध्वान इति विरोध.।अपिर्विरोधे। गत्यूना मार्गी मृगसम्बन्धिनी गतिर्येषाम् त इति विरोधपरिहार. । अत एव विरोधाभासोऽलकार । दर्पस्य तेजसोऽन्त सारस्योदयेनौत्कट्येनोल्लसितस्योद्गतस्य फेनजलस्य फेनीभूतोद्गतस्वेदोदकस्यानुसारेण सलक्ष्याणि पल्ययनवर्ध्राणामासनबन्धचर्मवरत्राणा पदानि तन्नोदनानिम्नीभूतस्थलानि येषा ते तथोक्ता· । तुरङ्गाः भुवि वेल्लनायाङ्गपरिवर्तनाय स्वैर मन्द समाचकृषिरे समाकृष्टा । अध्वश्रमापनोदनार्थमिति भाव । वर्द्धते दृढबन्धनादीर्घीभवतीति वर्ध्रम् । "वृधिवपिभ्या रन्"· इत्यौणादिके रन्प्रत्यये लघूपधगुणो रपर· । 'वर्ध्र त्रपुवरत्रयो.' इति विश्व । अमरस्तु 'नध्री वध्री वरत्रा स्यात्' इत्याह—तदा 'ष्ट्रन्' इत्यौणादिके ष्ट्रन्प्रत्यये पूर्ववत् गुणो रपरः प्रत्ययतकारस्य "झषस्तथोर्धोऽध" इति धत्वे षित्वात् स्त्रीलिङ्गे ङीप् ॥ ९३ ॥

आजिघ्रति प्रणतमूर्द्धनि बाह्लिजेऽश्वे तस्याङ्गसङ्गमसुखानुभवोत्सुकायाः । नासाविरोकपवनोल्लसितं तनीयो रोमाञ्चतामिव जगाम रजः पृथिव्याः ॥ ९४ ॥

आजिघ्रतीति । बाह्लिरश्वयोनिर्देशविशेष तज्जे बाह्लिजेऽश्वे वाह्लिदेश्ये इति पाठे विशेष्याप्रयोगो गम्यमानत्वादित्युक्तम् । "दिगादिभ्यो यत्" इति भवार्थे यत्प्रत्यय । तदन्तविधिस्तु मृग्य । प्रणतमूर्द्धनि नम्रशिरसि कृतप्रणामे च आजिघ्रति गन्ध गृह्णाति चुम्बति च सति-स्वभावात्कामाच्चेति भावः । नासाविरोक नासारन्ध्र तस्य पवनो नि श्वासः तेनोल्लसितमुद्धूत तनीयस्तनुतर रजस्तस्याश्वस्याङ्गसङ्गमेन वेल्लनप्रयुक्तेन यत्सुख तस्यानुभवे उत्सुकाया उत्कण्ठितायाः पृथिव्या रोमाञ्चता जगामेवेत्युत्प्रेक्षा । सा च भूतुरगमयोः प्रतीयमानचेतननायकाद्यभेदाध्यवसायादित्यवधेयम् । विरोचतेऽनेनेति विरोकम् । वज्प्रत्ययः "चजोः कु घिण्यतो" इति

कुल्वम् । लिङ्गमशिष्य लोकाश्रयत्वाल्लिङ्गस्य इति नपुंसकत्वाविरोधः । अत एव 'छिद्रं निर्व्यथनं रोकम्'इत्यमरः । 'रोको रश्मौ बिले न पुम्' इति वैजयन्ती । 'रोको दीप्तौ बिले रोकम्' इति विश्वः । ये तु केनाप्यभिप्रायेण विरेकपवनेति पठन्ति तेषां परोत्सर्गैकजीविनामितिवदपानीयत्वनयतीनेऽश्लीलाख्यो दोषः अश्लीलं तदमङ्गल्यजुगुप्साव्रीडधीरकम्' इति लक्षणात् ॥ ५४ ॥

हैमः स्थलीषु परितः परिवृत्य वाजी धुन्वन्वपुः प्रविततायत-केशपङ्क्तिः। ज्वालाकणारुणरुचा निकरेण रेणोः शेषेण तेजस इवोल्लसता रराज ॥ ५५ ॥

हैम इति । हैमः स्थलीषु स्वर्णभूमिषु । "जानपद" इत्यादिना अकृत्रिमार्थे ङीष्प्रत्ययः । परितः परिवृत्य परिवृत्तिं कृत्वा वपुर्धुन्वन् धूलिनिर्गमाय कम्पयन् अत एव प्रवितता विश्लिष्टा आयता च केशपङ्क्तिः रोमसंघातो यस्य सः वाजी ज्वालाकणाः स्फुलिङ्गाः तद्वदरुणरुचा रक्तवर्णेन रेणोर्निकरेण उल्लसता अत्युत्कटतया बहिरुद्गच्छता तेजसोऽन्तःसारस्य दर्पस्य शेषेणातिरेकेण रराज । उत्प्रेक्षालङ्कारः ॥ ५५ ॥

दन्तालिकाधरणनिश्चलपाणियुग्ममर्द्धोदितो हरिरिवोदयशैलमूर्ध्नः । स्तोकेन नाक्रमत वल्लभपालमुच्चैः श्रीवृक्षकी पुरुषकोन्नमिताग्रकायः ॥ ५६ ॥

दन्तालिकेति । पुरुषकोऽश्वानां स्थानकभेदः । तदुक्तम् 'पश्चिमेनाग्रपादेन भुवि स्थित्वाग्रपादयोः । उर्ध्वप्रेरणया स्थानमश्वानां पुरुषः स्मृत.' इति पुरुष एव पुरुषक तेन पुरुषकेण स्थानकेनोन्नमित ऊर्ध्वावस्थितोऽग्रकाय. पूर्वकायो यस्य स तथोक्त अत एवोदयशैलस्य मूर्ध्नो मस्तकादर्द्धमुदितोऽर्द्धोदित हरि सूर्य इव स्थित इत्यर्थ. । अर्द्धोदितविशेषणात् उच्चैरुन्नतः श्रीवृक्ष एव श्रीवृक्षकः आवर्त्तविशेषस्तद्वानश्वः श्रीवृक्षकी । "वक्षोभवावर्त्तचतुष्टयं च कण्ठे भवेद्यस्य च रोचमानः । श्रीवृक्षकी नाम हय. स भर्त्तुः श्रीपुत्रपौत्रादिविवृद्धये स्यात्' इति लक्षणात् । "श्रीवृक्षकी वक्षसि चेद्रोमावर्त्तो मुखेऽपि च' इति तु वैजयन्ती । दन्तालिका मुखरज्जु । 'मुखरज्जुश्च दन्ताली राणिका रक्षणीति च' इति वैजयन्ती । तस्या धरणे ग्रहणे निश्चलं स्थिरं पाणियुग्मं यस्य तं पाणिभ्यां दृढं गृहीतोभयवल्गमित्यर्थ. । वल्लभपालमुत्तमाश्वपालम् । 'वल्लभो दयितेऽध्यक्षे कुलीनेऽश्वेऽपि वल्लभः' इति विश्वः । स्तोकेन नाक्रमत वल्गाग्रहणदार्ढ्यात् स्तोकेनापि अभिभवितुं न शक्तोऽभूदित्यर्थः । इह 'श्लथयितुं क्षणमक्षमताङ्गना' 'न दन्द्रष्टुं खमिह किञ्चित्' इत्यादिवदप्यर्थस्य सामर्थ्यलभ्यत्वादपेरप्रयोग. । अन्यथा स्तोकेन नाक्रमत किन्तु भूय इति व्याख्याने निश्चलपाणियुग्मत्वादिविशेषणावगतवाहकौशल्यप्रकाशनतात्पर्यभङ्गप्रसङ्गात् । "करणे च स्तोक" इत्यादिना विकल्पात्तृतीया "अनुपसर्गाद्वा" इति विकल्पादात्मनेपदम् । उपमालङ्कारः ॥ ५६ ॥

रेजे जनैः स्नपनसान्द्रतरार्द्रमूर्त्तिर्देवैरिवानिमिषदृष्टिभिरीक्ष्यमाणः । श्रीसन्निधानरमणीयतरोऽश्व उच्चैरुच्चैःश्रवा जलनिधेरिव जातमात्रः ॥ ५७ ॥

रेज इति । स्नपनेनाभिषेचनेन सान्द्रतरार्द्रमूर्तिः अनिमिषदृष्टिभिः विस्मयादनिमिषाक्षैर्जनैर्देवैरिव तादृग्भिरीक्ष्यमाणः श्रियः शोभायाः देव्याश्च सान्निधानेन रमणीयतरः । 'तत्र सन्निहिता लक्ष्मी सन्ति यत्रोत्तमा हयाः' इत्यागमादिति भावः । उच्चैरुन्नतोऽश्वो जलनिधेः समुद्राज्जात एव जातमात्रः सद्योजात इत्यर्थः । अन्यथोक्तसाधर्म्यासम्भवादिति भावः । 'मात्रं कार्त्स्न्येऽवधारणे' इत्यमरः । उच्चैरुन्नतं श्रवः कीर्त्तिरुन्नते श्रवसी कर्णौ वा यस्य स उच्चैःश्रवा नामा इन्द्रः रेजे । उपमालङ्कारः ॥ ५७ ॥

अश्रावि भूमिपतिभिः क्षणवीतनिद्रैरश्नन्पुरो हरितकं मुदमादधानः । ग्रीवाग्रलोलकलकिङ्किणिकानिनादमिश्रं दधद्दशनचुर्चुरशब्दमश्वः ॥ ५८ ॥

अश्रावीति । पुरोऽग्रे हरितकं हरिततृणमश्नन् अत एव ग्रीवाग्रे लोलाश्चलाः कलाः अव्यक्तमधुराः किङ्किणिकाः क्षुद्रघण्टिकाः तासां निनादेन मिश्रं दशनानां दन्तानां चुर्चुरशब्दं चुर्चुरध्वनिं दधत् अत एव मुदमादधान उत्पादयन्नश्वः । जातावेकवचनम् । क्षणेन वीतनिद्रैः 'अल्पनिद्रोऽल्पभुग्वाग्मी मितभाष्यनसूयकः' इति सौभाग्यलक्षणादिति भावः । भूमिपतिभिरश्रावि श्रुतः । अश्वस्य शब्दोऽश्रावीत्यर्थः । वीणा श्रूयन्ते भेर्यः श्रूयन्ते इत्यादिवत् शब्दधर्मः शब्दिन्युपचर्यते । स्वभावोक्तिरलङ्कारः ॥ ५८ ॥

उत्खाय दर्पचलितेन सहैव रज्ज्वा कीलं प्रयत्नपरमानवदुर्ग्रहेण । आकुल्यकारि कटकस्तुरगेण तूर्णमश्वेति विद्रुतमनुद्रवताश्वमन्यम् ॥ ५९ ॥

उत्खायेति । दर्पाच्चलितेनोच्चलितेन अत एव रज्ज्वा पाशेन सह कीलं शङ्कुम् । 'शङ्कावपि द्वयोः कीलः' इत्यमरः । उत्खाय उत्पाट्य तूर्णं विद्रुतं धावन्तम् अन्यमश्वम् अश्वेत्यनुद्रवता वडवेति भ्रान्त्यानुधावता प्रयत्नपरैर्ग्रहीतुं प्रयतमानैरपि मानवैर्मनुष्यैर्दुर्ग्रहेण तुरङ्गेण कटकः शिबिरमाकुल्यकारि आकुलीकृतः । आकुलशब्दादभूततद्भावे च्विः "अस्य च्वौ" इतीकारः । करोतेः कर्मणि लुङि "चिणो लुक्" ॥ ५९॥

अव्याकुलं प्रकृतमुत्तरधेयकर्म्म धाराः प्रसाधयितुमव्यतिकीर्णरूपाः । सिद्धं मुखे नवसु वीथिषु कश्चिदश्वं वल्गाविभागकुशलो गमयाम्बभूव ॥ ६० ॥

अव्याकुलमिति । वल्गा मुखरज्जुः सा चोत्क्षिप्तादिभेदेन चतुर्दशविधा । तदुक्तं हयलीलावत्याम् । " उत्क्षिप्ता शिथिला तथोत्तरवती मन्दा च वैहायसी विक्षिप्तककरार्द्धकन्धरसमोत्कीर्णा विभक्ता तथा । अत्युत्क्षिप्ततलोद्धृते खलु तथा व्यागूढगोकर्णिके वाहाना कथिताश्चतुर्दशविधा वल्गाप्रभेदा अमी " इति । तल्लक्षणानि तु तत्रैव द्रष्टव्यानि अत्र तु विस्तरभयान्न लिख्यन्ते । तस्या विभागो विविच्य प्रयोगः तत्र कुशलो वल्गाविभागकुशल इति । षड्विधप्रेरणाभिज्ञ इत्यर्थः । वल्गाग्रहणस्य रागाद्युपलक्षणत्वात् । यथाह भोजः " वाहन प्रतिवाहाना षड्विधं प्रेरणं विदुः । रागावल्गाकशापार्ष्णिप्रतोदरवभेदतः " इति । कश्चित् कश्चन वाहकः अव्याकुलम् अव्यग्रमत्रस्तमिति यावत् । प्रकर्षेण कृत प्रकृत साजितमित्यर्थः । मुखे मुखकर्मणि सिद्धं सिद्धिमन्तमश्व चतुष्काख्ये गतिविशेषे मुखे सस्थानाविशेषपदि विशेषणविशिष्टमश्वमित्यर्थः । तदुक्तं रेवतोत्तरे । " सृक्कावरोष्ठसितफेनलवाभिराममूत्कारवायुपदमुन्नतकन्धराग्रम् । नीत्वोपकुञ्चितमुख नवलोहसाम्यमश्व चतुष्कसमये मुखसिद्धमाहुः " इति । उत्तरधेयकर्म युद्धाद्युत्तरकाले धय विधेयं प्रयोज्यं यत्कर्म क्रिया तद्रूपा इत्यर्थः । अव्यतिकीर्णरूपा असंकीर्णरूपा धारा गतिभेदाः । अश्वानान्तु गतिर्धारा विभिन्ना सा च पञ्चधा । आस्कन्दित धौरितक रेचित वल्गित प्लुतम् ' इति वैजयन्ती । 'गतयोऽमूः पञ्च धाराः'इत्यमरश्च । अश्वशास्त्रे तु सज्ञान्तरेणोक्ताः । 'गतिः पुरा चतुष्का च तद्वन्मध्यजवा परा । पूर्णवेगा तथा चान्या पञ्च धाराः प्रकीर्तिताः । एकैका त्रिविधा धारा हयशिक्षाविधौ मता । लघ्वी मध्या तथा दीर्घा ज्ञात्वैता योजयेत्क्रमात् 'इति । तथा च पञ्चदशविभेदा भवन्ति । ताः पञ्च धाराः प्रसाधयितु परिचेतु नवसु वीथिषु सचारस्थानेषु गमयाम्बभूव । वीथयो नवाश्वाना सर्वत्र धारा दार्ढ्यार्थाः परिमिताः प्रचारदेशाः ताश्च तिस्र इत्येके नवेत्यन्ये । तत्रोत्तरपक्षमाश्रित्योक्त कविना नवस्विति । यथाह भोजः । वीथ्यस्तिस्रोऽथ धाराणा लघ्वीमध्योत्तमाः क्रमात् । तासा स्याद्धनुषा मानमशीतिर्नवतिः शतम् । श्रेष्ठमध्योत्तमाना तु वाजिना वीथिकाः स्मृताः । नवानां कथिता वीथ्यो दुष्टाना क्रमणक्रमे । अन्येषामपि सर्वत्र गतिदार्ढ्यार्थमीरिताः । समोन्नता सा विषमाम्बुकीर्णा शुद्धा नताग्रा तृणवीरुदाढ्या । स्थाणुप्रकीर्णोपलसम्प्रकीर्णा पार्श्वोन्नताख्या नववेति वीथ्यः ॥ सर्ववीथिषु यो वाजी दृढशिक्षासमन्वितः । तेन राजा रणे नित्य मृगयाया मद व्रजेत्' इति । अन्ये तु उरसाल्यादयो गतिविशेषा वीथय इत्याहुः । उरसाली वरस्थाली पृथुलो मध्यनामकः । अलीढः शोभनैरङ्गैः प्रत्यालीढस्तथापरः । उपधेनव उक्तं च पादचाली च सर्वगः । निर्दिष्टा वीथयस्त्वेताः' इति ॥ ६० ॥

मुक्तास्तृणानि परितः कटकं चरन्तस्त्रुट्यद्वितानतनिकाव्यतिषङ्गभाजः ॥ सस्रुः सरोषपरिचारकवार्य्यमाणा दामाञ्चलस्खलितलोलपदं तुरङ्गाः ॥ ६१ ॥

मुक्ता इति । मुक्ताः विहारार्थमुत्सृष्टा अत एव कटकं शिबिरं परितः । "अभितः परितः" इत्यादिना द्वितीया । तृणानि चरन्तो भक्षयन्तः त्रुट्यन्तीषु छिन्नासु वितानतनिकासु

पटमण्डपरज्जुषु व्यतिपङ्ग सङ्ग भजन्तीति तथोक्ता: । अत एव सरोषैः परिचारकैः किङ्करैर्वार्यमाणाः अपसार्यमाणा तुरङ्गा दामाञ्चलानि पादपाशा । ' दामाञ्चल पादपाशे' इति वैजयन्ती । दूष्यवस्त्राबन्धनशङ्कया इति केचित् । तेषु स्खलितेन लोलानि पदानि यस्मिन् कर्मणि तद्यथा तथा सम्भ्रमुपसस्नुः ॥ ६१ ॥

उत्तीर्णभारलघुनाप्यलघूलपौघसौहित्यनिस्सहतरेण तरोरधस्तात् । रोमन्थमन्थरचलद्गुरुसास्नमासाञ्चक्रे निमीलदलसेक्षणमौक्षकेण ॥ ६२ ॥

उत्तीर्णेति । उत्तीर्णभारमवरोपितावपनम् अत एव लघुः तेन तथोक्तेन तथाप्यलघुना उलपाना बल्वजतृणानाम् ओघेन यत्सौहित्यं पूर्त्ति । ' पर्याप्तमुपसम्पन्न पूर्त्ति सौहित्यमुच्यते ' इति हलायुध । तेन निस्सहतरेणात्यन्तमसहतरेण बाह्यभारावतारेऽप्यान्तरतिभोजनाद्गुरुभवतेरर्थ । सहेः निःपूर्वात् पचाद्यजन्तात्तरप् प्रत्ययः । ' उलपा बल्वजाः प्रोक्ताः ' इति विश्वः । औक्षकेण उक्ष्णा समूहेन । ' गोत्रोक्ष ' इत्यादिना वुञ् प्रत्यय. । तरोरधस्तात्तरुतले रोमन्थ पशूनां चर्वितचर्वण तेन मन्थर मन्द चलन्त्यो गुर्व्य सास्ना गलकम्बलानि यस्मिन् कर्मणि तद्यथा तथा । 'सास्ना तु गलकम्बलः ' इत्यमरः किञ्च निमीलन्ति सुखान्मुकुलीभवन्ति अलसानि चेक्षणानि यस्मिन्कर्मणि तत् यथा तथा आसाञ्चक्रे आसितम् । ' आस उपवेशने ' भावे लिट् । "दयायासश्च" इत्याम्प्रत्ययः । "कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि" इति कृञोऽनुप्रयोग. । इतः प्रभृत्या चतुष्टयात्स्वभावोक्ति ॥ ६२ ॥

मृत्पिण्डशेखरितकोटिभिरर्द्धचन्द्रं शृङ्गैश्शिखाग्रगतलक्ष्ममलं हसद्भिः । उच्छृङ्गितान्यवृषभाः सरितां नदन्तो रोधांसि धीरमवचस्करिरे महोक्षाः ॥ ६३ ॥

मृत्पिण्डेति । मृत्पिण्डैर्वप्रक्रीडालग्नैर्मृत्खण्डैः शेखरिताः सञ्जातशेखराः कोटयोऽग्राणि येषा तैरत एव शिखाग्रगतमुभयकोटयन्तर्गतं लक्ष्मैव मलं यस्य स एवम्भूतं श्वेतमर्द्धचन्द्र हसद्भिरित्यतिशयोक्तिभेद इत्युक्तम् । अभूतोपमेति मतान्तरम् । शृङ्गैर्विषाणैरुच्छृङ्गा उत्पतितशृङ्गाः कृता उच्छृङ्गिताः अन्यवृषभा: प्रतिवृषभा यैस्ते । अत एव धीर गम्भीर नदन्तो गर्जन्तः महान्त उक्षाणो महोक्षा । 'अचतुर' इत्यादिना निपातात्साधुः । सरिता रोधासि अवचस्करिरे आलिलिखुः हर्षाद्रुरुजुरित्यर्थः । अवपूर्वात्किरते. कर्त्तरि लिट् "किरतेर्हर्षजीविकाकुलायकरणेष्विति वक्तव्यम्" इत्यात्मनेपदम् "ऋच्छत्यॄताम्" इति गुणः, "अवाच्चतुष्पाच्छकुनिष्वालेखने" इति सुडागमः ॥ ६३ ॥

मेदस्विनः सरभसोपगतानभीकान्भङ्क्त्वा पराननडुहो

मुहुराहवेन। ऊर्जस्वलेन सुरभीरनु निस्सपत्नं जग्मे जयोद्धुरविशालविषाणमुक्ष्णा ॥ ६४ ॥

मेदस्विन इति । ऊर्जो बलमस्यास्तीति तेन ऊर्जस्वलेन बलिना । 'ज्योत्स्नातमिस्रा' इत्यादिना निपात । उक्ष्णा वृषभेण मेदस्विनो मांसलान् । "अस्मायामेधास्रजो विनिः" इति, विनि. । अत एव सरभस सत्वरमुपगतान् अभिकामयन्त इत्यभीकान् कामुकान् । 'कम्रः' कामयिताभीक ' इत्यमरः । ' अनुकामिकाभीकः कमिता" इति निपातः । परानानडुहो बलीवर्दान् मुहुराहवेन युद्धेन भङ्क्त्वा निर्जित्य जयेनोद्धुरं निर्भरे । 'ऋक्पूर' इत्यादिना समासान्तः । विशाले च विषाणे यस्मिन् कर्मणि तद्यथा तथा निस्सपत्नमप्रतिपक्षमुरभीरनु गवा पृष्ठतः । "कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया" इति द्वितीया । जग्मे गतम् । भावे लिट् ॥ ६४ ॥

विभ्राणमायतिमतीमवृथा शिरोधिं प्रत्यग्रतामतिरसामधिकं दधन्ति ॥ लोलोष्ठमौष्ट्रकमुदग्रमुखं तरूणामभ्रंलिहानि लिलिहे नवपल्लवानि ॥ ६५ ॥

बिभ्राणमिति । आयतिमतीं दैर्घ्यवतीं न च वृथा दैर्घ्यमित्याह अवृथामिति । उच्चैस्तरुपल्लवग्रहणाल्लफलामित्यर्थः । शिरो धीयतेऽस्यामिति शिरोधिं ग्रीवाम् 'शिरोधिः कन्धरेत्यपि' इत्यमरः । ' कर्मण्यधिकरणे च" इति किप्रत्ययः । बिभ्राण दधानम् उदग्रमुख पल्लवग्रहणार्थमूर्ध्वोत्क्षिप्ततुण्डमौष्ट्रकमुष्ट्रसमूह.। 'गोत्रोक्ष' इत्यादिना वुञ्। अधिकमतिशयितो रसः स्वादो यस्यां तामतिरसां प्रत्यग्रतामभिनवत्व दधन्ति दधति । "वा नपुंसकस्य" इति वैकल्पिको नुमागम. । अभ्रं लिहन्तीत्यभ्रंलिहान्युच्चतराणि । "वहाभ्रे लिहः" इति खश् प्रत्यय., 'अरुर्द्विषत्' इत्यादिना मुमागम । तरूणा नवपल्लवानि । 'पल्लवोऽस्त्री किसलयम्' इत्यमरः । लोलोष्ठ यथा तथा "ओत्वोष्ठयो समासे वा" इति पररूप वक्तव्यम् । लिलिहे आस्वादयामास जघासेत्यर्थ. ॥ ६५ ॥

सार्द्धं कथञ्चिदुचितैः पिचुमर्दपत्रैरास्यान्तरालगतमाम्रदलं म्रदीयः। दासेरकः सपदि संवलितं निषादैर्विप्रं पुरा पतगराडिव निर्जगार ॥ ६६ ॥

सार्द्धमिति । उचितैरभ्यस्तै. । 'अभ्यस्तेऽप्युचित न्याय्यम्' इति यादवः । पिचुमर्दपत्रैर्निम्बदलैः । सार्द्धम् । 'पिचुमर्दश्च निम्बे' इत्यमरः । कथञ्चित्प्रमादादास्यान्तरालगत मुखान्तर्गत म्रदीयो मृदुतरमाम्रदल चूतपल्लव दासेरक उष्ट्र. पुरा निषादै. म्लेच्छैः सवलित युक्त विप्र पतगराड् गरुत्मानिव निर्जगार उद्गीर्णवान् । पुरा किल कुतश्चित्कारणात् म्लेच्छभक्षणे तैस्सहान्तः प्रविश्य गल दहन्तं विप्र गरुड उज्जगारेति पौराणिकी कथात्रानुसन्धेया ॥ ६६ ॥

स्पष्टं बहिःस्थितवतेऽपि निवेदयन्तश्चेष्टाविशेषमनुजीविजनाय राज्ञाम्। वैतालिकाः स्फुटपदप्रकटार्थमुच्चैर्भोगावलीः कलगिरोऽवसरेषु पेठुः॥ ६७॥

स्पष्टमिति। बहिः स्थितवतेऽपि अनुजीविजनाय। राज्ञोऽवसरकाङ्क्षिण इति भावः। राज्ञां चेष्टाविशेषं तत्कालोचितचरित्रविशेषं स्पष्टं निवेदयन्तः तद्व्यञ्जकप्रबन्धपाठैरिति भावः। कलगिरो मधुरवाचो वैतालिका मङ्गलपाठकाः अवसरेषु तत्तद्वेलासु स्फुटैः प्रसिद्धैः पदैः प्रकटः प्रकाशोऽर्थोऽभिधेयं यस्मिन् कर्मणि तद्यथा तथा उच्चैः भोगावलीः प्रबन्धान् पेठुः पठन्ति स्म। "अतएकहल्मध्येऽनादेशादेर्लिटि" इत्येत्वाभ्यासलोपौ॥ ६७॥

उन्नम्रताम्रपटमण्डपमण्डितं तदानीलनागकुलसंकुलमाबभासे। सन्ध्यांशुभिन्नघनकर्बुरितान्तरिक्षलक्ष्मीविडम्बि शिबिरं शिवकीर्तनस्य॥ ६८॥

उन्नम्रेति। उन्नम्रैरुन्नतैस्ताम्रैः धातुरक्तैः पटमण्डपैर्दूष्यैर्मण्डितम् आसमन्तान्नीलैर्नागकुलैर्गजसङ्घैः संकुलम् अतएव सन्ध्यांशुभिन्नैः सन्ध्यारागसम्भिन्नैर्घनैर्मेघैः कर्बुरितस्य चित्रीकृतस्यान्तरिक्षस्य लक्ष्मीं विडम्बयत्यनुकरोतीति तत्तथोक्तं शिवकीर्तनस्य मङ्गलकीर्तेः कृष्णस्य तच्छिबिरं कटकमाबभासे मनोहरमभूदित्यर्थः। उपमालङ्कारः॥ ६८॥

धरस्योद्धर्तासि त्वमिति ननु सर्वत्र जगति प्रतीतस्तत्किं मामतिभरमधः प्रापिपयिषुः॥ उपालब्धेवोच्चैर्गिरिपतिरिति श्रीपतिमसौ बलाक्रान्तः क्रीडद्द्विरदमथितोर्वीरुहरवैः॥ ६९॥

इति श्रीमाघकविकृतौ शिशुपालवधे महाकाव्ये पञ्चमः सर्गः॥ ५॥

धरस्येति। बलैः सैन्यैराक्रान्तो गिरिपती रैवतकः क्रीडद्भिर्विहरमाणैर्द्विरदैर्मथितानां भग्नानामुर्वीरुहाणां वृक्षाणां रवैः शब्दैर्निमित्तेन श्रीपतिं हरिम्। नन्वङ्ग त्वं धरस्य पर्वतस्योद्धर्ता उद्धारकोऽसीति सर्वत्र जगति प्रतीतः प्रसिद्धः। गोवर्द्धनोद्धरणादिति भावः। तत्तर्हि किं किमर्थम् अतिभरमतिभारवन्तं मामधः प्रापिपयिषुः प्रापयितुमिच्छुरसि। प्रापयतेः सन्नन्तादुप्रत्ययः। इत्युच्चैरुपालब्धेव आक्रुक्षदिवेत्युत्प्रेक्षा। उपाङ्पूर्वाल्लभेर्लुङ् 'एकाच उपदेशे' इति नेट् "झषस्तथोर्धोऽधः" इति तकारस्य धकारः "धि च" इति सिचः सकारलोपः। शिखरिणी वृत्तम्। "रसै रुद्रैश्छिन्ना यमनसभलागः शिखरिणी" इति लक्षणात्॥ ६९॥

इति श्रीमहामहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचिते माघकाव्यव्याख्याने सर्वङ्कषाख्ये पञ्चमः सर्गः॥ ५॥

षष्ठः सर्गः ।

अथ ऋतुवर्णनं प्रस्तौति—

अथ रिरंसुममुं युगपद्गिरौ कृतयथास्वतरुप्रसवश्रिया ।
ऋतुगणेन निषेवितुमादधे भुवि पदं विपदन्तकृतं सताम् ॥१॥

अथेति । अथ सेनानिवेशानन्तरं गिरौ रैवतके रिरंसुं रन्तुमिच्छुम् । रमेः सन्नन्तादुप्रत्ययः । एतेन ऋतुवर्णनप्रवृत्तेः प्रभुचित्तवृत्तिज्ञानपूर्वकत्वमुक्तम् । सतां साधूनां विपदामन्तं करोतीति विपदन्तकृत् । क्विप् । तं विपदन्तकृतम् । सेव्यमिति भावः । अमुं हरिं निषेवितुं स्वतरून् स्वस्वनियतवृक्षान् अनतिक्रम्य यथास्वतरु । याथार्थ्येऽव्ययीभावः । यथास्वतरु स्थिता प्रसवश्रीः पुष्पफलसम्पत्तिः यथास्वतरुप्रसवश्रीः । 'प्रसवस्तु फले पुष्पे' इत्यमरः । शाकपार्थिवादिषु द्रष्टव्यः । सा कृता येन तेन कृतयथास्वतरुप्रसवश्रिया यथास्वतरुकृतप्रसवश्रियेत्यर्थः । ऋतुगणेन युगपद्भुवि पदमादधे आहितम् । युगपदृतुगणः प्रादुरभूदित्यर्थः । लब्धावसराः सेवकाः क्षिपन्तीति भावः । अत्र सर्गे सर्वत्र यमकशब्दालङ्कारः । तल्लक्षणं तूक्तं चतुर्थे अर्थालङ्कारास्तु यथासम्भवमूह्याः अस्मिन्सर्गे द्रुतविलम्बितं वृत्तम् । 'द्रुतविलम्बितमाह नभौ भरौ' इति लक्षणात् ॥ १ ॥

अथ लोकवेदयोः प्राथम्येन व्यवहाराद्वसन्तमादौ वर्णयति—

नवपलाशपलाशवनं पुरः स्फुटपरागपरागतपङ्कजम् ।
मृदुलतान्तलतान्तमलोकयत्स सुरभिं सुरभिं सुमनोभरैः ॥२॥

नवेति । स हरिः पुरोऽग्रे प्रथमं वा नवपलाशानि नूतनपर्णानि पलाशवनानि किंशुककाननानि यस्मिंस्तं नवपलाशपलाशवनम् । बहुव्रीहिपूर्वपदो बहुव्रीहिः। 'पलाशं किंशुके पत्रे पलाशम्' इति विश्वः । स्फुटानि विकचानि परागैः रजोभिः परागतानि व्याप्तानि च पङ्कजानि यस्मिन् तं स्फुटपरागपरागतपङ्कजं मृदुलाः कोमला अत एव तान्ताः आतपसमये किञ्चित् म्लानाः लतान्ताः पल्लवा यस्मिन् तं मृदुलतान्तलतान्तं सुमनोभरैः पुष्पसमृद्धिभिः सुरभिं सुगन्धिं सुरभिं वसन्तमलोकयदपश्यत् । 'सुरभिश्चम्पके स्वर्णे जातीफलवसन्तयोः । सुगन्धौ च मनोज्ञे च वाच्यवत्' इति विश्वः । इह प्रतिपादं प्रथमाक्षरद्वयात्परतोऽक्षरत्रयावृत्तिरूपयमकप्रक्रमाच्चतुर्थपादेऽपि तदेव यमकम् । एकस्मादप्यपरमिति सजातीयसंसृष्टिः ॥ २ ॥

विलुलितालकसंहतिरामृशन्मृगदृशां श्रमवारि ललाटजम् ।
तनुतरङ्गततिं सरसां दलत्कुवलयं वलयन्मरुदाववौ ॥ ३ ॥

विलुलितेति। विलुलितालकसहतिविंधुतचिकुरनिकर· सन् मृगदृशा ललाटज श्रमवारि स्वेदमामृशन्परिमृजन्मन्द इति भावः। सरसा तनुतरङ्गततिं दलन्ति विकसन्ति कुवलयानि यस्मिन् कर्माणि तद्यथा तथा वलयन् चालयन् शीतल इति भाव । मरुद्वसन्तवायुरावव्रौ आवाति स्म ॥३॥

तुलयति स्म विलोचनतारकाः कुरबकस्तबकव्यतिषङ्गिणि ।
गुणवदाश्रयलब्धगुणोदये मलिनिमालिनि माधवयोषिताम् ॥४॥

तुलयतीति। कुरबकस्तबके व्यतिषङ्गिणि लग्ने अत एव गुणवत शुक्लगुणस्य कुरबकस्तबकस्याश्रयेणाश्रयणेन लब्धो गुणोदयो निजनीलिमगुणोत्कर्षो येन तस्मिन् धवले नीलस्य स्फुरणादिति भाव । अलिनि भ्रमरे मलिनस्य भावो मलिनिमा कृष्णत्व माधवयोषिता हरिवधूना विलोचनाना तारका कनीनिका· तारकाक्ष्ण कनीनिका' इत्यमर । तुलयति स्म समीचकार तद्वद्भावित्यर्थ । तुलाशब्दात्सदृशपर्यायात् "तत्करोति" इति ण्यन्तात् 'लट् स्मे" इति भूते लट्। उपमालङ्कार ॥ ४ ॥

स्फुटमिवज्ज्वलकाञ्चनकान्तिभिर्युतमशोकमशोभत चम्पकैः ।
विरहिणां हृदयस्य भिदाभृतःकपिशितं पिशितं मदनाग्निना ५

स्फुटमिति। उज्ज्वलकाञ्चनकान्तिभि· शुद्धसुवर्णप्रभैश्चम्पकैर्युत चम्पकसमूहमध्यगतमित्यर्थ । स्फुट विकचमशोकपुष्प भिदा भेद । "पिद्भिदादिभ्योऽङ्" । ता बिभर्ति यत्तस्य भिदाभृतो भिन्नस्य विरहिणा हृदयस्य हृदयपिण्डस्य सम्बन्धि मदनाग्निना कपिशित कपिशीकृत पिशित मासमिवाशोभतेत्युत्प्रेक्षा ॥ ५ ॥

स्मरहुताशनमुर्मुरचूर्णतां दधुरिवाम्रवणस्य रजःकणाः ।
निपतिताः परितः पथिकव्रजानुपरि ते परितेपुरतो भृशम् ॥६॥

स्मरेति। आम्रवणस्य । चूतवनस्य 'आम्रश्चूतो रसालोऽसौ' इत्यमर । प्रनिरन्त· शर' इत्यादिना वननकारस्य णत्वम्। रजःकणाः परागचूर्णा स्मरहुताशन कामाग्नि· स एव मुर्मुरस्तुपाग्नि· । 'मुर्मुरस्तु तुपानले' इति वैजयन्ती । तस्य चूर्णता दधुरिवेत्युत्प्रेक्षा । अतो मुर्मुरचूर्णत्वादेव परित उपरि निपतिता· ते रजःकणा· पन्थान गच्छन्तीति पथिका· । "पथःष्कन्" इति ष्कन्प्रत्यय·। तेषा व्रजान् भृश परितेपु परितापयामासु।अतो मुर्मुरचूर्णत्वोत्प्रेक्षणमिति भाव· ॥६॥

रतिपतिप्रतिहितेव कृतक्रुधः प्रियतमेषु वधूरनुनायिकाः ।
बकुलपुष्परसासवपेशलध्वनिरगान्निरगान्मधुपावलिः ॥ ७ ॥

रतिपतीति। प्रियतमेषु विषये कृतक्रुध कृतरुषः 'प्रतिघा रुट्क्रुधौ स्त्रियाम्' इत्यमरः । वधूरनुनायिका. कुपितस्त्रीरनुनेष्यन्ती। "तुमुन्ण्वुलौ क्रियाया क्रियार्थायाम्' इति भविष्यदर्थे ण्वुल् प्रत्यय·, "अकेनोर्भविष्यदाधमर्ण्ययो·" इति षष्ठीप्रतिषेधाद्वधूरिति द्वितीया । रतिपतिना

कामेन प्रहिता प्रेषितेव तद्वाणीश्रवणान्तरमेव तासां कोपत्यागदर्शनादियमुत्प्रेक्षा । बकुलपुष्पाणां रसो मकरन्द स एवासवस्तेन तत्पानेन पेशलध्वनिर्मधुरस्वरा मधुपावलिः कर्त्री । न गच्छतीत्यगस्तस्माद्वृक्षान्निरगान्निर्गता । 'इणो गा लुङि'' इति गादेशः ॥ ७ ॥

प्रियसखीसदृशं प्रतिबोधिताः किमपि काम्यगिरा परपुष्टया।
प्रियतमाय वपुर्गुरुमत्सरच्छिदुरयादुरयाचितमङ्गनाः ॥ ८ ॥

प्रियसखीति । गुरोर्महतो मत्सरस्य द्वेषस्य छिदुरया छेत्र्या । ''विदिभिदिच्छिदेः कुरच्' इति कुरच् । काम्यगिरा श्लाघ्यवाचा परपुष्टया कोकिलया प्रियसख्या सदृशं यथा तथा किमपि परैर्दुर्बोधं रहस्यं हितं प्रतिबोधिता उपदिष्टा अङ्गना प्रियतमाय अयाचितम् अप्रार्थितमेव वपुर्निजाङ्गमदुरर्पयामासु । ददातेर्लुङि 'गातिस्था' इत्यादिना सिचो लुक् । कोकिलाकूजितश्रवणानन्तरमेवाङ्गार्पणादौत्सुक्यहेतुकार्यान्तरङ्ग्येव तथा किमपि बोधिता इत्युत्प्रेक्षा ॥ ८ ॥

मधुकरैरपवादकरैरिव स्मृतिभुवः पथिका हरिणा इव।
कलतया वचसः परिवादिनीस्वरजिता रजिता वशमाययुः॥९॥

मधुकरैरिति । मधुकरैः । कर्तृभिः । अपवादः मृगवञ्चनाय घण्टादिकुत्सितवाद्यं कुर्वन्तीत्यपवादकरा व्याधास्तैरिव पथिका हरिणा इव परिवादिनीस्वरजिता वीणाविशेषध्वनिजयिन्या । 'सप्तभिः परिवादिनी'इत्यमरः । जयतेः क्विपि तुक् । वचसो गीतस्य कलतया माधुर्येण करणेन । रजिता आकृष्टाः सन्त इत्यर्थः । रञ्जेर्ण्यन्तात्कर्मणि क्तः '' रञ्जेर्णौ मृगरमणे '' इति उपधानकारलोपः । इहोपमानमृगसादृश्यादौपचारिकं मृगत्वम् उपमेयेषु पथिकेष्वस्तीत्यविरोधः । स्मृतिभुवः स्मरस्य मृगपाताचिन्ताविषयत्वान्मृगग्रहणगर्तदेशस्य च वशमाययुः । यथा व्याधगानासक्त्या गर्ते मृगाः पतन्ति तद्वन्मधुकरझङ्काराकृष्टाः पान्थाः स्मरपारवश्यं भेजुरित्यर्थः । अनेकैवेयमुपमा ॥ ९ ॥

समभिसृत्य रसादवलम्बितः प्रमदया कुसुमावचिचीषया।
अविनसन्न रराज वृथोच्चकैरनृतया नृतया वनपादपः ॥ १० ॥

समभिसृत्येति । प्रमदया कर्त्र्या । कुसुमानामवाचिचीषयावचेतुमिच्छया । रिरंसयेति भावः । चिनोतेः सन्नन्तात् ''अ प्रत्ययात्'' इति स्त्रियामकारप्रत्ययः । 'विभाषा चेः''इति विकल्पात्कुत्वाभावः । रसाद्रागात्समभिसृत्य समागत्यावलम्बितो हस्तेन गृहीतस्तथाप्यविनमन् वशमगच्छन् अत एव वृथोच्चकैर्व्यर्थमुन्नतो वनपादपः न तु नागरिक इति भावः । न ऋतेत्यनृता असत्या तया अनृतया नुर्भावो नृता तया नृतया पुस्त्वेन न रराज । 'स्युः पुमांसः पञ्चजनाः पुरुषाः पूरुषा नराः' इत्यमरः । यः कान्ताकरगृहीतोऽपि न द्रवति स नपुंसक एव लौकिकस्तु पुंस्त्वव्यपदेशो मिथ्यैवेति भावः ॥ १० ॥

अथ कश्चित्स्वयंग्रहाश्लेषसुखार्थं प्रियामलिपातेन भीषयंस्त्रिभिः कुलकेनाह—

इदमपास्य विरागि परागिणीरलिकदम्बकमम्बुरुहां ततीः ।
स्तनभरेण जितस्तबकानमन्नवलते वलतेऽभिमुखं तव ॥ ११ ॥

इदमित्यादि । स्तनभरेण सावनेन जिताभ्यां स्तवकाभ्यामानमन्ती नवलता यया सा तथोक्ता तस्याः सम्बुद्धिर्जितस्तबकानमन्नवलते । स्तवकानमन्नवलतोपमे इत्यर्थ । अत एवेदं विरागि विरक्तिमदलिकदम्बकं परागिणीः परागवतीरिति विरक्तिहेतूक्तिः । अम्बुरुहां ततीरपास्य तवाभिमुखं वलते चलति । विशिष्टलताभ्रमादिति भाव. । तथा च भ्रान्तिमदलङ्कारो व्यज्यते ॥ ११ ॥

अथालेस्तदभिमुखागमने कारणमाह—

सुरभिनिश्वसिते दधतस्तृषं नवसुधामधुरे च तवाधरे ।
अलमलेरिव गन्धरसावमू मम न सौमनसौ मनसो मुदे ॥ १२ ॥

सुरभीति । तव सुरभिनिश्वसिते निश्वासमारुते नवसुधावन्मधुरे अधरे च तृषं तृष्णां दधतो दधानस्यालेर्भ्रमरस्य ममेवामू उपलभ्यमानौ सुमनसां पुष्पाणां सम्बन्धिनौ सौमनसौ गन्धरसौ सौरभमाधुर्ये मनसोऽन्तःकरणस्य मुदे नालं न पर्याप्तौ अतस्त्वद्वदनरसगन्धलोभादागच्छतीत्यर्थ । "नमः स्वस्ति" इत्यादिना चतुर्थी । अत्र कान्ताकर्तृकस्वयङ्ग्रहाश्लेषसुखार्थिनः प्रियस्य तद्भयहेतोरलेरेवागमनहेतुत्वेनात्र दृष्टान्तेन मुखसौरभरसलोभमदकुसुमवैराग्ययोर्वर्णयितुमौचित्यात् ॥ यमकानुसारेण विप्रकृष्टेनापि ममशब्देनेवशब्दस्यान्वय । वलतेऽभिमुखं तव अलिभयादिव सस्वजे इत्युपक्रमोपसंहाराभ्यामलेः प्रकृतत्वेनोपमेयत्वावगमात् । अन्यथा मध्ये तद्वैपरीत्ये तद्विरोधादित्यलमहिचलनाघ्रमार्गणेन । अत्रोपमानुप्रासयमकानां तावद्विजातीयानां संसृष्टि. स्पष्टैव । तथा यमकानां त्रयाणां चतुर्थपादादावेकस्मादक्षरात् द्वाभ्यां त्रिभ्यश्च परतोऽक्षरत्रयावृत्तिलक्षणानां स्थितत्वात् सजातीयसंसृष्टिश्चेष्टा ॥ १२ ॥

इति गदन्तमनन्तरमङ्गना भुजयुगोन्नमनोच्चतरस्तनी ।
प्रणयिनं रभसादुदरश्रिया वलिभयालिभयादिव सस्वजे ॥ १३ ॥

इतीति । इतीत्थं गदन्तं प्रणयिनम् अनन्तरं भुजयुगस्योन्नमनेनोच्चतरावत्युन्नतौ स्तनौ यस्या. सा । "स्वाङ्गाच्चोपसर्जनादसंयोगोपधात्" इति ङीष् । वलिभया वलयो विद्यन्ते यस्यास्तया वलिभया । "तुन्दिवलिवटेर्भः" इति भप्रत्यय. । उदरश्रिया मध्यशोभया उपलक्षिता अङ्गना अलिभयादिव रभसात्सस्वजे आलिलिङ्ग । वस्तुतस्तु रागादेवेति भाव । 'ष्वञ्ज परिष्वङ्गे' इति धातो' कर्त्तरि लिट् । 'लज्जामन्मथमध्यस्थामध्येय नायिका मता' ॥ १३ ॥

वदनसौरभलोभपरिभ्रमद्भ्रमरसम्भ्रमसम्भृतशोभया ।
चलितया विदधे कलमेखलाकलकलोऽलकलोलदृशान्यया ॥ १४ ॥

वदनेति । वदनस्य सौरभे सौगन्ध्ये लोभेन परिभ्रमता भ्रमरेण हेतुना यः सम्भ्रमस्तेन सम्भृतशोभया सम्पादितश्रिया चलितया अलिसम्भ्रमात् प्रस्थितया अत एवालकैरलकपातैर्लोलदृशः चञ्चलाक्ष्या अन्यया स्त्र्यन्तरेण कलो मेखलायाः कलकलः कोलाहलो विदधे विहितः । अलि-भयादपसरन्त्याः काञ्चीगुणध्वानिरजनीत्यर्थः । एतेन चकितत्वमुक्तम् । चकित भयसम्भ्रमः । अनुप्रासयमकयोः सजातीयशब्दालङ्कारयोः ससृष्टिः स्पष्टैव तावत् । तथा यमकयोश्च द्वयोः सजातीययोः चतुर्थपादादावेकस्मादक्षरात् द्वाभ्या च परतोऽक्षरत्रयावृत्तिलक्षणयो. स्थितत्वात् सजातीययोः ससृष्टिः ॥ १४ ॥

अजगणन्गणशः प्रियमग्रतः प्रणतमप्यभिमानितया न याः ।
सति मधावभवन्मदनव्यथाविधुरिता धुरि ताःकुकुरस्त्रियः१५॥

अजगणन्निति । याः कुकुरस्त्रियो यादवाङ्गनाः गणशो बहुश ·। "बह्वल्पार्थाच्छस्कार-कादन्यतरस्याम्" इति शस्प्रत्ययः । अग्रतः प्रणतमपि प्रियं जातावेकवचन प्रियानित्यर्थः । अभिमानिनीना भावोऽभिमानिता तया "त्वतलोर्गुणवचनस्य पुंवद्भावो वक्तव्य." । नाजगणन्न गणयन्ति स्म । गणेश्चौरादिकाण्णौ चङि " ई च गणः" इत्यभ्यासस्य पाक्षिक इत्वाभाव । ताः कुकुरस्त्रियो मधौ वसन्ते सति प्रवर्त्तमाने । मधुश्चैत्रे वसन्ते च इति विश्वः । मदनव्यथावि-धुरिताः विह्वलिताः सत्यः धुरि अग्रेऽभवन्नवर्तन्त । स्वयमेव पुर प्रवृत्ता इत्यर्थः ॥ १५ ॥

कुसुमकार्मुककार्मुकसंहितद्रुतशिलीमुखखण्डितविग्रहाः ।
मरणमप्यपराः प्रतिपेदिरे किमु मुहुर्मुमुहुर्गतभर्तृकाः ॥ १६ ॥

कुसुमेति । गतभर्तृकाः वियोगिन्यः । "नद्यृतश्च" इति कप् । अपराः काश्चिदङ्गनाः कुसु-मकार्मुकस्य कामस्य कार्म्मुके सहितैः द्रुतैर्ज्जवनैः शिलीमुखैः शरैः खण्डितविग्रहाः पातितशरीराः सत्यो मरणमपि प्रतिपेदिरे मुहुः पुनःपुन· मुमुहुर्मुमूर्छुरिति किमु वक्तव्यमित्यर्थः ॥ १६ ॥

अथ कस्याश्चित्प्रोषितभर्तृकाया बन्धुजनसमाश्वासन विशेषकेणाह ।

रुरुदिषा वदनाम्बुरुहश्रियः सुतनु सत्यमलङ्करणाय ते ।
तदपि सम्प्रति सन्निहिते मधावधिगमं धिगमङ्गलमश्रुणः १७॥

रुरुदिषेति । हे सुतनु शुभाङ्गि । " अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः " इति ह्रस्वत्व दीर्घोत्तरपदो बहु-व्रीहिः अन्यथा गुणः स्यात् । रुरुदिषा रोदनेच्छा अश्रुविमोचनमित्यर्थः' । रुदेः सन्नन्तादप्रत्यये टाप् । ते तव वदनाम्बुरुहश्रियः अलङ्करणाय सत्यम् । रम्याणा विकृतिरपि श्रिय तनोतीति न्याया-दिति भावः । गम्यमानक्रियापेक्षत्वाच्चतुर्थी । तदपि तथापि सम्प्रति मधौ वसन्ते सन्निहिते सन्नि-हितोत्सवे सति अश्रुणोऽधिगम प्राप्तिममङ्गल धिक्निन्दन्तीत्यर्थ· ' धिङ्निर्भर्त्सननिन्दयोः' इत्य-मरः । "विगुपर्य्यादिषु त्रिषु" इति द्वितीया । अतो मारुत इत्यर्थः ॥ १७ ॥

त्यजति कष्टमसावचिरादसून्विरहवेदनयेत्यघशङ्किभिः ।
प्रियतया गदितास्त्वयि बान्धवैरवितथा वितथाःसखि मा गिरः॥

त्यजतीति । प्रियतया इष्टतया अघशङ्किभिरनर्थोत्प्रेक्षिभिः । प्रेम पश्यति भयान्यपदेऽपीति भावः । बान्धवैस्त्वयि विषये गदिताः उच्चारिताः कष्टं बत असौ बाला विरहवेदनया अचिरादसून् प्राणास्त्यजति त्यक्ष्यति । "वर्त्तमानसामीप्ये वर्त्तमानवद्वा" इति लट् । इत्येवंविधा गिर उक्तीः हे सखि विगतं तथात्वं यासां ताः वितथाः अनृताः 'वितथं त्वनृतं वचः' इत्यमरः । बहुव्रीहौ उपसर्जनत्वाद्ध्रस्वः ततो नञ्समासे विशेष्यलिङ्गता । अवितथाः सत्याः मा वितथाः माकृथाः वृथातिशोकेन मा मृथा इत्यर्थः । विपूर्वात्तनोतर्लुङि थास् 'तनादिभ्यस्तथासोः' इति विभाषा सिचो लुक्, "अनुदात्तोपदेश" इत्यादिनानुनासिकलोपः "न माङयोगे" इत्यडागमप्रतिषेधः ॥ १८ ॥

न खलु दूरगतोऽप्यतिवर्त्तते महमसाविति बन्धुतयोदितैः ।
प्रणयिनो निशमय्य वधूर्बहिः स्वरमृतैरमृतैरिव निर्ववौ ॥१९॥

नेति । किञ्चासौ ते प्रणयी दूरगतो दूरस्थोऽपि महं वसन्तोत्सवम् । 'मह उद्धव उत्सवः' इत्यमरः । नातिवर्त्तते नातिक्रामति खलु इति बन्धुतया बन्धुसमूहेन । "ग्रामजनबन्धुभ्यस्तल्" इति तल्प्रत्ययः । उदितैरुक्तैः । वदेः कर्मणि क्तः । ऋतैः सत्यवचनैः । 'सत्यं तथ्यमृतं सम्यक्' इत्यमरः । बहिः प्रणयिनस्तदैव दैवादागतस्य प्रियस्य स्वरं कण्ठगतं शब्दं निशमय्य श्रुत्वा । "शमु अदर्शने" इति चौरादित्वात् ल्यप् मित्त्वाद्ध्रस्वः "ल्यपि लघुपूर्वात्" इत्ययादेशः । वधूरमृतैः सुधाभिरिव निर्ववौ निर्ववार । वातेर्लिट् । निर्वाणं निर्वृतिः सुखमिति विशेषकम् ॥ १९ ॥

मधुरया मधुबोधितमाधवी मधुसमृद्धिसमेधितमेधया ।
मधुकराङ्गनया मुहुरुन्मदध्वनिभृता निभृताक्षरमुज्जगे ॥ २० ॥

मधुरयेति । मधुरया मनोहरया मधुना वसन्तेन बोधिता विकासिताश्च ता माधव्यश्च । पुष्पधर्मः पुष्पितासूपचर्यते । तासां माधवीनामतिमुक्तलतानाम् । 'अतिमुक्तः पुण्ड्रकः स्याद्वासन्ती माधवीलता' इत्यमरः । मधुसमृद्ध्या मकरन्दसम्पदा समेधितमेधया संवर्द्धितप्रतिभया अत एवोन्मदयतीत्युन्मदो मदकरः । पचाद्यच् । तं ध्वनिं बिभर्त्ति इत्युन्मदध्वनिभृत् तया मधुकराङ्गनया मुहुर्निभृताक्षरं लक्षणया स्थिरनादं यथा तथेत्यर्थः । अथवा सर्वः शब्दो वर्णात्मक एव व्यञ्जकविशेषाभावादस्फुट इति मतमाश्रित्योक्तं सर्वपथीनाः कवय इति । उज्जगे उच्चैर्गीतम् । गायतेरविवक्षितकर्मकाद्भावे लिट् । 'बन्धवैषम्यराहित्यं समता पदगुम्फने' इतिलक्षणात्समताख्योगुणः ॥ २० ॥

अरुणिताखिलशैलवना मुहुर्विदधती पथिकान्परितापिनः ।
विकचकिंशुकसंहतिरुच्चकैरुदवहद्वहव्यवहश्रियम् ॥ २१ ॥

शशंगितेति । अलगितान्यरुगीकृतानि अखिलानि शैलवनानि यया सा मुहुः पथिकानध्वगान् विरहिणश्च परितापिनः सन्तापवतो विदधती उच्चैरेवोच्चकैरुन्नता । "अव्ययसर्वनाम्नामकच् प्राक्टेः" इत्यकच् प्रत्ययः । विकचा विकसिता या किंशुकसहतिः पलाशकुसुमराशिः सा दवहव्यवहश्रिय दवाग्निशोभामुदवहत् । निदर्शनालंकारः । इति वसन्तवर्णनम् ॥ २१ ॥

अथ ग्रीष्मवर्णनमारभते—

रवितुरङ्गतनूरुहतुल्यतां दधति यत्र शिरीषरजोरुचः ।
उपययौ विदधन्नवमल्लिकाः शुचिरसौ चिरसौरभसम्पदः॥२२॥

रवीत्यादि । यत्र शुचौ शिरीषरजसा रुचः कान्तयो रवितुरङ्गतनूरुहतुल्यता सूर्याश्वरोमसावर्ण्यं दधति हरिद्वर्णा भवन्तीत्यर्थः । असौ शुचिर्ग्रीष्मः । 'शुचिः शुद्धेऽनुपहते शृंगाराषाढयोरपि । ग्रीष्मे हुतवहेऽपि स्यात्' इति विश्वः । नवमल्लिकाः । 'पुष्पे जातीप्रभृतयः स्वलिंगाः' इत्यमरः । "पुष्पमूलेषु बहुलम्" इति बहुलग्रहणात् लुप् "लुपि युक्तवद्व्यक्तिवचने" इति स्त्रीलिंगता । चिर चिरावस्थायिनी सौरभसम्पद्यासां ता । स्थिरगन्धा इत्यर्थः । विदधत्कुर्वन्नुपययौ प्राप ॥ २२ ॥

दलितकोमलपाटलकुड्मले निजवधूश्वसितानुविधायिनि ।
मरुति वाति विलासिभिरुन्मदभ्रमदलौ मदलौल्यमुपाददे॥२३॥

दलितेति । पाटलाया अवयवाः पाटला । लुक्प्रकरणे "पुष्पमूलेषु बहुलम्" इति बहुलग्रहणाल्लुक् । ते च ते कुड्मलाश्च दलिताः विभिन्नाः कोमला पाटलकुड्मला येन तस्मिन्निजवधूना श्वसितं निःश्वासमनुविधत्तेऽनुकरोतीति तथोक्ते । तादृशीत्यर्थः । उन्मदा भ्रमन्तश्चालयो यस्मिंस्तस्मिन् उन्मदभ्रमदलौ मरुति ग्रीष्मानिले वाति वहति सति । वातेर्लटः शत्रादेशः । विलासिभिर्विलसनशीलैः कामिभिः । "वौ कषलसकत्थस्रम्भः" इति घिनुण् प्रत्ययः । मदेन लौल्यं चापल्यमुपाददे मत्तैर्जातमित्यर्थः ॥ २३ ॥

निदधिरे दयितोरसि तत्क्षणस्नपनवारितुषारभृतस्तनाः ।
सरसचन्दनरेणुरनुक्षणं विचकरे च करेण वरोरुभिः ॥ २४ ॥

निदधिर इति । वरोरुभिः स्त्रीभिः तत्क्षणस्नपनेन सद्यस्सेकेन वारितुषारभृतो जलशीकरधारिण इत्यर्थः । 'तुषारौ हिमशीकरौ' इति शाश्वतः । स्तनाः दयितोरसि निदधिरे निहिताः तेषां सन्तापशान्तये स्नानार्द्रांगा एव आलिंगन्नित्यर्थः । किञ्च करेण पाणिना सरस आर्द्रश्चन्दनरेणुः घृष्टश्चन्दनपंकश्चानुक्षणं विचकरे विकीर्णः । किरतेः कर्मणि लिट् "ऋच्छत्यृताम्" इति गुणः । करेणुकरोरुभिरिति पाठस्तु "ऊरूत्तरपदादौपम्ये" इत्यूङ्प्रसंगाद्धेयः । इति ग्रीष्मवर्णनम् ॥ २४ ॥

अथ वर्षावतारमाह-

स्फुरदधीरतडिन्नयना मुहुः प्रियमिवागलितोरुपयोधरा ।
जलधरावलिरप्रतिपालितस्वसमयासमयाज्जगतीधरम् ॥ २५ ॥

स्फुरदिति । स्फुरन्ती अधीरे चञ्चले तडितौ नयने इव तडिन्नयने यस्या सा अगलिता अरिक्ता ऊरुपयोधरा मेघा यस्याम्।अन्यत्र ऊरू च पयोधरौ च ऊरुपयोधरम् । प्राण्यङ्गत्वाद्द्वन्द्वैकवद्भावः । न गलित न पतितं यस्या सा जलधरावलिर्मेघपंक्तिः।अत्र जलधरावलेः पयोधराणाञ्चावयवावयविभावात् पृथङ्निर्देशः । अप्रतिपालितस्वसमया अनपेक्षितनिजवेला सती एकत्र यौगपद्यादन्यत्राधैर्याच्चेति भाव । जगतीधर रैवतकम्भूधरम्प्रियमिव समयात् समागच्छत् । यातेर्लङ् । पयोजगतीशब्दयो पचाद्यजन्तेन धरशब्देन षष्ठीसमासः । अत्र विशेषणमहिम्ना जलधरावलौ नायिकात्वप्रतीते समासोक्ति, सा तु प्रियमिवेत्युपमयाङ्गेन सङ्कीर्यते ॥ २५ ॥

गजकदम्बकमेचकमुच्चकैर्नभसि वीक्ष्य नवाम्बुदमम्बरे ।
अभिससार न वल्लभमङ्गना न चकमे च कमेकरसं रहः॥२६॥

गजेति । नभसि श्रावणमासे । 'नभाः श्रावणिकश्च सः' इत्यमरः । अम्बरे व्योम्नि गजकदम्बकमिव मेचक श्यामलम् । 'कालश्यामलमेचका.' इत्यमरः । उच्चैरेवोच्चकैरुन्नत नवाम्बुद वीक्ष्य अङ्गना एक एकायन रसो रागो यस्य तम् एकरस तिरस्कृतरसान्तरमित्यर्थः । क वल्लभ प्रिय रह एकान्ते न चकमे न कामयतेस्म तथा नाभिससार च सर्व्ववल्लभ सर्व्वापि तत्तदङ्गना चकमे अभिससार चेति । नवाम्बुदस्योद्दीपकत्वातिशयोक्ति. इह कामनापूर्व्वकत्वादभिसरणस्य तयोरर्थक्रमबलीयस्त्वन्यायेन यमकवशायातपाठक्रमबाधेन योजना न्याय्यैव ॥ २६ ॥

अनुययौ विविधोपलकुण्डलद्युतिवितानकसंवलितांशुकम् ।
धृतधनुर्वलयस्य पयोमुचः शबलिमा बलिमानमुषो वपुः॥२७॥

अनुययाविति । धृतधनुर्वलयस्य धृतेन्द्रचापमण्डलस्य पयोमुचो मेघस्य सम्बन्धी शबलस्य भाव. शबलिमा विचित्रता । "पृथ्वादिभ्य इमनिज्वा" इतीमानिच्प्रत्ययः । विविधा नानावर्णा उपला मणयो ययोस्तयोः कुण्डलयोः द्युति वितानकेन कान्तिपुञ्जेन सवलिता मिलिता अशवो निजनीलभासो यस्य तत्तथोक्तम् "शेषाद्विभाषा" इति कप्रत्यय । बलिमानमुषो बल्युग्राहङ्कारापहरस्य हरेर्वपुरनुययौ अनुचकार तद्वद्बभावित्यर्थः । उपमालङ्कार ॥ २७ ॥

द्रुतसमीरचलैः क्षणलक्षितव्यवहिता विटपैरिव मञ्जरी ।
नवतमालनिभस्य नभस्तरोरचिररोचिररोचतवारिदैः ॥ २८ ॥

द्रुतेति । द्रुतसमीरेण शीघ्रमारुतेन चलैर्वारिदै. क्षण लक्षिता च व्यवहिता च सा क्षणलक्षितव्यवहिता । क्षणिकाविर्भावतिरोधानेत्यर्थः । स्नातानुलिप्तवत् "पूर्वकालैक"इत्यादिना समास ।

अचिर रोचिर्यस्याः सा अचिररोचिर्विद्युत् द्रुतसमीरचलैः विटपैः शाखाभिः क्षणलक्षितव्यवहिता नवतमालनिभस्य नवतमालेन सदृशस्य तद्वन्नीलस्येत्यर्थः। नित्यसमासः। नभस्तरुरिव तस्य नभस्तरोर्मञ्जरीगुच्छ इवारोचत। उपमालङ्कारः। अत्र नभस्तरोर्नभः श्रेष्ठस्येति व्याख्याने तरुशब्दस्य व्याघ्रादिवच्छ्रेष्ठार्थगोचरत्वात्तमालशब्देनविशेषवाचिना तन्नीलसामान्येन पौनरुक्त्यमिति वल्लभः। तमालशब्दस्येन्द्रनीलवन्नैल्यमात्रोपमानत्वात्तरुशब्दस्य स्वार्थवृत्तित्वेऽपि न पौनरुक्त्यमित्यन्ये॥ २८॥

पटलमम्बुमुचां पथिकाङ्गना सपदि जीवितसंशयमेष्यती।
सनयनाम्बुसखीजनसंभ्रमाद्विधुरबन्धुरबन्धुरमैक्षत॥ २९॥

पटलमिति। पथिकाङ्गना काचित्प्रोषितभर्तृका अतएव सपदि जीवितसशय मरणमेष्यति निश्चितमरणेत्यर्थः। "आच्छीनद्योर्नुम्" इति विकल्पान्नुमभावः। अत एव सनयनाम्बोः सबाष्पस्य सखीजनस्य सम्भ्रमात्क्षोभात् विधुरबन्धुः सम्भ्रमदर्शनात् विह्वलबन्धुजना सती अम्बुमुचां पटल अबन्धुरमशोभनम्। सदैन्यरोपमिति यावत्। ऐक्षत। ईक्षतेर्लङ् "आटश्च" इति वृद्धिः। इह विरहवेदनाक्षमा या नायिका सा मरणसाधनमेघपटलावेक्षणवर्णनाया तदुद्योगलक्षणा मरणावस्थोक्ता सा हि द्विविधा तदुद्योगस्तद्योगश्चेत्याहुः। 'दृङ्मन.सङ्गसङ्कल्पा जागरः कृशता रतिः। ह्रीत्यागोन्मादमूर्च्छान्ता इत्यनङ्गदशा दश'। इत्यवस्थासग्रहः॥ २९॥

प्रवसतः सुतरामुदकम्पयद्विदलकन्दलकम्पनलालितः।
नमयति स्म वनानि मनस्विनीजनमनोनमनो घनमारुतः॥ ३०॥

प्रवसत इति। कन्दली भूकन्दली। द्रोणपर्णी 'स्निग्धकन्दा कन्दली भूमिकन्दली' इति शब्दार्णवः। तस्याः पुष्पाणि कन्दलानि। "फले लुक्" इत्यणो लुक्"। विदलानां विकचानां कन्दलाना कम्पनेन अवधूननेन लालितः। उपस्कृतः मनस्विनीजनस्य मनसा नमनो नमयिता मानिनीमानभञ्जन इत्यर्थः। कर्तरि ल्युट्। घनमारुतो मेघवायुः वनानि नमयति स्म प्रवसतः प्रोषितान् सुतरामुदकम्पयत् उद्वेजितवान्। मनस्विनीमानमर्दनस्य वननमनं प्रोषितकम्पनं वा कियदिति भावः॥ ३०॥

जलदपङ्क्तिरनर्तयदुन्मदं कलविलापिकलापिकदम्बकम्।
कृतसमार्जनमर्दलमण्डलध्वनिजया निजया स्वनसम्पदा॥ ३१॥

जलदेति। निजया आत्मीयया स्वनसम्पदा कृतः समार्जनस्य मार्जनाख्यसस्कारसहितस्य मर्दलमण्डलस्य ध्वनेर्जयो यया सा तथोक्ता मार्जन नाम मर्दलाना ध्वननार्थं मस्मृदिताम्भःपुष्करलेपनम्। जलदपङ्क्तिरुन्मदमुत्कटमद कलविलापि मधुरालापि कलापिकदम्बकं मयूरवृन्दमनर्तयत्॥ ३१॥

नवकदम्बरजोऽरुणिताम्बरैरधिपुरन्ध्रि शिलीन्ध्रसुगन्धिभिः ।
मनसि रागवतामनुरागिता नवनवा नववायुभिरादधे ॥३२ ॥

नवेति । नवकदम्बरजोभिररुणितमरुणीकृतमम्बरमाकाशं यैस्तैः शिलीन्ध्राणां कदलीकुसुमानां यः सुगन्धः स एषामस्तीति शिलीन्ध्रसुगन्धिनः तैः । गन्धस्येत्वे तदेकान्तग्रहणादित्प्रत्ययाश्रयणम् 'कदल्यां च शिलीन्ध्रः स्यात्' इति शब्दार्णवे । नववायुभिः पुरन्ध्रीषु स्त्रीषु विषये अधिपुरन्ध्रि । विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः । रागवतां कामिनां मनसि नवनवा नवप्रकारा । "प्रकारे गुणवचनस्य" इति द्विर्भावः । कर्मधारयवद्भावात्सुपो लुक् । अनुरागिता आदधे । अनुराग उत्पादित इत्यर्थः ॥ ३२ ॥

शमिततापमपोढमहीरजः प्रथमबिन्दुभिरम्बुमुचोऽम्भसाम् ।
प्रविरलैरचलाङ्गनमङ्गनाजनसुगं न सुगन्धि न चक्रिरे ॥३३ ॥

शमितेति । अम्बुमुचो मेघाः प्रविरलैरम्भसां प्रथमबिन्दुभिः शमिततापमपोढमहीरजो निरस्तधूलिकम् । न तु पङ्कितमिति भावः । सुगन्धि सन्तप्तसेकादुद्भूतसौरभम् । इह तदेकान्तत्वाद्गन्धस्येत्वम् । अचलाङ्गनं रैवतकाङ्गनम् । 'अंगनं चत्वराजिरे' इत्यमरः । अङ्गनाजनस्य सुखेन गच्छन्त्यस्मिन्निति सुगं सुखसञ्चारमित्यर्थः "सुदुरोरधिकरणे" इति गमेर्डप्रत्यये टिलोपः न न चक्रिरे इत्यर्थः । द्वौ नञौ प्रकृतमर्थं गमयतः ॥ ३३ ॥

द्विरददन्तवलक्षमलक्ष्यत स्फुरितभृङ्गमृगच्छवि केतकम् ।
घनघनौघविघट्टनया दिवः कृशशिखं शशिखण्डमिव च्युतम् ॥३४

द्विरदेति । द्विरददन्तवलक्षं गजदन्तधवलम् । 'वलक्षो धवलोऽर्जुनः' इत्यमरः । भृङ्गो मृग इव भृङ्गमृगस्तस्य छविः सा स्फुरिता यस्मिंस्तत्तथोक्तं केतक्याः पुष्पं केतकम् । "पुष्पमूलेषु बहुलम्" इत्यणो लुकि. नादिवृद्धिः 'लुक्तद्धितलुकि'' इति स्त्रीप्रत्ययस्यापि लुक् ॥ घनघनौघविघट्टनया निविडमेघसङ्घोपघातेन दिवोऽन्तरिक्षात् च्युतं कृशशिखं सूक्ष्माग्रं शशिखण्डमिवालक्ष्यतेत्युत्प्रेक्षा ॥ ३४ ॥

दलितमौक्तिकचूर्णविपाण्डवः स्फुरितनिर्झरशीकरचारवः ।
कुटजपुष्पपरागकणाः स्फुटं विदधिरे दधिरेणुविडम्बनाम् ॥३५॥

दलितेति । दलितमौक्तिकानां निष्पिष्टमुक्ताफलानां चूर्णं इव विपाण्डवोऽतिशुभ्राः स्फुरिता ये निर्झराणां शीकराः कणास्त इव चारवः कुटजपुष्पपरागकणाः स्फुटं दधिरेणुविडम्बनां दधिचूर्णानुकारं विदधिरे चक्रिरे तद्वद्बभुरित्यर्थः । पूर्वोपमानद्वयानुप्राणितेयमुपमेति सङ्करः ॥३५ ॥

नवपयः कणकोमलमालतीकुसुमसन्ततिसन्ततसङ्गिभिः ।
प्रचलितोडुनिभैः परिपाण्डिमा शुभरजोभरजोऽलिभिराददे ॥३६॥

नवेति । नवपयः कणवन्नवोदकबिन्दुवत् कोमलाना मालतीकुसुमानां जातीपुष्पाणा सन्ततिषु सन्ततसमिभिर्निरन्तरासक्तैः । ' सुमना मालती जाति. ' इत्यमरः । अत एव प्रचलितोडुनिभैः परागभूषणात्सञ्चरन्नक्षत्रकल्पैरिवेत्युत्प्रेक्षा । अलिभि शुभाद्रजोभरात्परागपुञ्जाज्जातः शुभरजोभरज परिपाण्डिमा धवलिमा आददे स्वीकृत. ॥ ३६ ॥

निजरसः पटवासमिवाकिरद्धृतपटोपमवारिमुचां दिशाम् ।
प्रियवियुक्तवधूजनचेतसामनवनी नवनीपवनावलिः ॥ ३७ ॥

निजेति । प्रियवियुक्तवधूजनचेतसाम् कर्मणि षष्ठी । अनवनी अरक्षणी । किन्तु हन्त्रीत्यर्थ. । अवतेः कर्त्तरि ल्युटि ङीप् । नवनीपवनावलिः नवकदम्बकाननपङ्क्तिः धृता पटोपमाः पटकल्पा वारिमुचो मेघा याभिस्ता' । मेघपटावृता इत्यर्थः । तासा दिशा निजरज. स्वपराग पटवास पिधानमिवेत्युत्प्रेक्षा । अकिरत् अक्षिपत् । सखीवदिति भाव. ॥ ३७ ॥

प्रणयकोपभृतोऽपि पराङ्मुखाः सपदि वारिधरारवभीरवः ।
प्रणयिनःपरिरब्धुमथाङ्गनाववलिरेवलिरेचितमध्यमाः॥ ३८ ॥

प्रणयेति । प्रणयकोपभृत. अत एव पराङ्मुखा विमुखा अपि । " स्वाङ्गाच्चोपसर्ज्जनादसंयोगोपधात् " इति विकल्पादाकारः। सपदि वारिधरारवेभ्यो मेघगर्जितेभ्यो भीरवो भीताः स्त्रिय इति शेषः। अथ अनन्तर गर्जिताकर्णनानन्तरमेव प्रणयिनः प्रियापरिरब्धुमालिंगितु वलिरेचितान्यालिंगनार्थमगप्रसारणात्त्रिवलिरिक्तीकृतानि मध्यमान्यवलग्नानि यासा ताः सत्यो ववलिरे प्रवृत्ताः । वलतेर्वेकारादित्वान् ' न शसददवादिगुणानाम् " इत्येत्वाभ्यासलोपप्रतिषेधः ॥ ३८ ॥

विगतरागगुणोऽपि जनो न कश्चलति वाति पयोदनभस्वति ।
अभिहितेऽलिभिरेवमिवोच्चकैरननृते ननृते नवपल्लवैः॥ ३९ ॥

विगतेति । पयोदनभस्वति मेघमारुते वाति वहति सति । वातेर्लटः शत्रादेशः । विगतरागगुणो विरक्तोऽपि को जनो नरो न चलति । सर्वोऽपि चलत्येवेत्यर्थः । एवमलिभिरुच्चकैरुच्चैस्तरामनृतमसत्यं न भवतीत्यननृत तस्मिन् अननृते सत्यवचने अभिहिते सति नवपल्लवैर्ननृत इव नृत्य कृतमिवेत्युत्प्रेक्षा । नृतेर्भावे लिट् ॥ ३९ ॥

अरमयन्भवनादचिरद्युतेः किल भयादपयातुमनिच्छवः ।
यदुनरेन्द्रगणं तरुणिगणास्तमथमन्मथमन्थरभाषिणः ॥ ४० ॥

अरमयन्निति । अचिरद्युतेर्विद्युतो भयात्किल भयादिव न तु तथा । किन्तु रागादेवेति भावः । किलेत्यलीके भवनाद्रमणगृहादपयातुम् निर्गन्तुमनिच्छवः भयव्याजात्तत्रैव स्थिता इति भावः । " बिन्दुरिच्छुः " इत्युप्रत्यान्तो निपातः । मन्मथेन मन्थरमलस भाषन्त इति मन्मथमन्थरभाषिणः कामवशा इत्यर्थः । तरुणीगणाः तं प्रकृत यदव एव नरेन्द्रास्तेषा गणमरमयन् रम-

यन्ति स्म । अत्र भयेन रागनिगूहनान्मीलनालङ्कारः ' मीलनं वस्तुना यत्र वस्त्वन्तरनिगूहनम् इति लक्षणात् । सोप्यागन्तुकेन भयेन सहजरागातिरोधनादागन्तुकेन सहजतिवानन्वयः ॥ इति वर्षावर्णनम् ॥ ४० ॥

अथ शरद्वर्णनमारभते—

दददन्तरिताहिमदीधितिं खगकुलाय कुलाय निलायिताम् ।
जलदकालमबोधकृतं दिशामपरथाप रथावयवायुधः ॥ ४१ ॥

दददिति । रथावयवायुधश्चक्रायुधो हरिरन्तरिताहिमदीधिति तिरोहितोष्णांशु तथा खगकुलाय पक्षिसघाय कुलायेषु नीडेषु निलीयन्त इति कुलायनिलायिन । ' कुलायो नीडम-स्त्रियाम् ' इत्यमर. । तेषा भावस्तत्ता ता ददत प्रयच्छन्तम् । पक्षिसचार प्रतिबध्नन्तमित्यर्थ । " नाभ्यस्ताच्छतु. " इति नुम्प्रतिषेध. । दिशामिति कर्मणि षष्ठी । अबोधकृतम् अबोधकारिणम् । मेघावरणेन प्राच्यादिविवेक लुम्पन्तमित्यर्थ । जलदकाल प्रावृट्काल अपरथा प्रकारान्तरेण आप प्राप । मेघोदयोपाधिना प्रावृड्व्यवहारभाज तमेव काल मेघात्ययोपाधिना शरत्सज्ञयोपलेभे इत्यर्थः । कालो हि एक एव सन्ननेकोपाधिसम्बन्धान्नानात्वेनोपचर्यत इति तद्विद.॥ ४१ ॥

स विकचोत्पलचक्षुषमैक्षत क्षितिभृतोऽङ्कगतां दयितामिव ।
शरदमच्छगलद्वसनोपमा क्षमघनामघनाशनकीर्तनः ॥ ४२ ॥

स इति । अघाना नाशन निवर्त्तन कीर्तनं यस्य सोऽघनाशनकीर्तन. स हरिर्विकचमुत्पलमेव चक्षुर्यस्यास्तामच्छ शुभ्र गलत् स्रसमान यद्वसन तस्योपमा सादृश्य तस्या. क्षमा योग्या घना मेघा यस्या सा ताम् अत एव क्षितिभृतोऽङ्कगतामुत्सङ्गगता दयितामिवेत्युत्प्रेक्षा । शरदमैक्षत ॥४२॥

जगति नैशमशीतकरः करैर्वियति वारिदवृन्दमयं तमः ।
जलजराजिषु नैद्रमदिद्रवन्न महतामहताः क्व च नारयः ॥ ४३ ॥

जगतीति । अशीतकर उष्णांशु करै. स्वांशुभि जगति लोके निशाया भव नैशम् । "निशाप्रदोषाभ्या च " इति विकल्पादण् प्रत्यय. । तमस्तिमिरमदिद्रवत् द्रावयति स्म । निरस्तवानित्यर्थः । "द्रु गतौ " " णौ चङ्युपधाया ह्रस्व. " इत्युपधाह्रस्वः सन्वद्भाव" स्रवतिशृणोतिद्रवतिप्रवतिप्लवतिच्यवतीना वा " इत्यभ्यासस्य विकल्पादित्वम् । वियत्याकाशे वारिवृन्दमय मेघसघरूपम् । स्वार्थे मयट् । तमः अदिद्रवत् जलजराजिषु निद्रामेव नैद्र निमीलन तदेव तमः अदिद्रवत् तथा हि महता महात्मनाम् अरय क्व च क्व वा न नाहताः अहता न । किन्तु सर्वत्र हता भवन्तीत्यर्थः । द्वितीयनिषेधप्रापितस्य प्रकृतार्थस्य हननस्य तृतीयेन निषेधः । पुनः क्वेति क्वशब्दसामर्थ्यात्प्रकृतार्थपर्यवसानम् । वैधर्म्येण सामान्याद्विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ ४३ ॥

समय एव करोति बलाबलं प्रणिगदन्त इतीव शरीरिणाम् ।
शरदि हंसरवाः परुषीकृतस्वरमयूरमयू रमणीयताम् ॥ ४४ ॥

समय इति । समयः काल एव शरीरिणा बलाबल बलाबले । "विप्रतिषिद्ध चानधिकरणवाचि" इति विकल्पात् द्वन्द्वैकवद्भाव. । करोतीति प्रणिगदन्त. प्रतिपादयन्त इवेत्युत्प्रेक्षा । "नेर्गदनदपत" इत्यादिना णत्वम् । शरदि हसरवाः परुषीकृतस्वरा निष्ठुरीकृतनादा मयूरा यस्मिन् कर्मणि तत् परुषीकृतस्वरमयूर यथा तथा रमणीयतामयुः प्राप्ताः । यातेर्लङि "लङः शाकटायनस्यैव" इति झेर्जुसादेशः । "उस्यपदान्तात्" इति पररूप सहितायाम् 'ढ्लोपे पूर्वस्य दीर्घोऽण" इति दीर्घ । शरत्प्रावृषोर्हसमयूरकूजिते माधुर्यामाधुर्यविपर्ययदर्शनात्काल एव प्राणिना बलाबलनिदान व्यक्तमभूदित्यर्थ. ॥ ४४ ॥

तनुरुहाणि पुरो विजितध्वनेर्धवलपक्षविहङ्गमकूजितैः ।
जगलुरक्षमयेव शिखण्डिनः परिभवोऽरिभवो हि सुदुःसहः ॥ ४५ ॥

तनुरुहाणीति । पुरोऽग्रे धवलपक्षविहङ्गमा हसपक्षिण 'हसास्तु श्वेतगरुतः' इत्यमरः । तेषां कूजितैर्विजितध्वने शिखण्डिनो मयूरस्य तनौ रुहाणि रूढानि तनुरुहाणि वर्हाणि । इगुपधलक्षण कप्रत्यय । अक्षमया हसकूजितैर्ष्ययेव जगलुर्गलन्ति स्म । कालप्रयुक्तस्य वर्हगलनस्याक्षमाहेतुकत्वमुत्प्रेक्ष्यत इति गुणहेतूत्प्रेक्षा । युक्त चैतदित्याह । अरिभव. परिभव. सुदुःसहः अत्यसह्यो हि । पराजयदुःखितस्याङ्गसादो युज्यत इति भाव । कारणेन कार्यसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यास' स च अक्षमोत्प्रेक्षया सङ्कीर्य्यते ॥ ४५ ॥

अनुवनं वनराजिवधूमुखे बहलरागजवाधरचारुणि ।
विकचबाणदलावलयोऽधिकं रुरुचिरे रुचिरे क्षणविभ्रमाः ॥ ४६ ॥

अनुवनमिति । अनुवन प्रतिवन वहलो रागो यस्या. सा चासौ जवा च । 'ओड्रपुष्प जपा' इत्यमरः । पुष्पेषु जातीप्रभृतित्वात् स्वलिङ्गता । सैवाधरस्तेन चारुणि रम्ये वनराजिरेव वधूस्तस्या मुख प्राग्भागः तदेव मुख वक्त्रमिति श्लिष्टरूपक तस्मिन् रुचिराणामीक्षणानां विभ्रम इव विभ्रम शोभा यासां ताः विकचबाणदलावलयो नीलझिण्टीपत्रपङ्क्तय' । 'बाणोऽस्त्री नीलझिण्ट्या च' इति वैजयन्ती । अधिक रुरुचिरे शुशुभिरे । उपमारूपकयो सङ्करः ॥ ४६ ॥

कनकभङ्गपिशङ्गदलैर्दधे सरजसारुणकेशरचारुभिः ।
प्रियविमानितमानवतीरुषां निरसनैरसनैरवृथार्थता ॥ ४७ ॥

कनकेति । कनकभङ्गाः स्वर्णखण्डा इव पिशङ्गानि दलानि येषां तै' सह रजसा सरजस "अचतुर" इत्यादिना साकल्यार्थेऽव्ययीभावे समासान्तो निपात । बहुव्रीह्यर्थे लक्षणया तु सरजस्का इत्यर्थः । अतएव न सरजसमित्यनव्ययीभाव इति वामनः । अथ वा महाकविप्रयोगप्राचुर्य्यदर्शनादव्ययीभावदर्शन प्रायिकमिति पक्षाश्रयणाद्बहुव्रीह्यर्थोऽपि साधुरेव । तथा च सरजसं

सरजसा वा ये अरुणकेशराः तैश्चारुभिः तथा प्रियैः विमानिता अवमानिता मानवत्यो मानिन्यः तासां या रुषो रोषास्तासान्निरसनैर्निरासकैः । अस्यतेः कर्त्तरि ल्युट् । असनैः । प्रियकप्रसूनैः । 'सर्जकासनबन्धूकपुष्पप्रियकजीवकाः' इत्यमरः । अवृथार्थता माननिरासकत्वादस्यन्तीत्यसनानीत्यन्वर्थनामकत्वं दधे दध्रे । दधातेः कर्मणि लिट् ॥ ४७ ॥

मुखसरोजरुचं मदपाटलामनुचकार चकोरदृशां यतः ।
धृतनवातपमुत्सुकतामतो न कमलं कमलम्भयदम्भसि ॥ ४८ ॥

मुखेति । धृतो नवातपो येन तद्धृतनवातपं बालातपताम्रमित्यर्थः । अम्भसि कमलं अम्भःस्थं कमलम् अम्भोग्रहणं स्थलकमलनिवृत्त्यर्थं अम्लानताद्योतनार्थं वा । यतो मदपाटलां चकोरदृशां स्त्रीणां मुखसरोजरुचं मुखारविन्दशोभामनुचकार । "अनुपराभ्यां कृञः" इति परस्मैपदनियमः ॥ अतोऽनुकरणाद्धेतोः कं पुमांसमुत्सुकतां प्रेयसीमुखावलोकनकौतुकितां नालम्भयत् नागमयत् । सर्वं चालम्भयदेव तत्स्मारकत्वादित्यर्थः । एतेनौत्सुक्यवस्तुना कार्य्येण कारणभूता कमलदर्शनोत्था मुखस्मृतिर्व्यज्यत इति वस्तुनालङ्कारध्वनिः । एतेन स्त्रीमुखसादृश्यात् कमलं स्वाधारेऽम्भसि पुंस उत्सुकतामलम्भयदिति रङ्गराजव्याख्यानम् 'काकस्य कार्ष्ण्याद्धवलः प्रसादः' इतिवदसङ्गतं मन्तव्यमिति । अलम्भयदिति लभेर्ण्यन्ताल्लङ् "लभेश्च" इति नुमागमः । लभेश्चात्र प्राप्त्युपसर्जनकगत्यर्थत्वात् "गतिबुद्धि" इत्यादिना अणि कर्त्तुः कर्म्मत्वे द्विकर्म्मता । गत्युपसर्जनकप्राप्त्यर्थत्वे तु वैपरीत्यमित्युक्तं मित सितिमेत्यत्र ॥ ४८ ॥

विगतशस्यजिघत्समघट्टयत्कलमगोपवधूर्न मृगव्रजम् ।
श्रुततदीरितकोमलगीतकध्वनिमिषेऽनिमिषेक्षणमग्रतः ॥ ४९ ॥

विगतेति । इषे आश्वयुजमासे । 'स्यादाश्विन इषोऽप्याश्वयुजः' इत्यमरः । कलमगोपी शालिगोप्त्री सा चासौ वधूश्च कलमगोपवधूः । "स्त्रियाः पुंवत्" इत्यादिना पुंवद्भावः । श्रुत आकर्णितस्तया वध्वा ईरितस्य आलापितस्य कोमलगीतकस्य मधुरगानस्य ध्वनिर्येन तं श्रुततदीरितकोमलगीतकध्वनिम् अत एवाग्रतोऽग्रे न निमिषति विस्मयानन्दाभ्यामित्यनिमिषम् । इगुपधलक्षणः कप्रत्ययः । तदीक्षणं यस्य तमनिमिषेक्षणम् । घस्तुमत्तुमिच्छा जिघत्सा । घसेरदादेशाद्वा सन्नन्तात् "अप्रत्ययात्" इति स्त्रियामप्रत्ययः । विगता सस्यस्य जिघत्सा यस्य तं विगतसस्यजिघत्सम् । उपसर्ज्जनाद्ध्रस्वः । मृगव्रजं नाघट्टयत् नाताडयत् । सिद्धे साधनाप्रयोगादिति भावः । अत्र दण्डसाध्ये मृगनिवारणे काकतालीयन्यायेन सुखार्थस्य गानस्य कारणत्वकथनात्समाधिरलङ्कारः । 'कारणान्तरयोगात् कार्य्यसुकरत्वं समाधिः' इति सूत्रात् ॥ ४९ ॥

कृतमदं निगदन्त इवाकुलीकृतजगत्त्रयमूर्ज्जमतङ्गजम् ।
ववुरयुक्छदगुच्छसुगन्धयः सततगास्ततगानगिरोऽलिभिः ॥ ५० ॥

कृतेति । अयुजो विषमाश्छदा येषान्ते अयुक्छदाः सप्तपर्णास्तेषां गुच्छैः स्तवकैः सुगन्धय शोभनगन्धाः गजमदगन्धिन इति भावः । अलिभिर्भृङ्गैः तता विस्तृता गानगिरो येषां ते अलिभिर्गीयमाना इत्यर्थः । सततं गच्छन्तीति सततगाः सदागतयो वायव इति यावत् । कृतमदं जनितमदम् अत एवाकुलीकृतजगत्त्रयम् ऊर्ज्जं कार्त्तिकः। 'बाहुलोर्ज्जौ कार्त्तिकिकौ' इत्यमरः । स एव मनङ्गज इति रूपकम् । तं निगदन्त इव अयमागच्छतीत्यावेदयन्त इव ववुः वान्ति स्म । मत्तमातङ्गगमनेऽप्येवंविधवायुवहनसम्भवादियमुत्प्रेक्षारूपकं त्वङ्गमस्या ॥ ९० ॥

विगतवारिधरावरणाः क्वचिद्ददृशुरुल्लसितासिलतासिताः ।
क्वचिदिवेन्द्रगजाजिनकंचुकाःशरदि नीरदिनीर्यदवो दिशः॥९१॥

विगतेति । शरदि यदवो यादवाः यदुशब्देन खुशब्दवत् तदपत्ये लक्षणा जनपदशब्दानामिव "तद्राजस्य बहुषु" इति लुक्सम्भवादिति । क्वचिद्विगतवारिधरावरणाः निवृत्तमेघावरणाः अतएवोल्लसिता कोशादुद्धृताऽसिलतेवासिलता तद्वदसिताः श्यामा इत्युपमा । क्वचन्नीरदिनीर्मेघवतीः शुभ्राभ्रपटलच्छन्ना इत्यर्थः । अतएवेन्द्रगजाजिनं ऐरावतचर्म्म तदेव कञ्चुकं कूर्पासको यासां ता इव स्थिता इत्युत्प्रेक्षा दिशो ददृशुः उक्तालङ्कारयोः संसृष्टिः ॥ ९१ ॥

विलुलितामनिलैः शरदङ्गना नवसरोरुहकेशरसम्भवाम् ।
विकरितुं परिहासविधित्सया हरिवधूरिव धूलिमुदक्षिपत्॥९२॥

विलुलितामिति । शरदेवाङ्गना इति रूपकं अनिलैर्विलुलितां विक्षोभितां नवसरोरुहकेशरसम्भवां धूलिं परागं परिहासविवित्सया नर्म्मरीतिचिकीर्षया । दधातेः सन्नन्तात् स्त्रियामप्रत्यये टाप् । हरिवधूः विकरितुं विक्षेप्तुमिव । " तुमन्ण्वुलौ क्रियायां क्रियार्थायाम्" इति तुमुन्प्रत्ययः । उदक्षिपत् प्रेरितवती । रूपकोज्जीवितेयमुत्प्रेक्षा । किरतिश्च कीर्य्यमाणकर्म्मा यथा रजः किरति मारुतः क्वचित्तत्कारकोद्देश्यकर्म्म, तथाऽत्रैवेति विवेकः ॥ ९२ ॥

हरितपत्रमयीव मरुद्गणैः स्रगवनद्धमनोरमपल्लवा ।
मधुरिपोरभिताम्रमुखी मुदं दिवि तता वितताम शुकावलिः॥९३

हरितेति । अभिताम्रमुखी । अरुणमुखी । " स्वाङ्गाच्चोपसर्जनात्" इत्यादिना विकल्पात् ङीप् । शुकावलिर्मरुद्गणैः सुमनोगणैर्दिवि तता हरिप्रियार्थमाकाशे वितता हरितानां हरिद्वर्णानां पत्राणां विकारो हरितपत्रमयी । " टिड्ढाणञ्" इत्यादिना विकल्पात् ङीप् । तथाऽवनद्धाः ग्रथिताः मनोरमाः पल्लवा यस्यां सा स्रगिवेत्युत्प्रेक्षा । मधुरिपोः कृष्णस्य मुदं वितताम ॥ ९३ ॥

स्मितसरोरुहनेत्रसरोजलामतिसिताङ्गविहङ्गहसद्दिवम् ।
अकलयन्मुदितामिव सर्वतः स शरदं शरदन्तुरदिङ्मुखाम्॥९४।

स्मितेति । स हरिः स्मितानि विकसितानि सरोरुहाण्येव नेत्राणि येषु तानि सरोजला। यस्या ता तथोक्तामतिसिताङ्गाः धवलपक्षा ये विहङ्गा हसास्तैर्हसन्ती स्मयमानेव स्थिता चौर्य स्यां ता तथोक्ता शरैस्तृणविशेषैर्दन्तुराण्युन्नतदन्तानि हासात्प्रकाशदशनानीति यावत् । ' दन्त उन्नत उरच् " इत्युरच् प्रत्ययो मत्वर्थीयः । तानि दिङ्मुखानि यस्या ता शरदन्तुरदिङ्मुखां शरद सर्वतो मुदितामिवाकलयत सर्वत्र नेत्रविकासादिलिङ्गैर्हृष्टामिवामन्यतेत्यर्थः । अत्र सरोजहंसशरेपु नेत्रहासदन्तत्वारोपणाद्रूपकालङ्कारः । तद्वशात्प्रतीयमानाङ्गनाभेदाध्यवसायाच्छरदि मुदितत्वोत्प्रेक्षेति सङ्करः । इति शरद्वर्णनम् ॥ ९४ ॥

अथ हेमन्त वर्णयति-

गजपतिद्वयसीरपि हैमनस्तुहिनयन् सरितः पृषताम्पतिः ।
सलिलसन्ततिमध्वगयोषितामतनुतातनुतापकृतं दृशाम् ॥९५॥

गजपतीति । गजपतिः प्रमाणमासा गजपतिद्वयसी महागजप्रमाणा । ' प्रमाणे द्वयसज्दघ्नञ्मात्रच " इति प्रमाणार्थे द्वयसच् प्रत्ययः " टिड्ढाणञ् " इत्यादिना ङीप् । ता अपि सरितस्तुहिनयन् हिमीकुर्वन् । " तत्करोति " इति ण्यन्ताल्लटः शत्रादेशः । हेमन्ते भवो हैमनः " सर्वत्राण् च तलोपश्च " इति हेमन्तशब्दाच्छैषिकोऽण्प्रत्ययः तकारलोपश्च । पृषता बिन्दूनां पतिर्वायुः । ' पृषन्ति बिन्दुपृषताः ' इत्यमरः । अध्वानं गच्छन्तीत्यध्वगाः पथिकाः । " अन्तात्यन्ताध्वदूरपारसर्वानन्तेषु डः " इति डप्रत्ययः । तद्योषिता प्रोषितभर्तृकाणा दृशामतनुतापकृतं महासन्तापकारिणीं सलिलसन्ततिम् अतनुत उष्णमश्रूत्पादयामासेत्यर्थः । हेमन्तमारुतो विरहिणीदुःसहोऽजनीति भावः ॥ ९५ ॥

सर्वदापि वियोगिनामुद्दीपकवायोर्हेमन्ते वैशिष्ट्यमाचष्टे-

इदमयुक्तमहो महदेव यद्वरतनोः स्मरयत्यनिलोऽन्यदा ॥
स्मृतसयौवनसोष्मपयोधरान्सतुहिनस्तुहिनस्तु वियोगिनः ॥९६॥

इदमिति । अनिलो वायुरन्यदाऽन्यस्मिन् काले ग्रीष्मादावित्यर्थः । " सर्वैकान्य " इत्यादिना दाप्रत्ययः । वियोगिनो वियुक्तान् । "गतिबुद्धि" इत्यादिना अणिकर्तुः कर्मत्वम् । वरतनोर्वरतनुमित्यर्थः । " अधीगर्थ " इत्यादिना कर्मणि शेषे षष्ठी । स्मरयतीति यत् । स्मरतेराध्याने मित्त्वाद्ध्रस्वत्वम् । इदं स्मारकत्वमपि महदत्यन्तमयुक्तमेव । सहकारिविरहादिति भावः । अहो अत्यन्ताकिञ्चित्करत्वाद्विस्मयः । हेमन्ते तु हन्तृत्वमप्यस्य सम्भवतीत्याह । सतुहिनस्तुहिनसहितस्तु सयौवना यौवनयुक्ताः अत एव सोष्माणो ये पयोधराः कुचास्ते स्मृता यैस्तान् स्मृतसयौवनसोष्मपयोधरान् वियोगिनो वियुक्तान् । " तथायुक्तं चानीप्सितम् " इति कर्मत्वम् । हिनस्तु हन्तु । सम्भावनायां लोट् । हेमन्ते हि हिमसहकारात्कुचोष्मैकसाध्यदुःखोत्पादनसामर्थ्याद्वियोगिमारकत्वमपि सम्भाव्यते , ग्रीष्मादौ तु तादृक्सहकारिविरहात् स्मारकत्व-

मप्ययुक्तमित्यर्थः । अमारके मारकसम्बन्धोक्तरतिशयोक्तिभेदः । इह सहजकविप्रौढोक्तिसिद्धयो-रभेदाध्यवसाय इति रहस्यम् ॥ ५६ ॥

प्रियतमेन यया सरुषा स्थितं न सहसा सहसा परिरभ्य तम् ।
श्लथयितुं क्षणमक्षमताङ्गना न सहसा सहसा कृतवेपथुः ॥ ५७ ॥

प्रियतमेनेति । अत्राद्यपर्याये न सहसा इति त्रेधा विभागः अन्यत्र सहसेत्येक पदम् । सरुषा सरोषया यया स्त्रिया । कर्त्र्या । प्रियतमेन सह न स्थितम् । नपुंसके भावे क्तः । सा अङ्गना स्त्री सहसा मार्गशीर्षमासेन । 'मार्गशीर्षे सहा मार्गः' इत्यमरः । कृतवेपथु' जनितकम्पा सती । "ट्वितोऽथुच्" इत्यथुच् प्रत्ययः । त पूर्वमगणितमेव प्रियं हसेन सह वर्त्तत इति सहसा सहास्या सती । 'अथो हस' । हासो हास्य च' इत्यमर. । "रवनहसोर्वा" इति विकल्पाद'प्रत्ययः । सहसा शीघ्रम् । स्वरादिपाठादव्ययत्वम् । परिरभ्याश्लिष्य क्षण क्षणमपीत्यर्थः । अन्यथा वैरस्यात् । अतएव सामर्थ्यलभ्यार्थत्वादपेरप्रयोगः । श्लथयितु नाक्षमत शिथिलीकर्तु नोत्सहतेत्यर्थः । मानिनीमानभञ्जनक्षमोऽयं मास इति भावः । कलहान्तरितेयं नायिका 'कोपात्कान्त पराणुद्य पश्चात्तापसमन्विता' इति लक्षणात् ॥ ५७ ॥

भृशमदूयत याधरपल्लवक्षतिरनावरणा हिममारुतैः ।
दशनरश्मिपटेन च शीत्कृतैर्निवसितेव सितेन सुनिर्ववौ ॥५८॥

भृशमिति । अनावरणा आवरणरहिता या अधरपल्लवस्य क्षतिर्व्रणो हिममारुतैर्भृशमदूयत अतप्यत । दूङो दैवादिकात् कर्त्तरि लङ् । सा क्षतिर्यत्तदोर्नित्यसम्बन्धः । शीत्कृतैः शीत्कारैः । कर्तृभिः । सितेन शुभ्रेण दशनरश्मय एव पटस्तेन करणेन । निवसितेवाच्छादितेवेत्युत्प्रेक्षा । वसेराच्छादनार्थात्कर्मणि क्तस्येडागम' । सुनिर्ववौ सुष्टुनिर्ववार । शीतालुराच्छाद्यत इति भावः । हिमहताधरनिर्व्रणस्य शीत्कारकारणकस्य दशनरश्मिपटाच्छादने हेतुत्वोत्प्रेक्षणाद्रूपकोत्प्रेक्षयोः सङ्कर ॥ ५८ ॥

उक्तमेवार्थ भङ्ग्यन्तरेणाह—

व्रणभृता सुतनोः कलशीत्कृतस्फुरितदन्तमरीचिमयं दधे ।
स्फुटमिवावरणं हिममारुतैर्मृदुतया द्रुतयाधरलेखया ॥ ५९ ॥

व्रणेति । मृदुतया मार्दवेन । हेतुना । हिममारुतैर्द्रुतया पीडितया । 'टुदुञ् उपतापे' इति धातो. सौवादिकात्कर्मणि क्तः । व्रणभृता दन्तव्रणवत्या सुतनोः स्त्रिया. अधरो लेखेव तया अधरलेखया । कर्त्र्या । कलेन शीत्कृतेन । हेतुना स्फुरिताः प्रकाशिता ये दन्तमरीचयस्तन्मय तद्रूप स्फुटमावरणमाच्छादनं दध इव धृतमिवेत्युत्प्रेक्षा । दधातेः कर्मणि लिट् ॥ ५९ ॥

धृततुषारकणस्य नभस्वतस्तरुलताङ्गुलितर्जनविभ्रमाः ।
पृथु निरन्तरमिष्टभुजान्तरं वनितयानितया न विषेहिरे ॥६०॥

धृतेति । धृतास्तुषारकणास्तुहिनशीकरा येन तस्य नभस्वतः पवनस्य सम्बन्धिनः तरुलता एवाङ्गुल्यस्ताभिस्तर्जनानि यानि तान्येव विभ्रमा विलासाः पृथुविशालमिष्टस्य दयितस्य भुजान्तरं भुजमध्यं वक्षःस्थलं निरन्तरमनितया अप्राप्तया गाढालिङ्गनमलभमानया इत्यर्थः । इणः कर्त्तरि क्तः । वनितया स्त्रिया न विषेहिरे न सोढाः । विरहिण्यस्तर्जिता इव नभस्वतो बिभ्यतीति भावः ॥ ६० ॥

हिमऋतावपि ताः स्म भृशस्विदो युवतयः सुतरामुपकारिणि ।
प्रकटयत्यनुरागमकृत्रिमं स्मरमयं रमयन्ति विलासिनः ॥६१॥

हिमेति । स्मरमयं स्मरादागतं स्मरप्रयुक्तमित्यर्थः । "तत आगतः" इति मयट् । अकृत्रिममनुरागं सहजं प्रेम प्रकटयति प्रकटीकुर्वाणे । तत्कार्येण स्वेदेनेति भावः । अत एव सुतरामुपकारिणि पुंसां रिरंसाजननात्तेभ्यः स्वानुरागप्रकाशनाच्चात्यन्तोपकर्त्तरीत्यर्थः । एवम्भूत-हिमऋतौ हेमन्तेऽपि स्वेदसम्भावनारहितकालेऽपीत्यर्थः । साहितः "ऋत्यकः" इति प्रकृतिभावः । भृशं स्विद्यन्ति रागोष्मणा भृशस्विद इति सात्त्विकोक्तिः । क्विप् । हेमन्तोऽपि रागिणां स्वेदहेतुरेव तद्धेतुरागहेतुत्वादिति भावः । तास्तथा धीरा युवतयो विलासिनः प्रियान् रमयति स्म हेमन्तस्योद्दीपकत्वादिति पीडाश्रमत्वान् दीर्घरात्रित्वाच्चोभयेच्छामदशमरमन्तेत्यर्थः ॥ इति हैमन्तवर्णनम् ॥ ६१ ॥

अथ शिशिरं वर्णयति—

कुसुमयन्फलिनीरलिनीरवैर्मदविकाशिभिराहितहुंकृतिः ।
उपवनं निरभर्त्सयत प्रियान्वियुवतायुवतीः शिशिरानिलः ॥६२॥

कुसुमयन्नित्यादिना । उपवनं वनं इत्यर्थः । विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः । "तृतीयासप्तम्योर्बहुलम्" इति विकल्पादम्भावः । फलिनी प्रियङ्गुलता । 'प्रियङ्गुः फलिनी फली' इत्यमरः । कुसुमयन् कुसुमवतीः कुर्वन् । इत्युद्दीपनसामग्रीवर्णनम् । कुसुमयतेर्मत्वन्तप्रकृतिकात् "तत्करोति" इति ण्यन्तात् लटः शत्रादेशः । णाविष्ठवद्भावे "विन्मतोर्लुक्" मदविकाशिभिर्मदेन विजृम्भमाणैरलिनीरवैः भृङ्गीहुङ्कारैराहितहुङ्कृतिः कृतहुङ्कारः माधुर्याद्युद्दीपकत्वातिशयद्योतनार्थमलिनीति स्त्रीलिङ्गनिर्देशः । शिशिरानिलः प्रियान्वियुवतीः कोपाद्वियुञ्जानाः । यौतेः शतरि धातोरुवङादेशः "उगितश्च" इति ङीप् । युवतीः वधूः "यूनस्तिः" इति तिप्रत्ययः । निरभर्त्सयत अतर्जयत तर्जिभर्त्स्योश्चौरादिकयोरनुदात्तेत्त्वादात्मनेपदम् । अत्र वायौ अचेतने चेतनधर्मो निर्भर्त्सनमुत्प्रेक्ष्यते सा चालिनीहुङ्कारझङ्काराज्जीवितेति रूपकसङ्कीर्णा व्यञ्जकाप्रयोगाद्गम्या च ॥ ६२ ॥

उपचितेषु परेष्वसमर्थतां व्रजति कालवशाद्बलवानपि ।
तपसि मन्दगभस्तिरभीषुमान्नहि महाहिमहानिकरोऽभवत् ॥ ६३ ॥

उपचितेष्विति । कालवशाद्बलवानपि परेषु शत्रुषु उपचितेषु प्रवृद्धेषु सत्सु असमर्थतां दौर्बल्यं व्रजति । हि यस्मात्तपसि माघमासे 'तपा माघे' इत्यमरः । मन्दगभस्तिर्मृदुरश्मिरभीषुमानंशुमान् 'अभीषुः प्रग्रहे रश्मौ' इत्यमरः । महत उपचितस्य हिमस्य हानिं नाशं करोतीति महाहिमहानिकरस्तद्धेतुर्नाभवत् । "कृञो हेतु" इत्यादिना हेत्वर्थे टप्रत्ययः । विशेषेण सामान्यसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ ६३ ॥

अभिषिषेणयिषुं भुवनानि यः स्मरमिवाख्यत लोध्ररजश्चयः ।
क्षुभितसैन्यपरागविपाण्डुरद्युतिरयं तिरयन्नुदभूद्दिशः ॥ ६४ ॥

अमीति । क्षुभित उद्धतो यः सैन्यपरागः सेनारजः स इव विपाण्डुरद्युतिः शुभ्रवर्णः यो लोध्ररजश्चयः भुवनान्यभिषिषेणयिषुं सेनया अभियातुमिच्छन्तम् । 'यत्सेनयाभिगमनमरौ तदभिषेणनम्' इत्यमरः । "सत्यापपाश" इत्यादिना सेनाशब्दात् णिचि सनि "सनाशंसभिक्ष उः" इति उप्रत्ययः । "स्थादिष्वभ्यासेन" इत्यादिना धात्वभ्याससकारयोः षत्वम् । स्मरमाख्यतेव ख्यापयामासेवेत्युत्प्रेक्षा । 'चक्षिङः ख्याञ्' "अस्यतिवक्तिख्यातिभ्योऽङ्" इति च्लेरङादेशः । अथ लोध्ररजश्चयो दिशः तिरयन् तिरस्कुर्वन् । तिरःशब्दात् "तत्करोति" इत्यादिना ण्यन्ताल्लटः शत्रादेशः णाविष्ठवद्भावे टिलोपः उदभूत् ॥ ६४ ॥

शिशिरमासमपास्य गुणोऽस्य नः क इव शीतहरस्य कुचोष्मणः ।
इति धियास्तरुषः परिरेभिरे घनमतो नमतोऽनुमतान्प्रियाः ॥ ६५ ॥

शिशिरेति । शिशिरमासमपास्यापहाय शीतं हरतीति तस्य शीतहरस्य । "हरतेरनुद्यमनेऽच्" इत्यच् प्रत्ययः । नोऽस्माकमस्य कुचोष्मणः कुचोष्णस्य क इव गुणः किं फलम् । सम्पाद्यत इति शेषः । गम्यमानक्रियापेक्षया क्त्वानिर्देशः । इवशब्दो वाक्यालङ्कारे । इति धियाऽतोऽस्मिन् शिशिरमासे । सार्वविभक्तिकस्तसिः । प्रिया कान्ता अस्तरुषो निरस्तरोषाः सत्यो नमतः प्रणतानुमतान् स्वप्रियान् घनं निबिडं परिरेभिरे आश्लिष्टवत्यः । इति धियेति सुखार्थस्य परिरम्भस्य कुचोष्मसाफल्यार्थत्वमुत्प्रेक्ष्यते व्यञ्जकाप्रयोगाद्गम्यत्र च ॥ ६५ ॥

अधिलवङ्गममी रजसाधिकं मलिनिताः सुमनोदलतालिनः ।
स्फुटमिति प्रसवेन पुरोऽहसत्सपदि कुन्दलतादलतालिनः ॥ ६६ ॥

अधीति । लवङ्गेष्वधिलवङ्गम् । विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः । सुमनसां पुष्पाणां दलेषु ताल्यन्ति प्रतितिष्ठन्तीति सुमनोदलतालिनः । ताच्छील्ये आभीक्ष्ण्ये वा णिनिः । अमी अलिनो मधुपाः रजसा परागेणार्तवेन च अधिकं मलिनाः मलीमसाः पापिनश्च कृताः मलिनिताः

इति हेतोः पुरोऽग्रे सपदि कुन्दलता माघ्यवल्ली । 'माघ्यं कुन्दम्' इत्यमरः । दलना विकसत प्रसवेन निजकुसुमेन अहसत् जहास स्फुटमित्युत्प्रेक्षायाम् । रजस्वला गन्तार कामिन सपत्न्यो हसन्तीति भावः । कुन्दकुसुमस्य धावल्याद्धासत्वेनोत्प्रेक्षा ॥ ६६ ॥

अथ यमकविशेषकौतुकितया कविः पुनर्द्वादशभिर्ऋतून्वर्णयन्नाद्यैश्चतुर्भिर्वसन्त वर्णयति–

अतिसुरभिरभाजि पुष्पश्रियामतनुतरतयेव सन्तानकः ।
तरुणपरभृतः स्वनं रागिणामतनुत रतये वसन्तानकः ॥ ६७ ॥

अतिसुरभिरिति । अतिसुरभिरत्यन्तसुगन्धिः सन्तानकः कल्पवृक्ष' पुष्पश्रिया पुष्पसम्पदाम् अतनुतरतया महत्तरत्वेन । अतनुशब्दात्तरबन्तात्तल्प्रत्यय' । अभाजीवाभाजीवेत्युत्प्रेक्षा । तथा नम्र इत्यर्थः । "भञ्जेश्च चिणि" इति विभाषा नलोपे उपधावृद्धि., चिणो लुक् किञ्च वसन्तस्यानको वसन्तानक दुन्दुभिरिति रूपकम् । तरुणपरभृतस्तरुणकोकिलो रागिणा कामिनां रतये रागवर्द्धनाय स्वनमतनुत । मधुर चुकूजेत्यर्थः । प्रभावृत्तम् । स्वरशरविरतिर्ननौ रौ प्रभा' इति लक्षणात् ॥ ६७ ॥

नोज्झितुं युवतिमाननिरासे दक्षमिष्टमधुवासरसारम् ।
चूतमालिरलिनामतिरागादक्षमिष्ट मधुवासरसारम् ॥ ६८ ॥

नोज्झितुमिति । अरमत्यन्तमिष्टेष्वीप्सितेषु मधुषु मकरन्देषु वासे वसतौ रसो रागो यस्याः सा इष्टमधुवासरसा । मधुपानप्रियेत्यर्थः । अत एवालिनामालिर्भृङ्गश्रेणिर्युवतिमाननिरासे दक्षं कुशलम् । उद्दीपकत्वादिति भावः । मधुवासरेषु वसन्तदिनेषु सार श्रेष्ठं मधुवासरसारम् । तत्कालश्लाघ्यमित्यर्थ. । चूत सहकारम् अतिरागादतिलौल्यादुज्झितुं हातु नाक्षमिष्ट नाशकिष्ट । क्षमेर्भौवादिकाल्लुङ् । स्वागता वृत्तम् । "स्वागतेति रनभाद्गुरुयुग्मम् इति ॥ ६८ ॥

जगद्वशीकर्तुमिमाः स्मरस्य प्रभावनीकेतनवै जयन्तीः ।
इत्यस्य तेने कदलीमधुश्रीः प्रभावनी केतनवैजयन्तीः ॥ ६९ ॥

जगदिति । प्रभावयतीति प्रभावनी सम्पादयित्री । कर्तरि ल्युटि ङीप् । मधुश्रीः कर्त्री । जगद्वशीकर्तु प्रभौ समर्थे अस्य स्मरस्यानीके सैन्ये जयन्तीर्जित्वरी. केतनवैजयन्तीर्ध्वजपताकास्तनवै करवाणि । तनोतेः प्राप्तकाले लोट् टेरेत्वमित्येकारः । "एतऐ" "आडुत्तमस्य पिच्च" इति आटि "आटश्च" इति वृद्धिः । इति मनीषयेति शेषः । इमाः कदलीः रम्भातरून् तेने वितस्तार । 'कदली वारणबुसा रम्भा मोचांशुमत्फला' इत्यमरः । कदलीषु कामवैजयन्तीत्वोत्प्रेक्षा । वृत्तमुपजातिः ॥ ६९ ॥

स्मररागमयी वपुस्तमिस्रा परितस्तार रवेरसत्यवश्यम् ।
प्रियमाप दिवापि कोकिले स्त्री परितस्ताररवे रसत्यवश्यम् ॥७०॥

स्मरेति । असती दुष्टा स्मरेण कामेन निमित्तेन यो रागो रमणेच्छा स एव तन्मयी नाम्ना तमस्नोम । तमिस्रा तिमिरे रोगे तमिस्रा तु तमस्ततौ । कृष्णपक्षनिशायां च' इति विश्वः । रवेर्वपुर्मण्डलं परितस्तार आवव्रे । अहनि रजनीमिव जनयामासेत्यर्थः । परिपूर्वात् स्तृणातेर्लिट् । अवश्यं सत्यमित्यर्थः । कुतः परितः समन्तात्ताररवे उच्चतरध्वनौ कोकिले रसति कूजति सति इत्युद्दीपकोक्तिः । स्त्री । स्त्रिय इत्यर्थः । जातावेकवचनम् । दिवेति सप्तम्यर्थेऽव्ययम् । वश गतौ वश्य । "वश गतः" इति यत् प्रत्ययः । न वश्यस्तमवश्यम् । अवश गन्तमपीत्यर्थः । प्रियमाप स्वयमभिससारेत्यर्थः । यदवगणयन्तमपि प्रियं दिवापि मानमवगणय्य निषेधं चोल्लङ्घ्य समगच्छन् तत्सत्यम् । रागतिमिरतिरोहितमानभानुमण्डला मानिन्य इति रूपकानुप्राणिता प्रियाप्तिक्रियानिमित्ता परिस्तरणक्रियास्वरूपोत्प्रेक्षा अवश्यमिति व्यञ्जकप्रयोगाद्वाच्या । औपच्छन्दसिकं वृत्तम् । "विषमे ससजा गुरू समे चेत् स्भरयाश्छन्दसिकं तदौपपूर्वम्" इति लक्षणात् ॥ ७० ॥

अथैकेन ग्रीष्ममाह—

वपुरम्बुविहारहिमं शुचिना रुचिरं कमनीयतरा गमिता ।
रमणेन रमण्यचिरांशुलतारुचिरङ्कमनीयत रागमिता ॥ ७१ ॥

वपुरिति । शुचिना ग्रीष्मेण । प्रयोजककर्त्रा । अम्बुविहारेण जलक्रीडया हिमं शीतलम् अत एव रुचिरमुज्ज्वलं वपुर्देहं गमिता प्रापिता । "गतिबुद्धि" इत्यादिना अणि कर्तुः कर्म्मत्वम् । "प्रधानकर्म्मण्याख्येये लादीनाहुर्द्विकर्म्मणाम्" इति अभिहितत्वं च अत एव कमनीयतरा रमणीयतरा अचिरांशुलतेवाचिरांशुलता विद्युलता तस्या रुचिरिव रुचिर्यस्याः सा अचिरांशुलतारुचि इत्युपमाद्वयम् । तथा रागमनुरागमिता प्राप्ता । इणः कर्त्तरि क्तः । रमणी रमणेन प्रियेणाङ्कमुत्सङ्गमनीयत नीता । "नीह्वकृष्मथिवहिग्रहाम्" इति नयतेर्द्विकर्म्मकता शेषं पूर्ववत् । तोटकं वृत्तम् ॥ ७१ ॥

अथ द्वाभ्यां वर्षर्तुं वर्णयति—

मुदमब्दभुवामपां मयूराः सहसायन्त नदी पपाट लाभे ।
अलिनारमतालिनी शिलीन्ध्रे सह सायन्तनदीपपाटलाभे ॥७२॥

मुदमिति अब्दभुवां मेघप्रभवानाम् अपां लाभे मेघे वर्षति सतीत्यर्थः सहसा मयूरा मुदमानन्दमायन्तालभन्त । 'अय गतौ' लुङि "आडजादीनाम्" इत्याडागमे वृद्धिः नदी पपाट नद्यः आवहन्नित्यर्थः । 'अट पट गतौ' लिट् । जातावेकवचनम् अलिना भृङ्गेण सह सायन्तनः सायम्भवः । "सायञ्चिरम्" इत्यादिना ट्युप्रत्ययः तुडागमश्च । स चासौ दीपश्च तद्वत्पाटलाभे

पाटलप्रभे इत्युपमालङ्कार. । तस्मिन् शिलीन्ध्रे कन्दलीकुसुमे अलिनी अरमत । अत्र नत्रर दप्राप्त्याद्यनेककर्तृकक्रियायौगपद्याद्भिन्नाधिकरणक्रियासमुच्चयरूप समुच्चयालकारभेद । गु" क्रियायौगपपद्य समुच्चयः' इति सामान्यलक्षणम् । औपच्छन्दसिक वृत्तम् ॥ ७२ ॥

कुटजानि वीक्ष्य शिखिभिःशिखरीन्द्रं समयावनौ घनमद-भ्रमराणि । गगनं च गीतनिनदस्य गिरोच्चैः समया वनौघन-सदभ्रमराणि ॥ ७३ ॥

कुटजानीति । शिखरीन्द्र समया रैवतकाद्रि समीपे । "अभित. परितः समया" इत्यादिना द्वितीया । अवनौ प्रदेशे वनमदा भ्रमरा येषु तानि वनमदभ्रमराणि । कुटजानि कुटजकुसुमानि वनौघेन पय पूरेण नमन्त्यभ्राणि मेघा यस्मिम्तत् वनौघनमदभ्रम् । 'पय.कीलालममृत जीवन भुवन वनम्" इत्यमर' । गगन च वीक्ष्य शिखिभिर्मयूरैर्गीतनिनदस्य गानध्वने' समया तु ल्यया "तुल्यार्थै " इत्यादिना वैकल्पिकी षष्ठी । गिरा वाचा केकयेत्यर्थ. । उच्चैरराणि रणितम् । ' रण शब्दे' भावे लुङ्, चिणो लुक् । कुटजा वृत्तम् । 'सजसा भवेदिह सगौ कुटजाख्यम्' इति लक्षणात् ॥ ७३ ॥

अथ त्रिभि शरद वर्णयति-

अभीष्टमासाद्य चिराय काले समुद्धताशा कमनी चकासे । योपिन्मनोजन्मसुखोदयेषु समुद्धताशंकमनीचकाश ॥ ७४ ॥

अभीष्टमित्यादि । कामयत इति कमनी कामयित्री । 'कम्र' कामयिताभीक कमनः कामनोऽभिकः' इत्यमरः । कमे कर्तरि ल्युटि ङीप् । योषित् । जातावेकवचनम् । अनीचा उन्नताः काशा अश्ववाला यस्मिन् अनीचकाशे काले शरदीत्यर्थ । मनोजन्मसुखोदयेषु कामसुखाविर्भावेषु धृता आशा अभिलाषो येन तम् अभीष्ट प्रिय चिराय चिरकालेन 'चिराय चिररात्राय' इत्यमरः । सम्यगुद्धृता उत्सृष्टा आशङ्का सङ्कोचो यस्मिन् कर्मणि तत्समुद्धृताशङ्क निःशङ्कं यथा तथा आसाद्य प्राप्य मुदा सह वर्तत इति समुत् सानन्दा सती चकाशे । विललासेत्यर्थ' । अत्र समुचकाश इति योषितः प्रियप्राप्तिनिमित्तहर्षाख्यभावनिबन्धनात्प्रेयोऽलङ्कार । रसभावतदाभासतत्प्रकाशसमानाना निबन्धे रसवत्प्रेयऊर्जस्विसमाहितानि" इति लक्षणात् । वृत्तमुपजाति ॥ ७४ ॥

स्तनयोः समयेन यांगनानामभिनद्धारसमा न सारसेन । परिरम्भरुचिं ततिर्जलानामभिनद्धा रसमानसारसन ॥ ७५ ॥

स्तनयोरिति । रसमानाः कूजनशीला । "ताच्छील्यवयोवचनशक्तिषु चानश्" इति ताच्छील्ये चानश् प्रत्ययः । रमते परस्मैपदित्वान्न शानच् प्रत्ययः । ते सारसा. पक्षिविशेषाः यस्मिन् तेन रसमानसारसेन समयेन । शरत्कालेनेत्यर्थः । सरसाना तत्रैव सम्भवात् ।

'सारसो मैथुनी कामी गोनर्दः पुष्कराह्वयः' इति यादव.। अगनाना स्तनयोर्या जलानां ततिः शारद्रोष्मजन्मा स्वेदोदबिन्दुसन्दोहः अभितो नद्धा अभिनद्धा । नह्यतेरभिपूर्वात्कर्म्मणि क्तः । " नहोधः " इति धत्वम् । हारसमा मुक्ताहारतुल्या । कुचमण्डलमण्डनायमानेति भावः । सा जलानां ततिः रसेन रागेण । हेतुना बलीयसेति भावः । परिरम्भरुचिमालिङ्गनेच्छां नाभिनत् न बिभेद । शारदस्वेदस्याप्यलङ्कारतया, उद्दीपकस्याजुगुप्सितत्वान्निःसपत्नशृङ्गारा विजयन्त इत्यर्थः । अत एव रसनिबन्धनाद्रसवदलङ्कारः । लक्षणमुक्त पूर्वश्लोके । औपच्छन्दसिक वृत्तम् ॥ ७५ ॥

जातप्रीतिर्या मधुरेणानुवनान्तं कामे कान्ते सारसिकाकाकुरुतेन । तत्सम्पर्कं प्राप्य पुरा मोहनलीलां कामेकान्ते सा रसिका का कुरुते न ॥ ७६ ॥

जातेति । या स्त्री अनुवनान्तम् । विभक्त्यर्थेऽव्ययीभाव । मधुरेण श्राव्येण सारसिकाकाकुरुतेन सारस्य एव सारसिकाः सारसाङ्गनाः कात्पूर्वस्येत्वम् । तासां काकुरुतेन विकृतशब्देन ' काकुः स्त्रिया विकारो यः शोकभीत्यादिभिर्ध्वने ' इत्यमरः । काकुश्च तद्रुत च तेन कामे कामकले । सिंहो देवदत्त इतिवद्गौणप्रयोगः । कान्ते प्रिये जातप्रीति. जातस्नेहा अभूत् । रसिका रसवती रागवतीत्यर्थ. । " अत इनिठनौ " इति ठन्प्रत्यय. । सा का स्त्री एकान्ते रहसि तस्य कान्तस्य सम्पर्क प्राप्य पुरा पुरुषप्रेरणात्पूर्वमेकां मोहनलील सुरतक्रीडां न कुरुते । सर्वाऽपि स्त्री सर्वानपि सुरतविशेषान् कामतन्त्रप्रसिद्धान् विस्रब्धञ्चकारेत्यर्थ । तेन शृङ्गारस्य पराकाष्ठा प्राप्तेत्युक्तम् । मत्तमयूर वृत्तम् ॥ ७६ ॥

अथैकेन हेमन्तमाह—

कान्ताजनेन रहसि प्रसभं गृहीतकेशे रते स्मरसहासवतोषितेन। प्रेम्णा मनःसु रजनीष्वपि हैमनीषु केशेरते स्म रसहासवतोषितेन

कान्तेति । सहत इति सहः पचाद्यच् । स्मरस्य सह कामोद्दीपक इत्यर्थः । तेनासवेन तोषितः तेन स्मरसहासवतोषितेन अत एव रसहासावस्य स्त इति तेन रसहासवता रागहास्यवता अत एव प्रेम्णा मनस्सु पुसां चित्तेषु उषितेन वसता वसतेः कर्त्तरि क्तः "वसतिक्षुधोरिट्" इतीडागमः । ' गतिबुद्धि ' इत्यादिसूत्रे चकाराद्वर्त्तमानार्थता । कान्तैव जनस्तेन कान्ताजनेन । जातावेकवचनम् । प्रसभ रहसि बलाद्गृहीतकेशे आकृष्टशिरोरुहे रते सुरते हेमन्ते भवा हेमन्त्यस्तासु हैमनीषु अपि । द्राघीयसीष्वपीति भावः " सर्वत्राण् च तलोपश्च " इति हेमन्तशब्दादण् प्रत्ययः तकारलोपश्च " टिड्ढाणञ् " इत्यादिना ङीप् । रजनीषु के युवानःशेरते स्म स्वपन्ति स्म न केऽपीत्यर्थः । " लट् स्मे " इति भूते लट् । एतेनातिभूमिङ्गतः श्रृङ्गार इति व्यज्यते । वसन्ततिलका वृत्तम् ॥ ७७ ॥

अथैकेन शिशिरं वर्णयति—

गतवतामिव विस्मयमुच्चकैरसकलामलपल्लवलीलया ।
मधुकृतामसकृद्गिरमावली रसकलामलपल्लवलीलया ॥ ७८ ॥

गतवतामिति । असकलामलपल्लवलीलया असकला असमग्रविकासिनोऽमला निर्मला ये पल्लवास्तेषा लीला तया नृत्यरूपयेत्यर्थः । विस्मयङ्गतवतामिव स्थितानामिवेत्युत्प्रेक्षा । मधुकृता मधुकराणा सम्बन्धिनी लवलीषु लताविशेषेषु लयो लयन स्थितिर्यस्याः सा लवलीलया आवलिः पक्तिः रसकला रसेन मध्वास्वादेन कलामव्यक्तमधुराम् । 'ध्वनौ तु मधुरास्फुटे । कलः ' इत्यमरः । गिर वाचमसकृदुच्चैरलपत् । मधुमदहेतुकस्य मधुरालापस्य पल्लवलीलया जनितविस्मयहेतुकत्वमुत्प्रेक्ष्यत इति गुणहेतूत्प्रेक्षा द्रुतविलम्बित वृत्तम् ॥ ७८ ॥

कुर्वन्तमित्यतिभरेण नगानवाचः पुष्पैर्विरागमलिनां च न
गानवाचः। श्रीमान्समस्तमनुसानु गिराविहर्तुं बिभ्रत्यचोदि
स मयूरगिरा विहर्तुम् ॥ ७९ ॥

इति श्रीमाघकविकृतौ शिशुपालवधे महाकाव्ये ऋतुवर्णनं
नाम षष्ठः सर्गः ॥ ६ ॥

कुर्वन्तमिति । इतीत्थ पुष्पैरेवातिभरेण महाभरेणतत्कृतेन वा गौरवेण नगान्वृक्षानवाचन्तीत्यवाचो नम्रान् । अञ्चेरवपूर्वात् 'ऋत्विक्' इत्यादिना क्विन्प्रत्ययः । कुर्वन्तमलिना गानवाचो गीतध्वनेर्झङ्कारस्य च न विराममविराममसमाप्ति कुर्वन्त समस्तमृतु सर्वानृतून् अनुसानु सानुष्वित्यर्थ. । विभक्त्यर्थेऽव्ययीभाव. । बिभ्रति बिभ्राणे इह गिरौ रैवतकाद्रौ विहर्तुं क्रीडितुं श्रीमान्स हरिः मयूरगिरा केकया अचोदि प्रेरित. । भगवन्निह विहर ऋतुगणमनुगृहाणेति प्रार्थित इवेत्युत्प्रेक्षा व्यञ्जकाप्रयोगाद्गम्या । वृत्तमुक्तम् ॥ ७९ ॥

इति श्रीमहामहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचिते माघकाव्यव्याख्याने सर्वङ्कषाख्ये षष्ठ सर्ग ॥ ६ ॥

सप्तमः सर्गः ।

इत्थमृतुगणप्रादुर्भावमभिधाय तत्फलतया भगवतः सानुचरस्य वनविहारलीलावर्णनमारभते—

अनुगिरमृतुभिर्वितायमानामथ स विलोकयितुं वनान्तलक्ष्मीम् ।
निरगमदभिराद्धुमादृतानां भवति महत्सु न निष्फलः प्रयासः ॥ १ ॥

अनुगिरमिति । अथर्तुप्रादुर्भावानन्तरं स हरिः गिरावित्यनुगिरम् । विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः । "गिरेश्च सेनकस्य" इति समासान्तः । ऋतुभिर्वितायमाना वितन्यमानान् । तनोतेः कर्मणि लट् शानजादेशः । "तनोतेर्यकि" इति वैभाषिक आकारादेशः । वनान्तलक्ष्मीविलोकयितुं निरगमन् निर्गतः "पुषादि" इत्यादिना गमेर्लुङि च्लेरङादेशः । ऋतुगणभक्तिं स्वीकर्तुमिति भावः । तथाहि अभिराद्धुमाराधयितुमादृतानामादरं कुर्वतामास्थावतामित्यर्थः । कर्तरि क्तः । प्रयासः नेत्रायासः महत्सु विषये निष्फलो न भवति । न हि भक्तानुकम्पिनो महान्तस्तत्सेवां व्यर्थयन्तीति भावः । अतो हरेरप्यृतुगणानुग्रहणार्थे निर्गमो युक्त इति सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः 'सामान्यविशेषकार्यकारणभावाभ्यां निर्दिष्टप्रकृतार्थसमर्थनादर्थान्तरन्यासः' इति सर्वस्वसूत्रम् । अत्र सर्गे पुष्पिताग्रा वृत्तम् । 'अयुजि नयुगरेफतो यकारो युजि च नजौ जरगाश्च पुष्पिताग्रा' इति लक्षणात् ॥ १ ॥

दधति सुमनसो वनानि बह्वीर्युवतियुता यदवः प्रयातुमीषुः ।
मनसिशयमहास्त्रमन्यथामी न कुसुमपञ्चकमप्यलं विसोढुम् ॥ २ ॥

दधतीति । यदवो यादवाः । व्याख्यातं चैतत् बह्वीर्बह्वीः बहुविधा इत्यर्थः "बह्वादिभ्यश्च" इति विकल्पाद्ङीकारः । सुमनसः पुष्पाणि 'स्त्रियः सुमनसः पुष्पम्' इत्यमरः । दधति दधन्ति । "वा नपुंसकस्य" इति अभ्यस्ताच्छतुर्वैकल्पिको नुम्प्रतिषेधः । वनानि युवतियुताः स्त्रीसमेताः एव प्रयातुमीषुरिच्छन्ति स्म । अत्र हेतुमाह । अन्यथा युवतिजनाभावे अमी यदवो मनसि शेते इति मनसिशयः कामः । "अधिकरणे शेतेः" इत्यच् प्रत्ययः "हलदन्तात्सप्तम्याः संज्ञायाम्" इत्यलुक् । तस्य महास्त्रभूतं कुसुमपञ्चकमपि पञ्चाऽपि कुसुमानीत्यर्थः । पञ्चानां संघः पञ्चकम् । "संख्यायाः संज्ञासंघसूत्राध्ययनेषु" इति कप्रत्ययः । विसोढुं नालं न शक्ताः । सकलसुमनसां सामर्थ्ये तत्रारविन्दादीनामेव पञ्चबाणबाणत्वस्य सम्भवत्प्रमाणसिद्धत्वादिति भावः । अतो युवतिभिः सह प्रयाणं युक्तमिति वाक्यार्थेन वाक्यार्थसमर्थनाद्वाक्यार्थसमर्थनरूपकाव्यलिङ्गमलङ्कारः । 'अरविन्दमशोकं च चूतं च नवमल्लिका । नीलोत्पलं च पञ्चैते पञ्चबाणस्य सायकाः' इति ॥ २ ॥

अवसरमधिगम्य तं हरन्त्यो हृदयमयत्नकृतोज्ज्वलस्वरूपाः ।
अवनिषु पदमङ्गनास्तदानीं न्यदधत विभ्रमसम्पदोऽङ्गनासु ॥ ३ ॥

अवसरमिति । तमवसरं सहजिगमिषाकालं अधिगम्य हृदयं हरन्त्यो हृदयंगमा भवन्त्यः । सर्वं हि प्रार्थ्यमानमेव प्रियं भवतीत्यर्थः । यत्नेन कृतं न भवतीत्ययत्नकृतं तथाप्युज्ज्वलं स्वरूपं यासां ताः । स्वभावसुन्दरमूर्तय इत्यर्थः । अङ्गनास्तदानीन्तस्मिन्नवसरे अवनिषु पदं न्यदधत विहितवत्यः । पादचारेणैव चेलुरित्यर्थः । दधातेर्लङि "आत्मनेपदेष्वनतः" इति झस्यादादेशः । अङ्गनासु विभ्रमसम्पदो विलाससम्पदः पदं न्यदधत । तदानीं विलासाः प्रवृत्ता इत्यर्थः । अत्राङ्गनानां विलाससम्पदां चोभयीनामपि प्रकृतानामेव हृदयहरणादिना वर्णनासाम्येनौपम्यस्य

गम्यमानत्वात्केवलप्रकृतविषयातुल्ययोगितालंकारः । वाच्यभेदेनाप्यंगनाविलाससम्पदामुत्तरोत्तरस्य पूर्वपूर्वविशेषकत्वाचगमादेकावलीभेदो व्यज्यत इत्यलंकारेणालंकारध्वनिः ॥ ३ ॥

न्यदधत विभ्रमसम्पदोऽङ्गनास्वित्युक्तं ता एव प्रपञ्चयति—

नखरुचिरचितेन्द्रचापलेखं ललितगतेषु गतागतं दधाना ।
मुखरितवलयं पृथौ नितम्बे भुजलतिका मुहुरस्खलत्तरुण्याः ॥ ४ ॥

नखेति । ललितगतेषु मन्दगमनेषु नखाना रुचिभिः प्रभाभिः रचिता इन्द्रचापलेखा यस्मिन् कर्मणि तद्यथा तथा गतागत यातायाते । "विप्रतिषिद्ध चानधिकरणवाचि" इति वैभाषिको द्वन्द्वैकवद्भावः । दधाना तरुण्याः भुजलतिका मुखरा कृता इति मुखरिता ध्वनिता वलया यस्मिन् कर्मणि तद्यथा तथा । 'कटको वलयोऽस्त्रियाम्' इत्यमर । पृथौ नितम्बे मुहुरस्खलत् चस्खाल । अत्र नखरुचीत्यालम्बनगुण उक्त गतागत दधाना अस्खलदिति तच्चेष्टा । मुखरितवलयमिति तदलंकृतिः तटस्थस्तूक्ता वसन्तादय । अन्यत्र विस्तारत इति चतुर्विधोऽप्युद्दीपनक्रम उक्तः । उक्त च आलम्बनगुणाश्चैव तच्चेष्टा तदलङ्कृति । तटस्थश्चेति विज्ञेयश्चतुष्कोद्दीपनक्रम" इति । तत्रालम्बन रसस्य समवायिकारण नायिका नायकश्च । तद्गुणो रूपलावण्यादिः । तच्चेष्टा भावहावादि । अन्यत्सुगमम् । एवमुत्तरत्रापि ॥ ४ ॥

अतिशयपरिणाहवान्वितेने बहुतरमर्पितरत्नकिंकिणीकः ।
अलघुनिजघनस्थलेऽपरस्या ध्वनिमधिकं कलमेखलाकलापः ॥ ५ ॥

अतिशयेति । अतिशयेन परिणाहवानतिविशाल इत्यर्थः । अन्यथा तज्जघनस्यापर्याप्तेरिति भावः । 'परिणाहो विशालता' इत्यमर' । "उपसर्गादसमासेऽपिणोपदेशस्य" इति णत्वम् । बहुतरमर्पिता आहिता रत्नानां किङ्किण्यो यस्मिन्स । "नद्यृतश्च" इति कप्प्रत्यय. । कलो मधुरारावी मेखलाकलापोऽपरस्या. स्त्रिय अलघुनि जघनस्थले अधिक ध्वनिं वितेने । तदलङ्कृतिरियम् ॥ ५ ॥

गुरुनिबिडनितम्बबिम्बभाराक्रमणनिपीडितमङ्गनाजनस्य ।
चरणयुगमसुस्रुवत्पदेषु स्वरसमसक्तमलक्तकच्छलेन ॥ ६ ॥

गुर्विति । गुरुगुरुत्वगुणयुक्त निबिडं दृढ च यन्नितम्बबिम्ब तदेव भारस्तस्याक्रमणेनाधिष्ठानेन निपीडितं निष्पीडित अङ्गनाजनस्य चरणयुगम् । कर्तृपदेषु पादन्यासस्थानेषु अलक्तकच्छलेन लाक्षारसमिषेण स्वरस स्वद्रवमेव । 'गुणे रागे द्रवे रस.' इत्यमरः । असक्तमविच्छिन्न यथा तथा असुस्रुवत् स्रवति स्म । स्रवते' क्षरणार्थाल्लुङि 'णिश्रि' इत्यादिना चङि धातोरुवङादेश । द्रवद्रव्यकर्तृक एवायमकर्मकः, अन्यकर्तृकत्वे तु सकर्मकः । अत्रालक्तकच्छलेनेत्यलक्तापह्नवेन स्वरसत्वारोपाच्छलादिशब्दैरसत्यत्वप्रतिपादनरूपोऽपह्नवालङ्कारः ॥ ६ ॥

अथ कस्याश्चित्सख्याः कुपितनायिकानुनयवचनं पञ्चभिः कुलकेनाह—

तव सपदि समीपमानये तामहमिति तस्य मयाग्रतोऽभ्यधायि।
अतिरभसकृतालघुप्रतिज्ञामनृतगिरं गुणगौरि मा कृथा माम्॥७॥

तवेत्यादि। तां मत्सखीं सपदि तव समीपमहमानये आनयिष्यामि। वर्तमानसामीप्ये भविष्यति वर्तमानप्रत्ययः. कर्तुरभिप्राये आत्मनेपदम्। इति मया तस्याग्रतोऽभ्यधायि अभिहितम्। दधाते कर्मणि लुङ्, "आतो युक् चिण्कृतोः" इति युगागमः। हे गुणगौरि गुणैःसौभाग्यदाक्षिण्यादिभिर्गौरि पार्वतीति रूपकम्। अतिरभसेनातित्वरया कृता अलघुर्महती प्रतिज्ञा त्वदानयनार्था यया तां मामनृतगिरमसत्यवाचं मा कृथा मा कार्षीः। मद्वचनं सर्वथा कर्तव्यमित्यर्थः। करोतेर्लुङि थास् "न माङ्योगे" इत्यडागमप्रतिषेधः॥ ७॥

ननु मत्प्रतिज्ञापि दुस्त्याज्येति विप्रतिषेधमाशङ्क्याह—

न च सुतनु न वेद्मि यन्महीयानसुनिरसस्तवनिश्चयः परेण।
वितथयति न जातु मद्वचोऽसाविति च तथापि सखीषु मेऽभिमानः॥

न चेति। हे सुतनु शुभाङ्गि। दीर्घान्तोत्तरपदात्सम्बुद्धिः अन्यथा गुणः स्यात्। अहं न वेद्मीति न किन्तु वेद्म्येवेत्यर्थः। किं तद्वेत्सीत्यत आह। महीयान्महत्तरस्तवनिश्चयः त्वदनैक्ये प्रतिज्ञा परेण जनान्तरेण सुनिरसः सुखमोच्यः। अस्यतेः. खल्प्रत्ययः। स न भवतीत्यसुनिरस इति नञ् तदित्यर्थलभ्यम्। उद्देश्येन विधेयाक्षेपाद्यच्छब्दस्योत्तरवाक्यत्वाच्च न पूर्ववाक्ये तच्छब्दप्रयोग इति निबन्धः। तथापि विदितत्वेऽपि असौ मत्सखी जातु कदाचिदपि मद्वचो न वितथयति नानृतीकरोतीति सखीषु मध्ये मेऽभिमानः। स्वप्रतिज्ञाभङ्गेऽपि मत्प्रतिज्ञामेव पालयतीत्यहङ्कारान्निःशङ्कम्प्रतिज्ञातमित्यर्थः॥ ८॥

सततमनभिभाषणं मया ते परिपणितं भवतीमनानयन्त्या।
त्वयि तदिति विरोधनिश्चितायां भवति भवत्वसुहृज्जनः सकामः॥९॥

सततमिति। भवतीं त्वामनानयन्त्या आनयितुमशक्नुवन्त्या इत्यर्थः। मया सततं सदा ते तव। कर्मणि षष्ठी। अनभिभाषमसंभाषणं परिपणितम्। भवतीति "भातेर्डवतुः" इत्यौणादिको डवतुप्रत्ययः "उगितश्च" इति ङीप्। तस्याः सम्बुद्धिर्हे भवति सुभगे त्वयि तदिति तदसम्भाषणमस्तु इति विरोधनिश्चिताया निश्चितविरोधायां सत्याम्। "वाहिताग्न्यादिषु" इति विकल्पान्निष्ठायाः परनिपातः। असुहृज्जनः विपक्षवर्गः. सकामः फलितमनोरथो भवतु भवेत्। प्राप्तकाले लोट्। अस्मद्विरोधकांक्षिणामयमानन्दकालः प्राप्त इत्यर्थः॥ ९॥

न केवलमावयोर्विरोधः प्राणहानिरपि मम स्यादित्याह—

गतधृतिरवलम्बितुं बतासूननलमनालपनादहं भवत्याः।
प्रणयिनि यदि न प्रसादबुद्धिर्भव मम मानिनि जीविते दयालुः॥१०॥

गतेति । गतधृतिरधीरा अह भवत्यास्तवानालपनादसम्भाषणादालपनं विहायेत्यर्थः । ल्यब्लोपे पञ्चमी । असून् प्राणानवलम्बितु धारयितुमलमशक्ता । 'अलम्भूषणपर्याप्तिशक्तिवारण-वाचकम्' इत्यमरः । बतेति खेदे । अत एव हे मानिनि प्रणयिनि प्रिये प्रसादबुद्धिरनुग्रहबुद्धिर्न यदि नास्ति चेत्तथापि मम जीविते दयालुर्भव । "स्पृहि" इत्यादिना आलुच् प्रत्ययः । स धूर्तोऽपि मत्प्राणत्राणार्थमनुग्राह्य इति भावः ॥ १० ॥

प्रियमिति वनिता नितान्तमागःस्मरणसरोषकषायितायताक्षी ।
चरणगतसखीवचोऽनुरोधात्किलकथमप्यनुकूलयाञ्चकार ॥११॥

प्रियमिति । इतीत्थं नितान्तमागसोऽन्यासङ्गापराधस्य स्मरणेन सरोषे अत एव कषाये लोहिते कृते कषायिते आयते चाक्षिणी यस्याः सा तथोक्ता । 'निर्यासे च कषायोऽथ सौरभे लोहितेऽन्यवत्' इति विश्वः । वनिता नायिका चरणगतायाः पूर्वोक्तवाक्यान्ते प्रणतायाः सख्या वचसोऽनुरोधादनुल्लङ्घनात्किल । किलेत्यपरमार्थे । वस्तुतस्तु अनुरागाढेवेति भावः । प्रियं कथमपि कथञ्चिदनुकूलयाञ्चकार अभिमुखीचकार अनुजग्राहेत्यर्थः । एषा खण्डिता नायिका । 'ज्ञातेऽन्यासङ्गविकृते खण्डितेर्ष्याकषायिता' इति दशरूपकलक्षणात् । अत एव कविना आगः स्मरणसरोषकषायिताक्षीत्युक्तम् । एषा चासम्भाषणचिन्ताखेदाश्रुतिः श्वासाद्यनु-भाववती ॥ ११ ॥

अथ काचित्सखी कञ्चिदग्रे शीघ्रगामिनं युग्मेनाह—

द्रुतपदमिति मा वयस्य यासीर्ननु सुतनुं परिपालयानुयान्तीम् ।
न हि न विदित खेदमेतदीयस्तनजघनोद्वहने तवापि चेतः ॥१२॥

द्रुतेति । हे वयस्य सखे इतीत्थं द्रुतपदं शीघ्रपदक्रमं यथा तथा मा यासीः मा गमः । यातेर्लुङि "न माङ्योगे" इत्यट्प्रतिषेधः । अनुयान्तीमनुगच्छन्तीं सुतनुं शुभाङ्गीं प्रियामनुपा-लय प्रतीक्षस्व । असावपि शीघ्रमायातु तत्राह । न हीति । तव चेतोऽपि एतदीयस्तनजघनो-द्वहने विदितखेदमनुभूतखेदं नेति न किन्तु वेत्त्येवेत्यर्थः । अतः कथं शीघ्रमायास्यतीति भावः । सम्भाव्यनिषेधनिवर्त्तने द्वौप्रतिषेधाविति वामनः ॥ १२ ॥

इति वदति सखीजनेऽनुरागाद्दयिततमामपरश्चिरं प्रतीक्ष्य ।
तदनुगमवशादनायतानि न्यधित मिमान इवावनिं पदानि ॥१३॥

इतीति । सखीजने इति वदति सति अपरः कश्चिद्दयिततमाम् अनुरागात् स्नेहाच्चिरं प्रती-क्ष्य तदनुगमवशात् तस्याः प्रियायाः । कर्त्र्याः । अनुगमः पश्चाद्गमनं तस्य वशादनुसारादवनिं मिमानः मानं कुर्वाण इवेत्युत्प्रेक्षा । माङो लटः कर्त्तरि शानजादेशः । "श्लौ" इति द्विर्भावः । अनायतान्यनन्तरालानि पदानि न्यधित निहितवान् । धाञो लुङि तङ् "स्थाघ्वोरिच्च" इती-

कारः। सिचः कित्वान्न गुणः "हृस्वादङ्गात्" इति सकारलोप. । एषा च नायिका स्वाधीनपतिका। "स्वाधीनपतिका सा तु या न मुञ्चति वल्लभम्" इति लक्षणात्। इष्टा चेयम्॥१३॥

अथ काचित्पुर.प्रयातप्रियमेलनाय शीघ्रानुधावन प्रार्थयमानां सखीमाह–

यदि मयि लघिमानमागतायां तव धृतिरस्ति गतास्मि संप्रतीयम्।
अनिभृतपदपातमापपात प्रियमिति कोपपदेन कापि सख्या॥१४॥

यदीति। हे सखि मयि लघिमानमागताया स्वयङ्गमनेन लाघव प्राप्ताया तव धृतिरस्ति यदि सन्तोषो भवति चेत्। 'धृतिः सन्तोषधैर्ययोः' इत्यमरः। इयमेतदवस्थैव सम्प्रत्यस्मिन् क्षण एव गतास्मि इति वदन्तीति शेषः। इतिना गम्यमानार्थत्वादप्रयोग' अन्यथा पौनरुक्त्यादित्यालङ्कारिकाः। सख्या सह कोपपदेन कोपव्याजेन वस्तुतस्तु रागादेवेति भावः। 'व्याजोपदेशो लक्ष्यं च' इति 'निमित्त व्यञ्जन पदम्' इति चामरः। काचिन्नायिका द्रुततरा. शीघ्रतराः पदपाता' पादन्यासा यस्मिन् कर्म्मणि तद्यथा तथा प्रिय वल्लभमापपात अनुधावति स्म। एषा च स्वयम्प्रवृत्ता स्वलाघवशङ्कितया पूर्वं निर्वासितप्रिया अथेदानीं स्वयम्प्रवृत्तेः पश्चात्तप्ता चेति गम्यते। अत कलहान्तरिता। "कोपात्कान्तं पराणुद्य पश्चात्तापसमन्विता" इति लक्षणात्॥ १४॥

अविरलपुलकःसह व्रजन्त्याः प्रतिपदमेकतरः स्तनस्तरुण्याः।
घटितविघटितःप्रियस्य वक्षस्तटभुवि कन्दुकविभ्रमं बभार१५॥

अविरलेति। सह व्रजन्त्या पार्श्वमाश्लिष्य गच्छन्त्या इत्यर्थः। तरुण्याः सम्बन्धी अविरलपुलकः प्रियाङ्गसङ्गमात्सान्द्ररोमाञ्चः एकतरोऽन्यतरः द्वयोरन्यः सन्निकृष्ट इति भावः। "एकाच्च प्राचाम्" इति द्वयोरेकस्य निर्द्धारणे डतरच् प्रत्ययः। स्तन' प्रियस्य वक्षस्तटमिव तस्य भूः प्रदेशस्तस्या वक्षस्तटभुवि प्रतिपद घटितविघटितः सयुक्तवियुक्त पतितोत्पतितः सन्निति यावत्। विशेषणयोरपि मिथो गुणप्रधानभावविवक्षया "विशेषण विशेष्येण बहुलम्" इति समासः। कन्दुकविभ्रम गेन्दुकशोभाम्। 'गेन्दुक. कन्दुक.' इत्यमरः। बभार। अन्यविभ्रमस्यान्यसम्बन्धायोगात्सादृश्याक्षेपे निदर्शना। एषा च प्रियपार्श्वगामिनी। इत प्रभृति मदनरसे. त्यत. प्राग्वक्ष्यमाणा षट् नायिकाः स्वाधीनपतिकाः इष्टाः प्रगल्भाश्चेत्यनुसन्धेयम्॥ १५॥

अथापरस्या अपर गतिविशेष विशेषकेणाह–

अशिथिलमपरावसज्य कण्ठे दृढपरिरब्धबृहद्बहिःस्तनेन।
हृषिततनुरुहा भुजेन भर्तुर्मृदुममृदु व्यतिविद्धमेकबाहुम्॥१६॥

अशिथिलमित्यादि। अपरा स्त्री दृढ परिरब्धो गृहीतो बृहद्बहिःस्तनो येन तेन हृषितान्युदञ्चितानि तनुरूहि रोमाणि यस्य तेन। पुलकितेनेत्यर्थः। क्विबन्तोत्तरपदो बहुव्रीहिः "हृषेर्लोमसु" इतीडागम। भुजेन भर्त्तुर्वामबाहुना अमृदु गाढ यथा तथा व्यतिविद्ध

व्यतिपञ्जितम् । मृदु कोमलमेकबाहुं निजदक्षिणबाहुं भर्तुः कण्ठे अशिथिलं दृढमवसज्यासज्य जगामेति भाविना सम्बध्यते ॥ १६ ॥

मुहुरसुसममाघ्नती नितान्तं प्रणदितकाञ्चि नितम्बमण्डलेन ।
विषमितपृथुहारयष्टि तिर्यक्कुचमितरं तदुरःस्थले निपीड्य ॥ १७ ॥

मुहुरिति । पुनः किं कृत्वा नितम्बमण्डलेन । करणेन । नितान्तमतिशयेन । प्रणदिता प्रकर्षेण नदन्ती काञ्ची यस्मिन् कर्मणि तद्यथा तथा । "उपसर्गादसमासेऽपि णोपदेशस्य" इति णत्वम् । मुहुरसुसमं प्राणेशमाघ्नती ताडयन्ती । हन्तेराङ्पूर्वाल्लटः शत्रादेशे ङीप् सकर्मकत्वात् न "आङो यमहनः" इत्यात्मनेपदम् । विषमिता विषमीकृता पृथुहारयष्टिर्यस्मिन् कर्मणि तद्यथा तथा । इतर पूर्वश्लोकोक्तव्हि स्तनादन्य दक्षिणमित्यर्थ । कुच तस्य भर्तुरुरःस्थले तिर्यक् निपीड्य । पूर्ववत्सम्बन्ध. ॥ १७ ॥

गुरुतरकलनूपुरानुनादं सललितनर्तितवामपादपद्मा ।
इतरदनतिलोलमादधाना पदमथमन्मथमन्थरं जगाम ॥ १८ ॥

गुरुतरेति । पुनर्गुरुतरः सान्द्रतरः कलो मधुरश्च नूपुरस्यानुनादो ध्वनिर्यस्मिन् कर्मणि तद्यथा तथा सललित सलील नर्तित व्यापारित वाम सव्य पादपद्म यया सा इतरद्दक्षिण पदमनतिलोलम्भर्तृचरणस्खलनाद्नतिचपल यथा तथा आदधाना निक्षिपन्ती सती मन्मथेन मन्थरमलसं जगाम । एषा च पार्श्वगामिनी । विशेषकम् ॥ १८ ॥

अथान्यासामप्येकैकेन गतिविशेषमाह—

लघुललितपदं तदंसपीठद्वयनिहितोभयपाणिपल्लवान्या ।
सकठिनकुचचूचुकप्रणोदं प्रियमबला सविलासमन्वियाय ॥ १९ ॥

लघ्वित्यादि । अन्या अबला स्त्री तस्य प्रियस्यासौ पीठे इव तयोर्द्वये निहितावुभौ पाणिपल्लवौ यया सा सती । "उभादुदात्तो नित्यम्" इति पृथक्सूत्रकरणादेव सिद्धे पुनर्नित्यग्रहणसामर्थ्याद्वृत्तिविषये उभशब्दस्थानेऽ उभयशब्दप्रयोगः । यथाह कैयटः । तत्र 'उभादुदात्तो नित्यम' इति वृत्तिविषये उभशब्दस्य प्रयोगो माभूत् । उभयशब्दस्यैव यथा स्यादित्युभयत्रेत्यादि भवतीति । लघुनी द्रुते ललिते च पदे यस्मिन् कर्मणि तद्यथा तथा कठिनाभ्यां कुचचूचुकाभ्यां स्तनाग्राभ्यां यः प्रणोदो निपीडन तेन सह यथा तथा 'चूचुकन्तु कुचाग्रं स्यात्' इत्यमरः । "तेन सह" इत्यादिना समासे, "वोपसर्जनस्य" इति सहशब्दस्य सभाव । णोपदेशत्वात्प्रणोद इति णत्वम् । सविलासं च प्रियमन्वियायानुजगाम । एषा पृष्ठगामिनी ॥ १९ ॥

जघनमलघुपीवरोरु कृच्छ्रादुरुनिबिरीसनितम्बभारखेदि ।
दयिततमशिरोधरावलम्बिस्वभुजलताविभवेन काचिदूहे ॥ २० ॥

जघनमिति । काचित् स्त्री अलघू गुरू पीवरौ पीनौ चोरू यस्य तत् उरुमहान् निबिरीसो निबिडः 'निबिड निबिरीस च दृढ गाढ प्रचक्षते' इति वैजयन्ती । "नेर्बिडज्बिरीसचौ" इति निशब्दाद्बिरीसच्प्रत्ययः । स च यो नितम्ब स्त्रीकटिपश्चाद्भाग । 'पश्चान्नितम्बः स्त्रीकट्या क्लीबे तु जघन पुरः' इत्यमर. । स एव भारस्तेन खिद्यत इति तथोक्तम् । आभीक्ष्ण्ये णिनि. । जघन कटिपुरोभाग दयिततमस्य शिरोधराया ग्रीवायामवलम्बिन्योर्लम्बमानयोः स्वभुजलतयोर्विभवेन सामर्थ्येन कृच्छ्रादूहे उवाह । वहे. स्वरितेत्वात्कर्त्रभिप्राय आत्मनेपदम् । इय च पृष्टगामिनी प्रियकण्ठावलम्बा ॥ २० ॥

अनुवपुरपरेण बाहुमूलप्रहितभुजाकलितस्तनेन निन्य ।
निहितदशनवाससा कपोले विषमवितीर्णपदं बलादिवान्या २१

अनुवपुरिति । अन्या स्त्री वपुष पश्चादनुवपुः स्त्रीपृष्टभाग. । "अव्यय विभक्ति" इत्यादिना पश्चादर्थेऽव्ययीभाव. । बाहुमूलयो स्त्रीकक्षयोः प्रहितावधःप्रसारितौ भुजौ ताभ्यां आकलितस्तनेन गृहीतस्तनेन कपोले निहितदशनवाससा न्यस्ताधरेण किञ्चिदावृत्तमुख्याः सत्या कपोले चुम्बतेत्यर्थ. । अपरेण कामिना विषम प्रियांघ्रिसंघर्षात् क्लिष्ट वितीर्णपद न्यस्ताङ्घ्रि यथा तथा बलादिव निन्ये नीता । आरोप्य नीयमानेव गमयाञ्चक्र इत्यर्थः । एषा पुरोगामिनी ॥ २१ ॥

अनुवनमसितभ्रुवः सखीभिः सह पदवीमपरः पुरोगतायाः ।
उरसि सरसरागपादरेखाप्रतिमतयानुययावसंशयानः ॥ २२ ॥

अनुवनमिति । अपर' कामी अनुवन वनप्रति सखीभि सह पुरोगतायाः असितभ्रुवः स्वकान्ताया' पदवीमुरसि वक्षसि सरस आर्द्र रागो लाक्षारञ्जन यस्य तस्य पादस्य या रेखा विन्यास. सा प्रतिमा उपमानं यस्या सा तत्प्रतिमा तस्य भावस्तत्ता तया तत्सदृशतयेत्यर्थः । असशयानोऽसन्दिहान शीङो लटः कर्तरि शानजादेश. । अनुययौ । अत्र पादरेखाप्रतिमतयेति सादृश्यवस्तुना सुरतकालीन पादताडन वस्तु सरागपदार्थमहिम्ना प्रतीयत इति पदगतः स्वतःसिद्धार्थशक्तिमूलो वस्तुध्वनिः सलक्ष्यक्रमध्वनेर्भेदः ॥ २२ ॥

मदनरसमहौघपूर्णनाभिह्रदपरिवाहितरोमराजयस्ताः ।
सरितइव सविभ्रमप्रयातप्रणदितहंसकभूषणा विरेजुः ॥ २३ ॥

मदनेति । मदनस्य रस' शृंगारः अन्यत्र रसो जल तस्य महौघेन महापूरेण पूर्णा नाभ्य एव ह्रदास्तेषा परिवाहाः कृताः परिवाहिता जलोच्छ्वासीकृताः रोमराजयो यासा ताः । 'जलोच्छ्वासा परीवाहा.' इत्यमरः । सरिज्जलानि ह्रदानापूर्य परित. उच्छ्वसन्तीति प्रसिद्धि । सविभ्रमै' सविलासै. प्रयातैः प्रकृष्टगमनैः प्रणदिताः शिञ्जिताः ये हसकाः पादकटकाः । 'हसकः पादकटक ' इत्यमरः । अन्यत्र हसा एव हसकाः मरालास्त एव भूषणानि यासा ताः

स्त्रिय. सरित इव विरेजुः। मदनरसपूर्णेत्यनेन नाभीना तदुद्बोधकत्वं व्यज्यते। परिवाहितरोमराजय इति रोमराजीना परिवाहत्वरूपणान्नाभ्य एव ह्रदा इति रूपकाश्रयणम्। ताः सरित एवेति श्लिष्टविशेषणेयमुपमा। श्लेष एवेत्यन्ये ॥ २३ ॥

श्रुतिपथमधुराणि सारसानामनुनदि शुश्रुविरे रुतानि ताभिः।
विदधति जनतामनश्शरव्यव्यधपटुमन्मथचापनादशङ्काम्॥२४॥

श्रुतिपथेति। अनुनदि नदीनां समीपे। समीपार्थेऽव्ययीभावः। "अव्ययी भावश्च" इति नपुंसकत्वे ह्रस्वत्वम्। ताभिः स्त्रीभिः जनानां समूहो जनता। "ग्रामजन" इत्यादिना सामूहिकस्तल्प्रत्ययः। तस्या· मनासि एव शरव्य लक्ष्यम्। 'लक्ष लक्ष्यं शरव्य च' इत्यमरः। तस्य व्यध· वेधः। "व्यधजपोरनुपसर्गे" इत्य·प्रत्यय। तत्रपटुः समर्थो यो मन्मथचापनादः स इति शङ्का भ्रम विदधाते विदधानानि। "वा नपुसकस्य" इति वैकल्पिको नुम्प्रतिषेधः। श्रुतिपथमधुराणि श्राव्याणीत्यर्थ·। सारसानारुतानि शुश्रुविरे श्रुतानि। सारसरुतश्रवणान्मन्मथोद्दीपनमासीदित्यर्थ·। अत्र सारसरुते मन्मथचापनादभ्रमाद्भ्रान्तिमदलङ्कार·। 'कविसम्मतसादृश्याद्विधेये पिहितात्मनि। आरोप्यमाणानुभवो यत्र स भ्रान्तिमान्मत·' इति लक्षणात्॥ २४ ॥

मधुमथनवधूरिवाह्वयन्ति भ्रमरकुलानि जगुर्यदुत्सुकानि।
तदभिनयमिवावलिर्वनानामतनुत नूतनपल्लवाङ्गुलीभिः॥२५॥

मध्विति। उत्सुकान्युन्मनासि भ्रमरकुलानि मधुमथनस्य हरेर्वधूराह्वयन्त्याकारयन्तीवेत्युत्प्रेक्षा 'हूतिराकारणाह्वानम्' इत्यमर.। "शप्श्यनोर्नित्यम्" इति ह्वयतेः शतुर्नुमागमः। जगुरिति यत्। गायतेर्लिट्। वनानामावलिर्नूतनपल्लवा एवागुल्य इत्येकदेशवर्तिसावयवरूपकम्। अस्येव वनावलौ नर्त्तकीत्वरूपगमकत्वादिति। ताभिस्तदभिनय व्यञ्जकचेष्टामतनुतेव। 'व्यञ्जकाभिनयौ समौ' इत्यमर·। 'अङ्गैरालम्बयेद्गीतं हस्तेनार्थं प्रदर्शयेत्' इति वचनात् गीतार्थस्याह्वानस्य व्यञ्जनमंगुलिभिरकार्षीदिवेति क्रियास्वरूपोत्प्रेक्षा। पूर्वोक्तरूपकानुप्राणिता साह्वानोत्प्रेक्षा सापेक्षेति सजातीयसङ्करोऽपीति॥ २५ ॥

असकलकलिकाकुलीकृतालिस्खलनविकीर्णविकाशिकेसराणाम्।
मरुदवनिरुहां रजो वधूभ्यः समुपहरन्विचकार कोरकाणि॥२६॥

असकलेति। मरुद्वनानिलः असकला असभग्नाः। अर्द्धविकचा इत्यर्थः। ताभि· कलिकाभि· कोरकैराकुलीकृताना सक्षोभिनामलिना स्खलनेन विघट्टनेन विकीर्णा विक्षिप्ता· विकाशिनः केसरा किञ्जल्का येषा तेषामवनिरुहाम्। क्विप्। रज पराग वधूभ्य समुपहरन् प्रयच्छन्। यथा कश्चित्कामीति भावः। धनमर्जयन्वसतीतिवत् "लक्षण हेत्वो क्रियाया·"इति हेत्वर्थे शतृप्रत्यय.। कोरकाणि कुड्मलानि। 'कलिका कोरकः पुमान्' इत्यमरकोशे पुस्त्वाभिधानप्रायिकाभिप्रायम्। 'कोरक कुड्मलेऽपि स्यात्कक्कोलकमृणालयोः' इति विश्वप्रकाशादौ नपुंसक-

त्वस्याभिधानात् । विचकार विकासयामासेत्यर्थः । विपूर्वात्किरतेः करोतेर्वा लिट् । अत्र कोरकविकासकरणस्य समुपहरन्निति हेत्वर्थेन वधूसम्प्रदानकपरागोपहरणार्थत्वावगमात्फलोत्प्रेक्षाव्यञ्जकाप्रयोगाद्गम्या ॥ २६ ॥

उपवनपवनानुपातदक्षैरलिभिरलम्भि यदङ्गनागणस्य ।
परिमलविषयस्तदुन्नतानामनुगमने खलु सम्पदोऽग्रतःस्थाः॥२७॥

उपवनेति । वने उपवनम् । विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः । तत्र यः पवनस्तस्यानुपातेनानुसारेण दक्षैर्विचक्षणैरलिभिर्यद्यतः कारणात् अङ्गनाजनस्य सम्बन्धी परिमलो गन्धविशेषः । "विमर्दोत्थे परिमलो गन्धे जनमनोहरे" इत्यमर । स एव विषयो भोग्यार्थः । 'रूप स्पर्शौ गन्धरसः शब्दाश्च विषया अमी' इत्यमरः । अलम्भि लब्ध. लभेः कर्मणि लुङ् " विभाषा चिण्णमुलोः" इति विकल्पान्नुम्भाव. । इति "अत उपधायाः "इति न वृद्धिः । तस्मादुन्नतानां महतामनुगमने पश्चाद्धावने अनुवृत्तौ च सम्पदोऽग्रत स्था. पुरोवर्त्तिन्यः खलु । "सुपि स्थः" इति कप्रत्यय. । अत्रानुगमनयोर्द्वयोरभेदाध्यवसायात् श्लेषोत्थापितातिशयोक्त्यनुप्राणितोऽयमर्थान्तरन्यासः सामान्येन विशेषसमर्थनरूपः ॥ २७ ॥

रथचरणधराङ्गनाकराब्जव्यतिकरसम्पदुपात्तसौमनस्याः ।
जगति सुमनसस्तदादि नूनं दधति परिस्फुटमर्थतोऽभिधानम्॥

रथेति । सुमनसः पुष्पाणि रथचरण चक्र तस्य धरो धारयिता हरिः । पचाद्यच् । तस्याङ्गनास्तासा कराब्जैर्व्यतिकर सम्पर्कः स एव सम्पत् तया उपात्त लब्ध सौमनस्य सुमनस्कत्व सन्तुष्टचित्तत्व याभिस्ताः सत्य अतएव सौमनस्यलाभ आदिर्यस्मिन् कर्म्मणि तत्तदादि ततः प्रभृतीत्यर्थ ।अर्थतः पूर्वोक्तावयवार्थात् परिस्फुट प्रसिद्धावयवार्थम् अभिधान सुमनस इति नामधेय दधति । पूर्वं त्वश्वकर्णादिवद्रूढमिति भावः । 'आख्याह्वे अभिधान च नामधेय च नाम च'इत्यमरः। स्त्रियः पुष्पाण्यवचेतुं प्रवृत्ता इति फलितोऽर्थः । नूनमित्युत्प्रेक्षायाम् । अत्रोपात्तसौमनस्या. इति सौमनस्योपादानस्य पदार्थस्य विशेषणगत्या सुमनःपदान्वर्थताहेतुकत्वोक्त्या काव्यलिङ्गम् । तदुत्थापिता चेय तदादित्वोत्प्रेक्षेति सङ्करः, तेन चाङ्गनाकराणामतिश्लाघ्यत्व व्यज्यते ॥ २८ ॥

अभिमुखपतितैर्गुणप्रकर्षादवजितमुद्धतिमुज्ज्वलां दधानैः ।
तरुकिसलयजालमग्रहस्तैःप्रसभमनीयत भङ्गमङ्गनानाम्॥२९॥

अभिमुखेति । अभिमुखेपतितै. भञ्जनार्थमभिमुखमागतैः उज्ज्वलामुत्कृष्टामुद्धतिमुपरिप्रसारमौद्धत्य च दधानैरङ्गनानामग्राश्च ते हस्ताश्चेति समानाधिकरणसमास. । तत एव 'हस्ताग्राग्रहस्तयोर्गुणगुणिनोरभेदात्' इति वामनः । तैरग्रहस्तैः । कर्तृभिः । गुणप्रकर्षाद्धेतोरवजितमवधीरित तरुकिसलयजालं प्रसभ वलात् भङ्ग छेद पराजय चानीयत नीतम् । "प्रधानकर्म्मण्याख्येये लादीनाहुर्द्विकर्मणाम्" इति किसलयजालस्य प्राधान्यादभिधानम् । अत्राग्रहस्तेषु विशेषणमहिम्ना जिगीषुत्वस्य किसलयजाले जेतव्यत्वस्य च प्रतीतेः समासोक्तिलङ्कारः ॥ २९ ॥

मुदितमधुभुजो भुजेन शाखाश्चलितविशृङ्खलशङ्खकं धुवत्याः ।
तरुरतिशयितापराङ्गनायाः शिरसि मुदेव मुमोच पुष्पवर्षम् ॥ ३० ॥

मुदितेति । मुदिता हृष्टा मधुभुजो मधुपा यासु ताः शाखा. भुजेन हस्तेन चलितानि विशृङ्खलानि अप्रतिहतरवाणि शङ्खकानि वलयानि यस्मिन् कर्म्मणि तद्यथा तथा धुवत्या. कम्पयन्त्या । 'धूञ्विधूनने' इति धातोस्तौदादिकाच्छतरि ङीप् "क्ङिति च" इति गुणवृद्धिप्रतिषेधादुवङादेशः । अतिशयिता सौन्दर्य्येणातिक्रान्ता अपराङ्गना यया सा तस्या शिरसि तरुर्मुदेव तदभिसरणसन्तोषेणेवेति गुणहेतूत्प्रेक्षा । पुष्पवर्षं पुष्पवृष्टिं मुमोच ॥ ३० ॥

अनवरतरसेन रागभाजा करजपरिक्षतिलब्धसंस्तवेन ।
सपदि तरुणपल्लवेन वध्वा विगतदयं खलु खण्डितेन मम्ले ॥ ३१ ॥

अनवरतेति । अनवरतरसेनानवच्छिन्नद्रवेण अन्यत्रानुबद्धशृङ्गारेण रागभाजा रक्तेन प्रीतिभाजा च करजपरिक्षतिषु नखक्षतेषु लब्धसंस्तवेन प्राप्तपरिचयेन । 'संस्तवः स्यात्परिचयः' इत्यमरः । वध्वा विगतदयं निर्दयं यथा तथा खण्डितेन छिन्नेन निराकृतेन च तरुणपल्लवेन नवकिसलयेन युवविटेन च । 'पल्लवः किसलये विटे' इति विश्वः । सपदि मम्ले म्लानम् । खलु प्रसिद्धौ म्लायतेर्भावे लिट् । अत्राभिधाया. प्रकृतार्थे नियन्त्रितत्वादप्रकृतार्थप्रतीतेः शब्दशक्तिमूलो ध्वनिः न श्लेषः तेन चोभयोः पल्लवयोरौपम्यं गम्यते ॥ ३१ ॥

अथासा पुष्पावचाये शृङ्गारचेष्टाः वर्णयन् कस्याश्चिच्चेष्टाविशेषमेकेनाह-

प्रियमभि कुसुमोद्यतस्य बाहोर्नवनखमण्डनचारु मूलमन्या ।
मुहुरितरकराहितेन पीनस्तनतटरोधि तिरोदधेंऽशुकेन ॥ ३२ ॥

प्रियमिति । अन्या स्त्री प्रियमभि प्रियस्याग्रत इत्यर्थः । "अभिरभागे" इत्यभेर्लक्षणार्थकर्म्मप्रवचनीयत्वात्तद्योगे द्वितीया । कुसुमेषूद्यत कुसुमोद्यत कुसुमग्रहणार्थमुत्क्षिप्त इत्यर्थः । प्रकृतिविकारभावाभावान्न तादर्थ्ये चतुर्थीसमासः । तस्य बाहोर्नवं यन्नख नखक्षतं तदेव मण्डनं तेन चारु सुंदरं मूलं कक्षभागमित्यर्थः । मुहुरितरकरेण सव्यपाणिना आहितेन निहितेनांशुकेनोत्तरीयेण पीनं स्तनतटं रुणद्धीति पीनस्तनतटरोधि तदावरणं यथा तथा तिरोदधे तिरश्चकार । अत्र चापलाख्यः सञ्चारिभावः । "आत्मप्रकाशिनी चेष्टा रागादेश्चापलं मतम्" इति लक्षणात् । प्रौढा चेयम् ॥ ३२ ॥

अथापरस्याश्चेष्टाविशेषं षड्भिः कुलकेनाह-

विततवलिविभाव्यपाण्डुलेखाकृतपरभागविलीनरोमराजिः ।
कृशमपि कृशतां पुनर्नयन्ती विपुलतरोन्मुखलोचनावलग्नम् ॥ ३३ ॥

विततेत्यादि । काचिद्विततामिर्गात्रोन्नमनादिश्लिष्टाभिर्वलिभिस्त्रिवलिभिर्विभाव्याः सलक्ष्याः पाण्डुरेखा रेखाकाराः वलित्रयान्तरालभागा. ताभिः कृतपरभागाः जनितवर्णोत्कर्षाः अत एव

विशेषेण लीना विलीना रोमराजिर्यस्याः सा तथोक्ता कृशमपि । स्वभावत एवेति भावः । अवलग्न मध्यम् । 'मध्यम चावलग्न च मध्योऽस्त्री' इत्यमरः । पुनः कृशता नयन्ती । अग्रपुष्पग्रहणाय गात्रविजृम्भणादिति भावः । तथा विपुलतरे उन्मुखे ऊर्ध्वमुखे च लोचने यस्याः सा अग्रपुष्पग्रहणार्थमिति भाव. ॥ ३३ ॥

प्रसकलकुचबन्धुरोद्धुरोरः प्रसभविभिन्नतनूत्तरीयबन्धा ।
अवनमदुदरोच्छ्वसद्दुकूलस्फुटतरलक्ष्यगभीरनाभिमूला ॥ ३४ ॥

प्रसकलेति । प्रसकलाभ्यामतिसमग्राभ्या कुचाभ्यां बन्धुरमुन्नतानतम् । 'बन्धुर तून्नतानतम्' इत्यमरः । उद्धुर निर्भर दृढमिति यावत् । 'ऋक्पूर' इत्यादिना समासान्तः । तस्मादुरसः प्रसभाद्बलात्काराद्विभिन्नो विश्लिष्टस्तनूत्तरीयबन्धो यस्याः सा । गात्रविजृम्भणाद्विस्रस्तकुचावरणेत्यर्थः । किंच अवनमतोऽन्तर्लीयमानादुदरादुच्छ्वसत् विश्लिष्यत् दुकूल यस्य तत् अत एव स्फुटतरं यथा तथा लक्ष्यं गभीरमगाध नाभेर्मूलमन्तराल यस्याः सा ॥ ३४ ॥

व्यवहितमविजानती किलान्तर्वणभुवि वल्लभमाभिमुख्यभाजम् ।
अधिविटपि सलीलमग्रपुष्पग्रहणपदेन चिरं विलम्ब्य काचित् ३५

व्यवहितमिति । काचित्पूर्वोक्तविशेषणविशिष्टा अङ्गना अन्तर्वणभुवि वनाभ्यन्तरप्रदेशे "प्रनिरन्तः" इत्यादिना वननकारस्य णत्वम् । व्यवहित तिरोहितं आभिमुख्यभाज अभिमुखावस्थितमित्यर्थ । त वल्लभ प्रियमविजानती किल जानानाप्यजानानेव अधिविटपि विटपिनि वृक्षे । विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः । सलील यथा तथा अग्रे वृक्षाग्रे यानि पुष्पाणि तेषां ग्रहणस्य पदेन मिषेण चिर विलम्ब्य । प्रियाय स्वाङ्गप्रकाशनार्थमिति भाव. ॥ ३५ ॥

अथ किल कथिते सखीभिरत्र क्षणमपरेवससम्भ्रमा भवन्ती ।
शिथिलितकुसुमाकुलाग्रपाणिःप्रतिपदसंयमितांशुकावृताङ्गी ३६

अथेति । अथ विलम्बानन्तर अत्रास्मिन्प्रिये सखीभिः कथिते सति किलायमत्रैवास्त इति निवेदिते सति क्षण ससम्भ्रमा अपरेव पूर्वविपरीतव्यापारकारणादन्येव भवन्ती बुद्धिपूर्वकारित्वमज्ञाननाटनेन वञ्चयन्तीत्यर्थः । शिथिलितः पुष्पग्रहणान्निवर्त्तित कुसुमाकुल कुसुमव्यापृतोऽग्रपाणिर्यया सा तथोक्ता प्रतिपद प्रतिस्थान सयमितेन नियमितेनांशुकेन । 'अंशुकं सूक्ष्मवस्त्रे स्यात्' इति विश्व. । वस्त्रेणावृतमङ्ग यस्या' सा तथोक्ता सती ॥ ३६ ॥

कृतभयपरितोषसन्निपातं सचकितसस्मितवक्त्रवारिजश्रीः ।
मनसिजगुरुतत्क्षणोपदिष्टं किमपि रसेन रसान्तरं भजन्ती ॥ ३७ ॥

कृतभयेति । किञ्च कृत. भयपरितोषयो. भर्तृदर्शनोत्थसाध्वसहर्षयो' सन्निपात. सङ्गो येन तत् मनसि जातो मनसिजः स्मर । "सप्तम्या जनेर्डः" इति ड' "हलदन्तात्सप्तम्या.

सञ्ज्ञायाम्'' इत्यलुक्। स एव गुरुराचार्यस्तेन तत्क्षणे उपदिष्टं तदेकहेतुकम् इत्यर्थः। किमप्यनिर्वाच्यं रसान्तरं लक्षणया भावान्तरं तच्चेह किलकिञ्चिताख्यं विवक्षितम्। कृतभयेत्यादिविशेषणेन ''क्रोधाश्रुहर्षभीत्यादेः सङ्करः किलकिञ्चितम्'' इति लक्षणादस्य प्रतीतेः। रसेन रागेण हेतुना भजन्ती अत एव सचकिता सभयसम्भ्रमा। 'चकितं भयसम्भ्रमे' इत्यमरः। सस्मिता हर्षात्समन्दहासा वक्त्रवारिजश्रीर्यस्याः सा सती। अत्र चकितस्मितयोः पूर्वोक्तभयहर्षानुभावत्वेनोक्तिः॥ ३७॥

अवनतवदनेन्दुरिच्छतीव व्यवधिमधीरतया यदस्थितास्मै।
अहरत सुतरामतोऽस्य चेतः स्फुटमभिभूषयति स्त्रियस्त्रपैव॥ ३८॥

अवनतेति। अवनतवदनेन्दुः लज्जया नम्रमुखीत्यर्थः। अधीरतया अधृष्टतया व्यवधिं किञ्चिद्व्यवधानम्। ''उपसर्गे घोः किः'' इति किप्रत्ययः। इच्छतीव वाञ्छतीव तथा व्याकुला सतीत्यर्थः। ''आच्छीनद्योर्नुम्'' इति विकल्पान्नुमभावः। अस्मै प्रियाय अस्थित आत्मानं प्रकाशयन्ती स्थितेत्यर्थः। तिष्ठतेः कर्त्तरि लुङ्। ''प्रकाशनस्थेयाख्ययोश्च'' इत्यात्मनेपदम्। ''स्थाघ्वोरिच्च'' इति सिचः कित्त्वमिकारश्च धातोरन्तादेशः, कित्त्वान्न गुणः। इति यदतो हेतोरस्य प्रियस्य चेतः सुतरामहरत। तथाहि त्रपैव स्त्रियोऽभिभूषयति स्फुटं प्रसिद्धमित्यर्थः। अतोऽस्या अपि त्रपाभूषितत्वादतिमनोहरत्वं युक्तमिति भावः। कुलकार्थान्तरन्यासौ। मध्यमा चेयं नायिका। ''लज्जामन्मथमध्यस्था मध्यमोदितयौवना'' इति लक्षणात्॥ ३८॥

किसलयशकलेष्ववाचनीयाः पुलकिनि केवलमङ्गके निधेयाः।
नखपदलिपयोऽपि दीपितार्थाः प्रणिदधिरे दयितैरनङ्गलेखाः॥ ३९॥

किसलयेति। किसलयशकलेषु वर्त्तमाना इति शेषः। अवाचनीयाः प्रसिद्धलिपिवैलक्षण्याद्वाचयितुमनर्हाः, किन्तु केवलं पुलकिनि दयितस्पृष्टत्वात्तत्स्पर्शादेव रोमाञ्चवत्यङ्गके वपुषि निधेया विरहतापशान्त्यर्थमर्प्पणीयाः अत एव नखपदानि नखाङ्का एव लिपयोऽक्षराणि येषु ते न तु प्रसिद्धाक्षराः अतोऽवाचनीया इत्यर्थः। नैतावतानुतापकारित्वं चेत्याह तथापि दीपितार्थाः सङ्केतितसन्निवेशवशादेव द्योतिताभिधेयाः लिख्यन्त इति लेखाः। कर्म्मणि घञ्प्रत्ययः। अनङ्गस्य लेखाः तत्प्रयुक्ता इत्यर्थः। दयितैः दयिताभिः दयितैश्च। ''पुमान्स्त्रिया'' इत्येकशेषः। प्रणिदधिरे प्रणिहिताः। लिखिता इत्यर्थः। दधातेः कर्म्मणि लिट्। ''नेर्गदनद'' इत्यादिना नकारस्य णत्वम्। लोकप्रसिद्धलेख्यवैलक्षण्याद्व्यतिरेकालङ्कारः॥ ३९॥

कृतकृतकरुषा सखीमपास्य त्वमकुशलेति कयाचिदात्मनैव।
अभिमतमभि साभिलाषमाविष्कृतभुजमूलमबन्धि मूर्ध्नि माला॥ ४०॥

कृतेति। कृतकृतकरुषा कृतकृत्रिमरोषया कयाचिन्नायिकया त्वमकुशला माल्यग्रथने कुशला नासीति सखीमपास्य निरस्यात्मना स्वयमेवाभिमतमभिप्रियाभिमुखं साभिलाषमाविष्कृ-

तभुजमूल प्रकाशितकक्षप्रदेशं यथा तथा मूर्ध्नि माला अबन्धि बद्धा । अय च स्वाभिप्रायव्यञ्जकचेष्टारूपश्चापलाख्यः सञ्चारिविशेष. नायिका प्रौढैव "स्मरमन्दीकृतव्रीडा प्रौढा सम्पूर्णयौवना" ॥ इति लक्षणात् ॥ ४० ॥

अथ काञ्चिन्नायिका प्रति सखीवचनं विशेषकेणाह—

अभिमुखमुपयाति मा स्म किञ्चित्त्वमभिदधाः पटले मधुव्रतानाम्।
मधुसुरभिमुखाब्जगन्धलब्धेरधिकमधित्वदनेन मा निपाति ४१

अभिमुखमिति । मधु मकरन्द व्रतयन्ति भुञ्जत इति मधुव्रताः मधुपाः । कमण्यण्प्रत्ययः । तेषा पटले अभिमुखमुपयाति आगते सति त्वं किंचिन्मास्माभिदधाः न किंचिदालप मौन भजेत्यर्थ. । "स्मोत्तरे लङ्च" "न माङ्योगे" इत्यट् प्रतिषेधः । मौनस्य मधुकरबाधानिवृत्तिरेव फलमित्याह । मध्विति । मधुना मद्येन सुरभेर्मुखाब्जस्य यो गन्धस्तस्य लब्धेर्लाभात् । स्त्रिया क्तिन् । अनेन मधुव्रतपटलेन अधित्वत् त्वयि । विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः "त्वमावेकवचने" इत्यत्रैकवचन इत्यर्थनिर्देशादिह विभक्त्यभावेऽप्येकार्थवृत्तेर्युष्मदो मपर्यन्तस्य त्वादेशः । अतएव विभक्त्यभावाच्च त्वादेशोऽत्र चिन्त्यइति वल्लभवचन चिन्त्यम । अधिकमत्यन्तं सर्वत्रेत्यर्थ. । मा निपाति मा निपत्यताम् । भावे लुङि चिण्वद्वृद्धिः । अत्र निपातासम्बन्धेऽपि तत्सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिरलङ्कारः ॥ ४१ ॥

सरजसमकरन्दनिर्भरासु प्रसवविभूतिषु भूरुहां विरक्तः ।
ध्रुवममृतपनामवाञ्छयासावधरममुं मधुपस्तवाजिहीते ॥ ४२॥

सरजसेति । किंच मधु पिबतीति मधुपो मधुलिट् मद्यपश्च । "आतोऽनुपसर्गे कः" इति कः । भुवि रोहन्ति जायन्त इति भूरुहा भूरुहाणा भौमानां च देहिना सम्बन्धिनीषु सह रजसा सरजसम् । "अचतुर" इत्यादिना साकल्यार्थेऽव्ययीभावे समासान्तनिपात' । तेन सरजस्क इति बहुव्रीह्यर्थो लक्ष्य. मुख्यो वा महाकविप्रयोगबाहुल्यात् । अव्ययीभावदर्शनं तु प्रायिकमित्युक्तं प्राक् । तथा च सरजसं सरजसो वा यो मकरन्दस्तेन निर्भरासु पूर्णासु न तु त्वदधरामृतेन नाप्यरजस्केनेति भावः । अन्यत्र रज. स्त्रीपुष्पम् । 'स्याद्रजः पुष्पमार्त्तवम्' इत्यमर. । तत्साहचर्यान्मकरन्दशब्देन शुक्रप्रतीतिः तेन शुक्रशोणितसन्निपातप्रायास्वित्यर्थः । प्रसवविभूतिषुपुष्पसमृद्धिषु जन्मपरम्परासु च विरक्तः निःस्पृहः सन् अमृत पिबतीति अमृतप इति नाम्नो वाञ्छयाऽसावमु तवाधरमोष्ठ प्रति आजिहीते आगच्छति। ध्रुव सत्यमित्युत्प्रेक्षायाम् ।अन्यत्र तु अमृतपो देव इति नामवाञ्छया देवभूयापेक्षयेत्यर्थः । अथ वा निःश्रेयसप्राप्तीच्छयेत्यर्थ. 'श्रेयो निःश्रेयसामृतम्' इत्यमरः । ध्रुवं शाश्वतं अधर धरासम्बन्धरहित अमु परलोकपथम् । शुभमिह चामुत्र चान्वेति इत्यादौ लोके वेदे चेदमदसोर्लोकद्वये रूढिप्रदर्शनात् ॥ आजिहीते अन्विष्यतीत्यर्थः । 'ओ हाङ्गतौ' इति धातोर्लटि "श्लौ" इति द्विर्भावः ' ई हल्यघोः" इतीकारः । इह

नायिकावदनसौरभहेतुकस्य मधुपानामागमनस्यामृतपनामवाञ्छाहेतुकत्वोत्प्रेक्षणाद्गुणहेतूत्प्रेक्षा सा च ध्रुवमिति व्यञ्जकप्रयोगाद्वाच्या सती मधुपस्यावरोदेशस्यासम्बन्धेऽपिसम्बन्धाभिधानादतिशयोक्त्युत्थापितेति सङ्करः । पूर्वोक्ता प्रकृतार्थप्रतीतिस्तु मधुपादिशब्दानामभिधया प्रकृतार्थनियन्त्रितत्वाच्छब्दशक्तिमूलो ध्वनिरेव न श्लेषइत्यलं विस्तरेणेति ॥ ४२ ॥

इति वदति सखीजने निमीलद्द्विगुणितसान्द्रतराक्षिपक्ष्ममाला ।
अपतदलिभयेन भर्तुरङ्कं भवति हि विक्लवता गुणोऽङ्गनानाम् ॥ ४३ ॥

इतीति । इति इत्थं सख्येव जनस्तस्मिन्सखीजने वदति सति निमीलन्त्यौ भयान्मुकुलीभवन्त्यौ अत एव द्वे आवृत्ती ययोस्ते द्विगुणे द्विरावृत्ते । 'गुणास्त्वावृत्तिशब्दादिज्येन्द्रियामुख्यतन्तुषु' इति वैजयन्ती । ते कृते द्विगुणिते अत एव सान्द्रतरे अक्षिपक्ष्ममाले नेत्रलोमपङ्क्ती यस्याः सा काचिदिति शेषः । अक्षिग्रहणस्य पक्ष्मद्वयद्वैगुण्यलक्ष्मीरक्ष्णोरेवेति द्योतनार्थत्वान्न पौनरुक्त्यम् । अलिभयेन भर्तुरंकमुत्सङ्गमपतत् प्राप्तवती । अहो महत्कष्टं यत्कीटकादपि भयमित्याशङ्क्याह अंगनानां न तु पुंसामिति भावः विक्लवता भीरुता गुणो भवतिहि न तु दोष इति भावः । अत एव जनसमक्षं भर्तुरंकारोहणमपि न दोषः पार्श्वस्थालम्बनादीनां भयानुभावत्वात् । कुलकेऽलङ्कारोऽयमर्थान्तरन्यासः ॥ विशेषकम् ॥ ४३ ॥

मुखकमलकमुन्नमय्य यूना यदभिनवोढवधूर्बलादचुम्बि ।
तदपि न किल बालपल्लवाग्रग्रहपरया विविदे विदग्धसख्या ॥ ४४ ॥

मुखेति । यूना अभिनवोढवधूर्नवोढाङ्गनापि बलात् बलात्कारात् मुखं कमलमिवेत्युपमितसमासः । तदल्पं मुखकमलकम् । अल्पार्थे कन्प्रत्ययः । उन्नमय्य उद्यम्य । "ल्यपि लघुपूर्वात्" इत्ययादेशः । अचुम्बि चुम्बितेति यत् । तच्चुम्बनं विदग्धसख्या चतुरसख्या बालपल्लवाग्राणां ग्रहो ग्रहणम् । "गृहवृदृनिश्चिगमश्च" इत्यप्प्रत्ययः । तत्परया तदासक्तया सत्या कञ्चिद्व्यासङ्गं कल्पयन्त्येवेत्यर्थः न विविदे अपि किल न प्रकाशितमिति किमुत वक्तव्यमित्यपिशब्दार्थः । किलेत्यलीके । वस्तुतो विदित्वाप्यविदित्वेव स्थितं वैदग्ध्यात् अन्यथा तयोर्विश्रम्भविहारविघातादिति भावः । मुग्धेयं नायिका ॥ 'उदयद्यौवना मुग्धा लज्जाविजितमन्मथा' इति लक्षणात् ॥ ४४ ॥

व्रततिविततिभिस्तिरोहितायां प्रतियुवतौ वदनं प्रियः प्रियायाः ।
यदधयदधरावलोपनृत्यत्करवलयस्वनितेन तद्विवव्रे ॥ ४५ ॥

व्रततीति । प्रतिकूला युवतिः प्रतियुवतिः सपत्नी तस्यां व्रततिविततयो लताजालानि । 'वल्ली तु व्रततिर्लता' इत्यमरः । ताभिस्तिरोहितायां सत्यां प्रियः प्रियाया वदनमधयत् अपिबदिति यत् । धेटो भौवादिकाल्लङ् । तद्वदनपानमधरावलोपेनाधरखण्डनेन तज्जनितव्यथयेत्यर्थः । नृत्यतोश्चलतोः करयोर्वलयानां कङ्कणानां स्वनितेन ध्वनिना विवव्रे विवृतम् । तदेव तस्यास्तदनुमापकमभूदित्यर्थः अत्रैका दृष्टा अपरा त्वीर्ष्यानिर्वेदवतीत्यनुसन्धेयम् ॥ ४५ ॥

**विलसितमनुकुर्वती पुरस्ताद्धरणिरुहाधिरुहो वधूर्लतायाः ।
रमणमृजुतया पुरस्सखीनामकलितचापलदोषमालिलिङ्ग॥ ४६ ॥**

विलसितमिति । वधूः काचित् स्त्री पुरस्तादग्रे धरणिरुहमधिरोहतीति धरणिरुहाधिरुट् वृक्षाधिरूढा । रुहेः क्विप् । तस्या लतायाः विलसितं चेष्टितम् । भावे क्तः । अनुकुर्वती एवमित्याश्लेषप्रकारमभिनयन्ती ऋजुतया अकुटिलबुद्धितया सखीनां पुरोऽग्रे अकलितः अविचारितश्चापलमनुचितकारणमेव दोषो यस्मिन् कर्मणि तद्यथा तथा । रमणं प्रियमालिलिङ्ग । एषा हर्षौत्सुक्यवती प्रौढा च ॥ ४६ ॥

**सललितमवलम्ब्य पाणिनांसे सहचरमुच्छ्रितगुच्छवाञ्छयान्या ।
सकलकलभकुम्भविभ्रमाभ्यामुरसि रसादवतस्तरे स्तनाभ्याम्॥४७॥**

सललितमिति । अन्या स्त्री उच्छ्रितगुच्छवाञ्छया उन्नतस्तवकजिघृक्षया सललितं सविलासं यथा तथा सहचरं प्रियं पाणिना औचित्याद्वामेनेति शेषः । अंसे अवलम्ब्यावष्टभ्य सकलयोः संपूर्णयोः कलभकुम्भयोः करिकुम्भयोर्विभ्रम इव विभ्रमः सौन्दर्यं ययोस्ताभ्यां स्तनाभ्यां रसाद्रागादुरसि अवतस्तरे आच्छादयामास सहचरमित्यनुषङ्गः । अभिमुखावस्थानादिति भावः । स्तॄणातेः कर्तरि लिट् । "ऋतश्च संयोगादेर्गुणः" इति गुणः । "शर्पूर्वाः खयः" इत्यभ्यासस्कारस्य लोपः । इयं च प्रौढैव ॥ ४७ ॥

**मृदुचरणतलाग्रदुःस्थितत्वादसहतरा कुचकुम्भयोर्भरस्य ।
उपरि निरवलम्बनं प्रियस्य न्यपतदथोच्चतरोच्चिचीषयान्या॥४८॥**

मृद्विति । अन्या स्त्री उच्चतराणामत्युन्नतकुसुमानामुच्चतुमवचेतुमिच्छया उच्चतरोच्चिचीषया । चिनोतेः सन्नन्तात् स्त्रियामप्रत्यये टाप् । "विभाषाचेः" इति कुत्वविकल्पः । मृदुचरणतलाग्रेण दुःस्थितत्वात् दुःखेन स्थितत्वात् कुचकुम्भयोर्भरस्य "पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण" इति घप्रत्ययः । न सहतेऽत्यन्तमित्यसहतरा । सहेः पचाद्यजन्तान्नञ्समासात्तरप्प्रत्ययः । भरमसहमानेत्यर्थः । कृद्योगात् कर्मणि षष्ठी । अथास्मिन्नवसरे निरवलम्बनं यथा तथा प्रियस्योपरि न्यपतत् । निरवलम्बनत्वान्निपपातेत्यर्थः । एषा च प्रौढा । स्वभावोक्तिरलङ्कारः ॥ ४८ ॥

**उपरिजतरुजानि याचमानां कुशलतया परिरम्भलोलुपोऽन्यः ।
प्रथितपृथुपयोधरां गृहाण स्वयमिति मुग्धवधूमुदास दोर्भ्याम्॥४९**

उपरिजेति । उपरिजानि उपरि जातानि तरोर्जातानि तरुजानि कुसुमानि तानि याचमानाम् अवचित्य देहीति प्रार्थयमानां प्रथितपृथुपयोधरां प्रशस्तपीवरकुचां मुग्धवधूम् अकुटिलधियं स्त्रियं परिरम्भलोलुपः आश्लेषलालसोऽन्यः कुशलतया वचनापटुतया स्वयं गृहाण स्वमेवावचिनुष्वे-

त्यर्थः । इति गम्यमानार्थत्वादुक्केति न प्रयुक्त पौनरुक्त्यात् दोर्भ्यामुदास उद्यच्छतिस्म । अत्र चैकायत्तत्वादनुकूलो नायकः । नायिका तु स्वाधीनपतिका प्रौढा च ॥ ४९ ॥

इदमिदमिति भूरुहां प्रसूनैर्मुहुरतिलोभयता पुरः पुरोऽन्या ॥
अनुरहसमनायि नायकेन त्वरयतिरन्तुमहो जनं मनोभूः ॥५०॥

इदमिति । अन्या स्त्री इदमिदमिति इदं ग्राह्यमिद ग्राह्यमित्युक्त्वेत्यर्थ । भूरुहां वृक्षाणां प्रसूनैः पुष्पैः पुरः पुरो मुहुरतिलोभयता प्रलोभयता नायकेन रहोऽनु अनुरहसमेकान्तम् ।"अन्ववतप्तादूहसः" इत्यव्ययीभावसमासान्त । अनायि नीता । तथा हि मनोभू कामो जन रन्तुं त्वरयति देशकालानपेक्षयेति भाव । अत एवाश्चर्यमहो इति पूर्ववन्नायिकानायकविवेक । अर्थान्तरन्यास· ॥ ५० ॥

विजनमिति बलादमुं गृहीत्वा क्षणमथ वीक्ष्य विपक्षमन्तिकेऽन्या।
अभिपतितुमना लघुत्वभीतेरभवदमुञ्चति वल्लभेऽतिगुर्वी ॥५१॥

विजनमिति । अन्या स्त्री विजनमेकान्तमिति हेतोरमु वल्लभ क्षणं बलाद्गृहीत्वा आकृष्य अथान्तिके विपक्ष सपत्नीजन वीक्ष्य लघुत्वभीतेस्तुच्छत्वभयादभिपतितु मनो यस्याः सा अभिपतितुमना "तुङ्काममनसोरपि" इति मकारलोप । अपसर्तुकामेत्यर्थः । वल्लभे अमुञ्चत्यत्यजति सति । तस्य विपक्षानवेक्षणादिति भाव । अतिगुर्वी अतिगौरववत्यभवत् स्वयङ्ग्रहलाववतिरोधानात् भर्तृवल्लभत्वप्रकाशनाचेति भावः । भाग्यवता सर्वं श्रेयसे भवतीति रहस्यम् । एषा त्वतिप्रगल्भैव ॥ ५१ ॥

अधिरजनि जगाम धाम तस्याः प्रियतमयेति रुषा स्रजावनद्धः ।
पदमपि चलितुं युवा न सेहे किमिव न शक्तिहरं ससाध्वसानाम्॥५२

अधीति । अधिरजनि रजन्याम् । विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः । तस्या· सपत्न्या इत्यर्थः । बुद्धिस्थत्वान्नामग्रहणासहत्वाच्च तच्छब्देन निर्देशः । धाम गृह जगामेति रुषा हेतुना प्रियतमया कर्त्र्या । स्रजा करणेन अवनद्धो युवा पदमपि । "अत्यन्तसयोगे द्वितीया" इति द्वितीया । चलितु न सेहे न शशाक । तथा हि ससाध्वसाना भयत्रस्ताना किमिव किं वा । इवशब्दो वाक्यालङ्कारे "इवेतीपदर्थोपमोत्प्रेक्षावाक्यालङ्कारेषु" इति गणव्याख्याने । शक्ति हरतीति शक्तिहरम् । "हरतेरनुद्यमनेऽच्" इत्यच्प्रत्ययः । न भवतीति शेष· । "अस्तिर्भवन्तीपरोऽप्रयुज्यमानोऽप्यस्ति' इति वचनात् । भवन्तीति लटः पूर्वाचार्याणा सञ्ज्ञा । सर्वस्यापि भीरूणां शक्तिहरत्वादवलाकृतः स्रग्बन्धोऽपि यूनः शक्तिहर इति युक्तम् इति सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः । खण्डितेय नायिका 'ज्ञातेऽन्यासङ्गविकृते खण्डितेर्ष्याकषायिता' इति लक्षणात् । नायकस्तु दक्षिणः ।"भयसम्बन्धसहनादिभिस्तुल्यो नैकत्र दक्षिणः"इति लक्षणार्थप्रतीतेरिति ॥ ५२ ॥

अथ काचित्खण्डिता निजकान्तमागस्कारिण पल्लवदानेन प्रसादयन्त चतुर्भिर्भर्त्सयि-तुमारभते—

न खलु वयममुष्य दानयोग्याः पिबति च पाति च यासकौ रहस्त्वाम् । व्रज विटपममुं ददस्व तस्यै भवतु यतः सदृशो-श्चिराय योगः ॥ ९३ ॥

नेति । वयममुष्य दानयोग्या न भवामः खलु । किन्तु या असावेवासकौ त्वत्प्रिया । "अव्ययसर्वनाम्नामकच् प्राक्टेः" इत्यकच् । रहो रहसि 'रहश्चोपांशु चालिङ्गे' इत्यमरः । त्वां पिबति पानं करोति । 'पा पाने' भौवादिकात् कर्त्तरि लट् "पाघ्रा" इत्यादिना पिबादेशः। पाति रक्षति च अन्यतो वारयति चेत्यर्थः । 'पा रक्षणे' अदादित्वाच्छपो लुक् । तस्यै अमुं विटान्पातीति विटप पल्लवम् 'विटपः पल्लवे पिङ्गे' इति विश्वः । ददस्व प्रयच्छ । 'दद दाने' इति भौवादिकाल्लोट् । व्रज गच्छ यतो दानाच्चिराय चिरकालात् चिरार्थेऽव्ययम् । सदृशोरनु-रूपयोर्योगो भवतु उभयोरपि विटपत्वादिति भावः । समालङ्कारोऽयम् । 'सा समालङ्कृतिर्योगो वस्तुनोरनुरूपयोः' इति लक्षणात् ॥ ९३ ॥

तव कितव किमाहितैर्वृथा नः क्षितिरुहपल्लवपुष्पकर्णपूरैः ।
ननु जनविदितैर्भवद्व्यलीकैश्चिरपरिपूरितमेव कर्णयुग्मम् ॥९४॥

तवेति । हे कितव धूर्त्त वृथा व्यर्थमेवाहितैः । तत्कार्य्यस्यान्यथा सिद्धत्वादिति भावः । तव सम्बन्धिभिः क्षितिरुहाणां पल्लवाः पुष्पाणि च तान्येव कर्णं पूरयन्तीति कर्णपूराः कर्णावतंसाः । कर्म्मण्यण् । तैर्नोऽस्माकं किं तत्साध्यं न किञ्चिदस्तीत्यर्थः । गम्यमानसाधनक्रियापेक्षया कर्णपूराणां करणत्वात्तृतीया । उक्तञ्च न्यासोद्योते 'न केवलं श्रूयमाणैव क्रिया निमित्तं कारकभावस्य अपि तु गम्यमानापि' इति । किन्तु नन्वङ्ग जनविदितैर्जनेष्वतिप्रसिद्धैः । जनेषु विदितैरिति सप्तमीसमासः । "क्तस्य च वर्तमाने" इति कृद्योगे षष्ठीप्रतिप्रसवत्वेऽपि "क्तेन च पूजायाम्" इति षष्ठीसमासनिषेधात् । जनानामाधारत्वविवक्षायां तदप्राप्तेः । भवद्व्यलीकैस्तवा-प्रियवचनैः कर्णयुग्मं चिरपरिपूरितं नित्यं पूर्णमेव अतः परिपूरितस्य पूरणायोगादलमेवैभिरित्यर्थः । अत्रोत्तरवाक्यार्थस्य पूर्ववाक्यार्थहेतुत्वेनोपनिबन्धाद्वाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कारः ॥ ९४ ॥

मुहुरुपहसितामिवालिनादैर्वितरसि नः कलिकां किमर्थमेनाम् ॥
वसतिमुपगतेन धाम्नि तस्याः शठ कलिरेष महांस्त्वयाऽद्य दत्तः ९५

मुहुरिति । अलिनादैर्मुहुरुपहसितां प्रतारणार्थेऽतिप्रहस्यमानामिव स्थितामेनां कलिकां कोरकम् अल्पं कलिं कलहं च 'कलहे च युगे कलिः' इति वैजयन्ती । स्त्रीप्रत्ययस्त्वविवक्षितः श्लेषे । नोऽस्माकं किमर्थं वितरसि हे शठ गूढविप्रियकारिन् तस्यास्त्वत्प्रियाया धाम्नि भवने वसतिं स्थितिमुपगतेन त्वयाद्यैव वर्त्तमानो महान् कलिः कलहो दत्तः स्वदत्त एव । महति कलौ स्थिते किं

कल्यन्तरेणेत्यर्थः । अत्रापि पूर्ववाक्यार्थस्योत्तरवाक्यार्थहेतुत्वाद्वाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गम् । कलिकामिति श्लेषोत्थापितया कोरककलहयोर्भेदे अभेदरूपातिशयोक्त्यानुप्राणितमिति सङ्करः ॥ ९५ ॥

इति गदितवती रुषा जघान स्फुरितमनोरमपक्ष्मकेसरेण ।
श्रवणनियमितेन कान्तमन्या सममसिताम्बुरुहेण चक्षुषा च ॥ ९६ ॥

इतीति । इतीत्थं गदितवत्युक्तवती अन्या स्त्री रुषा कान्तं स्फुरितान्युज्ज्वलानि मनोरमाणि च पक्ष्माणीव केसराणि अन्यत्र केसराणीव पक्ष्माणि यस्य तेन श्रवणनियमितेन श्रोत्रे धृतेन निरुद्धेन च असिताम्बुरुहेण नीलोत्पलेन चक्षुषा च समं युगपज्जघान ताडयामास । एषा खण्डिता । नायकस्तु धृष्टः । "व्यक्ताङ्गो निर्भयो धृष्ट" इति लक्षणात् । अत्र स्फुरितेत्यादितुल्यधर्म्मगम्योपमानयोरसिताम्बुरुहचक्षुषोरुभयोरपि ताडनसाधनतयोपात्तत्वेन प्रकृतत्वात्केवलप्रकृतास्पदा तुल्ययोगिता लक्षण तूक्तम् । कलापकम् ॥ ९६ ॥

विनयति सुदृशो दृशः परागं प्रणयिनि कौसुममाननानिलेन ।
तदहितयुवतेरभीक्ष्णमक्ष्णोर्द्वयमपि रोषरजोभिरापुपूरे ॥ ९७ ॥

विनयतीति । प्रणयिनि प्रिये सुदृशः प्रियाया दृशो लोचनात् एकस्मादेवेति भावः । कुसुमेषु भवं कौसुमम्परागं रजःकणं तच्चैकमेवेति भावः । आननानिलेन निजमुखफूत्कारेण विनयत्यपनयति सति तदहितयुवतेः तत्सपत्न्याः अक्ष्णोर्द्वयमपि नत्वेकमेवेति भावः । रोषा एव रजांसि तैरभीक्ष्णमापुपूरे । नैकेन रजःकणेन किञ्चित् स्पृष्टमात्रमिति भावः । पूरयतेः कर्मणि लिट् । पूर्णमित्यर्थः । अत्र रजोविनयस्यान्यत्र रजःपूरणकारणत्वायोगादकारणत्वमेव पूरणमिति विभावनालङ्कारो रूपकानुप्राणित इति सङ्करः ॥ ९७ ॥

स्फुटमिदमभिचारमन्त्र एव प्रतियुवतेरभिधानमङ्गनानाम् ।
वरतनुरमुनोपहूय पत्या मृदुकुसुमेन यदाहताप्यमूर्च्छत् ॥ ९८ ॥

स्फुटमिति । इदं प्रतियुवतेः सपत्न्या अभिधानं नामधेयम् अङ्गनानामभिचारः परमारणकर्म्म यथा श्येनेनाभिचरन्यजेतेति तस्य मन्त्रोऽभिचारमन्त्रः स एव स्फुटमित्युत्प्रेक्षा । यद्यस्माद्वरतनुः स्त्री पत्या भर्त्रा अमुना सपत्नीनामधेयेनोपहूय मृदुकुसुमेन । मृदुग्रहणमचिरावचितत्वं द्योतयन् देवताभिचारमन्त्राणामनादिसंस्कारभावं द्योतयति । तेनाप्याहता अमूर्च्छत् यदुच्चारणपूर्वकं कुसुमताडनमपि मारकं सोऽभिचारमंत्र एव सत्यम् अन्यथा केवलकुसुमेऽपि तत्प्रसङ्गादित्यर्थः ॥ ९८ ॥

समदनमवतंसितेऽधिकर्णं प्रणयवता कुसुमे सुमध्यमायाः ।
व्रजदपि लघुतां बभूव भारः सपदि हिरण्मयमण्डनं सपत्न्याः ॥ ९९ ॥

समदनमिति । प्रणयवता प्रियेण सुमध्यमायाः प्रियाया अधिकर्णं कर्णे विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः । कुसुमे समदनं यथा तथा अवतंसिते अवतंसीकृते सति सपदि लघुता हीनतामगुरुत्वं च व्रजदपि

समान एकः पतिर्यस्यास्तस्याः। सपत्न्याः"नित्य सपत्न्यादिषु" इति ङीप् नकारश्च तस्मादेव निर्देशात्, समानशब्दस्य सभावनिपातः। हिरण्यस्य विकारो हिरण्मयम्। "दाण्डिनायन" इत्यादिना निपातः। तन्मण्डनभारो बभूव यत्किञ्चिदपि प्रेम्णा कान्तेन स्वहस्तदत्त श्लाघ्य मण्डनं भवति अन्यन्महार्घमपि हीनं भारश्च, न तु मण्डनमित्यर्थः। लघुगुरुत्वगुणविरोधस्य हीनार्थत्वेन परिहाराद्विरोधाभासभेदः ॥ ५९ ॥

अवजितमधुनातवाहमक्ष्णो रुचिरतयेत्यवनम्य लज्जयेव।
श्रवणकुवलयं विलासवत्या भ्रमररुतैरुपकर्णमाचचक्षे ॥ ६० ॥

अवजितमिति। विलासवत्याः स्त्रियाः श्रवणकुवलयं श्रवणोत्पल कर्तृ। अहमधुना तवाक्ष्णोः रुचिरतया रुचिरस्य भावः रुचिरता। भावे तल्। तया सौन्दर्येणावजितमिति वक्तव्यानुवादः। अत एव लज्जया अवनम्य भ्रमररुतैः तन्मिषेणेत्यर्थः। उपकर्णं कर्णे विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः। आचचक्ष इवेत्युत्प्रेक्षा ॥ ६० ॥

अवचितकुसुमा विहाय वल्लीर्युवतिषु कोमलमाल्यमालिनीषु।
पदमुपदधिरे कुलान्यलीनां न परिचयो मलिनात्मनां प्रधानम् ६१

अवचितेति। अलीनां कुलानि अवचितानि युवतिभिरुपात्तानि कुसुमानि यासां ताः रिक्ता इत्यर्थः। वल्लीः पुष्पलताः विहाय कोमलानि माल्यानि मलन्ते धारयन्तीति तासु कोमलमाल्यमालिनीषु। 'मल मल्ल धारणे' इति धातोर्णिनिः "ऋन्नेभ्योङीप्" इति ङीप्। युवतिषु पदमुपदधिरे निदधुः। तथा हि मलिनात्मना कृष्णदेहानां दुष्टचित्ताना च परिचयश्चिरकालसाहचर्यं न प्रधानं न प्रयोजकं किन्तु भुक्तिरेवेति भावः। अतः परिचितलतात्यागो नाश्चर्यमित्यर्थः। अत्र मलिनात्मनामिति कृष्णांगत्वस्य दुष्टचित्तत्वेन सहाभेदाध्यवसायेनार्थान्तरन्यासस्योत्थापनात् श्लेषप्रतिभोत्थापितातिशयोक्त्यनुप्राणितोऽयमिति सङ्करः ॥ ६१ ॥

अथोत्तरसर्गे जलक्रीडावर्णनाय तदुपोद्घातत्वेनासां वनविहारोद्भवं श्रमातिरेकं सप्तभिः कुलकेन दर्शयति—

श्लथशिरसिजपाशपातभारादिव नितरां नतिमद्भिरंसभागैः।
मुकुलितनयनैर्मुखारविन्दैर्घनमहतामिव पक्ष्मणां भरेण ॥६२॥

श्लथेत्यादि। शिरसि जातः शिरोरुहः। "सप्तम्या जनेर्डः" इति डः "हलदन्तात्" इत्यादिना सप्तम्या अलुक् तेषां पाशः कलापः श्लथस्य तस्य यः पातः तस्य भारादिवेति हेतूत्प्रेक्षा। न पादादौ खल्वादय इति वामनीयनिषेधेऽपि इवशब्दस्य पादादौ प्रयोग. कवेरौद्धत्यात् नितरामतिशङ्क्येन। अव्ययादाम्प्रत्ययः। नतिमद्भिरंसभागैरुपलक्षिताभिर्नितम्बिनीभिरिति भाविना सम्बन्धः। एवमुत्तरत्रापि योज्यम्। नतासत्वमुत्तमस्त्रीलक्षणम्। पुनर्घनमहता सान्द्रदीर्घेणा पक्ष्मणा भरेणेवेति पूर्ववद्धेतूत्प्रेक्षा। मुकुलितनयनैर्मुखारविन्दैः। अत्रोत्प्रेक्षयोः संसृष्टिः ॥ ६२ ॥

अधिकमरुणिमानमुद्वहद्भिर्विकसदशीतमरीचिरश्मिजालैः ।
परिचितपरिचुम्बनाभियोगादपगतकुङ्कुमरेणुभिः कपोलैः ॥६३॥

अधिकमिति । पुनः परिचितानां प्रणयिनां परिचुम्बनैरभियोगान्मर्दनादपगतकुङ्कुमरेणुभिः अत एव विकसन्ति वैमल्यात्प्रतिफलन्ति अशीतमरीचेरुष्णांशो रश्मिजालानि येषु तैः । असम्बन्धेऽपि सम्बन्धोक्त्यातिशयोक्तिः । अत एवाधिकमरुणिमानमुद्वहद्भिः कुङ्कुमापायेऽप्यातपलंघनादतिलोहितैरित्यर्थः । कपोलैर्गण्डस्थलैः ॥ ६३ ॥

अवसितललितक्रियेण बाह्वोर्ललिततरेण तनीयसा युगेन ।
सरसकिसलयानुरञ्जितैर्वा करकमलैः पुनरुक्तरक्तभाभिः ॥६४॥

अवसितेति । पुनरवसिता श्रमेण परिसमाप्ता ललिता क्रिया सुकुमारचेष्टा अपि यस्य तेन ललिततरेण मृदुतरेण तनीयसा तनुतरेण बाह्वोर्युगेन पुनः सरसैरार्द्रैः किसलयैरनुरञ्जितैर्वा अनुरञ्जनं प्रापितैरिव पुनरुक्ता द्विगुणाः रक्ता भासो येषां तैः पुनरुक्तरक्तभाभिः । 'हलि सर्वेषाम्' इति यकारलोपः । करकमलैः पाणिपङ्कजैः । अत्रेतरजनकरापेक्षया पुनरुक्तरक्तत्वं स्वाभाविकमेव । तत्र किसलयरञ्जनहेतुकत्वमुत्प्रेक्ष्यते । इवार्थे वाशब्दः तदुत्प्रेक्षाया प्रयुक्तः ॥ ६४ ॥

स्मरसरसमुरस्स्थलेन पत्युर्विनिमयसंक्रमिताङ्गरागरागैः ।
भृशमतिशयखेदसम्पदेव स्तनयुगलैरितरेतरं निषण्णैः ॥ ६५ ॥

स्मरेति । पुनः स्मरेण सरसं सानुरागं यथा तथा पत्युरुरस्स्थलेन कर्त्रा । विनिमयेन व्यतिहारेण संक्रमितोऽङ्गरागोऽनुलेपनं तेन रागो रञ्जनं येषु तैः अतिशयोऽतिशयितो यः खेदस्तस्य सम्पदा महिम्नेवेत्युत्प्रेक्षा । भृशमितरेतरं निषण्णैः परस्परं संश्रितैः स्तनयुगलैः ॥ ६५ ॥

अतनुकुचभरानतेन भूयः श्रमजनितानतिना शरीरकेण ।
अनुचितगतिसादनिस्सहत्वं कलभकरोरुभिरूरुभिर्दधानैः ॥६६॥

अतन्विति । पुनः अतनुना महता कुचभरेणानतेन नम्रेण प्रागेवेति भावः । भूयः पुनश्च श्रमजनिता आनतिर्यस्य तेन शरीरकेण सुकुमारशरीरेण किंच अनुचिता अनभ्यस्ता । 'अभ्यस्तेऽप्युचितं न्याय्यम्' इति यादवः । तया गत्या पादचारेण यः सादः कार्श्यं तेन सन्निस्सहत्वमक्षमत्वं तद्दधानैः । गन्तुमक्षमैरित्यर्थः । न सहन्त इति निस्सहाः । पचाद्यजन्तेनोपसर्गस्य समासे त्वप्रत्ययः । कलभकराः करिहस्ता इवोरवो महान्तस्तैरूरुभिः सक्थिभिः । 'सक्थि क्लीबे पुमानूरुः' इत्यमरः ॥ ६६ ॥

अपगतनवयावकैश्चिराय क्षितिगमनेन पुनर्वितीर्णरागैः ।
कथमपि चरणोत्पलैश्चलद्भिर्भृशविनिवेशवशात्परस्परस्य ॥६७॥

अपगतेति । पुनश्चिराय चिरं क्षितिगमनेनापगतो नवयावको नवलाक्षारागो येषा तैः पुनस्तेनैव वितीर्णरागैः सौकुमार्यादुत्पादितरागैः परस्परस्य भृशविनिवेशवशात् स्थिरन्यासबलात् एकं स्थिरं निवेश्य तदवष्टम्भेनेतरचालनक्रमेणेत्यर्थः । कथमपि महता प्रयत्नेन । 'कथमादि तथाप्यन्त यत्नगौरवभेदयोः' इत्युत्पलः । चलद्भिश्चरणोत्पलैः ॥ ६७ ॥

मुहुरिति वनविभ्रमाभिषङ्गादतमि तदा नितरां नितम्बिनीभिः ।
मृदुतरतनवोऽलसाः प्रकृत्या चिरमपि ताः किमुत प्रयासभाजः६८

मुहुरिति । नितम्बिनीभिरुक्तधर्मोपलक्षिताभिः स्त्रीभिर्मुहुरित्येवं वनविभ्रमाभिषङ्गात् वनभ्रमणासङ्गात्तदा नितरामतमि तान्तम् । तमेर्ण्यन्ताद्भावे लुङ् "नोदात्तोपदेशस्य मान्तस्यानाचमे" इति वृद्धिप्रतिषेधः । युक्त चैतदित्याह । मृदुतरतनवोऽतिकोमलाङ्गयस्ताः स्त्रियः प्रकृत्या अलसा जडाः अथ चिरमपि प्रयासभाजश्चेत् किमुत सुतरामलसाः स्युरित्यर्थः । अत्राप्रकृतनैसर्गिकालस्य कथनेनागन्तुकस्य कैमुत्यन्यायतः सिद्धत्ववर्णनादर्थापत्तिरलकारः । 'एकस्यवस्तुनो भावाद्यत्र वस्त्वन्यदापतेत् । कैमुत्यन्यायतः सा स्यादर्थापत्तिरलङ्क्रिया' इति लक्षणात् । श्रमश्चात्र सञ्चारी वाच्य' । 'श्रमः खेदोऽध्वरत्यादेः' इति लक्षणात् ॥ ६८ ॥

अथ श्रमानुभावं स्वेदं वर्णयति—

प्रथममलघुमौक्तिकाभमासीच्छ्रमजलमुज्ज्वलगण्डमण्डलेषु ।
कठिनकुचतटाग्रपाति पश्चादथ शतशर्करतां जगाम तासाम्॥६९॥

प्रथममिति । अथ तासा स्त्रीणा श्रमजल प्रथममुज्ज्वलगण्डमण्डलेषु उज्ज्वलगण्डस्थलेषु अलघुमौक्तिकाभं स्थूलमुक्ताफलसदृशमासीत् । पश्चात्कठिनतरकुचाग्रपाति सत् अथ पतनानन्तर शत शर्करा शतशर्करम् । 'समाहारे द्विगुरेकवचन वा टाबन्ते' इति नपुसकत्वम् । तस्य भावस्तत्ता ता शतशर्करता शतशकलत्व जगाम । अत्रैकस्य श्रमजलस्य क्रमेणानेकाश्रयसम्बन्धनिबन्धनात्पर्यायालङ्कारभेद' । 'क्रमेणैकमनेकस्मिन्नाधारे वर्त्तते यदि । एकस्मिन्नथवानेकम्पर्यायालंकृति स्मृता' इति लक्षणात् ॥ ६९ ॥

श्रमेऽपि कुचमण्डलमविकृतशोभमित्याह—

विपुलकमपि यौवनोद्धतानां घनपुलकोदयकोमलं चकाशे ।
परिमलितमपि प्रियैः प्रकामं कुचयुगमुज्ज्वलमेव कामिनीनाम्७०

विपुलकमिति । यौवनोद्धताना कामिनीनां कुचयुग विपुलक पुलकरहितमपि घनपुलकोदयेन सान्द्ररोमोद्गमेन कोमल सादिति विरोधः । विपुल विस्तृत तदेव विपुलकमित्यविरोधः । प्रियैः प्रकाम परितो मलमस्येति परिमल तत्कृत परिमलित मलिनीकृत तथाप्युज्ज्वलं विमलमेव चकाश इति विरोधः परिमलवत्कृत परिमलितमित्यविरोधः । मत्वन्तात् "तत्करोति"

इति णिचि कर्म्मणि क्तः णाविष्ठवद्भावे विन्मतोर्लुक् अपिर्विरोधे । विरोधाभासालङ्कारयोः संसृष्टिः ॥ ७० ॥

अथैकस्याः प्रियकण्ठावलम्बने श्रमानुभावमेकेनाह-

अविरतकुसुमावचायखेदान्निहितभुजालतयैकयोपकण्ठम् ।
विपुलतरनिरन्तरावलग्नस्तनपिहितप्रियवक्षसा ललम्बे ॥ ७१ ॥

अविरतेति । अविरतो यः कुसुमानामवचायो हस्तेन लवनम् । "हस्तादाने चेरस्तेये" इति घञ् । तेन यः खेदस्तस्माद्धेतोरुपकण्ठ कण्ठे । विभक्त्यर्थेऽव्ययीभाव । निहिते भुजालते यया तथा । 'दो प्रकोष्ठो भुजो वाहुर्भुजा च स्मर्यते बुधैः' इति वैजयन्ती । विपुलतरौ निरन्तरमवलग्नौ सश्लिष्टौ च यौ स्तनौ ताभ्यां पिहित छादित प्रियस्य वक्षो यया तयैकया स्त्रिया ललम्बे लम्बितम् । भावे लिट् ॥ ७१ ॥

अथापरस्या अङ्गभङ्गाख्यमपरमनुभावमाह-

अभिमतमभितः कृताङ्गभङ्गा कुचयुगमुन्नतिवित्तमुन्नमय्य ।
तनुरभिलषितं क्लमच्छलेन व्यवृणुत वेल्लितबाहुवल्लरीका ॥ ७२ ॥

अभिमतमिति । तनु काचित्तन्वी । "वोतो गुणवचनात्" इति विकल्पादनीकारः । अभिमतमभितः प्रियमभीत्यर्थः । उन्नतिवित्त औन्नत्येन प्रतीतम् । विदेर्भावार्थात् "वित्तो भोगप्रत्यययोः" इति प्रत्ययार्थे निष्ठानत्वाभावनिपातः । कुचयुगमुन्नमय्य उत्तुङ्गीकृत्य कृतोऽङ्गभङ्गो गात्रविजृम्भण यया सा तथा वेल्लिते मिथो वेष्टिते वाहुवल्लर्यौ भुजलते यया सा । "नद्यृतश्च" इति कप् । क्लमच्छलेन श्रमापनोदकचेष्टाव्याजेनेत्यर्थ । अभिलषितमालिङ्गनाद्यभिलषितम् । व्यवृणुत प्रकटितवती । वृणोतेर्लङ् । प्रौढेयमुत्सुका च ॥ ७२ ॥

अथ कस्याश्चिन्मुग्धायाः प्रियचापलोक्तिद्वारा स्वेदोद्गमम्प्रकटयति-

हिमलवसदृशः श्रमोदबिन्दूनपनयता किल नूतनोढवध्वाः ।
कुचकलशकिशोरकौ कथञ्चित्तरलतया तरुणेन पस्पृशाते ॥७३॥

हिमेति । हिमलवसदृशो हिमकणनिभान् श्रमोदबिन्दून् स्वेदबिन्दूनित्यर्थः । "मन्थौदन" इत्यादिना उदकस्योदादेश । अपनयता किल प्रमार्जतेव न तु तत्र तात्पर्यमिति भावः । तरुणेन यूना नूतनोढवध्वा कुचौ कलशाविव तौ च किशोरकाविव उल्लसनसाम्यादश्वशावाविव । 'अश्वशावः किशोरकः' इत्यमर । तौ कुचकलशकिशोरकौ । उभयत्राप्युपमितसमासः । कथञ्चित् क्लेशेन सप्रतिषेधमेवेत्यर्थः । तरलतया चपलतया उत्सुकतयेत्यर्थः । पस्पृशाते स्पृष्टौ । स्पृशेः कर्म्मणि लिट् । मुग्धेयम् ॥ ७३ ॥

अथ सर्वासामेव स्वेदोद्रेकं वर्णयति—

गत्वोद्रेकं जघनपुलिने रुद्धमध्यप्रदेशः क्रामन्नूरुद्रुमभुजलताः पूर्णनाभीह्रदान्तः । उल्लङ्घ्योच्चैः कुचतटभुवं प्लावयन् रोमकूपान् स्वेदापूरो युवतिसरितां व्याप गण्डस्थलानि ॥७४॥

गत्वेति । युवतय एव सरितस्तासां स्वेद एवापूरः प्रवाहः जघनमेव पुलिनं तत्रोद्रेकं गत्वा रुद्ध आवृतो मध्यप्रदेशोऽवलग्नभागः प्रवाहदेशश्च येन सः पूर्णनाभीह्रदान्तः । रेफान्तमकारान्तं वा । पूर्णेति पूरयतेर्ण्यन्तात्कर्मणि क्तः "वा दान्त" इत्यादिना णिलुगिट्प्रतिषेधनिपातः उच्चैरुन्नतौ कुचावेव तटौ तयोर्भुवं प्रदेशमुल्लङ्घ्य रोमकूपान् रोमाणि रोमरन्ध्राणि तान्येव कूपान् प्लावयन् पूरयन् गण्डस्थलानि कपोलभागान् उन्नतभूभागांश्च व्याप प्राप । अत्र युवतिषु सरित्त्वस्य तदवयवेष्ववयवानां च निरूपणात्समवस्तुविषयसावयवरूपकं श्लेषानुप्राणितम् । मन्दाक्रान्ता वृत्तम् । "मन्दाक्रान्ता जलधिषडगैर्म्भौ नतौ ताद्गुरू चेत्" इति लक्षणात् ॥ ७४ ॥

एवमन्यश्रमानुभावं स्वेदोद्रेकं वर्णयित्वा तत्फलभूतां जलविहारेच्छामासां दर्शयति—

प्रियकरपरिमार्गादङ्गनानां यदाभूत्पुनरधिकतरैव स्वेदतोयोदयश्रीः । अथ वपुरभिषेक्तुन्तास्तदाम्भोभिरीषुर्वनविहरणखेदम्लानमम्लानशोभाः ॥ ७५ ॥

इति श्रीमाघकविकृतौ शिशुपालवधे महाकाव्ये वनविहारो नाम सप्तमः सर्गः ॥ ७ ॥

प्रियेति । यदा अङ्गनानां प्रियकरपरिमार्गात् प्रियकरस्पर्शात् मृजेर्घञ् प्रत्ययः । स्वेदतोयोदयश्रीः स्वेदोद्गमसम्पत् पुनर्भूयोऽप्यधिकतरैवाभूत् । तदा अम्लानशोभा अक्षीणकान्तयः । वपुषि म्लानेऽपीति भावः । ता अङ्गना वनविहरणखेदेन म्लानम् । म्लायतेः कर्त्तरि क्तः "संयोगादेरातो धातोर्यण्वतः" इति निष्ठानत्वम् । वपुरङ्गम् । अथ कार्त्स्न्येन । "मङ्गलानन्तरारम्भप्रश्नकार्त्स्न्येष्वथो अथ" इत्यमरः । अम्भोभिरभिषेक्तुमीषुः इच्छन्ति स्म । इषेर्लिट् । अत्र पूर्ववाक्यार्थस्योत्तरवाक्यार्थसमर्थनहेतुकत्वेनोपनिबन्धाद्वाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलंकारः । मालिनी वृत्तम् ॥ ७५ ॥

इति श्रीमहामहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचिते माघकाव्यव्याख्याने सर्वङ्कषाख्ये सप्तमः सर्गः ॥ ७ ॥

अष्टमः सर्गः ।

अथ वपुरभिषेक्तुं तास्तदाम्भोभिरीयुरित्युक्तम्, तदेव वर्णयितुमारभते—

आयासादलघुतरस्तनैः स्तनद्भिः श्रान्तानामविकचलोचनारविन्दैः ।
अभ्यम्भः कथमपि योषितां समूहैस्तैरुर्वीनिहितचलत्पदं प्रचेले ॥ १ ॥

आयासादिति । अलघुतरस्तनैः पृथुतरकुचैरिति मान्द्यहेतूक्तिः । स्तनद्भिर्भूयोभिः श्रमश्वासैर्वा शब्दायमानैः । 'स्तन शब्दे' इति धातोर्लटः शत्रादेशः । अविकचलोचनारविन्दैः श्रमनिमीलिताक्षिपद्मैः आयासाद्वनविहारखेदात् श्रान्तानां क्लान्तानां योषितां तैः समूहैः कर्तृभिः । उर्व्यां निहितानि निक्षिप्तानि । 'डुधाञ् धारणे' इति धातोः कर्मणि क्तः । तथैव चलन्ति पदानि यस्मिन् कर्मणि तद्यथा तथा उत्क्षेपणाशक्त्या भुवि बलात्कृष्यमाणचरणमित्यर्थः । अभ्यम्भोऽम्भः प्रति कथमपि प्रचेले प्रचलितम् । भावे लिट् । स्वभावोक्तिरलङ्कारः । 'स्वभावोक्तिरसौ चारु यथावद्वस्तुवर्णनम्' इति लक्षणात् । अस्मिन्सर्गे प्रहर्षिणी वृत्तम् । 'म्नौ ज्रौ गस्त्रिदशयतिः प्रहर्षिणीयम्' इति लक्षणात् ॥ १ ॥

यान्तीनां सममसितभ्रुवां नतत्वादंसानां महति नितान्तमन्तरेऽपि । संसक्तैर्विपुलतया मिथो नितम्बैः सम्बाधं बृहदपि तद् बभूव वर्त्म ॥ २ ॥

यान्तीनामिति । समं पङ्क्तिशो यान्तीनाम् । "आच्छीनद्योर्नुम्" इति वैकल्पिको नुमागमः । असितभ्रुवां स्त्रीणामंसानां नतत्वाद्धेतोर्नितान्तं महत्यन्तरे अवकाशे सत्यपि विपुलतया हेतुना मिथः संसक्तैरन्योन्यश्लिष्टैर्नितम्बैर्बृहद्विस्तृतमपि तद्वर्त्म सम्बाध्यत इति सम्बाधं सङ्कटम् । 'सङ्कटं ना तु सम्बाधः' इत्यमरः । घञन्तस्यापि विशेष्यलिङ्गत्वं सम्बाधमनुवर्त्तत इति भाष्यकारादिप्रयोगादिष्यते । बभूव । नतांसत्वनितम्बवैपुल्योक्त्या सौन्दर्यातिशय उक्तः । असम्बाधेऽपि सम्बाधाभिधानादतिशयोक्तिः ॥ २ ॥

नीरन्ध्रद्रुमशिशिरां भुवं व्रजन्तीः साशङ्कं मुहुरिव कौतुकात्करैस्ताः । पस्पर्श क्षणमनिलाकुलीकृतानां शाखानामतुहिनरश्मिरन्तरालैः ॥ ३ ॥

नीरन्ध्रेति । नीरन्ध्रैः सान्द्रैर्द्रुमैः शिशिरां भुवं व्रजन्तीर्गच्छन्तीः ताः स्त्रीः अतुहिनरश्मिरुष्णांशुः क्षणमनिलेनाकुलीकृतानां चालितानां शाखानामन्तरालैर्नीरन्ध्रत्वेऽपि मुहुरनिलचालनजनितैरवकाशैर्मुहुः कौतुकादौत्सुक्यादिव साशङ्कं परदारत्वात्सभयमित्यर्थः । करैः पस्पर्श स्पृष्टवान् । अत्र चलच्छाखाहेतुकस्य तपनकरस्पर्शस्यौत्सुक्यहेतुकत्वोत्प्रेक्षणाद्गुणहेतूत्प्रेक्षा ॥ ३ ॥

अथ कस्याश्चिद्धृत श्वेतातपत्र चन्द्रत्वेनोत्प्रेक्षते—

एकस्यास्तपनकरैः करालिताया बिभ्राणः सपदि सितोष्ण-
वारणत्वम् । सेवायै वदनसरोजनिर्जितश्रीरागत्य प्रियमिव-
चन्द्रमाश्चकार ॥ ४ ॥

एकस्या इति । वदनसरोजेन स्त्रीमुखपङ्कजेन निर्जितश्रीश्चन्द्रमा । एतेन वदनसरोजस्य चन्द्रविजयात्सरोजान्तरवैलक्षण्य चन्द्रस्य निकृष्टत्व चोक्तम् । अत एव सेवायै तत्सेवनार्थमागत्य तपनकरैः करालिताया भीषितायाः पीडिताया इत्यर्थः । 'करालो भीषणेऽन्यवत्' इति विश्वः । एतेन सेवावकाशो दर्शित । एकस्या कस्याश्चिदङ्गनायाः सपदि आतपक्षणे एव सितोष्णवारणत्व स्वयमेव श्वेतातपत्रत्व बिभ्राण सन्प्रिय चकारेव इति क्रियास्वरूपोत्प्रेक्षा । पराजितः कयाचित्सेवनया जेतुश्चित्तसन्तोषमुपार्जयतीति भाव. ॥ ४ ॥

स्वं रागादुपरि वितन्वतोत्तरीयं कान्तेन प्रतिपदवारिता-
तपायाः । सच्छत्रादपरविलासिनीसमूहाच्छायासीदधि-
कतरा तदापरस्याः ॥ ५ ॥

स्वमिति । रागाद्धेतोरुपरि प्रियाया मूर्द्धनि स्व स्वकीयमुत्तरीय वितन्वता विस्तारयता कान्तेन प्रियेण प्रतिपद पदेपदे वारितः आतपो यस्या तस्या अपरस्याः कस्याश्चिदङ्गनायाः सच्छत्रात् । छत्रयुक्तादमरविलासिनीसमूहात्सकाशात् । "पञ्चमी विभक्ते" इति पञ्चमी । अधिकतरा छाया अनातपः कान्तिश्च तदा आसीत् । छत्रच्छायातोऽपि कान्तस्वहस्तधृतोत्तरीयच्छायैवानन्यसाधारणी ज्यायसी। मुखाकान्तिरपि तस्या एव भूयसीति भावः । 'छाया त्वनातपे कान्तौ' इत्यमरः । एतेन सच्छत्रादच्छत्रस्याधिकंच्छायेति विरोधोऽपि निरस्त इति विरोधाभासोऽलङ्कार ॥ ५ ॥

संस्पर्शप्रभवसुखोपचीयमाने सर्वाङ्गे करतललग्नवल्लभायाः ।
कौशेय व्रजदपि गाढतामजस्रं सस्रंसे विगलितनीवि नीरजाक्ष्याः ६

संस्पर्शेति । । करतले लग्नो वल्लभो यस्यास्तस्याः स्वहस्तेन तद्धस्त गृहीत्वा गच्छन्त्या इत्यर्थः । अत एव नीरजाक्ष्याः । सर्वाङ्गे संस्पर्शप्रभवेन प्रियाङ्गसङ्गप्रभवेन सुखेनोपचीयमाने पोष गमिते सति अत एव गाढतां दृढत्व व्रजदपि विगलितनीवि सुखपारवश्याद्विश्लिष्टग्रन्थि कौशेय दुकूलम् अजस्र सस्रंसे स्रस्तम् । एषा हृष्टा हर्षितरोमा च ॥ ६ ॥

गच्छन्तीरलसमवेक्ष्य विस्मयिन्यस्तास्तन्वीर्न विदधिरे गता-
नि हंस्यः । बुद्ध्वा वा जितमपरेण काममाविष्कुर्वीत स्वगुण-
मपत्रपः क एव ॥ ७ ॥

गच्छन्तीरिति । हस्यो हसाङ्गनाः अलस मन्द गच्छन्तीस्तास्तन्वी स्त्रीर्वीक्ष्य विस्मयिन्यो गतिसौष्ठवाद्विस्मयवत्य सत्यो गतानि स्वय लीलागमनानि न विदधिरे न चक्रु । लज्जयेति भाव । तथाहि परेण जित स्वगुण बुद्ध्वा वा बुद्ध्वापीत्यर्थः । क एव को वा अपत्रप. सन् कामम् आविष्कुर्वीत प्रकाशयेत् । न कश्चिदपीत्यर्थ । " इदुदुपधस्य चाप्रत्ययस्य" इति विसर्जनीयस्य षत्वम् । अत्र तिरश्चा विवेकित्वातिशयोक्त्या गतिकरणनिषेधसमर्थनार्थोऽयमर्थान्तरन्यास ॥ ७ ॥

श्रीमद्भिर्जितपुलिनानि माधवीनामारोहैर्निबिडबृहन्नितम्बबिम्बैः । पाषाणस्खलनविलोलमाशु नूनं वैलक्ष्याद्ययुरवरोधनानि सिन्धोः ॥ ८ ॥

श्रीमद्भिरिति । श्रीमद्भि शोभावद्भि निबिडा बृहतश्च नितम्बबिम्बा कटिपश्चाद्भागा येषा ते माधवस्येमा माधव्यस्तासा हरिवधूनाम् आरुह्यन्त इत्यारोहै कटिपुरोभागै जघनै जितपुलिनानि जितसैकतानि सिन्धोरवरोधनानि समुद्रमहिष्यो नद्य इत्यर्थ । वैलक्ष्यात्पराजयकृतमनसकोचाद्धेतो पाषाणेषु स्खलनेनाभिघातेन विलोल यथा तथा आशु ययु अगु नूनम् । नदीना स्वाभाविकयाः पाषाणस्खलिताशुगते वैलक्ष्यहेतुकत्वोत्प्रेक्षणात् गुणहेतूत्प्रेक्षा ॥ ८ ॥

मुक्ताभिः सलिलरयास्तशुक्तिपेशीमुक्ताभिः कृतरुचि सैकतं नदीनाम् । स्त्रीलोकः परिकलयाञ्चकार तुल्यं पल्यङ्कैर्विगलितहारचारुभिस्स्वैः ॥ ९ ॥

मुक्ताभिरिति । स्त्रीलोक स्त्रीजनः कर्ता । सलिलरयेणास्ता नुन्ना शुक्तयो मुक्ता स्फोटास्त एव पेश्य कोशा. पुटा इति यावत् 'मुक्तास्फोटः स्त्रिया शुक्ति ' इति 'पेशी कोशो द्विहीने' इति चामर । ताभिर्मुक्ताभिर्विमुक्ताभिर्मुक्ताभिर्मौक्तिकै.।'अथ मौक्तिकम् । मुक्ता' इत्यमरः। कृतरुचि कृतशोभं नदीना सिकतामय सैकत पुलिनम् 'तोयोत्थित तत्पुलिन सैकत सिकतामयम्' इत्यमर । "सिकताशर्कराभ्याच" इत्यण् प्रत्यय । विगलितैर्विशीर्णैर्हारै. चारुभिः स्वै पल्यङ्कै शयनै 'शयन मञ्चपर्य्यङ्कपल्यङ्का' खट्वया समा ' इत्यमर । तुल्य सदृश परिकलयाञ्चकार मेने पूर्णोपमेयम् ॥ ९ ॥

आघ्राय श्रमजमनिन्द्यगन्धबन्धं निश्श्वासश्वसनमसक्तमङ्गनानाम् । आरण्यास्सुमनस ईषिरे न भृङ्गैरौचित्यं गणयति को विशेषकामः ॥

आघ्रायेति । भृङ्गै । कर्तृभि । श्रमजमध्वश्रमोत्थ अनिन्द्यगन्धस्य श्लाघ्यगन्धस्य बन्धु सहचर तद्वन्तमित्यर्थ. । अङ्गनाना निश्वासश्वसन निश्वासमारुतम् असक्तमप्रतिबिद्धम् आघ्राय अरण्ये भवाः आरण्याः सुमनस पुष्पाणि नेषिरे नेष्टाः । 'इषुइच्छायाम्' कर्मणि

लिट् । अनुचितोयमकाण्डे परिचितपरित्याग इत्याह । विशेष कामयते इति विशेषकामः । "शीलिकामिभिक्षाचरिभ्यो णः" इति णप्रत्ययः । कः औचित्य गणयति न कोऽपीत्यर्थः । अर्थान्तरन्यास ॥ १० ॥

आयान्त्यां निजयुवतौ वनात्सशङ्कं बर्हाणामपरशिखण्डिनीं भरेण । आलोक्य व्यवदधतं पुरो मयूरं कामिन्यः श्रद्दधुरनार्जव नरेषु ॥ ११ ॥

आयान्त्यामिति । निजयुवतौ वनादायान्त्यामागच्छन्त्या सत्या सशङ्क सभयमपरशिखण्डिनीं जारिणीं बर्हाणा भरेण व्यवदधत छादयन्तं मयूर पुर आलोक्य कामिन्यः प्रियेष्वनार्जव कौटिल्य श्रद्दधुर्विश्वस्तवत्यः कुटिलाः पुरुषा इति निश्चिक्युरित्यर्थ । दधातेर्लुङि "गातिस्था" इत्यादिना सिचो लुक्, "आत" इति झेर्जुसादेश । "श्रदन्तरोरुपसर्गवद्वृत्तिर्वक्तव्या" इति श्रच्छब्दस्य धातो· प्राक् प्रयोग ॥ ११ ॥

आलापैस्तुलितरवाणि माधवीनां माधुर्य्यादमलपतत्रिणां कुलानि । अन्तर्धामुपययुरुत्पलावलीषु प्रादुष्यात्क इव जितः पुरः परेण ॥ १२ ॥

आलापैरिति । माधवीना हरिवधूनामालापै । कर्तृभिः । माधुर्याद्धेतोस्तुलितरवाणि तिरस्कृतरुतानि अमलपतत्रिणा हसाना कुलानि उत्पलावलीष्वन्तर्द्धाम् । "अन्तः शब्दस्याङ्किविधिणत्वेषूपसर्गत्व वाच्यम्" इति अन्त शब्दस्योपसर्गत्वात् । "आतश्चोपसर्गे" इत्यङ्प्रत्ययः । उपययुः । युक्त चैतदित्याह । तथा हि परेण जितः कः । इवशब्दो वाक्यालङ्कार पुरो जेतुरग्रे प्रादु'ष्यात् प्रादुर्भवेत् । "उपसर्गप्रादुर्भ्यामस्तिर्यच्परः" इति षत्वम् । अर्थान्तरन्यासः ॥ १२ ॥

मुग्धायाः स्मरललितेषु चक्रवाक्या निःशङ्कं दयिततमेन चुम्बितायाः । प्राणेशानभि विदधुर्विधूतहस्ताः शीत्कारं समुचितमुत्तरं तरुण्यः ॥ १३ ॥

मुग्धाया इति । दयिततमेन निःशङ्क निर्विचार चुम्बिताया दष्टायाः स्मरललितेषु चुम्बनाद्यनन्तरकृत्येषु शीत्कारादिकामचेष्टितेषु मुग्धायाः मूढाया' चक्रवाक्याः समुचित योग्य शीत्कार शीत्काररूपमुत्तर कृत्य तरुण्यः स्वय प्राणेशान् अभि विधूतहस्ताः सत्यो विदधुः । तादात्म्यभावनया स्वय दृष्टा इव शीचक्रुरिति शीत्कारासम्बन्धे तत्सम्बन्धातिशयोक्तया तत्रासामुद्दीपकमासीदित्युक्तम् ॥ १३ ॥

उत्क्षिप्तस्फुटितसरोरुहार्घ्यमुच्चः सस्नेहं विहगरुतैरिवालपन्ती । नारीणामथ सरसी सफेनहासा प्रीत्येव व्यतनुत पाद्यमूर्मिहस्तैः ॥ १४

उक्षिप्तेति । अथानन्तरमुत्क्षिप्तं स्फुटितसरोरुहं विकचारविन्दमेवार्घ्यमर्घद्रव्यं यस्मिंस्त-त्तथा सस्नेहं विहगरुतैरालपन्ती स्वागतादिवचनं व्याहरन्तीव स्थिता इत्युत्प्रेक्षा । फेन एव हास-स्तेन सहिता सफेनहासा स्मितपूर्वाभिभाषिणीत्यर्थः । सरसी पुष्करिणी नारीणामूर्मिभिरेव हस्तैः पाद्यम्पादोदकम् । "पादार्घाभ्यां च" इति यत् प्रत्ययः । प्रीत्येवेत्युत्प्रेक्षा । व्यतनुत । रूपकानुप्रा-णितोत्प्रेक्षाद्वयस्य सापेक्षत्वात् संसृष्टिः ॥ १४ ॥

नित्याया निजवसतेर्निरासिरे यद्रागेण श्रियमरविन्दतः कराग्रैः । व्यक्तत्वं नियतमनेन निन्युरस्याः सापत्न्यं क्षितिसुतविद्विषो महिष्यः ॥ १५ ॥

नित्याया इति । क्षितिसुतविद्विषो नरकद्विषो हरेः महिष्यः कराग्रैः पाणिपल्लवैः । करणैः । रागेण रक्तवर्णेन इच्छया च श्रियं शोभां रमां च नित्यायाः सदातन्याः निजवसतेः स्ववासादरविन्दतोऽरविन्दान्निरासिरे निष्कासयाञ्चक्रुः । निश्चक्रुश्चेति यावत् । "उपसर्गादस्यत्यू-ह्योर्वा वचनम्" इति विकल्पादात्मनेपदम् । अनेन निरासेनास्याः श्रियः सापत्न्यं सपत्नीत्वम् । ब्राह्मणादित्वात् ष्यञ् प्रत्ययः । व्यक्तत्वं निन्युर्व्यक्तीचक्रुरित्यर्थः । अत्र श्रीशब्देन रमाशोभयो-रभेदाध्यवसायेन श्रीनिवासस्य सापत्न्यव्यक्तीकरणार्थत्वोत्प्रेक्षणात् श्लेषप्रतिभोत्थापितातिशयो-क्त्यनुप्राणितेयं फलोत्प्रेक्षेति सङ्करः ॥ १५ ॥

आस्कन्दन् कथमपि योषितो न यावद्भीमत्यः प्रियकरधार्यमाणहस्ताः । औत्सुक्यात्त्वरितममूस्तदम्बु तावत्संक्रान्तप्रतिमतया दधाविवान्तः ॥ १६ ॥

आस्कन्दन्निति । भीमत्यः प्रवेशभीरवो योषितः प्रियकरैर्धार्यमाणहस्ताः प्रियकरावल-म्बाः सत्यः यावत्कथमपि नास्कन्दन् न प्राविशन् तावत्संक्रान्तप्रतिमतया संक्रान्तप्रतिबिम्बतया तदम्बु । कर्तृ । औत्सुक्यादुत्कण्ठतया त्वरितममूरन्तर्दधाविव अन्तः प्रावेशयदिवेत्यर्थः । प्रति-बिम्बसङ्क्रमणादन्तर्धानोत्प्रेक्षणात् क्रियानिमित्ता क्रियास्वरूपोत्प्रेक्षा ॥ १६ ॥

ताः पूर्वं सचकितमागमय्य गाधं कृत्वाथो मृदुपदमन्तरा विशन्त्यः । कामिन्यो मन इव कामिनस्सरागैरङ्गैस्तज्जलमनुरञ्जयाम्बभूवुः ॥ १७ ॥

ता इति । ताः कामिन्यः कामिनः कामुकस्य मन इव तज्जलं पूर्वं प्रथमं सचकितं सभयं यथा तथा गाधमुत्तानमागमय्य गमनेन ज्ञात्वा पुरःप्रविष्टपुरुषमुखेन गाधं तदिति परामृश्येत्यर्थः । अन्यत्र दूतमुखेन ज्ञात्वेत्यर्थः । अथो अनन्तरं मृदु मन्दं पदं कृत्वा पदं न्यस्य अन्यत्र तु स्वयं संभाषणादिकं कृत्वेत्यर्थः । अन्तरमभ्यन्तरमाविशन्त्यः प्रविष्टाः सत्यः अन्यत्र रहस्यकर्म्मणि

प्रवृत्ता इत्यर्थः । सरागै सागरागै· सानुरागैश्चाङ्गैर्गात्रैरनुरञ्जयाम्बभूव तद्वर्णाक्रान्त चक्रुः । अन्यत्र त्वनुरक्त चक्रुरित्यर्थः । श्लेषसङ्कीर्णेयमुपमा ॥ १७ ॥

संक्षोभं पयसि मुहुर्महेभकुम्भश्रीभाजा कुचयुगलेन नीयमाने। विश्लेषं युगमगमद्रथाङ्गनाम्नोरुद्वृत्तः क इव सुखावहः परेषाम् ॥ १८॥

संक्षोभमिति । महेभकुम्भश्रीभाजा तत्सदृशश्रीभाजेत्यर्थः । अतएवासम्भवद्वस्तु-सम्बन्धो निदर्शनाऽलङ्कारः । कुचयुगलेनोल्लसितेनेति भावः । पयसि मुहुः सक्षोभ नीयमाने-ऽऽयमाणे सति रथाङ्गनाम्नोर्युग चक्रवाकयुगल विश्लेष वियोगमगमत् वियोगासहमपीति भावः । तथाहि उद्वृत उन्नतो वृत्तश्च उद्वर्त्तन यस्येति वा उद्वृत्त· अन्यत्रोद्वृत्तः उन्मार्गवर्त्तीति यावत् । स क इव को वा परेषा स्वेतरेषा सुखावहः सुखकरः न कोऽपीत्यर्थः । अयञ्च श्लेषमूलातिशयोक्ति जीवितोऽर्थान्तरन्यासः ॥ १८ ॥

आसीना तटभुवि सस्मितेन भर्त्रा रम्भोरूरवतरितुं सरस्यनिच्छुः । धुन्वाना करयुगमीक्षितुं विलासान् शीतालुः सलिलगतेन सिच्यते स्म ॥

आसीनेति । शीत न सहत इति शीतालुः. " शीतमीरुः । शीतोष्णाभ्या तदसहने आलु-र्वक्तव्य " इत्यालुच् । अत एव सरसि अवतरितुं प्रवेष्टुमनिच्छुरनभिलाषुका अत एव तटभुवि आसीना उपविष्टा । आसे. कर्त्तरि शानच् "ईदासः" इतीकारः । रम्भे कदलीस्तम्भाविवोरू यस्या सा रम्भोरू स्त्री । "उरूत्तरपदादौपम्ये" इत्यूङ्प्रत्ययः । सलिलगतेन स्वय सलिलं प्रवि-ष्टेन सस्मितेन भर्त्रा विलासानीक्षितु करयुग धुन्वाना कम्पयन्ती । धुनोतेः कर्त्तरि शानच् प्रत्ययः। सिच्यते स्म सिक्ता ॥ १९ ॥

नेच्छन्ती सममुना सरोऽवगाढुं रोधस्तः प्रतिजलमीरिताः सखीभिः । आश्लिक्षद्भयचकितेक्षणं नवोढा वोढारं विपदि न दूषिताऽतिभूमिः ॥ २० ॥

नेच्छन्तीति । अमुना सममनेन भर्त्रा सह सरोऽवगाढुमवगाहितुम् । "स्वरतिसूति-सूयतिधूञूदितो वा" इति विकल्पान्निडागमः । नेच्छन्ती लज्जया अनिच्छन्ती । नञर्थस्य नशब्दस्य "सुप्सुपा" इति समासः,अनञ्समासो वा । अथ सखीभिः प्रतिजल जल प्रति रोधस्तो रोधसः । "पञ्चम्यास्तसिल्"।ईरिता नुन्ना नवोढा नववधूः भयेन चकितेक्षण सम्भ्रान्तदृष्टि यथा तथा वोढारं भर्त्तारमाश्लिक्षत् आलिङ्गितवती। "श्लिष आलिङ्गने" इति धातोर्लुङि च्लेः क्सादेशः । न च धार्ष्ट्य-दोषापत्तिरित्याह, विपदि विपत्तौ अतिक्रान्ता भूमिरतिभूमिरमर्यादा न दूषिता । आपत्काले नास्ति मर्यादेति न्यायादिति भावः । अर्थान्तरन्यासालङ्कारः ॥ २० ॥

तिष्ठन्तं पयसि पुमांसमंसमात्रे तद्दघ्नं तदवयती किलात्मनोऽपि ।
अभ्येतुं सुतनुरभीरियेष मौग्ध्याद्दाश्लेषिद्रुतममुनानिमज्जतीति २१

तिष्ठन्तमिति । सुतनुः शुभाङ्गी स्त्री अंसः प्रमाणमस्येति अंसमात्रे अंसप्रमाणे "प्रमाणे द्वयसज्दघ्नञ्मात्रचः" इति मात्रच् प्रत्ययः । पयसि जले तिष्ठन्तं पुमांसं वीक्ष्येति शेषः । आत्मनोऽपि तत्पयः । तद्दघ्नं तावन्मात्रमंसमात्रम् अवयती जानती किल तथा सम्भावयन्तीत्यर्थः । 'वार्तासम्भाव्ययोः किल' इत्यमरः । अवपूर्वादिणः शतरि "इणो यण्" इति यणादेशः, "उगितश्च" इति ङीप् । किलशब्दस्यालीकार्थत्वे मौग्ध्यविरोधः । अत एव मौग्ध्याद-विवेकादभीर्निर्भीका सती अभ्येतुं पुमांसमभिगन्तुमियेष इच्छति स्म । अमुना पुंसा निमज्जतीति द्रुतमाश्लेषि आश्लिष्टा ॥ २१ ॥

आ नाभेः सरसि नतभ्रुवावगाढे चापल्यादथ पयसस्तरङ्गहस्तैः । उच्छ्रायि स्तनयुगमध्यरोहि लब्धस्पर्शानां भवति कुतोऽथ वा व्यवस्था ॥ २२ ॥

आ नाभेरिति । नतभ्रुवा स्त्रिया सरसि आ नाभेर्नाभिपर्यन्तम् । "आङ् मर्यादाभिविध्योः" इति विकल्पादसमासः । अवगाढे प्रविष्टे सति । गाहे कर्मणि क्तः । पयसश्चापल्याल्लौल्यात् । ब्राह्मणादिषु पाठात् ष्यञ्प्रत्ययः । तरङ्गैरेव हस्तैस्तरङ्गहस्तैरुच्छ्रायोऽस्यास्तीत्युच्छ्रायि उन्नतिमत् स्तनयुगमध्यरोहि अधिरूढम् । भिक्षुकपादप्रसारणन्यायादिति भावः । रोहतेः कर्मणि लुङ् । अथ वा तथाहीत्यर्थः । लब्धस्पर्शानां लब्धप्रवेशानामित्यर्थः । कुतः कुत्र वा । सार्वविभक्तिकस्तसिल् । व्यवस्था मर्यादा भवति न कुत्रापीति भावः । प्रायेण सर्वेऽप्यसम्भवब्रह्मचारिण एवेति भावः । अत्र चापल्यादिति द्वयोरपि लौल्ययोरभेदाध्यवसायमूलातिशयोक्त्या तरङ्गहस्तैरिति रूपकेण च पयसि कामित्वप्रतीतेः समासोक्तिः । तदुपजीवी चार्थान्तरन्यास इति सङ्करः ॥ २२ ॥

कान्तानां कुवलयमप्यपास्तमक्ष्णोः शोभाभिर्न मुखरुचाऽहमेकमेव । संहर्षादलिविरुतैरितीव गायल्लोलोर्मौ पयसि महोत्पलं ननर्त्त ॥ २३ ॥

कांतानामिति । लोलोर्मौ चपलोर्मिणि । "तृतीयादिषु भाषितपुंस्कं पुंवद्गालवस्य" इति विकल्पात्पुंवद्भावः । पयसि महोत्पलमरविन्दम् । कर्तृ । 'अरविन्दं महोत्पलम्' इत्यमरः । कान्तानां मुखरुचा अहमेकमेव नापास्तं किन्तु तासामक्ष्णोः शोभाभिः कुवलयमप्यपास्तमिति संहर्षात्सन्तोषाद्धेतोरलिविरुतैर्गायत् अलिरुतरूपं गानं कुर्वदिति रूपकम् । "इत्थम्भूत

लक्षणे'' इति तृतीया । ननर्त्तेव न दुःख पञ्चभिः सहेति न्यायान्नृत्यति स्म । अत्रोर्मिचलन-हेतुके महोत्पलचलने अलिनादसहर्षहेतुकसमाननृत्यत्वोत्प्रेक्षणात्क्रियानिमित्तक्रियास्वरूपोत्प्रेक्षा वाच्या ॥ २३ ॥

त्रस्यन्ती चलशफरीविघट्टितोरूर्वामोरूरतिशयमाप विभ्रमस्य । क्षुभ्यन्ति प्रसभमहो विनापि हेतोर्लीलाभिः किमु सति कारणे रमण्यः ॥ २४ ॥

त्रस्यन्तीति—चलाः शफर्यः यातुकामा मत्स्यः । ' प्रोष्ठी तु शफरी द्वयोः' इत्यमरः । ताभिर्विघट्टितौ निबद्धौ उरू यस्याः सा अत एव त्रस्यन्ती बिभ्यती । "वा भ्राश" इत्यादिना विकल्पात् श्यनि शतरि ङीप् । वामौ सुन्दरावूरू यस्याः सा वामोरूः स्त्री । "संहितशफलक्षण-वामादेश्च" इत्यूङ् प्रत्ययः । विभ्रस्य विलासस्यातिशयमाप । तथा हि रमण्यो हेतोर्विनापि कारण विनापि । "पृथग्विना" इत्यादिना विकल्पात्पञ्चमी । लीलाभिर्विलासैः प्रसभ प्रकाम क्षुभ्यन्ति अहो निष्कारणक्षोभादाश्चर्यमित्यर्थ. । कारणे सति किमु वक्तव्यम् । अत्राप्रकृतनि-ष्कारणक्षोभकथनात्सकारणक्षोभस्य कैमुत्यन्यायलब्धत्वर्णनादर्थापत्तिरलकारः । "दण्डापूपिक-यार्थान्तरस्यापतनमर्थापत्ति." इति सूत्रम् ॥ २४ ॥

आकृष्टप्रतनुवपुर्लतैस्तरद्भिस्तस्याम्भस्तदथ सरोमहार्णवस्य । अक्षोभि प्रसृतविलोलबाहुपक्षैर्योषाणामुरुभिरुरोजगण्डशैलैः॥२५॥

आकृष्टेति । अथानन्तरमाकृष्टाः प्रतनवो वपूष्येव लता यैस्तैस्तरद्भि. प्लवमानैः प्रसृता आयता विलोलाश्चला बाहव एव पक्षा गरुन्ति येषा तैः । गिरिर्धर्मस्य पक्षवत्त्वस्य तदवयवे-पूपचार । उरुभिर्महद्भिर्योषाणा स्त्रीणाम् उरोजैरेव गण्डशैलैर्गिरिच्युतैः स्थूलोपलैस्तस्य सर इव महार्णवस्तस्य तदम्भः । अक्षोभि । क्षुभ्यतेर्ण्यन्तादण्यन्ताद्वा कर्मणि लुङ् । समस्तवस्तुवि-षयक सावयव रूपकम् ॥ २५ ॥

गाम्भीर्य दधदपि रन्तुमङ्गनाभिः संक्षोभ जघनविघट्टनेन नीतः । अम्भोधिर्विकसितवारिजाननोऽसौ मर्य्यादां सपदि विलङ्घयाम्बभूव ॥ २६ ॥

गाम्भीर्यमिति । गाम्भीर्यमगाधत्व अविकारिचित्तत्व च दधदपि गम्भीरः सन्नपि रन्तुं विहर्तु सगन्तु चाङ्गनाभिः जघनस्य विघट्टनेन सङ्घर्षेण प्रक्षोभं चलन चित्तविकार च नीतः।अतएव विकसित वारिजमाननमिव वारिजमिव चाननं यस्य स अंभासि धीयन्तेऽस्मिन्निति अम्भोधिर्ज-लाशय । कश्चित्पुमाश्च तत्तुल्यो गम्यते । " कर्मण्यधिकरणे च" इति किप्रत्ययः । सपदि मर्यादां सीमानम् औचितीं च विलघयाम्बभूव लंघितवान् । धीरोऽपि स्त्रीसन्निकर्षाद्विक्रियते इति भावः ।

अत्र गाम्भीर्यादिप्रकृताम्भोधिविशेषणसाम्यादप्रकृतविशेष्यपुरुषप्रतीतेः समासोक्तिरलङ्कारः । सा च प्रतीयमानाभेदाध्यवसायमूलातिशयोक्त्यनुप्राणितेति सङ्करः ॥ २६ ॥

आदातुं दयितमिवावगाढमारादूर्मीणां ततिभिरभिप्रसार्यमाणः । कस्याश्चिद्विततचलच्छिखाङ्गुलीको लक्ष्मीवान्सरसि रराज केशहस्तः ॥ २७ ॥

आदातुमिति । सरसि वितता प्रसारिताश्चलन्त्यश्च शिखा अग्राण्येवाङ्गुल्यो यस्य स । "नद्यृतश्च" इति कप् । लक्ष्मीवान् शोभावान् । "मादुपधायाश्च मतोर्वोऽयवादिभ्यः" इति मतुपो मकारस्य वत्वम् । कस्याश्चित्केशहस्त केशपाश । 'पाश पक्षश्च हस्तश्च कलापार्थाः कचात्परे' इत्यमरः । हस्त इति करश्च ध्वन्यते । आरात्समीपे । 'आराद्दूरसमीपयो ' इत्यमरः । अवगाढमन्तर्मग्न दयितमादातु ग्रहीतुमिव ऊर्मीणा ततिभि समूहैरभिप्रसार्यमाणोऽभितो व्यापार्यमाण सन् रराज । अत्रादातुमिव प्रसार्यमाण इति प्रसारणस्यादानार्थत्वोत्प्रेक्षणादिय क्रियानिमित्ता क्रियाफलोत्प्रेक्षा । सा च चलच्छिखाङ्गुलीक इति रूपकानुप्राणितया हस्त इति श्लेषमूलया वाच्यस्य केशकलापस्य प्रतीयमानात्कराद्भेदेऽभेदरूपातिशयोक्त्या निर्व्यूढेति सङ्कर ॥ २७ ॥

उन्निद्रप्रियकमनोरमं रमण्याः संरेजे सरसि वपुः प्रकाशमेव । युक्तानां विमलतया तिरस्क्रियायै नाक्रामन्नपि हि भवत्यलं जलौघः ॥ २८ ॥

उन्निद्रेति । उन्निद्र यत् प्रियक असनकुसुमम् 'सर्जकासनबन्धूकपुष्पप्रियकजीवकाः' इत्यमर । तदिव मनोरम कनकगौरमित्यर्थ । रमण्या वपु सरसि प्रकाशमेव जलमग्नमपि वैमल्याल्लक्ष्यमेव सरेजे । तथा हि जलौघो जलपूरो जडौघो मूर्खजनौघश्च । डलयोरभेदात् । आक्रामन्नावृण्वन्नपि अन्यत्र अधिक्षिपन्नपि विमलतया वैमल्येन युक्ताना शुद्धाना तिरस्क्रियायै तिरोधानायै परिभवाय च अल समर्थो न भवति हि । श्लेषमूलया भेदेऽभेदरूपातिशयोक्त्यानुप्राणितोऽयमर्थान्तरन्यास ॥ २८ ॥

किं तावत्सरसि सरोजमेतदारादाहोस्विन्मुखमवभासते युवत्याः । संशय्य क्षणमिति निश्चिकाय कश्चिद्बिब्बोकैर्बकसहवासिनां परोक्षैः ॥ २९ ॥

किमिति । सरस्याराद्दूरादेतत्पुरोवर्ति तावत्सरोज किम् आहोस्वित् उत युवत्या मुख अवभासते इति क्षण संशय्य संदिह्य । शीङ क्त्वो ल्यप् "अयङ्यि क्ङिति" इत्यायङादेश । काश्चिद्विलासी बकसहवासिना बकसहचारिणा पद्मानामित्यर्थः । विलासशून्यताद्योतनार्थमित्थ निर्देशः । परोक्षैरप्रत्यक्षैरननुभूतचरैरविद्यमानैरिति यावत् । बिब्बोकैर्विलासैरित्यर्थः । यद्यपि 'बिब्बोकोऽनादरक्रिया' इत्युक्त तथापि विशेषवाचिना सामान्ये लक्षणेत्यदोषः । निश्चिकाय विशेषदर्शनान्मुखमेवेति निश्चितवानित्यर्थः । सन्देहालङ्कारोऽयम् । 'विषयो विषयी यत्र सादृश्यात्क-

भिसम्मतात्। सन्देहगोचरौ स्याता सन्देहालङ्कृतिश्च सा' इति लक्षणात् । सोऽप्यन्ते निश्चयोक्तेर्निश्चयान्तः ॥ २९ ॥

अथ जलक्रीडासम्भारानाह—

शृङ्गाणि द्रुतकनकोज्ज्वलानि गन्धाः कौसुम्भं पृथुकुचकुम्भसङ्गि वासः। मार्द्वीकं प्रियतमसन्निधानमासन्नारीणामिति जलकेलिसाधनानि ॥ ३० ॥

शृङ्गाणीति। द्रुतेन तप्तनिषिक्तेन कनकेनोज्ज्वलानि लिप्तानीत्यर्थः। शृङ्गाणि क्रीडाम्बुयन्त्राणि। 'शृङ्गं प्रभुत्वे शिखरे चिह्ने क्रीडाम्बुयन्त्रके' इति विश्वः। गन्धाश्चन्दनकुङ्कुमादिगन्धद्रव्याणि। अत एव पुंसि बहुत्वं च। 'गन्धस्तु सौरभे योगे गन्धके गर्वलेशयोः'। स एव द्रव्यवचनो बहुत्वे पुंसि च स्मृतः' इत्यभिधानात्। पृथु विशालं कुचकुम्भसङ्गि कुचावरणं कुसुम्भेन रक्तं कौसुम्भम्। "तेन रक्तं रागात्" इत्यण् प्रत्ययः। वासो वस्त्रं मृद्वीकाया विकारो मार्द्वीकं द्राक्षामद्यम्। 'मृद्वीका गोस्तनी द्राक्षा' इत्यमरः। किञ्च प्रियतमसन्निधानं सर्वसाफल्यकारणमिति भावः। इत्येतानि नारीणां जलकेलिसाधनानि जलक्रीडोपाया आसन्। उद्दीपकसम्पत्तिरुक्ता। अत्र शृङ्गादीनां केलिसाधनत्वस्वरूपतुल्यधर्म्मयोगात् प्रकृतत्वाच्च केवलप्रकृतगोचरा तुल्ययोगिता ॥ ३० ॥

उत्तुङ्गादनिलचलांशुकास्तटान्ताच्चेतोभिः सह भयदर्शिनां प्रियाणाम्॥ श्रोणीभिर्गुरुभिरतूर्णमुत्पतन्त्यस्तोयेषु द्रुततरमङ्गना निपेतुः ॥ ३१ ॥

उत्तुङ्गादिति। अनिलेन वेगानिलेन चलांशुकाश्चलद्वसना अङ्गना उत्तुङ्गात्तटान्ताद्भयदर्शिनां भयोत्प्रेक्षिणामनर्थाशङ्किनामित्यर्थः। प्रियाणां चेतोभिः सह तेषां तत्रैवावधानादिति भावः। गुरुभिर्गुर्वीभिः। "वोतो गुणवचनात्" इति विकल्पादनीकरः। श्रोणीभिर्हेतुना अतूर्णं मन्दमुत्पतन्त्यस्तोयेषु द्रुततरं निपेतुः। गुरुत्वस्य पतनहेतुत्वादुत्पतनविरोधित्वाच्च शीघ्रपाते मन्दोत्पतनं चेति भावः। अत्र प्रियचेतःपाताङ्गनापातयोः कार्य्यकारणयोरसहभाविनोः सहभावोक्तेः कार्य्यकारणयोः पौर्वापर्य्यविध्वंसनरूपातिशयोक्त्युपजीविता सहोक्तिरलङ्कारः। 'सहार्थेनान्वयो यत्र भवेदतिशयोक्तितः। कल्पितौपम्यपर्य्यन्ता सा सहोक्तिरिहेष्यते' इति लक्षणात्। चेतोवत्पेतुरित्यौपम्यकल्पनया कार्यगताशुभावप्रतीतेश्च चमत्कार इति रहस्यम्। तात्कालिकांशुकचलनादिसूक्ष्मस्वभावविशेषप्रकाशनात् स्वभावोक्तिश्चेति सङ्करः ॥ ३१ ॥

मुग्धत्वादविदितकैतवप्रयोगा गच्छन्त्यः सपदि पराजयं त-

रुण्यः । ताः कान्तैः सह करपुष्करैरिताम्बु व्यात्युक्षीमभिस-
रणग्लहामदीव्यन् ॥ ३२ ॥

मुग्धत्वादिति । मुग्धत्वान्मूढत्वादविदिताः कैतवप्रयोगा मुखसेचनादिकपटाचरणानि याभिस्ताः । अत एव सपदि पराजयं गच्छन्त्यस्तास्तरुण्यः । कान्तैः सहाभिसरणं स्वयमभिगमनं ग्लहो द्यूतपणो यस्यास्ताम् । 'पणोऽक्षेषु ग्लहः' इत्यमरः । "अक्षेषु ग्लहः" इति ग्रहेरेवाक्षपणे लत्वनिपातः । अप्रत्ययस्तु । "ग्रहवृदनिश्चिगमश्च" इत्येव सिद्ध इति केचित् । अन्ये तु ग्लहिं प्रकृत्यन्तरमङ्गीकृत्याप्रत्ययस्यैव निपातो वत्रपवादीत्याहु । करपुष्करैः करकमलैरीरितैरम्बुभिर्या व्यात्युक्षीं व्यतिहारेणोक्षणं परस्पराभ्युक्षणमित्यर्थः । "कर्म्मव्यतिहारे णच् स्त्रियाम्" इति णच् प्रत्ययः । णचः स्त्रियामञ्" इति स्वार्थिकाऽञ् प्रत्ययः । टिड्ढाणञ्" इत्यादिना ङीप् । ता व्यात्युक्षीमदीव्यन् तया अक्रीडन्नित्यर्थः । "दिवः कर्म्म च" इति विकल्पात्कर्मत्वम् । अत्राविदितकैतवप्रयोगस्य विशेषणगत्या पराजयहेतुत्वादर्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कारः ॥ ३२ ॥

योग्यस्य त्रिनयनलोचनानलार्चिर्निर्दग्धस्मरपृतनाधिराजलक्ष्म्याः
कान्तायाः करकलशोद्यतैः पयोभिवक्त्रेन्दोरकृतमहाभिषेकमेकः ३३

योग्यस्येति । त्रिनयनस्त्र्यम्बकः । "क्षुभ्नादिषु च" इति निषेधात् "पूर्वपदात्संज्ञायाम्" इति णत्वाभावः । तस्य लोचनानलार्चिषा निर्दग्धस्य स्मरस्य याः पृतनास्तासामधिराज्यमाधिपत्यं तदेव लक्ष्मीस्तस्याः योग्यस्यार्हस्य त्रैलोक्यविजयिनः स्थाने तादृशस्यैव स्थाप्यत्वादिति भावः । कान्ताया वक्त्रेन्दोः स्मरसखत्वादस्येति भावः । कराञ्जलिरेव कलशस्तेनोद्यतैरुत्क्षिप्तैः पयोभिर्महाभिषेकमेकः कश्चित्कामी अकृत कृतवान् । करोतेर्लुङि तङ् "तनादिभ्यस्तथासोः" इति सिचो लुक् । अत्र जलक्रीडासेके महाभिषेकत्वोत्प्रेक्षा प्रतीयमानकरकलशेतिरूपकानुप्राणितेति सङ्करः ॥ ३३ ॥

सिञ्चन्त्याः कथमपि बाहुमुन्नमय्य प्रेयांसं मनसि दुःखदुर्बलायाः ।
सौवर्णवलयमवागलत्कराग्राल्लावण्यश्रियइवशेषमङ्गनायाः ॥३४॥

सिञ्चन्त्या इति । मनसिजदुःखेन स्मरपीडया दुर्बलाया अत एव कथमपि बाहुमुन्नमय्योद्यम्य प्रेयासं प्रियतमम् । "प्रियस्थिर" इत्यादिना प्रादेशः । सिञ्चन्त्याः स्नपयन्त्याः अङ्गनायाः कराग्रात् सौवर्णं हिरण्मयं वलयं कङ्कणम् । 'कङ्कणं वलयोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः । लवणैव लावण्यं कान्तिविशेषः । चातुर्वर्ण्यादित्वात् स्वार्थे ष्यञ् प्रत्ययः । 'लवणो रसरक्षोऽब्धिभेदेषु लवणा त्विषि' इति विश्वः । यद्वा 'मुक्ताफलेषु च्छायायास्तरलत्वमिवान्तरा । प्रतिभाति च यत्त्वङ्गे तल्लावण्यमिहोच्यते' । तस्य श्रीः सम्पत्तस्याः शेषमतिरिक्तं शरीरसम्पदवशिष्टमिति

यावत् । 'शेषः सङ्कर्षणेऽनन्त उपयुक्तेतरेऽन्यवत्' इति विश्वः । तदिवावागलदपतत । शेषमिति गुणनिमित्तजातिस्वरूपोत्प्रेक्षा ॥ ३४ ॥

स्निह्यन्ती दृशमपरा निधाय पूर्णं मूर्त्तेन प्रणयरसेन वारिणेव ।
कन्दर्पप्रवणमनाः सखीसिसिक्षालक्ष्येणप्रतियुवमञ्जलिञ्चकार३५

स्निह्यन्तीति । कन्दर्पप्रवणमना स्मरपरवशचित्ता अत एव दृशं निधाय पुरस्येव दृष्टिं कृत्वा स्निह्यन्ती दृष्टिविशेषेण स्नेहं प्रकाशयन्तीत्यर्थः । अपरा स्त्री सख्याः सिसिक्षा सेक्तुमिच्छा तस्या लक्ष्येण व्याजेन बद्धाञ्जलिरेव तिष्ठन्ती न तु सिञ्चन्तीति द्योतनाय सिसिक्षेतीच्छायां सनः प्रयोग । प्रतियुव युवानं प्रति । "अनश्च" इत्यव्ययीभावे समासान्तः । मूर्त्तेन मूर्तिमता प्रणयरसेनेवेत्युत्प्रेक्षा । पाठादर्थस्य वलीयस्त्वादिवशब्दस्य व्यवहितेनान्वयः । वारिणा पूर्णमञ्जलिं चकार प्रार्थयामासेत्यर्थः ॥ ३५ ॥

आनन्दं दधति मुखे करोदकेन श्यामाया दयिततमेन सिच्यमाने।
ईर्ष्यन्त्या वदनमसिक्तमत्यनल्पस्वेदाम्बुस्नपितमजायतेतरस्याः॥

आनन्दमिति । आनन्द दधति प्रियसम्भावनया हर्षं दधाने श्यामाया मध्यमयौवनायाः स्त्रियः 'श्यामा यौवनमध्यस्था' इत्युत्पलः । मुखे वदने दयिततमेन अतिशयेन दयितः प्रियः । अतिशये तमप्प्रत्यय । तेन । कर्त्रा । करोदकेनाञ्जलिजलेन सिच्यमाने सति ईर्ष्यन्त्याः असहमानायाः । 'परोत्कर्षाक्षमेर्ष्या स्यात्' इति लक्षणात् । इतरस्याः सपत्न्या वदनमसिक्तमपि प्रियेणेति शेषः । अनल्पेन स्वेदाम्बुना स्नपित सिक्तमजायतामवत् । ईर्ष्याकृतकोपकार्यत्वात् स्वेदादीनामिति भावः । असिक्तमपि सिक्तमिति विरोधः तस्य स्वेदाद्युक्तकारणोक्तेराभासत्वम् ॥ ३६ ॥

उद्वीक्ष्य प्रियकरकुड्मलापविद्धैर्वक्षोजद्वयमभिषिक्तमन्यनार्याः ।
अम्भोभिर्मुहुरसिचद्वधूरमर्षादात्मीयं पृथुतरनेत्रयुग्ममुक्तैः ॥३७॥

उद्वीक्ष्येति । प्रियस्य करकुड्मलाभ्यां पाणिपुटाभ्यामपविद्धैः सिक्तैरम्भोभिरभिषिक्त अन्यनार्याः सपत्न्याः वक्षोजद्वयमुद्वीक्ष्य वधूर्नायिका अमर्षादीर्ष्याकृतकोपादात्मीय वक्षोजद्वय पृथुतरेण नेत्रयुग्मेन मुक्तैरम्भोभिर्बाष्पैर्मुहुरसिचत् अभिषिक्तवती तन्मत्सरादिवेति भावः । अतो वस्तुनालङ्कारध्वनि । "लिपिसिचिह्वश्च" इति सिञ्चतेर्लुङि च्लेरङादेशः ॥ ३७ ॥

कुर्वद्भिर्मुखरुचिमुज्ज्वलामजस्रं यैस्तोयैरसिचत वल्लभां विलासी ।
तैरेव प्रतियुवतेरकारि दूरात्कालुष्यंशशधरदीधितिच्छटाच्छैः३८॥

कुर्वद्भिरिति । मुखरुचि मुखकान्तिम् उज्ज्वलां कुर्वद्भिर्यैस्तोयैर्विलासी विलसनशील. कामी । "वौ कषलस" इत्यादिना घिनुण् प्रत्यय । वल्लभामजस्रमसिचत सिक्तवान् । स्वरितेत्त्वादा-

त्मनेपदम्. "आत्मनेपदेष्वन्यतरस्याम्" इति सिञ्चतेर्लुङि च्लेरङादेशः। शशधरदीधितिच्छटाच्छैः शशिकरनिकरस्वच्छैः तैरेव तोयैर्दूरात्प्रतियुवते. सपत्न्याः कालुष्य आविल्त्व वैवर्ण्य चाकारि स्वच्छैतोयैः कालुष्य कृतमिति विरुद्धकार्योत्पत्तिरूपो विषमभेदः । तच्चान्यत्रेत्यसङ्गति । वैवर्ण्यकालुष्ययोरभेदाध्यवसायादतिशयोक्तिस्तदुत्थापितेति सङ्कर. ॥ ३८ ॥

रागान्धीकृतनयनेन नामधेयव्यत्यासादभिमुखमीरितः प्रियेण ।
मानिन्या वपुषिपतन्निसर्गमन्दो भिन्दानोहृदयमसाहि नोदवज्रः॥३९॥

रागेति । रागेण विपक्षानुरागेणान्धीकृतनयनेन प्रियेण नामधेयव्यत्यासाद्विपक्षनामपूर्वकमभिमुखमीरितः क्षिप्तो वपुषि पतन् निसर्गमन्द स्वभावजड तथापि हृदयम्भिन्दानो विदारयन् उदकमेव वज्रोऽशनिरुदवज्र । "मन्थौदन" इत्यादिना विकल्पादुदादेश । मानिन्या विपक्षनामग्रहणजनितकोपवत्या नायिकया नासाहि न सोढ. । तीक्ष्णयोगादतीक्ष्णमपि तीक्ष्ण भवतीति भाव । उदवज्र इति केवलनिरवयवरूपकम् ॥ ३९ ॥

प्रेम्णोरःप्रणयिनि सिञ्चति प्रियायाःसन्तापं नवजलविप्रुषो गृहीत्वा
उद्भूताः कठिनकुचस्थलाभिघातादासन्नां भृशमपराङ्गनामधाक्षुः॥४०॥

प्रेम्णेति । प्रणयिनि प्रेम्णा प्रियाया उर सिञ्चति सति कठिनकुचस्थलाभिघातादुद्भूता उत्पतिताः नवजलस्य विप्रुषो विन्दव । 'पृषन्ति विन्दुपृषता पुमासो विप्रुषः स्त्रियाम्' इत्यमर । तस्याः सिक्तायाः सन्ताप गृहीत्वा आदायासन्ना समीपस्थामपराङ्गना सपत्नीं भृशमधाक्षुः सन्तापयन्ति स्म । दहनेर्लुङि 'वदव्रज" इत्यादिना सिचि वृद्धि वत्वादिकार्यम् । तत्संक्रादेवाम्परस्याः तापोदयात्तत्तानस्यैवात्राधानमुत्प्रेक्ष्यते सा च व्यञ्जकाप्रयोगाद्गम्या ॥ ४० ॥

संक्रान्तं प्रियतमवक्षसोऽङ्गरागं साध्वस्याःसरसि हरिष्यतेऽधुनाम्भः
तुष्टेन सपदि हृतेऽपि तत्र तेपे कस्याश्चित्स्फुटनखलक्ष्मणः सपत्न्या॥४१॥

संक्रान्तमिति । प्रियतमवक्षस सकाशात्सक्रान्त गाढालिङ्गनात्कुचतटलग्नम् अस्याः सिक्ताया. अङ्गरागमधुनैव सरसि अम्भ । कर्तृ । साधु नि शेषं हरिष्यते प्रमार्क्ष्यति एव तुष्टा इति तुष्ट्या सपदि तत्र तस्मिन्नङ्गरागे हृतेऽपि स्फुटनखलक्ष्मणो व्यक्तनखचिह्नाया कस्याश्चिन्नायिकाया सम्बन्धिनि सपत्न्यां तेपे तप्तम् । भावे लिट् । तदिदमातपार्त्तस्य छायामन्विष्यतो दारुणदवदहनवेष्टन यदङ्गरागमेव द्रष्टुमक्षमाया नखक्षतसाक्षात्कार इति । अत्र सन्तापशान्त्यर्थेन विपक्षाङ्गनाङ्गरागक्षालनेन तद्विरुद्धसन्तापोत्पादनाद्विरुद्धकार्योत्पत्तिरूपो विषमालङ्कार. ॥ ४१ ॥

हृतायाः प्रतिसखि कामिनान्यनाम्ना ह्रीमत्या सरसि गलन्मुखेन्दुकान्तेः। अन्तर्धिं द्रुतमिव कर्तुमश्रुवर्षैर्भूमानं गमयितुमीषिरे पयांसि ॥ ४२ ॥

हूताया इति । प्रतिलखि सख्या. समीपे सखीसमक्षमित्यर्थः । समीपार्थेऽव्ययीभावे नपुंसकत्वह्रस्वत्वे । कामिना प्रियेणान्यस्याः सपत्न्याः नाम्ना अन्यनाम्ना । सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुंवद्भावः । हूतायाः अत एव गळन्मुखेन्दुकान्तेः ह्रीमत्याः लज्जितायाश्च कस्याश्चिदिति शेष । सरसि द्रुत शीघ्रमन्तर्धिम् अन्तर्द्धानम् । श्रदन्तरोरुसर्गवद्वृत्तिरिति वचनात् " उपसर्गे घोः किः " इति किप्रत्ययः । कर्त्तुमश्रुवर्षैः । कर्तृभिः पयासि सरोजलानि भूमानं गमयितु वृद्धिं प्रापयितुम् । " गतिबुद्धि " इत्यादिना अणिकर्तुः कर्म्मत्व प्राधान्यादभिधानं च । ईषिरे इव इष्टानि किमु इत्युत्प्रेक्षेयमश्रुपातनिमित्ता तथा मरणदुःखादपि दुःसहं सपत्न्या. दुःखमिति वस्तुध्वनिः ॥ ४२ ॥

सिक्तायाः क्षणमभिषिच्य पूर्वमन्यामन्यस्याः प्रणयवता वताबलायाः । कालिम्ना समधित मन्युरेव वक्त्रं प्रापाक्ष्णोर्गलदपशब्दमञ्जनाम्भः ॥ ४३ ॥

सिक्ताया इति । प्रणयवता प्रियेण क्षण पूर्वमन्या सपत्नीमभिषिच्य पश्चात् सिक्ताया अन्यस्या अबलाया. क्रियान्वक्त्रम् । कर्म्म । मन्युः कोपः एव कर्त्ता । कालिम्ना कार्ष्ण्येन वैवर्ण्येन सहेति यावत् । समधित सन्दधे । वतेति खेदे । सम्पूर्वाद्दधातेः कर्त्तरि लुङि तङ् "स्थाघ्वोरिच्च" इतीकारः सिचः कित्त्वान्न गुणः "ह्रस्वादङ्गात्" इति सकारलोपः । गलत् स्रवदक्ष्णोः सम्बन्धि अञ्जनाम्भः कज्जलोदकमपशब्द वर्णस्यापवाद प्राप । कोपकालिमतिरोधानेन स्वकालिम्न एव प्रकाशनादिति भाव. । पूर्वेण वाक्यार्थेनोत्तरवाक्यार्थसमर्थनाद्वाक्यार्थहेतुकं काव्यालिङ्गम् ॥ ४३ ॥

उद्वोढुं कनकविभूषणान्यशक्तः सध्रीचा वलयितपद्मनालसूत्रः । आरूढप्रतिवनिताकटाक्षभारः साधीयो गुरुरभवद्भुजस्तरुण्याः ॥ ४४ ॥

उद्वोढुमिति । कनकविभूषणान्युद्वोढुमशक्तः सौकुमार्यादिति भावः । अत एव सहाश्चतीति सध्र्यङ् तेन सहचरेण कर्त्रा । "ऋत्विक्" इत्यादिना क्विन्प्रत्ययः "सहस्य सध्रिः" इति सहशब्दस्य सध्र्यादेश. "अनिदिताम्" इत्यादिना नकारलोपः "अच " इत्यकारलोपे 'चौ" इति दीर्घः । वलयितानि वलयीकृतानि पद्मनालसूत्राणि मृणालतन्तवो यस्य सः मृणालकृतकङ्कण इत्यर्थ । तथापि आरूढः आरूढवान् प्रतिवनितायाः सपत्न्या कटाक्ष एव भारो यस्य सः तया सासूय दृष्ट इत्यर्थः । अत एव तरुण्या भुजो बाहुः साधीयो बाढतरमिति क्रियाविशेषम् । "अन्तिकबाढयोर्नेदसाधौ" इति बाढशब्दस्य साधादेश । गुरुर्भारवान् श्लाघ्यश्चाभवत् । अत्र कनकभूषणाभावेऽपि तत्कार्यगुरुत्ववर्णनाद्विभावना सा च गुरुरितिश्लेषप्रतिभोत्थापितातिशयोक्त्यनुप्राणितेति सकरः ॥ ४४ ॥

आबद्धप्रचुरपरार्द्ध्यकिंकिणीको रामाणामनवरतोदगाहभाजाम् । नारावं व्यतनुत मेखलाकलापः कस्मिन्वा सजलगुणे गिरां पटुत्वम् ॥ ४५ ॥

आबद्धेति । उदकस्य गाहोऽवगाहन उदगाहः । "मन्थोदन" इत्यादिना उदादेश. । तमनवरत भजन्ति यास्तासामनवरतोदगाहभाजा रामाणा स्त्रीणा सम्बन्धी । आवद्धा· ग्रोता· प्रचुरा भूयिष्ठा पराध्या· श्रेष्ठाश्च किङ्किण्यो यस्मिन्सः तथोक्तः । "नद्यृतश्च" इति कप् । मेखलाकलापः आराव ध्वनिं न व्यतनुत । तथा हि जलेन सह सजलो जलार्द्रो गुणः सूत्र यस्य स तथा डलयोरभेदाज्जडगुणो जडधर्म्मो जाडय तेन सहेति सजडगुणो जडश्च तस्मिन् कस्मिन्वा मेखलाकलापे पुसि वा गिरा वाचा ध्वनीना च पटुत्व सामार्थ्यं न कुत्रापीत्यर्थः । श्लेषमूलाभेदातिशयोक्त्यनुप्राणितोऽयमर्थान्तरन्यास ॥ ४९ ॥

पर्य्यच्छे सरसि हृतेंऽशुके पयोभिर्लोलाक्षे सुरतगुरावपत्रपिष्णोः ॥ सुश्रोण्या दलवसनेन वीचिहस्तन्यस्तेन द्रुतमकृताब्जिनी सखीत्वम् ॥ ४६ ॥

पर्य्यच्छ इति । परि परितोऽच्छं स्वच्छम् अन्तर्गतवस्त्वतिरोधायकमित्यर्थः । तस्मिन् सरसि पयोभिरंशुके स्त्रीपरिधाने हृते स्थानादपसारिते सति सुरतगुरौ रमणे च लोलाक्षे श्रोण्यासक्तदृष्टौ सतीत्यर्थ । 'लोलश्चलसतृष्णयो' इत्यमरः । "बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः स्वाङ्गात् षच्" इति षच् । अपत्रपिष्णोरपत्रपमाणायाः । 'लज्जा सापत्रपान्यत' इत्यमर । "अलङ्कृञ्" इत्यादिना इष्णुच् प्रत्यय । सुश्रोण्या प्रियाया । प्रस्तुतोचितनिर्देशोऽयम् । अब्जिनी नलिनी द्रुत वीचिरेव हस्तस्तेन न्यस्तेन दलं पर्णमेव वसन तेन तद्दानेनेत्यर्थः । सखीत्वमकृत सखीकृत्य चकारेत्यर्थः । अत्राब्जिन्यादिषु सखीत्वाद्यारोपात्समस्तवस्तुवृत्ति सावयवरूपकम् ॥ ४६ ॥

नारीभिर्गुरुजघनस्थलाहतानामास्यश्रीविजितविकाशिवारिजानाम् । लोलत्वादपहरतां तदङ्गरागं सञ्जज्ञे सकलुष आशयो जलानाम् ॥ ४७ ॥

नारीभिरिति । नारीभि· । कर्त्रीभिः । गुरुजघनस्थलैराहतानामास्यश्रीभिर्मुखशोभाभिर्विजितानि विकाशीनि वारिजानि पद्मानि येषा तेषां लोलत्वाच्चलत्वात्सतृष्णत्वाच्च । 'लोलश्चलसतृष्णयो' इत्यमरः । तासामङ्गरागमपहरता क्षालयता च जलाना तोयाना जडाना च स आशयोह्रदो हृदय च कलुषोऽप्रसन्नः क्षुभितश्च सञ्जज्ञे सञ्जात अपहर्तुस्ताडनस्वहरणादिभिराशय. कलुषो भवतीति ध्वनिः । अभिधाया प्रकृतार्थे नियन्त्रणान्न श्लेषः ॥ ४७ ॥

सौगन्ध्यं दधदपि काममङ्गनानां दूरत्वाद्गतमहमाननोपमानम् । नेदीयो जितमिति लज्जयेव तासामालोले पयसि महोत्पलं ममज्ज ।

सौगन्ध्यमिति । काम पर्याप्त सौगन्ध्य सुरभिगन्धित्व सम्बन्धित्व च । 'गन्धो गन्धक आमोदे लेशे सम्बन्धिगर्वयोः' इति विश्व. । दधदपि अहं दूरत्वात्पूर्वं दूरस्थत्वादङ्गनानामाननोपमान मुखसादृश्यं गतम् । 'दूरस्थाः पर्वता रम्या' इतिवदिति भाव । सम्प्रति पुनस्तासां नेदीयो नेदिष्ठमन्तिकतमं सत् । "अन्तिकबाढयोर्नेदसाधौ" इत्यन्तिकशब्दस्य नेदादेशः । जित परिभूतमभूवमिति लज्जयेव महोत्पलमरविन्दमालोले चले पयसि ममज्ज यथा दूरे साम्येन दृश्यमानः सम्बन्धी सन्निधाववमानिता क्वचिल्लज्जया निलीयते तद्वदिति । अत्र पयश्चलनकृतेऽब्जमज्जने लज्जाहेतुकत्वमुत्प्रेक्ष्यत इति श्लेषमूलातिशयोक्तिहेतूत्प्रेक्षयो· संसृष्टिः ॥ ४८ ॥

प्रभ्रष्टैः सरभसमम्भसोऽवगाहक्रीडाभिर्विदलितयूथिकापिशङ्गैः ।
आकल्पैः सरसि हिरण्मयैर्वधूनामौर्वाग्निद्युतिशकलैरिव व्यराजि ॥ ४९ ॥

प्रभ्रष्टैरिति । सरभस ससत्वरम् अम्भसोऽवगाहा एव क्रीडास्ताभिः प्रभ्रष्टैर्जलावगाहक्षोभादम्भसि च्युतैर्विदलिता विकसिता यूथिकाः पीतयूथिका हेमपुष्पिकापरपर्याया विवक्षिता·, अन्यथा पिशङ्गत्वायोगात् । 'गणिका यूथिकाम्बष्ठा सा पीता हेमपुष्पिका' इत्यमर· । तद्वत्पिशङ्गैर्हिरण्मयैः सौवर्णैः । "दाण्डिनायन" इत्यादिना निपात· । वधूनामाकल्पैर्भूषणैः सरसि और्वाग्निद्युतिशकलैर्जलाशयत्वादत्रापि सन्निहितैर्वडवानलज्वालाखण्डैरिवेत्युत्प्रेक्षा । व्यराजि विराजितम् । भावे लुङ् ॥ ४९ ॥

आस्माकी युवतिदृशामसौ तनोति च्छायैव श्रियमनपायिनीं किमेभिः । मत्वैवं स्वगुणपिधानसाभ्यसूयैः पानीयैरिति विदधाविरेऽञ्जनानि ॥ ५० ॥

आस्माकीति । अस्माकमियमास्माकी अस्मदीया अस्मत्कारितेत्यर्थः । "युष्मदस्मदोरन्यतरस्या खञ्च" इति चकारादण्प्रत्ययः । "तस्मिन्नणि च युष्माकास्माकौ" इति प्रकृतेरस्माकादेश "टिड्ढाणञ्" इत्यादिना ङीप् । असौ छाया कान्ति· विमलेति यावत् । सैव युवतिदृशामनपायिनीं स्थायिनीं श्रिय तनोति एभिरञ्जनै किमेतत् साध्य न किञ्चिदस्तीत्यर्थ· । गम्यमानसाधनापेक्षया करणत्वात् तृतीया इत्युक्त प्राक् । एव मत्वा उक्तप्रकारेणाञ्जनवैफल्यनिश्चित्येत्यर्थः । अत एव गम्योत्प्रेक्षेयम् । स्वगुणस्य स्वाविष्कृतदृङ्नैर्मल्यगुणस्य पिधान तिरोधानम् । 'अपिधानतिरोधानपिधानाच्छादनानि च' इत्यमरः—"वष्टि भागुरिरल्लोपमवाप्योरुपसर्गयो·" इत्यकारलोप । तेन साभ्यसूयै· सेर्ष्यैः पातुमर्हैः पानीयै· । 'अम्भोऽर्णस्तोयपानीयनीरक्षीराम्बुशम्बरम्' इत्यमर· । "तव्यत्तव्यानीयरः" इति पिबतेरनीयर्प्रत्यय· । अञ्जनानि कज्जलानि इति अनेन स्वगुणप्रकाशनयोग्यतया विवक्षितेन प्रकारेण निःशेषत्वरूपेणेत्यर्थः । विदधाविरे विधौतानि क्षालितानीत्यर्थ । 'धावु गतिशुद्ध्योः' इति धातो· कर्म्मणि लिट् ॥ ५० ॥

निर्धौते सति हरिचन्दने जलौघैरापाण्डोर्गतपरभागयाङ्ग-

**नायाः । अहाय स्तनकलशद्वयादुपेये विच्छेदः सहृदय-
येव हारयष्ट्या ॥ ५१ ॥**

निर्द्धौत इति । हरिचन्दने रक्तचन्दने जलौघैर्निर्द्धौते क्षालिते सति धावेः कर्म्मणि क्त । "छ्वोः शूडनुनासिके च" इति वकारस्योठादेशः "एत्येधत्यूठ्सु" इति वृद्धिरौकारः । आपाण्डोव. पाण्डुवर्णादङ्गनायाः स्तनकलशद्वयात् गतपरभागया सावर्ण्याद्विगतवर्णोत्कर्षया । अत एव सामान्यालङ्कारः । 'सामान्य गुणसाम्येन यत्र वस्त्वन्तरैकता' इति लक्षणात् । हारयष्ट्या । कर्त्र्या । सहृदयया सचित्तयेवेत्युत्प्रेक्षा । निजपरभागहानिपरज्ञानवत्येवेत्यर्थ. । अहाय सपदि 'स्राग् झटित्यञ्जसाह्नाय द्राङ् मङ्क्षु सपदि द्रुते' इत्यमरः । विच्छेदस्त्रुटनमुपेये प्राप्तः । हीनजीवनादजीवनमेव वरमिति भाव. । उपपूर्वादिण' कर्म्मणि लिट् । विक्षोभहेतुकस्य हारविच्छेदस्य स हृदयहेतुकत्वोत्प्रेक्षा सा चोक्तसामान्योत्थापितेति सङ्करः ॥ ५१ ॥

**अन्यूनं गुणममृतस्य धारयन्ती संफुल्लस्फुरितसरोरुहावतं-
सा । प्रेयोभिः सह सरसी निषेव्यमाणा रक्तत्वं व्यधित वधू-
दृशां सुरा च ॥ ५२ ॥**

अन्यूनमिति । अन्यून समग्रममृतस्य पीयूषस्य गुण माधुर्यादिक धारयन्ती । 'अगन्धमव्यक्तरस शीतल च तृषापहम् । अच्छ लघु च पथ्य च तोय गुणवदुच्यते' इति । उक्तोदकगुण च धारयन्ती सरसीपक्षे । 'अमृत यज्ञशेषे स्यात्पीयूषे सलिले ध्रुवम्' इति विश्व' । सफुल्लानि विकचानि । उत्फुल्लसम्फुल्लयोरुपसङ्ख्यानान्निष्ठातस्य लत्वम् । स्फुरितानि उज्ज्वलानि च यानि सरोरुहाण्येकत्र सहजानि अन्यत्र सत्कारार्थं क्षिप्तानि तान्यवतसो भूषण यस्या सा तथोक्ता । प्रेयोभि' सह निषेव्यमाणा । स्नानपानाभ्यामिति भाव । सरसी पुष्करिणी वधूदृशा रक्तत्वमारुण्य व्यधित विदधे स्म तथा सुरा च । व्यधितेति धाञ कर्त्तरि लुङि तङ् । इहोत्साहवर्द्धनाय मुहु. सेव्यत्वाच्छृङ्गाणीति श्लोके सलिलक्रीडासम्भारेषु मार्द्वीकमिति परिगणनाच्च सरसीवत्सुराया अपि प्रकृतत्वविवक्षाया तुल्ययोगिता । तदविवक्षायां तु दीपकम् । सुरेवेति पाठे त्वप्रकृतविवक्षैव कार्य्या अन्यथा उपमानुपमा स्यात् । न च तुल्ययोगितावकाश' इवशब्देन गम्यौपम्यलक्षणभङ्गादिति ॥ ५२ ॥

**स्नान्तीनां बृहदमलोदबिन्दुचित्रौ रेजाते रुचिरदृशामुरोज-
कुम्भौ । हाराणां मणिभिरुपाश्रितौ समन्तादुत्सूत्रैर्गुणवद्-
पद्मकास्ययेव ॥ ५३ ॥**

स्नान्तीनामिति । स्नान्तीना जलमवगाहमानाना रुचिरदृशा सुदृशा सम्बन्धिनौ बृहद्भिरमलैश्चोदबिन्दुभिश्चित्रौ । "मन्थौदन" इत्यादिना उदकशब्दस्योदादेशः । उरोजकुम्भौ उत्सूत्रैः

हाराणां मुक्ताहाराणां मणिभिर्गुटिकाभिरुपहन्यते उपगम्यते पीड्यते वा 'उपघ्न आश्रये' इति हन्तेरप्प्रत्ययान्त उपधालोपीति निपातः । गुणवत औदार्य्यादिगुणवतः सूत्रवतश्च उपघ्नस्य काम्या आत्मन इच्छा गुणवदुपघ्नकाम्या तया गुणवदुपघ्नकाम्यया । आत्मनो गुणवदाश्रयाकांक्षयेत्यर्थः "काम्यच्च" इति काम्यच्प्रत्यये प्रत्ययान्तधातुत्वात् "अप्रत्ययात्" इति स्त्रियामप्रत्यये टाप् । समन्तादुपाश्रितौ सश्रिताविव राजेते स्म । "फणां च सप्तानाम्" इति विल्पादेकाराभ्यासलोपौ । गुणवच्छब्देन च सूत्रशब्देन च सूत्रभेदे सूत्रान्तरमशिश्रियदिति प्रतीते. श्लेषानुप्राणितयातिशयोक्त्यानुप्राणितेयमुत्प्रेक्षा ॥ ५३ ॥

आरूढः पतित इति स्वसम्भवोऽपि स्वच्छानां परिहरणीयतामुपैति । कर्णेभ्यश्च्युतमसितोत्पलं वधूनां वीचीभिस्तटमनु यन्निरासुरापः ॥ ५४ ॥

आरूढ इति । स्वसम्भवोऽप्यात्मसम्भवोऽपि आरूढ उच्चस्थानगत उत्तमाश्रमश्च पतितस्तथा भ्रष्ट इति हेतोः आरूढपतितत्वादित्यर्थः । स्वच्छाना निर्म्मलाना परिहरणीयता त्याज्यत्वमुपैति । 'प्रव्रज्यावसितो राज्ञो दास आमरणान्तिक.' इति स्मरणादिति भावः । वीचीभिस्तटमनु तट प्रति निरासुश्चिक्षिपुः । कुत । यस्मादापः वधूना कर्णेभ्यः च्युतमसितोत्पलम् । स्वसम्भवमपीति भावः । विशेषेण सामान्यसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः । समर्थनवाक्यगतश्लेषमूलातिशयोक्त्या सङ्कीर्ण ॥ ५४ ॥

दन्तानामधरमयावकं पदानि प्रत्यग्रास्तनुमविलेपनां नखाङ्काः ॥ आनिन्युःश्रियमधितोयमङ्गनानां शोभाय विपदि सदाश्रिता भवन्ति

दन्तानामिति । तोयेष्वधि अधितोयम् । विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः । अङ्गनानामयावकं प्रक्षालितलाक्षारागमधर दन्तानां पदानि दन्तक्षतानि तथा अविलेपना धौताङ्गरागा तनु शरीर प्रत्यग्राः नवा नखाङ्काश्च श्रियमानिन्यु प्रापयामासुः । "नीवह्योर्हरतेश्चैव" इति वचनात् द्विकर्म्मकत्वम् । तथा हि सत सज्जनान् सुन्दराश्चाश्रिता सदाश्रिता. ये केचिदिति शेष. । विपदि विभवाभावकालेऽपि शोभायै वैभवाय भवन्ति । "क्लृपेः सम्पद्यमाने चतुर्थी वक्तव्या" इति क्लृपेरर्थनिर्देशाच्चतुर्थी । अर्थान्तरन्यास ॥ ५५ ॥

कस्याश्चिन्मुखमनु धौतपत्रलेखं व्यातेने सलिलभराऽवलम्बिनीभिः किञ्जल्कव्यतिकरपिञ्जरान्तराभिश्चित्रश्रीरलमलकाग्रवल्लरीभिः ५६

कस्याश्चिदिति । धौतपत्रलेखं क्षालितपत्त्रावलीकं कस्याश्चिन्मुखमनु मुखेन सम्बद्ध यथा तथा मुखे इति यावत् । "तृतीयार्थे" इत्यनोः कर्मप्रवचनीयत्वात् द्वितीया । सलिलभरेणावलम्बिनीभिर्लम्बमानाभिः आर्जवं गताभिरित्यर्थः । किञ्जल्कव्यतिकरेण केसरमिश्रणेन पिञ्ज-

राण्यन्तराणि मध्यभागा यासां ताभि· अलकाग्राणि वल्लर्यो मञ्जर्य इवेत्युपमितसमास· । 'वल्लरी मञ्जरी स्त्रियाम्' इत्यमरः । ताभिरलकाग्रवल्लरीभिश्चित्रश्रीर्मकरिकापत्रशोभा अल न्यातेने सम्पादिता । तनोते. कर्म्मणि लिट् । अत्र चित्रस्य श्रीरिव श्रीरिति निदर्शनाभेद ॥ ९६ ॥

अत्र श्लोकद्वयेन पुसामप्यवस्थाभेद वर्णयति-

वक्षोभ्यो घनमनुलेपनं यदूनामुत्तंसानहरत वारि मूर्द्धजेभ्यः ।
नेत्राणां मदरुचिरक्षतैव तस्थौ चक्षुष्यः खलु महतां परैरलंघ्यः ॥९७

वक्षोभ्य इत्यादि । वारि सर उदकम् । कर्तृ । यदूना यादवानां वक्षोभ्यो घन सान्द्रमनुलेपनमङ्गरागमहरत । जिव्रात्तड् । अत्र वधूनामिति क्वाचित्कः पाठः वक्षोजानुपेक्ष्य वक्षोमात्रनिर्देशादुत्तरश्लोके तेषामिति पुलिङ्गपरामर्शाच्च न ग्राह्यः । मूर्द्धजेभ्य: शिरोरुहेभ्य उत्तसान् शेखरानहरत नेत्राणा मदरुचिर्मदरागोऽक्षतैव तथैव तस्थौ वारिविहारस्यापि रागजनकत्वादिति भावः । अत एव रागद्वयस्याप्यभेदाध्यवसायेन तदवस्थानिर्देशादतिशयोक्तिः । तथा हि । महता चक्षुषि भवश्चक्षुष्य· 'प्रियोऽक्षिजश्च । प्रियोऽक्षिजे च चक्षुष्य.' इति विश्वः । "शरीरावयवाच्च" इति यत् । परैरलघ्यो दुर्द्धर्ष· खलु । चक्षुष्य. इति श्लेषमूलातिशयोक्तिः, तया पूर्वोक्तया च संकीर्णोऽयमर्थान्तरन्यासः ॥ ९७ ॥

यो बाह्यःसखलु जलैर्निरासि रागो यश्चित्ते स तु तदवस्थ एव तेषाम् । धीराणां व्रजति हि सर्व एव नान्तः पातित्वादभिभवनीयतां परस्य ॥ ९८ ॥

य इति । तेषा यदूनां वहिर्भवो बाह्यः । "बहिषष्टिलोपो यञ् च" इति वचनात् यञ् प्रत्ययः । यो रागोऽङ्गरागः स रागो जलैस्तोयैर्जडैश्च निरासि निरस्त. खलु । अस्यतेः कर्मणि लु । चित्ते यो राग. स तु सैवावस्था यस्य स तदवस्थ एव न निरस्त इत्यर्थ. । अत्र रागयोरभेदाध्यवसायादतिशयोक्तिः । तथाहि सर्वोऽपि धीराणा महतामन्तः पातित्वादन्तर्गतत्वादेवेति यावत् । परस्याभिभवनीयता न व्रजति अन्यथा व्रजत्येवेत्यर्थः । पूर्ववदलङ्कार· ॥ ९८ ॥

फेनानामुरसिरुहेषु हारलीला चेलश्रीर्जघनतलेषु शैवलानाम् ।
गण्डेषु स्फुटरचनाब्जपत्रवल्लीपर्याप्तं पयसि विभूषणं वधूनाम् ॥९९॥

फेनानामिति । वधूना भ्रष्टभूषणानामपीति भाव । पयसि विभूषण पर्याप्त समग्रमासीदित्यर्थ. । कुत· । फेनाना डिण्डीराणां उरसि रुहन्तीत्युरसिरुहाः स्तना. । "सुपि" इति योगविभागात्कप्रत्यय. "हलदन्तात्" इत्यलुक् । तेषु हारलीला मुक्तावलिश्रीः जातेति शेष । शैवलानां जघनतलेषु चेलश्रीर्वसनशोभा जाता । गण्डेषु कपोलेषु शैवला इति विभक्तिविपरिणामादनुषङ्ग. । स्फुटरचनाव्यक्तविन्यासाब्जपत्रवल्ली पद्मपत्रलता जातेति शेषः । अत्र फेनाना

हारर्लालेव लीला शैवलाना चेलश्रीरिति श्रीरिव निदर्शनाभ्या शैवलाः पत्रवल्लीति रूपकेण च वाक्यार्थैश्चतुर्थवाक्यार्थसमर्थनात्तैरेवाङ्गाङ्गिभावेन सङ्कीर्णं वाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गम् ॥ ५९ ॥

भ्रश्यद्भिर्जलमभि भूषणैर्वधूनामङ्गेभ्यो गुरुभिरमज्जि लज्जयेव ।
निर्माल्यैरथ ननृतेऽवधीरितानामप्युच्चैर्भवति लघीयसां हि धाष्टर्यम् ॥

भ्रश्यद्भिरिति । वधूनामङ्गेभ्यो भ्रश्यद्भिः पतद्भिर्गुरुभिः सौवर्ण्याद्गुरुत्वयुक्तैर्भूषणैर्लज्जया भ्रशमयुक्त्याह्रियेवेत्युत्प्रेक्षा । जलमभि अमज्जि जले मग्नम् । भावे लुङ् । अथानन्तरमेव न तु विलम्बेनेति भावः । निर्माल्यैर्भुक्तोज्झितमाल्यैर्ननृते जले अनर्ति । भ्रशेऽपि निर्लज्जैरिति भावः । तथाहि अवधीरितानां तिरस्कृतानामपि लघीयसां तुच्छानामुच्चैर्धाष्टर्यं निर्लज्जत्वमेवाधिकं भवतीति अर्थान्तरन्यासः । महान्तः पदभ्रंशे लज्जिताः कचिन्निलीयते तुच्छास्तु निर्लज्जा विजृम्भन्त इति भावः । अप्सु गुरूणि मज्जन्ति लघूनि प्लवन्त इति परमार्थः ॥ ६० ॥

आमृष्टास्तिलकरुचः स्रजो निरस्ता नीरक्तं वसनमपाकृतोऽङ्गरागः ।
कामः स्त्रीरनुशयवानिव स्वपक्षव्याघातादिति सुतरां चकार चारूः ॥

आमृष्टा इति । तिलकरुचः पत्रशोभाः आमृष्टाः स्रजो माला निरस्ताः वसनं कौसुम्भं वासो नीरक्तमरक्तं निरस्तरागमित्यर्थः । कृतमिति शेषः । अङ्गरागोऽपाकृतः सर्वत्र जलैरित्यर्थः । इतीत्थं स्वपक्षव्याघातात् स्ववर्गक्षयादनुशयवाननुतापवानित्युत्प्रेक्षा । कामः स्त्रीः स्त्रियः । “ वाम्शसो ” इतीयङादेशविकल्पात्पक्षे पूर्वसवर्णदीर्घः । सुतरां चारूः पूर्वतोऽपि रमणीयाश्चकार । स्त्रीणां काम एव भूषणमन्यद्वैरूप्यमेवेति भावः ॥ ६१ ॥

शीतार्तिं बलवदुपेयुषेव नीरैरासेकाच्छिशिरसमीरकम्पितेन ।
रामाणामभिनवयौवनोष्मभाजोराश्लेषि स्तनतटयोर्नवांशुकेन ॥ ६२

शीतेति । नीरैस्तोयैरासेकादासेचनात् शीतार्तिं शीतव्यथां बलवत् सुष्ठु उपेयुषेव प्राप्तवतेवेत्युत्प्रेक्षा । अत एव शिशिरसमीरकम्पितेन शीतवातवेपितेन नवांशुकेन । कर्त्रा । अभिनवो यौवनोष्मा उष्णत्वं तद्भाजो रामाणां स्तनतटयोराधारयोराश्लेषि आश्लिष्टं ससक्तम् । भावे लुङ् । सेकहेतुकस्यांशुकश्लेषस्य शीतार्तिहेतुकत्वमुत्प्रेक्ष्यत इति गुणहेतूत्प्रेक्षा ॥ ६२ ॥

इत्थमासां जलक्रीडामुक्त्वा जलादुत्तरणं वर्णयति—

श्च्योतद्भिः समधिकमात्तमङ्गसङ्गाल्लावण्यं तनुमदिवाम्बुवाससोऽन्तैः ।
उत्तेरे तरलतरङ्गरङ्गलीलानिष्णातैरथ सरसः प्रियासमूहैः ॥ ६३ ॥

श्च्योतद्भिरिति । अथ जलक्रीडानन्तरमङ्गसङ्गात् गात्रसम्पर्कात् आत्तमुपात्तं ससक्तमिति यावत् । समधिकमतिरिक्तं तनुमत् मूर्तिमत् लावण्यमिव कान्तिसारमिवेत्युत्प्रेक्षा । अम्बु

श्च्योतद्भिः क्षरद्भिः। भौवादिकत्वाल्लघूपधगुण'। तरलाश्चपलास्तरङ्गा एव रङ्गा नृत्यस्थानानि तेषु लीलानर्त्तितानि तासु निष्णातै. कुशलैः। "निनदीभ्या स्नातेः कौशले" इति षत्वम्। वास-सोऽन्तैः वस्त्रस्याञ्चलैरुपलक्षितैः प्रियासमूहै स्त्रीसवै. सरसो ह्रदादुत्तेरे उत्तीर्णं निर्गतमित्यर्थ। तरतेर्भावे लिट्॥ ६३॥

दिव्यानामपि कृतविस्मयां पुरस्तादम्भस्तः स्फुरदरविन्द-चारुहस्ताम्। उद्वीक्ष्य श्रियमिव काश्चिदुत्तरन्तीमस्मार्षीज्जल-निधिमन्थनस्य शौरिः॥ ६४॥

दिव्यानामिति। दिवि भवा दिव्यास्तेषामपि कृतविस्मया सौन्दर्यातिरेकेण जनिताद्भुतरसा स्फुरदरविन्दाभ्या चारू हस्तौ यस्यास्ता पद्महस्तामित्यर्थ। पुरस्तादग्रतः अम्भस्तो जलात्। पञ्चम्यास्तसिल्। उत्तरन्तीं निष्क्रामन्तीं काञ्चित् स्त्रिय मथ्यमानात् समुद्रात् सद्यः प्रादुर्भवन्तीं श्रियमिव लक्ष्मीमिवोद्वीक्ष्य जलनिधिमन्थनस्य समुद्रमन्थनमित्यर्थ.। मन्थेर्भौवादिकस्येदित्त्वान्नुमागम., "अधीगर्थ" इत्यादिना कर्मणि षष्ठी। अस्मार्षीत् स्मृतवान्। अत्र समुद्रमन्थनस्मारिकया श्रियमिवेत्युपमया सादृश्यात् श्रीः स्मृतेति स्मरणालङ्कारप्रतीतेरलङ्कार-ध्वनिः॥ ६४॥

श्लक्ष्णं यत्परिहितमेतयोः किलान्तर्द्धानार्थं तदुदकसेकस-क्तमूर्वोः। नारीणां विमलतरौ समुल्लसन्त्या भासान्तर्दधतु-रूरूदुकूलमेव॥ ६५॥

श्लक्ष्णमिति। एतयोरूर्वोरन्तर्द्धानार्थं किल छादनार्थं श्लक्ष्ण स्निग्ध यत् दुकूल परिहितमाच्छादितमुदकसेकेन ससक्त सम्प्रष्ट तत् दुकूल कर्म्म विमलतरौ नारीणामुरू पीवरौ उरू एव कर्त्तारौ समुल्लसन्त्या स्फुरन्त्या भासा निजकान्त्या अन्तर्दधतु छादितवन्तौ तदेतद्भूषणमिति भाव.। अत्र दुकूलस्योरुच्छादकत्वेऽपि तदभावोक्त सम्बन्धेऽपि सम्बन्धरूपातिशयोक्ति.। तदपेक्षया चोर्वोर्दुकूलानाच्छादकयोराच्छादकत्वोक्तेरसम्बन्धे सम्बन्धरूपातिशयोक्त्यानुप्राणितेति सजातीयसङ्कर. तदनुप्राणितश्च। विषमालङ्कारः इति विजातीयसकर। तेन चोर्वोर्लोकोत्तर लावण्य व्यज्यत इत्यलकारेण वस्तुध्वनि.॥ ६५॥

वासांसि न्यवसत यानि योषितस्ताः शुभ्राभ्रद्युतिभिरहा-सिनैर्मुदेव। अत्याक्षुः स्नपनगलज्जलानि यानि स्थूलाश्रुस्रु-तिभिररोदि तैः शुचेव॥ ६६॥

वासांसीति। ता योषितो यानि वासासि न्यवसत निवसितवत्य। 'वस आच्छादने' इति धातोः कर्तरि लङ्। शुभ्राभ्राणा द्युतिरिव द्युतिर्येषान्तैः वासोभिर्मुदा नारीनिवसनानन्देनाहासीव हसितमिव। भावे लुङ्। स्नपनेन गलज्जलानि स्रवत्तोयानि यानि वासासि अत्याक्षुः

त्यक्तवत्यः तैः शुचा स्थूला अश्रुस्रुतिर्येषान्तैः अरोदीव रोदन कृतमिव । भावे लुङ् । अत्र भाव-स्थगुणजलगलनक्रियानिमित्तयोर्ह्रासरोदनक्रिययो सजातीयोत्प्रेक्षयो. सङ्करः ॥ ६६ ॥

आर्द्रत्वादतिशयिनीमुपेयिवद्भिः संसक्तिं भृशमपि भूरिशोऽवधूतैः। अङ्गेभ्यः कथमपि वामलोचनानां विश्लेषो बत नवरक्तकैः प्रपेदे ६७

आर्द्रत्वादिति । आर्द्रत्वाज्जलेन प्रेम्णा च सरसत्वादतिशयिनीमतिशयवतीं ससक्ति सश्लेष परिचय चोपेयिवद्भि प्राप्तवद्भि' अतएव भृश भूरिशो बहुशोऽवधूतैर्निरस्तैरपि अन्यत्र निष्कासितैरपि नवरक्तैरेव नवरक्तकैः नूतनरक्तवस्त्रैर्नवानुरागिभिश्च वामलोचनाना सुदृशामङ्गेभ्यो विश्लेष' । बत खेदे । कथमपि प्रपेदे प्राप्तः । एकत्रातिश्लेषादन्यत्रातिपरिचयाच्चेति भाव । अत्यासक्ता. कामिनो धनपरायणाभिर्वेश्याभिरवधूता कथञ्चिन्मुञ्चन्तीत्यर्थान्तरप्रतीतिः । इह विशेष्यस्यापि श्लिष्टत्वाच्छब्दशक्तिमूलो ध्वनिरेव ॥ ६७ ॥

प्रत्यंसं विलुलितमूर्द्धजा चिराय स्नानार्द्रं वपुरुदवापयत्किलैका । नाजानादभिमतमन्तिकेऽभिवीक्ष्य स्वेदाम्बुद्रवमभवत्तरां पुनस्तत ॥ ६८ ॥

प्रत्यंसमिति । एका स्त्री प्रत्यसमसयोः । विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः । विलुलितमूर्द्धजा विकीर्णकेशा सती स्नानार्द्र वपु' चिराय चिरमुदवापयच्छोषयत् अशोषयदिति यावत् । वय-तेर्ण्यन्ताल्लुङ् । 'अर्तिह्री" इत्यादिना पुगागम । किल खलु पुनस्तद्वपु' अभिमत प्रियमन्तिकेऽभिवीक्ष्य स्वेदाम्बुनो द्रव द्रवशब्दः शुक्लादिवत् गुणे पुसि गुणिनि भेद्यलिङ्गः । आपो द्रवाः सर्वाणि द्रवाणि तूदड्मुखेन जुहोतीन्यादिप्रयोगात् । अभवत्तरामतिशयेनाभवदित्यर्थः । "तिङश्च" इति तरप् । किमेत्तिङ्" इत्यादिना तिङन्तादामुप्रत्यय. । "तद्धितश्चासर्वविभक्तिः" इत्यव्ययत्वम् । नाजानात् । वाक्यार्थः कर्म तद्द्रवभवन नाज्ञासीदित्यर्थ. । अविरतस्नेहार्द्रतामजानती स्नानार्द्रमेवेति मन्यमाना पुनः पुनः वपुरुद्वापयन्त्येवास्त इति तात्पर्यार्थः । अत्र वपुष्म-त्कर्तृकस्य वीक्षणस्य वपुष्युपचारात् द्रवणक्रियायाः समानकर्तृकत्वात्पूर्वकालतानिर्वाहः । एवं च गर्वात्सुक्यादिसञ्चारिसङ्कीर्णस्वेदरोमाञ्चादिसात्त्विकसम्पन्ना स्मितायनुभाववती चेत्यनुसन्धेयम् । अत्रोद्वापनरूपकारणे सति द्रवत्वनिवृत्तिरूपकार्य्यानुत्पत्तेरतद्विरुद्धद्रवत्वप्रतिपादनमुखेनाभिधानाद्विशेषोक्तिरलङ्कारः । 'तत्सामग्र्यामनुत्पत्तिर्विशेषोक्तिर्निगद्यते' इति लक्षणात् ॥ ६८ ॥

सीमन्तं निजमनुबध्नती कराभ्यामालक्ष्य स्तनतटबाहुमूलभागः । भर्त्रान्या मुहुरभिलष्यता निदध्ये नैवाहो विरमति कौतुकं प्रियेभ्यः ॥ ६९ ॥

सीमन्तमिति । निजमात्मीय सीदन्त मूर्द्धजमध्यपद्धतिम् । 'सीमन्तमस्त्रिया स्त्रीणा केशमध्ये तु पद्धतिः' इति वैजयन्ती । कराभ्यामनुबध्नती । गृह्णन्ती विभजन्तीत्यर्थः । अत एव आ समन्तात् लक्ष्या विभाव्याः स्तनतटे बाहुमूले च तेषा भागा' प्रदेशा यस्याः सा अन्या-

स्त्री अभिलष्यतामिलषता । "वा भ्राश" इत्यादिना वैकल्पिकः श्यन्प्रत्ययः । भर्त्रा मुहुर्निर्दध्ये ध्याता ता निरीक्ष्येत्यर्थः । 'निर्वर्णनं तु निध्यानं दर्शनालोकनेक्षणम्' इत्यमरः । अहो आश्चर्यं कौतुकमभिलाषं प्रीणन्तीति प्रियाः विषयाः । "इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः" इति कः। तेभ्यो न विरमति उपभोगेऽपि न निवर्त्तते इति आश्चर्यम् । 'न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति' इति भावः । "जुगुप्साविरामप्रमादार्थानामुपसंख्यानम्" इति पञ्चमी । "व्याङ्परिभ्यो रमः" इति परस्मैपदम्। अर्थान्तरन्यासः ॥ ६९ ॥

स्वच्छाम्भःस्नपनविधौतमङ्गमोष्ठस्ताम्बूलद्युतिविशदो विलासिनीनाम् । वासश्च प्रतनु विविक्तमस्त्विती यानाकल्पो यदि कुसुमेषुणा न शून्यः ॥ ७० ॥

स्वच्छेति । स्वच्छेनाम्भसा स्नपनेनाभिषेकेण विधौतं विगलितमङ्गं वपुस्ताम्बूलद्युत्या-ताम्बूलरागेण विशद उज्ज्वल ओष्ठोऽधरः प्रतनु सूक्ष्मं विविक्तं विमलं वासश्च अथवा विविक्तमेकान्तस्थानं च । 'विविक्तौ पूतविजनौ' इत्यमरः । इत्येवंरूपः स्नानताम्बूलवासांस्येव विलासिनी-नामाकल्पो नेपथ्यमस्तु किमन्यैरित्यर्थः । कुसुमेषुणा कामेन शून्यो यदि न स्यात् । अन्यथा उद्विजितानामिव कनकभूषणमपि भारायत एवेति भावः । एतेन विच्छित्त्याख्य आलम्बनचे-ष्टारूप उद्दीपनविभाव उक्तः । 'स्तोकभूषणयोगेऽपि विच्छित्तिरिति गद्यते' इति लक्षणात् । अत्र स्नानताम्बूलादिपदार्थान्वितविशेषणगत्या अङ्गौष्ठादीनामाकल्पत्वप्रतिपादनार्थहेतुकं काव्य-लिङ्गमलङ्कारः ॥ ७० ॥

अथोत्तरसर्गे सूर्यास्तमयादिवर्णनं प्रस्तौति—

इति धौतपुरन्ध्रिमत्सरान्सरसि मज्जनेन श्रियमाप्तवतोऽतिशायिनीमपमलाङ्गभासः । अवलोक्य तदैव यादवानपरवारिराशेः शिशिरेतररोचिषाप्यपां ततिषु मङ्क्तुमीषे ॥७१॥

इति श्रीमाघकविकृतौ शिशुपालवधे महाकाव्ये जलविहारवर्णनं नामाष्टमः सर्गः ॥ ८ ॥

इतीति । इतीत्थं सरसि मज्जनेन स्नानेन धौतपुरन्ध्रिमत्सरान् क्षालितमानिनीमानान् अभीक्ष्णमतिशेते अतिशायिनी ताम् । आभीक्ष्ण्ये णिनिः श्रियमाप्तवत अपमलाङ्गभासो विमलाङ्गकान्तीन् यादवानवलोक्य तदैव शिशिरेतररोचिषा उष्णांशुनाप्यपरवारिराशेः पश्चिमाब्धेरपां ततिषु पूरेषु मङ्क्तुं प्रवेष्टुमीषे इष्टम् । भावे लिट् । परचेष्टासाक्षात्कारो विषयिणां तादृग्विषयाभिलाषमन्तरा धत्त इति भावः । अत्रभानोः कालप्राप्तमज्जनस्य यादवमज्जनावलोकनहेतुकत्वमुत्प्रेक्ष्यते । अतिशायिनी वृत्तम् । 'ससजा भजतोऽतिशायिनी भवति गौ दिगश्वैः' इति छन्दोलक्षणात् ॥७१॥

इति श्रीमहामहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचिते माघकाव्यव्याख्याने सर्वङ्कषाख्येऽष्टमः सर्गः ॥ ८ ॥

नवमः सर्गः ।

अथ सूर्य्यास्तमय वर्णयति—

अभितापसम्पदमथोष्णरुचिर्निजतेजसामसहमान इव ।
पयसि प्रपित्सुरपराम्बुनिधेरधिरोढुमस्तगिरिमभ्यपतत् ॥ १ ॥

अभितापेति । अथ मिमक्षानन्तरमुष्णरुचिः सूर्य्यो निजतेजसामभितापसम्पदं सन्तापातेरकमसहमान इवापराम्बुनिधे. पश्चिमाब्धेः पयसि प्रपित्सुः पतितुमिच्छु । पततेः सन्नन्तादुत्यय. "सनि मीमा" इत्यादिना इसादेशः "अत्र लोपोऽभ्यासस्य" इत्यभ्यासलोपः । अस्तगिरिमस्ताद्रिम् । 'अस्तस्तु चरमक्ष्माभृत्' इत्यमरः । अधिरोढुमभ्यपतत् अभ्यधावत् । अत्रासहमान इवेति कालप्राप्तस्य पयसि प्रपातस्य निजतेजोसहनहेतुकत्वमुत्प्रेक्ष्यते । अस्मिन्सर्गे प्रमिताक्षरा वृत्तम् । 'प्रमिताक्षरा सजससैरुदिता' इति लक्षणात् ॥ १ ॥

गतया पुरः प्रतिगवाक्षमुखं दधती रतेन भृशमुत्सुकताम् ।
मुहुरन्तरालभुवमस्तगिरेः सवितुश्च योषिदमिमीत दृशा ॥ २ ॥

गतयेति । रतेन रत्यर्थे । "प्रसितोत्सुकाभ्यां तृतीया च" इति सप्तम्यर्थे तृतीया । भृशमुत्सुकता कालाक्षमत्वलक्षणमौत्सुक्यं दधती योषित्पुरोऽग्रे गवाक्षमुख गवाक्षद्वार प्रति गतया अपसृतया दृशा अस्तगिरेः सवितुश्चान्तरालभुवं मध्याकाशदेश मुहुरमिमीत माति स्म । हस्तमात्रमवशिष्टमरत्निमात्रमवशिष्टमित्यादिमानकरणेनास्तमय प्रतीक्षितवतीत्यर्थ । माङो लङि 'श्लौ' इति द्विर्भाव "भृञामित्" इत्यभ्यासस्येत्वम् । एतच्चास्तमयप्रतीक्षणभ्रमादौत्सुक्यानुभवान्तरोपलक्षणम, अत्रौत्सुक्यभाववचनात् प्रेयोऽलङ्कारः ॥ २ ॥

विरलातपच्छविरनुष्णवपुः परितो विपाण्डु दधदभ्रशिरः ।
अभवद्गतः परिणतिं शिथिलः परिमन्दसूर्यनयनो दिवसः ॥ ३ ॥

विरलेति । परिणतिं परिवृत्ति अन्यत्र जरावस्था च गतः अत एव विरला अल्पा आतपस्य छविर्यस्य सः अन्यत्र क्षीणप्रभः अनुष्णवपुः अन्यत्र श्लेष्मोदयादीषदुष्णदेह । अलवणा यवागूरितिवत् अल्पार्थे नञ्प्रयोगः । परितो विपाण्डु एकत्र शुभ्राभ्रपटलच्छन्नत्वादपरत्र पलितैश्च पाण्डुरमभ्रमाकाशमेव शिरो दधदुद्वहत् परिमन्द प्रशान्तम् अर्थग्रहणासामर्थ्य च सूर्य एव नयन यस्य स दिवस शिथिल. शिथिलवृत्तिः शिथिलाङ्गश्चाभवत् । अत्राभ्रशिर इत्याद्यवयवरूपणाद्दिवस एव स्थविर इत्यवयविरूपकसिद्धेस्तदरूपणादेकदेशवृत्तिरूपक श्लेषानुप्राणितम् ॥ ३ ॥

अपगाढशीतलतरेण शनैरनिलेन लोलितलताङ्गुलये ।
निलयाय शाखिन इवाह्वयते ददुराकुलाः खगकुलानि गिरः ॥ ४ ॥

अपराह्णेति । अपरोऽपरभागोऽह्नोऽपराह्णो दिनान्तः । "पूर्वापराधरोत्तरमेकदेशिनैकाधिकरणे" इत्येकदेशिसमासः, "राजाहः सखिभ्यष्टच्" "अह्नोह्न एतेभ्यः" इत्यह्नादेश:, "अह्नोऽदन्तात्" इति णत्वम् । तस्मिन्नपराह्णे शीतलतरेणानिलेन शनैर्लोलिताश्चालिता लता एवाङ्गुल्यो यस्य तस्मै अत एव निलयाय निवासायाहूयते अङ्गुलिसञ्ज्ञया आह्वानं कुर्वाणाय इव स्थितायेत्युत्प्रेक्षा । शाखिने वृक्षाय खगकुलानि पक्षिसंघा आकुलास्तुमुलाः गिर इदमागम्यत इति प्रत्युत्तराणि ददुरिवेत्यनुषङ्गादुत्प्रेक्षा ॥ ४ ॥

उपसन्ध्यमास्त तनु सानुमतः शिखरेषु तत्क्षणमशीतरुचः ।
करजालमस्तसमयेऽपि सतामुचितं खलूच्चतरमेव पदम् ॥ ५ ॥

उपसन्ध्यमिति । उपसन्ध्यं सन्ध्यायाः समीपे । समीपार्थेऽव्ययीभावे नपुंसकत्वाद्ध्रस्वत्वम् । अशीतरुच उष्णांशोः तनु करजालं तत्क्षणं तस्मिन् क्षणे तत्कालेऽपीत्यर्थः । अत्यन्तसंयोगे द्वितीया । सानुमतोऽद्रेः शिखरेष्वास्तातिष्ठत् । आसेः कर्तरि लङ् । सतामस्तसमये नाशसमयेऽप्युच्चतरमेव पदमुन्नतस्थानमेवोचितं खलु । अर्थान्तरन्यासः ॥ ५ ॥

प्रतिकूलतामुपगते हि विधौ विफलत्वमेति बहुसाधनता ।
अवलम्बनाय दिनभर्तुरभून्न पतिष्यतः करसहस्रमपि ॥ ६ ॥

प्रतिकूलतामिति । विधौ दैवे प्रतिकूलतामुपगते सति बहुसाधनता अनेकसाधनवत्ता विफलत्वमेति । महत्यपि साधनसम्पत्तिर्निष्फलैवेत्यर्थः । तथा हि पतिष्यत आसन्नपातस्य दिनभर्तुः करा अंशवो हस्ताश्च ।'बलिहस्तांशवः कराः' इत्यमरः । तेषां सहस्रमपि अवलम्बनायावष्टम्भनाय नाभूत् । अतो दैवमेव प्रबलमिति भावः । विशेषेण सामान्यसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ ६ ॥

नवकुंकुमारुणपयोधरया स्वकरावसक्तरुचिराम्बरया ।
अतिसक्तिमेत्य वरुणस्य दिशा भृशमन्वरज्यदतुषारकरः ॥ ७ ॥

नवेति । अतुषारकर उष्णांशुः नवकुंकुमवदरुणपयोधरया नवसन्ध्यारुणमेघया अन्यत्र नवकुंकुमारुणकुचया स्वकरावसक्तरुचिराम्बरया स्वकिरणाक्रान्तरुचिराकाशया अन्यत्र स्वहस्तलग्नचारुवस्त्रया वरुणस्य दिशा पश्चिमदिशा सहेत्यर्थः । वरुणसम्बन्धात्पराङ्गनात्वं च गम्यते । "वृद्धो यूना" इति सूत्रादौ सहार्थाप्रयोगात्सहार्थानामप्रयोगेऽपि "सहयुक्तेऽप्रधाने" इति सहार्थे तृतीया । अतिसक्तिमतिसन्निकर्षमत्यासक्तिं च एत्य प्राप्य भृशमन्वरज्यत् लोहितो रक्तश्चाभवत् । रञ्जेर्दैवादिकात्कर्तरि लङ् । "कुषिरञ्जोः प्राचां श्यन्परस्मैपदं च" इति कर्मकर्तरि वा । अत्र वारुणीदिनकरादिविशेषणमहिम्नैव तयोर्जारभावप्रतीतेः समासोक्तिरलङ्कारः ॥ ७ ॥

गतवत्यराजत जपाकुसुमस्तबकद्युतौ दिनकरेऽवनतिम् ।
बहलानुरागकुरुविन्ददलप्रतिबद्धमध्यमिव दिग्वलयम् ॥ ८ ॥

गतवतीति । जपाकुसुमस्तबकद्युतौ लोहितवर्णे दिनकरेऽवनतिमस्तं गतवति सति लम्बमाने सतीत्यर्थः । दिग्वलय दिङ्मण्डलं कङ्कण च ध्वन्यते । बहलानुरागैः सान्द्ररागैः कुरुविन्ददलैः पद्मरागशकलैः प्रतिबद्धा प्रत्युप्तो मध्यो यस्य तदिवाराजतेत्युत्प्रेक्षा । 'कुरुविन्दस्तु मुस्तायां कुल्माषव्रीहिभेदयोः । इगुदे पद्मरागे च मुकुलेऽपि समीरितः' इति विश्वः ॥ ८ ॥

द्रुतशातकुम्भनिभमंशुमतो वपुरर्द्धमग्नवपुषः पयसि ।
रुरुचे विरिञ्चिनखभिन्नबृहज्जगदण्डकैकतरखण्डमिव ॥ ९ ॥

द्रुतेति । द्रुत तप्तं यत् शातकुम्भ तपनीयम् । 'तपनीयं शातकुम्भम्' इति सुवर्णपर्यायेष्वमरः । तेन सदृशं तन्निभमिति नित्यसमासः । पयसि समुद्रोदके अर्द्धं यथा तथा मग्न वपुर्यस्य तस्यांशुमतोऽर्कस्य मण्डलं विरिञ्चेर्ब्रह्मणो नखेन विभिन्नस्य द्वेधा विदलितस्य बृहतो महतो जगदण्डकस्य जगदाधारकोशस्य ब्रह्माण्डकस्यैकतरखण्डमन्यतरद्दलमिव रुरुचे रराज । अत्रोपमानस्य पुराणप्रसिद्धत्वादुपमालङ्कारः ॥ ९ ॥

अनुरागवन्तमपि लोचनयोर्दधतं वपुः सुखमतापकरम् ।
निरकाशयद्रविमपेतवसुं वियदालयादपरदिग्गणिका ॥ १० ॥

अनुरागवन्तमिति । अपरदिक् पश्चिमा सैव गणिका वेश्या अनुरागो लौहित्यमभिलाषश्च तद्वन्तमपि लोचनयोः सुखयतीति सुखं सुखकरं शान्तत्वादाभिरूप्याच्च दर्शनीयं वपुर्दधतमपीति अतापकरमतैक्ष्ण्यादशठत्वाच्चासन्तापकारिणं सुखस्पर्शं वा तथाप्यपेतवसुं नीरश्मिं निर्धनं च । 'देवभेदे नले रश्मौ वसू रत्ने धने वसु' इत्यमरः । रविः सूर्यो विटश्च गम्यते त वियदाकाशमेवालयो गृहं तस्मान्निरकाशयत् निष्काशितवती । धनपरा हि वेश्या निर्गुणमपि धनिकमार्थस्वहरणाद्यनुरक्तवदनुवर्तन्ते गुणवन्तमपि हृतसर्वस्वं निर्वासयन्ति खलु एवेति भाव. । अत्र गतोऽर्क इति श्लोकार्थः । अत्र वियदालयादपरदिग्गणिकेत्येकदेशरूपणाद्रवेर्विटत्वरूपणात्रगमादेकदेशवर्त्ति रूपकम्, श्लेषोऽपि तदुत्थापितत्वादनुराग एवानुरागो वसव एव च वसूनीति रूपकार्थवसित एवेत्यङ्गम् ॥ १० ॥

अभितिग्मरश्मि चिरमाविरमादवधानखिन्नमनिमेषतया ।
विगलन्मधुव्रतकुलाश्रुजलं न्यमिमीलदब्जनयनं नलिनी ॥ ११ ॥

अभीति । नलिनी अभितिग्मरश्मि सूर्याभिमुखश्चिरमाविरमादस्तमयादनिमेषतया अपक्ष्मपातततया दलसङ्कोच एवात्र निमेष. अवधानेनाभिमुखावस्थाननिर्बन्धेन खिन्नमलसम् अत

एव विगलन्निःसरन्मधुव्रतकुलमेवाश्रुजलं यस्य तदब्जमेव नयन न्यमिमीलत् मीलयति स्म । "भ्राजभास" इत्यादिना विकल्पादुपधाह्रस्व', अत एव नाभ्यासदीर्घः । अनुरक्ता हि कान्ता कान्तमनिमेष पश्यन्ती तदपाये सति निमीलिताक्षी स्यादिति 'भाव. । अत्राप्यब्जनयनमित्या-द्यवयवरूपणादवयविनोर्नलिनीतिग्मरश्म्योर्नायिकानायकत्वरूपकसिद्धेरेकदेशविवर्ति रूपकम् ॥ ११ ॥

अविभाव्यतारकमदृष्टहिमद्युतिबिम्बमस्तमितभानु नभः ॥
अवसन्नतापमतमिस्रमभादपदोषतैव विगुणस्य गुणः ॥ १२ ॥

अविभाव्येति । अविभाव्यतारकमलक्ष्यनक्षत्र अदृष्ट हिमद्युतेरिन्दोर्बिम्ब यस्मिन् तत् अद्याप्यनुदितचन्द्रातारकमित्यर्थ' । अस्तमित्यदर्शनेऽव्ययम् । अस्तमितोऽस्तङ्गतो भानुर्यस्मि-स्तत् एतावता निर्गुणत्वमुक्तम् । अथ निर्दोषत्वमाह । अवसन्नतापमर्कास्तमयात्प्रशान्तसन्ता-पम् अतमिस्रमनुदितान्धकार नभोऽन्तरिक्षमभात् भाति स्म । भातेर्लङ् । ननु निर्गुणस्य का शोभेति न वाच्य निर्दोषताया अपि गुणत्वादित्यर्थान्तरन्यासेनाह विगुणस्य गुणहीनस्या-पदोषता निर्दोषत्वमेव गुण. अतो गुणवत्त्वाच्छोभायुक्तेति कारणेन कार्यसमर्थनरूपोऽ-र्थान्तरन्यास. ॥ १२ ॥

रुचिधाम्नि भर्त्तरि भृशं विमलाऽपरलोकमभ्युपगते विविशुः ।
ज्वलनं त्विषःकथमिवेतरथासुलभोऽन्यजन्मनि स एव पतिः १३

रुचीति । रुचिधाम्नि तेजोनिधौ सूर्ये भर्त्तरि पत्यौ परलोकं देशान्तरमभ्युपगते मृते च सति विमला शुद्धास्त्विषो ज्वलन विविशु' । 'अग्निं वा वादित्य. साय प्रविशति' इति श्रुतेरिति भावः । अन्यत्र 'मृते या म्रियते पत्यौ सा स्त्री ज्ञेया पतिव्रता' इति स्मरणादिति भाव । अग्नि-प्रवेशफलमाह । इतरथा ज्वलनाप्रवेशे अन्यजन्मनि जन्मांतरे स एव स सूर्य एव पति अन्यत्र तु योऽस्मिन् जन्मनि पति. स एव कथ सुलभो न कथञ्चिदित्यर्थः । 'उद्यन्तं वावादित्यमग्नि-रनुसमारोहति' इति श्रुते. । 'तेनैव सह मोदते' इति स्मरणादिति भावः । अतोऽग्निप्रवेशो युक्त इति समर्थनाद्वाक्यार्थहेतुक काव्यलिङ्गमलङ्कार. ॥ १३ ॥

अथ सन्ध्याप्रादुर्भावमाह-

विहिताञ्जलिर्जनतया दधती विकसत्कुसुम्भ कुसुमारुण-
ताम् । चिरमुज्झितापि तनुरौज्झदसौ न पितृप्रसूः प्रकृ-
तिमात्मभुवः ॥ १४ ॥

विहितेति । जनतया जनसमूहेन "ग्रामजन" इत्यादिना समूहार्थे तल्प्रत्यय. । विहि-ताञ्जलि. कृतप्रणामेत्यर्थ. । विकसत्कुसुम्भकुसुमवदरुणता दधती राजसत्वादिति भावः । तदुक्त 'सर्गाय रक्त रजसोपबृंहितम्' इति । प्रसूत इति प्रसूर्माता । 'जनयित्री प्रसूर्माता' इत्यमरः । पितॄणा प्रसू पितृप्रसू असाविय सन्ध्यारूपिणी आत्मभुवो ब्रह्मणस्तनुर्मूर्तिश्चिरमुज्झिता

त्यक्तापि प्रकृतिं स्वभाव जगद्वन्द्यत्वादिं निजधर्ममित्यर्थ. । नोज्झत् न विससर्ज । ' उज्झ - लङ्, "आडजादीनाम्" इत्याडागमः, " आटश्च " इति वृद्धिः । भूतपूर्वोऽपि महाजनपरि ह फलतीति भावः। ' पितामहः पितॄन् सृष्ट्वा मूर्तिं तामुत्ससर्ज ह। सा प्रात' सायमागत्य सन्ध्या रूपेण पूज्यते ' इत्यादि भविष्यपुराणमत्र प्रमाणम् । अत्र तनुत्यागरूपकारणसद्भावेऽपि प्रकृतित्यागरूपकार्यानुदयाद्विशेषोक्तिरलङ्कार । ' तत्सामग्र्यामनुत्पत्तिर्विशेषोक्तिर्निगद्यते' इति लक्षणात् ॥ १४ ॥

अथ सान्द्रसान्ध्यकिरणारुणितं हरिहेतिहूति मिथुनं पततोः ।
पृथगुत्पपात विरहार्त्तिदलद्धृदयस्रुतासृगनुलिप्तमिव ॥ १५ ॥

अथेति । अथ सन्ध्योदयानन्तर सान्द्रा ये सन्ध्याः सन्ध्याया भवा. । ' सन्धिवेलाद्यृतुनक्षत्रेभ्योऽण् " इत्यण्प्रत्यय. । तै. किरणैररुणितमरुणीकृतमत एव विरहार्त्या विरहवेदनया दलतो दीर्य्यमाणात् हृदयात् स्रुतेन क्षरितेनासृजा रुधिरेणानुलिप्तमिव स्थितमित्युत्प्रेक्षा हरेर्विष्णोर्हेतिरायुधं चक्रमित्यर्थः । 'हेतिः शस्त्रे तु नृस्त्रियो' ' इति केशव । हरिहेतेर्हूतिरिव हूतिराह्वा यस्य तद्धरिहेतिहूति चक्राह्वमित्यर्थः । पतितोः पाक्षिणोः । 'पतत्रिपत्त्रिपतगपतत्पत्त्ररथाण्डजाः ' इत्यमर । मिथुन चक्रवाकद्वन्द्वमित्यर्थ. । पृथक्भेदेनोत्पपात उदडीयत ॥ १५ "

निलयः श्रियः सततमेतदिति प्रथितं यदेव जलजन्म तया ।
दिवसात्ययात्तदपि मुक्तमहो चपलाजनं प्रति न चोद्यमदः १६॥

निलय इति । यदेव जले जन्म यस्य तज्जलजन्म जलजमेतदेव सतत श्रियां निलय आलय इति प्रथित प्रसिद्धम् । ' निकाय्यनिलयालया.' इत्यमरः । तदपि नित्यवासभूतमपीत्यर्थः । तया श्रिया दिवसात्यये सायकाले मुक्तम् अहो देवानामपि कृतघ्नत्व यदापदि महोपकारिणस्त्याग इत्याश्चर्य्यम् । अथ वा चपला चापलवती स्त्री कमला च । ' चपला कमलाविद्युत्पुंश्चलीपिप्पलीषु च ' इति विश्वः । सैव जनश्चपलाजनः । " जातेश्च" इति " सञ्ज्ञापूरण्योश्च " इति चोभयत्रापि पुवद्भावप्रतिषेधः । त प्रति तस्मिन्नित्यर्थः । अद इद कृतघ्नत्व चोद्य चोदनीय कथमित्याक्षेप्य न । चपलत्वान्नाश्चर्य्यमेतदिति भावः । श्लेषमूलातिशयोक्त्यनुप्राणितोऽयमर्थान्तरन्यासः ॥ १६ ॥

दिवसोऽनुमित्रमगमद्विलयं किमिहास्यते बत मयाऽबलया ।
रुचिभर्त्तुरस्य विरहाधिगमादिति सन्ध्ययापि सपदि व्यगामि १७

दिवस इति । दिवसो वासरः पुमानिति भावः । मित्र सूर्य सुहृद चानु मित्रेण सहेत्यर्थः । " तृतीयार्थे " इत्यनोः कर्मप्रवचनीयत्वाद्द्वितीया । 'मित्र सुहृदि मित्रोऽर्के' इति विश्वः । विलय नाशमगमद्गतः । गमेर्लुङि पुषादित्वात् च्लेरङादेशः । अबलया स्त्रिया मया रुचिभर्तुस्तेजोनिधेः प्रेमास्पदपतेश्चास्य सूर्यस्य विरहाधिगमात् । ल्यब्लोपे पञ्चमी । विग-

ज्ञान प्राप्येत्यर्थः । इहास्मिल्लोके किमास्यते किमर्थं स्थीयते आसेर्भावे लिट् । बदेति खेदे । इत्तीत्थमालोच्येवेत्यर्थः । अत एव उत्प्रेक्षा । सन्ध्ययापि सपदि व्यगमि व्यपागामीत्यर्थ. । गमेः स्वार्थण्यन्ताद्भावे लुङ् मित्त्वाद्ध्रस्वः । 'अण्यन्तादुपधावृद्धिर्नाय स्याद्धेतुमण्णिचि । तस्मात्स्वार्थे णिजुत्पाद्यो मिता ह्रस्वो यतो भवेत् ' । विगमशब्दात् " तत्करोति " इति ण्यन्ताल्लुङिति केचित् ॥ १७ ॥

अथान्धकारं वर्णयति—

पतिते पतङ्गमृगराजि निजप्रतिबिम्बरोषित इवाम्बुनिधौ ।
अथ नागयूथमलिनानि जगत्परितस्तमांसि परितस्तरिरे॥१८॥

पतित इति । पतङ्गोऽर्क एव मृगराट् सिंह इति रूपकसमास' । तस्मिन्निजेन प्रतिबिम्बेन रोषिते कोपित इवेत्युत्प्रेक्षा । स्वप्रतिबिम्बे प्रतिसिंहभ्रमादिति भावः । अत एवाम्बुनिधौ पतिते सति तज्जिघांसयेति भाव । भावलक्षणसप्तमी । अथाप्सु पतनानन्तरं नागयूथानि करिकुलानीव मलिनानि श्यामानि । " उपमानानि सामान्यवचनै " इति समासः तमांसि जगल्लोकं परितः परितस्तरिरे आच्छादयामासु । स्तृणातेः कर्त्तरि लिट् । " ऋतश्च संयोगादेर्गुण' " इति गुण. । अत्र यद्यपि नागयूथमलिनानीत्युक्त्यानुशासनसिद्धोपमानुसारात् । पतङ्गमृगराजीत्यत्राप्युपमितसमासाश्रयणेनोपमैवोचिता, तथापि तदुत्प्रेक्षाया पतङ्गेऽसम्भवात् सिंहे सम्भवाच्च रूपकमेव युक्तम् । तथा च रूपकानुप्राणितोत्प्रेक्षेमुपमेति च सङ्करः । तत्रोत्प्रेक्षया भ्रान्तिमदुपमया रूपकञ्च व्यज्यत इत्यलङ्कारेणालङ्कारध्वनिरिति सक्षेप. ॥ १८ ॥

व्यसरन्नु भूधरगुहान्तरतः पटलं बहिर्बहलपङ्करुचि ।
दिवसावसानपटुनस्तमसो बहिरेत्य चाधिकमभक्त गुहाः॥१९॥

व्यसरदिति । बहलपङ्करुचि सान्द्रकर्दमच्छवि दिवसावसाने दिनान्ते पटुनः समर्थस्य तमस. पटल भूधरगुहानामन्तरतोऽभ्यन्तरादेत्यागत्य बहिर्गवाक्षप्रदेशे व्यसरन्नु विस्तृतं वा बहिर्बाह्यदेशादेत्य गुहा अधिक भृशमभक्त च भजते स्म किम्प्रविष्ट वेत्यर्थः । भजतेर्लुङि तङ् " झलो झलि " इति सकारलोप. । अत्र व्यापकत्वसादृश्यात्तमसोऽन्तर्बहिरपादानकत्वसन्देहात्सन्देहालङ्कारः ॥ १९ ॥

किमलम्बताम्बरविलग्नमधः किमवर्द्धतोर्ध्वमवनीतलतः ।
विससार तिर्य्यगथ दिग्भ्य इति प्रचुरीभवन्न निरधारि तमः॥२०॥

किमिति । प्रचुरीभवद्बहुलीभवत्तमः । कर्तृ । किमम्बरविलग्नमाकाशस्थ सत् अधो भूतल प्रति अवलम्बतास्रसत किमिव अवनीतलतो भूतलादूर्ध्वमुपरिष्टादवर्द्धत किम् अथ दिग्भ्यस्तिर्य्यग्विससार विस्तृतमिति न निरधारि अधोलम्बनादीनामन्यतम नावधारितमित्यर्थ. । धारयतेः कर्म्मणि लुङ् । अत्रापि पूर्ववत्सन्देहालङ्कार. ॥ २० ॥

स्थगिताम्बरक्षितितले परितस्तिमिरे जनस्य दृशमन्धयति ।
दधिरे रसाञ्जनमपूर्वमतः प्रियवेश्मवर्त्म सुदृशो ददृशुः ॥२१॥

स्थगितेति । स्थगिते तिरोहिते अम्बरक्षितितले येन तस्मिन् तिमिरे परितो जनस्य दृशमन्धयति अन्धां कुर्वति सति सुदृशः स्त्रियोऽपूर्वं नूतनं रसाञ्जनं रसं राममेवाञ्जनं सिद्धाञ्जनं च दधिरे दधुः । अतो हेतोः प्रियवेश्मवर्त्म ददृशुः । अत्र रसाञ्जनवाक्यार्थेन प्रियवेश्मदर्शनसमर्थनाद्वाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कारः । तेन रस. सिद्धाञ्जनमिवेत्युपमाध्वननादलङ्कारेणालङ्कारध्वनिः ॥ २१ ॥

अवधार्य्य कार्यगुरुतामभवन्न भवाय सान्द्रतमसन्तमसम् ।
सुतनोः स्तनौ च दयितोपगमे तनुरोमराजिपथवेपथवे ॥ २२॥

अवधार्य्येति । सान्द्रतम यत्सन्तमस व्यापक तमः । 'विष्वक्सन्तमसम्' इत्यमरः । "अवसमन्धेभ्यस्तमसः" इति समासान्तोऽच् प्रत्ययः । तत् । कर्तृ । सुतनोः शुभाङ्ग्या दयितोपगमे प्रियाभिसरणे कार्य्यगुरुता सम्भोगकार्य्यस्यावश्यकत्वमवधार्य्य निश्चित्य भयाय नाभवन् । स्तनौ कुचौ च तनुः कृशो यो रोमराजेः पन्था । रोमराजिपथो मध्यभागस्तस्य वेपथवे कम्पाय । "ट्वितोऽथुच्" इत्यथुच् प्रत्यय. । नाभवताभिति विपरिणामेनानुषङ्गः । कार्य्यासक्तस्य तत्रापि कामुकस्य कुतो भय क्लेशगणना चेति भावः । अत्र सन्तमसकुचयोः कामनिमित्ते भयकम्पानुदये कार्य्यगौरवावधारणहेतुकत्वोत्प्रेक्षेयमनेन व्यज्यते ॥ २२ ॥

ददृशेऽपि भास्कररुचाऽह्नि न यः स तमीं तमोभिरभिगम्य तताम् ।
द्युतिमग्रहीद् ग्रहगणो लघवः प्रकटीभवन्ति मलिनाश्रयतः ॥२३॥

ददृशे इति । यो ग्रहगणोऽहनि सवितुस्त्विषा न ददृशे नेक्षितः । स ग्रहगणस्तमोभिस्तता व्याप्तां ताम्यन्त्यस्यामिति तमीं रात्रिम् । 'रजनी यामिनी तमी' इत्यमरः । अधिगम्य प्राप्य द्युतिमग्रहीत् । ग्रहेर्लुङि "ग्रहोऽलिटि दीर्घः" इटो दीर्घत्वेऽपि स्थानिवत्त्वनेट्त्वात्सिचो लोपे सवर्णे इति दीर्घः । तथा हि लवत्रोऽल्पा । 'त्रिष्विष्टेऽल्पे लघुः' इत्यमरः । मलिनाश्रयतो निकृष्टाश्रयणात्प्रकटीभवन्ति । अर्थान्तरन्यासः ॥ २३ ॥

अनुलेपनानि कुसुमान्यबलाः कृतमन्यवः पतिषु दीपशिखाः ।
समयेन तेन चिरसुप्तमनोभवबोधनं सममबोधिषत ॥ २४ ॥

अनुलेपनानीति । तेन समयेन प्रदोपकालेन कर्त्रा अनुलेपनानि कुंकुमचन्दनादीनि कुसुमानि माल्यादीनि । तथा पतिषु कृतमन्यवः कृतकोपा अबला स्त्रियः तथा दीपशिखा दीपज्वालाश्चेत्येतानि सर्वाणि चिरं सुप्तस्य पूर्वं स्तब्धस्य मनोभवस्य कामस्य बोधनमुद्दीपनं यस्मिन् कर्मणि तद्यथा तथा तत्पूर्वकमित्यर्थः । इतरथा अनुलेपनादिबोधकस्य वैफल्यासम्भवाच्चेति भाव । समं सहैवाबोधिषत बोधितानि । बुध्यतेर्ण्यन्तात्कर्मणि लुङ् । अत्र गन्धमाल्यसम्पाद-

नत्रीमन प्रसाददीपशिखोत्पादनामवबोधिपतेत्येकेन श्लिष्टशब्देनाभिधानात् श्लेषमूलाभेदाध्यवसायरूपातिशयोक्तिरेका । तथा सुप्तमनोभवबोधनमिति क्रियाविशेषणसामर्थ्यात्सममिति यौगपद्याभिधानाच्च मनोभवबोधनया कार्य्यकारणभूतयोस्तद्विपर्य्ययरूपापरा तदुभयापेक्षया गन्धमाल्यादीनां प्रस्तुतानामवबोधनरूपैकधर्मसम्बन्धात्तुल्ययोगितामेदश्चेति सङ्करः ॥ २४ ॥

अथ चन्द्रोदयवर्णनं प्रारभते—

वसुधान्तनिःसृतमिवाहिपतेः पटलं फणामणिसहस्ररुचाम् ।
स्फुरदंशुजालमथ शीतरुचः ककुभं समस्कुरुत माघवनीम् ॥२५॥

वसुधेति । अथ मन.प्रसादानन्तरं वसुधान्तेन भूप्रान्तेन नि.सृतं बहिर्निर्गतमहिपतेः शेषस्य फणामणिसहस्राणां रुचां भासां पटलं स्तोम इवेत्युत्प्रेक्षा । शीतरुचश्चन्द्रस्य सम्बधि स्फुरदुल्लसदंशुजालम् । मघोन इमां माघवनीं माहेन्द्रीम् "मघवा बहुलम्" इति विकल्पान्न त्रादेशः । ककुभं दिशं समस्कुरुत अभूषयत । प्राच्यां दिशि चन्द्रकिरणजालमलक्ष्यतेत्यर्थः । "सम्परिभ्यां करोतौ भूषणे" इति सम्पूर्वस्य सुडागमः "अडभ्यासव्यवायेऽपि" इति नियमात् ॥ २५ ॥

विशदप्रभापरिगतं विबभावुदयाचलव्यवहितेन्दुवपुः ।
मुखमप्रकाशदशनं शनकैः सविलासहासमिव शक्रदिशः ॥२६॥

विशदेति । विशदप्रभापरिगतं शुभ्रकान्तिव्याप्तम् । उदय इति अचलः । 'उदयः पूर्वपर्वतः', इत्यमरः । तेन व्यवहितमिन्दुमण्डलं यस्मिन् तच्छक्रदिशः प्राच्याः मुखमग्रभागः वक्त्रश्च प्रतीयते तदभेदेनोत्प्रेक्ष्यते अप्रकाशदशनमलक्ष्यदन्तं सविलासहासं सविलासस्मितमिव शनकैर्मन्दं विबभौ ॥ २६ ॥

कलया तुषारकिरणस्य पुरः परिमन्दभिन्नतिमिरौघजटम् ।
क्षणमभ्यपद्यत जनैर्न मृषा गगनं गणाधिपतिमूर्तिरिति ॥ २७ ॥

कलयेति । पुरः प्राच्यामग्रभागे च तुषारकिरणस्येन्दोः कलया किरणेन अन्यत्रोपलक्षितं परिमन्दमल्पं भिन्ना विदलितास्तिमिरौघा एव जटा यस्य तत् गगनं न मृषा सत्यं गणाधिपतेः प्रमथपतेरीश्वरस्य । 'गणाः प्रमथसंख्यौघाः' इति वैजयन्ती । मूर्तिरिति जनैः क्षणमभ्यपद्यत गगनमष्टानां शिवमूर्तीनामन्यतममिति यत् तत्सत्यमभिपन्नमित्यर्थः । कलामात्रोदितश्चन्द्र इति फलितोऽर्थः । रूपकालङ्कारः ॥ २७ ॥

नवचन्द्रिकाकुसुमकीर्णतमः कबरीभृतो मलयजार्द्रमिव ।
ददृशे ललाटतटहारि हरेर्हरितो मुखे तुहिनरश्मिदलम् ॥ २८ ॥

नवेति । नवचान्द्रिकाभिरेव कुसुमैः कीर्णं तम एव कबरी केशपाशः । "जानपद" इत्यादिना ङीप् । तां बिभर्तीति तद्भृतः हरेः शक्रस्य हरितो दिशो मुखेऽग्रभागे एव मुखं

चक्रमिति श्लिष्टरूपक तस्यैव ललाटतटवद्धारि मनोहरं हिमरश्मिदलमिन्दुखण्ड मलयजेन चन्दनेनार्द्रमिव ददृशे धावल्यादिति भावः । अत्र नवचन्द्रिकाकुसुमेत्याद्येकदेशविवर्तिरूपकमहिम्ना इरिवधूत्वप्रतीतौ तत्सहकृतश्लेषात्रगतवक्राभेदाध्यवसितमुखसम्बन्धप्रसादासादितललाटतटोपमोज्जीवनेनेन्दुदलस्यानुपात्तनिजवाल्लभ्यगुणनिमित्तमलयजार्द्रत्वगुणस्वरूपोत्प्रेक्षति सकर ॥ २८ ॥

प्रथमं कलाऽभवदथार्धमथो हिमदीधितिर्महदभूदुदितः ।
दधति ध्रुवं क्रमश एव न तु द्युतिशालिनोऽपि सहसोपचयम् ॥ २९ ॥

प्रथममिति । हिमदीधितिश्चन्द्र. प्रथम कला कलामात्रमभवत् । ' कला तु षोडशो भाग.' इत्यमरः । अथार्द्धमात्रमभवत् । अथो अनन्तरम् । ' अथो अथ ' इत्यमर. । उदित साकल्यादुत्थित. सन् अमहान्महान्सम्पद्यमानोऽभून्महदभूत् । अभूततद्भावे च्विः, हलन्तत्वान्नकार्यान्तरप्राप्ति तथा हि द्युतिशालिनः तेजिष्ठा अपि क्रमश. क्रमेणैव उपचय वृद्धि दधति सहसा झटिति तु न दधति ध्रुवम् । सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यास. ॥ २९ ॥

उदमज्जि कैटभजितः शयनादपनिद्रपाण्डुरसरोजरुचा ।
प्रथमप्रबुद्धनदराजसुता वदनेन्दुनेव तुहिनद्युतिना ॥ ३० ॥

उदमज्जीति । अपनिद्रपाण्डुरसरोजरुचा विकसितपुण्डरीकश्रिया तुहिनद्युतिना चन्द्रेण प्रथम हरे, पूर्वमेव प्रबुद्धाया. अन्यथा तन्मुख न दृश्येतेति भावः । नदराजसुतायाः सिन्धुकन्यायाः श्रियो वदनेन्दुनेवेत्युत्प्रेक्षा । कैटभजितो हरेः शयनात्समुद्रादित्यर्थः । उक्तोत्प्रेक्षा । सम्भावनार्थमित्थनिर्देश' उदमज्जि उन्मग्नम् उत्थितमित्यर्थः ॥ ३० ॥

अथ लक्ष्मणाऽनुगतकान्तवपुर्जलधिं विलंघ्य शशिदाशरथिः ।
परिवारितः परित ऋक्षगणैस्तिमिरौघराक्षसकुलं बिभिदे ॥ ३१ ॥

अथेति । अथोदयानन्तर लक्ष्मणा लाञ्छनेन, लक्ष्मणेन सौमित्रिणा चानुगतमनुसृत कान्त वपुर्यस्य सः लक्ष्मणानुगतकान्तवपुरिति शब्दश्लेषः । वस्तुतः शब्दभेदेनार्थद्वयाभावेऽपि जतुकाष्ठवदेकशब्दप्रतीतेः । परितः समन्तात् ऋक्षगणैः नक्षत्रगणैः जाम्बवदादिभल्लूकसमूहैश्च इत्यर्थश्लेष । एकनालावलम्बिफलद्वयवदखण्डैकशब्दादर्थद्वयप्रतीतेः ' नक्षत्रमृक्षं भं तारा' इति । ' ऋक्षाच्छभल्लभल्लूका'' इति चामर. । पारिवारितः शश्येव दाशरथिर्दशरथपुत्रो राम । " अत इञ् " जलधिं विलंघ्य तिमिरौघ एव राक्षसकुल तत् बिभिदे भेदयामास । भिदेः कर्त्तरि लिट् । श्लेषसंकीर्णसमस्तवस्तुवर्तिसावयवरूपकालंकार' ॥ ३१ ॥

उपजीवति स्म सततं दधतः परिमुग्धतां वणिगिवोडुपतेः ।
घनवीथिवीथिमवतीर्णवतो निधिरम्भसामुपचयाय कलाः ॥ ३२ ॥

उपजीवतीति। अम्भसां निधिः समुद्रो वणिगिव सततं परिमुग्धतां सौन्दर्यम् अन्यत्र मौढ्य व्यवहारानभिज्ञतामिति यावत् ' मुग्धः सुन्दरमूढयो ' इति विश्वः । दधतो दधानस्य घनाना वीथि-र्घनवीथिरन्तरिक्ष सा वीथिः पण्यवीथिरिवेत्युपमितसमासः । तामवतीर्णवतः प्रविष्टवतः उडुप-तेर्नक्षत्रनाथस्य कस्यचिद्धनिकवणिजश्च कलाः षोडशांशान् मूलधनवृद्धीश्च । ' कला स्यान्मूलरैवृद्धौ शिल्पादावंश मात्रके । षोडशांशेऽपि चन्द्रस्य ' इति विश्वः । उपचयाय स्वाम्बुवृद्धये समृद्धये चोपजीवति स्म सेवते स्म, अन्यत्र लभते स्मेत्यर्थः । यथा क्रियादिकुशलो ह्यकुशलान्महान्त लाभमाप्नोति तद्वदिति भावः । श्लेषसंकीर्णेयमुपमा उपमासंकीर्णः श्लेष इत्यन्ये ॥ ३२ ॥

रजनीमवाप्य रुचिमाप शशी सपदि व्यभूषयदसावपि ताम् ।
अविलम्बितक्रमसहो महतामितरेतरोपकृतिमच्चरितम् ॥ ३३ ॥

रजनीमिति। शशी रजनीमवाप्य रुचिं शोभामाप । असौ शश्यपि तां रजनीं सपदि व्यभूषयत् । महता सतां चरितमवलम्बितक्रम यथा तथा इतरेतरोपकृतिमत् अन्योऽन्योपकार-वत् अहो इत्यविलम्बादाश्चर्यम् । अत्र रजनीशशिनोर्मिथः शोभाकरत्वादन्योऽन्यालङ्कारः । 'तदन्योऽन्य मिथो यत्रोत्पाद्योत्पादकता भवेत् । इति लक्षणात् । तत्समर्थकश्चायमर्थान्तरन्यास इत्यङ्गाङ्गिभावेन संकरः ॥ ३३ ॥

दिवसं भृशोष्णरुचिपादहतां रुदतीमिवानवरतालिरुतैः ।
मुहुरामृशन् मृगधरोऽग्रकरैः रुदशिश्वसत् कुमुदिनीवनिताम् ॥ ३४ ॥

दिवसमिति । मृगधरश्चन्द्रो दिवस दिवस इत्यर्थ । "कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे" इति द्वितिया । भृशमुष्णरुचेः उष्णांशोः पादेन करेणाङ्घ्रिणा च "पादा रश्म्यङ्घ्रितुर्यांशाः" इत्यमरः । हता ताडितामत एवानवरतैरविच्छिन्नैरलिरुतै रुदतीं क्रन्दतीमिव स्थिता कुमुदि-न्येव वनिता ताम् अग्राणि च ते कराश्च इत्यभेदेन समास इति वामनः । तैरग्रकरैरग्रांशुभिरग्रह-स्तैर्मुहुरामृशन् स्पृशन् उदशिश्वसत् उच्छ्वासयति स्म । परावमृष्टाना पतिभिराश्वासनीयत्वादिति भावः । श्वसधातोः " णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः " । अत्र पाद एव पादस्तेन हतामिति हननसा-धितश्लिष्टरूपकोत्थापितेयमलिरुतैरिति व्यधिकरणपरिणामगर्भा रोदनोत्प्रेक्षेति विजातीयसंकरः । तथा करैरेव करैः कुमुदिनीवनितेति श्लिष्टाश्लिष्टरूपणान्मृगधरे वल्लभ वप्रतीतरेकदेशवर्तिरूपक तत्सापेक्षेयमुदशिश्वसदिति गम्योत्प्रेक्षेत्यपरो विजातीयसंकरः । रोदनोत्प्रेक्षा सापेक्षेयमुच्छ्वासनो-त्प्रेक्षेति सजातीयसंकरोऽपि ॥ ३४ ॥

प्रतिकामिनीति ददृशुश्चकिताः स्मरजन्मघर्मपयसोपचिताम् ।
सुदृशोऽभिभर्तृ शशिरश्मिगलज्जलबिन्दुमिन्दुमणिदारुवधूम् ॥ ३५ ॥

प्रतीति । सुदृशोऽङ्गना अभिभर्तृ भर्तारमभि । "लक्षणेनाभिप्रती आभिमुख्ये" इत्यव्य-यीभावः । शशिरश्मिभिर्गलन्तः स्रवन्तो जलबिन्दवो यस्यास्तामिन्दुमणिश्चन्द्रकान्तशिला सैव

ारुतस्थवधूस्तन्मयी वधू. स्त्रीप्रतिमां तां स्मराज्जन्म यस्य तेन स्मरजन्मना घर्मपयसा स्वेदाम्बुना ापचिता व्याप्ता स्विन्नगात्रामित्यर्थः। प्रतिकूला कामिनी प्रतिकामिनी सपत्नीति भ्रान्त्येति शेषः। चकिता भीता ददृशुः। अत्र चन्द्रशिलापुत्रिकाया सादृश्यनिबन्धनया प्रतिकामिनीभ्रान्त्या भ्रान्तिमदलङ्कारः॥ ३५॥

अमृतद्रवैर्विदधदब्जदृशामपमार्गमोषधिपतिः स्म करैः।
परितो विसर्पि परितापि भृशं वपुषोऽवतारयति मानविषम्॥३६॥

अमृतेति। ओषधिपतिश्चन्द्र एवौषधिपतिर्वैद्य इति श्लिष्टरूपकम्. अमृतमेवामृतमौषधविशेष। तेन द्रवैर्द्रवैः करैः किरणैरेव करैः हस्तैरब्जदृशामपमार्गमङ्गपरिमार्जनं विदधत् कुर्वन् परितो विसर्पि सर्वव्यापि भृशं परितापि सन्तापकारि मानः कोप एव विषं तत् वपुषः शरीरादवतारयति स्म अवारोपितवान्। अत्र सावयवरूपकेणौषधलिप्तजाङ्गुलिकहस्तसंस्पर्शाद्विषमिव निशाकरकरस्पर्शादेवाङ्गनानां वपुषि रोगो न स्पृष्ट इत्युपमा व्यज्यते॥ ३६॥

अमलात्मसु प्रतिफलन्नभितस्तरुणीकपोलफलकेषु मुहुः।
विससार सान्द्रतरमिन्दुरुचामधिकाऽवभासितदिशां निकरः॥३७॥

अमलेति। अधिकमवभासिताः प्रकाशिता दिशो याभिस्तासामिन्दुरुचां निकरोऽमलात्मसु निर्मलमूर्तिषु तरुणीनां ये कपोलाः फलकानीव तेष्वभितो मुहुः प्रतिफलन् सङ्क्रामन् सान्द्रतरं प्रचुरतरं विससार दर्पणसङ्क्रमणादिवेति भावः। अत्रेन्दुरुचां कपोलासङ्क्रमेऽपि सङ्क्रमोक्तेरसम्बन्धे सम्बन्धोक्तिरूपातिशयोक्तिः॥ ३७॥

उपगूढवेलमलघूर्मिभुजैः सरितामचुक्षुभदधीशमपि।
रजनीकरः किमिव चित्रमहो यदुरागिणां गणमनङ्गलघुम्॥ ३८॥

उपगूढेति। रजनीकरः चन्द्रः अलघुभिरूर्मिभिरेव भुजैरुपगूढा वेला येन त सावष्टम्भमिति भाव। सरितामधीशं समुद्रमपि स्वभावादक्षोभ्यमपीति भावः। अचुक्षुभत्क्षोभयति स्म। क्षुभ्यतेर्ण्यन्ताल्लुङ् "णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः"। अनङ्गेन लघु गतसारं यदव एव रागिणस्तेषां गणमचुक्षुभत् इत्यद. किमिव चित्रं न किञ्चिदित्यर्थः। अत्राक्षोभ्यमब्धिं क्षोभयतश्चन्द्रस्य दण्डापूपिकान्यायादन्यक्षोभकत्वोक्तेरर्थापत्तिरलङ्कारः॥३८॥

भवनोदरेषु परिमन्दतया शयितोऽलसः स्फटिकयष्टिरुचः।
अवलम्ब्य जालकमुखोपगतानुदतिष्ठदिन्दुकिरणान्मदनः॥३९॥

भवनेति। परिमन्दतया एकाकित्वादसमर्थतया भवनोदरेषु गृहाभ्यन्तरेषु शयितः सुप्तोऽत एवालसो मदनो जालकमुखोपगतान् गवाक्षविवरप्रविष्टान् अतएव स्फटिकयष्टीनामिव रुक् शोभा येषां तान् स्फटिकदण्डसन्निभान् इन्दुकिरणानवलम्ब्यावष्टभ्योदतिष्ठत उत्थितः। अत्रोद्यो-

वोत्थानयोरभेदविवक्षया "उदोऽनूर्ध्वकर्म्मणि" इति परस्मैपदसिद्धिः। एतत्पदे चाभेदाध्यवसायमूलातिशयोक्त्या स्फटिकयष्टिरिव इत्युपमया च अवलम्ब्येत्यत्रावलम्ब्येवेत्युत्थानस्यावलम्बनहेतुकत्वोत्प्रेक्षा प्रत्याय्यत इत्येतासां सङ्करः॥ ३९॥

अविभावितेषुविषयः प्रथमं मदनोऽपि नूनमभवत्तमसा।
उदिते दिशः प्रकटयत्यमुना यदघर्मधाम्नि धनुराचकृषे॥ ४०॥

अविभावितेष्विति। मदनोऽपि प्रथमं चन्द्रोदयात्प्राक् तमसा अविभावितोऽलक्षित इषुविषयो बाणलक्ष्यं येन सोऽभवत्। नूनमित्युत्प्रेक्षा। यद्यस्मादघर्म्मधाम्नि शीतकरे उदिते दिशः प्रकटयति सति अमुना मदनेन धनुराचकृषे आकृष्टम्, चन्द्र एव महानुद्दीपको मदनस्याभूदिति भावः॥ ४०॥

युगपद्विकाससमुदयाद्गमिते शशिनः शिलीमुखगणोऽलभत।
द्रुतमेत्य पुष्पधनुषो धनुषः कुमुदेऽङ्गनामनसि चावसरम्॥ ४१॥

युगपदिति। पुष्पधनुः पुष्पधन्वा। "वा संज्ञायाम्" इति विकल्पादनङादेशः। तस्य धनुः पुष्पचापं पुष्पान्तरं च तस्माच्चलितो निःसृतः शिली शल्यं मुखं येषां ते शिलीमुखा बाणा अलयश्च 'अलिबाणौ शिलीमुखौ' इत्यमरः। तेषां गणः शशिन उदयाद्विकासमौत्सुक्यमुन्मीलनं च युगपदेकदा गमिते प्रापिते अङ्गनानां सुदृशां मनसि हृदये कुमुदे चावसरमवकाशमाश्वासमलभत। उभयत्र प्रवेशं लब्धवानित्यर्थः। अत्र चन्द्रोदये कुमुदकामिनीहृदययोर्द्वयोरपि प्रकृतयोः शिलीमुखप्रवेशलक्षणैकधर्मयोगादौपम्यात्तुल्ययोगिता एकधर्म्मत्वं चात्र शिलीमुखेति श्लिष्टपदोपात्तयोरलिबाणयोरेकत्वाध्यवसायमूलातिशयोक्तिप्रसादादिति सङ्करः॥ ४१॥

ककुभां मुखानि सहसोज्ज्वलयन्दधदाकुलत्वमधिकं रतये।
अदिदीपदिन्दुरपरो दहनः कुसुमेषुमत्रिनयनप्रभवः॥ ४२॥

ककुभामिति। ककुभां दिशां मुखानि सहसा झटित्युज्ज्वलयन् उद्भासयन् रतये सुरताय अधिकमाकुलत्वमौत्सुक्यं दधत् यूनामिति शेषः। अन्यत्र रतये कामदेव्यै आकुलत्वं भयविह्वलत्वं दधत् अत्रेरत्रिमुनेर्नयनप्रभवः 'अत्रिनेत्रसमुद्भव' इति पुराणात्। त्रिनयनप्रभवो न भवतीत्यत्रिनयनप्रभवः अपरस्त्रिनयनप्रभवादन्यो दहनोऽग्निरिन्दुः कुसुमेषुं काममदिदीपत् दीपयति स्म। दीप्यतेर्णौ चङि "भ्राज" इत्यादिना विकल्पादुपधाह्रस्वः। अत्र प्रकृते कुसुमेषोर्दीपनं नाम प्रवर्द्धनं तस्य तत्र प्रतीयमानेन प्रज्वलनेनाभेदाध्यवसायात्तन्निमित्तमिन्दोर्दिङ्मुखोद्भासनादिधर्मसम्बन्धादपरोऽयं दहन इत्यपरशब्दप्रयोगसामर्थ्याद्दहनत्वोत्प्रेक्षा न रूपकमिति रहस्यम्। चन्द्रोदयात्कामो ववृधे इति तात्पर्यम्॥ ४२॥

एवं चन्द्रोदयाख्यमुद्दीपनविभावनमुक्त्वा तत्फलमाह—

इति निश्चितप्रियतमागतयः सितदीधितावुदयवत्यबलाः ।
प्रतिकर्म कर्तुमुपचक्रमिरे समये हि सर्वमुपकारि कृतम् ॥४३॥

इतीति । इत्येवं सितदीधितावुदयति अबलाः स्त्रियो निश्चिता प्रियतमानामागतिरागमनं याभिस्ताः सत्यः प्रतिकर्म प्रसाधनं कर्तुम् उपचक्रमिरे 'प्रतिकर्म प्रसाधनम्' इत्यमरः । चन्द्रोदयात्प्रियागमनं निश्चित्य अलङ्कर्तुं प्रक्रान्ता इत्यर्थः । तथा हि समये कार्य्यकाले कृतमनुष्ठितं सर्वङ्कर्म उपकार्य्युपकारकं भवति । अन्यथा विफलमेवेति भावः । अतो निश्चित्य प्रवृत्तिरासां युक्तेत्यर्थान्तरन्यासः ॥ ४३ ॥

अथ प्रसाधनमेव प्रपञ्चयति—

सममेकमेव दधतुः सुतनोरुरुहारभूषणमुरोजतटौ ।
घटते हि संहततयाजनितामिदमेव निर्विवरतां दधतोः ॥ ४४ ॥

समभिति । सुतनोः स्त्रियाः उरोजतटौ उरु श्लाघ्यमेव हारकमेव भूषणं सममवैषम्येण दधतुः संहततया सश्लिष्टतया ऐकमत्येन च जनिता निर्विवरता निरन्तरालता नीरन्ध्रत्वं च दधतोरिदं समभागित्वमेव घटते । अन्तर्भेदान्तराया हि विषयिणां विषयोपभोगा कुचयोस्तदभावात्समशोभार्थं हारधारणं युक्तमिति भावः ॥ ४४ ॥

कदलीप्रकाण्डरुचिरोरुतरौ जघनस्थलीपरिसरे महति ।
रशनाकलापकगुणेन वधूर्मकरध्वजद्विरदमाकलयत् ॥ ४५ ॥

कदली । वधूः कदलीप्रकाण्डरुचिरः रम्भास्तम्भसुन्दरः ऊरुरेव तरुर्बन्धनवृक्षो यस्मिन् अत्र कदलीकाण्डस्य सौन्दर्य्यमात्रोपमानत्वान्न बन्धनयोग्यवृक्षवाचिना तरुशब्देन पुनरुक्तिः । महति जघनस्थल्येव परिसरः प्रदेशस्तस्मिन् रशनाकलापक एवगुणस्तेन मकरध्वजो मदनः स एव द्विरदस्तमाकलयदबध्नात् । रशनाबन्धने जघनमतीव मदनोद्दीपकमासीदित्यर्थः । समस्तवस्तुवर्त्तिनावयवरूपकम् ॥ ४५ ॥

अधरेष्वलक्तकरसः सुदृशां विशदं कपोलभुवि लोध्ररजः ।
नवमञ्जनं नयनपङ्कजयोर्बिभिदे न शंखनिहितात्पयसः ॥४६॥

अधरेष्विति । सुदृशामधरेष्वोष्ठेषु अलक्तकरसो लाक्षाद्रवः तथा कपोलभुवि गण्डस्थले विशदं शुभ्रं लोध्ररजः तथा नयनपङ्कजयोर्नवमञ्जनं च शंखनिहितात्पयसः क्षीरात् न बिभिदे भिन्नं नाभूत् कर्मकर्त्तरि लिट् । अधरादिनिहितं लाक्षारागादिकं शंखनिहितक्षीरवत्सावर्ण्यादाश्रयतोऽभेदेन दुर्ग्रहमभूदित्यर्थः । अत्र यदधरालक्तकरसादिकं तच्छंखनिहितं क्षीरमित्यैकवाक्यतया वाक्यार्थे वाक्यार्थसमारोपादसम्भवद्वस्तुसम्बन्धो वाक्यार्थनिष्ठो निदर्शनालङ्कारः । तेना-

धरालक्तकादीनां गुणतः एकत्वरूपः सामान्यालङ्कारो गम्यते 'सामान्य गुणसाम्येन यत्र वस्त्वन्तरैकता' इति लक्षणात् ॥ ४६ ॥

स्फुरदुज्ज्वलाधरदलैर्विलसद्दशनांशुकेशरभरैः परितः ।
धृतमुग्धगण्डफलकैर्विबभुर्विकसद्भिरास्यकमलैः प्रमदाः ॥४७॥

स्फुरदिति । प्रमदाः स्त्रियः स्फुरन्तश्चलन्त उज्ज्वलाश्चामला अधरा ओष्ठा एव दलानि पत्राणि येषां तैः परितो विलसन्तो दशनांशवो दन्तकान्तय एव केशरभराः किञ्जल्कपुञ्जा येषां तै धृतानि मुग्धानि गण्डा एव फलकानि कर्णिका येषां तैर्विकसद्भिरास्यकमलैर्विबभुः । अत्रास्यकमलैरिति रूपणात्प्रमदा एव सरस्य इति सिद्धेरेकदेशविवर्त्ति सावयवरूपकम् । आस्यकुमुदैरिति पाठे कुमुदस्य मुखोपमानकत्व कविसमयविरुद्ध ज्ञेयम् ॥ ४७ ॥

भजते विदेशमधिकेन जितस्तदनुप्रवेशमथवा कुशलः ।
मुखमिन्दुमुज्ज्वलकपोलमतः प्रतिमाच्छलेन सुदृशामविशत् ४८

भजत इति । अधिकेन प्रबलेन जितो विदेश देशान्तर भजते । अथवा कुशलः कार्यचतुर तदनुप्रवेश भजते तमेव शरणतया प्रविश्य जीवतीत्यर्थः । अतो हेतोरिन्दुरुज्ज्वलौ कपोलौ यस्य तदिति मुखस्य बिम्बग्रहणयोग्यतोक्तेः पदार्थहेतुक काव्यलिङ्गम् । सुदृशा मुख प्रतिमाच्छलेन प्रतिबिम्बव्याजेन अविशत् प्रविष्टः साक्षाचन्द्र एवाय न प्रतिमाचन्द्र इति छलशब्दात्प्रतीते छलशब्देनासत्यत्वप्रतिपादनरूपोऽपह्नवालङ्कार. । पूर्वोक्तकाव्यलिङ्गसापेक्ष इति सङ्कर । तेन कपोलयोर्लोकोत्तर लावण्य दर्पणौपम्य च व्यज्यते इत्यलङ्कारेणालङ्कारध्वनिः ॥ ४८ ॥

ध्रुवमागताः प्रतिहतिं कठिने मदनेषवः कुचतटे महति ।
इतराङ्गवन्न यदिदं गरिमग्लपितावलग्नमगमत्तनुताम् ॥ ४९ ॥

ध्रुवमिति । मदनेषवः कामशरा. । महति कठिने कुचतटे प्रतिहतिंप्रतिघातमागता प्राप्ता ध्रुवम् । यद्यस्माद्गरिम्णा निजभारेण ग्लपितङ्कर्शितम् अवलग्नं मध्य येन तदिद कुचतटम् इतराङ्गेन तुल्यमितिराङ्गवत् । "तेन तुल्यम्" इति वतिप्रत्ययः । तनुता कार्श्यं नागमन्नाभजत । पुगादीति सूत्रेण च्लेरङादेशः । तदा मदनेषुपातात्कुचातिरिक्तमङ्गनानामङ्ग कृशमासीदित्यर्थः ॥ ४९ ॥

न मनोरमास्वपि विशेषविदां निरचेष्ट योग्यमिदमेतदिति ।
गृहमेष्यति प्रियतमे सुदृशां वसनाङ्गरागसुमनस्सु मनः ॥५०॥

न मनोरमास्विति । प्रियतमे गृहमेष्यति आगमिष्यति सति विशेषविदामपि सुदृशा सम्यग्दर्शनीयाना स्त्रीणा मनः । कर्तृ । मनोरमास्वपि वसनाङ्गरागसुमनस्सु वस्त्रगन्धमाल्येषु इदमेतदिति इद पुरोवर्त्ति वस्त्वेतदिति वसनमिति अनुलेपनमिति सुमनस इति विशेषाकारेण

तथा योग्यमस्माकं धारणार्हमिति च न निरचैष्ट न निरधारयत् । प्रियागमनहर्षातिरेकादिति कर्त्तव्यतामूढमभूदित्यर्थः । चिनोतेर्लुङि तङि च्लेः सिच् "सार्वधातुकार्धधातुकयोः" इति गुणः । हर्षोऽत्र सञ्चारिभावः । निश्चयसम्बन्धेऽप्यसम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिः सुमनः सुमन इति यमकविशेषश्चेति संसृष्टिः ॥ ९० ॥

वपुरन्वलिप्त परिरम्भसुखव्यवधानभीरुकतया न वधूः ।
क्षममस्य बाढमिदमेव हि यत् प्रियसंगमेष्वनवलेपमदः ॥ ९१ ॥

वपुरिति । वधूः स्त्री परिरम्भसुखव्यवधानभीरुकतया आलिङ्गनसुखविच्छेदभीरुत्वेन । "क्रुकन्नपि वक्तव्यः" इति क्रुकन्प्रत्ययः । वपुर्नान्वलिप्त नानुलिप्तवती अङ्गरागमात्रव्यवधानमपि न सहत इत्यर्थः । लिम्पतेः कर्त्तरि लुङि तङ् । तथा हि अदो वपुः प्रियसंगमेषु अनवलेपमचन्दनमगर्वं चेति यत् । 'अवलेपस्तु गर्वे स्याल्लेपने भूषणेऽपि च' इति विश्वः । इदमनवलेपनत्वमेवास्य वपुषो बाढं भृशं क्षमं युक्तम् श्लेषानुप्राणितोऽयमर्थान्तरन्यासः ॥ ९१ ॥

निजपाणिपल्लवतलस्खलनादभिनासिकाविवरमुत्पतितैः ।
अपरा परीक्ष्य शनकैर्मुमुदे मुखवासमास्यकमलश्वसनैः ॥ ९२ ॥

निजेति । अपरा स्त्री निजपाणिपल्लवतलस्य स्खलनादभिघातादभिनासिकाविवरं नासारन्ध्रं प्रति उत्पतितैरास्यकमलस्य श्वसनैर्मुखमारुतैर्मुखवासं मुखवासनां शनकैः परीक्ष्य मुमुदे । इयं वासकसज्जिका नायिका ॥ ९२ ॥

विधृतं दिवा सवयसा च पुरः परिपूर्णमण्डलविकाशभृति ।
हिमधाम्नि दर्पणतले च मुहुः स्वमुखश्रियं मृगदृशो ददृशुः ॥ ९३ ॥

विधृत इति । दिवा आकाशेन सवयसा वयस्यया च पुरोऽग्रे विधृते विधारिते परिपूर्णमण्डलविकाशं बिम्बशोभां बिभर्तीति तद्भृत् तस्मिन्हिमधाम्नि चन्द्रे दर्पणतले च मृगदृशः स्त्रियः स्वमुखश्रियं पूर्वत्रोपमानभूतामुत्तरत्रोपमेयभूतां चेत्यर्थः मुहुर्ददृशुः । औपम्यपरीक्षार्थमिति भावः । अत्रान्यश्रियोऽन्यत्रासम्भवाच्चन्द्रे तत्सदृशीमिति सादृश्याक्षेपादसम्भवद्वस्तुसंबन्धा निदर्शना । तथा चन्द्रदर्पणयोर्दिवसवयसोश्च यथासंख्यमन्वयाद्यथासंख्यालङ्कारश्च । तदुभयापेक्षया चन्द्रदर्शनयोर्मुखश्रीदर्शनस्थानत्वेन प्रस्तुतयोरेवौपम्यस्य गम्यत्वात्तुल्ययोगितेति सङ्करः ॥ ९३ ॥

अधिजानु बाहुमुपधाय नमत्करपल्लवार्पितकपोलतलम् ।
उदकण्ठि कण्ठपरिवर्तिकलस्वरशून्यगानपरया परया ॥ ९४ ॥

अधिजान्विति । नमति कपोलार्पणाय प्रह्वीभवति करपल्लवे अर्पितं निहितं कपोलतलमण्डलस्थलं यस्य तं बाहुं अधिजानु जानुनि । विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः । उपधाय निधाय कूर्परेण जानुमवष्टभ्येत्यर्थः । कण्ठे परिवर्त्तत इति कण्ठपरिवर्त्ति न तु मुखोच्चारितः इत्यर्थः ।

कलमव्यक्तमधुरं स्वरशून्यं तारध्वनिहीनं षड्जादिस्वराभिव्यक्तिहीनं वा यद्गानं तत्परया तदासक्तया मन्दकण्ठेनैव गायन्त्येत्यर्थः । कालक्षेपार्थमिति भावः । अयञ्चोत्कण्ठानुभावः अपरया स्त्रिया उदकण्ठि उत्कण्ठितम् । प्रियसंगमायोत्सुकया स्थितमित्यर्थः । भावे लुङि चिणो लुक् । अत्र कालक्षेपासहिष्णुत्वलक्षणमौत्सुक्यं सञ्चारि तन्निबन्धनात्प्रेयोऽलङ्कारः ।' परयापरयेति यमकविशेषसंसृष्टिः । नायिका विरहोत्कण्ठिता । 'चिरं पत्युरनालोके विरहोत्कण्ठितोन्मनाः' इति लक्षणात् । ९४ ॥

प्रणयप्रकाशनविदो मधुराः सुतरामभीष्टजनचित्तहृतः ।
प्रजिघाय कान्तमनु मुग्धतरस्तरुणीजनो दृश इवाथ सखीः ॥९५॥

प्रणयेति । अथ प्रसाधनानन्तरं मुग्धतरोऽत्यन्तकाममोहितस्तरुणीजनः प्रणयप्रकाशनविदोऽनुरागव्यञ्जनचतुरा इत्यर्थः । मधुरा मधुरभाषिणीः अन्यत्र रम्याकृतीः सुतरामभीष्टजनस्य चित्तहृतो मनोहारिणीः सखीः दृश इव कान्तमनु प्रयोजनं प्रति प्रजिघाय प्रेषितवान् । हिनोतेर्लिट् । इवेन सह समासवचनात् दृश इवेति उपमासमासः । तया सखीनामासन्नान्तरङ्गत्वकार्यदर्शित्वादिव्यञ्जनादलङ्कारेण वस्तुध्वनिः ॥ ९५ ॥

तथा काचिन्नायिका दूतीं वाचिकमनुशास्ति—

न च मेऽवगच्छति यथा लघुतां करुणां यथा च कुरुते स मयि ।
निपुणं तथैनमुपगम्य वदेरभिदूति काचिदिति सन्दिदिशे ॥९६॥

न चेति । स मे दयितो यथा मयि करुणां कुरुते यथा लघुतामल्पतां च नावगच्छति न मन्यते एनं दयितमुपगम्य प्राप्य तथा तेन प्रकारेण निपुणं वदे । विध्यर्थे प्रार्थने वा लिङ् । इतीत्थं काचिन्नायिका अभिदूति दूतीमभि । "लक्षणेनाभिप्रती" इत्यव्ययीभावे नपुंसकह्रस्वत्वम् । सन्दिदिशे सन्दिष्टवती । कर्त्तरि लिट् । स्वरितेत्त्वादात्मनेपदम् । नायिका तु कलहान्तरिता । 'कोपात्कान्तं पराणुद्य पश्चात्तापसमन्विता' इति लक्षणात् ॥ ९६ ॥

दयिताय मानपरयापरया त्वरितं ययावगदितापि सखी ।
किमु चोदिताः प्रियहितार्थकृतः कृतिनो भवन्ति सुहृदः सुहृदाम् ॥

दयितायेति । मानपरया अभिमानवत्या । अत एवापरया नायिकया अगदिता दयितमानयेत्यनुक्ता सखी दयिताय दयितमानेतुम् । "क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः" इति चतुर्थी । त्वरितं शीघ्रं ययौ । अन्यथा मरणशङ्केति भावः । तथा हि सुष्ठु शोभनं हृदयं येषां ते सुहृदो मित्राणि । "सुहृद्दुर्हृदौ मित्रामित्रयोः" इति निपातः । चोदिताः प्रेरिताः सन्तः सुहृदाम्प्रियो हृद्यः हितं श्रेयस्करश्च योऽर्थस्तं कुर्वन्तीति प्रियहितार्थकृतः कृतमेषामस्तीति कृतिनः कृतकृत्या भवन्ति किमु । किन्तु चोदना विनैवेति भावः । अर्थान्तरन्यासः । नायिका च पूर्ववत् ॥ ९७ ॥

अथ काचित्कलहान्तरिता कान्तं प्रति त्रिभिर्दूतीं सन्दिशति—

प्रतिभिद्य कान्तमपराधकृतं यदि तावदस्य पुनरेव मया ।
क्रियतेऽनुवृत्तिरुचितैव ततःकलयेदमानमनसं सखि माम् ॥५८॥

प्रतिभिद्येति । अपराधकृतमागस्कारिणं कान्तं प्रतिभिद्य निराकृत्य पुनर्मयैवास्यानुवृत्तिरनुनयः क्रियते यदि तावत् उचितैव पतिव्रतानां प्राणेश्वरचित्तानुवृत्तेर्धर्मत्वादिति भावः । किन्तु हे सखि । ततोऽनुवृत्तेर्मामममानमनसमभिमानहीनचित्तां कलयेत् मन्येत ॥ ५८ ॥

तर्ह्यलमनया विगृह्यैव स्थीयतां तत्राह—

अवधीर्य्य धैर्यकलिता दयितं विदधे विरोधमथ तेन सह ।
तव गोप्यते किमिव कर्त्तुमिदं न सहास्मि साहसमसाहसिकी॥५९॥

अवधीर्य्येति । धैर्य्यकलिता कलितधैर्य्या सती । "वाहिताग्न्यादिषु" इति निष्ठायाः परनिपातः । दयितमवधीर्य्य तिरस्कृत्य तेन सह विरोधं विदधे करोमीति चेत् दधातेः कर्त्तरि लट् । हे सखि तव किमिव गोप्यते निगूह्यते न किञ्चिदित्यर्थः । किन्तु कथ्यत एवेति कथयति सहसा बलेन वर्त्तत इति साहसिकी । "ओजःसहोम्भसा वर्त्तते" इति ठक् सा न भवतीत्यसाहसिकी । अहमिति शेषः । इदं साहसं विरोधं विरोधाचरणरूपं साहसकृत्यं कर्तुम् । "शकधृष" इत्यादिना तुमुन् । सहत इति सहा समर्था । पचाद्यच् । नास्मि । अत्रासाहसिकत्वस्य विशेषणगत्या साहससहनहेतुत्वोक्तेः पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कारः ॥ ५९ ॥

तर्हि किमत्र कार्य्यमत आह—

तदुपेत्य मास्म तमुपालभथाः किल दोषमस्य न हि विद्म वयम् । इति सम्प्रधार्य्य रमणाय वधूर्विहितागसेऽपि विससर्ज सखीम् ॥ ६० ॥

तदिति । तत्तस्मात् वल्लभमुपेत्य मास्मोपालभथाः नोपालभस्व तद्दोषं न गणयेरित्यर्थः । "स्मोत्तरे लङ् च" इति उपाङ्पूर्वाल्लङ् "न माङ्योगे" इत्यट्प्रतिषेधः । ननु सापराधः कथं नोपालभ्यस्तत्राह । वयमस्य दोषमपराधं न विद्म किल अजानाना इव तिष्ठाम इत्यर्थः । कार्य्यार्थिन कुतो गर्व इति भावः । "विदो लटो वा" इति णलादेशः । इति सम्प्रधार्य्य निश्चित्य वधूः नायिका विहितागसे कृतपराधायापि रमणाय प्रेयसे । क्रियाग्रहणाच्चतुर्थी सखीं विससर्ज प्रजिघाय । विरहासहिष्णुतयेति भावः । एषा कलहान्तरिता प्रौढा च ॥ ६० ॥

ननु सन्दिशेति सुदृशोदितया त्रपया न किञ्चन किलाभिदधे ।
निजमैक्षि मन्दमनिशं निशितैः कृशितं शरीरमशरीरशरैः ॥ ६१ ॥

नन्विति । ननु सन्दिश सदेशं ब्रूहि इत्युदितया दूत्या कथितया सुदृशा नायिकया कर्त्र्या । त्रपया हेतुना किञ्चन नाभिदधे किल नाभिहितं खलु । किन्तु निशितैरशरीरशरैरनङ्गबाणैरनिशं कृशितं कृशीकृतम् कृशशब्दात् "तत्करोति" इति ण्यन्तात्कर्म्मणि क्तः णाविष्ठवद्भावे

"रुक्तो हलादेर्लघोः" इत्यृकारस्य रेफादेशः । निज शरीर मन्दमैक्षि ईक्षितम् । एषापि कलहान्तरिता मध्यमा च । त्रपया निजहृदयानभिधानन्निजशरीरनिरीक्षणेन स्वावस्थानिवेदनाच्च तुल्यलज्जास्मरत्वावगमादिति । इय च पञ्चमी कार्श्याख्या कामावस्था । 'दृङ्मनः सङ्गसङ्कल्पा-जागरः कृशता रति' । इत्यागोन्मादमूर्च्छान्ता इत्यनङ्गदशा दश' ॥ ६१ ॥

इत्थ नायिकाभिरुपदिष्टा दूत्य किमकुर्वन्नित्यत आह—

ब्रुवते स्म दूत्य उपसृत्य नरान्नरवत्प्रगल्भमतिगर्भगिरः ।
सुहृदर्थमीहितमजिह्मधियां प्रकृतेर्विराजति विरुद्धमपि ॥ ६२ ॥

ब्रुवत इति । प्रगल्भा धृष्टा मतिगर्भाः प्रतिभासाराश्च गिरो यासां ता दूत्यः नरान् पुरुषानुपसृत्य नरवत् नरैः पुम्भिस्तुल्यम् । "तेन तुल्य क्रिया चेद्वतिः" इति वतिप्रत्यय । ब्रुवते स्म । न चैतावता वैजात्यं दूषणमित्यर्थान्तरन्यासेनाह । सुहृदर्थमिति । तथा हि अजिह्मधियामकुटिलबुद्धीनां सम्बन्धि सुहृदे सुहृदर्थम् । "अर्थेन सह नित्यसमास सर्वलिङ्गता चेति वक्तव्यम्" इति नित्यसमासः । ईहित चेष्टित प्रकृतेर्विरुद्धमपि स्वभावविपरीतमपि विराजति शोभते । तस्मान्न धार्ष्ट्यें दोष इत्यर्थः ॥ ६२ ॥

अथ काचिद्दूती कञ्चित्प्रियं प्रति सप्तभिः प्रार्थयते—

मम रूपकीर्त्तिमहरद्भुवि यस्तदनुप्रविष्टहृदयेयमिति ।
त्वयि मत्सरादिव निरस्तदयःसुतरां क्षिणोति खलु तां मदनः ॥

ममेत्यादि । यो भुवि मम रूपकीर्तिं सौन्दर्य्यं प्रथममहरत् इय त्वत्प्रिया तदनुप्रविष्टहृदया तस्मिन्नसक्तचित्तेति अतो हेतोस्त्वयि मत्सरादिव मदनो निरस्तदयो निष्कृप. सन् ता त्वत्प्रिया सुतरां क्षिणोति क्षपयति खलु । एतेन कार्श्यावस्थोक्ता । अत्र साक्षात्प्रतिपक्षभूतनायकपीडासमर्थस्य मदनस्य तदीयनायिकापीडनोक्त्या प्रत्यनीकालङ्कार । स च त्वयि मत्सरादिवेति हेतूत्प्रेक्षोत्थापित इति सङ्कर 'बलिनः प्रतिपक्षस्य प्रतीकारे सुदुष्करे । यस्तदीयतिरस्कारः प्रत्यनीक तदुच्यते' इति लक्षणात ॥ ६३ ॥

तव सा कथासु परिघट्टयति श्रवणं यदङ्गुलिमुखेन मुहुः ।
घनतां ध्रुवं नयति तेन भवद्गुणपूगपूरितमतृप्ततया ॥ ६४ ॥

तवेति । सा त्वत्प्रिया तव कथासु गुणकीर्त्तनेषु मुहुरङ्गुलिमुखेनाङ्गुल्यग्रेण श्रवण श्रोत्रविवर परिघट्टयति स्फालयतीति यत् यदृच्छयेति शेष । तेन परिघट्टनेन भवद्गुणपूगपूरितं श्रवणम् अतृप्ततया तावद्गुणग्रहणेनासन्तुष्टतया घनता नयति । बहुतण्डुलमनार्थं प्रस्थादिवद्भूयोगुणप्रवेशाय श्लेपयतीत्यर्थः । ध्रुवमित्युत्प्रेक्षायाम् । अत्र कण्डूविनोदनार्थं श्रोत्रघट्टने घनतानयनमुत्प्रेक्ष्यते ॥ ६४ ॥

उपताप्यमानमलघूष्णिमभिः श्वसितैः सितेतरसरोजदृशः ।
द्रवतां न नेतुमधरं क्षमते नवनागवल्लिदलरागरसः ॥ ६५ ॥

उपेति। अलघुरन्तःसन्तापोपाधिकः उष्णिमा उष्णत्वं येषां तैः, श्वसितैर्निःश्वासैरुपता-प्यमान सितेतरसरोजदृशो नीलोत्पलाक्ष्या अधर नवनागवल्लिदलाना ताम्बूलदलाना रागरसो रञ्जनद्रवो द्रवतामार्द्रतां नेतु न क्षमते न शक्नोति। एतेन ज्वरावस्थोक्ता अत्र द्रवत्वसम्बन्धेऽसम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिः ॥ ६५ ॥

दधति स्फुटं रतिपतेरिषवः शितता यदुत्पलपलाशदृशः।
हृदयं निरन्तरबृहत्कठिनस्तनमण्डलावरणमप्यभिदन् ॥ ६६ ॥

दधतीति। रतिपतेरिषवः शितता नैशित्य दधति स्फुटमित्युत्प्रेक्षायाम्। यद्यस्मान्निरन्तर नीरन्ध्र बृहत्कठिनं च यत् स्तनमण्डलं तदेवावरणं वर्म्म यस्य तत्तदपि उत्पलपलाशदृश उत्पलदलाक्ष्याः हृदयमभिदन् भिन्दन्ति स्म। भिदेर्लुङि " इरितो वा " इति च्लेरङादेशः। सावरणमपि भिन्नमिति विरोधोत्थापितेयं स्मरशरनैशित्योत्प्रेक्षा। तथा च रन्ध्रान्वेषिणा कामेन निपीड्यमानायास्तस्यास्त्वद्विरहो जीवितसंशयमापादयतीति वस्तु द्योत्यते ॥ ६६ ॥

कुसुमादपि स्मितदृशः सुतरां सुकुमारमङ्गमिति नापरथा।
अनिशं निजैरकरुणः करुणं कुसुमेषुरुत्तपति यद्विशिखैः॥ ६७ ॥

कुसुमादिति। स्मितदृशः स्मेराक्ष्याः अङ्ग कुसुमादपि सुतरा सुकुमार कोमलमितीदमपरथा अन्यथा न किन्तु सत्यमेवेत्यर्थः। यद्यस्मात्कुसुमेषुरकरुणो निष्कृपः सन् निजैर्विशिखैर्बाणैः " पृषत्कबाणविशिखा " इत्यमर। कुसुमैरेवेत्यर्थः। करुण दीन यथा तथा अनिशं नित्यमुत्तपति तापयतीत्यर्थः। तपतिरय भौवादिकः सकर्म्मकः। कुसुमाधिकसौकुमार्य्याभावे कुसुमैः पीडयत इति कुसुमाधिकसौकुमार्यगुणोत्प्रेक्षा नापरथेतिव्यञ्जकप्रयोगाद्वाच्या ॥ ६७ ॥

विषतां निषेवितमपक्रियया समुपैति सर्वमिति सत्यमदः।
अमृतस्रुतोऽपि विरहाद्भवतो यदमूं दहन्ति हिमरश्मिरुचः॥६८॥

विषतामिति। अपक्रियया विपरीतप्रयोगेण निषेवितमुपयुक्त सर्वम् अमृतमपीति भावः विषता विषवदहितत्व समुपैति इत्यद इदं विषत्व सत्य ध्रुव यद्यस्मात् अमृतस्रुतोऽपि। स्रवतेः क्विपि तुक्। हिमरश्मिरुचश्चन्द्रपादाः भवतो विरहाद्धेतोस्त्वया विना सेवनादित्यर्थः। अमूं त्वत्प्रिया दहन्ति याः पूर्वं त्वया सह सेवनादाह्लादयन्निति भावः। एतेन विषयद्वेषरूपा अरत्यवस्थोक्ता। अत्र विशेषेण सामान्यसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ ६८ ॥

उदितं प्रियां प्रति सहार्दमिति श्रदधीयत प्रियतमेन वचः।
विदितेङ्गिते हि पुर एव जने सपदीरिता खलु लगन्ति गिरः६९

उदितमिति। प्रिया प्रति प्रियामुद्दिश्य हृदयस्येद हार्दं प्रेम ' प्रेमा ना प्रियता हार्द प्रेम स्नेहः ' इत्यमरः। "तस्येदम्" इत्यण् प्रत्ययः। 'हृदयस्य हृल्लेखयदण्लासेषु " इति हृदयस्य हृदादेशः सहार्दं सस्नेहमित्युदितम्। वदेः कर्म्मणि क्तः " वचिस्वपि " इत्यादिना सम्प्रसारणम्। वचो दूतीवाक्यं प्रियतमेन श्रदधीयत विश्वसितम्। दधातेः कर्मणि लङ्, श्रदन्तरोरुपसर्गवद्-

तिरितिवचनाच्छ्रुच्छब्दस्य प्राक्प्रयोगः। हि यस्मात् पुरः पूर्वमेव विदितेङ्गिते विदितपराभिप्राये जने इङ्गित ह्रुद्गतो भावः। सजने समुदीरिताः गिर सपदि लगन्ति सज्जन्ति खलु स्वयं प्रियाहृदयवेदित्वात्। स्वबुद्धेः संवादेन दूतीकथितं प्रियाविरहदुःख विशश्वासेत्यर्थ । अर्थान्तरन्यास । एषा कलहान्तारिता अत एव मानाख्यो विप्रलम्भः शृङ्गार ' पूर्वानुरागमानाख्याय प्रवासकरुणात्मना । विप्रलम्भाभिधानोऽयं शृङ्गारः स्याच्चतुर्विध' ' इति चतुर्थोऽयमुक्तः । कुलकम् ॥ ६९ ॥

दयिताहृतस्य युवभिर्मनसः परिमृढतामिव गतैः प्रथमम् ।
उदिते ततः सपदि लब्धपदः क्षणदाकरेऽनुपदिभिः प्रयये॥७०॥

दयितेति । प्रथम चन्द्रोदयात्प्राक् परिमूढता निजमनोपहर्तृमार्गानभिज्ञता गतै तत पश्चात्क्षणदाकरे चन्द्रे उदिते सति सपदि लब्धपदै· दृष्टचोरपदचिह्नैः दयिताभिहृतयाकृष्टस्यापहृतस्य च मनसोऽनुपदिभिरन्वेष्टृभिरन्विष्यद्भिरिवेत्यर्थ । अत एव गम्योत्प्रेक्षा प्रागवलम्बितवैर्यत्यागनिमित्ता। " अनुपद्यन्वेष्टा " इति निपात । ,अन्वेष्टानुपदी प्रोक्ता' इति वैजयन्ती। युवभि प्रयये प्रयातम्। यातेर्भावे लिट्। 'अनोक्तपदान्वेषणोत्प्रेक्षा' नूनाचो... गम्यत इत्यलङ्कारेणालङ्कारध्वनि ॥ ७० ॥

अथ यूनां गृहप्राप्त्यनन्तर वृत्तान्तं वर्णयति—

निपपात सम्भ्रमभृतः श्रवणादसितभ्रुवः प्रणदितालिकुलम् ।
दयितावलोकविकसन्नयनप्रसरप्रणुन्नमिव वारिरुहम् ॥ ७१ ॥

निपपातेति । सम्भ्रमभृतः प्रत्युत्थानसम्भ्रमिण्या असितभ्रवोऽङ्गनाया प्रणदितालिकुल गुञ्जदलिपुञ्जम्। " उपसर्गादसमासेऽपि णोपदेशस्य " इति णत्वम् । वारिरुह श्रवणोत्पल दयितावलोकेन विकसतो विस्तार गच्छतो नयनस्य प्रसरेण प्रसारेण प्रणुन्नमिव पूर्ववण्णत्वम्। निपपात तथा सम्भ्रान्तमित्यर्थः। अत्र सम्भ्रमहेतुकस्य कर्णोत्पलपातस्य नयनप्रसारहेतुकत्वमुत्प्रेक्ष्यते। एषा च हृष्टा ॥ ७१ ॥

उपनेतुमुन्नतिमतेव दिवं कुचयोर्युगेन तरसाऽऽकलिताम् ।
रभसोत्थितामुपगतः सहसा परिरभ्य कश्चन वधूमरुधत् ॥ ७२॥

उपनेतुमिति । सहसोपगतः हठादागत. कश्चन युवा अत एव रभसेनोत्थिताम् अत उन्नतिमता कुचयोर्युगेन करणेन दिवमाकाशमुपनेतुमिवोर्ध्वमुत्क्षेप्तुमिवेति फलोत्प्रेक्षा । उत्थाननिमित्तौन्नत्यगुणनिमित्ता। तरसा बलेनाकलिता व्याक्षिप्ता वधू प्रियां परिरभ्याश्लिष्यारुधत् रुद्ध्वा-उपवेशितवान्। ऊर्ध्वोत्क्षेपान्निवारितवान् इति चार्थः। रुधेर्लुङि " इरितो वा " इति विकल्पात् च्लेरङादेशः । एषा हृष्टा रोमाञ्चिताद्यनुभाववती च ॥ ७२ ॥

अनुदेहमागतवतः प्रतिमां परिणायकस्य गुरुमुद्वहता ।
मुकुरेण वपथुभृतोऽतिभरात कथमप्यपाति न वधूकरतः ॥ ७३॥

अनुदेहमिति । अनुदेह देहस्य पश्चात्। " अव्यय विभक्ति " इत्यादिना पश्चादर्थेऽव्ययीभावः। आगतवतः परिणायकस्य परिणेतः वोढरित्यर्थः नयतेर्ण्वुल् प्रत्यय " उपसर्गादस-

मासेऽपि" इति णत्वम्। गुरु पूज्याम्भारवतीं च प्रतिमा प्रतिबिम्बमुद्वहता पश्चात् स्थितस्यापि तदाभिमुख्यादिति भावः। मुकुरेण दर्पणेन कर्त्रा।'दर्पणे मुकुरादर्शौ' इत्यमरः। वेपथुभृतो नवोढतया भयशृङ्गाराभ्या कम्पमानात् अति अतिमात्रो भरो यस्य तस्मादतिभरात् प्रतिबिम्बगुरुमुकुरवत्त्वादिति भावः। वध्वा नवोढायाः करतः पाणितलात्। पञ्चम्यास्तसिल् कथमपि नापाति न पतितम्। महता प्रयत्नेन धारित इत्यर्थः। भावे लुङ्। एषा च मुग्धा। अत्र वधूकरस्य भारासम्बन्धेऽपि सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिः, गुरुमिति श्लेषोत्थापितेति सङ्करः॥ ७३॥

अवनम्य वक्षसि निमग्नकुचद्वितयेन गाढमुपगूढवता।
दयितेन तत्क्षणजलद्रशना कलकिङ्किणीरवमुदासि वधूः॥ ७४॥

अवनम्येति। अवनम्य गाढमुपगूढवता आश्लिष्टवता अत एव वक्षसि निमग्नकुचद्वितयेन दयितेन तत्क्षणे चलन् उद्गच्छन् रशनाया: कलकिङ्किणीरवो यस्मिन् कर्मणि तद्यथा तथा वधूरङ्गना उदासि उत्क्षिप्ता। अस्यते· कर्मणि लुङ्। एषा च हृष्टा रोमाञ्चाद्यनुभाववती चास्वभावालङ्कारः॥७४॥

कररुद्धनीवि दयितोपगतौ गलितं त्वराविरहितासनया।
क्षणदृष्टहाटकशिलासदृशस्फुरदूरुभित्ति वसनं ववसे॥ ७५॥

कररुद्धेति। दयितोपगतौ प्रियागमने सति अत एव त्वरया विरहितं त्यक्तमासनं यया तया। उत्थितयेत्यर्थः। कयाचिदिति शेषः। अत एव गलितं स्रस्तम् अत एव कररुद्धनीवि करगृहीतबन्धं वसनं क्षणं दृष्टा हाटकशिलासदृशी हेमशिलाप्रतिमा स्फुरन्ती ऊरुभित्तिरूरुदेशो यस्मिन् कर्मणि तद्यथा तथा। 'हिरण्यं हेम हाटकम्' इत्यमरः। ववसे आच्छादितम्। वस्तेराच्छादनार्थात्कर्मणि लिट्। ऊरुभित्तिरित्युपमितसमासः। अत्रोपमयोः संसृष्टिः॥ ७५॥

पिदधानमन्वगुपगम्य दृशौ ब्रुवते जनाय वद कोऽयमिति।
अभिधातुमध्यवससौ न गिरा पुलकैः प्रियं नववधूर्न्यगदत्॥७६॥

पिदधानमिति। नववधूर्नवोढा अन्वक् पश्चादुपगम्य दृशौ पिदधानं छादयन्तं प्रियं दृष्टिच्छादकः को वद इति ब्रुवते पृच्छते जनाय गिरा वाचा अभिधातुं नाध्यवससौ नोत्सेहे लज्जयेति भावः। अध्यवपूर्वात् स्यतेः कर्तरि लिट्। किन्तु पुलकैर्न्यगदत्। अत्र प्रियज्ञानस्यार्थस्य लज्जया असंलक्षितस्य पुलकैः प्रकाशनात् सूक्ष्मालङ्कारः। 'असंलक्षितसूक्ष्मार्थप्रकाशः सूक्ष्म उच्यते' इति लक्षणात्॥ ७६॥

उदितोरुसादमतिवेपथुमत्सुदृशोऽभिभर्तृ विधुरं त्रपया।
वपुरादरातिशयशंसि पुनः प्रतिपत्तिमूढमपि बाढमभूत्॥ ७७॥

उदितेति। अभिभर्तृ भर्तृसमक्षम्। "लक्षणेनाभिप्रती आभिमुख्ये" इत्यव्ययीभावः। उदित उत्पन्न ऊरुसादः ऊर्वोर्निश्चेष्टता यस्य तत् अतिवेपथुमत् अतिकम्पवत्। एतेन विशेषणद्वयेन प्रत्युत्थानालिङ्गनविरोधेन स्तम्भवेपथू सात्त्विकावुक्तौ। त्रपया विधुरं विलक्षम्। एतेन लज्जासञ्चारिणा प्रियवाक्कुण्ठनत्वमुक्तम्। एवं प्रतिपत्तिमूढमपि इति कर्तव्यतामूढमपि सुदृशो वपुर्बाढं भृशम्

आदरातिशयशंसि मुखरागादिलिङ्गैरादरविशेषव्यञ्जकमभूत् । सत्यादरे किमुपचारैरिति भावः ॥ ७७ ॥

परिमन्थराभिरलघूरुभरादधिवेश्म पत्युरुपचारविधौ ।
स्खलिताभिरप्यनुपदं प्रमदाः प्रणयातिभूमिमगमन्गतिभिः ॥७८॥

परीति । प्रमदा अधिवेश्म निजवेश्मनि पत्युरुपचारविधौ प्रत्युत्थानादिकर्मणि अलघोर्महत उरुभरात् परिमन्थराभिरलसाभिः अनुपद पदेपदे स्खलिताभिरपि गतिभिः प्रणयातिभूमि प्रेमप्रकर्षमगमन् पर प्रेमास्पदीभूता इत्यर्थः । प्रत्युत्थानादपि स्खलितगमनमेव पत्यु प्रीतिकरमभूदिति भाव । स्त्रीणा स्खलन पत्युः प्रीतिकरमिति विरोधाभासोऽलङ्कारः ॥ ७८ ॥

मधुरोन्नतभ्रु ललितञ्च दृशोः सकरप्रयोगचतुरञ्च वचः ।
प्रकृतिस्थमेवनिपुणागमितं स्फुटनृत्यलीलमभवत्सुतनोः ॥७९॥

मधुरेति । मधुर मनोहर यथा तथोन्नते उच्चलिते भ्रुवौ यस्मिन् तन्मधुरोन्नतभ्रु । " गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य " इति ह्रस्वत्वम् । दृशोर्ललित नयनचेष्टा च सकरप्रयोग हस्ताभिनयसहित तच्चतुर च तद्वचश्च सुतनो स्त्रियाः प्रकृतिस्थमेव स्वभावसिद्धमेव सदपि निपुणेन निपुणाचार्येणागमितमभ्यासितम् । अत एव स्फुट प्रथितं यन्नृत्यं तस्य लीलेव लीला यस्य तत्तथोक्तमभवदिति निदर्शनालङ्कारः । तया नर्त्तक्युपमा गम्यते ॥ ७९ ॥

अथ कस्याश्चित्सपत्नीनामग्रहणाद्रुताया कान्तोपालम्भ विशेषकेणाह-

तदयुक्तमङ्ग तव विश्वसृजा न कृतं यदीक्षणसहस्रतयम् ।
प्रकटीकृता जगति येन खलु स्फुटमिन्द्रताद्य मयि गोत्रभिदा ॥८०

तदित्यादि । अङ्गेत्यामन्त्रणे । विश्वसृजा विधात्रा तव ईक्षणसहस्रतय नेत्रसहस्रसमूह । सङ्ख्याया अवयवे तयप् । न कृत न सृष्टमिति यत् तदयुक्तम् । कुत । येन कारणेन मयि विषये स्फुट प्रत्यक्षमेव गोत्रभिदा नामभेदिनाद्रिभेदिना च । 'गोत्रं नाम्नि कुलेप्यद्रौ' इति यादव । त्वयेति शेष अद्य इन्द्रता जगति प्रकटीकृता खलु । अत्र गोत्रभिदिति श्लेषानुप्राणित सहस्राक्षत्वमुत्प्रेक्ष्यते ॥ ८० ॥

न विभावयत्यनिशमक्षिगतामपि मां भवानतिसमीपतया ।
हृदयस्थितामपि पुनः परितः कथमीक्षते बहिरभीष्टतमाम् ॥८१॥

नेति । अनिशमक्षिगता चक्षुःसन्निकृष्टामपि द्वेष्यामिति च गम्यते । 'द्वेष्ये त्वक्षिगतः' इत्यमरः । मामतिसमीपतया भवान्न विभावयति । " शेषे प्रथम " इति प्रथमपुरुषः । इन्द्रियसन्निकृष्टमपि न लक्ष्यत इति विरोधाभासनार्थोऽपिशब्दः परमार्थस्तु द्वेष्यत्वादतिसामीप्याच्च अविभावन न चित्रमिति भावः । अभीष्टतमा पुनर्हृदयस्थिता हृदयानपेताम् अन्तर्हितामिति च गम्यते । अत एव विरोधाभासकोऽपिशब्दः । बहिः पुरतः कथं भवान् ईक्षते । इद तु चित्रम् । अतिसामीप्यव्यवधानस्यापि दर्शनप्रतिबन्धकत्वादिति भावः । प्रेमास्पद वस्तु परोक्षमप्यपरोक्षमीक्षते इतरदपरोक्षमपि परोक्षमेवेति तात्पर्यार्थः । विरोधाभासयोः सङ्कर ॥ ८१ ॥

इति गन्तुमिच्छुमभिधाय पुरः क्षणदृष्टिपातविकसद्वदनाम् ।
स्वकरावलम्बनविमुक्तगलत्कलकाञ्चि काञ्चिदरुणत्तरुणः ॥८२॥

इतीति । इत्यभिधाय पुरो गन्तुमिच्छु क्षण दृष्ट्योः पातेन विकसद्वदनां परस्परदृष्टिपात्रमात्रगतकोपामित्यर्थः ।काञ्चिन्नायिकां तरुणो युवा स्वकरावलम्बनं प्रियकरेण ग्रहणं तेन विमुक्ता विमुक्तबन्धना अत एव गलन्ती भ्रंशमाना कला मधुरा काञ्ची यस्मिन् कर्मणि तद्यथा तथा-अरुणत् रुद्धवान् । रुधेर्लङि । "रुधादिभ्यः श्नम्" एषा च कलहान्तरिता। विशेषकम् ॥ ८२ ॥

अपयाति सरोषया निरस्ते कृतकं कामिनि चुक्षुवे मृगाक्ष्या ।
कलयन्नपि सव्यथोऽवतस्थेऽशकुनेन स्खलितः किलेतरोऽपि॥८३॥

अपयातीति । सरोषया मृगाक्ष्या निरस्ते कामिनि भर्त्तरि अपयाति निर्याति सति कृतकं कृत्रिम यथा तथा चुक्षुवे तन्निर्गमनप्रतिबन्धार्थं क्षुतं कृतमित्यर्थः । 'क्षु शब्दे' भावे लिट् । इतरोऽपि नायकोऽपि कलयन्नपि कृतकोपेयमिति जानन्नपि अशकुनेन स्खलितः किल निरुद्ध इव सव्यथ सनिर्वेद इवावतस्थे स्थित । न गत इत्यर्थः । उभावपि समानानुरागाविति भाव । एषा च कलहान्तरिता ॥ ८३ ॥

आलोक्य प्रियतममंशुके विनीवौ यत्तस्थे नमितमुखेन्दुमानवत्या । तन्नूनं पदमवलोकयाम्बभूवे मानस्य द्रुतमपयानमास्थितस्य ॥ ८४ ॥

आलोक्येति । मानवत्या कोपवत्या स्त्रिया । 'स्त्रीणामीर्ष्याकृतः कोपो मानोऽन्यासङ्गिनि प्रिये' प्रियतममालोक्य स्थितया । समानकर्तृत्वात् क्त्वानिर्देशः । अंशुके विनीवौ प्रियावलोकनाद्विगलितबन्धे सति । भाषितपुस्कत्वात्पुंवद्भाव । 'स्त्रीकटीवस्त्रबन्धेऽपि नीविः परिपणेऽपि च' इत्यमरः । नमितमुखेन्दु यथा तथा तस्थे स्थितमिति यत् तत्तस्मान्नम्रमुखावस्थानाद्द्रुतं शीघ्र प्रियावलोकनक्षण एवेत्यर्थः । अपयानमास्थितस्य प्रयाण गतस्य मानस्य कोपस्य पद पदचिह्नमवलोकयाम्बभूवे अन्वेषितमित्यर्थ । लज्जानिमित्ताया मुखनते अन्वेषणार्थत्वमुत्प्रेक्ष्यते । नूनमिति मानगन्धोऽप्यस्तमित इति भाव ॥ ८४ ॥

सुदृशः सरसव्यलीकतप्तस्तरसाश्लिष्टवतः सयौवनोष्मा ।
कथमप्यभवत्स्मरानलोष्णः स्तनभारो न नखम्पचः प्रियस्य८५॥

सुदृश इति । सरसमार्द्रं नूतनमिति यावत् । तेन व्यलीकेन प्रियकृतेनापराधेन तप्तः तथा यौवनोष्मणा सह वर्तत इति सयौवनोष्मा । किञ्च स्मरानलोष्णः कामाग्निसन्तप्त एवं त्रिविधाग्नितप्तोऽपि सुदृशः स्तनभारस्तरसा वेगेनातिदाहदशायामेवेत्यर्थः । आश्लिष्टवतः आलिङ्गितवतः प्रियस्य कथमपि कथ वा कुतो हेतोरित्यर्थः । नख पचाते क्वाथयतीति नखम्पचः ।

पच्चिरत्र तापवाची । " मितनखे च " इति खश् प्रत्ययः " अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम्" इति मुमागमः । नामवत् । तथोष्मण ईषदुष्णोऽपि नाभूदित्यर्थः । प्रियासङ्गप्रतीकारः खलु कामिनां सन्तापा इति भावः । तादृगौष्ण्यसम्बन्धेऽप्यसम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिः ॥ ८५ ॥

दधत्युरोजद्वयमुर्वशीतलं भुवो गतेव स्वयमुर्वशी तलम् । बभौ मुखेनाप्रतिमेन काचन श्रियाधिका तां प्रति मेनका च न ॥ ८६ ॥

दधतीति । उरु महदशीतलं स्मरयौवनोष्मभ्यामुष्णमुरोजद्वयं कुचद्वयं दधती भुवस्तलं गता स्वयं साक्षादुर्वशीव स्थितेत्युत्प्रेक्षा । काचन स्त्री अप्रतिमेन मुखेन बभौ तां प्रति मेनका मेनकाख्या अप्सरसश्च श्रिया सौन्दर्येणाधिका नेत्यतिशयोक्तिः । तयोर्यमकेन संसृष्टिः । वंशस्थं वृत्तम् ॥ ८६ ॥

इत्थं नारीर्घटयितुमलं कामिभिः काममासं प्रालेयांशोः सपदि रुचयः शान्तमानान्तरायाः । आचार्यत्वं रतिषु विलसन्मन्मथश्रीविलासा ह्रीप्रत्यूहप्रशमकुशलाः शीधवश्चक्रुरासाम् ॥ ८७ ॥

इति श्रीमाघकविकृतौ शिशुपालवधे महाकाव्ये प्रदोषवर्णनं नाम नवमः सर्गः ॥ ९ ॥

इत्थमिति । इत्थमनेन प्रकारेण । "इदमस्थमुः" इति थमुप्रत्ययः । सपदि शान्तः शमितो मानः कोप एवान्तरायो याभिस्ताः । " वा दान्त" इत्यादिना शमेर्ण्यन्तात् शान्तेति निपातः । प्रालेयांशोश्चन्द्रस्य रुचयो नारीः कामिभिर्घटयितुम् । "मिता ह्रस्वः" । "पर्याप्तिवचनेष्वलमर्थेषु" इति तुमुन्प्रत्ययः काम प्रकामं समर्था आसन् । दूत्य इवेति भावः । विलसन्तो मन्मथश्रीविलासा मणितशीत्कारादिमदनातिरेकविकारा याभिस्ता ह्रीरेव प्रत्यूहो विघ्नस्तस्य प्रशमे निवारणे कुशलाः शेरते अभिरिति शीधवो मदिराः । " शीङो धुक् " इत्यौणादिको धुक्प्रत्ययः आसां रतिषु आचार्यत्वमुपदेशं चक्रुः । नर्मसख्य इवेति भावः । अत्र प्रथमार्द्धे प्रस्तुतचन्द्रभासां मानशमनकामिघटनपाटवविशेषणसाम्यादप्रस्तुतदूतीत्वप्रतीतेः समासोक्तिः, द्वितीयार्द्धे तु शीधुष्वारोपितस्याचार्यत्वस्य प्रकृतोपयोगात्परिणामः । तयोः सापेक्षत्वात्सङ्करः । तेन च दूतीनर्मसख्युपमाध्वनिः । उत्तरसर्गे मधुपानरतोत्सववर्णनायाश्चायमेव प्रस्तावः । मन्दाक्रान्ता वृत्तम् । " मन्दाक्रान्ता जलधिषडगैर्म्भौ नतौ ताद्गुरू चेत् " इति लक्षणात् ॥ ८७ ॥

इति श्रीमहामहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचिते माघकाव्यव्याख्याने सर्वङ्कषाख्ये नवमः सर्गः ॥ ९ ॥

दशमः सर्गः ।

अथानन्तरं रतिषु शीघ्रवश्चक्रुरित्युक्तं तत्प्रपञ्चनायास्मिन्सर्गे मधुपानं तावद्वर्णयति—

सज्जितानि सुरभीण्यथ यूना स्फुल्लसन्नयनवारिरुहाणि ।
आययुः सुघटितानि सुरायाः पात्रतां प्रियतमावदनानि ॥ १ ॥

सज्जितानीति । अथ पानगोष्ठीप्रस्तावानन्तरं सज्जितानि यावकक्षालनादिना संस्कृतानि सुरभीणि यथायोग्यं स्वभावसंस्काराभ्यां सुगन्धीनि नयनानि वारिरुहाणीव अन्यत्र नयनानीव वारिरुहाणि पानार्थं क्षिप्तानि नान्युल्लसन्ति येषु तानि तथोक्तानि सुघटितानि सुष्ठु सुखैर्योजितानि शोभनसंस्थानवत्तया निर्म्मितानि वा प्रियतमावदनानि यूना कामिना सुरायाः पात्रतां पानभाजनतां ययुः । प्रियामुखसम्पर्कजनितरसास्वादलोभात्तासां मुखसुरामेव पपुरिति भावः । अत्र वदनेष्वारोप्यमाणायाः पात्रतायास्तादात्म्येन तेषां पानसाधनतापादनेन कृतवदनोपयोगात्परिणामालङ्कारः । 'आरोप्यमाणस्य प्रकृतोपयोगित्वे परिणामः' इति लक्षणात् । तेन श्लेषसङ्कीर्णेनोपमा व्यज्यते । अस्मिन्सर्गे स्वागता वृत्तम् । "स्वागतेति रनभा गुरुयुग्मम्" इति लक्षणात् ॥ १ ॥

सोपचारमुपशान्तविचारं सानुतर्षमनुतर्षपदेन ।
ते मुहूर्त्तमथ मूर्त्तमपीप्यन्प्रेम मानमवधूय वधूःस्वाः ॥ २ ॥

सोपचारमिति । अथ पात्रीकरणानन्तरं ते युवानः सोपचारं सप्रार्थनम् उपशान्तविचारं निवृत्तशङ्कम् । 'विवाद' इति पाठे मानमवधूयेति पुनरुक्तिः चारुचारमित्यनुप्रासक्रमभङ्गश्च स्यात् । सानुतर्षं सतृष्णञ्च यथा तथा अनुतर्पत्यनेनेत्यनुतर्षो मद्यम् । 'मद्येऽनुतर्षं तत्पाने पात्रे तृष्णाभिलाषयोः' इत्युभयत्रापि विश्वः । तस्य पदेन छलेन मूर्त्तं मूर्तिमत् प्रेम स्वाः स्वीया वधूर्मुहूर्त्तं क्षणं मानं कोपमवधूयापीप्यन् पाययन्ति स्म पिबतेर्णौ चङि "लोपः पिबतेरीच्चाभ्यासस्य" इति धात्वाकारलोपः ईकारोऽभ्यासस्य । 'न पादमी'' इत्यादिना निगरणार्थत्वमिति परस्मैपदनिषेधेऽपि "णिचश्च" इत्यात्मनेपदविकल्पात्पाक्षिकं परस्मैपदम् । "गतिबुद्धि" इत्यादिना वधूरित्यणि कर्त्तुः कर्मत्वम् । अनुतर्पपदेनेत्यनुतर्पापह्नवेन मूर्त्तप्रेमत्वोत्प्रेक्षणात् व्यञ्जकाप्रयोगाच्च प्रतीयमाना सापह्नवोत्प्रेक्षा ॥ २ ॥

कान्तकान्तवदनप्रतिबिम्बे भग्नबालसहकारसुगन्धौ ।
स्वादुनि प्रणदितालिनि शीते निर्ववार मधुनीन्द्रियवर्ग्गः ॥ ३ ॥

क्रान्तेति । क्रान्त सक्रान्त कान्तवदनप्रतिबिम्बं यस्मिंस्तस्मिन्नेत्रनिर्वृतिकर इत्यर्थ. । मध्वाः क्षिप्ता बालसहकाराश्चूतविशेषपल्लवा । 'आम्रश्चूतो रसालश्च सहकारोऽतिसौरभ.' इत्यमरः । तै. सुगन्धौ सुरभिणि । घ्राणतर्पण इत्यर्थ "तृतीयादिषु भाषितपुस्कं पुवद्गालवस्य" इति पुवद्भाव । स्वादुनि मधुरे । रसनातर्पणीत्यर्थ । प्रणदितालिनि गुञ्जन्मधुकरे श्रुतिसुख इत्यर्थः । शीते स्पर्शसुखे इत्यर्थ । एव पञ्चविषयसमष्टौ मधुनि मद्ये इन्द्रियवर्गश्चक्षुरादिपञ्चक निर्विवार निर्वृतमभूत् । अत्र रूपरसादिपदार्थाना मधुविशेषणभावेन निर्वृतिहेतुत्वात्पदार्थहेतुक काव्यलिङ्गम् ॥ ३ ॥

कापिशायनसुगन्धि विघूर्णन्नुन्मदोऽधिशयितुं समशेत ।
फुल्लदृष्टि वदनं प्रमदानामब्जचारु चषकं च षडंघ्रिः ॥ ४ ॥

कापिशायनेति । उन्मद उद्रिक्तमद अत एव विघूर्णन् भ्रमन् षडघ्रि षट्पद कापिशायनेन सुगन्धि सुरभि । कश्य कल्य तथा मद्य मैरेय कापिशायनम्' इति वैजयन्ती । फुल्ल दृष्टि विकसितनेत्र प्रमदाना वनिताना वदनम् अधिवासनार्थेन अब्जेन चारु चषकं पानपात्र च 'चषकोऽस्त्री पानपात्रम्' इत्यमर । अधिशयितुमधिष्ठातु समशेत इद भजामीद भजामि वेत्यु भयलोभार्थं दोलायमानमानस आसीदित्यर्थ' । अत्र प्रकृतयोरेव वदनचषकयो. षट्पदाभिलाषारदत्वरूपैकधर्मयोगादौपम्यस्य गम्यताया तुल्ययोगिताभेद' ॥ ४ ॥

बिम्बितं भृतपरि श्रुति जानन्भाजने जलजमित्यबलायाः ।
घ्रातुमक्षि पतति भ्रमरः स्म भ्रान्तिभाजि भवति क्व विवेकः ॥५॥

बिम्बितमिति । भृता परिश्रुद्वारुणी यस्मिंस्तस्मिन् । 'परिश्रुद्वरुणात्मजा'इत्यमर । भाजने पानपात्रे बिम्बित प्रतिबिम्बितम् । अबलाया अक्षि जलजमिति जानन् सादृश्यात्तथा भ्राम्यन्नित्यर्थ । भ्रमर घ्रातु पतति स्म । तथाहि भ्रान्तिर्भ्रमण विपरीतज्ञानं च तद्भाजि विवेको विचार क्व भवति न क्वापीत्यर्थ । अत्र भ्रमरस्याक्षिजलजभ्रान्तेर्भ्रान्तिमदलङ्कार', तत्समर्थकत्वात् श्लेषमूलातिशयोक्त्युत्थापितोऽर्थान्तरन्यास । तेन सहाङ्गाङ्गिभावेन सङ्कर ॥ ५ ॥

दत्तमिष्टतमया मधु पत्युर्बाढमाप पिबतो रसवत्ताम् ।
यत्सुवर्णमुकुटांशुभिरासीच्चेतनाविरहितैरपि पीतम् ॥ ६ ॥

दत्तमिति । इष्टतमया दत्तं मधु मद्यम् । कर्तृ । पिबत. पत्यु' रसवत्ता प्रेयसीकरस्पर्शादतिस्वादुतामाप । अतिशायने मतुप् । बाढ ध्रुवमित्युत्प्रेक्षा । कुत । यद्यस्माच्चेतनाविरहितैरचेतनै. सुवर्णमुकुटांशुभिरपि मधुनि प्रसृतैरिति भाव. । पीत पीतवर्णं पीतं चासीत् । अत्र पीतमिति श्लेषमूलातिशयोक्त्या पीतिम' क्रियाभेदाध्यवसायेनाचेतनाशुकर्तृकपानक्रियानिमित्ता प्रेयसीस्वहस्तदानाहितरसवत्तोत्प्रेक्षा । तथा च यदचेतनानामपि पेय तच्चेतनाना किं वक्तव्यमित्यर्थापत्तिव्यञ्जनादलङ्कारेणालङ्कारध्वनि. ॥ ६ ॥

स्वादनेन सुतनोरविचारादोष्ठतः समचरिष्ट रसोऽत्र।
अन्यमन्यदिव यन्मधु यूनः स्वादमिष्टमतनिष्टतदेव ॥ ७॥

स्वादनेनेति। सुतनोः कन्त्र्याः। स्वादनेनास्वादनेन ओष्ठतः ओष्ठात् रसः स्वादोऽत्र मधुनि अविचारादसंशयात्समचरिष्ट संक्रान्त.। सम्पूर्वाच्चरतेर्लुङ्। "समस्तृतीयायुक्तात्" इत्यात्मनेपदम्। कुतः। यद्यस्मात्तदेव पूर्वभुक्तमेव मधु अन्यदिवापूर्वमिवान्यमपूर्वमिष्टं प्रियं स्वादं रसं यूनोऽतनिष्ट तनोतेर्लुङि तङ्। ओष्ठस्पर्शानन्तरमेव रसान्तरप्रादुर्भावादनन्तरन्यायात्तद्रससंक्रमणोत्प्रेक्षा, सा चाविचारादेति व्यञ्जकप्रयोगाद्वाच्या ॥ ७ ॥

विभ्रतौ मधुरतामतिमात्रं रागिभिर्युगपदेव पपाते।
आननैर्मधुरसो विकसद्भिर्नासिकाभिरसितोत्पलगन्धः ॥ ८ ॥

विभ्रताविति। रागिभिः कामिभिरतिमात्रं मधुरतां स्वादुतां प्रियत्वं वा बिभ्रतौ। मधुर रसवत्स्वादुप्रियेषु मधुरोऽन्यवत्' इति विश्वः। तस्य भावस्ताम्। विकसद्भिर्विकसन्तीभिश्च विकसद्भिः तृष्णया विजृम्भमाणैः। "नपुसकमनपुसकेनैकवच्चास्यान्यतरस्याम्" इति नपुंसकैकशेष.। आननैः मधुरसो मद्यरसः नासिकाभिर्घ्राणैरसितोत्पलगन्धश्च युगपदेव पपाते पीतौ। भिन्नेन्द्रियग्राह्यावपि गन्धरसौ युगपत् स्वेन्द्रियसम्बन्धात् युगपद्गृहीतावित्यर्थः। अत्र मनस आशुसञ्चाराद्यौगपद्याभिमानं शतपत्रशरव्यतिभेदनवदित्यणुपरिमाणवादिनः वास्तवमेव यौगपद्यमिति मध्यमपरिमाणवादिन.। सार्वपथीनास्तु कवय इत्यलमतिपल्लवितेन। अत्र रसगन्धयोः प्रकृतयोरेकपानक्रियासम्बन्धात्तुल्ययोगिताभेदः ॥ ८ ॥

पीतवत्यभिमते मधुतुल्यस्वादमोष्ठरुचकं विददक्षौ।
लभ्यते स्म परिरक्ततयात्मा यावकेन वियतापि युवत्याः॥९॥

पीतवतीति। विददक्षौ विदष्टुमिच्छौ उपदंशेच्छावतीत्यर्थः।दशेः सन्नन्तादुप्रत्ययः,अभिमते वल्लभे मधुना तुल्यस्वादं तुल्यरसं तुल्यत्वं च हृद्यतामात्रेण नान्यथा विलक्षणरसस्य अनुपदंशत्वात्। ओष्ठो रुचकमाभरणमिवेत्युपमितसमास.। 'रोचनायां तु रुचकमश्वाभरणमाल्ययोः' इति विश्वः। तमोष्ठरुचकं ओष्ठश्रेष्ठं पीतवति सति वियता अपगच्छतापि। इणो लट. शत्रादेशे "इणो यण्" इति यणादेशः। युवत्याः युवतेः। "ङिति ह्रस्वश्च" इति वा नदीत्वादाडागमः। यावकेनालक्तकेन परिरक्ततया दन्तनिष्पीडनकृतेन रागेण हेतुना–आत्मा स्वरूपं लभ्यते स्म लब्धः पुनरुद्भूतामित्यर्थः। अत्राधरपानादपगतस्यापि यावकस्य रागप्रादुर्भावनिमित्ता विरोधगर्भा पुनरुद्भवोत्प्रेक्षा व्यञ्जकाप्रयोगाद्गम्या च ॥ ९ ॥

कस्यचित्समदनं मदनीयप्रेयसीवदनपानपरस्य।
स्वादितः सकृदिवासव एव प्रत्युत क्षणविदंशपदेऽभूत् ॥ १० ॥

कस्यचिदिति । समदन यथा तथा मदयतीति मदनीय मदकारि । "कृत्यल्युटो बहुलम्" इति कर्त्तर्यनीयर प्रत्ययः । तस्य प्रेयसीवदनस्य पान पर प्रधान यस्य तस्य कामुकत्वात् प्रियामुखपानासक्तस्य कस्यचित्कामिन नक्तादिव स्वादित अबाहुल्येन पीत. । इवशब्दो वाक्यालङ्कारे । आसव एव । नत्युत वैपरीत्ये इति गणव्याख्याने । क्षण विदग्धपदे उपदशस्थानेऽभूत् अन्येषा मधुपानलोलुपानामधरस्वाद उपदंश अस्यत्वधरपानैकपरस्य मध्वेवोपदश इत्यर्थ । अधरपानस्योपदंशत्वासम्बन्धेऽप्यसम्बन्ध' आसवस्य तदसम्बन्धेऽपि सम्बन्ध इत्यतिशयोक्त्योरसापेक्षत्वात्ससृष्टि ॥ १० ॥

पीतशीधुमधुरैर्मिथुनानामाननैः परिहृतं चषकान्तः ।
व्रीडया रुदद्िवालिविरावैर्नीलनीरजमगच्छदधस्तात् ॥ ११ ॥

पीतेति । पीतशीधूनि पीतमद्यानि । अत एव मधुराणि मनोज्ञानि तैर्मिथुनाना स्त्रीपुंसानामाननै चषकान्त. पानपात्राभ्यन्तरे । 'चषकोऽस्त्री पानपात्रम्' इत्यमरः । परिहृत त्यक्त नीलनीरजवासनार्थं नि क्षिप्त नीलोत्पल व्रीडया परिहारलज्जया अलिविरावै रुदादिवावस्तादगच्छत् । अत्र मद्यापगमनिमित्तस्य नीलनीरजाधोगमनस्य रोदनविशिष्टलज्जाहेतुकत्वोत्प्रेक्षा, ना चालिविरावैरिति व्यधिकरणकारिपरिणामोज्जीवितेति सकर ॥ ११ ॥

अथ मदानुभावान्वर्णयति—

प्रातिभं त्रिसरकेण गतानां वक्रवाक्यरचनारमणीयः ।
गूढसूचितरहस्यसहासः सुभ्रुवां प्रववृते परिहासः ॥ १२ ॥

प्रातिभमित्यादि । त्रयाणा सरकाणा समाहारस्त्रिसरक त्रिवारमधुपानम् । 'सरक शीधुपात्रे स्याच्छीधुपाने च शीधुनि ' इति विश्व । "तद्धितार्थ " इत्यादिना समाहारे द्विगु' । पात्रादित्वान्नपुसकत्वम् । तेन त्रिसरकेण त्रिपान मदातिभूमिरिति पानप्रसिद्धि' । प्रतिभैव प्रातिभ प्रतिभाविशेष' । प्रज्ञादित्वात्स्वार्थेऽण् प्रत्यय । यद्वा ज्ञानबीजभूत' सस्कारविशेष. प्रतिभा इति काव्यप्रकाशकार. । तत्र भव प्रातिभं ज्ञानप्रभावविशेष एव । भवार्थेऽण् प्रत्ययः । तत्प्रातिभं गताना त्रिवारमधुपानोत्कटमदोद्बुद्धसस्कारप्रभावितप्रगल्भमतीनामित्यर्थः । सुभ्रुव स्त्रीणा वक्रवाक्यरचनारमणीयः प्रतिकूलवाक्यप्रयोगरम्यः । गूढानि पूर्वं लज्जया संवृतानि सूचितानि सम्प्रति मदेन प्रकाशितानि रहस्यानि ग्राम्यावयवचेष्टाप्रलपितानि यस्मिन् स गूढसूचितरहस्यः स चासौ सहासश्चेति विशेषणसमासः । वैवक्षिकाविशेषणविशेष्यभावात् । 'हासो हास्यम्' इत्यमरः । परिहासो नर्मकेलिरुपहासक्रीडेति यावत् । 'द्रव्यकेलिपरिहासाः' इत्यमरः । प्रववृते प्रवृत्त. । इत पर मदसञ्चारी ॥ १२ ॥

हावहारि हसितं वचनानां कौशलं दृशि विकारविशेषाः ।
चक्रिरे भृशमृजोरपि वध्वाः कामिनेव तरुणेन मदेन ॥ १३ ॥

हावेति । तरुणोत्कटेन यूना च मदेन कामिनेव ऋजोर्मुग्धाया अपि वध्वाः किमुत प्रौढानामिति भाव । हावहारि विलासमनोहर हसित हास' वचनाना कौशल्यं प्रागल्भ्यं दशि विकारविशषा विलासविशेषाश्चक्रिरे कृतानि पुसेव मौग्ध्यन्त्याजयित्वा प्रौढय नीतेत्यर्थ. । अत्र हसितकौशलविकाराणा यौगपद्योक्त्या समुच्चय' । ' गुणाक्रियायौगपद्य समुच्चय ' इति लक्षणम् । तत्रौपम्ययोगेन सकर' । तेन ऋजोरपि इत्युक्त्या किमुत प्रौढानामित्यर्थापत्तिर्व्यज्यते ॥ १३ ॥

अप्रसन्नमपराद्धरि पत्यौ कोपदीप्तमुररीकृतधैर्य्यम् ।
क्षालितं नु शमितं नु वधूनां द्रावितं नु हृदयं मधुवारैः ॥ १४ ॥

अप्रसन्नमिति । अपराद्धरि आगस्कारिणि । राधेस्तृच् प्रत्यय', पत्यौ विषये अप्रसन्न कलुष क्षुभितमित्यर्थ. कोपदीप्त कोपेन ज्वलितम् उररीकृतधैर्य्यम् अङ्गीकृतकाठिन्यम् 'ऊरीकृतमुररीकृतम्' इत्यमर । " ऊर्यादिच्विडाचश्च" इति गतित्वात् "कुगतिप्रादय " इति समास । वधूना हृदय मधुवारै मद्यपर्यायै' । ' मधुवारा मधुक्रमा इत्यमरः । क्षालित धौत नु । शमित निर्वापित नु । द्रावित द्रवीकृत नु । अन्यथा कथ तादृगप्रसन्नतादीप्तताकठिनताना हठान्निवृत्तिरिति भाव । अत्र क्षालितत्वादीनामेकत्राविरोधात्सादृश्याच्च न संशयालंकार ' सति सादृश्ये विरुद्धानेककोटिगोचरत्वात्तस्य - किन्त्वप्रसन्नत्वादिनिरासनिमित्तक क्षालितत्वाद्युत्प्रेक्षात्रय नुशब्दानुवृत्त । तच्चाप्रसन्नत्वाद्युद्देशिना क्षालितत्वाद्यनुदेशिभिर्यथासंख्येनान्वयमपेक्षत इति यथासंख्यालङ्कारेण सङ्कीर्य्यते ॥ १४ ॥

सन्तमेव चिरमप्रकृतत्वादप्रकाशितमदिद्युतदङ्गे ।
विभ्रमं मधुमदः प्रमदानां धातुलीनमुपसर्ग इवार्थम् ॥ १५ ॥

सन्तमिति । मधुमद प्रमदानामङ्गे वपुपि अन्यत्र ' यस्मात्प्रत्ययविधि' ' इत्युक्तलक्षणे प्रकृत्याख्ये शब्दरूपे चिर सर्वदा सन्तमेव एकत्र स्वभावात् अन्यत्र त्वनेकार्थत्वाद्धातूनामिति भाव । किन्त्वप्रकृतत्वादप्रस्तुतत्वादप्रसक्तत्वादिति भाव । अप्रकाशितमव्यञ्जित विभ्रम विलास धातौ भ्वादिके लीन गूढम् अर्थमभिधेयम् उपसर्ग' प्रादिरिवादिद्युतत् द्योतयति स्म । द्युतेर्णौचङ्युपधाह्रस्व । द्युतिस्वाप्योः सम्प्रसारणम् " इति अभ्यासस्य सम्प्रसारणमिकार । उपसर्गस्य धातुलीनार्थद्योतकत्वमादानसन्दानादावनुसन्धेयम् । उपमालङ्कार' ॥ १५ ॥

सावशेषपदमुक्तमुपेक्षास्रस्तमाल्यवसनाभरणेषु ।
गन्तुमुत्थितमकारणतः स्म द्योतयन्ति मदविभ्रममासाम् ॥ १६ ॥

सावशेषमिति । सावशेषाण्यर्द्धोक्तानि पदानि यस्मिन् तदुक्तमुक्तिर्वाक्य स्रस्तेषु माल्यवसनाभरणेषु उपेक्षा अनादर अकारणतोऽकस्मादेव गन्तुमुत्थितमुत्थान च आसा स्त्रीणा मद विभ्रम मदविकार द्योतयन्ति स्म । एतैरनुभावैरासा मदसञ्चारो ज्ञात इत्यर्थः । अत्रार्द्धोक्तादीना

खलेकपोतकन्यायेन मदद्योतने प्रवृत्तत्वात्कारणाख्यो द्वितीयसमुच्चय' । खलेकपोतन्यायेन बहूनां कार्य्यसाधने । कारणाना समुद्योगः स द्वितीय समुच्चयः ' इति लक्षणात् ॥ १६ ॥

मद्यमन्दविगलत्त्रपमीषच्चक्षुरुन्मिषितपक्ष्म दधत्या ।
वीक्ष्यत स्म शनकैर्नवबध्वा कामिनो मुखमधोमुखयैव ॥ १७॥

मद्येति । मद्येन मद्यपानेन मन्दमल्प विगलन्ती त्रपा यस्य तत् अत एवेषदुन्मिषितानि पक्ष्माणि लोमानि यस्य तच्चक्षुर्दधत्या नववध्वा नवोढया कामिन प्रियस्य मुखमधोमुखयैव नमितवदनयैव " स्वाङ्गाच्चोपसर्जनात् " इति विकल्पाढनीकारः शनकैरसम्भ्रमेण वीक्ष्यते स्म । तिर्यगीक्षितमित्यर्थ । अत्रापि मदमानाभ्या त्रपैव बलीयसीति मौग्ध्यातिशयोक्तिः ' समुच्चयौत्रना मुग्धा लज्जापिहितमन्मथा ' ॥ १७ ॥

या कथञ्चन सखीवचनेन प्रागभिप्रियतमं प्रजगल्भे ।
व्रीडजाड्यमभजन्मधुपा सा स्वां मदात्प्रकृतिमेति हि सर्वः १८

येति । या स्त्री कथञ्चन कृच्छ्रेण सखीवचनेन सखीप्रेरणया प्राङ् मदात्पूर्वम् अभिप्रियतमं प्रियतमसमक्षम् । आभिमुखेऽव्ययीभावः । प्रजगल्भे प्रगल्भते स्म । सा स्त्री मधु पिबतीति मधुपा । "आतोऽनुपसर्गेकः " इति कः । व्रीड जाड्य मौग्ध्यमभजन'विहायागन्तुक धर्म स्वभावमभजन्मदान्' इत्यर्थः । तथा हि सर्व्वो जनो मदाद्धेतोः स्वा स्वकीयां प्रकृतिमेति स्वभाव गच्छति । स्वाभाविकधर्मप्रकाशन मदधर्म. । सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यास ॥ १८॥

छादितः कथमपि त्रपयाऽन्तर्यः प्रियं प्रति चिराय रमण्याः ।
वारुणीमदविशङ्कमथाविश्चक्षुषोऽभवदसाविवरागः ॥ १९ ॥

छादिति इति । रमण्याः यः प्रिय प्रति रागो विषयाभिलाषः चिराय त्रपया व्रीडयान्तश्छादितः सवृत असावयमेव रागोऽथास्मिन्नवसरे वारुणीमदविशङ्क मद्यमदेन निश्शक चक्षुषो नेत्रादाविरभवदाविर्भूतः किम् । अत्र रतिरागमदरागयोरभिलापपाटलिमरूपयोः श्लेषप्रतिभोत्थापिताभेदाध्यवसायमूलातिशयोक्तिमहिम्ना योऽन्तर्गतो रागः स एव चिरनिरुद्ध. सम्प्रति मदोद्घाटितत्रपाकपाटया चक्षुर्द्वारा वहिरुद्भिन्न इत्युत्प्रेक्ष्यते । आविर्भावोऽव्यवधानं कवेः स्वातत्र्यात् ॥ १९ ॥

आगतानगणितप्रतियातान्वल्लभानभिसिसारयिषूणाम् ।
प्रापि चेतसि स विप्रतिसारे सुभ्रुवामवसरः सरकेण ॥ २० ॥

आगतानिति । आगतान् स्वयं प्राप्तान् तथाप्यगणिताश्च ते प्रतियाताश्चेति स्नातानुलिप्तवत् पूर्वकाले समासः तान्वल्लभानभिसिसारयिषूणा सम्प्रति चन्द्रोदये स्वयमेवाभिसारयितु मभिसर्तुमिच्छूनाम । अभिसारयतेः स्वार्थण्यन्तात्सन्नन्ताद्रुप्रत्ययः । सुभ्रुवां स्त्रीणा चेतासि स-

विप्रतिसारे कष्टमस्माभिरकार्य्यं कृतमिति पश्चात्तापयुक्त सति । 'पश्चात्तापोऽनुतापश्च विप्रतीसार इत्यपि' इत्यमरः । सरकेण मधुना मधुपानेन वा । 'सरक शीधुपात्रे स्याच्छीधुपात्रे त्र शीधुनि' इति विश्वः । अग्रसरः प्रापि प्राप्तः । स्वय गमनसौकर्य्याय मधुपान चक्रुरित्यर्थः । अत्राभिसारणस्य पश्चात्तापकरणकस्य मद्योगात्सौकर्य्योक्ते. समाध्यलङ्कारः । 'समाधिः सुकर कार्य्यं कारणान्तरयोगतः' इति काव्यप्रकाशे॥ २० ॥

मा पुनस्तमभिसीसरमागस्कारिणं मदविमोहितचित्ता ।
योषिदित्यभिललाष न हालां दुस्त्यजः खलु सुखादपि मानः॥२१

मा पुनरिति । मदेन विमोहितचित्ता भ्रमितचित्ता सती । अहमिति शेषः । आगस्कारिणमपराधकृतम् । "अतः कृकमि" इत्यादिना विसर्जनीयस्य सत्वम् । त पुनर्भूयो माभिसीसर नाभिसारयाणि । सरतेः स्वार्थे "णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः" "दीर्घो लघोः" इत्यभ्यासस्य दीर्घः । इति इत्यालोच्येत्यर्थः । गम्यमानार्थत्वादप्रयोग । अन्यथा पौनरुक्त्यमित्यलङ्कारिकाः । योषित्काचित् स्त्री हाला सुराम् । 'सुरा हलिप्रिया हाला' इत्यमरः । नाभिललाष । तथा हि सुखादपि मानो दुस्त्यजः खलु । अतोऽल्पकारणादधिकार्थहानिरिति नाशङ्कनीयमित्यर्थान्तरन्यासः ॥२१॥

ह्रीविमोहमहरद्दयितानामन्तिकं रतिसुखाय निनाय ।
सप्रसादमिव सेवितमासीत्सद्य एव फलदं मधु तासाम् ॥ २२ ॥

ह्रीति । सप्रसाद मनःप्रसादपूर्वक ममेदं श्रेयस्करमिति भावनापूर्वकमित्यर्थः । अन्यथा फलोदय एव न स्यात् । 'दैवज्ञे भेषजे गुरौ' इति वचनादिति भावः । सेवितमुपभुक्तमिति हेतोर्मधु तासां सद्य एव फलदमासीत् । कुतः ह्रीविमोह व्रीडाजाड्यम् अहरत् । रतिसुखाय सुरतसुखाय दयितानामन्तिक निनाय । अत्र ह्रीहरणान्तिकनयनवाक्याभ्या फलदानवाक्यार्थसमर्थनादनेकवाक्यार्थहेतुकङ्काव्यलिङ्गमलङ्कारः ॥ २२ ॥

दत्तमात्तमदनं दयितेन व्याप्तमातिशयिकेन रसेन ।
सस्वदे मुखसुरं प्रमदाभ्यो नाम रूढमपि च व्युदपादि ॥ २३ ॥

दत्तमिति । आत्तमदनमाहितमदन यथा तथा दयितेन दत्तम् अत एवातिशयिकेनातिशयप्रचुरेण । "विनयादिभ्यष्ठक्" इति ठक् । रसेन स्वादेन व्याप्तम् । स्वादुतरमित्यर्थः । मुखस्य सुरा मुखसुर गण्डूषमद्यम् । "विभाषा सेनासुराच्छायाशालानिशानाम्" इति नपुंसकत्वम् । प्रकृष्टो मदो यासां ताभ्यः प्रमदाभ्यः स्त्रीभ्यः । "रुच्यर्थाना प्रीयमाण" इति सम्प्रदानसञ्ज्ञा । सस्वदे रुरुचे प्रीतिकरमभूदित्यर्थः । कर्त्तरि लि_ । अत एव तदेव तासा मदकर चासीदित्याह । नामेति रूढम् । प्रागश्वकर्णादिवदव्युत्पन्न नामापि प्रमदेति नामधेयञ्च व्युदपादि व्युत्पन्न जातम् ।

यथा प्रकृष्टमदयोगात्प्रमदेत्यन्वर्थनामत्व भवेत् तथा तास्तेनामाद्यन्नित्यर्थः । पचतेरण्यन्तात्कर्तरि लुङ् "चिण् ते पदः" इति चिण्प्रत्यये "चिणो लुक्" । प्रमदाभिरिति पाठे सस्वदे स्वदयाञ्चक्रे इत्यर्थः । 'स्वादनमशन भक्षणमाहारो भोजन स्वदनम्' इति हलायुधे । 'स्वदिस्वाद्योरेकार्थत्वाभिधानात्कर्मणि लिट् । अत्र पूर्ववाक्यार्थस्योत्तरवाक्यार्थहेतुत्वात्काव्यलिङ्गम् ॥ २३ ॥

लब्धसौरभगुणो मदिराणामङ्गनास्यचषकस्य च गन्धः ।
मोदितालिरितरेतरयोगादन्यतामभजतातिशयं नु ॥ २४ ॥

लब्धेति । लब्धसौरभगुणो मेलनात्प्राप्तसौरभोत्कर्ष अत एव मोदितालि आनन्दितभृङ्गः मदिराणा मद्यानाम् अङ्गनास्यमेव चषकं तस्य च गन्धो गन्धगुणः इतरेतरस्य योगान्मिश्रणादन्यतामपूर्वतामतिशय नु तत्रैवोत्कर्ष वा अभजत । यक्षकर्दमादौ घृताक्तकुङ्कुमादौ चोभयथा दर्शनादयं सशय इति भाव' । अत एव ससन्देहालङ्कार ॥ २४ ॥

मानभङ्गपटुना सुरतेच्छां तन्वता प्रथयता दृशिरागम् ।
लेभिरे सपदि भावयतान्तर्योषितः प्रणयिनेव मदेन ॥ २५ ॥

मानेति । मानभङ्गपटुना कोपशमनसमर्थेन सुरतेच्छा तन्वता मदनोद्दीपकेन दृशि रागमारुण्यं प्रीतिञ्च प्रथयता प्रकाशयता अन्तरन्तःकरणम्भावयता रञ्जयता मदेन प्रणयिनेव योषितः स्त्रियो लेभिरे प्राप्ता' । रागमिति श्लेषमूलातिशयोक्तिसङ्कीर्णेयमुपमा ॥ २५ ॥

पानधौतनवयावकरागं सुभ्रुवो निभृतचुम्बनदक्षाः
प्रेयसामधररागरसेन स्वं किलाधरमुपालि ररंजुः ॥ २६ ॥

पानेति । उपालि आल्याः समीपे समीपार्थेऽव्ययीभावः । 'आलिः सखी वयस्या च' इत्यमरः । अतएव निभृतचुम्बनदक्षाः गूढचुम्बनचतुराः । सुभ्रुवः पानधौतनवयावकराग मधुपानक्षालितलाक्षाराग स्वमधर प्रेयसामधरेषु यो रागरसस्ताम्बूलरागद्रवस्तेन ररञ्जु' किल अन्यगुणस्यान्यत्राधानमिह रञ्जेरर्थ । किलेत्यपरमार्थे तेन पानधौतरागेषु स्वाधरेषु प्रेयोऽधररागसंक्रमणनाटितकेन सखीसमक्षमेव प्रियाश्चुम्बन कारयामासुरित्यर्थ । अत्रागन्तुना रञ्जनेन सहजचुम्बननिगूहनान्मीलनालङ्कारभेद' 'मीलन वस्तुना यत्र वस्त्वन्तरनिगूहनम्' इतिलक्षणात् ॥ २६ ॥

अर्पितं रसितवत्यपि नामग्राहमन्ययुवतेर्दयितेन ।
उज्झति स्म मदमप्यपिबन्ती वीक्ष्य मद्यमितरा तु ममाद ॥ २७ ॥

अर्पितमिति । दयितेनान्ययुवते' सपत्न्या' नामग्राह नाम गृहीत्वा । "नाम्न्यादिशिग्रहोः" इति णमुल् प्रत्यय । अर्पित दत्त मद्य रसितवती आस्वादितवत्यपि । रसतेरास्वादनार्थात् क्तवतौ "उगितश्च" इति ङीप् । काचिदिति शेषः । मदमुज्झतिस्म न ममादेत्यर्थः । इतरा तु

सपत्नी तु मद्यमपिबन्त्यपि वीक्ष्य दृष्ट्वैव ममा मत्ता। मनोनिर्वृतिरेव मदहेतुरिति भावः। अत्र पूर्वार्द्धे पसितवत्यपि न ममादेति विशेषोक्तिः। उत्तरार्द्धे त्वपिबन्त्यपि ममादेति विभावना। 'कारणेन विना कार्यस्योत्पत्तिः स्याद्विभावना। तत्सामग्र्यामनुत्पत्तिर्विशेषोक्तिर्निगद्यते' इति तयोः सङ्करः॥ २७॥

अन्यथान्यवनितागतचित्तं चित्तनाथमभिशङ्कितवत्या।
पीतभूरिसुरयापि न मेदे निर्वृतिर्हि मनसो मदहेतुः॥ २८॥

अन्यथेति। चित्तनाथं भर्त्तारमन्यवनितागतचित्तं सपत्नीसक्रान्तचेतसमभिशङ्कितवत्या तस्मिन्नविश्वसत्या अन्यया कयाचित् स्त्रिया पीतभूरिसुरयापि न मेदे न मत्तम्। माद्यतेर्भावे लिट्। तथा हि मनसो निर्वृतिर्मदहेतुर्हि। सामान्येन विशेषसमर्थनादर्थान्तरन्यासः। एषा नवोढा भीरुश्च। अन्यथा साशङ्कायाः पानाद्यसम्भवादिति॥ २८॥

कोपवत्यनुनयानगृहीत्वा प्रागथो मधुमदाहितमोहा।
कोपितं विरहखेदितचित्ता कान्तमेव कलयन्त्यनुनिन्ये॥२९॥

कोपवतीति। प्राक् प्रथमं कोपवती सरोषा अतएवानुनयान् प्रियप्रार्थनान्यगृहीत्वा अनादृत्य। अथो सम्प्रति विरहखेदितचित्ता पश्चात्तापतप्ता काचिन्मधुमदेनाहितमोहा कृतचित्तविभ्रमा सती कान्तमेव कोपितमात्मना रोषितं कलयन्ती जानती अनुनिन्ये सापराधाहं क्षमस्वेति प्रार्थितवती। मत्तेषु किन्न सम्भावितमिति भावः। एषा कलहान्तरिता॥ २९॥

कुर्वता मुकुलिताक्षियुगानामङ्गसादमवसादितवाचाम्।
ईर्ष्ययेव हरता ह्रियमासां तद्गुणः स्वयमकारि मदेन॥ ३०॥

कुर्वतेति। मुकुलिताक्षियुगानाम् अवसादितवाचा कुण्ठितगिरामासां स्त्रीणामङ्गसादमङ्गसादरूपशरीरनिश्चेष्टतां कुर्वता ह्रियं हरता मदेन ईर्ष्ययेवेत्युत्प्रेक्षा। तस्या ह्रियो गुणस्तद्गुणः अक्षिनिमीलनवाक्सादाङ्गसादरूपः स्वयमकारि कृतः। ह्रीमदयोस्तुल्यानुभाविकत्वादिति भावः॥ ३०॥

गण्डभित्तिषु पुरा सदृशीषु व्याञ्जि नाञ्चितदृशां प्रतिमेन्दुः।
पानपाटलितकान्तिषु पश्चाल्लोध्रचूर्णतिलकाकृतिरासीत्॥३१॥

गण्डेति। प्रतिमेन्दुः प्रतिबिम्बचन्द्रः सदृशीषु स्वसमानवर्णासु अञ्चितदृशां सुदृशां गण्डभित्तिषु पुरा सुरापानात्पूर्वं न व्याञ्जि नाभेदि। तदेकतापत्त्या तद्विविक्ततया न गृहीत इत्यर्थः। अतएव सामान्यालङ्कारः। 'सामान्यं गुणसाम्येन यत्र वस्त्वन्तरैकता' इति लक्षणात्। विपूर्वादञ्जेः कर्मणि लुङ् "आडजादीनाम्" इत्याडागमः। पश्चात्पानानन्तरं पानेन पानमदेन पाट-

-लिता पाटलीकृता कान्तिर्यासां तासु गण्डभित्तिषु लोध्रचूर्णस्य लोध्रपरागस्य तिलकश्चित्रकम् । 'तमालपत्रतिलकचित्रकाणि विशेषका । द्वितीयं च तुरीयं च न स्त्रियाम्' इत्यमरः । तस्याकृतिरिवाकृतिर्यस्य स आसीत् । वैवर्ण्याद्विविक्त एवासीदित्यर्थ । तिलकाकृतिरिति निदर्शना पूर्वोक्तसामान्यसंसृष्टा ॥ ३१ ॥

उद्धतैरिव परस्परसङ्गादीरितान्युभयतः कुचकुम्भैः ।
योषितामतिमदेन जु र्णुर्विभ्रमातिशयपुंपि वपूंपि ॥ ३२ ॥

उद्धतैरिति । उद्धतै दृप्तैरिव कुचकुम्भै. परस्परसङ्गादन्योऽन्यसघर्षादुभयत ईरितान्याकृष्टानि तथा विभ्रमातिशय विलासविशेष पुष्णन्ति तानि । " नपुसकस्य झलच " इति नुमागमः । योपिता वपूंपि । पूर्ववन्नुमागमः । "सान्तमहतः सयोगस्य" इति दीर्घः । अतिमदेन जुघूर्णुः भ्रेमुः । दृप्तसघर्पस्तटस्थपीडाकरः । यथा वृषभकलहाद्वत्सपादभङ्ग इति भाव. ॥ ३२ ॥

चारुता वपुरभूषयदासां तामनूननवयौवनयोगः ॥
तं पुनर्मकरकेतनलक्ष्मीस्तां मदो दयितसङ्गमभूषः ॥ ३३ ॥

चारुतेति । आसा योपिता वपुश्चारुता सौन्दर्य्यमभूपयत् । ताञ्चारुताम् अनूननवयौवनयोगः सम्पूर्णयौवनसम्पत्तिरभूपयत् । तं पुनर्नवयौवनयोगं तु मकरकेतनलक्ष्मीर्मदनसम्पत्तिरभूपयत् । ता मकरकेतनलक्ष्मीं दयितसङ्गम एव भूषा यस्य स मदोऽभूषयत् । ता मदः त च दयितसङ्गम इत्यर्थ' । प्रक्रमानुसारपत्ता मदस्तमपि वल्लभसङ्ग इति प्रयोक्तव्ये विशेषणत्वेन प्रयोगो महाकवीनामनुद्वेगात् । यथा भारवेः प्रयोग 'शुचि भूषयति'इत्यादौ श्लोके 'स नयाङ्क' स च सिद्धिभूषणः' इति वक्तव्ये 'सनयापादितसिद्धिभूषण ' इति अत्रोत्तरोत्तरस्य पूर्वपूर्वविशेषकत्वादेकावली । 'यत्रोत्तरोत्तरेषा स्यात्पूर्वपूर्वं प्रतिक्रमात् । विशेषकत्वकथनमसावेकावली मता' इति लक्षणात् ॥ ३३ ॥

क्षीवतामुपगतास्वनुवेलं तासु रोषपरितोषवतीषु ।
अग्रहीन्नु सशरं धनुरुज्झामास नूज्झितनिषङ्गमनङ्गः॥ ३४ ॥

क्षीवतामिति । क्षीवता मत्तताम् । 'मत्ते शौण्डोत्कटक्षीबा.' इत्यमरः । "क्षीबृ मदे" इत्यस्माद्धातोः 'अनुपसर्गात् फुल्लक्षीवकृशोल्लाघा.' इति निष्ठान्तो निपातितः । उपगतासु प्राप्तासु । अत एवानुवेलं प्रतिक्षण रोपपरितोषवतीषु तासु स्त्रीषु विषये अनङ्ग' सशर धनुरग्रहीन्नु उज्झितनिषङ्ग त्यक्ततूणीर यथा तथा उज्झामास नु तत्याज किम् । उज्झतेर्लिट् "इजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छः" इत्याम्प्रत्यय' । रुष्टासु धनुर्ग्रहण परितुष्टासु त्यागश्च रोपपरितोषाभ्यामुत्प्रेक्ष्यते । अन्यथा रोषानन्तर परितोषः परितोषानन्तर रोषश्च न स्यादिति भावः । रोपपरितोषयोर्धनुर्ग्रहणाग्रहणाभ्यां यथासंख्येनान्वयाद्यथासंख्यालङ्कारभेद ।तेनोत्प्रेक्षयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्कर. ३४

शङ्कयाऽन्ययुवतौ वनिताभिः प्रत्यभेदि दयितः स्फुटमेव ।
न क्षमं भवति तत्त्वविचारे मत्सरेण हतसंवृति चेतः॥३५॥

शङ्कयेति । वनिताभिरन्ययुवतौ सपत्न्या शङ्कया तत्सङ्गशङ्कामात्रेण दयित. स्फुटमेव निश्चितवदेव प्रत्यभेदि सिद्धवत्कृत्वोद्घाटित इत्यर्थः । अनुचितोऽयमविमृश्य मिथ्याभियोग इति शङ्का परिहरति । नेति । मत्सरेण वैरेण हता संवृतिर्गोपयगोपन यस्य तच्चेतस्तत्त्वविचारे भूतार्थचिन्ताया क्षम सहिष्णु न भवति मत्सरग्रस्तचेतसामेव स्वभाव इति भावः । सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यास ॥ ३५ ॥

आननैर्विचकसे हृषिताभिर्वल्लभानभि तनूभिरभावि ।
आर्द्रतां हृदयमाप च रोषो लोलति स्म वचनेषु वधूनाम्॥३६॥

आननैरिति । वल्लभानभि वल्लभसमक्षमित्यर्थ. "अभिरभागे" इति लक्षणार्थकर्म्मप्रवचनीयत्वात् द्वितीया । वधूनामाननैर्विचकसे विकसितम् । भावे लिट् । तनूभिर्हृषिताभि पुलकिताभि । "हृषेर्लोमसु" इतीडागम । अभावि । भूतम् । भावे लुङ् । हृदयञ्चार्द्रतामाप काठिन्य जहावित्यर्थ । वचनेषु रोषो लोलति चलति स्म वचनगतो रोषो वक्रतापि निवृत्तेत्यर्थ । अत्र वधूष्वाननविकासाद्यनेकक्रियायौगपद्यात्समुच्चयालङ्कारः । 'गुणक्रियायौगपद्य समुच्चय ' इति लक्षणात् ॥ ३६ ॥

रूपमप्रतिविधानमनोज्ञं प्रेम कार्य्यमनपेक्ष्य विकाशि ।
चाटु चाकृतकसंभ्रममासां कार्मणत्वमगमन्रमणेषु ॥ ३७ ॥

रूपमिति । अप्रतिविधानमप्रतियत्नमेव मनोज्ञं स्वभावसुन्दरमित्यर्थ । रूपमाकृति कार्य्यं प्रयोजनमनपेक्ष्य विकाशि वर्द्धमानम् अनौपाधिकमित्यर्थ । प्रेम अकृतकसम्भ्रममकृत्रिमसरम्भ चाटु प्रियवचन चासा स्त्रीणा रमणेषु विषये कार्म्मणत्व वशीकरणकर्मत्वम् । 'वशक्रिया संवनन मूलकर्म तु कार्म्मणम्' इत्यमर. । "तद्युक्तात्कर्मणोऽण्" । अगमन् प्राप्तानि । गमेर्लुङ्, च्लेरङादेश. । अत्र रूपादादिष्वारोप्यमाणस्य कार्मणत्वस्य प्रकृतोपयोगात्परिणामालङ्कार ॥ ३७ ॥

लीलयैव सुतनोस्तुलयित्वा गौरवाढ्यमपि लावणिकेन ।
मानवञ्चनविदा वदनेन क्रीतमेव हृदयं दयितस्य ॥ ३८ ॥

लीलयेति । लावण्य कान्तिविशेषोऽस्यास्तीति लावणिक लावण्यवत् । "अत इनिठनौ" इति ठन्प्रत्यये "ठस्येक" "यस्येति च" इत्यल्लोपे "हलस्तद्धितस्य" इति यकारलोपः । अन्यत्र तु लवण पण्यमस्यास्तीति लावणिको लवणव्यवहारी । लवणाट्ठञ् प्रत्ययः । तेन लावणिकेन मानवञ्चनविदा अहङ्कारहरणदक्षण । अन्यत्र परिमाणप्रतारणपटुना । सुतनोः स्त्रिया वदनेन । कर्त्रा । गौरवाढ्य गाम्भीर्य्यसम्पन्नमपि । अन्यत्र गुरुत्वयुक्तमपि दयितस्य हृदय

लीलया विलासेनैव तुलयित्वा । अन्यत्रानायासेनैव उन्माय गुर्वपि लघुतया मित्वेत्यर्थः । क्रीत वशीकृतमेव । अन्यत्र दानेन स्वीकृतमेव । अत्र विशेषणमहिम्नैव वदने लावणिकत्वस्य हृदये पण्यत्वस्य च प्रतीतिः समासोक्तिरलङ्कार । हृदयस्य प्रतीयमानपण्याभेदेन क्रीतत्वोक्तेरलौकिक-हृद्यावर्जने लौकिकक्रयव्यवहारसमारोपः ॥ ३८ ॥

एवं मदानुभावं वर्णयित्वा सम्प्रति सुरतकेलिवर्णनं प्रस्तौति । तत्र सुरत द्विविध बाह्यमाभ्यन्तर चेति । बाह्य च प्रेक्षणभाषणाश्लेषणचुम्बनाद्यनेकभेदभिन्नम् । तत्र दृष्टिविशेष तावदाह—

स्पर्शभाजि विशदच्छविचारौ कल्पिते मृगदृशां सुरताय ।
सन्नतिं दधति पेतुरजस्रं दृष्टयः प्रियतमे शयने च ॥३९ ॥

स्पर्शेति । स्पर्शभाजि सुखस्पर्शे विशदा विमला शुभ्रा च या छविः कान्तिस्तया चारौ रम्ये सुरताय कल्पिते रतिसुखदानाय सृष्टे विहारयोग्यतया सज्जीकृते च सन्नतिमानुकूल्य सन्नत- तास्य च दधति दधाने प्रियतमे शयने च मृगदृशा दृष्टयोऽजस्रमविच्छिन्न पेतु पतिता । युगपदुभयावलोकनादभिलाषं व्यञ्जयामासुरित्यर्थः । अत्र प्रियतमशयनयो प्रकृतयोरेव धर्म्मसाम्याद्‌दौपम्यप्रतीतेः केवलप्रकृतगोचरा तुल्ययोगिता ॥ ३९ ॥

यूनि रागतरलैरपि तिर्य्यक्पातिभिः श्रुतिगुणेन युतस्य ।
दीर्घदर्शिभिरकारि वधूनां लंघनं न नयनैः श्रवणस्य ॥ ४० ॥

यूनीति । रागेण तरलैश्चपलैरपि दर्शनोत्सुकैरपीत्यर्थ । यूनि प्रिये तिर्यक्पातिभिस्त्रपया साचि विप्रसारिभि. दीर्घदर्शिभिरायतान्तै आलोकनव्यापारपरैरित्यर्थ. । अन्यत्र रागद्वेषचपलै. अत एव तिर्य्यक्पातिभि कुटिलवृत्तिभिरपि दीर्घदर्शिभिरागामिकार्य्यज्ञैरित्यर्थ । वधूना नयनैः श्रुतिगुणेन शब्दग्रहणपाटवेन युतस्य । श्रूयतेऽनेनेति श्रवण श्रोत्र तस्य लङ्घनमतिक्रमो नाकारि न चक्रे कर्णान्ते विश्रान्तमित्यर्थः । अन्यत्र तु श्रुतिः श्रवणम् अभ्यास इति यावत् । सैव गुणस्तेन युतस्य श्रूयत इति श्रवण शास्त्र तस्य लङ्घन नाकारि रागद्वेषग्रस्तोऽपि शास्त्रज्ञः कदाचिच्छास्त्रातिक्रमाद्बिभेतीति भाव । अयं च व्यवहारो नयनेषु रागतरलैरित्यादिश्लिष्टविशेषणमहिम्ना नम्यत इति समासोक्तिभेद । इयं च रागदृष्टिरौत्सुक्यानुभाव ॥ ४० ॥

सङ्कथेच्छुरभिधातुमनीशा सम्मुखी न च बभूव दिदृक्षुः ।
स्पर्शनेन दयितस्य नतभ्रूरङ्गसंगचपलापि चकम्प ॥ ४१ ॥

संकथेति । नतभ्रूः स्त्री सङ्कथाया सम्भाषणे इच्छुरिच्छावत्यपि । "विन्दुरिच्छु" इत्युप्रत्ययान्तो निपातः । अभिधातुं सम्भाषयितुमनीशा अक्षमा बभूव । अप्यर्थश्चशब्दः दिदृक्षुर्द्रष्टुमिच्छुरपि । दृशेः सन्नन्तादुप्रत्यय । समुखी अभिमुखी न बभूव । अङ्गसङ्गचपला गात्रस्पर्शचपलापि दयितस्य स्पर्शनेन चकम्पे कम्पितवती । एते कम्पादयो लज्जासाध्वसानुभावा. । लज्जाविजितमन्मथेयं मुग्धा ॥ ४१ ॥

अथालिङ्गनं वर्णयति ।

उत्तरीयविनयात्त्रपमाणा रुन्धती किल तदीक्षणमार्गम् ।
आवरिष्ट विकटेन विवोढुर्वक्षसैव कुचमण्डलमन्या ॥ ४२ ॥

उत्तरीयेति । अन्या स्त्री उत्तरीयविनयात्कुचांशुककर्षणात् त्रपमाणा तदीक्षणमार्गं तस्य वोढु दृष्टिपथं रुन्धती किल आवृण्वतीव न तु वस्तुत इति किलार्थः । विकटेन विशालेन । 'विशङ्कटं विशालं स्यात्करालं विकटं तथा' इति वैजयन्ती । "सम्प्रोदश्च कटच्" इति चकारादि कटच्प्रत्ययः । विवोढु परिणेतुः वक्षसैव कुचमण्डलम् आवरिष्ट आवृतवती कुचावरणव्याजेनालिङ्गितवती । वृञो लुङि तङ् इडागमः । अत्र कुचसंवरणेनालिङ्गनेच्छानिगूहनान्मीलनभेदः । एषा लज्जामन्मथमध्यस्था मध्यमा ॥ ४२ ॥

अंशुकं हृतवता तनुबाहुस्वस्तिकापिहितमुग्धकुचाग्रा ।
भिन्नशंखवलयं परिणेत्रा पर्यरम्भि रभसादचिरोढा ॥ ४३ ॥

अंशुकमिति । अंशुकमुत्तरीयं हृतवता परिणेत्रा भर्त्रा तन्वोः कृशयोः बाह्वोः स्वस्तिको बन्धविशेषः तेनापिहिते आच्छादिते मुग्धे सुन्दरे कुचाग्रे यस्याः सा तथोक्ता अचिरोढा नवोढा भिन्नानि शङ्खस्य वलयानि यस्मिन् कर्मणि तद्यथा तथा रभसाद्वेगात्पर्यरम्भि गाढमाश्लिष्टेत्यर्थः । रभेर्ण्यन्तात्कर्मणि लुङ् । "रभेरशब्लिटोः" इति नुमागमः । एषा तिरोहितमुग्धा ॥ ४३ ॥

सञ्जहार सहसा परिरब्धप्रेयसीषु विरहय्य विरोधम् ।
संहितं रतिपतिः स्मितभिन्नक्रोधमाशु तरुणेषु महेषुम् ॥ ४४ ॥

सञ्जहारेति । तरुणेषु युवसु विरोधं प्रणयकलहं विरहय्य विहाय रहयतेः स्वार्थण्यन्ताद्क्त्वा तस्य ल्यप् "ल्यपि लघुपूर्वात्" इत्ययादेशः । सहसा परिरब्धाः प्रेयस्यो यैस्तेषु परिरब्धप्रेयसीषु आश्लिष्टवधूकेषु सत्सु । "ईयसश्च" इति कपोऽभावः : "ईयसो बहुव्रीहौ प्रतिषेधो वक्तव्यः" इत्युपसर्जनस्य ह्रस्वनिषेधः । रतिपतिः कामः संहितं प्रागारोपितं महेषुं महान्तं शरं स्मितभिन्नक्रोधं स्वयत्नसाफल्यात् स्मितेनोज्झितपूर्वरोषं च यथा तथा आशु सञ्जहार । सिद्धेऽर्थे साध्यानवकाशादित्यर्थः । परिरम्भान्तो यूनां विरह इति भावः ॥ ४४ ॥

स्रंसमानमुपयन्तरि वध्वाः श्लिष्टवत्युपसपत्नि रसेन ।
आत्मनैव रुरुधे कृतिनेव स्वेदसङ्गि वसनं जघनेन ॥ ४५ ॥

स्रंसमानमिति । उपयन्तरि भर्तरि रसेन रागान्वतयेत्यर्थः । उपसपत्नि सपत्नीसमीपे । समीपार्थेऽव्ययीभावे नपुंसकह्रस्वत्वम् । श्लिष्टवति आश्लिष्टवति सति स्रंसमानं स्पर्शसुखपारवश्याद् भ्रश्यमानं तथापि स्वेदसङ्गि स्वेदेन सात्त्विकेन सक्तं वध्वा वसनं कृतिना कुशलेन स्वस्येदं लाघवमिति जानतेवेत्यर्थः । जघनेन । कर्त्रा । आत्मनैव स्वयमेव रुरुधे रुद्धम् । सा तु न वेत्तीति भावः । स्वेदहेतुकस्य वसनरोधकस्य स्वलाघवज्ञानहेतुकत्वमुत्प्रेक्ष्यते ॥ ४५ ॥

पीडिते पुर उरःप्रतिपेषं भर्त्तरि स्तनयुगेन युवत्याः ।
स्पष्टमेव दलतः प्रतिनार्य्यास्तन्मयत्वमभवद्धृदयस्य ॥ ४६ ॥

पीडित इति । युवत्या युवते स्तनयुगेन भर्तरि प्रतिनार्याः पुरोऽग्रे समक्षमेव उर प्रतिपिष्य उरःप्रतिपेषम् । "परिक्लिश्यमाने च" इति णमुल् "क्त्वमेजन्त" इत्यव्ययसञ्ज्ञा । वक्षः प्रतिपीड्येत्यर्थः । पीडिते सति दलत ईर्ष्यया दीर्यमाणस्य प्रतिनार्या सपत्न्या हृदयस्य तन्मयत्व भर्तृतादात्म्य स्पष्टमभवदेव । अन्यथा कथमन्यपीडनादन्यदलनमिति भाव । अतएवेवमसङ्गत्यलङ्कारोपजीविनी तन्मयत्वोत्प्रेक्षति सङ्करः । 'कार्य्यकारणयोर्भिन्नदेशत्वे स्यादसङ्गतिः' ॥ ४६ ॥

दीपितस्मरमुरस्युपपीडं वल्लभे घनमभिष्वजमाने ।
वक्रतां न ययतुः कुचकुम्भौ सुभ्रुवः कठिनतातिशयेन ॥ ४७ ॥

दीपितेति । वल्लभे दीपितस्मरम् उद्दीपितकाम यथा तथा उरस्युपपीडम् । उरस्युपपीड्य "सप्तम्या चोपपीडरुधकर्षः" इति णमुल् । "तत्पुरुषे कृति बहुलम्" इत्यलुक् । घनङ्गाढमभिष्वजमाने परिरम्भमाणे सति 'परिरम्भ परिष्वङ्गः सश्लेष उपगूहनम्' इत्यमरः । सुभ्रुवः कुचकुम्भौ कठिनतातिशयेन वक्रता परिमण्डलता न ययतुर्न प्राप्तौ । अत्र गाढालिङ्गनात्कुचकुम्भयोर्वक्रत्वसम्बन्धेऽप्यसम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिरलङ्कारः ॥ ४७ ॥

सम्प्रवेष्टुमिव योषित ईपुः श्लिष्यतां हृदयमिष्टतमानाम् ।
आत्मनः सततमेव तदन्तर्वर्तिनो न खलु नूनमजानन् ॥ ४८ ॥

सम्प्रवेष्टुमिति । योषितः श्लिष्यतामालिङ्गतामिष्टतमाना हृदय सम्प्रवेष्टुमीषुरिच्छन्ति स्मेव इति गाढालिङ्गननिमित्ता क्रियास्वरूपोत्प्रेक्षा गुणस्वरूपोत्प्रेक्षा वा विवक्षाभेदात् । अत एवात्मन स्वान्सततमेव तदन्तर्वर्तिनस्तेषामिष्टतमानाम् अन्तर्हृदयेष्वेव स्थितान्नाजानन्नूनम् । अन्यथा कथ पुनः प्रवेशेच्छेति भाव । इयमज्ञानोत्प्रेक्षा पूर्वोत्प्रेक्षासापेक्षेति सजातीयसङ्करः ॥ ४८ ॥

स्नेहनिर्भरमधत्त वधूनामार्द्रतां वपुरसंशयमन्तः ।
यूनि गाढपरिरम्भिणि वस्त्रक्नोपमम्बु ववृषे यजनेन ॥ ४९ ॥

स्नेहेति । स्नेहनिर्भर प्रेमरसपूर्ण तैलादिकद्रवद्रव्यपूर्ण च । 'स्नेहोऽस्त्री द्रवहार्दयोः' इति वैजयन्ती । अत एव वधूना वपुरन्तरार्द्रतां द्रवत्वमधत्त । स्नेहद्रव्यसम्पूर्णमन्तरार्द्र भवतीति भावः । असशय संशयस्याभाव । अर्थाभावेऽव्ययीभाव । कुतो यद्यस्माद्यूनि युसि गाढ परिरम्भत इति परिरम्भिणि गाढाश्लेषिणि सति अनेन वपुषा । कर्त्रा । वस्त्र क्नोपयित्वा परिषिच्य वस्त्रक्नोपम् । क्नूयीधातोर्ण्यन्तात् "अर्त्तिह्री" इत्यादिना पुगागमे "चेले क्नोपे" इति णमुल् । अम्बु

वव्रुपे । वृपेः कर्म्मणि लिट् । अन्तरार्द्रस्य निष्पीडनाद्बहिरम्बुस्रावसम्भवात् तन्निमित्तेऽयमन्तरार्द्रत्वोत्प्रेक्षा प्रियाङ्गसङ्गात्ताः स्विन्ना इति सात्त्विकोदयोक्तिः ॥ ४९ ॥

न स्म माति वपुषः प्रमदानामन्तरिष्टतमसङ्गमजन्मा ।
यद्बहुर्बहिरवाप्य विकाशं व्यानशे तनुरुहाण्यपि हर्षः ॥ ५० ॥

न स्मेति । प्रमदानामिष्टतमसङ्गेन जन्म यस्य सः । जन्माद्युत्तरपदस्याव्यधिकरणबहुव्रीहिरिति वामनः । बहुर्विपुलः । ' विपुलानेकयोर्बहु ' इति वैजयन्ती । हर्षो वपुषोऽन्तर्न माति स्म अत्युद्रेकात्तान्तः संमित इत्युत्प्रेक्षा । कुतः । यद्यस्माद्बहिर्वपुषो बहिर्विकाशं वृद्धिमवाप्य तनुरुहाणि रोमाण्यपि व्यानशे व्याप । कर्त्तरि लिट् । " अश्नोतेश्च " इति नुडागमः । अत्र बहिर्विकाशननिमित्तकान्तरमानोत्प्रेक्षा आनन्दरोमाञ्चयोः श्लेषमूलाभेदाध्यवसायातिशयोक्त्यनुप्राणितेति सङ्करः ॥ ५० ॥

यत्प्रियव्यतिकराद्वनितानामङ्गजेन पुलकेन बभूवे ।
प्रापि तेन भृशमुच्छ्वसिताभिर्नीविभिः सपदि बन्धनमोक्षः ॥ ५१ ॥

यदिति । वनितानां स्त्रीणां प्रियस्य भर्तुर्व्यतिकरात्सम्पर्कात्सङ्गमाच्चाङ्गजेनाङ्गव्यापिना पुत्रेण च पुलकेन बभूवे भूतमिति यत् । भावे लिट् । तेन पुलकोदयेन पुत्रोदयेन च भृशमुच्छ्वसिताभिरुच्छ्वित्ताभिर्मोक्षाशया आश्वसिताभिश्च नीविभिः लक्षणया कटिवस्त्रैः अन्यथा बन्धनशब्देन पौनरुक्त्यात् । सपदि बन्धनमोक्षो ग्रन्थिभेदो निगडमोचनं च प्रापि प्राप्तः । कर्मणि लुङ् । अभ्युदयेषु राजानो बद्धान् मोचयन्तीति भावः । अत्र प्रकृतपुलकनीविगताङ्गजत्वोच्छ्वसितत्वादिविशेषणसाम्याद्बन्धनमोक्षणसम्बन्धाच्च अप्रकृतपुत्रकारागतिप्रतीतेः समासोक्तिरलङ्कारः ॥ ५१ ॥

अथ चुम्बनक्रीडां वर्णयति—

ह्रीभरादवनतं परिरम्भे रागवानवटुजेष्ववकृष्य ।
अर्पितोष्ठदलमाननपद्मं योषितो मुकुलिताक्षमधासीत् ॥ ५२ ॥

ह्रीति । परिरम्भे आलिङ्गने ह्रीरेव भरस्तस्मादवनतं भाराक्रान्तं नमतीति भावः । अर्पितं स्वमुखे निहितमोष्ठ एव दलं पत्रं यस्य तद्योषित आननमेव पद्मं रागवान् रागी अवटुजेषु चरमशिरोरुहेषु । ' अवटुर्घाटा कृकाटिका' इत्यमरः । अवकृष्य अवटुजाकर्षणेनोन्नमय्येत्यर्थः । मुकुलिताक्षं निमीलितनेत्रं यथा तथा । " बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः स्वाङ्गात् षच् " इति षच् प्रत्ययः । अधासीत् पपौ । धेटो लुङ् " आदेचः" इत्यात्वम् "विभाषा घ्राधेट् " इत्यादिना सिचो वैकल्पिके लुगभावे " अस्तिसिचोऽपृक्ते " इतीडागमः । अत्राननोष्ठस्य पद्मदलत्वरूपणात्तत्रानुरागिणो मधुपत्वं च गम्यते इत्येकदेशविवर्त्तिरूपकम् ॥ ५२ ॥

पल्लवोपमितिसाम्यसपक्षं दष्टवत्यधरबिम्बमभीष्टे ।
पर्यकूजि सरुजेव तरुण्यास्तारलोलवलयेन करेण ॥ ९३ ॥

पल्लवेति । पल्लवेन उपमित्या सादृश्येन यत्साम्य तेन सपक्ष उभयोरपि पल्लवैकोप- -मानत्वसाधर्म्यात्सुहृद्भूतम् अधरो बिम्बमिव तदधरबिम्बम् अभीष्टे प्रियतमे दष्टवति सति सह रुजा सरुक् । " तेन सह " इति बहुव्रीहिः " सहस्य सः " इति सः । तेन सरुजेव सव्य- थेनेव । ' स्त्री रुग्रुजा चोपतापः ' इत्यमरः । ताराण्युच्चैः क्रोशन्ति कुतः लोलानि चलानि वल- यानि कंकणानि यस्य तेन तरुण्याः करेण पर्यकूजि परिकूजितम् । भावे लुङ् । सुहृद्दु:- खाद्दुःखायन्ते सुहृद इति भावः । अत्र कंकणद्वारकस्य करकूजनस्य विधूननहेतुकस्य सरुजेवेति रुग्धेतुकत्वमुत्प्रेक्ष्यते ॥ ९३ ॥

केनचिन्मधुरमुल्बणरागं बाष्पतप्तमधिकं विरहेषु ।
ओष्ठपल्लवमपास्य मुहूर्त सुभ्रुवः सरसमक्षि चुचुम्बे ॥ ९४ ॥

केनचिदिति । केनचिद्रागिणा मधुरं रसवन्तमुल्बणरागमतिरक्त तथापि विरहेष्वधिकं बाष्पेण विरहोष्मणा तप्त सुभ्रुव ओष्ठपल्लवमपास्य सरस सान्द्रशीतम् अक्षि चुचुम्बे चुम्बितम् । अत्र तप्तत्वरसवत्वयोर्विशेषणगत्याधरत्यागाक्षिचुम्बनहेतुक काव्यलिंगद्वय सापेक्षत्वात्संकीर्यते॥ ९४ ॥

एव बाह्यसुरतमुक्त्वाभ्यन्तरसुरतवर्णन प्रस्तौति-

रेचितम्परिजनेन महीयः केवलाभिरतदम्पति धाम ।
साम्यमाप कमलासखविष्वक्सेनसेवितयुगान्तपयोधेः ॥ ९५ ॥

रेचितमित्यादि । परिजनेन रचित रिक्तीकृतम् । अत एव केवलावेकाकिनावभिरतौ दम्पती जायापती यस्मिन् तत् ।' दम्पती जम्पती जायापती भार्यापती च तौ ' इत्यमरः । राजदन्तादिषु जायाशब्दस्य जम्भावो दम्भावश्च विकल्पान्निपातितः । महीयो महत्तर धाम केलिगृह कमलासखेन लक्ष्मीभर्त्रा विष्वक्सेनेन जनार्दनेन विष्णुना सेवितस्याधिष्ठि- तस्य युगान्तपयोधेः साम्यमापेत्युपमालंकारः । युगान्तविशेषण विविक्तताद्योतनार्थम् एतेनेच्छा- विहारतोक्ता ॥ ९५ ॥

अथ विश्रम्भविहाराण्येवाह-

आवृतान्यपि निरन्तरमुच्चैर्योषितामुरसिजद्वितयेन ।
रागिणामितइतो विमृशद्भिः पाणिभिर्जगृहिरे हृदयानि॥ ९६ ॥

आवृतानीति । उच्चैरुन्नतेनोरसिजद्वितयेन निरन्तर नीरन्ध्रमावृतानि संवृतान्यपि योषिता हृदयानि वक्षांसि चेतांसि च इत इतो विमृशद्भिरितस्तत परामृशद्भिः रागिणा पाणिभिर्ज- गृहिरे गृहीतानि । निगूढ वस्तु हस्तपरामर्शाल्लभ्यत इति एकत्र भावः । अन्यत्र कृच्छ्रलब्धः प्रियकरस्पर्शस्तासा हृदयग्राह्योऽभूदिति भावः । नैरन्तर्येण प्रतिबध्नतोरपि कुचयो कथञ्चि-

दन्तरं सम्पाद्य हृदयानि स्पृष्टान्येवेति वाक्यार्थः । अत्र द्वितयानामपि हृदयाना प्रकृतत्वात्केवलप्रकृतश्लेषः ॥ ५६ ॥

कामिनामसकलानि विभुग्नैः स्वेदवारिमृदुभिः करजाग्रैः ।
अक्रियन्त कठिनेषु कथञ्चित्कामिनीकुचतटेषु पदानि ॥५७॥

कामिनामिति । स्वेदवारिणा सात्त्विकेनाङ्गुलीस्वेदेन मृदुभिः कोमलतां गतैरत एव विभुग्नैर्विनम्रैः कामिना करजाग्रैः नखाग्रैः कठिनेषु कामिनीकुचतटेषु असकलान्यसमग्राणि पदानि क्षतानि कथञ्चिदक्रियन्त कृतानि । कठिनेषु मृदूनां पदलाभो दुःसम्पाद्य इति भावः । नखक्रिया प्रवृत्तेत्यर्थः । अत्र कुचानामीदृक्काठिन्यासम्बन्धेऽपि तत्सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिः॥ ५७ ॥

सोष्मणः स्तनशिलाशिखराग्रादात्तघर्मसलिलैस्तरुणानाम् ।
उच्छ्वसत्कमलचारुषु हस्तैर्निम्ननाभिसरसीषु निपेते ॥ ५८ ॥

सोष्मण इति । सोष्मणो यौवनोष्मयुक्तात् स्तनावेव शिलाशिखरे तयोरग्रादुपरिभागादात्तधर्मसलिलैरुष्णदेशविहारात् प्राप्तस्वेदैस्तरुणाना हस्तैरुच्छ्वसत्कमलवद्विकचकमलैश्च चारुषु निम्ननाभिष्वेव सरसीषु निपेते निपातितम् । ऊष्मस्विन्नानां कुतश्चित् उन्नतात्पयसि पातो युक्त इति भावः । प्रथम कुचौ स्पृष्ट्वा ततो नाभिदेशमस्पृशन्नित्यर्थः । अत्र कुचयोः शिलाशिखरत्वेन नाभीना सरसीत्वेन च रूपणाद्धस्तानाम् आपातिपुरुषत्वरूपणं गम्यत इति एकदेशनिवर्त्तिरूपकम् ॥ ५८ ॥

आमृशद्भिरभितो वलिवीचीर्लोलमानविततांङ्गुलिहस्तैः ।
सुभ्रुवामनुभवात्प्रतिपेदे मुष्टिमेयमिति मध्यमभीष्टैः ॥५९॥

आमृशद्भिरिति । वलयो वीचय इव वलिवीचीरभित आमृशद्भिः लोलमानाश्चलनशीलाः । "ताच्छील्यवयोवचनशक्तिषु चानश्" इति चानश् प्रत्ययः न तु शानच्, लोलतेः परस्मैपदित्वात् । अत एव "लोलमानादयश्चानशि" इति वामन । लोलमाना वितताः प्रसारिताश्चाङ्गुलयो येषान्ते तथाविधा हस्ता येषा तैरभीष्टैः प्रियतमैः सुभ्रुवा मध्यं मुष्टिमेयमिति मुष्ट्या मातुं शक्यमिति अनुभवात्प्रत्यक्षेण मुष्ट्या मानं कृत्वैव प्रतिपेदे प्रतिबुद्धम् । न तु प्रसिद्धिमात्रादिति भाव । अमुष्टिमेयस्य मुष्टिमेयत्वोक्तेरतिशयोक्तिभेदोऽलङ्कारः ॥ ५९ ॥

प्राप्य नाभिह्रदमज्जनमाशु प्रस्थितं निवसनग्रहणाय ।
औपनीविकमरुन्ध किल स्त्री वल्लभस्य करमात्मकराभ्याम् ॥६०॥

प्राप्येति । नाभिरेव ह्रदो नद इति रूपक तत्र मज्जन प्राप्याशु निवसनग्रहणाय वस्त्राकर्षणायेत्यर्थः । स्नातस्य वस्त्रग्रहण युक्तमिति भावः । प्रस्थित प्रवृत्तम् । उपनीवि नीवीसमीपे प्रायेण तत्र भवमौपनीविक तत्र व्यापृतमित्यर्थः । "उपजानूपकर्णोपनीवेष्ठक्" इति ठक् । वल्लभस्य कर स्त्री आत्मकराभ्याम् अरुन्ध किल रोध नाटितवतीत्यर्थः ॥ ६० ॥

कामिनः कृतरतोत्सवकालक्षेपमाकुलवधूकरसङ्गि ।
मेखलागुणविलग्नमसूयां दीर्घसूत्रमकरोत्परिधानम् ॥६१॥

कामिन इति । आकुले प्रियकरनिवारणव्यग्रे वधूकरे साङ्गि सक्तं मेखलैव गुणस्तत्र विलग्नं दीर्घसूत्रम् आतततन्तुकम् अत्यायतत्वात् बहुधा वेष्टितमित्यर्थः । चिरक्रियञ्च । 'दीर्घसूत्रश्चिरक्रियः' इत्यमरः । एवं कृतो रतस्यैवोत्सवस्य कालक्षेपः कालविलम्बो येन तत्परिधानमधोऽशुकं कामिनोऽसूयामकरोत् । इच्छाविघातादीर्ष्यां जनयामासेत्यर्थः । अत्र करसङ्गादिपदार्थाना विशेषणगत्या असूयाहेतुत्वादनेकपदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कारः ॥ ६१ ॥

अम्बरं विनयतः प्रियपाणेर्योषितश्च करयोः कलहस्य ।
वारणामिव विधातुमभीक्ष्णं कक्ष्यया च वलयैश्च शिशिञ्जे॥६२॥

अम्बरमिति । अम्बरं विनयतोऽपसारयतः प्रियपाणेर्योषितः करयोश्च तस्मिन् रोधकयोरिति भावः । कलहस्य वारणां विधातुं निरावरणं कर्तुमिवेति फलोत्प्रेक्षा । कक्ष्यया काञ्च्या । 'कक्ष्या कक्षे वरत्रायां काञ्च्यां गेहप्रकोष्ठयोः' इति विश्वः । कक्षयेति क्षान्तपाठे तु 'कक्षा ग्रहणिका काञ्चीप्रकोष्ठगजरज्जुषु' इति क्षान्तेषु विश्वः । वलयैः कङ्कणैश्च अभीक्ष्णं शिशिञ्जे चुक्रुशे । भावे लिट् । 'भूषणानां तु शिञ्जितम्' इत्यमरः । द्वयोः कलहायमानयोः पार्श्वस्थाः साक्रोशं निवारयन्तीति भावः । शिञ्जातिरयं तालव्यादिर्न दन्त्यादिः । "योषेव शिङ्क्ते" इति श्रुतेः ॥ ६२ ॥

ग्रन्थिमुद्ग्रथयितुं हृदयेशे वाससः स्पृशति मानधनायाः ।
भ्रूयुगेण सपदि प्रतिपेदे रोमभिश्च सममेव विभेदः ॥ ६३॥

ग्रन्थिमिति । हृदयेशे प्रिये वाससो ग्रन्थिमुद्ग्रथयितुं विस्रंसयितुं ग्रथयतेश्चौरादिकात्तुमुन् स्पृशति मानधनाया मानवत्याः कामिन्याः इति शेषः । भ्रूयुगेण रोमभिश्च । "कर्तरि तृतीया" इति तृतीया । सपदि समं युगपदेव विभेदो भङ्गो हर्षश्च प्रतिपेदे प्राप्तः । अत्र मानवत्त्वात्कामिनीत्वाच्च नीविस्पर्शे युगपदमर्षहर्षयोरुदयात्तदनुभावयोरपि युगपदाविर्भाव इति भावः । अत्र भ्रूभङ्गरोमाञ्चक्रिययोः समुच्चयात् समुच्चयभेदः । स च विभेद इति श्लेषप्रतिभोत्थापितामेदाध्यवसायमूलातिशयोक्त्यनुप्राणित इति सङ्करः ॥ ६३ ॥

आशु लंघितवतीष्टकराग्रे नीविमर्धमुकुलीकृतदृष्टया ।
रक्तवैणिकहताधरतन्त्रीमण्डलक्वणितचारु चुकूजे ॥ ६४ ॥

आश्विति । इष्टस्य प्रियस्य कराग्रे नीविं वस्त्रग्रन्थिम् आशु हठात् लंघितवति अतिक्रान्तवति ऊरुमूलं गते सतीत्यर्थः । अर्द्धमुकुलीकृतदृष्टया सुखपारवश्यादर्द्धनिमीलिताक्ष्या स्त्रिया रक्तो रक्तकण्ठः स्वयं गानकुशलः वीणा शिल्पमस्य वैणिको वीणावाद्यनिपुणः । "शिल्पम्"

इति ठक् । रक्तेन वैणिकेन यन्त्रगानकुशलेन हत वादित यदधर तन्त्रीणा मण्डल समूहः बहुतन्त्रीकस्वरमण्डलादिभदः तस्य क्वणितमिव चारु यथा तथा चुकूजे कूजितम् । भावे लिट् अधरग्रहणं तन्त्रीमाधुर्यातिशयात् । स्पर्शसुखातिरेकार्थं तन्त्रीकण्ठस्वरव्यतिकरमनोहरः कोऽपि रससर्वस्वभूतः कण्ठकूजितविशेषः कृत इत्यर्थः । अतएव रक्तवैणिकहतेति विशेषणम् । क्वणितचार्विति उपमालङ्कारः ॥ ६४ ॥

आयताङ्गुलिरभूदतिरिक्तः सुभ्रुवां कृशिमशालिनि मध्ये ।
श्रोणिषु प्रियकरः पृथुलासु स्पर्शमाप सकलेन तलेन ॥ ६५ ॥

आयतेति । आयताः अङ्गुलयो यस्य स प्रियकरः कृशस्य भव. कृशिमा कार्श्यम् "पृथ्वादिभ्य इमनिज्वा" इतीमनिच् "रऋतो हलादेर्लघोः" इति रेफादेशः । तेन शालते शोभते तस्मिन् सुभ्रुवां मध्येऽतिरिक्तोऽधिकोऽभूत् । मध्यस्यातिकार्श्यादस्पृष्टैकदेशोऽभूदित्यर्थः । पृथुलासु श्रोणिषु कटिषु । 'वहिश्रिश्रुयुद्रुग्ला' इति सूत्रेण श्रुधातोः निप्रत्ययः । सकलेन कृत्स्नेन तलेन स्पर्शमाप अन्तर्भागेन क्रमेण श्रोणिमस्पृशदित्यर्थः । अत एव मध्यातिरेकोक्तेरतिशयोक्ति ॥ ६५ ॥

चक्रुरेव ललनोरुषु राजीः स्पर्शलोभवशलोलकराणाम् ।
कामिनामनिभृतान्यपि रम्भास्तम्भकोमलतलेषु नखानि ॥ ६६ ॥

चक्रुरेवेति । स्पर्शलोभवशेनोरुस्पर्शतृष्णापारतन्त्र्येण लोलकराणां चपलपाणीना कामिनामनिभृतान्यार्पितान्यपि नखानि कररुहाः । 'पुनर्भवः कररुहो नखोऽस्त्री नखरोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः । रम्भास्तम्भकोमलतलेषु कदलीप्रकाण्डपेलवस्वरूपेषु ललनानामूरुषु राजीः रेखाश्चक्रुरेव । ऊरुपरामर्शनान्तरीयनखस्पर्शमात्रादेव रेखा जाता इत्यर्थः । अत्र कोमलतायाः विशेषणगत्य राजीकरणहेतुत्वात्काव्यलिङ्गभेदः ॥ ६६ ॥

ऊरुमूलचपलेक्षणमघ्नन्यैर्वतंसकुसुमैः प्रियमेताः ।
चक्रिरे सपदि तानि यथार्थं मन्मथस्य कुसुमायुधनाम ॥ ६७ ॥

ऊर्विति । एताः स्त्रियः ऊरुमूले चपलेक्षणं लोलचक्षुषम् । प्रियं यैर्वतंसकुसुमैः कर्णावतंसपुष्पैः "वष्टि भागुरिरल्लोपमवाप्योरुपसर्गयो." इत्यकारलोपः । अघ्नन् अताडयन् हन्तेर्लङ् । "गमहन" इत्यादिना उपधालोप. । "हो हन्तेः" इत्यादिना कुत्वम् । तानि वतंसकुसुमानि । मनो मथ्नातीति मन्मथः । पृषोदरादित्वात्साधुः । तस्य मन्मथस्य । कुसुममायुधं यस्येति कुसुमायुध इति यन्नाम तद्यथार्थञ्चक्रिरे चक्रुः । तदा तेषां तत्कार्यकारित्वादिति भावः । अत्र वतंसेष्वारोप्यमाणस्य मन्मथायुधत्वस्य प्रकृतोपयोगात्परिणामालङ्कारः ॥ ६७ ॥

धैर्यमुल्बणमनोभवभावा वामताश्च वपुरर्पितवत्यः ।
व्रीडितं ललितसौरतधार्ष्ट्यास्तेनिरेऽभिरुचितेषु तरुण्यः ॥ ६८॥

धैर्यमिति । तरुण्यः रमण्य. उल्बण उद्रिक्तो मनोभवभावो रतिरागो यासा ता अपि अभिरुचितेषु प्रियेषु धैर्यमौदासीन्य तेनिरे । वपुः स्वाङ्गमर्पितवत्यो यथेष्टकरणाय दत्तवत्योऽपि वामता वक्रता च तेनिरे। ललित मनोहर सौरत सुरतसम्बन्धि धार्ष्ट्य प्रागल्भ्य यासा तास्तथापि व्रीडित व्रीडां तेनिरे । इह स्त्रीणा रहसि रागाङ्गार्पणधार्ष्ट्यादिगुणा अप्यागन्तुकतया सहजधैर्यवक्रताव्रीडितैः पुनः पुनः प्रतिबध्यन्त एवेति भावः । अत्र रागादीना धैर्यादिभिः सह समावेशविरोधस्य सहजागन्तुकाभ्यामाभासीकरणाद्विरोधाभासोऽलङ्कारः, धैर्यादिगुणसमुच्चयात्समुच्चयालङ्कारश्चेति सकर ॥ ६८ ॥

पाणिरोधमविरोधितवाञ्छं भर्त्सनाश्च मधुरस्मितगर्भाः ।
कामिनः स्म कुरुते करभोरूर्हारि शुष्करुदितं च सुखेऽपि ॥ ६९॥

पाणीति । 'मणिबन्धादाकनिष्ठ करस्य करभो बहि' इत्यमरः । करभ इव ऊरू यस्याः सा करभोरूः स्त्री । "ऊरूत्तरपदादौपम्ये" इत्यूङ्प्रत्यय । अविरोधितवाञ्छमनिवारितप्रियमनोरथ यथा तथा कामिन पाणिरोध नीवीमोक्षणे व्यापृतस्य प्रियपाणेर्निवारण कुरुते स्म तथा मधुर मनोहर स्मित गर्भे अन्तर्वर्ति यासु ता मन्दहासमिश्राः भर्त्सनास्तर्जनाश्च कुरुते स्म । तथा सुखेऽपि अधरपीडनादौ सुखातिरेके सत्यपि हारि मनोहारि शुष्करुदितमनश्रुत्वादनार्द्रं कृत्रिमरोदन च कुरुते स्म । स्त्रीणामेष स्वभावो यदिष्टमप्यनिष्टतया निवारयन्त्य एव सुरतसुखमुपभुञ्जत इत्यर्थः । अत्र सुखेऽपि दुःखवदुपचारात्कुट्टमिताख्योऽनुभावो द्रष्टव्यः । 'केशाधरादिग्रहणे मोदमानेऽपि मानसे । दुःखितेव बहि कुप्यद्यत्र कुट्टमित हि तत्' इति लक्षणात् ॥ ६९ ॥

वारणार्थपदगद्गदवाचामीर्ष्यया मुहुरपत्रपया च ।
कुर्वते स्म सुदृशामनुकूलं प्रातिकूलिकतयैव युवानः ॥ ७० ॥

वारणार्थेति । ईर्ष्यया अतिपीडनासहिष्णुतया अपत्रपया च रहस्यप्रकाशनवैलक्ष्येण च मुहुर्वारणार्थपदेषु मानेत्यादिनिषेधवाचकशब्दप्रयोगेषु गद्गदवाचा स्खलद्गिरा सुदृशा प्रतिकूलं वर्तन्त इति प्रातिकूलिकाः प्रतिकूलचारिण । "तत्प्रत्यनुपूर्वमीपलोमकूलम्" इति ठक् । तत्तया प्रातिकूलिकतयैव प्रतिकूलाचरणेनैव युवानोऽनुकूलमिद कुर्वते स्म । कृत्रिमनिवारणाद्यत्प्रतिकूलमिवाचरितमधरपीडनादिक तत्तासामिष्टत्वादनुकूलमेवेति प्रतिकूलाचरणमेवानुकूलं भवतीत्यर्थ । अत एव प्रतिकूलमप्यनुकूलमिति विरोधाभासोऽलङ्कार. ॥ ७० ॥

अन्यकालपरिहार्य्यमजस्रं तद्वयेन विदध द्वयमेव ।
धृष्टता रहसि भर्तृषु ताभिर्निर्दयत्वमितरैरबलासु ॥ ७१॥

अन्येति । अजस्रं नित्यम् अन्यकालपरिहार्य्यं सुरतेतरकालेत्वत्याज्यं तद्द्वयम् । कर्म्मद्वयेन । कर्त्रा । विदधे विहितमेव । धाञः कर्मणि लिट् । एतदेव व्यनक्ति । रहसि ताभिरबलाभिर्भर्तृषु विषये धृष्टता विदधे । इतरैर्भर्तृभिरबलासु स्त्रीषु निर्दयत्वं च विदधे । अन्यदा यथा पुसां स्त्रीषु दया तासा नैव्वप्रागल्भ्यमलङ्कारस्तद्वत्सुरतेषु तद्विरुद्धमेवालङ्कार इति भाव' । अत्र स्त्रीपुसधार्ष्ट्यनिर्दयत्वयो. प्रकृतयोर्विधानाक्रयायौगपद्यं गम्यत इति तुल्ययोगिताभेदः ॥ ७१ ॥

बाहुपीडनकचग्रहणाभ्यामाहतेन नखदन्तनिपातैः ॥
बोधितस्तनुशयस्तरुणीनामुन्मिमील विशदं विषमेषुः ॥७२॥

बाह्विति । तरुणीना तनौ शेते इति तनुशय. तनुषु सुप्त' । "अधिकरणे शतः" इत्यच् प्रत्ययः । विषमेषु. काम. बाहुपीडन निर्दयाश्लेष कचग्रहण केशाकर्षण ताभ्यामाहतेन मुष्टिघातेन। "नपुसके भावे क्तः" नखाना दन्ताना च निपातैः क्षतैश्च बोधितः सन् विशद निर्जाड्यं यथा तथा उन्मिमील उद्बुद्ध सर्वमेतत्कामस्योद्दीपकमासीदित्यर्थः । अत्र प्रकृतविषमेषुविशेषणां सामर्थ्यादप्रस्तुतसुप्तप्रबुद्धपुरुषप्रतीतेः समासोक्तिरलङ्कारः । एवमेव प्रबोध्यते खलु निद्रालुरित्यलौकिके वस्तुनि लौकिकवस्तुव्यवहारसमारोप' ॥ ७२ ॥

कान्तया सपदि कोऽप्युपगूढः प्रौढपाणिरपनेतुमियेष ।
संहतस्तनतिरस्कृतदृष्टिर्भ्रष्टमेव न दुकूलमपश्यन् ॥ ७३ ॥

कान्तयेति । कान्तया सपदि वस्त्राकर्षणक्षणएवोपगूढ आश्लिष्ट. कोऽपि युवा कामी प्रौढपाणिर्व्यग्रहस्तः सन् अपनेतु दुकूलमाक्रष्टुमियेष । संहताभ्या निरन्तराश्लिष्टाभ्या स्तनाभ्य तिरस्कृतदृष्टिस्तिरोहिताक्षः सन् भ्रष्टमेव प्रागेव स्रस्त दुकूल नापश्यत् । अत्र दृष्टितिरस्कारस्य विशेषणगत्या अदर्शनहेतुक काव्यलिङ्गम् । तच्च दृष्टे' स्तनातिरस्कारासम्बन्धेऽपि सम्बन्धरूपातिशयोक्त्युत्थापितमिति सकरः । तेन च कुचयोर्लोकोत्तरसौन्दर्यं व्यज्यत इति अलकारेण वस्तुध्वनिः ॥ ७३ ॥

आहतं कुचतटेन तरुण्याः साधु सोढममुनेति पपात ।
त्रुट्यतः प्रियतमोरसि हारात्पुष्पवृष्टिरिव मौक्तिकवृष्टिः ॥७४॥

आहतमिति । तरुण्याः सम्बन्धिना कुचतटेनाहतमाहतिरमुना उरसा साधु सोढमिति हेतोस्त्रुट्यतः शीर्यमाणाद्धारान्मौक्तिकवृष्टि' पुष्पवृष्टिरिव प्रियतमोरसि पपात इत्युत्प्रेक्षा । विक्रान्तः पूज्यते पुष्पवृष्ट्येति प्रसिद्धिः ७४ ॥

सीत्कृतानि मणितं करुणोक्तिः स्निग्धमुक्तमलमर्थवचांसि ।
हासभूषणरवाश्च रमण्याः कामसूत्रपदतामुपजग्मुः ॥ ७५ ॥

सीत्कृतानीति । रमण्याः सीत्कृतानि सीत्काराः दन्तनिष्पीडनाया सीरिति शब्दप्रयोगः। मणितं रतिकाले स्त्रीणां कण्ठकूजितविशेषः ' मणितं रतिकूजितम् ' इत्यभिधानात् । करुणोक्ति त्रायस्वेत्यादिदीनोक्तिः । स्निग्धं नानार्द्रमुक्तमुक्तिः त्वं मे प्राण इति प्रियवाद इत्यर्थः । अलमर्थानि निषेधार्थानि वचांसि मा मेत्यादिनिवारणवचनानि । हासानां भूषणानां च रवाः स्वनाश्च । कामसूत्रस्य वात्स्यायनादिकामतन्त्रप्रतिपादकशास्त्रस्य पदतां पदत्वं प्रति पदमर्थं प्रमेयलक्षणमिति यावत् तत्तामुपजग्मुः इति गम्योत्प्रेक्षा । यद्वा कामेनैव कृतं सूत्रं तस्य पदानि सुप्तिङन्तशब्दरूपाणि तस्य शास्त्रस्यैतान्येव पदानि तत्तामुपजग्मुरित्युत्प्रेक्षैव ॥ ७५ ॥

उद्धतैर्निभृतमेकमनेकैश्छेदवन्मृगदृशामविरामैः ।
श्रूयते स्म मणितं कलकाञ्चीनूपुरध्वनिभिरक्षतमेव ॥ ७६ ॥

उद्धतैरिति । निभृतमनुद्धतं सूक्ष्ममित्यर्थः । एकमेकाकि । छेदवत् विच्छेदयुक्तम् । मृगदृशां मणितं रतिकूजितम् । उद्धतैः स्थूलैरनेकैर्बहुभिरविरामैरविच्छेदैः कलैरव्यक्तमधुरैः काञ्चीनां नूपुराणां च ध्वनिभिरक्षतमतिरस्कृतमेव श्रूयते स्म श्रुतम् । मणितस्य तिरोधायकशब्दान्तरसङ्गेऽपि तद्रूपानापत्तेरतद्गुणालङ्कारः । 'सति हेतावतद्रूपस्वीकारः स्यादतद्गुणः' इति लक्षणात्॥ ७६ ॥

ईदृशस्य भवतः कथमेतल्लाघवं मुहुरतीव रतेषु ।
क्षिप्तमायतमदर्शयदुर्व्यां काञ्चिदाम जघनस्य महत्त्वम्॥ ७७॥

ईदृशस्येति । रतेषु उर्व्यां क्षिप्तं रतिसम्भ्रमात्पतितम् आयतम् दीर्घभूतं काञ्चिदाम रसनागुणः । कर्तृ । ईदृशत्वेति काञ्चिदाम्न स्वायामदृष्टान्तेन जघनपरिमाणप्रदेशेन । इत्थं महत्तरस्यातिमहतस्तव जघनस्य रतेषूपरि सुरतेषु मुहुः कथमेतल्लाघवं मुहुरुत्पतनपाटवं यस्येत्थमायतमहमप्येकवेष्टनपर्याप्तमिति भावः । इति जघनस्य महत्त्वदर्शनादिव इत्थं विस्मितस्येति शेषः । गम्यमानार्थत्वादप्रयोगः । अत्रोर्व्यामायतत्वनिमित्तकाञ्चीदामकर्तृक विस्मयपूर्वकजघनमहत्त्वदर्शनमुत्प्रेक्ष्यते ॥ ७७ ॥

प्राप्यते स्म गतचित्रकचित्रैश्चित्रमार्द्रनखलक्ष्मकपोलैः ।
दध्रिरेऽथ रभसच्युतपुष्पाः स्वेदबिन्दुकुसुमान्यलकान्ताः ७८॥

प्राप्यत इति । गतानि विमर्दात्प्रमृष्टानि चित्रकचित्राणि तमालपत्ररचनानि येषां तैः कपोलैः आर्द्रं यन्नखलक्ष्म तदेव चित्रमिति रूपकं प्राप्यते स्म प्राप्तम् । किञ्च रभसेन रतिसम्भ्रमेण च्युतपुष्पा अलकान्ताश्चूर्णकुन्तलाग्राणि स्वेदबिन्दूनेव कुसुमानीति रूपकम् । दध्रिरे दधुः धरतेर्भौवादिकाल्लिटि ञित्वादात्मनेपदम् । स्वेदोऽत्र श्रमानुभवः । ' श्रमः स्वेदोऽध्वरत्यादेः । श्वासस्वेदातिभूमिकृत् ' ॥ ७८ ॥

यद्यदेव रुरुचे रुचिरेभ्यः सुभ्रुवो रहसि तत्तदकुर्वन् ।
आनुकूलिकतया हि नराणामाक्षिपन्ति हृदयानि तरुण्यः॥७९॥

यद्यदेवेति । रुचिरेभ्यो रमणेभ्यो यद्यदेव चेष्टितं रुरुचे रोचते स्म प्रियमभूदित्यर्थः । 'रुच दीप्तावभिप्रीतौ च' इति धातोर्लिट् । "रुच्यर्थानां प्रीयमाणः" इति सम्प्रदानत्वम् । सुभ्रुवो रहसि तत्तदकुर्वन् । तथा हि तरुण्यः अनुकूलं वर्तन्त इत्यानुकूलिकाः । "तत्प्रत्यनुपूर्वमीपलोमकूलम्" इति ठक् । तासां भावस्तत्ता तया आनुकूलिकतया अनुकूलवर्तितयैव नराणां पुंसां हृदयान्याक्षिपन्त्यावर्जयन्तीत्यर्थान्तरन्यासः ॥ ७९ ॥

प्राप्य मन्मथरसादतिभूमिं दुर्वहस्तनभराः सुरतस्य ।
शश्रमुः श्रमजलार्द्रललाटश्लिष्टकेशमसितायतकेश्यः ॥ ८० ॥

प्राप्येति । दुर्वहः स्तनभरो यासां ताः एतेनोपरिसुरतं व्यज्यते । अन्यथा विशेषणवैयर्थ्यात् । असिता आयताश्च केशा यासां ता असितायतकेश्यः स्त्रियः । "स्वाङ्गाच्च" इत्यादिना ङीप् । मन्मथरसात् स्मररागात् सुरतस्यातिभूमिम्परां काष्ठां प्राप्य महान्तं सुरतम्प्राप्येत्यर्थः । श्रमजलेन स्वेदाम्बुना आर्द्रे ललाटे श्लिष्टाः केशा यस्मिन् कर्मणि तद्यथा तथा शश्रमुः इति । सानुभावस्य श्रमभावोक्तिः । भावनिबन्धनात्प्रेयोऽलङ्कारः ॥ ८० ॥

अथ सुरतावसानं वर्णयति—

सङ्गताभिरुचितैश्चलितापि प्रागमुच्यत चिरेण सखीव ॥
भूय एव समगंस्त रतान्ते ह्रीर्वधूभिरसहा विरहस्य ॥८१॥

सङ्गताभिरिति । उचितैः परिचितैः प्रियतमैः सह सङ्गताभिर्वधूभिः प्राक् सुरतादौ चलिता गन्तुं प्रचलितापि ह्रीः सखीव चिरेणामुच्यत मुक्ता । न सहत इत्यसहा । पचाद्यजन्तेन नञ्समासः । विरहस्यासहा विरहमसहमाना सतीत्यर्थः । "कर्तृकर्मणोः कृति" इति कर्मणि षष्ठी । रतान्ते भूय एव वधूभिः समगंस्त सङ्गता सखीवेत्येव । सम्पूर्वाद्गमेर्लुङ्, "समो गम्यृच्छिभ्याम्" इत्यात्मनेपदम् "वा गमः" इति सिचः पक्षे कित्त्वाभावात् "अनुदात्तोपदेश" इत्यादिनानुनासिकलोपो न । सुरतेतरकाले स्त्रीणां लज्जैव भूषणमिति भावः । उपमालङ्कारः ॥ ८१ ॥

प्रेक्षणीयकमिव क्षणमासन्ह्रीविभङ्गुरविलोचनपाताः ।
सम्भ्रमद्रुतगृहीतदुकूलच्छाद्यमानवपुषः सुरतान्ताः ॥ ८२ ॥

प्रेक्षणीयकमिति । ह्रिया विभङ्गुराः स्खलिता विलोचनपाता दृष्टिपाता येषु ते सम्भ्रमेण द्रुतं गृहीतेन दुकूलेन छाद्यमानानि वपूंषि अन्तरङ्गाणि येषु ते सुरतान्ताः सुरतावसानानि क्षणं प्रेक्षणीयकं दृश्यमिवासन् इत्युपमा । नाटकादिरूपकेष्वाहार्यकं वस्तु तद्दृश्यं प्रेक्षणीयकमिति चोच्यते । इहाविर्भावतिरोधानादिना तत्तुल्यत्वम् ॥ ८२ ॥

अप्रभूतमतनीयसि तन्वी काञ्चिधाम्नि पिहितैकतरोरु।
क्षौममाकुलकरा विचकर्ष क्रान्तपल्लवमभीष्टतमेन ॥ ८३ ॥

अप्रभूतमिति। तन्वी कृशाङ्गी अभीष्टतमेन प्रेयसा क्रान्तपल्लवं गृहीताञ्चलम् अत एवा-तनीयसि महीयसि काञ्चिधाम्नि जघने अप्रभूत छादयितुम् अपर्याप्तम् अत एव पिहितश्छादित एकतर एवोरुर्येन त क्षौमं दुकूलम् आकुलकरा व्यग्रपाणिः सती विचकर्ष कृत्स्नापिधानार्थ-माचकर्ष । लज्जानुभावोऽयम् । अत्र क्षौमविशेषणानामाकर्षणहेतुत्वात्पदार्थहेतुक काव्य-लिङ्गमलङ्कार ॥ ८३ ॥

मृष्टचन्दनविशेषकभक्तिर्भ्रष्टभूषणकदर्थितमाल्यः।
सापराध इव मण्डनमासीदात्मनैव सुदृशामुपभोगः ॥ ८४ ॥

मृष्टेति। मृष्टा प्रमृष्टा चन्दनाना विशेषकाणा तमालपत्राणां च भक्ती रचना येन स 'तमालपत्रतिलकचित्रकाणि विशेषके' इत्यमर । भ्रष्टानि भूषणानि यस्मिन् स भ्रष्टभूषण. । कुत्सितोऽर्थः कदर्थः । लोकतो विशेषलिङ्गत्वम् । "कोः कत्तत्पुरुषेऽचि" इति कुशब्दस्य कदा-देशः । कदर्थानि कृतानि कदर्थितानि दूषितानि माल्यानि येन स । ततस्तयोर्वैवक्षिकविशेष्य-विशेषणभावाद्विशेषणसमास । एवम्भूत उपभोग. सापराध इव पूर्वमण्डनापहारात्कृतापराध इव सुदृशामात्मनैव स्वयमेव । प्रकृत्यादित्वात् तृतीया । मण्डनमासीत् । प्रतिनिधिकरणेन स्वापराधनिरासार्थमिवेत्युत्प्रेक्षा । स्त्रीणा सम्भोग एव मण्डन तदभावे मण्डनान्तरस्याप्यमण्ड नत्वादिति भाव ॥ ८४ ॥

योषितः पतितकाञ्चनकाञ्चौ मोहनातिरभसेन नितम्बे।
मेखलेव परितः स्म विचित्रा राजते नवनखक्षतलक्ष्मीः ॥८५॥

योषित इति। मोहनातिरभसेन सुरतसम्भ्रमेण पतिता काञ्चनी काञ्चनस्य विकार काञ्चिर्यस्मात्तस्मिन्निर्मेखलेव योषितो नितम्बे परित सर्वतो विचित्रा विविधरचना नवनखक्षत लक्ष्मीर्मेखलेव राजते स्म । उत्प्रेक्षालङ्कारः ॥ ८५ ॥

भातु नाम सुदृशां दशनाङ्कः पाटलो धवलगण्डतलेषु।
दन्तवाससि समानगुणश्रीः सम्मुखोऽपि परभागमवाप ॥ ८६ ॥

भात्विति। सुदृशा सम्बन्धी पाटलोऽरुणो दशनाङ्को दन्तक्षत धवलगण्डतलेषु कपोलेषु भातु नाम । वैवर्ण्योद्भेदेन प्रकाशता नामेत्यङ्गीकारे । दन्तवाससि अधरे तु समान-गुणश्रीस्तुल्यवर्णोऽपि तथा सम्मुखोऽपि सन् परभाग गुणोत्कर्ष तथा पश्चाद्भाग चावाप । इति सावर्ण्यवैवर्ण्ययोः समुखपराङ्मुखत्वयोश्च विरोधः । उपरिभागमवापेत्युभयत्र परिहारादिरो-धाभासद्वयसंसृष्टिः । तत्राद्यः श्लेषभित्तिकाभेदाध्यवसायमूलस्तद्गुणोत्थापित इति सङ्करः ॥ ८६ ॥

सुभ्रुवामधिपयोधरपीठे पीडनैस्त्रुटितवत्यपि पत्युः ।
मुक्तमौक्तिकलघुर्गुणशेषा हारयष्टिरभवद्गुरुरेव ॥ ८७ ॥

सुभ्रुवामिति । सुभ्रुवां पयोधरपीठे कुचतटे अधिपयोधरपीठम् । विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः । पत्यु पीडनैः परिरम्भादिविमर्दैस्त्रुटितवती छेदं गतापि । अत एव मुक्तमौक्तिका सा च सा लघुश्च अत एव गुणशेषा सूत्रमात्रशेषापि हारयष्टिर्गुरुः श्लाघ्यैवाभवत् । लघुरपि गुरुरिति विरोधाभासोऽलङ्कारः ॥ ८७ ॥

विश्रमार्थमुपगूढमजस्रं यत्प्रियैः प्रथमरत्यवसाने ।
योषितामुदितमन्मथमादौ तद्द्वितीयसुरतस्य बभूव ॥ ८८ ॥

विश्रमेऽपि । योषितां प्रथमरत्यवसाने विश्रमार्थं श्रमापनोदार्थम् । श्राम्यतेर्घञ् प्रत्ययः । "नोदात्तोपदेशस्य मान्तस्यानाचमेः" इति वृद्ध्यभावः । अजस्रं प्रियैरुपगूढं उपगूहनम् । नपुंसके भावे क्तः "न लोका" इत्यादिना षष्ठीप्रतिषेधः । उदितमन्मथमुत्पादितकामम् अतएव तदुपगूहनम् । द्वितीयसुरतस्यादौ बभूव । श्रमापनोदमन्मथोद्बोधाभ्याम् उभयोपयोगादुभयार्थमभूत् । संयोगपृथक्त्वन्यायादित्यर्थः । अत्र मध्यवर्तिन उपगूढस्यैकस्य पूर्वोत्तरसुरतशेषत्वेन विशेषणगत्या विश्रमार्थोदितमन्मथपदार्थयोर्हेतुत्वात्काव्यलिङ्गद्वय तदङ्गाङ्गिभावेन सङ्कीर्यते ॥ ८८ ॥

आस्तृतेऽभिनवपल्लवपुष्पैरप्यनारतरताभिरताभ्यः ।
दीयते स्म शयितुं शयनीये न क्षणः क्षणदयापि वधूभ्यः ॥ ८९ ॥

आस्तृत इति । अनारतमश्रान्तं रते सुरते अभिरताभ्य आसक्ताभ्यो वधूभ्यः क्षणमुत्सवसुखं ददातीति क्षणदा रात्रिस्तयापि अभिनवैः पल्लवैः पुष्पैश्चास्तृते आच्छादितेऽपि सुखशयनार्हेऽपीत्यर्थः । शेतेऽस्मिन्निति शयनीये तल्पे । "कृत्यल्युटो बहुलम्" इत्यधिकरणेऽनीयर् । शयितुं शयनं कर्तुम् । क्षणोऽल्पकालोऽपि न दीयते स्म न दत्तः । किन्त्वाप्रभातमरमयत् क्षणदात्वादेवेति भावः । क्षणदयापि क्षणो न दत्त इति विरोधस्योत्सवार्थत्वेन परिहाराद्विरोधाभासोऽलङ्कारः । 'निर्व्यापारस्थितौ कालविशेषोत्सवयोः क्षणः' इत्यमरः ॥ ८९ ॥

योषितामतितरां नखलूनं गात्रमुज्ज्वलतया न खलूनम् ।
क्षोभमाशु हृदयं नयदूनां रागवृद्धिमकरोन्न यदूनाम् ॥ ९० ॥

योषितामिति । नखलूनं न खलु ऊनं नयत् ऊनां न यदूनां इति पदच्छेदः । अतितरामतिमात्रम् । अव्ययादाम्प्रत्ययः । नखैर्लूनं क्षतं नखलूनम् । "ल्वादिभ्यश्च" इति निष्ठानत्वम् । तथाप्युज्ज्वलतया औज्ज्वल्येन ऊनं न न्यूनं किन्तु समग्रमेवेत्यर्थः । नखक्षतानां कामिनीगात्रमण्डनत्वादिति भावः । अत एवाशु हृदयं प्रियचित्तं क्षोभं विकारं नयत् प्रापयत् । नयते-

र्लटः शत्रादेशः । योपिता गात्र यदूना यादवानां रागवृद्धिम् ऊना नाकरोत् खलु । किन्तु भूयोऽपि समग्रमेवाकरोदित्यर्थः । अत्र यमक शब्दालकारः । औज्ज्वल्यस्य विशेषणगत्या राग-वृद्धिहेतुत्वात्काव्यलिङ्गमर्थालङ्कार ॥ ९० ॥

इति मदमदनाभ्यां रागिणः स्पष्टरागानवरतरतश्रीसङ्गि-
नस्तानवेक्ष्य । अभजत परिवृत्तिं साथ पर्यस्तहस्ता रज-
निरवनतेन्दुर्लज्जयाधोमुखीव ॥ ९१ ॥

इति श्रीमाघकविकृतौ शिशुपालवधे महाकाव्ये सुरत-
वर्णनं नाम दशमः सर्गः ॥ १० ॥

इतीति । इतीत्थं मदमदनाभ्या स्पष्टरागान् सर्वदा रागित्वेऽपि तदा ताभ्यामपि व्यक्ति-तरागानित्यर्थः । अनवरतरतश्रीसङ्गिन. अविच्छिन्नसुरतसम्पल्लम्पटान् तान् रागिणो रागिण्यश्च रागिणश्च तान् रागिणः । " पुमान् स्त्रिया " इत्येकशेषः । अवेक्ष्य अथावेक्षणानन्तरं पर्यस्त· परिवृत्तो हस्तो नक्षत्रविशेष. करश्च यस्याः सा । ' हस्तो नक्षत्रभेदे स्यात्करेभकरयोरपि ' इत्यु-भयत्रापि विश्वः । अवनतेन्दुः स्रस्तचन्द्रा अत एव सा रजनिर्लज्जया । ग्राम्यचेष्टादर्शनजनितये-ति भाव. । अधोमुखी नम्रमुखीवेत्युत्प्रेक्षा । परिवृत्तिं निवृत्त्युन्मुखतामभजत । प्रभातप्रायाऽभूदि-त्यर्थः । स्त्रियो हि परकीयग्राम्यचेष्टादर्शने त्रपावनतमुख्यो हस्तेन दृष्टिमन्तर्धाय द्रागपसर-न्तीति भावः । अत एवानन्तरसर्गे प्रभातवर्णनाय प्रस्तावः । मालिनी वृत्तमेतत् । लक्षण तत्र वक्ष्यते चोत्तरसर्गादौ ॥ ९१ ॥

इति श्रीमहामहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचिते माघकाव्यव्याख्याने
सर्वङ्कषाख्ये दशमः सर्गः ॥ १० ॥

शिशुपालवधे महाकाव्ये
पूर्वार्द्धं समाप्तम् ।

श्रीः ।

शिशुपालवधम् ।

उत्तरार्द्धम् ।

एकादशः सर्गः ।

अथ प्रस्तुतं प्रभातवर्णनं प्रारभते—

**श्रुतिसमधिकमुच्चैः पञ्चमं पीडयन्तः सततमृषभहीनं भिन्नकी-
कृत्य षड्जम् । प्रणिजगदुरकाकुश्रावकस्निग्धकण्ठाः परि-
णतिमिति रात्रेर्मागधा माधवाय ॥ १ ॥**

श्रुतीति । नास्ति काकुर्येस्येत्यकाकुरविकृतध्वनि. । 'काकु· स्त्रियां विकारो यः शोक. भीत्यादिभिर्ध्वनेः' इत्यमरः । श्रावतीति श्रावको दूरध्वनिः स्निग्धो मधुरः कण्ठः स्वरो येपा ते अकाकुश्रावकस्निग्धकण्ठा. रक्तकण्ठा इत्यर्थ. । मागधा वैतालिकाः श्रुतयो नाम षड्जादि· स्वरारम्भकावयवा. शब्दविशेपाः । तदुक्तम् 'प्रथमश्रवणाच्छब्दः श्रूयते ह्रस्वमात्रिकः । सा श्रुतिः सम्परिज्ञेया स्वरावयवलक्षणा ' इति । ताभि· श्रुतिभिः समधिक बहुल षड्जविशेषण पञ्चमविशेपण वा, उभयोरपि तथात्वात् । तदुक्तम् 'चतुश्चतुश्चतुश्चैव षड्जमध्यमपञ्चमा. । द्वे द्वे निषादगान्धारौ त्रींस्त्रीनृषभधैवतौ' इति । षड्जो मयूरस्य कूजितानुकारी स्वरविशेषः । 'षड्ज .मयूरो वदति' इति लक्षणात् । त षड्ज भिन्न एव भिन्नकरत कृत्वा भिन्नकीकृत्य तत्कालनिषिद्धस्वरासङ्कीर्णं कृत्वेत्यर्थः । पञ्चमो नाम कोकिलकूजितानुकारी स्वरविशेष· । 'पिकः कूजति पञ्चमम्' इति लक्षणात् । त पञ्चमं पीडयन्तः तत्कालनिषेधात्परित्यजन्त इत्यर्थः । सतत वीणादिवाद्ययुक्तम् । 'तत वीणादिक वाद्यम्' इत्यमरः । ऋषभोऽपि वृषभनर्दितानुकारी स्वरभेद एव । 'गावस्त्वृषभभाषिण.' इति लक्षणात् । तेन हीन तस्याऽपि तत्कालनिषिद्धत्वादित्यर्थ· । सतत ऋषभहीनञ्च यथा तथा रात्रेः परिणतिं परिवृत्तिमित्यर्थः । इति वक्ष्यमाणप्रकारेणोच्चैर्यथा तथा माधवाय कृष्णाय । क्रियाग्रहणात् सम्प्रदानत्वम् । प्रणिजगदुर्गानेनाचख्युरित्यर्थः । ''नेर्ग दनद'' इत्यादिना णत्वम् । पञ्चमादिनिषेधे भरतः । 'प्रभाते सुतरा निन्द्य ऋषभ पञ्चमोऽपि च । जनयेत्प्रवन ह्युक्षा पञ्चत्व पञ्चमोऽपि च ॥ पञ्चमस्य विशेषोऽय कथितः पूर्वसूरिभिः । प्रगे प्रगीतो जनयेद्दशनस्य विपर्य्ययम्' इति । वृत्त्यनुप्रासोऽलङ्कार· । अस्मिन्सर्गे मालिनीवृत्तम् । "ननमयययुतेय मालिनी भोगिलोकैः" इति लक्षणात् ॥ १ ॥

अथ पूर्वश्लोके इतिशब्दपरामृष्टानन्तरात्रप्रभृत्युत्तरोत्तरक्रमभाविनः प्रभातवृत्तान्तानासर्गसमाप्ति वर्णयन्नाह—

रतिरभसविलासाभ्यासतान्तं न यावन्नयनयुगममीलत्तावदेवाहतोऽसौ । रजनिविरतिशंसी कामिनीनां भविष्यद्विरहविहितनिद्राभङ्गमुच्चैर्मृदङ्गः ॥ २ ॥

रतीति । रतिरभसविलासानां सुरतसम्भ्रमलीलानाम् अभ्यासेनावर्त्तनेन तान्तं क्लान्तं नयनयुगं कर्तृ । कामिनामिति शेषः । यावन्नामीलन्न मुकुलीभवति तावदेवासौ रजनिविरतिशंसी निशावसानसूचक उच्चैर्मृदङ्गः कामिनीनां भविष्यता उत्तरक्षणभाविना विरहेण विहितः कृतो निद्राभङ्गो यस्मिन् कर्मणि तद्यथा तथा आहतस्ताडितः । अत्र विरहशब्देन सामर्थ्यात्तच्चिन्ता लक्ष्यते । अन्यथा असतः साम्प्रतिकनिद्राभङ्गहेतुत्वायोगादिति । अत्र रतितान्तत्वरजनिविरतिशंसनयोर्विशेषणगत्या नेत्रानिमीलननिद्राभङ्गहेतुत्वात्पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गं ॥ २ ॥

स्फुटतरमुपरिष्टादल्पमूर्तेर्ध्रुवस्य स्फुरति सुरमुनीनां मण्डलं व्यस्तमेतत् । शकटमिव महीयः शैशवे शार्ङ्गपाणेश्चपलचरणकाब्जप्रेरणोत्तुङ्गिताग्रम् ॥ ३ ॥

स्फुटेति । अल्पमूर्तेर्दूरत्वात्सूक्ष्मबिम्बस्य ध्रुवस्यौत्तानपादेः । 'ध्रुव औत्तानपादिः स्यात्' इत्यमरः । उपरिष्टात् स्फुटतरम् उज्ज्वलतरं व्यस्तं पर्यस्तमेतत् सुरमुनीनां सप्तर्षीणां मण्डलं शार्ङ्गपाणेः केशवस्य कृष्णस्य तवेत्यर्थः । शैशवे प्रचलितस्य चपलस्य चरणकाब्जस्याल्पचरणारविन्दस्य । "अल्पे" इत्यल्पार्थे कन्प्रत्ययः । प्रेरणया नोदनेनोत्तुङ्गितमुत्तुङ्गीकृतमग्रं यस्य तत् विपर्यासिताग्रमित्यर्थः । महीयो महत्तरं शकटमिव शकटाकारं शकटासुरशरीरमिव स्फुरति दीप्यते । उपमालङ्कारः । पुरा किल बाल्ये कृष्णः शकटरूपधारिणं शकटासुरं पादघातेन पातयामासेति पौराणिकी कथात्रानुसन्धेया ॥ ३ ॥

प्रहरकमपनीय स्वं निदिद्रासतोच्चैः प्रतिपदमुपहूतः केनचिज्जागृहीति । मुहुरविशदवर्णां निद्रया शून्यशून्यां ददपि गिरमन्तर्बुध्यते नो मनुष्यः ॥ ४ ॥

प्रहरकमिति । स्वं स्वकीयं स्वपाल्यमित्यर्थः । प्रहर एव प्रहरको यामः । 'द्वौ यामप्रहरौ समौ' इत्यमरः । तमपनीय नीत्वा निदिद्रासता निद्रातुमिच्छता । निद्रातेः सन्नन्ताल्लटः शत्रादेशः । केनचिदतीतप्रहरपालेनेत्यर्थः । जागृहि प्रबुध्यस्वेति प्रतिपदं पदेपदे उच्चैरुपहूतो मनुष्योऽनन्तरयामिको मुहुर्निद्रया अविशदवर्णाम् अस्पष्टाक्षरामत एव शून्यशून्यां शून्यप्रकारामनश-

प्रायामित्यर्थः । "प्रकारे गुणवचनस्य" इति द्विर्भावः "कर्मधारयवदुत्तरेषु" इति कर्मधारयवद्भावादव्ययत्वात्सुपो लुक् । गिरमयमहं जागर्मीति प्रतिवाचं ददद्पि प्रयच्छन्नपि । "नाभ्यस्ताच्छतुः" इति नुमागमप्रतिषेधः । अन्तरन्तःकरणे नो बुध्यते न जागर्ति बुध्यतेर्दैवादिकात्कर्त्तरि लट् । अत्राप्रबोधप्रतिवचनदानयोर्विरोधे अपिशब्दः । निद्राह्वानास्या तत्समाधानाद्विरोधाभासोऽलङ्कारः ॥ ४ ॥

विपुलतरनितम्बाभोगरुद्धे रमण्याः शयितुमनधिगच्छन् जीवितेशोऽवकाशम् । रतिपरिचयनश्यन्नैद्रतन्द्रः कथंचिद्गमयति शयनीये शर्वरीं किङ्करोतु ॥ ५ ॥

विपुलेति । रमण्या विपुलतरस्य नितम्बस्याभोगेन विस्तारेण रुद्धे आक्रान्ते शयनीये शयितुमवकाशमनधिगच्छन् अलभमानो जीवितेशः प्रेयान् रतिपरिचयेन पुनः पुनः सुरतावृत्त्या नश्यन्ती निवर्त्तमाना निद्राया इयं नैद्री निद्राप्रयुक्ता तन्द्रा आलस्यं यस्य स तथाभूतः सन् शर्वरीं कथंचिद्गमयति कृच्छ्रेण नयति किङ्करोतु किमन्यत्कुर्यात् । शयनानवकाशे सुरतमेव कालयापनोपाय इति तत्रैव प्रवृत्त इति भावः । अत्र शयनीयस्येदृग्रोधासम्बन्धेऽपि तत्सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिरलंकारः । तादृग्रोधस्य विशेषणगत्या शयनावकाशानधिगमहेतुत्वात्काव्यलिङ्गभेद इति संकरः ॥ ५ ॥

क्षणशयितविबुद्धाः कल्पयन्तः प्रयोगानुदधिमहति राज्ये काव्यवद्दुर्विगाहे । गहनमपररात्रप्राप्तबुद्धिप्रसादाः कवय इव महीपाश्चिन्तयन्त्यर्थजातम् ॥ ६ ॥

क्षणेति । क्षणं शयिताः सुरतश्रमापनोदाय विसुप्ताः विबुद्धाः तदैव प्रबुद्धाः । यथाकालं प्रबुद्धत्वादिति भावः । क्षणशयितविबुद्धाः । स्नातानुलिप्तवत्, "पूर्वकाल" इत्यादिना समासः । महीपाः कवय इव अपररात्रे । रात्रेः पश्चिमयाम इत्यर्थः । "पूर्वापरा" इत्यादिना एकदेशिसमासे समासान्तः अच् । "रात्राह्नाहाः पुंसि" इति पुंस्त्वम् । तत्र प्राप्तबुद्धिप्रसादाः लब्धबुद्धिप्रकाशाः सन्तः उदधिमहति समुद्रगम्भीरे एकत्र तुरगादिभिरपरत्र रसभावादिभिश्चेति भावः । अत एव दुर्विगाहे दुष्प्रवेशे राज्ये काव्ये इव काव्यवत् । "तत्र तस्येव" इति वतिप्रत्ययः प्रयोगान् । सामाद्युपायानुष्ठानानि अन्यत्रार्थगुणसाधुशब्दगुम्फान् कल्पयन्तस्तर्कयन्तः । 'ब्राह्मे मुहूर्ते उत्थाय चिन्तयेदात्मनो हितम्' इति स्मरणादिति भावः । गहनं दुष्प्रापमन्यत्र दुर्दर्शमर्थजातं पुरुषार्थजातम् । त्रिवर्गमित्यर्थः । अन्यत्र वाच्यलक्ष्यव्यङ्ग्यरूपमभिधेयजातं चिन्तयन्ति विचारयन्ति । इवशब्दस्योपलक्षणत्वात्काव्यवदिति वतिप्रत्ययेऽप्यनेकशब्दार्थगता श्रौती पूर्णा वाक्यार्थोपमा । काव्यवदिति तद्धितगता कवय इवेति समासगता चेति संकीर्णा ॥ ६ ॥

क्षितितटशयनान्तादुत्थितन्दानपङ्कप्लुतबहुलशरीरं शाय-यत्येष भूयः। मृदुचलदपरान्तोदीरितान्दूनिनादङ्गजपतिम-धिरोहः पक्षकव्यत्ययेन ॥ ७॥

क्षितीति। । क्षितितट भूतलमेव शयनान्तः शयनस्थान तस्मादुत्थित सुप्तोत्थितमित्यर्थः अत एव दानपकप्लुतबहुलशरीर मदकर्दमोक्षितमहाकाय गजपतिमेषः अधिरोहतीत्यधिरोह आरोहणः। पचाद्यच्। मृदु मन्द चलता अपरान्तेन पश्चिमपादेनोदीरित उत्पादितोऽन्दूनिनाद शृङ्खलारवो यस्मिन् कर्म्मणि तद्यथा तथा। पक्ष एव पक्षक. पार्श्व'। 'पक्ष पार्श्वगरुत्साध्यसहायफलभित्तिषु' इति वैजयन्ती। तस्य व्यत्ययेन पार्श्वान्तरेणेत्यर्थः। भूय शाययति शयन कारयति। "गतिबुद्धि" इत्यादिना अणि कर्त्तुः कर्मत्वम्। स्वभावोक्तिरलङ्कारः ॥ ७ ॥

द्रुततरकरदक्षाः क्षिप्तवैशाखशैले दधति दधनि धीरानारवा-न्वारिणीव। शशिनमिव सुरौघाः सारमुद्धर्त्तुमेते कलशिमुद-धिगुर्वीं बल्लवा लोडयन्ति ॥ ८॥

द्रुतेति। दुततरकरा अतिलघुहस्तास्ते च ते दक्षाश्च वल्लवा गोपाला'। 'आभीरः स्यान्महाशूद्रो गोपालो वल्लवस्तथा' इति वैजयन्ती। विशाखा प्रयोजनमस्येति वैशाखो मन्थलदण्ड। 'वैशाखमन्थमन्थानमन्थानो मन्थदण्डके' इत्यमर। "विशाखापाढादण् मन्थदण्डयो" इत्यण् प्रत्ययः। वैशाख' शैल इवेत्युपमितसमासः। साहचर्य्यात्क्षिप्तो वैशाखशैलो यस्मिन् वीरान् गम्भीरानारवान्दधति दधनि दध्नि। "विभाषा ङिश्योः" इति विकल्पादल्लोपाभाव'। वारिणीव सुरौघाः शशिनमिव सार नवनीतमुद्धर्तुम उ कण्टुमुदधिरिव गुर्वीम्। "उपमानानि सामान्यवचनैः" इति समास'। ता कलशिं कुम्भीमेते लोडयन्ति मथ्नन्ति। एषापि पूर्वतरवत् पूर्णा वाक्यार्थोपमा वाक्यसमाससंकीर्णा च ॥ ८ ॥

अनुनयमगृहीत्वा व्याजसुप्ता पराचीरुतमथ कृकवाकोस्ता-रमाकर्ण्य कल्य। कथमपि परिवृत्ता निद्रयाऽन्धा किल स्त्री मुकुलितनयनैवाश्लिष्यति प्राणनाथम् ॥ ९ ॥

अनुनयमिति। अनुनय प्रियप्रार्थनामगृहीत्वा नाङ्गीकृत्य पराची पराङ्मुखी व्याजेन कपटेन सुप्ता स्त्री अथ कल्ये प्रभाते। 'प्रत्यूषोऽहर्मुख कल्यम्' इत्यमर.। कृकवाको कुक्कुटस्य। 'कृकवाकुस्ताम्रचूडः कुक्कुटश्चरणायुधः' इत्यमरः। "कृके वच. कश्च" इत्युण् प्रत्यय। तारमुच्चै' रुत कूजितमाकर्ण्य कथमपि गात्रजृम्भणादि व्याजेन परिवृत्ता सम्मुखीभूता निद्रयान्धा किल अजानतीव मुकुलितनयनैव मीलिताक्षी सत्येव प्राणनाथमाश्लिष्यति। एषा कलहान्तरिता ॥ ९ ॥

गतमनुगतवीणैरेकतां वेणुनादैः कलमविकलतालं गायकैर्बोधहेतोः । असकृदनवगीतं गीतमाकर्णयन्तः सुखमुकुलितनेत्रा यान्ति निद्रां नरेन्द्राः ॥ १० ॥

गतमिति । अनुगतवीणैरनुसृततन्त्रीणैर्वीणासंवादिभिर्वेणुनादैर्वंशस्वरैः एकतामेकरूपता गत कलमव्यक्तमधुरम् अविकलोऽविसंवादी ताल कास्यादितालो यस्य तत् बोध एव हेतुस्तस्य बोधहेतो बोधकारणेन बोधनार्थमित्यर्थ. । फलस्यापि कारणत्वमिच्छाद्वारा स्वर्गादिवत् फलरागस्य तत्साधनप्रवृत्तिहेतुत्वात् षष्ठी । गायकैर्वैतालिकैरसकृनगीनमगर्हितम् । 'अवगीतं तु निर्वादे मुहुर्दृष्टेऽपि गर्हिते' इति विश्व. । गीत गीयमान वस्तु । आवृत्तिर्वा गीतशब्दस्य । गीत गान समाकर्णयन्तो नरेन्द्रा सुखेन गानसुखेन मुकुलितनेत्रा निमीलिताक्षाः सन्तः निद्रा यान्ति भजन्ति । वृत्त्यनुप्रासोऽलङ्कार. ॥ १० ॥

परिशिथिलितकर्णग्रीवमामीलिताक्षः क्षणमयमनुभूय स्वप्नमूर्ध्वज्ञुरेव । रिरसयिषति भूयः शष्पमग्रे विकीर्णं पटुतरचपलोष्ठः प्रस्फुरत्प्रोथमश्वः ॥ ११ ॥

परीति । अयमश्व' परिशिथिलित स्रस्तमुक्त कर्णग्रीव कर्णौ च ग्रीवा च यस्मिन् कर्मणि तद्यथा तथा आमीलिताक्षः ऊर्ध्वे जानुनी यस्य स ऊर्ध्वज्ञु ऊर्ध्वजानुस्तिष्ठन्नित्यर्थः । 'ऊर्ध्वज्ञुरूर्ध्वजानु स्यात्' इत्यमर. । "ऊर्ध्वाद्विभाषा" इति जानुशब्दस्य ज्ञुपदेशः । क्षण स्वप्न निद्रामनुभूय उत्तमाश्वलक्षणमेतत् । भूयः पुनरपि पटुतरौ ग्रासग्रहणसमर्थौ चपलौ चञ्चलौ चोष्ठौ यस्य स सन् प्रस्फुरत्प्रोथ प्रस्फुरमाणघोण यथा तथा । 'घोणा तु प्रोथमस्त्रियाम्' इत्यमरः । अग्रे विकीर्ण क्षिप्तं शष्प घास 'शष्प बालतृण घास' इत्यमर । रिरसयिषति रसयितुमास्वादयितुमिच्छति । रसयते सन्नन्ताल्लट् । स्वभावोक्तिरलङ्कारः । 'स्वभावोक्तिरसौ चारु यथावद्वस्तुवर्णनम्' ॥ ११ ॥

उदयमुदितदीप्तिर्याति यः सङ्गतौ मे पतति न वरमिन्दुः सोऽपरामेष गत्वा । स्मितरुचिरिव सद्यः साभ्यसूयं प्रभेति स्फुरति विशदमेषा पूर्वकाष्ठाङ्गनायाः ॥ १२ ॥

उदयमिति । य इन्दुः मे मम सगतावुदितदीप्ति. प्रवृद्धद्युति सन् उदयमुदयाद्रिम् अभ्युदयञ्च याति स इन्दुरेषोऽपराम्पश्चिमाशा परागनाञ्च गत्वा पतति अस्तमेति पातित्यञ्च गच्छति न वरमनर्हमित्यर्थः । इति सद्य साभ्यसूयं यथा तथा पूर्वकाष्ठा प्राची सैवागना पूर्वनायिका च गम्यते । तस्याः स्मितरुचिर्मन्दहासकान्तिरिवैषा प्रभा विशद निर्मल स्फुरति प्रकाशते । प्राच्या मीषद्विशदा प्रभा प्रादुरभूदित्यर्थ । अत्र प्राचीगतप्राभातिकप्रभायामिन्दोः पराङ्गनासङ्गपातित्यनिमित्ता चेतनधर्मस्मितरुचित्वोत्प्रेक्षा पूर्वकाष्ठाङ्गनाया इति रूढिव्यूढेत्यनयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः॥ १२॥

चिररतिपरिखेदप्राप्तनिद्रासुखानां चरममपि शयित्वा पूर्वमेव प्रबुद्धाः । अपरिचलितगात्राः कुर्व्वते न प्रियाणामशिथिलभुजचक्राश्लेषभेदं तरुण्यः ॥ १३ ॥

चिरेति । चरममपि शयित्वा पश्चात् सुप्ता अपि पूर्वमेव प्रबुद्धाः । 'सुप्ते पश्चाच्च या शेते पूर्वमेव प्रबुध्यते । नान्य कामयते चित्ते सा स्त्री ज्ञेया पतिव्रता' इति स्मरणादिति भावः । तथापि तरुण्यः अपरिचलितगात्राः अस्पन्दवपुष्काः सत्यः चिररतिपरिखेदेन प्राप्तनिद्रासुखानां प्रियाणाम् अशिथिलो गाढो यो भुजचक्रेण परस्परभुजवलयेनाश्लेषः तस्य भेदं विश्लेषं विस्रसनं न कुर्वते किन्त्वाश्लिष्यैव स्थिता । अन्यथा तन्निद्राभङ्गः स्यात् । 'शयानं न प्रबोधयेत्' इति निषेधात्स्कन्दनभयादिति भावः । रतिश्रमोऽत्र सञ्चारी तदनुभावो निद्रा ॥ १३ ॥

कृतधवलिमभेदैः कुंकुमेनेव किंचिन्मलयरुहरजोभिर्भूषयन् पश्चिमाशाम् । हिमरुचिररुणिम्ना राजते रज्यमानैर्जरठकमलकन्दच्छेदगौरैर्मयूखैः ॥ १४ ॥

कृतेति । हिमरुचिश्चन्द्रः अरुणिम्ना अस्तमयरागेण हेतुना रज्यमानैर्लोहितायमानैः रञ्जेर्दैवादिकात्कर्त्तरि शानच् "अनिदिताम्" इति नलोपः । त्रीणि रज्यति राजति लोहितायति चात्मन इति भट्टमल्लः । जरठस्य परिणतस्य कमलकन्दस्य छेदा इव गौराः शुभ्राः । छेदग्रहणम् धावल्यार्थम् । 'गौरः पीते सितेऽरुणे' इति विश्वः । तैर्मयूखैः कुकुमेन किञ्चित्कृतो धवलिमभेदो धावल्यभङ्गो येषां तैरीषद्भ्रस्वधावल्यैः मलयरुहरजोभिश्चन्दनरेणुभिरिव पश्चिमाशां प्रेयसीमिवेति भावः । भूषयन् राजते उपमालङ्कारः ॥ १४ ॥

दधदसकलमेकं खण्डितामानमद्भिः श्रियमपरमपूर्णामुच्छ्वसद्भिः पलाशैः । कलरवमुपगीते षट्पदौघेन धत्तः कुमुदकमलषण्डे तुल्यरूपामवस्थाम् ॥ १५ ॥

दधदिति । एकं कुमुदषण्डमानमद्भिर्मुकुलीभवद्भिः पलाशैर्दलैरसकलमर्द्धं खण्डितां क्षीयमाणामित्यर्थः । श्रियं दधत् अपरं कमलषण्डमुच्छ्वसद्भिः विकसद्भिः पलाशैरपूर्णां वर्द्धमानां श्रियं दधत् षट्पदौघेन कलरवं यथा तथा उपगीते उभे अपीत्यर्थः । कुमुदकमलषण्डे कुमुदानां कमलानां च षण्डे कदम्बे । 'कदम्बे षण्डमस्त्रियाम्' इत्यमरः । तुल्यरूपामवस्थां धत्त दधाते अत्र क्षयवृद्ध्योरर्थप्रवृत्तेरैकरूप्ये कस्य क्षयः कस्य वा वृद्धिरिति दुर्ग्रहमिति भावः । अत्रोभयविशेषणानां तुल्यावस्थाधारणहेतुकत्वात् काव्यलिङ्गम् । तेन द्वयोः क्रमेणोपमानोपमेयभावरूपोपमेयोपमा व्यज्यते ॥ १५ ॥

मदरुचिमरुणेनोद्गच्छता लम्भितस्य त्यजत इव चिराय स्थायिनीमाशु लज्जाम्। वसनमिव मुखस्य स्रंसते संप्रतीदं सितकरकरजालं वासवाशायुवत्याः॥ १६॥

मदेति। सम्प्रति सितकरस्येन्दो. इदं करजलं कर्तृ। उद्गच्छता उद्यता अरुणेन अनूरुणा मदरुचि तत्तुल्या रुचिमरुणिमानमित्यर्थ'। अत एव निदर्शनालकार.। लम्भितस्य प्रापितस्य। लभेर्ण्यन्तात्कर्मणि क्त. "लभेरशब्लिटो:" इति नुमागमः। अत एव चिराय स्थायिनीं लज्जामाशु त्यजत इव मुखप्रकाशनादियमुत्प्रेक्षा। वासवाशा प्राची तस्या एव युवत्या मुखस्य प्राग्भागस्याननस्य च वसनमिवावकुण्ठनपट इव स्रसते गलति। रक्ता स्त्रिय. पाटलमुखा निर्लज्जा स्रस्तवस्त्राश्च भवन्तीति भाव। अत्र मुखस्येति प्राग्भागवदनयोरभेदाध्यसायात् श्लेषमूलातिशयोक्ति.। तया पूर्वोक्तनिदर्शनोत्प्रेक्षाभ्यां चानुगृहीता वसनमिवेत्युत्प्रेक्षेति सकरः॥ १६॥

अविरतरतलीलायासजातश्रमाणामुपशममुपयान्तं निस्सहेऽङ्गनानाम्। पुनरुषसि विविक्तैर्मातरिश्वावचूर्ण्य ज्वलयति मदनाग्निं मालतीनां रजोभिः॥ १७॥

अविरतैरिति। अविरतरतलीलायासेनाविच्छिन्नसुरतक्रीडाप्रयासेन जातश्रमाणामङ्गनानां सम्बन्धिनि निस्सहत इति निस्सहे अक्षमे। पचाद्यच्। अङ्गे उपशमनमुपयान्तं शाम्यन्तं मदन एवाग्निस्त पुनरुषसि मातरि अन्तरिक्षे श्वयति वर्द्धते इति मातरिश्वा। 'श्वन्नुक्षन्'-इत्यादिना औणादिको निपातः। विविक्तैरमलैर्नोर्भिश्च मालतीना जातीकुसुमानाम्। 'सुमना मालती जाति.' इत्यमरः। रजोभिः परागैः करीषैरिवेति भाव। अवचूर्ण्य अवध्वस्य सयुज्येति भावः। ज्वलयत्युद्दीपयति प्राभातिकमालतीवातस्पर्शात्पुनरुद्बुद्धो मदन इत्यर्थः॥ १७॥

अनिमिषमविरामा रागिणां सर्व्वरात्रं नवनिधुवनलीलाः कौतुकेनातिवीक्ष्य। इदमुदवसितानामस्फुटालोकसम्पन्नयनमिव सनिद्रं घूर्णते दैपमर्चिः॥ १८॥

अनिमिषमिति। इद पुरोवर्त्ति अस्फुटा सूर्य्यतेजोभिभवान्मन्दायमाना आलोकसम्पत् प्रकाशसम्पत्तिर्यस्य तत् अन्यत्र निद्राभिभवादनुद्बुद्धविषयावधानशक्तिक दीपस्येद दैपमर्चिर्ज्वाला 'ज्वालाभासोर्न पुस्यर्चिः' इत्यमरः। सर्वस्या रात्राविति सर्वरात्रम् "पूर्वकाल" इत्यादिना समासः। "अहस्सर्व" इत्यादिना समासान्तः, "रात्राह्नाहाः पुंसि" इति पुल्लिङ्गता "अत्यन्तसंयोगे द्वितीया" इति द्वितीया। अविरामाः अविच्छिन्नाः रागिणा कामिना कामिनीगा च। "पुमान् स्त्रिया" इत्येकशेषः। नवाः निधुवनलीलाः सुरतविलासान्। 'व्यवायो ग्राम्यधर्मो मैथुन निधुवन रतम्' इत्यमरः। कौतुकेन न निमिषतीत्यनिमिष यथा तथा। पचाद्यच्। कुटा-

दित्वान्न गुणः । अतिवीक्ष्य अत इव सनिद्रम् उदवसितानां गृहाणां सम्बन्धि । 'गृहं गेहोदवसितं वेश्म सद्म निकेतनम्' इत्यमरः । नयनमिवेत्युत्प्रेक्षा । घूर्णते भ्रमति ॥ १८ ॥

विकचकमलगन्धैरन्धयन्भृङ्गमालाः सुरभितमकरन्दं मन्दमावाति वातः । प्रमदमदनमाद्यद्यौवनोद्दामरामारमणरभसखेदस्वेदविच्छेददक्षः ॥ १९ ॥

विकचेति । प्रमदमदनाभ्यां हर्षमन्मथाभ्यां माद्यन्तीनां यौवनेनोद्दामानां च रामाणां स्त्रीणां रमणरभसखेदेन सुरतसरम्भश्रमेण यः स्वेदः तस्य छेदे हरणे दक्षो वातः प्रभातमारुतः विकचकमलगन्धैर्भृङ्गमाला अन्धयन्नन्धाः कुर्वन्मोहयन् । अन्धयते "तत्करोति" इति ण्यन्ताल्लटः शत्रादेशः । सुरभितं सुरभीकृतो मकरन्दो यस्मिन् कर्म्मणि तद्यथा तथा मन्दमावाति प्रचलति । अत्र वृत्त्यनुप्रासोऽलङ्कारः । "श्लेषः प्रसादः समता माधुर्य्यं सुकुमारता । अर्थव्यक्तिरुदारत्वमोजःकान्तिसमाधयः" इति आचार्य्योक्ता दश गुणाः प्रायेणात्र सम्भवन्तीति निपुणैरुन्नेया ॥ १९ ॥

लुलितनयनताराः क्षामवक्त्रेन्दुबिम्बा रजनय इव निद्राक्लान्तनीलोत्पलाक्ष्यः । तिमिरमिव दधानाः स्रंसिनः केशपाशानवनिपतिगृहेभ्यो यान्त्यमूर्वारवध्वः ॥ २० ॥

लुलितेति । लुलितनयनताराः निद्राकलुषिताक्षिकनीनिकाः अन्यत्राप्रसन्ननक्षत्राः 'ऋक्षाक्षिमध्ययोस्तारा' इति विश्वः । वक्त्राणीन्दुबिम्बानीत्युपमितसमासः । तिमिरमिवेत्यादिलिङ्गात् । अन्यत्र वक्त्राणीवेन्दुबिम्बानि । तानि क्षामाणि सुरतप्रभाताभ्यां म्लानानि यासां ताः निद्रया स्वप्नेन मुकुलीभावेन क्लान्तानि नीलोत्पलानि अक्षीणीव नीलोत्पलानीव चाक्षीणि यासां ताः स्रंसिनः केशपाशान् तिमिरमिवान्यत्र तु तानिव तिमिरं दधानाः अत एव रजनय इव स्थिताः अमूर्वारवध्वो वेश्याः । 'वारस्त्री गणिका वेश्या' इत्यमरः । अवनिपतिगृहेभ्यो यान्ति निर्यान्ति । श्लिष्टविशेषणेयमुपमेत्येके । श्लेष एवायमुभयविषयः । उपमा तु प्रतिभामात्रसारा इत्यन्ये ॥ २० ॥

शिशिरकिरणकान्तं वासरान्तेऽभिसार्य्य श्वसनसुरभिगन्धिः साम्प्रतं सत्वरेव । व्रजति रजनिरेषा तन्मयूखाङ्गरागैः परिमलितमनिन्द्यैरम्बरान्तं वहन्ती ॥ २१ ॥

शिशिरेति । एषा रजनिर्वासरान्ते रात्रौ शिशिरकिरणश्चन्द्रस्तमेव कान्तमभिसार्याभिसृत्य । स्वार्थे णिच् । साम्प्रतं श्वसनैः तत्कालवातैः निश्वासैश्च सुरभिगन्धि सुगन्धि अनिन्द्यैः मनोहरैर्मयूखैरेवाङ्गरागैः परिमिलितं व्याप्तं वासितञ्चाम्बरान्तं नभः प्रान्तं वस्त्रान्तञ्च-

वहन्ती भजन्ती सत्वरेव व्रजति। अत्रेन्दुतन्मयूखादीना कान्तत्वांगरागत्वादिरूपणावगमादेकदेशविवर्ति रूपकम् ॥ २१ ॥

नवकुमुदवनश्रीहासकेलिप्रसङ्गादधिकरुचिरशेषामप्युषाञ्जागरित्वा। अयमपरदिशोऽङ्के मुंचति स्रस्तहस्तः शिशयिषुरिव पाण्डुं म्लानमात्मानमिन्दुः ॥ २२ ॥

नवेति। अधिकरुचिरयममिन्दुर्नवकुमुदवनश्रियो हासः विकासः परिहासश्च स एव केलिःस्तस्याम्प्रसङ्गादासङ्गादशेषामप्युषां सकलामपि रात्रिम्। 'विभावरी नक्तमुषा शर्वरी' इति विश्व। "अत्यन्तसंयोगे द्वितीया"। जागरित्वा जागरणं कृत्वा शिशयिषुः शयितुमिच्छुरिव। शेते सन्नन्तादुप्रत्ययः। स्रस्तो हस्तो नक्षत्रविशेषः करश्च यस्य स सन् अपरदिशः पश्चिमदिशोऽङ्के समीपे उत्संगे च पाण्डु पाण्डुवर्ण म्लानं क्लान्तमात्मान स्वशरीर मुञ्चति। दक्षिणनायकः कयाचित्सह विहृत्य श्रान्तः कस्याश्चिदङ्के शेते तद्वदिति भावः। अत्र प्रहासकेल्यङ्ककरस्रंसनादिव्यवहारादिन्दुकुमुदवनश्रीपश्चिमाना नायकत्वप्रतीतेः समासोक्तिरलङ्कारः। विशेषणसाम्ये तूपलक्षणमित्यलङ्कारसर्वस्वकारः। सा चोत्प्रेक्षासकीर्णा ॥ २२ ॥

सरभसपरिरम्भारम्भसंरम्भभाजा यदधिनिशमपास्तं वल्लभनांगनायाः। वसनमपि निशान्ते नेष्यते तत्प्रदातुं रथचरणविशालश्रोणिलोलेक्षणेन ॥ २३ ॥

सरभसेति। अधिनिश निशाया विभक्त्यर्थेऽव्ययीभाव.। सरभसः सत्वर परिरम्भ एवारम्भो व्यापारस्तत्र सरम्भस्तद्भाजा वल्लभेनागनाया सम्बन्धि यत्वसनम अपास्त तद्वसनं निशान्ते प्रभातेऽपि रथचरण चक्र तद्वद्विशालाया श्रोणौ लोल सतृष्णमीक्षण यस्य तेन वल्लभेन प्रदातु नेष्यते अत्र वसनाप्रतिदानस्य श्रोणीक्षणलौल्यहेतुकत्वात्काव्यलिगम् ॥ २३ ॥

सपदि कुमुदिनीभिर्मीलितं हा क्षपापि क्षयमगमदपेतास्तारकास्ताः समस्ताः। इति दयितकलत्रश्चिन्तयन्नंगमिन्दुर्वहति कृशमशेषं भ्रष्टशोभं शुचेव ॥ २४ ॥

सपदीति। सपदि सद्यः कुमुदिनीभिर्मीलितम्। भावे क्तः। हा हन्त क्षपा रात्रिरपि क्षयमगमत् ता समस्तास्तारका अपेता इति शुचा शोकेन चिन्तयन्निव दयितकलत्रः प्रियभार्य इन्दुः कृशमशेष निश्शेष यथा तथा भ्रष्टशोभ नष्टप्रभमग वहति। कलत्रप्रियस्य युगपत्सकलकलत्रनाशे महान् शोको भवतीति भाव। अत्रेन्दोः प्रभातप्रयुक्तागकार्श्यशोभाभ्रंशयोर्युगपत्कुमुदिन्यादिसकलकलत्रनाशनिमित्तहेतुकत्वमुत्प्रेक्ष्यते ॥ २४ ॥

व्रजति विषयमक्ष्णामंशुमाली न यावत्तिमिरमखिलमस्तन्तावदेवारुणेन । परपरिभवि तेजस्तन्वतामाशु कर्तुं प्रभवति हि विपक्षोच्छेदमग्रेसरोऽपि ॥ २५ ॥

व्रजतीति । अंशुमाली सूर्यः व्रीह्यादित्वादिनिप्रत्ययः । यावदक्ष्णा विषय भूमिं न व्रजति न दृश्यत इत्यर्थः । तावदेवारुणेनानूरुणा अखिल तिमिरमस्तमपास्त परेषाम्परिभवि-तिरस्कारकम् । " जिदक्षि " इत्यादिना इनिप्रत्ययः । तेजः प्रताप तन्वता प्रथयताम् अग्रे सरतीत्यग्रेसर पुरस्सरोऽपि । " पुरोऽग्रतोऽग्रेषु सर्तेः " इति टप्रत्ययः । विपक्षस्य शत्रोरुच्छेद कर्तुमाशु प्रभवति शक्नोति हि । सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ २५ ॥

विगततिमिरपङ्कं पश्यति व्योम यावद्धुवति विरहखिन्नः पक्षती यावदेव । रथचरणसमाह्वस्तावदौत्सुक्यनुन्ना सरिदपरतटान्तादागता चक्रवाकी ॥ २६ ॥

विगतेति । विरहेण खिन्न. रथचरणेन चक्रेण समाह्वस्तुल्याख्य तस्यैव समाह्वा नमाख्या यस्येति वा रथचरणसमाह्वश्चक्रवाक इत्यर्थ । ' कोकश्चक्रश्चक्रवाको रथाङ्गाह्वयनामक. ' इत्यमर' । तिमिर पङ्कमिवेत्युपमितसमास । तद्विगतं यस्मात्तद्व्योम यावत्पश्येति यावदेव पक्षती पक्षमूले । 'स्त्री पक्षति पक्षमूलम्' इत्यमरः । "पक्षात्ति." इति तिप्रत्ययः । धुवति उत्पतितुन्धुनोति । 'धू विधूनने' इति धातोस्तौदादिकत्वादुवङादेशः, तावदेवोत्पतनात् प्रागेव चक्रवाकी चक्रवाकस्य स्त्री । " जातेरस्त्रीविषयादयोपधात्' ' इति ङीष् । औत्सुक्येनोत्कण्ठया नुन्ना प्रेरिता सती सरितोऽपरतटान्तात्परभूमे सकाशादागता । एतेनानयोरुन्मनस्कता समश्चानुराग इत्युक्तम् अत्र रागौत्सुक्ययोरसभावयोस्तिर्यग्गतत्वेनाभासयोर्निबन्धनादूर्जस्वी नामालङ्कारः । 'रसभावत-दाभास प्रशमाना निबन्धने । रसवत्प्रेय ऊर्ज्जस्विसमाहितानि' इति लक्षणात् ॥ २६ ॥

मुदितयुवमनस्कास्तुल्यमेव प्रदोषे रुचमदधुरुभय्यः कल्पिता भूषिताश्च । परिमलरुचिराभिर्न्यक्कृतास्तु प्रभाते युवतिभिरुपभोगान्नीरुचः पुष्पमालाः ॥ २७ ॥

मुदितेति । प्रदोषे रात्रौ मुदितानि यूना मनासि याभिस्ता' मुदितयुवमनस्काः । "उरः-प्रभृतिभ्यः कप्" इति कप् । कल्पिता. उपभोगाय सम्पादिता भूषिता वलयवसनादिभिरुपस्कृताश्च उभय्यः उभयविधा. युवतयः पुष्पमालाश्च । "उभादुदात्तो नित्यम्" इति उभस्य अयजादेशः, "टिड्ढाणञ्" इत्यादिना ङीप् । तुल्यमेवाविशेष यथा तथा रुच शोभामदधुर्धृतवत्य । धाञो लङ् । प्रभाते तूपभोगान्नीरुचो निष्प्रभाः पुष्पमालाः परिमलेन विमर्दगन्धेन रुचिराभिरुपभोगादधिसुरभिभिर्युवतिभिर्न्यक्कृतास्त्यक्ताः अवधीरिताश्च । अत्र पुष्पमालाभ्यो युवतीना साम्योक्तिपूर्वकविमर्दसहत्वेनाधिक्योक्तर्व्यतिरेकः ॥ २७ ॥

विलुलितकमलौघः कीर्णवल्लीवितानः प्रतिवनमवधूताशेषशाखिप्रसूनः। क्वचिदयमनवस्थः स्थास्नुतामेति वायुर्वधुकुसुमविमर्दोद्गन्धिवेश्मान्तरेषु ॥ २८ ॥

विलुलितेति । वनेवने प्रतिवनम् । याथार्थ्येऽव्ययीभावः । विलुलिताः व्यालोलिताः कमलौघा येन स कीर्णा विक्षिप्ता वल्लीना माल्यादीना विताना विस्तारा येन स. अवधूतान्यशेषशाखिना बकुलचम्पकादीना प्रसूनानि येन स तथापि क्वचित्पूर्वोक्तकमलवनादौ, कुत्रापि नास्त्यवस्था स्थितिरस्येत्यनवस्थ स्थितिमप्राप्तोऽय वायुर्वधूना कुसुमाना च विमर्देन सवर्षेण उद्गन्धिषु उद्गतगन्धेषु । गन्धस्येत्वम् । वेश्मान्तरेषु गृहान्तरेषु स्थास्नुता स्थायित्वमेति पूर्वोक्तसर्वोत्कृष्टसौरमलोभादिति भावः । "ग्लाजिस्थश्च" इति ग्स्नु प्रत्यय । वधुशब्दो ह्रस्वोकारान्तोऽप्यस्ति । यद्वा मधुकुसुमेति पाठः मधुयुक्तानि कुसुमानि तेषा विमर्देनेत्यर्थ । अत्र वायोरस्थायित्वेऽपि स्थायित्वसम्बन्धोक्तेरतिशयोक्ति । तथा विमर्दगन्धस्य कमलादिगन्धादाधिक्यरूपव्यतिरेकप्रतीतेरलङ्कारेणालङ्कारध्वनिः ॥ २८ ॥

नखपदवलिनाभीसन्धिभागेषु लक्ष्यः क्षतिषु च दशनानामङ्गनायाः सशेषः । अपि रहसि कृतानां वाग्विहीनोऽपि जातः सुरतविलसितानां वर्णको वर्णकोऽसौ ॥ २९ ॥

नखपदेति । नखपदेषु नखक्षतेषु वलिषु त्रिवलिषु नाभ्या सन्धिभागेषु, कूर्परादिदेहसन्धिस्थानेषु तथा दशनाना क्षतिषु दन्तव्रणेषु च सशेषः सावशेषः किञ्चिद्विद्यमान अत एव लक्ष्यो दृश्यः अङ्गनायाः सम्बन्धी असौ वर्णयति वर्णङ्करोति रञ्जयतीति वर्णकोऽङ्गरागो वाग्विहीनो वागिन्द्रियरहितोऽपि सन् रहसि कृतानामपि सुरतविलसिताना सुरतचेष्टिताना वर्णयति वक्तीति वर्णको वक्ता व्यञ्जक इत्यर्थ । वर्णयतेर्ण्वुल्प्रत्ययः । 'वर्णक्रियाया विस्तारे गुणोक्तौ वर्णनेऽप्यदः' इति भट्टमल्लः । जात नखक्षतादिष्वेव लक्ष्यमाणोऽङ्गरागोऽन्यत्र स्वविलोपाच्चेष्टाविशेषानुमापको जात इत्यर्थ. । अत्र वाग्विहीनोऽपि रहस्यकृतानामपि वर्णको वक्तेति विरोधस्य व्यञ्जकवलक्षणया परिहाराद्विरोधाभासोऽलङ्कार ॥ २९ ॥

प्रकटमलिनलक्ष्मा मृष्टपत्त्रावलीकैरधिगतरतिशोभैः प्रत्युषःप्रोषितश्रीः। उपहसित इवासौ चन्द्रमाः कामिनीनाम्परिणतशरकाण्डापाण्डुभिर्गण्डभागैः ॥ ३० ॥

प्रकटेति । उषसि प्रत्युष. । विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः । यद्वा प्रत्युष प्रभातम् । 'उष प्रत्युषसी अपि' इत्यमर । तत्र प्रोषितश्रीर्भ्रष्टशोभ. अत एव प्रकटमलिनलक्ष्मा स्पष्टदृष्टकलङ्कोऽसौ चन्द्रमा मृष्टाः प्रमृष्टा. पत्त्रावल्यः पत्त्रभङ्गा येषा तैः । 'नद्यृतश्च" इति कप् । तथाप्यधिगता

रतिशोभा सम्भोगश्रीर्येषां तैः परिणताः परिपक्वाः शरकाण्डा बाणाख्यतृणकाण्डकाः । 'शरो बाणे बाणतृणे' इति शब्दार्णवे । तद्वदापाण्डुभिः कामिनीनां गण्डभागैर्गण्डस्थलैरुपहसितं इत्युत्प्रेक्षा । पाण्डिमगुणनिमित्ता निष्कलङ्का सकलङ्कं समानमानिनमुपहसन्तीति भावः ॥ ३० ॥

अथ काचित्खण्डिता नायिका सागसं प्रयासं प्रातरागतं पञ्चभिरुपालभते—

सकलमपि निकामं कामलोलान्यनारीरतिरभसविमर्दैर्भिन्नवत्यङ्गरागे । इदमतिमहदेवाश्चर्य्यमाश्चर्य्यधाम्नस्तव खलु मुखरागो यन्नभेदम्प्रयातः ॥ ३१ ॥

सकलमित्यादि । कामेन लोलाया अन्यनार्याः सपत्न्या रतिरभसेषु सुरतसम्भ्रमेषु विमर्दैः पीडनैः रज्यतेऽनेनेति रागः अङ्गस्य रागोऽङ्गरागः विलेपनम् अङ्गविकाशश्च तस्मिन्नङ्गरागे सकलमपि निःशेषं यथा तथा निकामं भिन्नवति विश्लिष्टवति सति आश्चर्य्यधाम्नः सर्वाद्भुतविधानस्य तव मुखरागो मुखविकासो भेदं विश्लेषं न प्रयातः इति यत् इदमेवातिमहदाश्चर्य्यं खलु । मुखस्याप्यङ्गत्वेन तद्रागस्याप्यङ्गरागत्वादिति भावः । अत्र विलेपनविकासाख्ययोरङ्गरागयोरेवात्राध्यवसायेन विरोधः भेदानुसन्धानत्वेनाविरोध इति श्लेषमूलातिशयोक्त्युत्थापितो विरोधाभासोऽलङ्कारः ॥ ३१ ॥

प्रकटतरमिमं मा द्राक्षुरन्या रमण्यः स्फुटमिति सविशङ्कं कान्तया तुल्यवर्णः । चरणतलसरोजाक्रान्तिसंक्रान्तयासौ वपुषि नखविलेखो लाक्षया रक्षितस्ते ॥ ३२ ॥

प्रकटेति । किञ्च प्रकटतरमतिस्फुटमिममेनं नखविलेखम् अन्याः रमण्यो निजसपत्न्यः स्फुटं मा द्राक्षुः न पश्यन्तु । दृशेर्लुङ् "न दृशः" इति क्सामावपक्षे सिचि वृद्धिः । इति बुद्धया कान्तया सविशङ्कं यथा तथा तुल्यवर्णो लाक्षासमानवर्णः । विवर्णस्य दुरपह्नवत्वादिति भावः । असौ ते तव वपुषि नखविलेखो नखव्रणः चरणतलं सरोजमिवेत्युपमितसमासः । आक्रान्तिलिङ्गात्तस्याक्रान्त्या आघातेन सक्रान्तया लाक्षया रक्षितो गुप्त आच्छादित इत्यर्थः । हन्त सा तु पापीयसी लाक्षा स्वयमेव सर्वदुर्वृत्तपिशुनेति भावः । अत्र नखविलेखस्य लाक्षासावर्ण्यात्तदेकतापत्तेः सामान्यालङ्कारः । 'सामान्यं गुणसाम्येन यत्र वस्त्वन्तरैकता' इति लक्षणात् ॥ ३२ ॥

तदवितथमवादीर्यन्मम त्वम्प्रियेति प्रियजनपरिभुक्तं यद्दुकूलन्दधानः । मदधिवसतिमागाः कामिनाम्मण्डनश्रीर्व्रजति हि सफलत्वं वल्लभालोकनेन ॥ ३३ ॥

तदिति । किञ्च मम त्वमेव प्रियेति यदवादी रवोच । वदेर्लुङि "वदव्रज" इत्यादिना वृद्धिः । तदवितथ सत्यम् । कुतः । यद्यस्मात् प्रियजनेन परिभुक्त दुकूल तदीयमित्यर्थः । दधान. धारयन्नित्यर्थ । दधान इत्यत्र वसान इति पाठे वसान आच्छादयन् । वस आच्छादनार्थाल्लिटः शानजादेशः । स त्व मदधिवसतिं मम निवासमागाः प्राप्तः "इणो गा लुङि" । युक्त चैतदित्याह । कामिना मण्डनश्रीर्वल्लभानां प्रेयसीनामालोकनेन सफलत्व व्रजति हि । अप्रिया चेत्कथमीदृशी मे सम्भावनेति भाव । अर्थान्तरन्यासः ॥ ३३ ॥

नवनखपदमङ्गं गोपयस्यंशुकेन स्थगयसि पुनरोष्ठं पाणिना दन्तदष्टम् । प्रतिदिशमपरस्त्रीसङ्गशंसी विसर्पन्नवपरिमलगन्धः केन शक्यो वरीतुम् ॥ ३४ ॥

नवेति । किञ्च नवानि नखपदानि यस्मिन् तदङ्ग वपुरंशुकेन गोपयसि छादयसि । गुपेश्चौरादिकात्स्वार्थे णिच् । दन्तेन दष्टमोष्ठ पुनरोष्ठ तु पाणिना स्थगयसि छादयसि । स्थगिरपि चौरादिकः । दिशि दिशि प्रतिदिशम् । विभक्त्यर्थेऽव्ययीभाव. "अव्ययीभावे शरत्प्रभृतिभ्य." इति समासान्तः टच्प्रत्ययः । विसर्पन् प्रसर्पन् अपरस्त्रीसङ्गशंसी स्त्र्यन्तरसङ्गसूचकः । अन्यप्रभवत्वात्तस्येति भावः । नवः परिमलाख्यो गन्धः परिमलगन्धः । 'विमर्दोत्थे परिमलः' इत्यमर । केन केनोपायेन वरीतुच्छादयितुम् । "वृतो वा" इति इटो दीर्घः । शक्यः न केनापि शक्य इत्यर्थः । अत्र नखदन्तक्षतयोरङ्गोष्ठाच्छादने विसर्पणस्य गन्धानाच्छाद्यत्वे च विशेषणगत्या हेतुत्वात्काव्यलिङ्गद्वये सजातीयसङ्करः ॥ ३४ ॥

इति कृतवचनायाः कश्चिदभ्येत्य बिभ्यद्गलितनयनवारेर्याति पादावनामम् । करुणमपि समर्थम्मानिनाम्मानभेदे रुदितमुदितमस्त्रं योषितां विग्रहेषु ॥ ३५ ॥

इतीति । इति पूर्वोक्तश्लोकचतुष्टयरीत्या कृतवचनायाः कृतोपालम्भायाः गलितनयनवारः धैर्यान्मुक्ताश्रोः । प्रेयस्या इति शेषः । कश्चिन्नायको बिभ्यत् त्रस्यन् 'नाभ्यस्ताच्छतुः' इति नुमभाव. । अभ्येत्यागत्य पादयोरवनाममवनतिं याति प्रणामेन प्रसादयतीत्यर्थः । ननु कथमीदृङ्मार्दव तथाहङ्कारिणस्तस्य रोदनमात्रेण तत्राह करुणमिति । तथाहि विग्रहेषु प्रणयकलहेषु योषिता करुण दीनमपि रुदितमश्रुमोचन मानिनामहङ्कारिणा पुसा मानभेदे अहङ्कारनिरासे समर्थ शक्तमस्त्र साधनमुदितमुक्तम् । वदेः कर्मणि क्तः "वचिस्वपि" इत्यादिना सम्प्रसारणम् । दीने प्रणयिजने पुसा कोऽहङ्कार इति भावः । अर्थान्तरन्यास. । एषा च खण्डिता नायिका । 'नीत्वान्यत्र निशा प्रातरागते प्राणवल्लभे । अन्यासम्भोगचिह्नैस्तु खण्डितेर्ष्याकषायिता' इति लक्षणात् । नायकस्तु धृष्टः । "व्यक्तागो निर्भयो धृष्टः" इति लक्षणात् । नचेह

विम्यद्विगपणविरोध' । आगमनकालेऽतिनिर्भीकताया एव लक्षणोपयोगात् अन्यथा वैर स्यादिति भावः । अय च सहृदयाः अन्यथा रसाभास इत्याहु. । कुलकम् ॥ ३९ ॥

मदमदनविकासस्पष्टधाष्ट्योदयानां रतिकलहविकीर्णैर्भूषणै-र्चितेषु । विदधति न गृहेषूत्फुल्लपुष्पोपहारं विफलविनययत्नाः कामिनीनां वयस्याः ॥ ३६ ॥

मदेति । मदमदनयोर्विकासेन विजृम्भणेन स्पष्टो धाष्ट्र्यस्योदय आविर्भावो यासा तासा कामिनीना रतिरेव कलहस्तस्मिन् विकीर्णैरितस्ततो विक्षिप्तैर्भूषणैरर्चितेषु गृहेषु वयस्या स्निग्धपरिचारिकाः विनीयन्तेऽस्मिन्निति विनयोऽधिकार. यत्र यत्नो विफलो यासान्ताः विफलविनययत्ना निष्फलस्वाधिकारोद्योगा सत्यः उत्फुल्लै पुष्पैरुहार पूजा न विदधति न कुर्वन्ति । अत्र समृद्धवस्तुवर्णनादुदात्तालकार । 'तदुदात्तम्भवेद्यत्र समृद्ध वस्तु वर्ण्यते' इति लक्षणात् । तेन तासा तेपु आभरणेपु भुक्तवस्त्रमाल्यादिवन्निर्माल्यबुद्धिर्ध्वन्यते ॥ ३६ ॥

करजदशनचिह्नं नैशमङ्केऽन्यनारीजनितमिति सरोषामीर्ष्यया शङ्कमानाम् । स्मरसि न खलु दत्तं मत्तयैतत्त्वयैव स्त्रियमनुनयतीत्थं व्रीडमानां विलासी ॥ ३७ ॥

करजेति । विलसनशीलो विलासी । "वौ कषलस" इत्यादिना विनुण् प्रत्ययः । अङ्के निजाङ्के निशायाम्भव नैशम् । "निशाप्रदोषाभ्या च" इत्यण् प्रत्यय । करजदशनचिह्न नखदन्तक्षतम् अन्यनारीजनित सपत्नीकृतमिति शङ्कमाना विश्वसतीमत एवेर्ष्यया अक्षमया सरोषा स्त्रिय निजमधु मत्तया मदमूढया त्वयैवैतद्दत्तमेव कृत खलु न स्मरसि नाभिजानासि किमिति काकुः इत्थमनेन प्रकारेण व्रीडमाना स्वकृतत्वप्रत्यभिज्ञानाल्लज्जिता सतीमनुनयति अङ्गीकारयति । स्वमौग्ध्यव्याघातो निर्वेदश्च लज्जया व्यज्यते ॥ ३७ ॥

कृतगुरुतरहारच्छेदमालिङ्ग्य पत्यौ परिशिथिलितगात्रे गन्तुमापृच्छमाने । विगलितनवमुक्तास्थूलबाष्पाम्बुबिन्दु-स्तनयुगमबलायास्तत्क्षणं रोदितीव ॥ ३८ ॥

कृतेति । कृतो गुरुतरस्य हारस्य छेदो यस्मिम् तत्तथा आलिङ्ग्य परिशिथिलितगात्रे शिथिलीकृताङ्गे पत्यौ भर्त्तरि गन्तुमापृच्छमान आमन्त्रयमाणे सति आङि नुपृच्छयोरुपसख्यानादात्मनेपदम् , क र्त्तरि ल्ट शानजादेशः । तत्क्षण तस्मिन् क्षणे । अत्यन्तसयोगे द्वितीया । अवलाया स्तनयुगम् । कर्तृ । विगलिता निस्सृता नवमुक्ता नूतनमौक्तिकान्येव स्थूलबाष्पाम्बुबिन्दवो यस्मिन् कर्म्मणि तत्तथा रोदितीव विरहासहिष्णुतया रोदन करोतीवेत्युत्प्रेक्षा रूपकसङ्कीर्णा । "रुदादिभ्य' सार्वधातुके" इतीडागमः ॥ ३८ ॥

बहु जगद पुरस्तात्तस्य मत्ता किलाहं चकर च किल चाटु प्रौढयोषिद्वदस्य। विदितमिति सखीभ्यो रात्रिवृत्तं विचिन्त्य व्यपगतमदयाह्नि व्रीडितं मुग्धवध्वा ॥ ३९ ॥

वाह्निेति । अह्नि दिवसे व्यपगतमदया मुग्धवध्वा सखीभ्यो विदितं रात्रौ त्वयेत्थ कृत-मिति सखीभिराख्यातमित्यर्थः । रात्रिवृत्त रात्रौ कृत स्वचेष्टितमित्यर्थः । मत्ता मदमूढा अहं तस्य प्रियस्य पुरस्तादग्रे वहु अनेक जगद किल गदानि स्म किलेति ऐतिह्ये । अत एव परोक्षे लिट् "णलुत्तमो वा" इति पक्षे णित्वाभावादूवृद्ध्यभावः । च पुनः प्रौढयोषिता तुल्य प्रौढयोषिद्वदित्युपमा "तेन तुल्यम्" इति वतिप्रत्ययः । अस्य प्रियस्य चाटु प्रियवचनं चकर किल अकार्षं किल । लिडादि पूर्ववत् गुणो विशेषः । इति विचिन्त्य विमृश्य व्रीडितं लज्जितम् । भावे क्तः । निजकार्य्यप्रकाशेन लज्जात्र सञ्चारी भावः । भावनिबन्धनात्प्रेयो-ऽलङ्कारः ॥ ३९ ॥

अरुणजलजराजीमुग्धहस्ताग्रपादा बहुलमधुपमालाकज्जलेन्दीवराक्षी । अनुपतति विरावैः पत्रिणां व्याहरन्ती रजनिमचिरजाता पूर्वसन्ध्या सुतेव ॥ ४० ॥

अरुणेति । अरुणजलजराज्येव रक्तकमलश्रेण्येव मुग्धं सुन्दर हस्ताग्रपादं हस्तौ च अग्रपादौ च यस्याः सा । वहुल मधुपमालाकज्जल कज्जलमिव मधुमाला ययोस्ते अक्षिणी इन्दीवरे इव यस्याः सा । वहुलमधुपमालाकज्जलेन्दीवराक्षी पत्रिणा पक्षिणा विरावैर्व्याहरन्ती आलपन्ती । 'व्याहार उक्तिर्लपितम्' इत्यमरः । अचिरजाता सद्योभवा बाला च पूर्वसन्ध्या प्रातस्सन्ध्या सुतेव पुत्रीव रजनिमनुपतति अनुधावति जननीमिवेत्यर्थः । इह विरावैर्व्याहरन्तीति व्यधिकरणपरिणामः । तत्सङ्कीर्णेयमुपमा ॥ ४० ॥

प्रतिशरणमशीर्णज्योतिरग्न्याहितानां विधिविहितविरिब्धैः सामिधेनीरधीत्य । कृतगुरुदुरितौघध्वंसमध्वर्युवर्य्यैर्हुतमय-मुपलीढे साधु सान्नाय्यमग्निः ॥ ४१ ॥

प्रतीति । अग्निराहितो यैस्तेषामग्न्याहितानाम् । "वाहिताग्न्यादिषु" इति निष्ठायाः परनिपातः । प्रतिशरण प्रतिगृहम् । 'शरणं गृहरक्षित्रो' इत्यमर. । अशीर्णज्योतिरक्षता-र्चिरयमग्निराहवनीयः विधिना यज्ञकर्म्मण्यजपन्यूङ्खसामान्नित्यादिना शोक्तरीत्या विहिता यथा-योगमुच्चारिता विरिब्धाः स्वरा एकश्रुत्यादयश्चत्वारो यैस्तैः । 'श्रुव्नस्वान्त'' इत्यादिना "रेभृ शब्दे" इति धातोः स्वरे विरिब्धशब्दो निष्ठान्तोऽनिट्त्वेन निपातितः । अध्वर्युवर्यै. ऋत्विक् श्रेष्ठैः ऋत्विग्विशेषवाचिना अध्वर्युशब्देन ऋत्विङ्मात्रलक्षणात् [illegible] सुरुतो येषां तैः

अध्वर्युप्रमुखैश्चतुर्भिर्ऋत्विग्भिरित्यर्थः । "तस्माद्दर्शपूर्णमासयोर्यज्ञक्रत्वोश्चत्वार ऋत्विजः" इति श्रवणात् । दर्शश्चाय सर्वत्रैव सान्नाय्यविधानादिति सामिधेनीः 'प्रवोवाजा' इत्यादिका अग्निसमिन्धनीर्ऋचोऽधीत्य पठित्वा । 'ऋक्सामिधेनी धाय्या च या स्यादग्निसमिन्धने' इत्यमरः । सामिधेनीग्रहणं याज्यापुरोनुवाक्यादिमन्त्रान्तराणामप्युपलक्षणम् । कृतो गुरुतरदुरितानामोघस्य ध्वंसो यस्मिन् कर्म्मणि तद्यथा तथा साधु सम्यक् हुतं देवतोद्देशेन त्यक्तं सन्नियत इति सान्नाय्यं हविर्विशेषं ऐन्द्रम् "दध्यमावास्यायामैन्द्रं पयोऽमावास्यायाम्" इति विहिते दधिपयसी इत्यर्थः । "पाय्यसान्नाय्यनिकाय्य" इत्यादिना हविर्विशेषे सम्पूर्वान्नयतेर्ण्यन्तादायादेशोपसर्गदीर्घयोर्निपातः । उपलीढे आस्वादयति । "लिह आस्वादने" इति धातोः स्वरितेत्त्वाल्लटि तङि टेरेत्वं ढत्वधत्वष्टुत्वढलोपदीर्घाः । अत्राग्नेः सान्नाय्योपलेहनस्योत्तरकालभावित्वेऽपि तदुपलक्षितस्य कर्म्मण उदिते आदित्ये पौर्णमास्यास्तन्त्रं प्रयुञ्ज्यात् "प्रागुदयादमावास्याया वा" इति शास्त्रात्तत्कालप्रक्रान्तस्य वर्त्तमानत्वात्तस्यापि वर्त्तमानताव्यपदेश एतद्वा हविरग्नित्वमात्रेण कालविशेषानादरेणोक्तमिति पूर्वोक्तचन्द्रोदयाद्यविरोधः । अथ वा उदिते जुहोत्यनुदिते जुहोति प्रातर्जुहोत्यग्निहोत्रं तत्कालत्वात्सामिधेनीसान्नाय्यशब्दयोर्मन्त्रहविर्मात्रपरत्वमाश्रित्याग्निहोत्रपरत्वेन व्याख्येयम् । तस्मादग्निहोत्रस्य यज्ञक्रत्वोः एकऋत्विगित्येकाध्वर्युकत्वे अध्वर्युभिरिति बहुवचनं यजमानबहुत्वादुपपद्यत इत्याहुरित्यलं छान्दसगोष्ठीव्यसनेन । वृत्त्यनुप्रासोऽलङ्कारः स्पष्ट एव ॥ ४१ ॥

प्रकृतजपविधीनामास्यमुद्रश्मिदन्तं मुहुरपिहितमोष्ठैरक्षरै-
र्लक्ष्यमन्यैः । अनुकृतिमनुवेलं घट्टितोद्घट्टितस्य व्रजति
नियमभाजां मुग्धमुक्तापुटस्य ॥ ४२ ॥

प्रकृतेति । प्रकृतजपविधीनां प्रक्रान्तजपकर्मणां नियमभाजां तपस्विनां सम्बन्धि ओष्ठे भवैरोष्ठ्यैः । "शरीरावयवाच्च" इति यत्प्रत्ययः । अक्षरैर्वर्णैः उपूपध्मानीयैरित्यर्थः । उपूपध्मानीयानामोष्ठाविति शासनात् । मुहुरपिहितमावृतमन्यैरनोष्ठ्यैरक्षरैर्लक्ष्यं दर्शनीयम् अत एवोद्रश्मय उद्गताशवो दन्ता यस्य तदास्यं मुखम् अनुवेलं प्रतिक्षणं घट्टितोद्घट्टितस्य । प्राणित्वान्मुहुर्विघटितविघटितस्य विशेषणसमासः । मुग्धं सुन्दरं यन्मुक्तानां मुक्ताफलानां पुटं कोटिः शुक्तिरिति यावत् । तस्यानुकृतिं साम्यं व्रजति । उपमालङ्कारः । एतेन श्लोकद्वयेन बहवः कर्मनिष्ठास्तपोनिष्ठाश्च ब्राह्मणा भगवन्तमनुयान्तीति कथितम् ॥ ४२ ॥

नवकनकपिशङ्गं वासराणां विधातुः ककुभि कुलिशपाणे-
र्भाति भासां वितानम् । जनितभुवनदाहारम्भमम्भांसि
दग्ध्वा ज्वलितमिव महाब्धेरूर्ध्वमौर्वानलार्चिः ॥ ४३ ॥

नवेति । कुलिश पाणौ यस्य स कुलिशपाणिरिन्द्रः । "प्रहरणार्थेभ्यः परे निष्ठासप्तम्यौ भवतः" इति पाणेः परनिपातः । एतदेवात्र व्यधिकरणबहुव्रीहेश्च ज्ञापकम् । तस्य ककुभि प्राच्यां दिशि नवकनकवत्पिशङ्ग वासराणां विधातुर्दिनकरस्य भासा वितानं करजालं महाब्धेरम्भासि दग्ध्वा जनितभुवनदाहारम्भं कृतजगद्दाहोद्योगं सदूर्ध्वमब्धेरुपरि ज्वलितमौर्वानलार्चिर्वडवानलज्योतिरिव भातीत्युत्प्रेक्षा ॥ ४३ ॥

विततपृथुवरत्रातुल्यरूपैर्मयूखैः कलश इव गरीयान् दिग्भिराकृष्यमाणः । कृतचपलविहङ्गालापकोलाहलाभिर्जलनिधिजलमध्यादेष उत्तार्य्यतेऽर्कः ॥ ४४ ॥

विततेति । विततामिः प्रसारिताभिः पृथुवरत्राभिर्महारज्जुभिस्तुल्यरूपैस्तुल्याकारैर्मयूखैः किरणैर्गरीयान् कलश इवाकृष्यमाणः सन्नेषोऽर्कः कृतश्चपलः सत्वरो विहङ्गलाप एव कोलाहलः कलकलो याभिस्ताभिः दिग्भिर्जलनिधेः जलमध्यादुत्तार्य्यते । उद्भियते । तरतेर्ण्यन्तात्कर्मणि लट् । यथा कुतश्चित्कूपात् कुम्भः पाशैराकृष्य सकलकलं बहुभिस्त्रीभिरुद्ध्रियते तद्वदिति भावः । अत्र वरत्रातुल्यरूपैः कलश इवेति चोपमाभ्यां विहङ्गालापकोलाहलेति रूपकेण चोज्जीवितार्कस्य दिक्कर्तृकोत्तारणोत्प्रेक्षा व्यञ्जकाप्रयोगात् प्रतीयमानेति सङ्करः ॥ ४४ ॥

पयसि सलिलराशेर्नक्तमन्तर्निमग्नः स्फुटमनिशमतापि ज्वालया वाडवाग्नेः। यदयमिदमिदानीमङ्गमुद्यन्दधाति ज्वलितखदिरकाष्ठाङ्गारगौरं विवस्वान् ॥ ४५ ॥

पयसीति । अयं च विवस्वान् नक्तं सलिलराशेः पयसि निमग्नोऽन्तर्वाडवाग्नेर्ज्वालया अनिशमतापि तप्तः स्फुटमित्युत्प्रेक्षा । कुतः । यदिदानीमुद्यन् इदं ज्वलितं प्रज्वलन् यः खदिरकाष्ठस्याङ्गारस्तद्वद्गौरमरुणमङ्गं दधाति । 'गौरोऽरुणे सिते पीते' इति विश्वः ॥ ४५ ॥

अतुहिनरुचिनासौ केवलं नोदयाद्रिः क्षणमुपरिगतेन क्ष्माभृतः सर्व एव । नवकरनिकरेण स्पष्टबन्धूकसूनस्तबकरचितमेते शेखरम्बिभ्रतीव ॥ ४६ ॥

अतुहिनेति । क्षणमुपरिगतेन स्थितेनातुहिनरुचिनार्केण केवलमसावुदयाद्रिः पूर्वाद्रिर्न । 'उदयः पूर्वपर्वतः' इत्यमरः । किन्त्वेते सर्व एव क्ष्माभृतः सर्वेऽपि शैलाः क्षणमुपरिगतेनात्रस्थितेन नवकरनिकरेण स्पष्टैर्विकसितैर्बन्धूकसूनस्तबकैर्बन्धुजीवककुसुमगुच्छैर्विरचितम् । 'बन्धूको बन्धुजीवकः' इत्यमरः । शेखरं शिखामाल्यम् । 'शिखास्वापीडशेखरौ' इत्यमरः । बिभ्रतीवेत्युत्प्रेक्षा न केवलमर्केणोदयाद्रिरेव बन्धूकशेखरं बिभर्ति किन्तु तत्करजालेन सर्वेऽपि पर्वतास्तथेत्यर्थः ॥ ४६ ॥

उदयशिखरिशृङ्गप्राङ्गणेष्वेप रिङ्गन्सकमलमुखहासं वीक्षितः पद्मिनीभिः। विततमृदुकराग्रः शब्दयन्त्या वयोभिः परिपतति दिवोऽङ्के हेलया बालसूर्य्यः ॥ ४७ ॥

उदयेति । एष बाल उदिमात्र. बालश्चासौ सूर्यश्च बालसूर्य्यः उदयशिखरिशृङ्गस्य उदयाद्रिशिखरस्य प्राङ्गणेषु रिंगन् सञ्चरन् पद्मिनीभिर्नलिनीभि. स्त्रीविशेषैश्च 'पद्मिनी स्त्रीविशेषेऽपि' इति विश्व.। कमलान्येव मुखानि तेषा हासेन विकासेन हास्येन च सह यस्मिन् कर्मणि तद्यथा तथा वीक्षित. सन् वयोभि. पक्षिभिः। 'वयः पक्षिणि बाल्यादौ' इति विश्व । शब्दयन्त्याः शब्द कुर्वत्या । आगच्छागच्छ वत्सेति व्याहरन्त्या इत्यर्थः । शब्दशब्दात् "तत्करोति" इति ण्यन्ताल्लट' शतरि ङीप् । दिवोऽन्तरिक्षस्य मातुश्चाङ्के समीपे उत्सगे च विततानि प्रसृतानि मृदूनि कराग्राणि किरणाग्राणि हस्ताग्रे च यस्य स सन् हेलया लीलया परिपतति । श्लेषमूलातिशयोक्त्यनुगृहीतरूपकम् ॥ ४७ ॥

क्षणमयमुपविष्टः क्ष्मातलन्यस्तपादः प्रणतिपरमवेक्ष्य प्रीतमह्नाय लोकम्। भुवनतलमशेषम्प्रत्यवेक्षिष्यमाणः क्षितिधरतटपीठादुत्थितः सप्तसप्तिः ॥ ४८ ॥

क्षणमिति । अयं सप्तसप्तिरर्कः क्षणमुपविष्ट । क्षितिधरपीठमध्यासीन क्ष्मातलन्यस्तपाद. प्रणामस्वीकाराय भूतलप्रसारिताङ्घ्रिरित्यर्थ । प्रणतिपर नमस्कार कुर्वाणं प्रीत प्रणामस्वीकारात्सन्तुष्ट लोक जनमह्नाय झटिति अवेक्ष्य । 'स्राक्झटित्यञ्जसाह्नाय' इत्यमरः । रूपावलोकेन सम्भाव्याशेष भुवनतल लोकस्वरूप प्रत्यवेक्षिष्यमाण. अनुसन्धास्यमान क्षितिधरस्य तट पीठमिव सिंहासनमिव अन्यत्र तटमिव पीठ तस्मादुत्थितः उदयाद्रिमतिक्रान्त इत्यर्थ' । यथा कश्चिन्महाराजः सिंहासनोपविष्ट. क्षण प्रणतजनमादृत्य अथ सकलस्वराष्ट्रप्रत्यवेक्षणाय सहसोत्थाय गच्छति तद्वदित्यर्थ. । अत्र प्रकृतार्कविशेषणवैभवादप्रकृतमहाराजप्रतीते' समासोक्ति' ॥ ४८ ॥

परिणतमदिराभम्भास्करेणांशुबाणैस्तिमिरकरिघटायाः सर्वदिक्षु क्षतायाः। रुधिरमिव वहन्त्यो भान्ति बालातपेनच्छुरितमुभयरोधोवारितं वारि नद्यः ॥ ४९ ॥

परिणतेति । नद्य बालातपेन छुरितं रूषितम् अत एव परिणतमदिराभ सुपक्वसुरासन्निभम् उभाभ्यां रोधोभ्या वारितमवरुद्धम् उभयरोधोवारितम्। "उभादुदात्तो नित्यम्" इत्यत्र नित्यग्रहणसामर्थ्याद्वृत्तिविषये उभशब्दस्य स्थाने उभयशब्दप्रयोग इत्युक्त प्राक् वारि जल भास्करेण । कस्कादित्वात्सत्वम् । अंशुभिरेव बाणैः सर्वदिक्षु क्षतायाः प्रहृतायाः । तिमिरमेव करिघटा गजसंघः तस्या रुधिरमेवेत्युत्प्रेक्षा । वहन्त्यो भान्ति ॥ ४९ ॥

दधति परिपतन्त्यो जालवातायनेभ्यस्तरुणतपनभासो मन्दिराभ्यन्तरेषु । प्रणयिषु वनितानां प्रातरिच्छत्सु गन्तुं कुपितमदनमुक्तोत्तप्तनाराचलीलाम् ॥ ९० ॥

दधतीति । जालवातायनेभ्यः गवाक्षविवरेभ्यः मन्दिराणामभ्यन्तरेषु परिपतन्त्यस्तरुणतपनभासो बालार्ककिरणाः वनितानां प्रणयिषु प्रातर्गन्तुमिच्छत्सु कुपितेन मदनेन मुक्तानामुत्तप्तानामग्निज्वलिततेजसां नाराचानां बाणविशेषाणां लीलां शोभां दधति । अत्र लीलेव लीलेति सादृश्याक्षेपादसम्भवद्वस्तुसम्बन्धान्निदर्शनालङ्कारः ॥ ९० ॥

अधिरजनि वधूभिः पीतमैरेयरिक्तं कनकचषकमेतद्रोचनालोहितेन । उदयदहिमरोचिर्ज्योतिषाक्रान्तमन्तर्मधुन इव तथैवापूर्णमद्यापि भाति ॥ ९१ ॥

अधीति । अधिरजनि रजन्याम् । विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः । वधूभिः पीतं मैरेयं मद्यं यस्य तत् अत एव रिक्तं पीतमैरेयरिक्तम् एतत् कनकचषकं स्वर्णस्य पानपात्रम् । अवयवषष्ठ्यविकारार्थता । 'चषकोऽस्त्री पानपात्रम्' इत्यमरः । रोचनालोहितेन गोरोचनारुणेन उदयत उद्यमानस्याहिमरोचिषोऽर्कस्य ज्योतिषा तेजसा अन्तरभ्यन्तरे आक्रान्तं व्याप्तं सत् अद्यापीदानीमपि तथैव पूर्ववदेव मधुनः आपूर्णं आपूर्णमिव । सामान्यषष्ठ्या योग्यविशेषपर्यवसाननियमात् "षष्ठी शेषे" इति सम्बन्धसामान्ये षष्ठी करणस्यापि कारणत्वादिति भाति शोभते अत्रातपाक्रान्ते मधुपूर्णत्वोत्प्रेक्षया आतपे मधुभ्रमात् भ्रान्तिमान् व्यज्यते ॥ ९१ ॥

सितरुचि शयनीये नक्तमेकान्तमुक्तं दिनकरकरसङ्गव्यक्तकौसुम्भकान्ति । निजमिति रतिबन्धोर्जानतीमुत्तरीयं परिहसति सखी स्त्रीमाददानां दिनादौ ॥ ९२ ॥

सितेति । नक्तं रात्रौ शयनीये तल्पे । एकान्तमुक्तमत्यन्तत्यक्तं सितरुचि शुभ्रवर्णम् । किन्तु दिनादौ प्रभाते दिनकरकरसङ्गेनार्कांशुव्यतिकरेण व्यक्ता कौसुम्भी कुसुम्भस्य रागद्रव्यस्य सम्बन्धिनी कान्तिर्यस्य तत्तथा भासमानं रतिबन्धोः प्रियस्योत्तरीयं निजमात्मीयमिति जानतीम् अत एवाददानां स्त्रीं नायिकाम् । "वाम्शसोः" इतीयङभावपक्षे "अमि पूर्वः" इति पूर्वरूपम् । सखी परिहसति । अत्राकौसुम्भे कौसुम्भभ्रमात्सादृश्यनिबन्धनाद्भ्रान्तिमदलङ्कारः ॥ ९२ ॥

प्लुतमिव शिशिरांशोरंशुभिर्यन्निशासु स्फटिकमयमराजद्राजताद्रिस्थलाभम् । अरुणितमकठोरैर्वेश्म काश्मीरजाम्भस्स्नपितमिव तदेतद्भानुभिर्भाति भानोः ॥ ९३ ॥

प्लुतमिति । राजताद्रिस्थलाभं सुधाधवलितत्वात्कैलासतटसन्निभं यद्वेश्म निशासु शिशिरांशोरिन्दोरंशुभिश्चन्द्रिकाभिः प्लुतं धौतं सत् स्फाटिकमयं स्फटिकविकारं इवाराजत् । रेजे तदेतद्वेश्म भानोः सूर्यस्याकठोरैः कोमलैः भानुभिररुणितमरुणीकृतं सत् काश्मीरदेशे जातं काश्मीरजं कुङ्कुमं तस्याम्भसा स्नपितं सिक्तमिव भाति । उत्प्रेक्षयोः संसृष्टिः ॥ ५३ ॥

सरसनखपदान्तर्दष्टकेशप्रमोकं प्रणयिनि विदधाने योषितामुल्लसन्त्यः । विदधति दशनानां सीत्कृताविष्कृतानामभिनवरविभासः पद्मरागानुकारम् ॥ ५४ ॥

सरसेति । प्रणयिनि योषितां सरसनखपदानामार्द्रनखक्षतानामन्तर्मध्ये दष्टानां लग्नानां केशानां शिरोरुहाणां प्रमोकं प्रमोचनं विदधाने सति सीत्कृतैर्व्यथाविर्भूतसीत्कारैराविष्कृतानां दशनानामुल्लसन्त्यः वैमल्याद्दन्तेषु प्रतिफलन्त्यः अभिनवरविभासः पद्मरागाणामनुकारमनुकरणं विदधति । उपमालङ्कारः रविभासामारुण्यप्रतिपादकाभिनवविशेषणप्रसादलब्धः इति काव्यलिङ्गेन सङ्करः ॥ ५४ ॥

अविरतदयिताङ्गासङ्गसञ्चारितेनच्छुरितमभिनवासृक्कान्तिना कुंकुमेन । कनकनिकषरेखाकोमलं कामिनीनां भवति वपुरवाप्तच्छायमेवातपेऽपि ॥ ५५ ॥

अविरतेति । अविरतेनाविच्छिन्नेन दयितानां प्रेयसामङ्गस्य आसङ्गेन शरीरसम्पर्केण सञ्चारितेन सङ्क्रामितेनाभिनवस्यासृजो रक्तस्येव कान्तिर्यस्य तेन कुङ्कुमेन छुरितं कनकस्य यन्निकषे निकषोपले रेखा राजिस्तद्वत्कोमलं मनोहरमित्युपमा कामिनीनां वपुरातपेऽपि अवाप्तच्छायं लब्धवर्णोत्कर्षमेव भवति स्वतः सुवर्णवर्णस्य ततः कुङ्कुमाङ्कितस्य कामिनीगात्रस्य पुनर्बालातपव्याप्तिरिति महती वर्णोत्कर्षसामग्रीति भावः । आतपे छाया नातप इति विरोधाभासे अपिशब्दः । 'छाया त्वनातपे कान्तौ' इत्यमरः । अत्रसङ्क्रान्तकुङ्कुमच्छुरितत्वकनकनिकषरेखाकोमलत्वयोरुपमापेक्षया छायावाप्तिहेतुत्वादुपमासङ्कीर्णं काव्यलिङ्गं तदातपेऽप्यवाप्तच्छायमित्यत्र विरोधेन एकवाचकानुप्रवेशेन सङ्कीर्यते ॥ ५५ ॥

सरसिजवनकान्तं बिभ्रदभ्रान्तवृत्तिः करनयनसहस्रं हेतुमालोकशक्तेः । अखिलमतिमहिम्ना लोकमाक्रान्तवन्तं हरिरिव हरिदश्वः साधु वृत्रं हिनस्ति ॥ ५६ ॥

सरसीति । सरसि जातानि सरसिजानि । "सप्तम्या जनेर्डः" "तत्पुरुषे कृति बहुलम्" इत्यलुक् । तद्वनस्य कान्तं प्रियम् । अन्यत्र तद्वत्कान्तं रम्यं आलोकशक्तेर्लोकलोचनानां विषयग्रहणशक्तेर्हेतुं आलोकान्तरसहकृतानामेव तेषां तत्सामर्थ्यात् । अन्यत्र आलोकशक्ते

दर्शनव्यापारस्य हेतु दर्शनसाधनमित्यर्थः । करा नयनानीव अन्यत्र करा इव नयनानि तेषां सहस्रं करनयनसहस्र बिभ्रत् । अभ्रान्ते नभोमध्ये वृत्तिर्यस्य सोऽभ्रान्तवृत्तिः । अन्यत्राभ्रान्ते मेघे वृत्तिर्यस्य सः मेघवाहन इत्यर्थ. । 'अभ्र नभस्स्वर्गवलाहकेषु' इति विश्वः । हरितोऽश्वा यस्य स हरिदश्वोऽर्कः हरिरिन्द्र इवातिमहिम्ना अतिमहत्तया स्ववृद्ध्येत्यर्थः । लोकमाक्रान्तवन्त व्याप्तवन्तम् एकत्र प्रत्यक्षादन्यत्र 'स इषुमात्रमिषुमात्रं विश्वग्वर्द्धत । स इमान् लोकानावृणोत्' इत्यागमादिति भावः । वृत्र ध्वान्त दानव च त्वाष्ट्र साधु हिनस्ति हन्ति । 'ध्वान्तारिदानवा वृत्रा ' इत्यमरः । उपमा श्लेषो वा मतभेदात् ॥ ९६ ॥

अवतमसभिदायै भास्वताभ्युद्गतेन प्रसभमुडुगणोऽसौ दर्शनीयोऽप्यपास्तः । निरसितुमरिमिच्छोर्ये तदीयाश्रयेण श्रियमविगतवन्तस्तेऽपि हन्तव्यपक्षे ॥ ९७ ॥

अवतमसेति । अवतमस तिमिरम् । "अवसमन्धेभ्यस्तमसः" इति समासान्तः । यद्यपि 'क्षीणेऽवतमसन्तम.' इत्युक्त तथापीह विरोधाद्विशेपानादरेण सामान्यमेव ग्राह्यम् । तस्य भिदायै भेदाय । ' षिद्भिदादिभ्योऽङ् '' इत्यङ् । अभ्युद्गतेनाभ्युदितेनोद्यतेन च भास्वता सूर्येण दर्शनीयोऽप्युडुगणोऽसौ प्रसभ बलात् अपास्तः तथाहि अरिं निरसितुमिच्छोर्ये तदीयेनाश्रयेणाश्रयणेन श्रियं सम्पद शोभा च । 'शोभासम्पत्तिपद्मासु लक्ष्मीः श्रीरपि गद्यते' इति विश्वः । अविगतवन्तः प्राप्तवन्तस्तेऽपि हन्तव्यपक्षे वध्यकोटावेव अरिवदरिपक्षा अपि वध्या एवेत्यर्थः । उडुगणोऽपि तमसि शोभते अतस्तत्पक्ष इति भावः । सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यास. ॥ ९७ ॥

प्रतिफलति करौघे सम्मुखावस्थितायां रजतकटकभित्तौ सान्द्रचन्द्रांशुगौर्याम् । बहिरभिहतमद्रेः संहतं कन्दरान्तर्गतमपि तिमिरौघं घर्मभानुर्भिनत्ति ॥ ९८ ॥

प्रतीति । घर्मभानुरुष्णांशुः सम्मुखावस्थितायां सान्द्रचन्द्रांशुवद्गौर्यां धवलायामित्युपमा । "षिद्गौरादिभ्यश्च" इति ङीष् । रजतकटकमेव भित्तिस्तस्यां करौघे स्वकिरणजाले प्रतिफलति सति अद्रेर्बहिरभिहत कन्दराणा दरीणामन्तर्गत संहत तिमिरौघमपि भिनत्ति । पुरोगतरजतभित्तिप्रतिहतस्य निजतेजसः कन्दरांतः प्रवेशादिति भावः । अत्र करौघस्यान्तस्सम्बन्धाभावेऽपि सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिः ॥ ९८ ॥

बहिरपि विलसन्त्यः काममानिन्यिरे यद्दिवसकररुचोऽन्तं ध्वान्तमन्तर्गृहेषु । नियतविषयवृत्तेरप्यनल्पप्रतापक्षतसकलविपक्षस्तेजसः स स्वभावः ॥ ९९ ॥

बहिरिति । बहिर्विलसन्त्योऽपि दिवसकररुचोऽर्कभासः अन्तर्गृहेषु गर्भागारेषु च। यथेष्ट ध्वान्तमन्तं नाशमानिन्यिरे प्रापयामासुरिति यत् । नयतेर्द्विकर्मकात्कर्तरि लिट् । सोऽन्तर्गृहध्वान्तनिरासो नियतविषये नियतस्थाने वृत्तिर्यस्य तस्य नियतदेशवर्त्तिनोऽपीत्यर्थः । "तृतीयादिषु" इत्यादिना पुम्वद्भावः । तेजसोऽनल्पेन प्रतापेन स्वप्रकाशेन स्वप्रभावेणैवेत्यर्थः । 'प्रतापौ पौरुषातपौ' इति वैजयन्ती । क्षतसकलविपक्षः निरस्तसमस्तप्रतिपक्षः स्वभावः तेजस्विनामेष स्वभावो यत्प्रतापेनैव परोच्छेदनमतो युक्तमर्कभासामप्यन्तर्ध्वान्तहरणमित्यर्थः । अत्र समर्थ्यसमर्थकयोः सामान्यविशेषभावादर्थान्तरन्यासः ॥ ५९ ॥

चिरमतिरसलौल्याद्बन्धनं लम्भितानां पुनरयमुदयाय प्राप्य धाम स्वमेव । दलितदलकपाटः षट्पदानां सरोजे सरभस इव गुप्तिस्फोटमर्कः करोति ॥ ६० ॥

चिरमिति । अयमर्कः पुनर्भूयोऽपि उदयाय स्ववृद्धये स्व स्वकीयमेव धाम स्थानं तेजो वा प्राप्य अतिरसलौल्यादतिमात्राद्रसेषु मकरन्देषु विषयेषु च लौल्यादासक्त्या सरोजे चिरं बन्धनं लम्भितानां प्रापितानां षट्पदानां सरभसः सत्वरो दलितं विघट्टितं दलमेव कपाटं येन स सन् गुप्तिस्फोटं बन्धनमोक्षं करोतीवेत्युत्प्रेक्षा । यथा कश्चित्पदभ्रष्टः पुनर्लब्धपदः पूर्ववदात्मबन्धूनागत्य स्वयमेव काराकपाटमुद्घाट्य मोचयति तद्वदिति भावः ॥ ६० ॥

युगपदयुगसप्तिस्तुल्यसंख्यैर्मयूखैर्दशशतदलभेदं कौतुकेनाशु कृत्वा । श्रियमलिकुलगीतैर्लालिताम्पङ्कजान्तर्भवनमधिशयानामादरात्पश्यतीव ॥ ६१ ॥

युगपदिति । अयुगा विषमाः सप्तयोऽश्वा यस्य सः अयुगसप्तिः सप्ताश्वोऽर्कः । युगशब्दस्य युग्मशब्दस्य च विशेष्यलिङ्गतावगन्तव्या । युगपदेकदैव तुल्यसंख्यैः सहस्रसंख्यैरित्यर्थः, मयूखैः करैः दश शतानि येषां तानि दशशतानि सहस्रमित्यर्थः । तेषां दलानां भेदं विघट्टनं कौतुकेनाशु कृत्वा अलिकुलस्य गीतैर्लालितां सत्कृतां पङ्कजमेवान्तर्भवनं गर्भगृहम् अधिशयानाम् । "अधिशीङ्स्थासां कर्म" इति कर्मत्वम् । श्रियमादरात्पश्यतीवेत्युत्प्रेक्षा । कश्चित्कान्तः कान्तामिवैकान्तगतामिति भावः ॥ ६१ ॥

अदयमिव कराग्रैरेष निष्पीड्य सद्यः शशधरमहरादौ रागवानुष्णरश्मिः । अवकिरति नितान्तं कान्तिनिर्यासमब्दश्रुतनवजलपाण्डुम्पुण्डरीकोदरेषु ॥ ६२ ॥

अदयमिति । अहरादौ प्रभाते रागवानुदयरागवान् पुण्डरीकस्नेहवांश्चैष उष्णरश्मिरर्कः शशधरं चन्द्रं कराग्रैः रश्म्यग्रैः हस्ताग्रैश्च अदयं निर्दयं सद्यो निष्पीड्य अब्दात्

मेवात् सुत स्रस्तं नवजलमिव पाण्डु शुभ्र कान्तिनिर्यास लावण्यसार पुण्डरीकाणा सिताब्जानामुदरेष्वभ्यन्तरेषु नितान्तमवकिरतीव विक्षिपतीव । अत्र सूर्योदये चन्द्रस्य कान्तिक्षयात् पुण्डरीकाणा तत्प्रादुर्भावाच्च सूर्यश्चान्द्रीमेव कान्ति पुण्डरीकस्नेहात्परेषु सिञ्चतीत्युत्प्रेक्षा । यथा द्विषन्त प्रणीट्य तदीय वसुसार सुहृदे प्रयच्छति तद्वदिति भावः ॥ ६२ ॥

प्रविकसति चिराय द्योतिताशेषलोके दशशतकरमूर्त्तावक्षिणीव द्वितीये । सितकरवपुषासौ लक्ष्यते संप्रति द्यौर्विगलितकिरणेन व्यङ्क्तिकेक्षणव ॥ ६३ ॥

प्रविकसतीति । द्योतित. प्रकाशितोऽशेषलोको येन तस्मिन् दश शतानि येषा ते दशशतास्ते करा यस्या' सा दशशतकरा सहस्रकरा मूर्त्तिर्यस्य तस्मिन्दशशतकरमूर्तौ सूर्ये द्वितीयेऽक्षिणि चक्षुरीव चिराय प्रविकसति सति सम्प्रत्यसौ द्यौराकाश स्त्री च गम्यते विगलितकिरणेन निष्प्रकाशेन सितकर शुभ्रकिरण वपुर्यस्य तेन सितकरवपुषा चन्द्रेण व्यङ्क्तित विकलीकृतमेकेक्षणमेकनेत्रं यस्याः सा व्यङ्क्तैकेक्षणा काणेव लक्ष्यते । अत्र दिवःकाणत्वमुत्प्रेक्ष्यते । तत्र काणत्वमक्ष्णिन्वेनाध्यवसितेन निष्प्रभासितेन चन्द्रेणेति । तत्र "येनाङ्गविकारः" इति तृतीया ६३

कुमुदवनमपश्रि श्रीमदम्भोजषण्डं त्यजति मुदमुलूकः प्रीतिमांश्चक्रवाकः । उदयमहिमरश्मिर्याति शीतांशुरस्तं हतविधिलसितानां ही विचित्रो विपाकः ॥ ६४ ॥

कुमुदेति । कुमुदवनम् अपगता श्रीर्यस्य तदपश्रि विगतशोभम् । "गोऽस्त्रियोरुपसर्जनस्य" इति ह्रस्वत्वम् । अम्भोजषण्ड श्रीमत् शोभायुक्तम् । उलूक' पेचको मुद त्यजति । तस्य दिवाभीतत्वादिति भावः । चक्रवाकः प्रीतिमान् । रजनीविरहाभावत्वात्तस्येति भावः । अहिमरश्मिरुष्णांशुरुदय याति हिमांशुरिन्दुरस्तमदर्शन याति । अस्तमित्यव्ययम् । कथमेतद्वैषम्यं तत्राह । हतेति । हतविधिलसिताना दुष्टदैवचेष्टिताना विपाकः परिपाकः तत्तत्प्राणिकर्मानुरूपफलदानप्रकार इति यावत् । विचित्रो विविध' न त्वेकविध इत्यर्थ. । हीति विस्मये 'अहो ही च विस्मये' इत्यमर. । विधिविपाकवैचित्र्याज्जगद्वैचित्र्य युज्यते इति कारणेन कार्यसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ ६४ ॥

क्षणमतुहिनधाम्नि प्रोष्य भूयः पुरस्तादुपगतवति पाणिग्राहवद्दिग्वधूनाम् । द्रुततरमुपयाति स्रंसमानांशुकोऽसावुपपतिरिवनीचैः पश्चिमान्तेन चन्द्रः ॥ ६५ ॥

क्षणमिति । अतुहिनधाम्नि उष्णांशौ दिशो वध्व इवेत्युपमितसमास' । तासा दिग्वधूनां पाणिं गृह्णातीति पाणिग्राहो निजभर्ता तस्मिन्निव पाणिग्राहवत् । "तत्र तस्येव" इति तत्रार्थे

यतिः । क्षण प्रोष्य प्रवासं कृत्वा । प्रपूर्वाद्वसधातोः क्त्वा, तस्य "समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप्" इति ल्यपि "वचिस्वपि" इत्यादिना सम्प्रसारणम् । यः भूयः पुनरपि पुरस्तात्पूर्वस्या दिशि मार्गे चोपगतवत्यागतवति सति असौ चन्द्र उपपतिर्जार इव । 'जारस्तूपपतिः समौ ' इत्यमरः । स्रंसमानाशुको गलद्रश्मिक । शैषिकः कप्प्रत्ययः । स्रस्तवस्त्रश्च नीचैर्नम्रः सन्पश्चिमान्तेन पश्चिमदिक्कोणेन केनचिदपरद्वारेण द्रुततरमपयात्यपसरति यथापूर्वद्वारेण निजपतावागते पश्चान्मार्गेणोपपतिरपसरति तद्वदित्यर्थः । उपमालङ्कारः ॥ ६५ ॥

प्रलयमखिलतारालोकमह्नाय नीत्वा श्रियमनतिशयश्रीस्सानुरागां दधानः । गगनसलिलराशिं रात्रिकल्पावसाने मधुरिपुरिवभास्वानेप एकोऽधिशेते ॥ ६६ ॥

प्रलयमिति । अखिलस्तारालोको लोक इव तारा नक्षत्र तमखिलं तारालोकमह्नाय द्राक् प्रलय क्षय नीत्वा अत एव यतो नास्त्यतिशयं सानतिशया सर्वातिशायिनी श्रीर्महिमा यस्य सोऽनतिशयश्रीः सानुरागामुदयरागवतीं श्रिय शोभामन्यत्र सानुरागामनुरागवतीं श्रियं रमा च दधानः एव भास्वानेको मधुरिपुर्विष्णुरिव रात्रिः कल्पावसानं कल्पान्त इव तस्मिन् रात्रिकल्पावसाने गगन सलिलराशिरिव त गगनसलिलराशिमधिशेतेऽधितिष्ठति अत्र मधुरिपुरिवेति वाक्यगतोपमैव समासगतोपमाना प्रसाधिकेति सर्वत्रोपमितसमासाश्रयणमेवोचितम् ॥ ६६ ॥

कृतसकलजगद्विबोधोऽवधूतान्धकारोदयः क्षयितकुमुदतारकश्रीर्वियोग नयन् कामिनः । बहुतरगुणदर्शनादभ्युदतोऽल्पदोषः कृती तव वरद करोतु सुप्रातमह्नाय नायकः ॥ ६७ ॥

इति श्रीमाघकविकृतौ शिशुपालवधे महाकाव्ये प्रत्यूषवर्णनं नामैकादशः सर्गः ॥ ११ ॥

कृतेति । कृतसकलजगद्विबोधः कृताखिलजगत्प्रबोधः अवधूतो विक्षिप्तोऽन्धकारस्योदयः उज्जृम्भण येन सोऽवधूतान्धकारोदय इति महागुणोक्तिः । दोषमाह । क्षयिता नाशिता कुमुदानतारकाणा च श्रीर्येन सः।कामिनः स्त्रीपुंसां वियोग नयन्प्रापयन् तथापि बहुतरगुणस्य पूर्वोक्तमहागुणस्य दर्शनादभ्युदेतो लोकैरङ्गीकृतोऽल्पदोषः पूर्वोक्त एव यस्य सः। 'एको हि दोषो गुणसन्निपाते निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवाङ्कः' इति न्यायादिति भावः। अत एव कृती कृतार्थोऽयमह्ना नायकः प्रभुः सूर्यः हे वरद कामद ! तव सुप्रात सुप्रभात करोतु । आशिषि लिङ्लोटौ" इत्याशीरर्थे लोट् । शोभनं प्रातर्यस्येति सुप्रातः शोभनप्रातर्वोच्यते । "सुप्रातसुश्व" इत्यादिना बहुव्रीहावच्प्रत्ययान्तो निपातितः । अत्र भावप्रधानो निर्देशः । तव सुप्रातं सुप्रभातत्व करोत्वित्यर्थः । महामालिनी वृत्तमेतत् । "यदिह नयुगल ततो वेदरेफैर्महामालिनी" इति लक्षणात् ॥ ६७ ॥

इति श्रीमहामहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचिते माघकाव्यव्याख्याने सर्वङ्कषाख्ये एकादश सर्ग ॥११॥

द्वादशः सर्गः ।

एवं प्रभातं वर्णयित्वा भगवतः प्राभातिकप्रस्थानवर्णनाय प्रक्रमते—

इत्थं रथाश्वेभनिषादिनां प्रगे गणो नृपाणामथ तोरणाद्बहिः ।
प्रस्थानकालक्षमवेषकल्पनाकृतक्षणक्षेपमुदैक्षताच्युतम् ॥ १ ॥

इत्थमिति । इत्थम्भूते पूर्वसर्गोक्तविधे इत्यर्थः । प्रगे प्रातःकाले । 'सायं सायं प्रगे प्रातः' इत्यव्ययेष्वमरः । अथ सूर्योदयानन्तरं रथाश्वेभे निषीदन्तीति रथाश्वेभनिषादिनां रथेषु अश्वेषु इभेषु च स्थितानामित्यर्थः । नृपाणां गणः तोरणाद्भगवतः बाह्यद्वाराद्बहिः । "अपपरिबहिरञ्चवः पञ्चम्या" इति पञ्चमीसमासविधानात् ज्ञापकात्पञ्चमी । 'तोरणोऽस्त्री बहिर्द्वारम्' इत्यमरः । प्रस्थानकाले प्रयाणकाले क्षमं उचितो वेषः आकल्पः 'आकल्पवेषौ नेपथ्यम्' इत्यमरः । तस्य कल्पनया सम्पादनेन कृतः क्षणक्षेपः क्षणविलम्बो येन तमच्युतं हरिमुदैक्षत प्रतीक्षितवानित्यर्थः । अत्राच्युतविलम्बस्य विशेषणगत्या प्रतीक्षणहेतुत्वात्पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कारः । अस्मिन्सर्गे विषमपादयोर्जागतमिन्द्रवंशावृत्तम् । 'स्यादिन्द्रवंशा ततजैरसंयुतैः' इति लक्षणात् । समपादयोस्तु जागतमेव वंशस्थं वृत्तम् । 'जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरौ' इति लक्षणात् । तदेवमुभयमेलनादुपजातिभेदोऽयम् । अत एव त्रिष्टुबिन्द्रवज्रोपेन्द्रवज्रालक्षणानन्तरम् ' अनन्तरोदीरितलक्ष्मभाजौ पादौ यदीयावुपजातयस्ताः' इत्युक्त्वोक्तम् 'इत्थं किलान्यास्वपि मिश्रितासु वदन्ति जातिष्विदमेव नाम' इति ॥ १ ॥

स्वक्षं सुपत्रं कनकोज्ज्वलद्युतिं जवेन नागाञ्जितवन्तमुच्चकैः ।
आरुह्य तार्क्ष्यं नभसीव भूतले ययावनुद्घातसुखेन सोऽध्वना ॥ २ ॥

स्वक्षमिति । स हरिः शोभनोऽक्षश्चक्रधारणदारुभेदो यस्य तं स्वक्षम् । 'स्यादक्षश्चक्रधारणे' इति वैजयन्ती । अन्यत्र शोभनेन्द्रियम् । 'अथाक्षमिन्द्रियम्' इत्यमरः । सुपत्रं वाहनं यस्य तं स्वश्वमित्यर्थः । अन्यत्र सुपक्षम् 'पत्रं वाहनपक्षयोः' इत्यमरः । कनकोज्ज्वलद्युतिं कनकरचनावन्तं अन्यत्र कनकवदुज्ज्वलद्युतिं कनकवर्णम् । जवेन नागान् गजान् उरगांश्च जितवन्तं ततोऽधिकवेगमित्यर्थः । अन्यत्र नागान्तकमित्यर्थः । उच्चकैरुन्नतं तार्क्ष्यं रथं गरुडं च । 'तार्क्ष्यं स्यादश्वकर्णाख्यवृक्षे रथतुरङ्गयोः । तार्क्ष्यं रसाञ्जने तार्क्ष्यो गरुडे गरुडाग्रजे' इति विश्वः । आरुह्य नभसीव भूतले अनुद्घातेनाप्रतिघातेन सुखः सुगमः तेनाध्वना ययौ गरुडमारुह्य नभसीव रथमारुह्य भूतलेऽप्यप्रतिहतं ययौ गरुडवदेव तद्रथस्यापि सर्वत्राप्रतिहतगतित्वादित्यर्थः । नायं श्लेषः प्रकृताप्रकृतवादेऽपि तार्क्ष्यमिति विशेष्यश्लेषायोगादन्यत्राप्रसङ्गाच्च श्लेषसङ्कीर्णेयमुपमा ॥ २ ॥

हस्तस्थिताखण्डितचक्रशालिनं द्विजेन्द्रकान्तं श्रितवक्षसं श्रिया। सत्यानुरक्तं नरकस्य जिष्णवो गुणैर्नृपाः शार्ङ्गिण-मन्वयासिषुः ॥ २ ॥

हस्तेति। अत्र नृविशेषणानि शार्ङ्गिण्यपि विभक्तिविपरिणामेन योज्यानि । हस्तस्थितै-रखण्डितैश्चक्रैश्चक्ररेखाभिः शालन्त इति तथोक्ताः । अन्यत्र चक्रं सुदर्शनं तच्छालिनं द्विजेन्द्र-कान्ताः ब्राह्मणोत्तमप्रियाः अन्यत्र द्विजेन्द्रश्चन्द्रः 'तस्मात्सोमराजानो ब्राह्मणाः' इति श्रुतेः । अत एव 'द्विजराजः शशधरः' इत्यमरः । तद्वत्कान्तं सुन्दरं श्रिया शोभया श्रितवक्षसो व्या-प्तोरस्काः । अन्यत्र रमयाधिष्ठितोरस्कं सत्ये सत्यवचनेऽनुरक्ताः । अन्यत्र सत्यायां सत्यभामा-यामनुरक्तम् । नरकस्य जिष्णवः अन्यत्र नरकासुरस्य जेतारम् । "ग्लाजिस्थश्चग्स्नुः" इति ग्स्नुः। 'नरको निरये दैत्ये' इति विश्वः । एवंभूता नृपा एवंभूतं शार्ङ्गिणं गुणैर्विनयादिभिर्हेतुना अन्वयासिषुः अनुजग्मुः गुणैः पूर्वोक्तैरन्वकार्षुश्च । यातेर्लुङि च्लेः सिच् । "यमरम" इत्यादिना सगागमः सिच इडागमश्च "सिजभ्यस्त" इत्यादिना झेर्जुस् । अत्र शार्ङ्गिणो नृपाणाञ्च प्रकृतत्वात् शब्द-मात्रसाधर्म्याच्च केवलः प्रकृतिविषयः शब्दश्लेषः ॥ ३ ॥

शुक्लैः सतारैर्मुकुलीकृतैः स्थुलैः कुमुद्वतीनां कुमुदाकरैरिव । व्युष्टं प्रयाणं च वियोगवेदनाविदूननारीकमभूत्समं तदा ॥ ४ ॥

शुक्लैरिति। शुक्लैः शुभ्रैः सतारैः सरज्जुकैः सकर्णिकैश्च मुकुलीकृतैर्वहनसौकर्याय सङ्को-चितैः अन्यत्र रात्रिविकाशित्वान्मुकुलतां नीतैः प्रान्तैः स्थुलैर्दीर्घैः पटमण्डपैरिति यावत् । कुमु-दाकरैः कुमुदह्रदैरिवोपलक्षितम् अन्यत्र स्थुलैरिव कुमुदाकरैरुपलक्षितम् । वियोगवेदनया विर-हव्यथया विदूनाः परितप्ताः । "रदादिभ्यः" इति तिष्ठानत्वम् । ता नार्यो यस्मिंस्तत्तथोक्तम् । द्वयोरपि वियोगकालत्वादिति भावः । "नद्यृतश्च" इति कप् । कुमुदान्यासु सन्तीति कुमुद्वत्यः कुमुदप्रायाः भूमयः । 'कुमुद्वान् कुमुदप्राये' इत्यमरः । कैरविण्यो वा । 'कुमुद्वती कैरविण्याम्' इति विश्वः । "कुमुदनडवेतसेभ्यो ड्मतुप्" इति ड्मतुप्प्रत्ययः, "मादुपधायाः" इत्यादिना मका-रस्य वत्वम् । तासां कुमुद्वतीनां सम्बन्धे व्युष्टं प्रभातम् । 'व्युष्टं प्रभातं प्रत्यूषम्' इत्यभिधा-नचिन्तामणिः । तत्र किञ्चित्करत्वात्तत्सम्बन्धित्वं प्रयाणं च सेनानामिति शेषः । तदा तस्मिन् काले सममुक्तरीत्या अन्योन्यसदृशमभूत् । व्युष्टप्रयाणयोर्द्वित्वेऽपि समुदायविवक्षायामभूदित्ये-कवचनं व्युष्टं प्रयाणं च द्वयमपि सममभूदित्यर्थः । अत्र वर्ण्यत्वेन प्रकृतस्य प्रयाणस्य प्रकृतव्यु-ष्टसाम्योक्तेरुपमा श्लेषसङ्कीर्णा ॥ ४ ॥

उत्क्षिप्तगात्रः स्म विडम्बयन्नभः समुत्पतिष्यन्तमगेन्द्रमुच्चकैः । आकुञ्चितप्रोहनिरूपितक्रमं करेणुरारोहयते निषादिनम् ॥ ५ ॥

उत्क्षिप्तेति। उत्क्षिप्तगात्र उन्नमितपूर्वकायः अत एव नमः ख तत्प्रति समुत्पतिष्यन्तम् उत्पतनोद्युक्तम् अगेन्द्र महाद्रिं विडम्बयन्ननुकुर्वन्नित्युत्प्रेक्षा। अभूतोपमेति केचित्। उच्चकैरुन्नतः करेणुरिभः 'करेणुरिभ्यां स्त्री नेभे' इत्यमरः। आकुञ्चितो नमितः प्रोहः गजाङ्घ्रिः 'गजाङ्घ्रिः प्रोहः' इति विश्वः। तत्र निरूपितक्रम कृतपादन्यास निषादिन यन्तार आरोहयते स्म स्वयमेव स्वात्मन्यारोहयतीत्यर्थः। रोहेर्गत्यर्थत्वात् "गतिबुद्धि" इत्यादिना अणिकर्तुर्निषादिनः कर्मत्वम्। अत्र कर्त्रभिप्राये "णिचश्च" इत्यात्मनेपदे सिद्धेऽपि प्रयोगवैचित्र्यस्याप्यलङ्कारत्वादकर्त्रभिप्रायेऽपि 'णेरणौ यत्कर्म णौ चेत्सकर्त्तानाध्याने" इति आत्मनेपदम् वदन्ति। अणि कर्मणः करेणोरेवात्र ण्यन्तेकर्तृत्वात्तस्यैव चार्थात्कर्मत्वादिति। ननु यत्प्रग्रहणमान्यकर्मार्थमित्युक्त तेन कर्ममात्रनिषेधात्कथं निषादिनि कर्मण्यात्मनेपदम्। सत्यम्। अन्येषा मतम्। भाष्यकारस्य तु दर्शयते भृत्यान् राजेत्युदाहरणादणि कर्तृकर्मव्यतिरिक्तकर्मण एव निषेधो विवक्षित इति कैयटः। तदेतत्सम्यग्विवेचितमस्माभिः। किरातार्जुनीयटीकाया घण्टापथे 'स सन्तत दर्शयते गतस्मयः' इत्यत्र स्वभावोक्तिः॥ ५॥

स्वैरं कृतास्फालनलालितान्पुरः स्फुरत्तनून्दर्शितलाघवक्रियाः।
वंकावलग्नैकसवल्गपाणयस्तुरङ्गमानारुरुहुस्तुरङ्गिणः॥ ६॥

स्वैरमिति। तुरङ्गिणोऽश्वारोहाः पुरः पूर्वं स्वैरं मन्दं कृत यदास्फालन पाणितलेनांगसंघट्टन तेन लालिताननुपालितान्। त्याजितोद्वेगानित्यर्थः। अत एव स्फुरत्तनून् कम्पितदेहान् तुरङ्गमानश्वान्दर्शित लाघव शैघ्र्य यासु ताः क्रियाः उत्पतनकर्माणि येषान्ते वङ्कः पल्याणकोटिः 'वङ्कः पल्याणभागे स्यात्' इति विश्वः। तत्रावलग्नः सक्तः एकः एकैकः सवल्गो मुखरज्जुसहितः पाणिर्येषा ते तथोक्ताः सन्त आरुरुहुरारूढा। स्वभावोक्तिरलङ्कारः॥ ६॥

अह्नाय यावन्न चकार भूयसे निषेदिवानासनबन्धमध्वने।
तीव्रोत्थितास्तावदसह्यरंहसो विशृङ्खलं शृङ्खलकाः प्रतस्थिरे॥ ७॥

अह्नायेति। निषेदिवानुपर्युपविष्टा निषादीति शेषः। 'भाषायां सदवसश्रुवः" इति क्वसुप्रत्ययः। भूयसे दवीयसे अध्वने भूयासमध्वान गन्तुमित्यर्थः। "क्रियार्थोपपदस्य" इत्यादिना चतुर्थी। अह्नाय झटिति। 'स्राक् झटित्यञ्जसाह्नाय' इत्यमरः। यावदासनबन्ध दूराध्वगमनौपयिकमासनविशेषं न चकार तावत् तीव्र तीक्ष्णम् उत्थिताः असह्यरंहसो दुस्सहवेगाः शृङ्खलकाः करभा उष्ट्रभेदाः। 'करभाः स्युः शृङ्खलका दारवैः पादबन्धनैः' इत्यमरः। विशृङ्खलमनर्गलं प्रतस्थिरे प्रस्थिताः। "समवप्रविभ्यः स्थः" इत्यात्मनेपदम्। एषापि स्वभावोक्तिः॥ ७॥

गण्डोज्ज्वलामुज्ज्वलनाभिचक्रया विराजमानां नवयोदरश्रिया।
कश्चित्सुखं प्राप्नुमनाः सुसारथीरथी युयोजाविधुरां वधूमिव॥ ८॥

गण्डेति । सुखमक्लिष्टं यथा तथा प्राप्तुं गन्तुं मनो यस्य स प्राप्तुमनाः अन्यत्र सुखमानन्दं लब्धुकामः । "तुकाममनसोरपि" इति मकारलोपः । शोभनः सारथिर्यस्य स सुसारथिम् । अन्यत्र सुसहायवान् । कश्चित्कोऽपि रथी कामी च गण्डैश्चिह्नैः उज्ज्वलामन्यत्र कपोलैरुज्ज्वलाम् 'गण्डः कपोले चिह्ने च' इति विश्वः । उज्ज्वलो नाभिर्बिलमध्यं ययोस्ते चक्रे रथाङ्गे यस्यास्तयोज्ज्वलनाभिचक्रया अन्यतोज्ज्वलं नाभिचक्रं नाभिमण्डलं यस्यास्तया । 'नाभिः प्राण्यङ्गे क्षेत्रे चक्राङ्गचक्रवर्त्तिनोः' इति विश्वः । नवया प्रत्यग्रया उदुन्नता अराश्चक्रशलाकाः 'अरं शीघ्रे च चक्राङ्गे' इति विश्वः । तेषां श्रिया अन्यत्र उदरस्य मध्यस्य श्रिया शोभया विराजमानां विगता धूरग्रं यस्याः सा विधुरा । 'धूः स्त्री क्लीबे यानमुखम्' इत्यमरः । "ऋक्पूर" इत्यादिना समासान्तः । सा न भवतीत्यविधुरा । तां सधुरामित्यर्थः । अन्यत्राविधुरामविकलां रथीं शकटीम् । "बह्वादिभ्यश्च" इति विकल्पेन ङीष् । वधूमिव युयोज योजयामास । अत्र शब्दमात्रसाधर्म्यात्सभङ्गाभङ्गपदमिश्रणादुभयगोचरत्वाच्च प्रकृताप्रकृतगोचरगोचरः शब्दार्थश्लेषः ॥ ८ ॥

उत्थातुमिच्छन्विधृतः पुरो बलान्निधीयमाने भरभाजि यन्त्रके ।
अर्धोज्झितोद्गारिविझर्झरस्वरः स्वनाम निन्ये रवणः स्फुटार्थताम् ॥

उत्थातुमिति । रौतीति रवणः उष्ट्रः । 'रु शब्दे' इति धातोः "चलनशब्दार्थादकर्मकाद्युच्" इति युच्प्रत्ययः । भारारोपणाय यन्त्ररूपेण निर्मिते भरभाजि भारयुक्ते यन्त्रके गोण्यादौ निधीयमाने सति बलादुत्थातुमिच्छन् उत्थाय गन्तुमिच्छन् अत एव पुरो मुखभागे विधृतः गृहीतः एवं स्वैरचारव्याघाततः अर्धोज्झितेनोद्गारेण स्वजग्धपिचुमर्दादिपत्ररसनेन विझर्झरो विषमः स्वरो यस्य स रवणः उष्ट्रः स्वनाम स्फुटार्थतां निन्ये रौतीति रवण इति व्युत्पन्नं स्वं नाम यथार्थमकरोदित्यर्थः ॥ ९ ॥

नस्या गृहीतोऽपि धुवन्विषाणयोर्युगं ससूत्कारविवर्त्तितत्रिकः ।
गोणीजनेन स्म निधातुमुद्धृतामनुक्षणं नोक्षतरः प्रतीच्छति ॥ १० ॥

नस्येति । नस्ता नासिकाया नसादेशः । नासिकायां भवा नस्या । दिगादित्वाद्यत् । तस्यां नासिकाप्रोतरज्जौ गृहीतोऽपि विषाणयोर्युगं धुवन् विधुन्वन् शृङ्गद्वयं कम्पयन् । ससूत्कारेति । सूत्कार इति शब्दानुकरणम् । अमर्षजः सशब्दनिःश्वासो वा ससूत्कारं यथा तथा विवर्त्तितं त्रिकं पृष्ठवंशाधरसन्धिर्येन । 'पृष्ठवंशाधरे त्रिकम्' इत्यमरः । उक्षतरो महोक्षः पृष्ठे निधातुं जनेनानुक्षणमुद्धृतां गोणीं न प्रतीच्छति स्म न स्वीकृतवान् । निधातुमवसरं न दत्तवानित्यर्थः ॥ १० ॥

नानाविधाविष्कृतसामजस्वरः सहस्रवर्त्मा चपलैर्दुरध्ययः ।
गान्धर्वभूयिष्ठतया समानतां स सामवेदस्य दधौ बलोदधिः ॥ ११ ॥

नानेति । सामजाः गजाः । 'सामजौ गजसामोत्थौ' इति शाश्वतः । नानाविधमाविष्कृताः सामगाना स्वराः ध्वनयो बृंहितानि यस्मिन् सः सहस्रवर्त्मा बहुभिर्मार्गैर्गच्छन् । गन्धर्वा एव गान्धर्वा अश्वाः । 'वाजिवाहार्वगन्धर्व ' इत्यमरः । तैर्भूयिष्ठतया चपलैः स्थिरैः दुरध्ययो दुष्प्रापः । 'इण् गतौ 'इत्यस्मात्कृच्छ्रार्थे खल् । ईदृशः स बलोदधिः सेनासमुद्रः सामवेदस्य समानता दधौ तत्समोऽभूदित्यर्थः । सामवेदोऽपि बहुधाविष्कृतबृहद्रथान्तरादिसामोत्थितस्वरः सहस्रशाखत्वात्सहस्रवर्त्मा गान्धर्वगानबहुत्वाच्चपलमतिभिः अध्येतुमशक्य इत्यर्थः । 'इङ् अध्ययने' इत्यस्माद्धातोः खलि दुरध्यय इत्येव रूपम् ॥ ११ ॥

प्रत्यन्यनागं चलितस्त्वरावता निरस्य कुण्ठं दधताऽन्यमङ्कुशम् । मूर्द्धानमूर्ध्वायतदन्तमण्डलं धुवन्नरोधि द्विरदो निषादिना ॥ १२ ॥

प्रत्यन्येति । अन्यनाग प्रति चलितः ऊर्ध्वायतदन्तमण्डलं मूर्द्धानं धुवन् कम्पयन् द्विरद कुण्ठमतीक्ष्णम् अकुशं निरस्यान्यमकुण्ठमकुश दधता त्वरावता निषादिना अरोधि रुद्धः ॥ १२ ॥

सम्मूर्च्छदुच्छृङ्खलशंखनिःस्वनः स्वनः प्रयाते पटहस्य शार्ङ्गिणि । सत्त्वानि निन्ये नितरां महान्त्यपि व्यथां द्वयेषामपि मेदिनीभृताम् ॥ १३ ॥

सम्मूर्च्छदिति । ' मूर्च्छा मोहसमुच्छ्राययोः ' इति धातुः । सम्मूर्च्छन्नुच्छ्राय गच्छन् प्रचुरीभवन् उच्छृङ्खलोऽनर्गलः सर्वव्यापी शंखस्य निस्स्वनो यस्मिन् स शार्ङ्गिणि प्रयाते यातुमुपक्रान्ते पटहस्य स्वनः द्वयेषामुभयेषामपि मेदिनीभृता राज्ञा पर्वताना च महान्त्यपि सत्त्वानि बलानि भूतानि च नितरां व्यथा निन्ये कृष्णस्य पटहश्रवणाद्राज्ञा बलान्यभिभवशङ्कया व्यथितान्यासन्, तथा गिरिस्थिताः सिंहादयो जन्तवश्च किमिदमिति सत्रासा आसन्नित्यर्थः । ' व्यवसाये स्वभावे च पिशाचादौ गुणे बले । द्रव्यात्ममात्रयोश्चैव सत्त्व प्राणिषु जन्तुषु ' इति शाश्वतः ॥ १३ ॥

कालीयकक्षोदविलेपनश्रियं दिशद्दिशामुल्लसदंशुमद्द्युति । खातं खुरैर्मुद्गभुजां विपप्रथे गिरेरधः काञ्चनभूमिजं रजः ॥ १४ ॥

कालीयेति । कालीय कुङ्कुम ' काश्मीरजन्म घुसृण कालीय कुंकुमं विदुः' इति शाश्वतः । कालीयकक्षोदैः कुङ्कुमचूर्णैः कृतानुलेपनश्रिय दिशां दिशत् ददत् । उल्लसदंशुमद्द्युति उद्यदादित्यसमा द्युतिर्यस्य तत् मुद्गभुजामश्वाना खुरैः खात विदारितं काञ्चनभूमिज रजो गिरेरधो गुरुत्वाद्गिरेरवस्तादेव विपप्रथे विस्तीर्णमभवत् ॥ १४ ॥

मन्द्रैर्गजानां रथमण्डलस्वनैर्निजुह्नुवे तादृशमेव बृंहितम् ।
तारैर्बभूवे परभागलाभतः परिस्फुटैस्तेषु तुरङ्गहेषितैः ॥ १५ ॥

मन्द्रैरिति । मन्द्रैर्गम्भीरैः । ' मन्द्रस्तु गम्भीरे ' इत्यमरः । रथमण्डलस्वनैः तादृश तद्रूपमेव गजाना बृहित निजुह्नुवे तिरस्कृतम् । गजध्वनिरेकरूपत्वेन रथशब्दान्न पृथगश्रावीत्यर्थः । तारैरुच्चैस्तरैर्मन्द्रस्वरविलक्षणैस्तुरङ्गहेषितैः परभागलाभतस्तेषु तादृशध्वनिगुणभेदलाभात्तेषु गजादिस्वनेषु परिस्फुटैर्बभूवे तुरङ्गहेषाः सुव्यक्ता एव शुश्रुविरे इत्यर्थः । ' बृंहित करिणा शब्दो हेषा ह्रेषा च वाजिनाम् ' बभूवे इति भावे लिट् । निजुह्नुवे इति कर्मणि लिट् ॥ १५ ॥

अन्वेतुकामोऽवमताङ्कुशग्रहस्तिरोगतं साङ्कुशमुद्वहञ्छिरः ।
स्थूलोच्चयेनागमदन्तिकागतां गजोऽग्रयाताग्रकरः करेणुकाम् १६

अन्वेत्विति । अन्तिकागता करेणुका करिणीम् अन्वेतुकामोऽनुगन्तुकाम अङ्कुश गृह्णातीत्यङ्कुशग्रहो निषादी सोऽवमतो येन सः निषादिना साङ्कुशं तिरोगतम् अङ्कुशाकर्षणेन तिर्यग्भूत शिरो मस्तकम् उद्वहन् गज. अग्रयाताग्रकरः करिणीग्रहणाय प्रसारितकराग्रो भूत्वा स्थूलोच्चयेन गतिविशेषेणागमत् जगाम । 'गजमध्यगतौ स्थूलोच्चयः साकल्यपुञ्जयो. ' इति रत्नप्रकाशः ॥ १६ ॥

यान्तोऽस्पृशन्तश्चरणैरिवावनिं जवात्प्रकीर्णैरभितः प्रकीर्णकैः ।
अद्यापि सेनातुरगाः सविस्मयैरलूनपक्षा इव मेनिरे जनैः ॥ १७ ॥

यान्त इति । जवाद्वेगाच्चरणैरवनिमस्पृशन्त इव यान्त , सेनातुरगाः अभित प्रकीर्णैरुभयतः प्रसृतैः प्रकीर्णकैश्चामरैः । ' चामरन्तु प्रकीर्णकम् ' इत्यमरः । कण्ठभूषणचामरैर्हेतुभिरद्यापि अलूनपक्षा इवेति सविस्मयैर्जनैर्मेनिरे । पूर्वं तुरगाणामपि पक्षा आसन् पश्चात्केनचित्कारणेन देवैः पक्षच्छेद' कारित इति प्रसिद्धिः ॥ १७ ॥

ऋज्वीर्दधानैरवतत्य कन्धराश्चलावचूडाः कलघर्घरारवैः ।
भूमिर्महत्यप्यविलम्बितक्रमं क्रमेलकैस्तत्क्षणमेव चिच्छिदे १८

ऋज्वीरिति । ऋज्वीरवक्राश्चलावचूडा. चलितकण्ठभूषणा. । ' शिरश्शिखाभूषणेषु चूडा' इति यादवः । चलितशिरस इति वा । कन्धराः शिरोधराः अवतत्य वितत्य दधानैः कलघर्घरारवैः । ' घर्घरा क्षुद्रघण्टी स्यात् ' इति कोशः । अथवा घर्घरारव इति शब्दानुकरणम् । क्रमेलकैरुष्ट्रैरविलम्बितक्रमं क्रमः पादक्षेप. द्रुतपादक्षेप यथा तथा महत्यपि भूमिस्तत्क्षणमेव चिच्छिदे । अतिक्रान्ता । स्वभावोक्तिः ॥ १८ ॥

तूर्णं प्रणेत्रा कृतनादमुच्चकैः प्रणोदितं वेसरयुग्यमध्वनि ।
आत्मीयनेमिक्षतसान्द्रमेदिनीरजश्चयाक्रान्तिभयादिवाद्रवत् १९

तूर्णमिति । प्रणेत्रा सारथिना प्रणोदित गमनाय प्रेरितम् । अत एव उच्चकैरुच्चैस्तरा कृतनाद यथा तथा वेसरयुग्मम् । अङ्कराश्वो वेसर । वेसराभ्या युग्य शकटमात्मीयनेमि स्वचक्रधारा तया क्षतस्य सान्द्रस्य मेदिनीरजसश्चयेन समूहेन यदाक्रमण तद्भयादिव तूर्णमध्वनि अद्रवत् । आत्मीयनेमिसमुद्भूतधूलिजालेनास्पृष्ट सद्रुतमगमदित्यर्थः ॥ १९ ॥

व्यावृत्तवक्त्रैरखिलश्चमूचरैर्व्रजद्भिरेव क्षणमीक्षिताननाः ।
वल्गद्गरीयस्स्तनकम्प्रकञ्चुकं ययुस्तुरङ्गाधिरुहोऽवरोधिकाः २०

व्यावृत्तेति । व्यावृत्तवक्त्रैर्विवृत्तमुखैर्व्रजद्भिरेवाखिलैश्चमूचरैः क्षणमीक्षिताननाः तुरङ्गाधिरुहस्तुरङ्गानधिरोहन्तीति क्विप् । तुरङ्गाधिरूढाः अवरोधिका' अवरोधस्त्रियः वल्गद्भिश्चलद्भिः गरीयोभिर्गुरुतरैः स्तनैः कम्प्र' कम्पनशील' कञ्चुकः कूर्पासो यस्मिन् कर्मणि तद्यथा तथा ययुः । 'नमिकम्पि'' इत्यादिना रप्रत्ययः ॥ २० ॥

पादैः पुरः कूबरिणां विदारिताः प्रकाममाक्रान्ततलास्ततो गजैः ।
भग्नोन्नतानन्तरपूरितान्तरा बभुर्भुवः कृष्टसमीकृता इव ॥ २१ ॥

पादैरिति । कूबरिणा रथानाम् । 'कूबरस्तु युगन्धर.' इत्यमरः । स एषामस्तीति ते रथास्तेषा पादैश्चक्रैः पुरः पूर्वं विदारितः ततो गजैः प्रकाममाक्रान्ततलाः भग्नेक्तप्रकारेण पूर्वं भग्नत्वादुन्नतैरनन्तरैरुभयभागे पूरितान्तरा समीकृतनिम्नप्रदेशः । यद्वा पूर्वं रथचक्रविदारितत्वाद्भग्नोन्नता अनन्तर गजपतिपरिक्रमणेन पूरितानतप्रदेशाः भुव. कृष्टसमीकृता पूर्वं हलैः कृष्टा अनन्तर बीजवपनार्थं समीकृता इव बभु शुशुभिरे ॥ २१ ॥

दुर्दान्तमुत्प्लुत्य निरस्तसादिनं सहासहाकारमलोकयज्जनः ।
पर्याणतस्त्रस्तमुरोविलम्बिनस्तुरङ्गमं प्रद्रुतमेकया दिशा॥२२॥

दुर्दान्तमिति । उरोविलम्बिन पर्याणतः पल्ययनतस्त्रस्तमत एवोत्प्लुत्य निरस्तसादिनं स्वपृष्ठात्पातितारोहम् एकया दिशा द्रुत पलायित दुर्दान्त दुर्विनीतं तुरङ्गम हासकृतेन हाकारेण सह यथा तथा जनोऽवलोकयत् अवलोकितवान् ॥ २२ ॥

भूभृद्भिरप्यस्खलिताः खलून्नतैरपह्नुवाना सरितः पृथूरपि ।
अन्वर्थसञ्ज्ञैव परं त्रिमार्गगाययावसंख्यैः पथिभिश्चमूरसौ ॥२३॥

भूभृद्भिरिति । उन्नतैरपि भूभृद्भिः भूधरैर्भूपैश्चास्खलिता अप्रतिहताः पृथूर्महतीरपि सरितो यमुनाप्रभृतीर्नदीरपह्नुवाना स्वमहिम्नाच्छादयन्ती त्रिभिर्मार्गैर्गच्छतीति त्रिमार्गगा गङ्गा परमत्यन्तमन्वर्था अनुगतार्था सञ्ज्ञा त्रिमार्गगेति नामधेय यस्या. सैव खलु त्रिभिरेव मार्गैर्ययौ न चतुर्थेनेत्यर्थ । असौ चमूस्त्वसंख्यै पथिभिर्ययौ अतो गङ्गाया अप्यधिका चमूरिति भाव. । अत एव व्यतिरेकालङ्कारः । 'भेदप्राधान्यसाधर्म्यमुपमानोपमेययोः । अधिकाल्पत्वकथनाद्व्यतिरेक स उच्यते' इति लक्षणात् ॥ २३ ॥

त्रस्तौ समासन्नकरेणुसूत्कृतान्नियन्तरि व्याकुलमुक्तरज्जुके ।
क्षिप्तावरोधाङ्गनमुत्पथेन गां विलङ्घ्य लघ्वीं करभौ बभञ्जतुः २४॥

त्रस्ताविति । समासन्नस्य प्रत्यासन्नस्य करेणोरिभस्य सूत्कृतात्सूत्कारात्त्रस्तौ करभौ वेसरौ । 'करभो वेसरेऽप्युष्ट्रे' इति सज्जनः । नियन्तरि सारथौ व्याकुल व्यग्र यथा तथा मुक्तरज्जुके त्यक्तप्रग्रहे सति क्षिप्ताः पातिताः अवरोधाङ्गना यस्मिन् कर्मणि तद्यथा तथा उत्पथेनापथेन । "ऋक्पूर" इत्यादिना समासान्तः । गा भूमिं विल‌ङ्घ्य दूरमतीत्य लघ्वीं रथवि-शेषं 'लघ्वी लाघवयुक्ताया प्रभेदे स्यन्दनस्य च' इति हैमः । बभञ्जतुः भग्नवन्तौ । अत्र त्रासस्य विशेषणगत्या भञ्जनहेतुत्वात्पदार्थहेतुक काव्यलिङ्ग स्वभावोक्त्या सङ्कीर्यते ॥ २४ ॥

स्रस्ताङ्गसन्धौ विगताक्षपाटवे रुजा निकामं विकलीकृते रथे ।
आप्तेन तक्ष्णा भिषजेव तत्क्षणं प्रचक्रमे लङ्घनपूर्वकक्रमः २५ ॥

स्रस्तेति । स्रस्ता विश्लिष्टा अङ्गयोरथाङ्गयोरङ्गाना करचरणादीना च सन्धय सन्धिभागा यस्य तस्मिन् विगतमक्षस्य चक्राधारकाष्ठस्याक्षाणामिन्द्रियाणा च पाटव सामर्थ्य यस्य तस्मिन् रथे स्यन्दने शरीरे च । 'रथः स्यात्स्यन्दने काये' इति विश्वः । रुजा भङ्गेन रोगेण च निकाम विकलीकृते सति आप्तेन हितेन तक्ष्णा वर्द्धकिना आप्तेन भिषजा वैद्येनेव । 'तक्षा तु वर्द्धकिस्त्वष्टा' इत्यमरः । तत्क्षणं तस्मिन्नेव क्षणे । अत्यन्तसयोगे द्वितीया । लवन पादेना-क्रमणम् उपवासश्च । 'लघन तूपवासे स्याद्गमने प्लवनेऽपि च' इति विश्व. । तत्पूर्वक क्रमो विधि प्रचक्रमे प्रक्रान्तः । प्रायेण ज्वरादिचिकित्साया लवनपूर्वकत्वादिति भावः । श्लेषालङ्कारः ॥ २५ ॥

धूर्भङ्गसंक्षोभविदारितोष्ट्रिकागलन्मधुप्लावितदूरवर्त्मनि ।
स्थाणौ निषङ्गिण्यनसि क्षणं पुरः शुशोच लाभाय कृतक्रयो वणिक्

धूर्भङ्गेति । स्थाणौ कीले । 'स्थाणु. कीले स्थिरे हरे' इति विश्व' । निषङ्गिणि सक्ते अनसि शकटे । 'क्लीबेऽन शकटोऽस्त्री स्यात्' इत्यमरः । धुरोऽक्षस्य भङ्गेन य. संक्षोभो विपर्यासः तेन विदारिता भिन्ना या उष्ट्रिका मृन्मय मद्यभाण्डम् । 'उष्ट्रिका मृत्तिकाभाण्डभेदे करभयोषिति' इति विश्व. । ततो गलता स्रवता मधुना मद्येन प्लावित सिक्त दूरवर्त्म दीर्घाध्वा येन तस्मिन् तथा सति पुरः पूर्वं लाभाय कृतः क्रय क्रयणं येन स वणिक् क्षण शुशोच । अत्र मधुस्रावधन-व्यययोर्विशेषणगत्या शोकहेतुत्वात्काव्यलिङ्गभेद ॥ २६ ॥

भेरीभिराक्रुष्टमहागुहामुखो ध्वजांशुकैस्तर्जितकन्दलीवनः ।
उत्तुङ्गमातंगजितालघूपलो बलैः सपक्षाद् क्रियते स्म भूधरः २७॥

भेरीभिरिति । भेरीभिराक्रुष्टानि निन्दितानि महान्ति गुहामुखानि येन स भेरीझङ्कार-भर्त्सितनितान्तवात्यामुखरमहागुहाद्वार इत्यर्थः । ध्वजांशुकैस्तर्जितानि भर्त्सितानि कन्दली-दलानि गुल्मपत्राणि येन स उत्तुङ्गैर्जिताः अलघूपला. स्थूलपाषाणा येन सः । भूधरो रैवतकाद्रि

बलैः सैन्यैः पश्चात् क्रियते स्म पश्चात्कृत , स्वय दूरगमनेन पृष्ठतः कृत इत्यर्थः।उक्तविशेषणमहिम्ना अधरीकृत इति च प्रतीयते । "लट् स्मे" इति भूतार्थे लट् । आक्रुष्टेति क्रोशतेः कर्मणि क्तः । व्रश्चादित्वात् षत्वे ष्टुत्वम् । अत्र पश्चात्करणस्याक्रुष्टादिपदार्थहेतुकत्वात्काव्यलिङ्गम्, तच्चोक्तप्रतीयमानाभेदाध्यवसायादिति श्लेषमूलातिशयोक्तिसङ्कीर्णम् । तेन बलानां भूधरौपम्य गम्यत इत्यश्चालङ्कारेणालङ्कारध्वनिः ॥ २७ ॥

वन्येभदानानिलगन्धदुर्द्धराः क्षणं तरुच्छेदविनोदितक्रुधः ।
व्यालद्विपा यन्तृभिरुन्मदिष्णवः कथञ्चिदारादपथेन निन्यिरे२८

वन्येभेति । वन्येभदानानिलगन्धेन वनगजमदमारुतगन्धाघ्राणेन दुर्द्धरा. क्रोधान्धाः दुर्ग्रहाः। अत एव क्षण तरुच्छेदेन विनोदितक्रुधः प्रतिगजासान्निध्ये वृक्षाणा भङ्गेनापनीतक्रोधाः उन्मदिष्णवोऽत्यन्तमदशीला' । ' अलङ्कृञ् ' इत्यादिना इष्णुच् । व्यालद्विपा' दुष्टगजाः' यन्तृभिराधोरणैः कथञ्चिदारात् दूरादपथेनामार्गेण । " पथो विभाषा " इति निषेधविकल्पात् ' ऋक्पूर ' इत्यादिना समासान्त 'अपथ नपुसकम्" इति नपुसकत्वम् । निन्यिरे नीताः । अत्रापि द्विपविशेषणानां तदुपमेयहेतुकत्वात्काव्यलिङ्ग सत्स्वभावोक्त्या सङ्कीर्य्यते ॥ २८ ॥

तैर्वैजयन्तीवनराजिराजिभिर्गिरिप्रतिच्छन्दमहामतङ्गजैः ।
बह्वीः प्रसर्प्पज्जनतानदीशतैर्भुवो बलैरन्तरयाम्बभूविरे ॥ २९ ॥

तैरिति । वैजयन्त्य. पताकास्ता वनराजय इव ताभी राजन्तीति तथोक्तैः गिरीणा प्रतिच्छन्दा प्रतिनिधयस्तत्सदृशा इत्यर्थः । एतस्मादेव स्पष्टोपमालिङ्गादन्यत्राप्युपमितसमासाश्रयणम । ते महामतङ्गजा येषु तैः । जनता जनसमूहस्ता नद्य इव तासा शतानि प्रसर्प्पन्ति प्रवहन्ति येषु तैर्बलैस्तथोक्तैः सैन्यैः । बह्वयो बहव. । ' बह्वादिभ्यश्च " इति विकल्पादीकारः । भुवो भूमय अन्तरयाम्बभूविरे अन्तरा दूराः कृता इति । अतिक्रान्ता इत्यर्थः । न केवलं रैवतकाद्रिरेवेति भाव । बलैर्वैपुल्यादाच्छादिता इत्यर्थ । उक्तविशेषणावगतसादृश्यादगृहीतभेदा. कृता इति च गम्यते । एतेनाभेदाध्यवसायादेवास्याक्रमणरूपान्तरीकरणस्य बलविशेषणावगतसादृश्यस्य हेतुत्वात्तदङ्गभूतोपमसङ्कीर्णं पदार्थहेतुक काव्यलिङ्ग श्लेषमूलाभेदातिशयोक्त्युत्थापितमिति सङ्कर । अन्तरशब्दात् " तत्करोति" इति ण्यन्तात्कर्मणि लिट् । आम्प्रत्यये भुवो ऽनुप्रयोग' ॥ २९ ॥

तस्थे मुहूर्तं हरिणीविलोचनैः सदृशि दृष्ट्वा नयनानि योषिताम् ।
मत्वाथ सत्रासमनेकविभ्रमक्रियाविकाराणिमृगैः पलाय्यत॥३०॥

तस्थ इति । हरिणीविलोचनैः सदृशि सदृशानि । " नपुसकस्य झलच" इति नुम् । योषितां नयनानि दृष्ट्वा । मृगैः कृष्णसारैः । कर्तृभिः । मुहूर्त्तमल्पकालम् । 'मुहूर्त्तमल्पकाले स्याद्घटिकाद्वितयेऽपि च' इति विश्वः । तस्थे स्थितम् । हरिणीविलोचनशङ्कयेति भावः । अथा-

नन्तरमनेकविभ्रमक्रिया विलासक्रिया एव विकारा येषां तानि मत्वा सविलासानि ज्ञात्वेत्यर्थः । सत्रास सभय तथा तथा पलाय्यत पलायितम् हारिणीदुर्लभैर्विलासयोषिन्निश्चयादिति भावः । अत एव निश्चयन्त' सशयालङ्कारः । परापूर्वादयतेर्भावे लङ् । " उपसर्गस्यायतौ " इति लत्वम् ॥ ३० ॥

निम्नानि दुःखादवतीर्य्य सादिभिः सयत्नमाकृष्टकशाःशनैश्शनैः।
उत्तेरुरुत्तालखुरारवं द्रुता श्लथीकृतप्रग्रहमर्वतां व्रजाः ॥ ३१ ॥

निम्नानीति । अर्वतामश्वानाम् । 'वाजिवाहार्वगन्धर्वहयसैन्धवसप्तयः' इत्यमर. । ' अर्व-णस्त्रसावनञः " इति त्रादेश' । व्रजा समूहाः । सादिभिरश्वारूढै. सयत्नमाकृष्टकशा दृढगृहीतवल्गाः सन्तः । यद्यपि अश्वादेस्ताडिनी कशा ' इत्यमर' । तथा'पत्र ताडिनीवल्गयो कशेति दर्शनादविरोधः । शनैश्शनैर्दु.खात्कृच्छ्रान्निम्नानि निम्नभूमदेशानवतीर्य उत्तालखुरारवम् उच्चतरखु-रशब्द श्लथीकृतप्रग्रह शिलिथितवल्गं च यथा तथा द्रुता' सत्वरा. सन्त उत्तेरु. उत्पुप्लुविरे । निम्नेषु शनैरवतीर्य दीर्घं धावन्तीत्यश्वानां स्वभाव इति भाव । अत एव स्वभावोक्ति ॥ ३१ ॥

अध्यध्वमारूढवतेव केनचित् प्रतीक्षमाणेन जनं मुहुर्धृतः ।
दाक्ष्यं हि सद्यः फलदं यदग्रतश्चखाद दासेरयुवा वनावलीः॥३२॥

अध्यध्वमिति । दक्षस्य भावो दाक्ष्यं कौशल सद्य. फलदम् । कुत । यद्यस्मादध्य-ध्वमध्वनि विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः " अनश्च " इति समासान्तोऽच्प्रत्यय. " नस्तद्धिते " इति टिलोप । आरूढवतेव आरुह्येव स्थितेन । "निष्ठा" इति रुहे. क्तवतुप्रत्यय । जन शनै' पश्चा-दागच्छन्त स्वजनं प्रतीक्षमाणेन केनचित्पुंसेति शेष । मुहुर्धृत स्थापितोऽपि दासेरयुवा तरुणोष्ट्र । विशेषणसमासः । अग्रतो वनावलीश्चखाद । पुर पिचुमर्दादिक भक्षयन्नास्त इत्यर्थ. । न हि कुशलो वृथा काल यापयतीति भावः । अत्र दाक्ष्यसाफल्यस्य सामान्यस्य तद्विशेषेण दासेरकौश-लेन समर्थनाद्विशेषेण सामान्यसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यास ॥ ३२ ॥

शौरेः प्रतापोपनतैरितस्ततः समागतैः प्रश्रयनम्रमूर्तिभिः ।
एकातपत्रा पृथिवीभृताङ्गणैरभूद्बहुच्छत्रतया पताकिनी ॥३३॥

शौरेरिति । शौरेः कृष्णस्य पताकिनी सेना । श्रीह्यादित्वादिनि । प्रतापेन हरितेजसा उपनतैर्नम्रैर्विधेयैरित्यर्थः । अत एवेतस्ततः समागतै पार्श्वदेशादागतै प्रश्रयनम्रमूर्तिभिर्हरि-सन्निधौ विनयनम्रविग्रहैः पृथिवीभृतां राज्ञां गणैः हेतुना बहुच्छत्रतया असङ्ख्यातपत्रवत्तया निमित्तेन एकानि केवलानि आतपत्राणि यस्याः सा एकातपत्रा केवलातपत्रमयी अभूत् । आतपत्रातिरिक्तं न किञ्चिदलक्ष्यतेत्यर्थः । ' एके मुख्यान्यकेवलाः' इत्यमरः । बहुच्छत्रापेक-च्छत्रेति विरोधभासनाद्विरोधाभासोऽलङ्कारः ॥ ३३ ॥

आगच्छतोनूचि गजस्य घण्टयोःस्वनं समाकर्ण्य समाकुलाङ्गनाः
दूरादपावर्त्तितभारवाहणापथोऽपसस्रुस्त्वरितं चमूचराः ॥ ३४ ॥

आगच्छत इति । अन्वञ्चतीत्यन्वङ् तस्मिन् अनूची पृष्ठदेशे । "ऋत्विक्" इत्यादिनाञ्चे. क्विन्प्रत्ययः । आगच्छतो गजस्य घण्टयोः स्वनं समाकर्ण्य समाकुलाङ्गना· सम्भ्रान्तवधूका· चमूचरा· दूरादेवापवर्त्तिता अपसारिता भारस्यान्नादेर्वाहना भारवाहणा भारवाहिन उष्ट्रादयो यैस्ते तथा सन्त । "वाहनमाहितात्" इति णत्वम् । वहेर्ण्यन्तात्कर्त्तरि ल्युट् त्वरित शीघ्र पथो मार्गादपसस्रुरपजग्मु· । स्वभावोक्तिः ॥ ३४ ॥

ओजस्विवर्णोज्ज्वलवृत्तशालिनः प्रसादिनोऽनुज्झितगोत्रसंविदः।
श्लोकानुपेन्द्रस्य पुरः स्म भूयसो गुणान् समुद्दिश्य पठन्ति बन्दिनः

ओजस्वीति । वन्दिन स्तुतिपाठकाः 'वन्दिन· स्तुतिपाठका·' इत्यमर· । ओजस्विवर्णस्य तेजस्विवर्णस्य क्षत्रजातेर्यदुज्ज्वलं वृत्तमुदग्रव्यापार विजयाख्य तेन शालत इति ओजस्विवर्णोज्ज्वलवृत्तशाली तस्य, अन्यत्र ओजस्विवर्णै· समासभूयिष्ठाक्षरैरुज्ज्वलास्ते च ते वृत्तशालिनो वसन्ततिलकादिच्छन्दोविशेषशालिनश्च । 'वृत्त चरित्रच्छन्दसोरपि' इति विश्व· । तान् । प्रसादोऽस्यास्तीति प्रसादी तस्य प्रसादिनोऽनुग्रहशीलस्य । अन्यत्र प्रसादगुणयुक्तान् । 'प्रसिद्धार्थपदत्व यत्स प्रसादो निगद्यते' इति । अनुज्झितौ गोत्रसंविदौ कुलाचारौ येन तस्य यादववंशोत्पन्नस्येत्यर्थ । अन्यत्र कुलनामनी यैस्तान् । वंशनामाङ्कितानित्यर्थः । 'संविद्युद्धे प्रतिज्ञाया सङ्केताचारनामसु' इति वैजयन्ती । एवम्भूतस्य उपेन्द्रस्य हरेर्गुणान्समुद्दिश्याधिकृत्य भूयसो बहुलान् श्लोकान् स्तुतिपद्यानि पुरोऽग्रे पठति स्म । अत्रोपेन्द्रस्य तच्छ्लोकानां च वर्ण्यत्वेन प्रकृताना श्लेषसाधर्म्यादौपम्यगम्यताया श्लेषप्रतिभोत्थापिता केवलप्रकृतगोचरा तुल्ययोगिता श्लेषश्च प्रकृतिषु प्रत्ययेषु नेत्यालङ्कारिकाः ॥ ३५ ॥

निश्शेषमाक्रान्तमहीतलो जलैश्चलन् समुद्रोऽपि समुज्झति
स्थितिम् । ग्रामेषु सैन्यैरकरोदवारितः किमव्यवस्थां चलि-
तोऽपि केशवः ॥ ३६ ॥

निश्शेषमिति । चलन् कल्पान्ते क्षुभितः समुद्रोऽपि जलैर्निःशेषमाक्रान्तमहीतल· सन् स्थिति मर्य्यादा वेलालङ्घनलक्षणा समुज्झति त्यजति केशवस्तु चलितोऽपि प्रस्थितोऽपि अवारितैरपरिमितै· सैन्यैर्निःशेषमाक्रान्तमहीतल सन् ग्रामेषु अव्यवस्थाममर्य्यादा किमकरोन्नाकरोदेवेत्यर्थ । अत्रोपमानात्समुद्रादुपमेयस्य केशवस्य मर्य्यादानतिक्रमेणाधिक्यकथनाद्व्यतिरेकालङ्कार· । लक्षण तूक्तम् ॥ ३६ ॥

कोशातकीपुष्पगुलुच्छकान्तिभिर्मुखैर्विनिद्रोल्बणबाणचक्षुषः ।
ग्रामीणवध्वस्तमलक्षिता जनैश्चिरं वृतीनामुपरि व्यलोकयन्॥३७॥

कोशातकीति । कोशातकीपुष्पगुलुच्छकान्तिभिः पटोलीप्रसूनगुच्छसच्छायैः । ईषत्पाण्डुरैरित्यर्थः । 'कोशातकी पटोली स्यात्' इति हलायुधः । मुखैरुपलक्षिताः विनिद्र विकस्वितम् अत एवोल्वणं विपुलं दृगं नीलमैरेयपुष्पमिव चक्षुर्यासां ताः । 'नीली झिण्टी द्वयोर्वाणा' इत्यमरः । ग्रामेषु भवा ग्रामीणाः । "ग्रामाद्यखञौ" इति खञ्प्रत्ययः । ताश्च वध्वः स्त्रिय इत्यागन् । ग्रामान्तर्गतानित्येतिदिति भावः । जनैश्च मूचैर्गलक्षिता । वृतिभिस्तिरोहिता इत्यर्थः । चिरं वृतीनां कण्टकशाखावरणानामुपरि उपरितनावकाशे व्यलोकयन् । उपमास्वभावोक्त्योः सङ्करः ॥ ३७ ॥

गोष्ठेषु गोष्ठीकृतमण्डलासनान्सनादमुत्थाय मुहुः स वल्गतः ।
ग्राम्यानपश्यत्कपिशं पिपासतः स्वगोत्रसङ्कीर्तनभावितात्मनः ॥ ३८ ॥

गोष्ठेष्विति । स कृष्णो गावस्तिष्ठन्त्येष्विति गोष्ठानि गोस्थानानि । 'गोष्ठं गोस्थानकम्' इत्यमरः । "सुपि स्थः" इति कप्रत्ययः 'अम्बाम्बगोभूमि' इत्यादिना षत्वम् । गोष्ठीषु वार्त्तासु । 'गोष्ठी सभायामालापे' इति विश्वः । कृतानि मण्डलासनानि मण्डलाकारेणोपवेशनानि यैस्तान्मुहुः सनादं क्ष्वेलाट्टहासाद्याराविसहितं यथा तथोत्थाय वल्गतः उत्प्लवमानान् कपिशं मद्यम् । 'कप्यं मद्यं च मैरेयं कपिशं कापिशायनम्' इति हलायुधः । पिपासतो मुहुर्मुहुः पातुमिच्छतः । पिबतेः सन्नन्तात् लटः शतरि शप् । स्वगोत्रसङ्कीर्तने स्वनामसङ्कीर्तने भावितात्मनः प्रवर्तितचित्तान् कृष्णनामानि गायत इत्यर्थः । ग्रामेषु भवान् ग्राम्यान् गोपजनानित्यर्थः । "ग्रामाद्यखञौ" इति यप्रत्ययः । अपश्यदालोकितवान् । स्वभावोक्तिः ॥ ३८ ॥

पश्यन्कृतार्थैरपि वल्लवीजनो जनाधिनाथं न ययौ वितृष्णताम् ।
एकान्तमौग्ध्यानवबुद्धविभ्रमैः प्रसिद्धविस्तारगुणैर्विलोचनैः ॥ ३९ ॥

पश्यन्निति । एकान्तमौग्ध्येनात्यन्तमुग्धतया अनवबुद्धविभ्रमैरज्ञातविलासैः किन्तु प्रसिद्धो विस्तार एव गुणो येषां तैरतिविशालैरित्यर्थः । कृतार्थैरपि सकृद्दर्शनालब्धचिरतारफलैरित्यर्थः । विलोचनैर्जनाधिनाथं कृष्णं पश्यन् वल्लवीजनो गोपाङ्गनाजनः वितृष्णतां तृप्ततां न ययौ । भूयो भूयः पश्यन्नपि नालम्बुद्धिमवापेत्यर्थः । तृप्तिकारणे दर्शने सत्यपि तृप्तिकार्यानुत्पत्तेर्विशेषोक्तिः सा कृष्णस्य मदनकोटिलावण्यलक्ष्मीं व्यञ्जयति ॥ ३९ ॥

प्रीत्या नियुक्ताँल्लिहतीः स्तनन्धयान्निगृह्य पारीमुभयेन जानुनोः ।
वर्द्धिष्णुधाराध्वनि रोहिणीः पयश्चिरं निदध्यौ दुहतः स गोदुहः ॥ ४० ॥

प्रीत्येति । नियुक्तान् वामपादे एव संयतान् स्तनन्धयन्ति पिबन्तीति स्तनन्धयान्वत्सान् । "नासिकास्तनयोर्ध्माधेटोः" इति धेटः खश्प्रत्ययः । प्रीत्या वत्सान् लिहतीर्जिह्वया स्वादयन्तीः रोहिणीर्गाः । 'अर्जुन्यघ्न्या रोहिणी स्यात्' इत्यमरः । पयः क्षीरं जानुनोरुभयेन जानुद्वयेन पारीं दोहनपात्रीम् । 'पारी पात्रीपरागयोः' इति विश्वः । निगृह्य निरुध्य । वर्द्धिष्णुधाराध्वनि वर्द्धि-

नशीलक्षीरधाराशब्दं यथा भवति तथा दुहतः प्रपूरयतः दुहेः लटः शतरि शप् । " दुह्याच्" इत्यादिना द्विकर्मकत्वम् गा दुहन्तीति गोदुहः गोदोहकान् । "सत्सूद्विष" इत्यादिना क्विप् । स हरिश्चिर निदध्यौ अवलोकयति स्म । 'निध्यानमवलोकनम्' इति वैजयन्ती । स्वभावोक्तिः ॥ ४० ॥

अभ्याजतोऽभ्यागततूर्णतर्णकान्निर्याणहस्तस्य पुरो दुधुक्षतः ।
वर्गाद्गवां हुंकृतिचारु निर्यतीमरिर्मधोरैक्षत गोमतल्लिकाम् ॥ ४१ ॥

अभ्येति । अभ्याजतः दोग्धुमभिमुखमागच्छतः । अजेर्लटः शत्रादेशः । निर्याणं पादबन्धन दाम । 'निर्याण दाम सदान पशूना पादबन्धने' इति वैजयन्ती । तद्धस्ते यस्य तस्य निर्याणहस्तस्य दुधुक्षतो दोग्धुमिच्छतो दोग्धुरिति शेषः । दुहेः सन्नन्ताल्लटः शत्रादेशः घत्वभत्वे । पुरोऽग्रेऽभ्यागतोऽभिमुखमागतस्तूर्णः स्तनपाने त्वरमाणस्तर्णकोऽतिबालो वत्सो यस्यास्ताम् 'सद्योजातस्तु तर्णकः' इत्यमरः । गवां वर्गाद्गोव्रजात् हुंकृतिचारु हुङ्कारमनोरम यथा तथा नियतीं निर्गच्छतीम् इणः शतरि ङीप् इणो यणादेशः । प्रशस्ता गा गोमतल्लिकाम् । "प्रशसावचनैश्च" इति नित्यसमासः । 'मतल्लिका मचर्चिका प्रकाण्डमुद्घतल्लजौ । प्रशस्तवाचकान्यमूनि' इत्यमर । मधोररिर्मधुसूदन ऐक्षत ईक्षितवान् । ईक्षतेर्लङि "आडजादीनाम्" इत्याट् "आटश्च" इति वृद्धिः । स्वभावोक्ति. ॥ ४१ ॥

स व्रीहिणां यावदपासितुं गताःशुकान्मृगैस्तावदुपद्रुतश्रियाम् । केदारिकाणामभितः समाकुलाः सहासमालोकयति स्म गोपिकाः ॥ ४२ ॥

स इति । यावच्छुकान् कीरानपासितु गतास्तावन्मृगैरुपद्रुतश्रियामुपद्रुतसम्पदां व्रीहिणां व्रीहिमताम् । " व्रीह्यादिभ्यश्च"इति इनिप्रत्यय. । कैदारिकाणा क्षेत्रसमूहानाम् । 'पुनपुंसकयोर्वप्र. केदारः क्षेत्रमस्य तु । कैदारक स्यात्कैदार्य क्षेत्र कैदारिक गणे ' इत्यमर. । " ठञ् कवचिनश्च" इति चकाराट्ठञ्प्रत्ययः । कृद्योगात्कर्मणि षष्ठी । गोपिकाः गोप्स्त्रीरभितः समाकुलाः व्यग्राः उभयत. समाकृष्यमाणाः सतीरित्यर्थः । स हरि सहासमालोकयति स्म । अत्र सहासावलोकनस्य विशेषणगत्या समाकुलपदार्थहेतुकत्वात्काव्यलिङ्गभेद. ॥ ४२ ॥

व्यासेद्धुमस्मानवधानतः पुरा चलत्यसावित्युपकर्णयन्नसौ ।
गीतानि गोप्याः कलमं मृगव्रजो न नूनमत्तीति हरिर्व्यलोकयत् ॥ ४३ ॥

व्यासेद्धुमिति । गोप्याः शालिगोप्याः । गौरादित्वात् ङीष् । गीतानि उपकर्णयन् शृण्वन् असौ मृगव्रजः नूनं निश्चित कलम नास्ति न खादति इति किं कलमभक्षणे गीतश्रवणविशेष इत्यत आह । असौ गोपी अस्मान् व्यासेद्धुं निवारयितुम् अवधानतो गीतैकाग्र्यात् पुरः

चलति चलिष्यति । "यावत्पुरानिपातयोर्लट्" इति भविष्यदर्थे लट् । इतीत्थं वितर्कयन्निति शेषः । हरिर्व्यलोकयत् । अत्र मृगाणां करणम । खादननिवृत्तेर्गीतासक्तिनिमित्तायास्तदाकर्णनसुखभङ्गहेतुकत्वमुत्प्रेक्ष्यते ॥ ४३ ॥

लीलाचलस्त्रीचरणारुणोत्पलस्खलत्तुलाकोटिनिनादकोमलः ।
शौरेरुपानूपमपाहरन्मनः स्वनान्तरादुन्मदसारसारवः ॥४४॥

लीलेति । अनुगता आपो येषु ते अनूपाः जलप्रायदेशाः । 'जलप्रायमनूपं स्यात्पुंसि कच्छस्तथाविधः' इत्यमरः । "प्रादिभ्यो धातुजस्य वाच्यो वा चोत्तरपदलोपः" इति बहुव्रीहिः । "ऋक्पूर" इत्यादिना । समासान्तः । "ऊदनोर्देशे" इत्यूकारः । तेषां समीपे उपानूपम् । समीपार्थेऽव्ययीभावः । लीलया चलती चलनशीले स्त्रियाश्चरणे अरुणोत्पले इव तयोः स्खलन्त्यौ ये तुलाकोटी नूपुरे । 'पादांगदतुलाकोटिर्मञ्जीरो नूपुरोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः । तयोर्निनाद इव कोमलो मधुरः उन्मदसारसारवः मत्तहंसकूजितम् । 'चक्रांगसारसौ हंसे' इति शब्दार्णवे । शौरेर्मनः स्वनान्तरादपाहरत् अत्र मनोहरणस्य लीलेत्यादिविशेषणार्थहेतुकत्वादुपमासङ्कीर्णं काव्यलिङ्गम् ॥ ४४ ॥

उच्चैर्गतामस्खलितां गरीयसीं तदातिदूरादपि तस्य गच्छतः ।
एके समूहुर्बलरेणुसंहतिं शिरोभिराज्ञामपरे महीभृतः ॥ ४५॥

उच्चैरिति । तदा तस्मिन्समये अतिदूराद्गच्छतोऽपि तस्य हरेः सबन्धिनीमुच्चैर्गतामत्यूर्ध्वमुन्नताम् । अन्यत्रोर्ध्वलोकेष्वपि व्याप्ताम् अस्खलितामभङ्गुरां सत्यां च गरीयसीमतिमहतीं पूज्या च बलरेणुसहतिं सेनारेणुसघातम् एके कतिपये महीभृतः पर्वताः । आज्ञां शासनम् अपरे महीभृतो राजानश्च शिरोभिः शेखरैः शीर्षैश्च समूहुः सहन्ति स्म । वहेर्लिटि झेर्जुसि "वचिस्वपि" इत्यादिना सम्प्रसारणम् । अत्र हरिमहिमवर्णनायामुभयेषामपि महीभृता प्रकृतत्वात्केवलप्रकृतास्पदा तुल्ययोगिता श्लेषप्रतिभोत्थापिता चेति सङ्करः ॥ ४५ ॥

प्रायेण नीचानपि मेदिनीभृतो जनः समेनैव पथाधिरोहति ।
सेना मुरारेः पथ एव सा पुनर्महामहीध्रान्परितोऽध्यरोहयत्॥४६॥

प्रायेणेति । प्रायेण प्राचुर्येण नीचान् कुब्जानपि मेदिनीभृतोऽद्रीन् जनो लोकः समेन सुगमेन पथा मार्गेणैवाधिरोहति । सा मुरारेः सेना पुनः पथो मार्गानेव महामहीध्रान् महाद्रीन्परितोऽध्यरोहयत् । लोके हि सति क्षुण्येऽध्वनि तेन शैलारोहणसम्भवः सेना सर्वपथातिरेकिण्यभूत् । पूर्वापराः सहस्रं पन्थानः स्वारोहणेन प्रवर्तिता इत्यर्थः । रोहतेर्गत्यर्थत्वात् "गतिबुद्धि" इत्यादिना पथामणि कर्तृणा णौ कर्मत्वम् । महीं धरन्तीति महीध्राः । मूलविभुजादित्वात्कः । अत्र सेनायाः पथां शैलाधिरोहणेनोपमानाज्जनादाधिक्यकथनाद्व्यतिरेकः ॥ ४६ ॥

दन्ताग्रनिर्भिन्नपयोदमुन्मुखा शिलोच्चयानारुरुहुर्महीयसः ।
तिर्यक्कटप्लाविमदाम्बुनिम्नगा विपूर्य्यमाणश्रवणोदरं द्विपाः ४७॥

दन्ताग्रेति । द्वाभ्यां पिबन्तीति द्विपाः । "सुपि" इति योगविभागात्कप्रत्यय. । उन्मुखा उन्नमितमुखा सन्तः दन्ताग्रैर्निर्भिन्ना विदारिताः पयोदाः शृङ्गगता यस्मिन् कर्मणि तद्यथा तथा । तिर्य्यगूर्ध्वमुखत्वात्तिरश्चीन यथा तथा कटेभ्यः प्लवन्ते क्षरन्तीति कटप्लाविनीभिर्मदाम्बुनिम्नगाभिर्मदजलप्रवाहैर्विपूर्य्यमाणानि श्रवणोदराणि यस्मिन् कर्मणि तद्यथा तथा महीयसो महत्तरान् शिलोच्चयान् आरुरुहु. । स्वभावोक्ति ॥ ४७ ॥

श्च्योतन्मदाम्भःकणकेन केनचिज्जनस्य जीमूतकदम्बकच्छुता । नागेन नागेन गरीयसोच्चकैररोधि पन्था पृथुदन्तशालिना ॥ ४८ ॥

श्च्योतन्दिति । श्च्योतन्तः क्षरन्तो मदाम्भःकणा यस्य तेन । शैषिक. कप्प्रत्यय. ।जीमूतकदम्बकस्येव द्युत् द्युतिर्यस्य तेन । पृथुभ्या दन्ताभ्या शालत इति तच्छालिना गरीयसा गुरुतरेणोच्चकैरुन्नतेन । केनचिन्नागेन गजेन जनस्य पन्थाः मार्ग्ग. यथा अरोधि । अगेनाचलेन न तथारोधि रुद्ध । मत्तमातङ्गस्य दुरासदत्वाच्छैलवदगातिक्रमणीयत्वादिति भावः । अत एवोपमानादगादुपमेयस्य नागस्याधिक्याद्व्यतिरेक. ॥ ४८ ॥

भग्नद्रुमाश्चकुरितस्ततो दिशः समुल्लसत्केतनकाननाकुलाः ।
पिष्टाद्रिपृष्ठास्तरसा च दन्तिनश्चलन्निजाङ्गाचलदुर्गमा भुवः॥४९॥

भग्नेति । दन्तिनो गजा इतस्ततो भग्नद्रुमा स्वभग्नाखिलवृक्षा. दिशः समुल्लसद्भिः केतनैरेव काननैराकुला संकीर्णाश्चक्रुः । तथा तरसा बलेन पिष्टानि चूर्णितानि अद्रिपृष्ठानि यासु ता भुवो भूमी. चलद्भिर्निजाङ्गैरेवाचलैर्दुर्ग्गमा दुष्प्रापाश्चक्रुः । अत्र केतनेष्वङ्गेषु च काननाचलत्वरूपणाद्रूपकालङ्कार. । तेन गजानां पुरातनसृष्टिसंहारेण सृष्ट्यन्तरप्रवर्त्तनरूप लोकोत्तरं सामर्थ्यं गम्यत इत्यलङ्कारेण वस्तुध्वनिः ॥ ४९ ॥

आलोकयामास हरिर्महीधरानधिश्रयन्तीर्गजताः परश्शताः ।
उत्पातवातप्रतिकूलपातिनीरुपत्यकाभ्यो बृहती शिला इव ॥५०॥

आलोकेति । हरिर्महीधरान् अधिश्रयन्तीः परश्शता शतात्पराः असख्याता इत्यर्थ. । 'परश्शताद्यास्ते येषा परा सख्या शतादिकात्' इत्यमरः । "पञ्चमी" इति योगविभागात्समास । राजदन्तादित्वादुपसर्जनस्यापि शतशब्दस्य परनिपातः । पारस्करादित्वात्सुडागम. । गजताः गजसमूहान् । 'गजाच्चेति वक्तव्यम्' इति सामूहिकस्तल् प्रत्ययः । उपत्यकाभ्य आसन्नभूमिभ्यः । 'उपत्यकाद्रेरासन्ना भूमि.' इत्यमरः । "उपाधिभ्या त्यकन्नासन्नारूढयो" इति त्यकन्

प्रत्ययः । उत्पातवातेन तत्प्रतिकूल पतन्तीति तत्पातिनी रूर्ध्वगामिनीरित्यर्थः । बृहती· शिला इवेत्युत्प्रेक्षा । आलोकयामास ॥ ९० ॥

शैलाधिरोहाभ्यसनाधिकोद्धुरैः पयोधरैरामलकीवनाश्रिताः ।
तं पर्वतीयप्रमदाश्चचायिरे विकासविस्फारितविभ्रमेक्षणाः ॥९१॥

शैलेति । शैलाधिरोहाभ्यसनेन पर्वतारोहणाभ्यासेनाधिकोद्धुरै रत्युन्नतैः पयोधरैः स्तनैरुपलक्षिताः आमलकीवनाश्रिता धात्रीवनगता. । पर्वतो निवासो येषान्ते पर्व्वतीया किराताद्यः । "पर्वताच्च" इति छप्रत्यय. । तेषा प्रमदा· विकासेन विस्मयकृतविस्तारेण विस्फारिता विवर्त्तिताः विभ्रमा विलासा येषा तानीक्षणानि यासा तास्तथा सत्य त हरि चचायिरे ददृशु । 'चायृ पूजानिशामनयोः' इति धातो· कर्त्तरि लिट् । निशामन दर्शनम् 'निरीक्षणनिशामने' इति दर्शनपर्य्यायेषु भट्टमल्ल । एतेन हरेर्लोकोत्तर लावण्य व्यज्यत इति वस्तुना वस्तुध्वनि । स्वभावोक्तिवृत्त्यनुप्रासयो. संसृष्टिः ॥ ९१ ॥

सावज्ञमुन्मील्य विलोचने सकृत्क्षणं मृगेन्द्रेण सुषुप्सुना पुनः ।
सैन्यान्न यातः समयापि विव्यथे कथं सुराजम्भवमन्यथाथवा९२

सावज्ञमिति । सावज्ञमनादर यथा तथा विलोचने सकृदेकवारम् । 'एकस्य सकृच्च' इति सकृदर्थे निपात । क्षणमुन्मील्योन्मिष्य । पुन· सुषुप्सुना स्वप्तुमिच्छुना । स्वपे. सन्नन्तादुप्रत्ययः । "रुदविद" इत्यादिना सन. कित्त्वात् "वचि स्वपि" इत्यादिना सम्प्रसारणम् । मृगेन्द्रेण सिंहेन समया समीपे । 'समयानिकषाशब्दौ समीपे सम्प्रकीर्त्तितौ' इति सज्जनः । यातो गच्छतोऽपि । यातेर्लट शत्रादेश । सैन्यात्सेनात । 'भीत्रार्थाना भयहेतु.' इत्यपादानत्वम् । न विव्यथे न बिभ्ये । "व्यथ भयसचलनयोः" इति धातोर्भावे लिट् । अथवा तथा हीत्यर्थ· । अन्यथा भीतत्वे कथ सुराजम्भव सुखेन राज्ञा भूयते न कथमपीति भाव· । राजा चायं मृगाणामिति भाव. । "कर्तृकर्म्मणोश्च भूकृञो" इति कर्त्तरीषदादौ चोपपदे भवते खल्प्रत्यये न लोपमुमागमौ । अर्थान्तरन्यासः ॥ ९२ ॥

उत्सेधनिर्धूतमहीरुहां ध्वजैर्जनावरुद्धोद्धतसिन्धुरंहसाम् ।
नागैरधिक्षिप्तमहाशिलाम्मुहुर्बलम्बभूवोपरि तन्महीभृताम् ॥९३॥

उत्सेधेति । नागैर्गजैरधिक्षिप्तास्तिरस्कृता महाशिला येन तत् तद्बल सैन्य ध्वजैरुत्सेधेनौन्नत्येन निर्धूता अवगणिता महीरुहो येषु तेषाम् 'उत्सेधश्चोच्छ्रयश्च सः' इत्यमरः । जनैरवरुद्ध प्रतिबद्धमुद्धतमुद्वेलं सिन्धुरंहो नदीवेगो येषु तेषा महीभृता पर्वतानाम् उपरि मुहुर्बभूव । मार्गवशाद्भूयसो भूधरान्मुहुरारुरोहेत्यर्थः । हयौघरुद्धेति पाठे हयौघेन घोटकसमूहेन रुद्धमित्यादिपूर्ववत् । अत्रावरोहणवदुत्कर्षश्चोपरिभावो विशेषणवैभवात् प्रतीयत इति तदभेदेनोपरिभावस्य बलभूधरविशेषणपदार्थहेतकत्वाच्छ्लेषप्रातिभोत्थापितकाव्यलिङ्गविशेष ॥ ९३ ॥

श्मश्रूयमाणे मधुजालके तरोर्गजेन गण्डं कषताविधूनिते ।
क्षुद्राभिरक्षुद्रतराभिराकुलं विदश्यमानेन जनेन दुद्रुवे ॥ ९४ ॥

श्मश्रूयेति । तरोर्वृक्षस्य श्मश्रूयमाणे श्मश्रुवदाचरति तद्वदालम्बमान इत्यर्थः । उपमालङ्कारः । श्मश्रुशब्दादाचारे क्यङन्ताल्लटः शानजादेशः "अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः" । इति दीर्घः । गण्ड कपोल कषता तरुस्कन्धे कण्डूयमानेन गजेन मधुजालके क्षौद्रपटले विधूनिते कम्पिते सति धूञो ण्यन्तात्कर्मणि क्तः "धूञ्प्रीञोर्नुग्वक्तव्यः" इति नुगागमः । अक्षुद्रतराभिरतिस्थूलाभिः क्षुद्राभिः सरघाभिः । 'क्षुद्रा व्यङ्गा नटी वेश्या सरघा कण्टकारिका' इत्यमरः । विदश्यमानेन चञ्चुभिर्भिद्यमानेन जनेन समाकुलं व्यग्रं यथा तथा दुद्रुवे पलायितम् । भावे लिट् । स्वभावोक्तिरुक्तोपमासंसृष्टा ॥ ९४ ॥

नीते पलाशिन्युचिते शरीरवद्गजान्तकेनान्तमदान्तकर्मणा ।
सञ्चेरुरात्मान इवापरं क्षणात्क्षमारुहं देहमिव प्लवङ्गमाः ॥ ९५ ॥

नीत इति । उचिते परिचिते पलाशिनी द्रुमे । 'पलाशी द्रुद्रुमागमाः' इत्यमरः । शरीरवत् पूर्वशरीरवत् । "तत्र तस्येव" इति वतिप्रत्ययः । अदान्तकर्मणा दुर्दान्तव्यापारेण गजोऽन्तक इवेति उपमितसमासः साहचर्य्यात् । तेन गजान्तकेनान्त नाश नीते गमिते सति प्लवैर्गच्छन्तीति प्लवङ्गमाः कपयः । "गमेश्च" इति खच्प्रत्यये मुमागमः । आत्मानो जीवा इवापर क्षमारुह देहमिव क्षणात् सञ्चेरुः सम्प्रविष्टा इत्यर्थः । अनेकेवशब्दवाक्यार्थोपमा सा च शरीरवदिति तद्धितगता अन्यत्र समासगतेति सङ्करः ॥ ९५ ॥

प्रह्वानतीव क्वचिदुद्धतिश्रितः क्वचित्प्रकाशानथ गह्वरानपि ।
साम्यादपेतानिति वाहिनी हरेस्तदातिचक्रामगिरीन्गुरूनपि९६॥

प्रह्वानिति । क्वचिदतीव नितान्त प्रह्वान् प्रवणान् । अन्यत्रानुकूलान् । क्वचिदुद्धतिं श्रयन्तीत्युद्धतिश्रित औन्नत्यभाज औद्धत्यभाजश्च । श्रयतेः क्विप् तुक् । क्वचित्प्रकाशान् प्रकटाननगूढवृत्तींश्च । क्वचिदतिगह्वरानपि । अपिश्चार्थे । अप्रवेशान् अन्यत्र गूढाश्च । इतीत्थं साम्यादपेतान् विषमरूपान्विषमवृत्तांश्च । अत एव गुरून् महतोऽपि पूज्यानपि गिरींस्तदा हरेर्वाहिनी सेना अतिचक्रामातीत्य गता उल्लङ्घिता च 'गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्य्याकार्य्यमजानतः । उत्पथं प्रतिपन्नस्य परित्यागो विधीयते' इति स्मरणादिति भावः । गुरूणामप्यतिक्रम इति विरोधेऽपिशब्दः स चोक्तवैषम्यदोषोद्घाटनेन परिहृत इति विरोधाभासः । स च गुरूनिति वाच्यप्रतीयमानयोरभेदाध्यवसायात् श्लेषमूलातिशयोक्त्युत्थापित इति सङ्करः ॥ ९६ ॥

स व्याप्तवत्या परितोऽपथान्यपि स्वसेनया सर्वपथीनया तया ।
अम्भोभिरुल्लंघिततुङ्गरोधसः प्रतीपनाम्नीः कुरुते स्म निम्नगाः९७

स इति । स हरिः परितः समन्तादपथान्यपमार्गानपि । "पथोविभाषा" इति निषेधविकल्पात् 'ऋक्पू' इत्यादिना समासान्तः । "अपथं नपुंसकम्" इति नपुंसकत्वम् । व्यासवत्यापि सर्वान्पथो व्याप्नोतीति सर्वपथीना । "तत्सर्वादे" इत्यादिना खप्रत्ययः । तया सर्वपथीनया तया स्वसेनया निमित्तेन अम्भोभिरुल्लङ्घितानि युगपदखिलसेनाप्रवेशेन प्रतीपगमनादुपर्याक्रान्तानि तुङ्गरोधांसि यासां ताः निम्नं गच्छन्तीति निम्नगा नदीः प्रतीपनाम्नीः कुरुते स्म । प्रतिगता उत्तानगा आपो यासां ताः प्रतीपाः । 'ऋक्पूर' इत्यादिना समासान्तः "द्व्यन्तरुपसर्गेभ्योऽप ईत्" इतीकारः, अथवा प्रतीपं निम्नगानामविरुद्धं नाम उत्तानगा इति नामधेयं यासां ताः प्रतीपनाम्न्यः । "अन उपधालोपिनोऽन्यतरस्याम्" इति ङीप् । तास्तथा चकारेत्यर्थः । अत्र निम्नगानां प्रतीपानामासम्बन्धेऽपि सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिः ॥ ९७ ॥

यावद्व्यगाहन्त न दन्तिनां घटास्तुरङ्गमैस्तावदुदीरितं खुरैः ।
क्षिप्तं समीरैः सरितां पुरः पतज्जलान्यनैषीद्रज एव पङ्कताम् ॥ ९८ ॥

यावदिति । दन्तिनां घटा गजव्रजा यावन्न व्यगाहन्त न व्यलोडन् तावत्तुरगैः कर्तृभिः । खुरैः । करणैः । उदीरितम् । उत्थापितम् । अथ समीरैर्मारुतैः क्षिप्तं विकीर्णम् । अत एव पुरो गजप्रवेशात्प्रागेव पतद्रजो भूरेणुरेव सरितां जलानि पङ्कतामनैषीन्नीतवान् । नयतेर्द्विकर्मकत्वात् लुङि वृद्धिः । अत्रापि सरितां पङ्कत्वासम्बन्धेऽपि सम्बन्धोक्तेः पूर्ववदतिशयोक्तिः ॥ ९८ ॥

रन्तुं क्षतोत्तुङ्गनितम्बभूमयो मुहुर्व्रजन्तः प्रमदं मदोद्धताः ।
पङ्कं कराग्राकृष्टशैवलांशुकाः समुद्रगाणामुदपादयन्निभाः ॥ ९९ ॥

रन्तुमिति । रन्तुं क्रीडितुं क्षता एकत्र विषाणैरन्यत्र नखैश्च विघट्टिता उत्तुङ्गा नितम्बभूमयो रोधोभागाः श्रोणिभागाश्च यैस्ते । 'नितम्बो रोधसि स्कन्धे गिरेरपि कटीरके' इति विश्वः । मुहुः प्रमदं हर्षं व्रजन्तः मदेन दानेन दर्पेण वा उद्धताः करैः हस्तैरपाकृष्टानि शैवलानि अंशुकानीवांशुकानि यैस्ते इभाः समुद्रं गच्छन्तीति समुद्रगाणां समुद्रपत्नीनां नदीनाम् 'एकाजुत्तरपदे णः' इति णत्वम् । पङ्कं कर्दमं कलुषं चोदपादयन् । 'पङ्कोऽस्त्री कर्दमैनसो' इति विश्वः । यथा मदोद्धताः पराङ्गनानां दोषमुत्पादयन्ति तद्वदिति भावः । अत्र प्रस्तुतेभविशेषणादप्रस्तुतस्त्रीसंग्रहणसाहसिकप्रतीतेः समासोक्तिः । स्त्रीपङ्कयोरभेदाध्यवसायादिति श्लेषमूलातिशयोक्त्युत्थापितेति सङ्करः ॥ ९९ ॥

रुग्णोरुरोधःपरिपूरिताम्भसः समस्थलीकृत्य पुरातनीर्नदीः ।
कूलंकषौघाः सरितस्तथापराः प्रवर्तयामासुरिभा मदाम्बुभिः ॥ १०० ॥

रुग्णेति । इभाः रुग्णैर्भग्नैरुरुभिर्महद्भी रोधोभिस्तटैः परिपूरिताम्भसो मृत्क्षेपशोषिताम्भस इत्यर्थः । पुराभवाः पुरातनीः । "सायंचिरम्" इत्यादिना ट्युप्रत्ययः तुडागमश्च, "टिड्ढाणञ्" इत्यादिना ङीप् । नदीः समस्थलीकृत्य स्थलसमाः कृत्वा । मदाम्बुभिः स्वमदोदकैः कूलंकष-

न्तीति नल्कषा ओघा यासा ता' ,उभयकूलप्रवाहिन्योऽपरा अन्याः सरित' प्रवर्त्तयामासुः । एतेन गजसम्पन्निः ना । अत्र नदीना समस्थलत्वासम्बन्धे मदाम्बूनाञ्च सरित्त्वासम्बन्धेऽपि तत्सम्बन्धोक्त्यतिशयोक्तिरिति सजातीयसङ्करः ६०॥

पद्मैरनन्वीतवधूमुखद्युतो गता न हंसैः श्रियमातपत्रजाम् ।
दूरेऽभवन्भोजबलस्य गच्छतः शैलोपमातीतगजस्य निम्नगाः ६१

पद्मैरिति । पद्मैरनन्वीता अनाप्ता वधूमुखस्य द्युत् श्रीर्याभिस्ता' वधूमुखश्रीजितपद्मा इत्यर्थ । अन्वीतेति 'इङ् गतौ' इति धातोः कर्मणि क्त. । हंसैरातपत्रजा छत्रजन्या श्रियं नागता अगना आतपत्रजितहंसश्रीका इत्यर्थ । निम्नगा नद्य शैलोपमामतीताः शिलासाम्यमतिक्रान्ता गजा यस्मिन् तस्य गच्छतो भोजबलस्य यादवसैन्यस्य दूरेऽभवन् अतिव्यवहिता इत्यर्थ' । अपकृष्टाश्चेति गम्यते । तदभेदाध्यवसायेनैव निम्नगाना दूरभवनस्य तद्विशेषणपदार्थहेतुकत्वात् श्लेषमूलातिशयोक्तिसमुत्थापित. काव्यलिङ्गभेदः॥ ६१ ॥

स्निग्धाञ्जनश्यामतनूभिरुन्नतैर्निरन्तराला करिणां कदम्बकैः ।
सेना सुधाक्षालितसौधसम्पदां पुरां बहूनां परभागमाप सा ॥६२॥

स्निग्धेति । स्निग्धाञ्जनमिव श्यामाभिस्तनूभिरुन्नतैः करिणा कदम्बकैर्निरन्तराला नीरन्ध्रा ना सेना सुधया लेपनविशेषेण क्षालिता धवलिताः सौधसम्पदो यासा तासाम् ' लेपभेदेऽमृते सुधा' इति वैजयन्ती । बहूना पुरां पुरीणा परभागं विप्रकृष्टदेशमाप दूरमतीत्य गतेत्यर्थ । वर्णोत्कर्षश्च परभाग' । तदभेदाध्यवसायेन परभागातौ विशेषणगत्या श्यामकरिकदम्बकनैरन्तर्यस्य हेतुत्वात्पूर्ववत्काव्यलिङ्गभेद ॥ ६२ ॥

प्रासादशोभातिशयालुभिः पथि प्रभोर्निवासाः पटवेश्मभिर्बभुः ।
नूनं सहानेन वियोगविक्लवा पुरः पुरश्रीरपि निर्ययौ तदा ॥६३॥

प्रासादेति । पथि मार्गे प्रभो कृष्णस्य निवासा सेनानिवेशा प्रासादशोभामतिशयालुभिरतिशायकैः । 'आलुचि शीङ्ग्रहणमपि कर्त्तव्यम्' इत्यालुच्प्रत्यय । पटवेश्मभि पटवेश्मैर्बभु । तेनोत्प्रेक्ष्यते । तदा द्वारकानिर्याणकालेऽनेन कृष्णेन सह वियोगविक्लवा विरहभीरु' पुरश्रीर्द्वारकानगरलक्ष्मीरपि पुरोऽग्रे निर्ययौ निर्गता । नून द्वारकातो न भिद्यन्ते अस्य निवासा' शोभयेति भावः ॥ ६३ ॥

वर्ष्म द्विपानां विरुवन्त उच्चकैर्वनेचरेभ्यश्चिरमाचचक्षिरे ।
गण्डस्थलाघर्षगलन्मदोदकद्रवद्रुमस्कन्धनिलायिनोऽलयः॥६४॥

वर्ष्मेति । गण्डस्थलानामाघर्षेण गलता स्रवता मदोदकेन द्रवेषु आर्द्रेषु द्रुमस्कन्धेषु निलीयन्त इति निलायिनस्तन्निवासिनः उच्चकैर्विरुवन्तो गुञ्जन्तोऽलय. द्विपाना सेनागजाना वर्ष्म प्रमाणम् । 'वर्ष्म देहप्रमाणयोः' इति विश्व. । वनेचरेभ्यः किरातेभ्यः चिरमाचच-

क्षिरे इयन्तो गजा इत्याख्यातवन्त इत्यर्थः । गजवर्ष्मानुमापकेष्वालिषु विरावयोगादाख्यानमुत्प्रे-क्ष्यते । वाचकाप्रयोगाद्गम्योत्प्रेक्षा ॥ ६४ ॥

आयामवद्भिः करिणां घटाशतैरधःकृताट्टालकपङ्क्तिरुच्चकैः ।
दूष्यैर्जितोदग्रगृहाणि सा चमूरतीत्य भूयांसि पुराण्यवर्त्तत ॥६५॥

आयामेति । आयामो दैर्घ्यं सोऽस्ति येषां तद्वद्भिरायतैरित्यर्थः । करिणां सम्बन्धिभि-र्घटाशतैर्व्यूहशतैः । 'करिणां घटना घटा' इत्यमरः । अधःकृतास्तिरस्कृता अट्टालकपङ्क्तयोऽट्ट-श्रेण्यो यया सा । 'अट्टास्त्वट्टालकः स्मृतः' इति वैजयन्ती । सा चमूरुच्चकैरुन्नतैर्दूष्यैः पटम-ण्डपैः जितान्युदग्राणि गृहाणि येषां तानि भूयांसि पुराणि अतीत्यावर्त्तत अतिक्रम्य गतेत्यर्थः । शोभया अतिशय्य स्थितेति च गम्यते । तदभेदाध्यवसायेन श्लेषमूलातिशयोक्त्युत्थापितं पूर्ववत् पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गम् ॥ ६५ ॥

अथ हरिसेना कालिन्दीं प्रत्यासेदुरित्याह–

उद्धूतमुच्चैर्ध्वजिनीभिरंशुभिः प्रतप्तमभ्यर्णतया विवस्वतः ।
आह्लादिकह्लारसमीरणाहते पुरः पपाताम्भसि यामुने रजः ॥६६॥

उद्धूतमिति । ध्वजिनीभिः सेनाभिरुच्चैरुद्धूतम् ऊर्ध्वं क्षिप्तम् । अत एव अभ्यर्णतया अन्ति-कतया । 'उपकण्ठान्तिकाभ्यर्णाः' इत्यमरः । विवस्वतोऽशुभिः । प्रतप्तं प्रतप्तमिवेत्यर्थः । अत्र एव व्यञ्जकाप्रयोगाद्गम्योत्प्रेक्षा । आह्लादिनः आह्लादका ये कह्लारसमीरणाः । सौगन्धिकमारु-ताः । 'सौगन्धिकं तु कह्लारम्' इत्यमरः । तैराहते कम्पिते यामुने यमुनासम्बन्धिन्यम्भसि पुरोऽग्रे रजो धूलिः पपात । सन्तप्ता हि सन्तापमसहमाना पुरोधावित्वा क्वचन शिशिरे पयसि पतन्तीति भावः ॥ ६६ ॥

अथ चतुर्भिर्यमुनां वर्णयति–

या घर्मभानोस्तनयापि शीतलैः स्वसा यमस्यापि जनस्य जीवनैः ।
कृष्णापि शुद्धेरधिकं विधातृभिर्विहन्तुमंहांसि जलैः पटीयसी ॥६७॥

येत्यादि । या यमुना घर्मभानोरुष्णांशोस्तनयापि सती शीतलैरपि । अपिर्विरोधे स चोष्णजातायाः शैत्यानुपपत्तेरिति भावः । यमस्यान्तकस्य स्वसापि जनस्य जीवनैरुज्जीवकैः. अत्राप्येकोदराणां भिन्नक्रियानुपपत्तेर्विरोधः । 'कालिन्दी सूर्यतनया यमुना शमनस्वसा' इत्युभयत्राप्यमरः । किञ्च कृष्णा कृष्णवर्णा मलिना च तथापि शुद्धेर्नैर्मल्यस्याधिकं विधातृभिः सम्पादकैर्जलैरंहांसि पापानि विहन्तुं पटीयसी समर्थतरा । अत्र यमुनातज्जलगतत्वेन निर्दिष्टया-र्गुणक्रिययोर्विरोधेन त्रिषु विरोधेषु ससृष्टेषु तृतीयः कृष्णेति श्लेषप्रतिभोत्थापित इति सक्षेपः ॥ ६७ ॥

यस्या महानीलतटीरिव द्रुताः प्रयान्ति पीत्वा हिमपिण्डपाण्डुराः ।
कालीरपस्ताभिरिवानुरञ्जिताः क्षणेन भिन्नाञ्जनवर्णतां घनाः ६८

यस्या इति । हिमपिण्डपाण्डुरा हिमसङ्घशुभ्राः घना मेघाः द्रुता द्रवीकृताः महानीलतटीः इन्द्रनीलस्थलानीव कालीः कृष्णवर्णाः । "जानपद" इत्यादिना ङीप् । यस्याः कालिन्द्याः अप. पीत्वा ताभिः पीताभिरद्भिरनुरञ्जिता इव क्षणन भिन्नाञ्जनवर्णता स्नेहमृदितकज्जलवर्णता प्रयान्ति । अत्र तटीरिवानुरञ्जिता इवेति चोत्प्रेक्षया सङ्कीर्णेयं घनानामञ्जनोपमेति सग्रहः ॥ ६८ ॥

व्यक्तं बलीयान्यदि हेतुरागमादपूरयत्सा जलधिं न जाह्नवी ।
गङ्गौघनिर्भर्त्सितशम्भुकन्धरासवर्णमर्णःकथमन्यथास्य तत्॥६९॥

व्यक्तमिति । हेतुर्युक्तिरनुमानमिति यावत् । आगमाद्गङ्गासागरपूरिणीत्यागमप्रमाणात् । बलीयान् यदि प्रबलश्चेत् सा यमुना जलधिमपूरयत् । जह्नोरपत्य स्त्री जाह्नवी नापूरयत् । व्यक्त सत्यम् इत्युत्प्रेक्षा । कुतः । अन्यथा विपर्यये अस्य जलधेः तत्प्रसिद्धमर्णोऽम्भः । 'अम्भोऽर्णस्तोयपानीयम्' इत्यमरः । गाङ्गेन गङ्गासम्बन्धिना ओघेन प्रवाहेन निर्भर्त्सितायाः निर्भर्त्सीतायाः शम्भुकन्धरायाः हरकण्ठस्य सवर्णं समानवर्णं कृष्णवर्णमित्यर्थः । 'ज्योतिर्जनपद" इत्यादिना समानस्य सभावः । अन्यथा गङ्गौघस्य धावल्याद्धवलमेव स्यात् । तथा च प्रात्याप्तवाक्यवदागमोऽप्यन्यथा नेय इति कवेराशय ॥ ६९ ॥

अभ्युद्यतस्य क्रमितुं जवेन गां तमालनीला नितरां धृतायतिः ।
सीमेव सा तस्य पुरः क्षणं बभौ बलाम्बुराशेर्महतो महापगा॥७०॥

अभीति । तमालवत् नीला कृष्णा नितरां धृतायतिरत्यन्त कृतदैर्घ्या सा महापगा महानदी यमुना । जवेन गा भुव क्रमितुमाक्रमितुम् । अभ्युद्यतस्योद्युक्तस्य तस्य महतो बलाम्बुराशेः सेनासमुद्रस्य पुरोऽग्रे क्षण सीमेव वेलेव बभावित्युत्प्रेक्षा । क्षणमिति क्षणमात्रनिरोधिकाऽभवदनतरमेव तरणादिति भावः । कलापकम् ॥ ७० ॥

लोलैररित्रैश्चरणैरिवाभितो जवाद्व्रजन्तीभिरसौ सरिज्जनैः ।
नौभिः प्रतेरे परितः प्लवोदितभ्रमीनिमीलल्ललनावलम्बितैः ॥७१॥

लोलैरिति । अभितः उभयतो लोलैश्चलद्भिररित्रैः केनिपातकदण्डैः । 'क्षेपणी स्यादरित्रं केनिपातक.' इत्यमरः । चरणै. पादैरिवेत्युत्प्रेक्षा । जवात् व्रजन्तीभिर्गच्छन्तीभिर्नौभिः साधनैरसौ सरिद्यमुना कर्म । प्लवेनोदिता नौवेगेनोत्पन्ना भ्रमी भ्रान्ति तस्या भयान्निमीलन्तीभिर्भयादक्षिनिमीलनं कुर्वतीभिर्ललनाभिरवलम्बितैर्जनैः । कर्तृभिः । परितः सर्वतः । सर्वोभयार्थे वर्तमानाभ्या पर्यभिभ्यां तसिविधानात् । प्रतेरे प्रतीर्णा ॥ ७१ ॥

तत्पूर्वमंसद्वयसं द्विपाधिपाः क्षणं सहेलाः परितो जगाहिरे ।
सद्यस्ततस्तैरनारतस्रुतस्वदानवारिप्रचुरीकृतं पयः ॥ ७२ ॥

तस्पृ‍र्द्धमिति । द्विपाधिपा महागजा. पूर्वं प्रथमम् अंसौ प्रमाणमस्य असद्वयसन् असन्नमाणम् तेपा तथोन्नतत्वादिति भाव । 'प्रमाणे द्वयसच्' इत्यादिना द्वयसच्प्रत्यय । तत्तथागम्भीरं पयोयमुनाजल सहेला: सावज्ञा परितो जगाहिरे प्रविशन्ति स्म । ततः प्रवेशानन्तर सद्यः अविलम्बेन अनागतमविच्छिन्न स्रुतेन स्रवता स्वदानवारिणा स्वमदोदकेन प्रचुरीकृत बहुलीकृत तत्पयस्तेरुः तरन्ति स्म । अत्रातिगम्भीरस्याप्यम्भसोऽसदघ्नत्वातिशयोक्त्या गजानामौन्नत्य पुनस्तस्यैव तन्मदाम्बुसम्भेदतात्पर्योक्त्या तेपा मदातिरेकश्च व्यज्यते ॥ ७२ ॥

प्रोथैः स्फुरद्भिः स्फुटशब्दमुन्मुखैस्तुरङ्गमैरायतकीर्णवालधि ।
उत्कर्णमुद्ग्राहितधीरकन्धरैरतीर्य्यताग्रे तटदत्तदृष्टिभिः ॥ ७३ ॥

प्रोथैरिति । स्फुटशब्द स्पष्टध्वान यथा तथा स्फुरद्भिश्चलद्भि' प्रोथैर्घोणाभिरुपलक्षितै । 'घोणा तु प्रोथमस्त्रियाम्' इत्यमरः । उन्मुखैरूर्ध्वमुखैस्तथा उत्कर्णमुन्नामितकर्ण यथा तथउद्ग्राहिता ऊर्ध्व प्रसारिता धीरा निश्चला. कन्धरा ग्रीवा येपा तैरग्रे पुरः तटे दत्तदृष्टिभिस्तुरङ्गमैरायता प्रसारिता कीर्णा विक्षिप्ता वालधयो यस्मिन् कर्मणि तद्यथा तथा अतीर्य्यत अतारि । सरिदिति शेप. । कर्म्मणि लङि यक् । स्वभावोक्तिः ॥ ७३ ॥

तीर्त्वा जवेनैव नितान्तदुस्तरां नदीं प्रतिज्ञामिव तां गरीयसीम् ।
शृंगैरपस्कीर्णमहत्तटीभुवामशोभतोच्चैर्नदित ककुद्मताम् ॥ ७४ ॥

तीर्त्वेति । नितान्तदुस्तरामतिमहत्तया अत्यन्ताशक्यतरणा ता नदीं गरीयसीमतिदुस्तरा प्रतिज्ञामिव जवेन वेगेनैव तीर्त्वा । शृङ्गैर्विपाणैरपस्कीर्णा आलेखिता महत्यस्तटीभुवस्तटप्रदेशास्तेषाम् । ''आपाच्चतुष्पाच्छकुनिष्वालेखने'' इति किरतेः कात्पूर्व सुडागमः । ककुद्मतामुक्ष्णामुच्चैस्तर नदित नाद अशोभत । उपमासङ्कीर्णा स्वभावोक्ति ॥ ७४ ॥

सीमन्त्यमाना यदुभूभृतां बलैर्बभौ तरङ्गैर्गवलासितद्युतिः ।
सिन्दूरितानेकपकङ्कणाङ्किता तरङ्गिणी वेणिरिवायता भुवः ॥ ७५ ॥

सीमन्त्यमानेति । तरङ्गैर्यदुभूभृता यादवभूपाना बलै सैन्यैः सीमन्त्यमाना सीमन्तावतीक्रियमाणा । सीमन्तशब्दात् तत्करोति'' इति ण्यन्तात् कर्मणि लट् शानजादेश । णाविष्टवद्भावाद्विन्मतोर्लुक् । गवलासितद्युति माहिपविपाणमेचकप्रभा । 'गवल माहिप शृङ्गम्' इत्यमर । सिन्दूरिता सिन्दूरवत्कृता । सिन्दूरवच्छब्दात् 'तत्करोति' इति ण्यन्तात्कर्मणि क्त । णाविष्टवद्भावाद्विन्मतोर्लुक् । तैरनेकपैर्द्विपै. कङ्कणै शेखरैः आङ्किता चिहिता । 'कङ्कणं शेखरे हस्तसूत्रमण्डनयोरपि' इति विश्वः । तरङ्गिणी यमुना नदी आयता दीर्घा भुवो वेणिरिव बभौ इत्युत्प्रेक्षा ॥ ७५ ॥

अव्याहतक्षिप्रगतैः समुच्छ्रितानत्युज्झितद्राघिमभिर्गरीयसः ।
नाव्यं पयः केचिदतारिषुर्भुजैः क्षिपद्भिरूर्मीनपरैरिवोर्म्मिभिः ॥ ७६

अव्याहतेति । अत्रोर्मीणां भुजानां विशेषणान्युभयविपरिणामेन योज्यानि । केचिज्जनाः नावा तार्यं नाव्यम् । 'नाव्यं त्रिलिङ्गं नौतार्ये' इत्यमरः । 'नौवयोधर्म' इत्यादिना यत्प्रत्ययः । पयो जलम् । अव्याहतक्षिप्रगतैरप्रतिहतशीघ्रगमनैरनुज्झितो द्राघिमा दैर्घ्यं यैस्तैरतिदीर्घैरित्यर्थः । समुच्छ्रितानुन्नतान् गरीयसो गुरुतरान् ऊर्मीन् क्षिपद्भिरपाकुर्वाद्भिरत एवापरैरूर्मिभिरिव स्थितैरित्युत्प्रेक्षा । भुजैर्बाहुभिरतारिपुस्तरन्ति स्म । तरतेर्लुङि सिचि वृद्धिरिडागमः ॥ ७६ ॥

विदलितमहाकूलामुक्ष्णां विषाणविघट्टनैरलघुचरणाकृष्टग्राहां विषाणिभिरुन्मदैः ॥ सपदि सरितं सा श्रीभर्तुर्बृहद्रथमण्डलैः स्खलितसलिलामुल्लङ्घ्यैनां जगाम वरूथिनी ॥७७॥

इति श्रीमाघकविकृतौ शिशुपालवधे महाकाव्ये प्रयाणवर्णन नाम द्वादशः सर्गः ॥ १२ ॥

विदलितेति । सा प्रकृता श्रीभर्तुः कृष्णस्य वरूथिनी सेना उक्ष्णामनडुहां विषाणविघट्टनैः शृङ्गाघातैर्विदलितानि महाकूलानि यस्यास्ताम् उन्मदैरुद्धतमदैर्विषाणिभिरलघुभिर्गुरुभिश्चरणैः पादैराकृष्टा बहिर्नीताः ग्राहा जलग्राहा यस्यास्तां बृहद्भीरथमण्डलैः रथसमूहैः स्खलितानि व्याकुलीकृतानि सलिलानि यस्यास्तामेनां सरितं यमुना सपदि उल्लङ्घ्य जित्वा । तीर्त्वेत्यर्थः । भक्त्वेति गम्यते विशेषणसामर्थ्यात् । जगाम । अत्र जयस्य विशेषणगत्या कूलदलनादिहेतुकत्वात्काव्यलिङ्गभेदः । हरिणी वृत्तम् । "भवति हरिणी न्सौ म्रौ स्लौ गोरसाम्बुधिविष्टपैः" इति लक्षणात् ॥ ७७ ॥

इति श्रीमहामहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचिते माघकाव्यव्याख्याने सर्वङ्कषाख्ये द्वादशः सर्गः ॥ १२॥

त्रयोदशः सर्गः ।

यमुनामतीतमथ शुश्रुवानमुं तपसस्तनूज इति नाधुनोच्यते । स यदाऽचलन्निजपुरादहर्निशं नृपतेस्तदादि समचारि वार्त्तया ॥ १ ॥

यमुनामिति । अथ यमुनातरणानन्तरं तपसस्तनूजो धर्मनन्दनः ।अधुना यमुनामतीतम् अमुं हरिं शुश्रुवान् । "भाषाया सदवसश्रुवः" इति क्वसुः इति नोच्यते, किन्तु स हरिर्यदा निजपुरादचलत् तच्चलनमादिर्यस्मिन् कर्मणि तत्तदादि तत्प्रभृति । अहश्च निशा च अहर्निशम् । समाहारे द्वन्द्वैकवद्भावे अत्यन्तसंयोगे द्वितीया । नृपतेर्धर्मराजस्य वार्तया इह निविष्ट इतो निर्गत इति

वृत्तान्तेन समचारि सञ्चरितमागतमिति यावत् । भावे लुङ् । सन्निहितयमुनातरणवृत्तान्तव्यवहितसकलदैनन्दिनवृत्तान्तो निजनगरप्रस्थानात्प्रभृति प्रतिक्षणमागत एवेत्यर्थः । अस्मिन्सर्गे मञ्जुभाषिणी वृत्तम् । "सजसा जगौ भवति मञ्जुभाषिणी" इति लक्षणात् ॥ १ ॥

यदुभर्तुरागमनलब्धजन्मनः प्रमदादमानिव पुरे महीयसि ।
सहसा ततः स सहितोऽनुजन्मभिर्वसुधाधिपोऽभिमुखमस्य निर्ययौ ॥

यदुभर्तुरिति । ततो हरेर्यमुनोत्तरणश्रवणानन्तरं स वसुधाधिपो धर्मराजः । यदुभर्तुर्हरेरागमनेन लब्धजन्मनो लब्धोदयान् जातादित्यर्थः । प्रमदाद्धर्षात् । "प्रमदसंमदौ हर्षे" इत्यप्प्रत्ययान्तो निपातः । महीयसीति विपुलेऽपि पुरे अमान् हर्षकृतशरीरवृद्धेरपरिमितविकासः सन्नित्युत्प्रेक्षा । सहसा अनुजन्मभिरनुजैः सहितोऽस्य हरेरभिमुखं निर्ययौ नगरान्निर्गत इत्यर्थः ॥ २ ॥

रभसप्रवृत्तकुरुचक्रदुन्दुभिध्वनिभिर्जनस्य बधिरीकृतश्रुतेः ।
समवादि वक्तृभिरभीष्टसंकथाप्रकृतार्थशेषमथ हस्तसंज्ञया ॥ ३ ॥

रभसेति । रभसो हर्षः । 'रभसो वेगहर्षयोः' इति विश्वः । तेन प्रवृत्तैः कुरुचक्रदुन्दुभिध्वनिभिः कौरवसेनातूर्यघोषैः बधिरीकृतश्रुतेर्विकलीकृतश्रोत्रेन्द्रियस्य । श्रोतृजनस्य वक्तृभिः कथकैरभीष्टसंकथास्विष्टालापेषु प्रकृतस्य वक्तुं प्रक्रान्तस्याभिधेयस्य शेषं वक्तव्यावशिष्टम् । अथ बाधिर्यानन्तरं हस्तसंज्ञया हस्तसङ्केतेन समवादि संवादितम् । श्रीकृष्णस्यागमनसन्तोषात्तथा दुन्दुभीनाजघ्नुः । यथा कण्ठोक्तशेषं करसंज्ञया निष्पादित इत्यर्थः । अत्र बाधरीकरणस्य जनविशेषणद्वारा हस्तसंज्ञया वदनहेतुत्वात्काव्यलिङ्गभेद ॥ ३ ॥

अपदान्तरं च परितः क्षितिक्षितामपतन्द्रुतभ्रमितहेमनेमयः ।
जविमारुताञ्चितपरस्परोपमक्षितिरेणुकेतुवसनाः पताकिनः ॥ ४ ॥

अपदेति । द्रुतं शीघ्रं भ्रमिता परिवर्तिताः हेमनेमयः कनकचक्रान्ता येषां ते । 'चक्रधारा प्रधिर्नेमिः' इति हलायुधः । अत एव जविना वेगवता मारुतेनाञ्चितानि कम्पितानि परस्परमुपमान्तीति परस्परोपमानि अन्योन्यसदृशानि क्षितिरेणुकेतुवसनानि स्वोत्थापितभूरेणवः स्वारोपितध्वजपटाश्च येषां ते क्षितिं क्षियतीशते इति क्षितिक्षितः क्षितीशाः । 'क्षि ऐश्वर्यनिवासे' इति धातोस्तौदादिकात् क्विपि तुक् । क्षितिपतिस्त्वेवासौ क्षितिक्षित् इति भट्टमल्लः । तेषां सम्बन्धिनः पताकाः सन्ति येषामिति पताकिनो रथाः । व्रीह्यादित्वादिनिः । परितः सर्वतः नास्ति पदस्यान्तरमवकाशो यस्मिन् कर्मणि तदपदान्तरं ससक्तं यथा तथा । 'ससक्ते त्वव्यवहितमपदान्तरमित्यपि' इत्यमरः । अपतन्नधावन् । अत्र राष्ट्रवर्णने रेणूनां केतूनां च प्रकृतत्वात्केवलप्रकृतास्पदा तुल्ययोगिता तथा च परस्परोपमेति विशेषणाद्रेणूपत्के-

तवः केतुवच्च रेणवः इति उपमेयोपमया के रेणवः के केतवः इति संशयश्च व्यज्यते इत्यलङ्कारेणालङ्कारध्वनिः ॥ ४ ॥

द्रुतमध्वनन्नुपरिपाणिवृत्तयः पणवा इवाश्वचरणक्षता भुवः ।
ननृतुश्च वारिधरधीरवारणध्वनिहृष्टकूजितकलाः कलापिनः ॥५॥

द्रुतमिति । अश्वचरणक्षता तुरगखुरघट्टिता भुवः उपरि पृष्ठभागे पाणिवृत्तयः पाणिताडनानि येषान्ते उपरिपाणिवृत्तयः पणवा वाद्यविशेषा इवेत्युपमा । द्रुत द्रुततरमेवाध्वनन् ध्वनन्ति स्म 'द्रुतं शीघ्रम्' इत्यमरः । वारिधरशब्देन तद्गर्जितं लक्ष्यते । तद्वद्धीरैर्गम्भीरैर्वारण ध्वनिभिर्गजबृंहणैर्हृष्टा अत एव कूजितकलाः कूजिता इत्यर्थः । ततो विशेषणसमासः । कलापाः येषां सन्तीति कलापिनो बर्हिणश्च ननृतुर्नृत्यन्ति स्म । अत्रोपमयोः संसृष्टिः । वारिधरोपमया कलापिनां गजबृंहितेषु घनगर्जितादभ्रान्तिमन्तरेण नृत्यासम्भवाद्भ्रान्तिमदलङ्कारो व्यज्यत इत्यलङ्कारेणालङ्कारध्वनिः ॥ ५ ॥

व्रजतोरपि प्रणयपूर्वमेकतां कुकुराधिनाथकुरुनाथसैन्ययोः ।
रुरुपे विपाणिभिरनुक्षणम्मिथो मदमूढबुद्धिषु विवेकिता कुतः ६

व्रजतोरिति । तदा तस्मिन्समये कुकुराधिनाथकुरुनाथसैन्ययोः हरिपार्थसैन्ययोः प्रणयपूर्वं स्नेहपूर्वकमेकतामैक्यं व्रजतोर्गच्छतोः सतोरपि विपाणिभिरुभयसेनावर्त्तिभिः गजैरनुक्षण प्रतिक्षणं मिथ परस्परं रुरुपे चुक्रुधे । भावे लिट् । तथा हि मदेन मूढबुद्धिषु विपरीतप्रज्ञेषु विवेकिता कार्याकार्यविचारिता कुत. नास्त्येवेत्यर्थः । अथ तेषां स्वामिसौहार्देऽपि स्वय विरोधिता न दोषायेति भाव. । सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ ६ ॥

अवलोक एव नृपतिः स्म दूरतो रभसाद्रथादवतरीतुमिच्छतः ।
अवतीर्णवान् प्रथममात्मना हरिर्विनयं विशेषयति सम्भ्रमेण सः ७

अवलोक इति । दूरतो दूरादेवावलोके हरेर्दर्शन एव रभसाद्धर्षाद्रथादवतरीतुमवरोढुम् । "वृतो वा" इति विकल्पाद्दीर्घः । इच्छतो नृपतेर्धर्मराजात् प्रथम तदवतरणात्पूर्वमेवेत्यर्थः । आत्मना स्वयमेव । प्रकृत्यादित्वात्तृतीया । अवतीर्णवान् रथादवरूढः सन् । "निष्ठा" इति तरतेः क्तवतुप्रत्ययः । "ॠत इद्धातोः" इतीत्वत् । 'र्वोरुपधाया दीर्घ.' 'रदाभ्याम्' इति निष्ठानत्वे 'रषाभ्याम्' इति णत्वम् । स हरि. सम्भ्रमेण त्वराविशेषेण विनयं मानौद्धत्यं विशेषयति स्म अतिशाययति स्म । एतेन हरेः पूज्यविषयो रत्याख्यो भावो ध्वन्यते ॥ ७ ॥

वपुषा पुराणपुरुषः पुरः क्षितौ परिपुञ्ज्यमानपृथुहारयष्टिना ।
भुवनैर्नतोऽपि विहितात्मगौरवः प्रणनाम नाम तनयम्पितृष्वसुः ८

वपुपात । पुराणपुरुष. हरिः । सर्वलोकज्येष्ठोऽपीति भावः । तथा भुवनर्नतो नमस्कृतोऽपि विहित सम्पादितमात्मनो गौरवमुत्कर्षो येन सः सन् । पूज्येषु नमस्याया औन्नत्यहेतुत्वादिति भाव. । अत एवात्र विचित्रालङ्कार । " विचित्र स्वविरुद्धस्य फलस्य स्यात्समुद्यमे " इति लक्षणात् । पुर क्षितावग्रभूमौ परिपुञ्ज्यमाना परित पुञ्जीक्रियमाणा पृथु स्थूलो हारो मुक्तावलिर्यष्टिरिव यस्य तेन वपुषा शरीरेण न त्वञ्जलिमात्रेण तथास्य पूज्यत्वादिति भावः । पूज्यत्वे हेतुमाह । पितृष्वसुस्तनयामिति पितृभगिनी पुत्रम् । धर्म्मराजमित्यथः । "विभाषा स्वसृपत्यो " इत्यस्य वैकल्पिकत्वेन षष्ठ्या लुक् "मातृपितृभ्या स्वसा" इति षत्वम् । नामप्रकाश प्रणनाम । प्रणाम कृतवानित्यर्थ । प्रपूर्वान्नमेर्लिट् "उपसर्गादसमासेऽपि णोपदेशस्य " इति णत्वम् । अत्रापि पूर्ववद्भावध्वनि । भुवनैर्नतोऽपि हरिर्लोकयात्रानुवर्त्ती स्वयमेन नतवानिति विरोधाभासोऽलङ्कारो विचित्रेणोक्तेन सकीर्ण । नामनामेति वृत्त्यनुप्रासभेदश्च संसृष्ट इत्याद्यूह्यम् ॥ ८ ॥

मुकुटांशुरञ्जितपरागमग्रतः स न यावदाप शिरसा महीतलम् ।
क्षितिपेन तावदनपेक्षितक्रमं भुजपञ्जरेण रभसादगृह्यत ॥ ९ ॥

मुकुटेति । स हरिर्मुकुटांशुभि. रञ्जितः स्वर्णमापादित' परागो रेणुर्यस्य तदग्रत पुरतो महीतल शिरसा यावन्नाप नास्पृशदित्यर्थ । तावत् क्षितिपेन धर्मराजेनानपेक्षितक्रमम् अनपेक्षितः क्रमः परिपाटी यस्मिन् कर्म्मणि तत्तथा । भुजाभ्यामेव पञ्जरेण इति रूपकम् । रभसाद्वेगादगृह्यत गृहीत' । प्रणामक्रियासमाप्ते प्रागेवोत्थाप्याश्लिक्षादित्यर्थः ॥ ९ ॥

न ममौ कपाटतटविस्तृतं तनौ मुरवैरिवक्ष उरसि क्षमाभुजः ।
भुजयोस्तथापि युगलेन दीर्घयोर्विकटीकृतेन परितोऽभिषस्वजे १०

नेति । कपाटतटविस्तृत मुरवैरिणो हरेर्वक्षस्तनावल्पे क्षमाभुजो धर्म्मराजस्योरसि न ममौ न परिमितामित्यर्थ । तथापि विकटीकृतेन विपुलीकृतेन दीर्घयोर्भुजयोर्युगलेन परित समन्ताद अभिषस्वजे आलिङ्गितम् । वक्षसा भुजाभ्या च कथञ्चित्परिच्छिन्नमभून्न तु वक्षसैवत्यर्थः । "सदिस्वञ्जोः परस्य लिटि" इति धातुसकारस्य षत्वनिषेधात् स्थादित्वेऽप्यभ्यासस्यैव षत्वम् । अत्र हरिवक्षसो वैपुल्यादतिशयद्योतनाय नृपवक्ष'समानेऽप्यसमानोक्ते सम्बधे सम्बन्धरूपातिशयोक्तिश्च । अनयोश्च स्वतःसिद्धकविप्रौढोक्तिसिद्धयोरप्यतिशययोरभेदाध्यवसायादुत्थापनमिति रहस्यम् ॥ १० ॥

गतया निरन्तरनिवासमध्युरः परिनाभि नूनमवमुच्य वारिजम् ।
कुरुराजनिर्दयनिपीडनाभयान्मुखमध्यरोहि मुरविद्विषः श्रिया ११

गतयेति । नाभ्या परिनाभि । विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः । वारिजं नाभिकमलमित्यर्थः । अवमुच्य विहाय अध्युर उरसि । विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः । निरन्तर सततं गतया प्राप्तया श्रिया शोभया रमया च । नाभिसरोजत्यागेनात्र निवासेन तस्मादपहृतमिति ध्वनितम् । कुरुराजस्य या

निर्दयनिपीडना गाढश्लेषरूपा ततो भयान्मुखवैरेणो मुरद्विषो मुखमध्यरोहि अधिरूढम्। भीता ह्युच्चपादेहन्तीति लोकवेदयोः प्रसिद्धमिति भावः। नूनमित्युत्प्रेक्षा। अत्र वाच्यायाः सुहृदाश्लेषप्रभवाया शोभायाः श्रियेति श्लेषमहिम्ना प्रतीयमानया रमया सहाभेदाध्यवसायात् क्रमेण नाभिमुखकमलाधारसम्बन्धाभिधानात् श्लेषमूलातिशयोक्त्युत्थापितः पर्यायभेदः। 'क्रमेणैकमनेकस्मिन्नाधारे वर्तते यदि। एकस्मिन्नथ वानेक पर्यायालङ्कृतिर्मता' इति लक्षणात्। तदुपजीविता श्रीमुखारोहणस्य भयहेतुकत्वकथनादुत्प्रेक्षेति अनयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः॥ ११॥

शिरसि स्म जिघ्रति मुरारिबन्धने छलवामनं विनयवामनं तदा।
यशसेव वीर्यविजितामरद्रुमप्रसवेन वासितशिरोरुहे नृपः १२॥

शिरसीति। नृपो धर्मराजः मुरारिबन्धने पुरा बलिबन्धने छलवामनं कपटवामनं तदा पार्थोपपत्तिसमये तु विनयवामनं विनयनम्रमित्यर्थः। तं हरिमिति शेषः। वीर्यविजितामरद्रुमप्रसवेन पारिजातहरणे शौर्यलब्धपारिजातकुसुमेन यशसेव पारिजातविजयप्रसूतयेव कीर्त्येत्युत्प्रेक्षा। वासितशिरोरुहे सुरभितकेशे शिरसि जिघ्रति स्म। 'घ्रात्वा सादेत्य मूर्द्धन्यवघ्राणम्' इति स्मरणात्। पुरा किल भगवान्सत्यभामाप्रीतये बलादिन्द्रलोकादपहृत्य पारिजातं निजगृहेष्वारोपितवानिति कथानुसन्धेया॥ १२॥

सुखवेदनाहृषितरोमकूपया शिथिलीकृतेऽपि वसुदेवजन्मनि।
कुरुभर्तुरङ्गलतया न तत्यजे विकसत्कदम्बनिकुरम्बचारुता १३॥

सुखेति। वसुदेवाज्जन्म यस्य तस्मिन्वसुदेवजन्मनि वासुदेवे। जन्मोत्तरपदत्वाद्व्यधिकरणो बहुव्रीहिर्वामनवचनादित्युक्तं प्राक्। शिथिलीकृतेऽपि विश्लेषिते सत्यपि सुखवेदनया आलिङ्गनसुखानुभवेन हृषिता उद्गता रोमकूपा रोममूलानि यस्या तया "हृषेर्लोमसु" इतीडागमः। कुरुभर्तुर्धर्मराजस्य अङ्गलतया विकसतः कदम्बनिकुरम्बस्य कदम्बकुसुमसमूहस्य चारुता कामनीयकं न तत्यजे न त्यक्ता किन्तु स्वीकृतेत्यर्थः। आश्लेषापगमेऽपि तज्जन्मसुखानुवृत्त्या तत्कार्यस्य रोमहर्षस्यानुवृत्तिरिति तात्पर्यार्थः। अत एव शिथिलीकृते हृषितरोमकूपयेत्यकारणकार्यकथनाद्विभावना तदपेक्षया चेयमुत्पन्ना कदम्बनिकुरम्बचारुतानिदर्शना तया सहाङ्गेन सङ्कीर्यते॥ १३॥

इतरानपि क्षितिभुजोऽनुजन्मनः प्रमनाः प्रमोदपरिफुल्लचक्षुषः।
स यथोचितं जनसभाजनोचितः प्रसभोद्धृतासुरसभोऽसभाजयत्॥

इतरानिति। जनसभाजनोचितः। सर्वजनसभावनार्हः प्रसभेन बलात् उद्धृता असुरसभा असुरसङ्घो येन सः प्रमनाः हृष्टचित्तः स हरिः प्रमोदपरिफुल्लचक्षुषो हर्षोत्फुल्लनेत्रान् इतरान् भीमादीन् क्षितिभुजो नृपस्यानु पश्चाज्जन्म येषां तान् अनुजन्मनः अनुजान् यथोचित

यथार्हमसभाजयत् समाजयति स्म । आलिङ्गनादिभिरानन्दयामासेत्यर्थः । 'आनन्दनसभाजने' इत्यमरः । 'समाज प्रीतिदर्शनयोः' इति धातोश्चौरादिकाल्लङ् ॥ १४ ॥

समुपेत्य तुल्यमहसः शिलाघनान् घनपक्षदीर्घतरबाहुशालिनः।
परिशिश्लिषुः क्षितिपतीन् क्षितीश्वराः कुलिशात्परेण गिरयो गिरीनिव

समिति । तुल्यमहसः समतेजस्कान् शिला इव शिलाभिश्च घनान् दृढान् घनैः पक्षैरिव दीर्घतरबाहुभिः बाहुभिरेव पक्षैश्च शालन्त इति तथोक्तान् एवम्भूतान् क्षितिपतीन् एवम्भूताः क्षितीश्वराः सम युगपदेत्यागत्य । आङ्पूर्वादिण क्त्वो ल्यपि तुक् । कुलिशात्परेण परतः । कुलिशक्षतेः पूर्वमित्यर्थः । सम्प्रत्यसंभवादिति भावः । परणति विभक्तिप्रतिरूपकमव्ययम् । गिरयो गिरीनिव परिशिश्लिषुः आलिङ्गितवन्तः । उपमा ॥ १५ ॥

इभकुम्भतुङ्गघटितेतरेतरस्तनभारदूरविनिवारितोदराः ।
परिफुल्लगण्डफलकाः परस्परं परिरेभिरे कुकुरकौरवस्त्रियः॥१६॥

इभेति । इभकुम्भा इव ये तुङ्गा घटिताश्च इतरेतरासां स्तनभारास्तैर्दूरे विनिवारितान्यतिकार्श्यादस्फुटतयास्थापितान्युदराणि यासां ताः । "स्वाङ्गाच्च" इत्यादिना विकल्पादनीकारः । परिफुल्लगण्डफलकाः हर्षपुलकितगण्डस्थलाः कुकुरकौरवस्त्रियो यादवपाण्डवाङ्गनाः परस्परं परिरेभिरे आश्लिष्टवत्यः । 'परिरम्भः परिष्वङ्ग आश्लेष उपगूहनम्' इत्यमरः । परिफुल्लेति । फुल्लतेः पचाद्यजन्त न तु फुल्लेति निष्ठान्तम् 'अनुपसर्गात्' इति कथनविरोधात् ॥ १६ ॥

रथवाजिपत्तिकरिणीसमाकुलं तदनीकयोः समगत द्वयं मिथः ।
दधिरे पृथक्करिण एव दूरतो महतां हि सर्वमथवा जनातिगम् ॥१७॥

रथेति । रथवाजिपत्तिकरिणीभिः समाकुलं सङ्कीर्णं करिणीग्रहणं पुङ्गजव्यावृत्यर्थम् । अतो युद्धानर्हतया तासामसेनाङ्गत्वान्न द्वन्द्वैकवद्भावः । तदनीकयोः सैन्ययोः । 'वरूथिनी बलं सैन्यं चक्रं चानीकमस्त्रियाम्' इत्यमरः । द्वयं मिथश्चान्योऽन्यं समगत सङ्गतम् । गमेर्लुङि 'समो गम्यृच्छि" इत्यादिनात्मनेपदम् "वा गमः" इति सिचः कित्त्वात् "अनुदात्तोपदेश" इत्यादिना अनुनासिकलोपः, "ह्रस्वादङ्गात्" इति सकारलोपः । करिणः पुङ्गजाः दूरत एव पृथगसङ्गतं दधिरे धृताः स्थापिता इत्यर्थः । अथ वा किमत्र चित्रमिति भावः । महतां महासत्त्वानां सम्बन्धि सर्वं चेष्टितमिति भावः । जनानतिगच्छतीति जनातिगमतिजनं सर्वलोकविलक्षणमिति भावः । सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ १७ ॥

अधिरुह्यतामिति महीभृतोदितः कपिकेतुनार्पितकरो रथं हरिः ।
अवलम्बितैलविलपाणिपल्लवः श्रयति स्म मेघमिव मेघवाहनः॥१८

अधीति । हरिरधिरुह्यतां रथ आरुह्यतामित्येव महीभृता धर्मराजेनोदितः उक्तः सन् । वदेः कर्म्मणि क्तः, "वचिस्वपि" इत्यादिना सम्प्रसारणम् । कपिकेतुनार्जुनेनार्पितकरो दत्तह-

स्तः सन् । अवलम्बितोऽवष्टब्धः ऐलविलस्य कुबेरस्य पाणिपल्लवो हस्तो येन स मेघवाहन इन्द्रो मेघमिव रथ श्रयति स्म आरूढवानित्यर्थः । उपमा ॥ १८ ॥

रथमास्थितस्य च पुराभिवर्त्तिनस्तिसृणाम्पुरामिव रिपोर्मुरद्विषः।
अथ धर्म्ममूर्त्तिरनुरागभावितः स्वयमादितप्रवयणं प्रजापतिः १९

रथमिति । किञ्चेति चार्थः । अथ रथारोहणानन्तर रथमास्थितस्यारूढस्य पुराभिवर्त्तिनः इन्द्रप्रस्थाभिवर्तिनः त्रिपुराभिवर्त्तिनश्च मुरद्विषो हरेस्तिसृणा पुरा रिपो त्रिपुरान्तकस्येव । " न तिसृचतसृ " इति नामि दीर्घप्रतिषेधः । धर्म्ममूर्त्तिर्धर्मात्मा प्रजापतिर्जनेश्वरः धर्म्मराजो ब्रह्मा च अनुरागभावित सन् प्रवीयते प्रेर्य्यतेऽनेनेति प्रवयण प्राजन प्रतोद इति यावत् । अत एव प्रवयणो दण्ड. ' प्राजनो दण्डः ' इति काशिका । अजेः करणे ल्युट् " वा यौ" इति विकल्पादजेर्वीभाव । "पूर्वपदात्सञ्ज्ञायाम्—" इति णत्वम् । स्वयमादितः गृहीतवान् सारथ्यं कृतवानित्यर्थ । आददाते कर्त्तरि लुङि तङ् "स्थाघ्वो —" इतीकार सिच कित्त्वे च "ह्रस्वादङ्गात्" इति सलोपः । अत्र त्रिपुरहरणे ब्रह्मा हरस्येव हरेरपि सारथ्य चकारेत्युपमा । तस्याः प्रजापतिरिति राजब्रह्मणोः श्लेषमूलाभेदाध्यवसायादतिशयोक्तिनिर्व्यूढतेति सङ्करः ॥ १९ ॥

शनकैरथास्य तनुजालकान्तरस्फुरितक्षपाकरकरोत्कराकृतिः ।
पृथुफेनकूटमिव निम्नगापतेर्मरुतश्च सूनुरधुवत्प्रकीर्णकम् ॥२०॥

शनकैरिति । किंचेति चार्थः । अथास्य हरेस्तनुषु क्ष्मेषु जालकान्तरेषु गवाक्षरन्ध्रेषु स्फुरितस्य प्रसृतस्य क्षपाकरकरोत्करस्य शशिकिरणपुञ्जस्याकृतिरिवाकृतिर्यस्य तत्प्रकीर्णक चामर निम्नगापतेः समुद्रस्य पृथु विपुलं फेनकूट फेनपुञ्जमिव मरुतः सूनुर्भीमसेनः शनकैरधुवत् धुवति स्म । धुवतिरय तौदादिक इत्युक्तम् । उपमयोः सङ्कर ॥ २० ॥

विकसत्कलायकुसुमासितद्युतेरलघूडुपाण्डु जगतामधीशितुः ।
यमुनाह्रदोपरिगहंसमण्डलद्युतिजिष्णुजिष्णुरभृतोष्णवारणम् २१॥

विकसदिति । विकसत्कलायकुसुम कालपुष्पम् । 'कलायः स्यात् काले' इति वैजयन्ती । तद्वदासितद्युतेर्नीलवर्णस्य जगतामधीशितुर्जगन्नाथस्य जिष्णुरर्जुनः अलघूडुपाण्डु स्थूलनक्षत्रधवलम् । अत एव यमुनाह्रदस्योपरिगमुपरिगतम् । "अन्यत्रापि दृश्यते" इति डप्रत्यय. । तस्य हसमण्डलस्य द्युति शोभां जिष्णु जयशीलम् । "ग्लाजिस्थश्च—"इति ग्स्नु. । उष्णवारणमातपत्रमभृत भृतवान् । भृञः कर्त्तरि लुङ् "स्वरितञितः"इत्यादिनात्मनेपद सिचः कित्त्वादगुण इति "ह्रस्वादङ्गात् " इति सकारलोपः । अत्राप्युपमासङ्कर. ॥ २१ ॥

पवनात्मजेन्द्रसुतमध्यवर्तिना नितरामरोचिरुचिरेण चक्रिणा ।
दधतेवयोगमुभयग्रहान्तरस्थितिकारितं दुरुधराख्यमिन्दुना २२॥

पवनेति । पवनात्मजेन्द्रसुतमध्यवर्तिना भीमार्जुनमध्यगतेन रुचिरेण चक्रिणा हरिणा ७ योरर्कान्यग्रहाणामन्यतमयोरन्तरे मध्ये स्थित्या वासेन कारितं सम्पादितम् । वृत्तिविषये ७न शब्दस्य स्थानेऽप्युभयशब्दस्यैव प्रयोगो व्याख्यातः । दुरुधरेत्याख्या यस्य तत् दुरुधराख्यं योगं दधता अर्कान्यग्रहमध्यगतेनेत्यर्थ ।इन्दुनेवेत्युपमा । नितरामतिशयेन । "किमेत्तिङव्ययघादामु" इत्यादिनाऽऽमुप्रत्ययः । अरोचि अशोभि । रोचतेर्भावे लुङ् । स्वभावरमणीयस्यानुरूपान्तरसमायोगाच्छोभातिशयो जायते रत्नकाञ्चनयोरिवेति भावः । अत्र भगवानाचार्यमिहिरः 'हित्वार्कं सुनफाऽनफा दुरुधरा स्वान्त्योभयस्थैर्ग्रहैः शीतांशोः' इति। एतदेव स्पष्टीकृतं कल्याणशर्मणा 'रविवर्जं द्वादशगैरनफा चन्द्राद्द्वितीयगैः सुनफा । उभयस्थितैर्दुरुधरा केमद्रुमसंज्ञकोतोन्यः' इति २२॥

वशिनं क्षितेरयनयाविवेश्वरं नियमो यमश्च नियतं यतिं यथा ।
विजयश्रिया वृतमिवार्कमारुतावनुसस्रतुस्तमथ दस्रयोः सुतौ॥२३॥

वशिनमिति । अथ भीमार्जुनोपवेशनानन्तरं वशिनमिन्द्रियजयवन्तम् अव्यसनिनमिति यावत् । क्षितीश्वरं भूपतिम् अयःशुभावहो विधिर्नीतिर्नयस्ताविव दैवपुरुषकाराविवेत्यर्थः । नियतमाचारनिष्ठं यतिं जितेन्द्रियम् । 'यतिनो यतयश्च' इत्यमरः । नियमः शरीरातिरिक्तदेशकालादिसाधनापेक्षः सन्ध्योपासनजपादिः यमः शरीरमात्रसाधनापेक्षोऽहिंसादिः । 'शरीरसाधनापेक्षं नित्यं यत्कर्म्म तद्यमः । नियमस्तु स यत्कर्म्म नित्यमागन्तुसाधनम्' । स च यथा यमनियमावित्यर्थः "इववद्वायथाशब्दौ' इति दण्ड्यभिधानात् । विजयश्रिया युतम् आसन्नविजयं विजिगीषुं रिपुमित्यर्थः अर्कमारुताविव दस्रयोरश्विनोः सुतौ नकुलसहदेवौ । 'नासत्याश्विनौ दस्रौ' इत्यमरः । तं हरिमनुसस्रतुरनुचेरतुः पृष्ठोपसर्पणं चक्रतुरित्यर्थः । इह सर्व्वकर्तृमनोरथानुकूलव्यापारवत्त्वमनुसरणम् । इय मालोपमा ॥ २३ ॥

मुदितैस्तदेति दितिजन्मनां रिपावविनीयसम्भ्रमविकासिभक्तिभिः
उपसेदिवद्भिरुपदेष्टरीव तैर्ववृते विनीतमविनीतशासिभिः॥ २४ ॥

मुदितैरिति । तदा तस्मिन् समये इति मुदितैर्हृष्टैरविनीयोऽकल्कोऽकपट इति यावत् । यः सम्भ्रम आदरस्तेन विकाशिनी स्फुटीभवन्ती भक्तिर्येषां तैः । "विपूयविनीयजित्या मुञ्जकल्कहलिषु" इति कल्कार्थे निपातः । नपुंसकपूर्वपदः स्त्रीलिंगपूर्वपदो वा बहुव्रीहिः । अविनीतं शासतीत्यविनीतशासिभिः दुष्टशिक्षकैः पाण्डवैः दितिजन्मनां रिपौ कृष्णविषये उप समीपे सीदन्ति अस्मिन्नित्युपसेदिवासोन्तेवासिनः । "भाषायां सदवसश्रुवः" इति सदेर्लिटः क्वसुरादेशः तैरुपसेदिवद्भिरुपदेष्टरि गुराविवेत्युपमा । विनीतमनुद्धतं च ववृते वृत्तम् । भावे लिट् । ननु विकासिभक्तिभिरित्यत्र कथं पूर्वपदस्य पुंवद्भावः भक्तिशब्दस्य प्रियादिपाठात् "स्त्रियाः पुंवत्" इत्यादिना पुंवद्भावसूत्रेऽप्रियादिष्विति निषेधादिति विकासिशब्दस्याविकासिनिवृत्तिमात्रपरतयाऽस्त्रीत्वस्य विवक्षितत्वान्नपुंसकपूर्वपदो बहुव्रीहिरिति केचित् । तदेतदभि-

प्रेत्योक्त वृत्तिकारेण 'दृढभक्तिरित्येवमादिषु स्त्रीपूर्वपदस्याविवक्षितत्वात्सिद्धिः' इति। एतदेव स्पष्टीकृत गणव्याख्याने । दृढ भक्तिर्यस्येति नपुंसक पूर्वपदम्, "धात्वर्थविशेषणमात्रपरे दृढशब्दे लिङ्गविशेषस्यानुपकारकत्वात् स्त्रीत्वमविवक्षितमिति" । भोजराजस्तु "भक्ता कर्मसाधनायाम्" इत्यनेन सूत्रेण भज्यते सेव्यते इति कर्म्मार्थत्वेन दृढा भक्तिरित्यादि भवति, भावसाधनाया तु दृढभक्तिर्भवत्येवेत्याह। तदेतत्सर्वमस्माभिः कालिदासत्रयसञ्जीविन्याम् 'दृढभक्तिरिति ज्येष्ठे' इत्यादिषु विवेचितम् । तस्माद्दिकाशिभक्तिभिरित्यत्रापि मतभेदेन पूर्वपदस्य स्त्रीत्वे नपुंसकत्वे च रूपसिद्धिरस्तीति स्थितम्॥ २४ ॥

गतयोरभेदमितिसैन्ययोस्तयोरथ भानुजह्नुतनयाम्भसोरिव ।
प्रतिनादितामरविमानमानकैर्नितरां मुदा परमयेव दध्वने ॥२५॥

गतयोरिति। इति इत्थ गतयो' सैन्ययोः भानुजह्नुतनये यमुनाजाह्नव्यौ तयोरम्भसी प्रवाहौ तयोरिव अभेदमैक्य गतयोः सतोः "यस्य च भावेन भावलक्षणम्" इति सप्तमी। एतेन सैन्ययोरत्यार्थ्यत्वमुक्तम् । अथ सैन्यमेलनानन्तरम् आनकैर्मङ्गलदुन्दुभिः परमया मुदेव हर्षेण इवेत्युत्प्रेक्षा । प्रतिनादितानि प्रतिध्वनितानि अमरविमानानि द्रष्टुमागत्याम्बरस्थितानि विमानानि देवयानानि यस्मिन् कर्मणि तद्यथा तथा नितरां दध्वने ध्वनितम् । भावे लिट् ॥ २५ ॥

मखमीक्षितुं क्षितिपतेरुपेयुषां परितः प्रकल्पितनिकेतनं बहिः ।
उपरुध्यमानमिव भूभृताम्बलैः पुटभेदनं दनुसुतारिरैक्षत॥२६॥

मखमिति। क्षितिपतेर्धर्मराजस्य मख क्रतुमीक्षितुमुपेयुषा ततस्तत आगताना भूभृतां राज्ञा बलैः सैन्यैः बहिः परितः प्रकल्पितानि निर्मितानि निकेतनानि निवासा यस्य तत् अत एवोपरुध्यमान शत्रुसेनावेष्टयमानमिव स्थितमित्युत्प्रेक्षा। पुटभेदन पत्तन मयकृतमिन्द्रप्रस्थम् । 'पत्तनं पुटभेदनम्' इत्यमरः । दनुसुतारिर्दानवारिः पुरोऽग्रे ऐक्षतापश्यत्॥ २६ ॥

प्रतिनादपूरितदिगन्तरः पतन् पुरगोपुरम्प्रति स सैन्यसागरः।
रुरुचे हिमाचलगुहामुखोन्मुखः पयसाम्प्रवाह इव सौरसैंधवः२७

प्रतीति। प्रतिनादैः प्रतिध्वानैः पूरित व्याप्त दिशाम् अन्तरमन्तराल येन स. पुरगोपुर पुरद्वारं प्रति। । 'गोपुर तु पुरद्वारि द्वारमात्रे नपुंसकम्' इति विश्वः । एव च न पुरशब्दस्य पौनरुक्त्यशङ्का। पतन् धावन् स सैन्यसागरः सेनासमुद्रः हिमाचलगुहामुखस्योन्मुखोऽभिमुख. सुरसिन्धोर्गङ्गाया अयं सौरसैन्धव. । "हृद्भगसिन्ध्वन्ते पूर्वपदस्य च" इत्युभयपदवृद्धिः । पयसा प्रवाह इव रुरुचे रेजे। उपमालङ्कारः ॥ २७ ॥

असकृद्गृहीतबहुदेहसम्भवस्तदसौ विभक्तनवगोपुरान्तरम् ।
पुरुषः पुरम्प्रविशति स्म पञ्चभिः सममिन्द्रियैरिव नरेन्द्रसूनुभिः ॥२८॥

असकृदिति । असकृद्बहुशो गृहीतो लोकधारणाय स्वीकृतो बहुषु देहेषु मत्स्यकूर्मादिषु शरीरेषु सम्भवः प्रादुर्भावो येन सः । अन्यत्र स्वकर्मणा प्राक्तनयोनिसम्बन्धरूपसम्भव इत्यर्थः । पुरुषः पुराणपुरुषो हरिर्जीवश्च विभक्तानि नवानि प्रत्यग्राणि गोपुरान्तराणि द्वारविशेषा यस्य तत् अन्यत्र नवसङ्ख्यकानि गोपुरान्तराणि इन्द्रियद्वारभेदा यस्मिन् तत् पुरं पत्तनं शरीरञ्च । 'पुरं पुरि शरीरे च' इति विश्वः । पञ्चभिरिन्द्रियैः सममिव पञ्चभिर्नरेन्द्रसूनुभी राजपुत्रैः पाण्डवैः सह असौ हरिस्तत्पुरं प्रविशति स्म । जीवो हि देहाद्देहान्तरं पूर्वेन्द्रियैः सह प्रविशति लिङ्गशरीरस्यानपायादिति भावः । श्लेषसङ्कीर्णेयमुपमा ॥ २८ ॥

तनुभिस्त्रिनेत्रनयनानवाक्षतस्मरविग्रहद्युतिभिरद्युतन्नराः ।
प्रमदाश्च यत्र खलु राजयक्ष्मणः परतो निशाकरसनोरमैर्मुखैः॥२९॥

तनुभिरिति । यत्र पुरे नराः पुरुषाः त्रिनेत्रस्त्र्यम्बकः । "पूर्वपदात्संज्ञायामगः" इति णत्वं तु रघुनाथादिवण्णत्वरहितस्य संज्ञात्वे न प्रवर्तते । तस्य नयनेनानवेक्षितस्य स्मरविग्रहस्य द्युतिरिव द्युतिर्यासां ताभिस्तनुभिः मूर्तिभिः । 'स्त्रिया मूर्तिस्तनुस्तनूः' इत्यमरः । अद्युतन्नद्योतन्त स्म । 'द्युत दीप्तौ' "द्युद्भ्यो लुङि" इति विकल्पात्परस्मैपदं पुषादिसूत्रेण च्लेरङादेशः । प्रमदाः स्त्रियश्च राजश्चन्द्रस्य यक्ष्मा राजयक्ष्मा क्षयरोगः । 'राजानं यक्ष्मा आरत्' इति श्रवणात् । 'राजयक्ष्मा क्षयः शोषः' इत्यमरः । तस्मात्परतः पूर्वमित्यर्थः । निशाकरवन्मनोरमैरक्षीणेन्दुसुन्दरैरित्यर्थः । मुखैरद्युतन् तत्पुरं प्रविष्ट इति पूर्वेणान्वयः । उपमयोः संसृष्टिः ॥ २९ ॥

अवलोकनाय सुरविद्विषां द्विपः पटहप्रणादविहितोपहूतयः ।
अवधीरितान्यकरणीयसत्वराः प्रतिरथ्यमीयुरथ पौरयोषितः॥३०॥

अवलोकनायेति । अथ हरेः पुरप्रवेशानन्तरं पटहप्रणादैर्दुन्दुभिध्वनिभिर्विहितोपहूतयः कृताह्वाना इवेत्यर्थः । पुरे भवाः पौर्यस्ता योषितः पौरयोषितः स्त्रियाः पुंवद्भावः । सुरविद्विषाम् असुराणां द्विषो हरेरवलोकनाय दर्शनार्थमवधीरितान्यकरणीयाः त्यक्तान्यकार्याः ताश्च ताः सत्वराश्च ताः सत्यः रथ्यारथ्यां प्रति प्रतिरथ्यम् । यथार्थेऽव्ययीभावः । ईयुः प्राप्ताः एतेन स्त्रीणां हरिविलोकने कालाक्षमत्वलक्षणमौत्सुक्यमुक्तम् । अत्र पौराङ्गनाप्राप्तेः प्रवेशवाद्यश्रवणानन्तर्यात्तदुपाह्वानोत्प्रेक्षा व्यञ्जकाप्रयोगाद्गम्या ॥ ३० ॥

अथाष्टादशभिः पौराङ्गनाशृङ्गारचेष्टा वर्णयति-

अभिवीक्ष्य सामिकृतमण्डनं यतीः कररुद्धनीविगलदंशुकाः स्त्रियः
दधिरेऽधिभित्ति पटहप्रतिस्वनैः स्फुटमट्टहासमिव सौधपङ्क्तयः॥३१

अभीति । सामिकृतमण्डनमर्द्धविरचितप्रसाधनं यथा तथा यतीर्गच्छन्तीः । इणः शतरि ङीप् । करुरुद्धनीवीनि करगृहीतग्रन्थीनि गलदंशुकानि स्रसमानपरिधानानि यासां ताः । लसदिति पाठान्तरं तदा लसदुल्लसदित्यर्थः । 'अंशुकं वस्त्रमात्रे स्यात्परिधानोत्तरीययोः' इति शब्दार्णवे । स्त्रियः स्त्रीः अभिवीक्ष्य सौधपङ्क्तयः अधिभित्ति भित्तिषु । विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः । पटहप्रतिरवैस्तूर्य्यप्रतिध्वनिभिः स्फुटमुद्गतम् अट्टहासम् उच्चैर्हसितमिव दधिरे । इवेत्युत्प्रेक्षा । विकृतिदर्शनाद्धासो भवतीति भावः । अत्र कुतूहलाख्या चेष्टोक्ता । कुतूहलं रम्यदृष्टौ चापल्यं परिकीर्तितम्' इति लक्षणात् ॥ ३१ ॥

रभसेन हारपददत्तकाञ्चयः प्रतिमूर्द्धजन्निहितकर्णपूरकाः ।
परिवर्त्तिताम्बरयुगाः समापतन्वलयीकृतश्रवणपूरकाःस्त्रियः३२॥

रभसेनेति । रभसेन त्वरया हारपदे मुक्तादामस्थाने वक्षसि दत्तकाञ्चयो न्यस्तरशनाः प्रतिमूर्द्धजं मूर्द्धजेषु केशेषु । विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः । विहिताः कर्णपूरकाः कर्णावतंसा याभिस्ताः । परिवर्त्तितं विपर्य्यासेन धृतम् अम्बरयुगं वाससी याभिस्ताः परिधानीकृतमुत्तरीयं कुचांशुकञ्च जघने दत्तमित्यर्थः । वलयीकृताः कङ्कणीकृताः श्रवणपूरकाः कुण्डलानि याभिस्ताः स्त्रियः समापतन् अधावन् । एतेन विभ्रमाख्या चेष्टोक्ता । "विभ्रमस्त्वरया काले भूषास्थानविपर्य्ययः" इति लक्षणात् । स च भ्रममूल इति भ्रान्तिमदलङ्कारो व्यज्यते ॥ ३२ ॥

व्यतनोदपास्य चरणम्प्रसाधिका करपल्लवाद्रसवशेन काचन ।
द्रुतयावकैकपदचित्रितावनिम्पदवीङ्गतेव गिरिजा हरार्द्धताम् ३३॥

व्यतनोदिति । काचन स्त्री रसवशेन हरिवीक्षणपारतन्त्र्येण । 'गुणे रागे द्रवे रसः' इत्यमरः । प्रसाधिकायाः अलङ्कर्त्र्याः करपल्लवात् चरणमपास्य असमाप्तावेवाक्षिप्य । हरार्द्धतां हरस्यार्द्धाङ्गतां गता । अन्यथैकपादालक्तकासम्भवादिति भावः । गिरिजा गौरीव यावकेनार्द्रालक्तकेन एकपदेन चित्रिता चित्रवर्णीकृता अवनिर्यस्याः तां पदवीं व्यतनोदकरोत् । उपमालङ्कारः । एषा कुतूहलाख्या चेष्टा रसाद्दिदृक्षाजनितचापलरूपत्वादिति ॥ ३३ ॥

व्यचलन् विशङ्कटकटीरकस्थलीशिखरस्खलन्मुखरमेखलाकुलाः ।
भवनानि तुङ्गतपनीयसंक्रमक्रमणक्वणत्कनकनूपुराः स्त्रियः॥३४॥

व्यचलन्निति । विशङ्कटानां विशालानां कटीरकस्थलीनां कटिभागानां शिखरेषु अग्रेषु स्खलन्त्यो लुठन्त्योऽत एव मुखराः शब्दायमानाः ताभिर्मेखलाभिराकुलाः तुङ्गेषु तपनीयसंक्रमेषु कनकसोपानेषु क्रमणेन क्वणन्तः कनकनूपुरा यासां ताः स्त्रियः भवनानि हर्म्याणि व्यचलन् तत्र गत्वारोहन्नित्यर्थः । चलेर्गत्यर्थाल्लङ् । एतदपि पूर्ववदतिकुतूहलमेव । वृत्त्यनुप्रासोऽलङ्कारः ॥३४॥

अधिरुक्ममर्मि दरगवाक्षमुल्लसत् सुदृशो रराज मुरजिद्दिदृक्षया ।
वदनारविन्दमुदयाद्रिकन्दराविवरोदरस्थितमिवेन्दुमण्डलम् ३५

अथोति । मुरजितो हरेर्दिदृक्षया द्रष्टुमिच्छया । दृशेः सन्नन्तात् "अप्रत्ययात्" इति स्त्रियामप्रत्यये टाप् । रुक्ममन्दिरस्य कनकहर्म्यस्य गवाक्ष अधिरुक्ममन्दिरगवाक्षम् । विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः । उल्लसत् प्रकाशमान सुदृशः स्त्रिया वदनारविन्दम् उदयाद्रेः कन्दराया गुहाया विवरस्योदरे मध्ये स्थितमिन्दुमण्डलमिव रराजेत्युपमा । अत्रापि सुदृशो गवाक्षाक्रमणस्य रम्यदर्शनार्थचापलरूपत्वात् कुतूहलमेव मुरजिद्दिदृक्षयेत्यादिना व्यक्तमेव ॥ ३५ ॥

अधिरूढया निजनिकेतमुच्चकैः पवनावधूतवसनान्तयैकया ।
विहितोपशोभमुपयाति माधवे नगरं व्यरोचत पताकयेव तत् ॥ ३६ ॥

अधीति । उच्चकानजनिकेत स्वसौधमधिरूढया आरूढवत्या पवनेनावधूतः कम्पितः वसनान्तो वस्त्राञ्चलो यस्यास्तया एकया कयाचिदङ्गनया हेतुना तन्नगरम् इन्द्रप्रस्थ माधवे उपयाति आगच्छति सति । यातेर्लट शत्रादेश । पताकया वैजयन्त्या विहितोपशोभ कृतशोभमिवालङ्कृतमिवेत्युत्प्रेक्षा । व्यरोचत व्यराजत । कृत्स्नस्यापि नगरस्य स्वय पताकेव बभावित्युत्प्रेक्षा । तस्या सकलपौराङ्गनातिशायि लावण्य व्यज्यत इत्यलङ्कारेण वस्तुध्वनिः । अत्रापि प्रासादारोहण पूर्ववत्कुतूहलमेव ॥ ३६ ॥

करयुग्मपद्ममुकुलापवर्जितैः प्रतिवेश्म लाजकुसुमैरवाकिरन् ।
अवदीर्णशुक्तिपुटमुक्तमौक्तिकप्रकरैरिव प्रियरथाङ्गमङ्गनाः ॥ ३७ ॥

करेति । प्रतिवेश्म वेश्मनि । विभक्त्यर्थेऽव्ययीभाव । अङ्गनाः पुरन्ध्र्य । करयुग्मान्यञ्जलयस्तानि पद्ममुकुलानीवेत्युपमितसमास । तैरपवर्जितस्त्यक्तैः एवावदीर्णैर्विभिन्नैः शुक्तिपुटैः शुक्तिकोशैः मुक्ता उत्सृष्टा ये मौक्तिकप्रकरा मुक्तानिकरास्तैरिव स्थितैरित्युत्प्रेक्षा । लाजा कुसुमानीव तै लाजकुसुमैः आचारलाजैरित्यर्थः । प्रिय रथाङ्ग चक्र यस्य त प्रियरथाङ्ग चक्रिण हरिमित्यर्थ । अवाकिरन् छादयामासुः ॥ ३७ ॥

हिममुक्तचन्द्ररुचिरः सपद्मको मदयन्द्विजाञ्जनितमीनकेतनः ।
अभवत्प्रसादितसुरो महोत्सवः प्रमदाजनस्य स चिराय माधवः ॥ ३८ ॥

हिमेति । हिममुक्त शिशिरापगमाद्धिमान्निर्मुक्तो यश्चन्द्र स इव रुचिरः अन्यत्र तेन रुचिरः । पद्मेन पद्मया च सह वर्त्तत इति सपद्म. स एव सपद्मकः । पद्महस्त. सश्रीकश्च । शैषिक स्वार्थिको वा कप्प्रत्यय । अन्यत्र सपङ्कजः । शैषिक कप्प्रत्यय. । द्विजान् ब्राह्मणान् अन्यत्र पक्षिगणान् कोकिलादीन् मदयन् हर्षयन् जनितमीनकेतनः प्रद्युम्नजनक अन्यत्र मदनोद्दीपक । प्रसादिता अनुगृहीता सुरा देवा येन । अन्यत्र प्रसादिता निर्मलीकृता सुरा मदिरा यस्मिन् स माधवो हरिर्वसन्तश्च 'माधवस्तु वसन्ते स्याद्वैशाख गरुडध्वजे' इति विश्वः । प्रमदैव जनस्तस्य प्रमदाजनस्य । जातावेकवचनम् । चिराय महोत्सवोऽभवत् । तद्वदानन्दकरोऽभूदित्यर्थः । इहानन्दकत्वसाम्येन माधवे महोत्सवरूपणात् रूपकसिद्धि । श्लेषस्तु हरिवसन्तयोरिह नास्त्येव प्रकृताप्रकृतश्लेषे विशेष्यश्लेषायोगात् । किन्तु शब्दशक्तिमूलो ध्वनिरेव ॥ ३८ ॥

धरणीधरेन्द्रदुहितुर्भयादसौ विषमेक्षणः स्फुटममून पश्यति ।
मदनेन वीतभयमित्यधिष्ठिताः क्षणमीक्षते स्म सपुरो विलासिनीः ॥

धरणीति । असौ स्वदाहको विषमेक्षणस्त्र्यक्षः धरणीधरेन्द्रदुहितुः पार्वत्याः । सपत्नीशङ्किन्या इति भावः । "भीत्रार्थाना भयहेतुः" इति पञ्चमी । भयात् स्फुटम् अमूः पौरयोषितः न पश्यतीति हेतोरिति विश्वासादित्यर्थः । अत एव गम्योत्प्रेक्षा । मदनेन वीतभयमधिष्ठिता आक्रान्ता अत्यारूढमदना इत्यर्थः । पुरोविलासिनीः स हरिं क्षणमीक्षते स्म । सविस्मयमिति भावः ॥ ३९ ॥

विपुलेन सागरशयस्य कुक्षिणा भुवनानि यस्य पपिरे युगक्षये ।
मदविभ्रमासकलया पपे पुनः स पुरस्त्रियैकतमयैकया दृशा ॥ ४० ॥

विपुलेनेति । युगक्षये कल्पान्ते सागरे शेते इति सागरशयस्य । "अधिकरणे शेतः" इत्यच्प्रत्ययः, "शयवासवासिष्वकालात्" इति विकल्पादलुगभावः । यस्य हरेर्विपुलेन कुक्षिणा भुवनानि पपिरे पीतानि । पिबतेः कर्मणि लिट् । स हरिरेकतमया पुरस्त्रिया पुनः कयाचित्पौराङ्गनया मदविभ्रमेण मदविकारेणासकलया असमग्रया एकया दृशा पपे पीतः सतृष्णं दृष्ट इत्यर्थः । कुक्षिकोणनिविष्टनिखिलविष्टपस्य हरेर्महतः आधेयस्यात्यल्पतरैककान्ताकटाक्षकोणाधारत्वोक्त्याचमत्कारादधिकालङ्कारः । 'आधाराधेययोरानुरूप्याभावोऽधिको मतः' इति लक्षणात् । अयञ्च तात्कालिकविकारात्मा विलासाख्यो भावो यत्कटाक्षवीक्षणम् । 'तात्कालिकविकारः स्याद्विलासोऽङ्गक्रियादिषु' इति दशरूपकात् ॥ ४० ॥

अधिकोन्नमद्धनपयोधरम्मुहुः प्रचलत्कलापिकलशङ्खकस्वना ।
अभिकृष्णमङ्गुलिमुखेन काचन द्रुतमेककर्णविवरं व्यघट्टयत् ॥ ४१ ॥

अधिकेति । काचन कान्ता अभिकृष्णं कृष्णाभिमुखम् । आभिमुख्येऽव्ययीभावः । अधिकभुजोन्नमनाद्दूरमुन्नमन् घनः कठिनः पयोधरः स्तनो यस्याः सा मुहुः प्रचलतो नृत्यतः कलापिनो बर्हिण इव कलो मधुरः शंखकस्वनो वलयध्वनिर्यस्याः सा सती । 'शखकं वलये कम्बौ' इति विश्वः । अङ्गुलिमुखेनाङ्गुल्यग्रेणैकस्य कर्णस्य विवरं रन्ध्रं द्रुतं शीघ्रं व्यघट्टयत् कण्डूविनोदार्थमिवाताडयत् । वस्तुतस्तु भावाविष्करणार्थमेवेति भावः । अयञ्च पूर्ववद्विलास एव । कलापिकलेत्युपमा ॥ ४१ ॥

परिपाटलाब्जदलचारुणासकृच्चलिताङ्गुलीकिसलयेन पाणिना ।
सशिरःप्रकम्पमपरा रिपुं मधोरनुदीर्णवर्णनिभृतार्थमाह्वयत् ॥ ४२ ॥

परीति । अपरा स्त्री परिपाटलाब्जदलचारुणा रक्ताब्जपत्ररुचिरेण असकृन्मुहुश्चालितान्यङ्गुल्यः किशलयानीवाङ्गुलीकिसलयानि यस्य तेन पाणिना सशिरः प्रकम्पं शिरःकम्पयुक्तं

यथा तथा मधो रिपु हरिमनुदीर्णवर्णम् अनुच्चारिताक्षरम् अत एव निभृतार्थं परेषामविदितार्थं यत्तदनुदीर्णवर्णनिभृतार्थं यथा तथा आह्वयत् परप्रकाशनभयादव्याहरन्ती चेष्टयैवाह्वानं कृतवती-त्यर्थ । अत्रापि पूर्ववद्विलासोपमे भावालकारौ ॥ ४२ ॥

नलिनान्तिकोपहितपल्लवश्रिया व्यवधाय चारु मुखमेकपाणिना ॥
स्फुरिताङ्गुलीविवरनिस्सृतोल्लसद्दशनप्रभांकुरमजृम्भतापरा ॥४३॥

नलिनेति । अपरा स्त्री नलिनान्तिके उपहितस्य पल्लवस्य श्रीरिव श्रीर्यस्य तेन । मुखसन्निधानादिति भाव. । एकपाणिना चारु निसर्गसुन्दर मुख व्यवधाय तिरोधाय स्फुरदङ्गु-लीविवरनिस्सृता उज्ज्वलाङ्गुल्यन्तरालनिर्गता अत एवोल्लसन्त उत्सर्पन्तो दशनप्रभा एवाङ्कुरा यस्मिन् कर्मणि तद्यथा तथा अजृम्भत जृम्भमाणस्य विवरण तच्चेष्टवस्तुसाक्षात्कारकृतजाड्या-नुभावः । अत्र नलिनपल्लवयोरसम्बन्धयोः सभावनया सम्बन्धाभिधानादतिशयोक्तिः ॥ ४३ ॥

वलयार्पितासितमहोपलप्रभा बहुलीकृतप्रतनुरोमराजिना ।
हरिवीक्षणाक्षणिकचक्षुषान्यया करपल्लवेन गलदम्बरन्दधे ॥४४॥

वलयेति । हरिवीक्षणे अक्षणिकचक्षुषा स्थिरदृष्ट्या विस्मयादराभ्या स्तिमितनेत्रयेत्यर्थः । अन्यया स्त्रिया गलत्सुखपारवश्यात् स्रसमानमम्बर वलयेष्वर्पिता खचिता ये असितमहोपला नीलमहामणय । 'उपलो मणिपाषाणौ' इति विश्व. । तेषा प्रभाभिर्बहुलीकृता प्रतनुः सूक्ष्मा रोमराजिर्यस्य तेन करपल्लवेन दधे धृतम् । अय च तात्कालिकविहारलक्षणः विलासः । अत्रेन्द्रनीलप्रभाणा रोमावलीबहुलीकरणोक्त्या प्रभास्वपि रोमराजित्वप्रतीतेर्भ्रान्तिमदलङ्कारो व्यज्यत इति वस्तुनालङ्कारध्वनि' ॥ ४४ ॥

निजसौरभभ्रमितभृङ्गपक्षतिव्यजनानिलक्षयितघर्म्मवारिणा ।
अभिशौरि काचिदनिमेषदृष्टिना पुरदेवतेव वपुषा व्यभाव्यत ४५

निजेति । काचित् स्त्री निजेनात्मीयेन सौरभेण सौगन्ध्येन भ्रमिताना भ्रमण कारितानां भृङ्गाणां पक्षतयः पक्षमूलानि 'स्त्री पक्षति पक्षमूलम्' इत्यमरः । "पक्षात्तिः" इति तिप्रत्ययः । ता एव व्यजनानि इति रूपक स्वेदहरणलिङ्गात् । तासामनिलेन क्षयित नाशित घर्मवारि स्वेदो यस्य तेन अभिशौरि शौरेरभिमुखम् । आभिमुख्येऽव्ययीभावः । अनिमेषा दृष्टिर्यस्य तेन वपुषा निमित्तेन पुरदेवतेव इन्द्रप्रस्थाधिदेवतेव व्यभाव्यत विभाविता तर्कितेति यावत् । अनिमेषत्वं चेष्टदर्शनजन्यजाड्यसञ्चार्य्यनुभाव. । 'अप्रतिपत्तिर्जडता स्यादिष्टानिष्टदर्शनश्रुतिभि' । अनिमेषनयननिरीक्षणतूष्णींभावोदयस्तत्र' इति लक्षणात् । इहाङ्गसौरभानिमेषत्वाभ्या पुराधिवा-साच्च पुराधिदेवतात्वमुत्प्रेक्ष्यते इत्युपात्तगुणनिमित्ता जातिस्वरूपोत्प्रेक्षा, तया चास्या जात्याः पद्मिनीत्व व्यज्यते इत्यलङ्कारेण वस्तुध्वनि' । निजसौरभेत्यनेन 'कमलमुकुलमृद्वी फुल्लराजीवगन्धिः सुरतपयसि यस्याः सौरभ दिव्यमङ्गम्' इत्यादिपद्मिनीलक्षणोपलक्षणादिति । विपुलेनेत्यादिश्लो-

कोक्ताः षडपि नायिकाः प्रौढाः साधारण्यश्च । तत्र त्रासासंभवात् । अन्यथासां कृतचेष्टा-वर्णनानौचित्याच्चेत्यलमतिप्रपञ्चेन ॥ ४५ ॥

अभियाति नः सतृष एष चक्षुषो हरिरित्यखिद्यत नितम्बिनीजनः ।
न विवेद यस्सततमेनमीक्षते न वितृष्णतां व्रजति खल्वसावपि॥४६॥

अभियातीति । असौ नितम्बिनीजनः स्त्रीजनः नोऽस्माकं चक्षुषः सतृषः सतृष्णस्यैव सतश्चक्षुषि सतृष्णे सत्येव अनादृत्येत्यर्थः । " षष्ठी चानादरे " इति षष्ठी । एष हरिरभियात्य-भिगच्छतीत्यखिद्यत खेदं गतः । खिदेर्दैवादिकात्कर्तरि लङ् । अत्रोत्प्रेक्ष्यते । नेति । यो जनः एन हरिं सततमीक्षते असावपि खलु वितृष्णता न व्रजतीति न विवेद नित्यदर्शनेऽप्य-पूर्ववदेव भवतीति नाबुध्यतेत्यर्थः । वेद चेन्नखिद्यतेति भावः । अत्राखिद्यतेति स्त्रीणां प्रारब्धहरिवीक्षणसुखविच्छेदकृतविषादाख्यसञ्चारिमात्रनिबन्धनात्प्रेयोऽलङ्कारः । तदुत्थापिता चेयमुक्ता वेदनोत्प्रेक्षेति सङ्करः । ' प्रारब्धकार्यासिद्ध्यादेर्विषाद. सत्त्वसङ्क्षयः ' इति दशरूपके । सत्त्वसक्षयश्चित्तभङ्गः ॥ ४६ ॥

अकृतस्वसद्मगमनादरः क्षणं लिपिकर्मनिर्मित इव व्यतिष्ठत ।
गतमच्युतेन सह शून्यतां गतः प्रतिपालयन्मन इवाङ्गनाजनः॥४७॥

अकृतेति । अङ्गनाजन अच्युतेन सह गत मन प्रतिपालयन् प्रतीक्षमाण इवेत्युत्प्रेक्षा । शून्यतां निरोजस्कता गत. अकृतस्वसद्मगमनादर· निवृत्तनिजगृहप्राप्त्यपेक्ष· सन् लिपिकर्मनिर्मितः चित्रलिखित इव इत्युत्प्रेक्षा । क्षणं व्यतिष्ठत विस्पन्दमास्तेत्यर्थः " समवप्रविभ्य· स्थः" इत्या-त्मनेपदम् । अत शून्यतानुभावाच्चिन्तावगम्यते । 'ध्यान चिन्ता हितानाप्ते शून्यता श्वासताप-कृत्' इति दशरूपके । अत्रोत्प्रेक्षयो· सापेक्षत्वात्सङ्कर ॥ ४७ ॥

अलसैर्मदेन सुदृशः शरीरकैः स्वगृहान्प्रतिप्रतिययुः शनैश्शनैः ।
अलघुप्रसारितविलोचनाञ्जलिद्रुतपीतमाधवरसौघनिर्भरैः॥४८॥

अलसैरिति । अलघु अविक प्रसारितैर्विलोचनैरेवाञ्जलिर्द्रुतम् सत्वरम् । 'लघुक्षिप्रमरं द्रुतम्' इत्यमर. । पीतो यो माधवो हरिरेव रसोऽमृतम् अन्यत्र मधु मद्य तत्सम्बन्धि रसो माधुर्य माधवरसः । 'रसो रागे विषे वीर्ये तिक्तादौ पारदे द्रवे । रेतस्यास्वादने हेम्नि निर्यासेऽमृतशब्दयोः' इति वैजयन्ती । तस्यौघः समूहस्तेन निर्भरैर्दुर्भरैः । गुरुभिरिति यावत् । अत एव मदेनालसैर्मन्थरैः शरीरकाण्यल्पशरीराणीत्यर्थः । " अल्पे " इति परिमाणे कन्प्रत्यय· । तैरुपलक्षिताः सुदृशः शनैः शनैः स्वगृहान् प्रतिययुः प्रति प्रतिनिर्गता· । स्वयं लघू-न्यपि द्रव्याणि रसद्रवभरणाद्गुरु भवन्तीति भावः । अत्र माधवरसौघनिर्भरत्वविशेषणगत्या शनैः शनैः प्रतियानहेतुत्वात्कार्यहेतुकङ्काव्यलिङ्गम्, तच्च माधवरसेनेति श्लेषमूलातिशयोक्त्युत्थापित-मिति सङ्करः ॥ ४८ ॥

नवगन्धवारिविरजीकृताः पुरो घनधूपधूमकृतरेणुविभ्रमाः ।
प्रचुरोद्धतध्वजविलम्बिवाससः पुरवीथयोऽथ हरिणातिपेतिरे ४९॥

नवेति । अथ पुरप्रवेशानन्तर हरिणा पुर पूर्वं नवगन्धवारिभिर्गन्धवासितोदकैः विरजी-कृता अविरजसो विरजस सम्पद्यमाना. कृताः । " अरुर्मनश्चक्षुश्चेतोरहोरजसा लोपश्च " इत्यभू-ततद्भावे च्विप्रत्यये सलोप· " अस्य च्वौ" इतीकारः । घनैः सान्द्रैर्धूपानामगुरुधूपाना धूमैः कृता रेणुविभ्रमो रजोभ्रमो याभिस्ता· प्रचुर बहुलमुद्धतेषु उच्छ्रितेषु ध्वजेषु ध्वजस्तम्भेषु विलम्बीनि विलम्बमानानि वासासि पताका यासु ता पुरवीथयोऽतिपेतिरेऽतिपातिता अतिक्रान्ता इत्यर्थ. । पतेः कर्मणि लिट्, एत्वाभ्यासलोपौ । अत्र सादृश्याद्धूमरेणुभ्रान्त्या भ्रान्तिमदलङ्कार. । रेणु-विभ्रमशब्देन रजोविलासस्यापि प्रतीतेस्तस्य विरजीकरणेन विरोधाद्विरोधाभासश्चेति अनयोरे-कवाचकानुप्रवेशलक्षण. सङ्कर ॥ ४९ ॥

उपनीय बिन्दुसरसो मयेन या मणिदारु चारु किल वार्षपर्वणम् ।
विदधेऽवधूतसुरसद्मसम्पदं समुपासदत्सपदि संसदं सताम् ॥५०॥

उपनीयेति । मयेनासुरशिल्पिना वृषपर्वा नाम काश्चिदसुरेश्वरः वृषपर्वण इद वार्षपर्वणम् । " तस्येदम् " इत्यण् । चारु मनोहर मणिरेव दारु काष्ठ मणिमयं स्तम्भादिकलापमित्यर्थ. । तद्बिन्दुसरसो हैमवतात्सरोविशेषात् उपनीय समीपमानीय किलेत्यैतिह्ये । या संसन् विदधे निर्मिता । अवधूता अधरीकृता सुरसद्मसम्पत् इन्द्रभवनलक्ष्मीर्यया सा ता संसदं सभाम् । 'सभासमितिससदः । आस्थानी क्लीबमास्थान स्त्रीनपुसकयोः सदः ' इत्यमर. । स हरि सपदि समुपासदत् प्रापत् । सदेर्लुङि " पुषादि " इत्यादिना च्लेरङादेश. । पुरा किल खाण्डवदाहे पा-ण्डवेनाग्निदाहान्मोचितेन मयेन प्रत्युपकारार्थ पूर्वमात्मनैव बिन्दुसरसि गुप्तेन वृषपर्वगृह-निर्माणावशिष्टेन मणिशिलाकलापेन काञ्चनसभा धर्मराजाय निर्मितेति भारते । सभावर्णनागत्वे-नार्ज्जुनमयचरित्रवर्णनादुदात्तालङ्कारः " प्रभूतमहापुरुषचिन्तनं च " इति सूत्रम् ॥ ५० ॥

अथ दशभि सभा वर्णयति-

अधिरात्रि यत्र निपतन्नभोलिहां कलधौतधौतशिलवेश्मनां रुचौ ।
पुनरप्यवापदिव दुग्धवारिधिक्षणगर्भवासमनिदाघदीधितिः ५१॥

अधीत्यादि । अधिरात्रि रात्रिषु । विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः । यत्र सभाया नभोलिहाम-भ्रलिहाम् । क्विप् । कलधौत रौप्यम् । ' कलधौत रूप्यहेम्नोः ' इत्यमर । तद्वद्धौताः धवलाः शिला येषा तानि वेश्मानि । स्फटिकभवनानीत्यर्थ । तेषा रुचौ प्रभाया निपतन् प्रविशन् अनिदाघदीधितिरनुष्णरश्मिर्हिमांशुः पुनरपि दुग्धवारिधौ क्षीराब्धौ क्षण गर्भवास न तु मथना-त्प्रागिव चिरगर्भवासमिति भावः । अवापत् प्रापदिवेत्युत्प्रेक्षा । तया वेश्मना चन्द्रमण्डलाति-क्रमो व्यज्यते ॥ ५१ ॥

लयनेषु लोहितकनिर्मिता भुवः शितिरत्नरश्मिहरितीकृतान्तराः।
जमदग्निसूनुपितृतर्पणीरपो वहति स्म या विरलशैवला इव॥५२॥

लयनेष्विति । लीयते एष्विति लयनानि तेषु गृहेषु शितिरत्नाना नीलमणीनां रश्मिभि॰ र्हरितीकृतानि हरितवर्णीकृतानि अन्तराणि मध्यानि यासां ताः लोहितमणयो लोहितकाः पद्म॰ रागा॰ । "लोहितान्मणौ" इति कन्प्रत्यय । तैर्निर्मिताः भुवो भूमीर्विरलाः शैवला यासु ताः जमदग्निसूनोः परशुरामस्य पितॄणां तर्पणीः तृप्तिकरीरप इवेत्युपमा । या समा वहति स्म जामदग्न्यः क्षत्रियास्रैः पञ्चशो ह्रदानुत्पाद्य ताभिरद्भिः पितॄनतर्पयत् ताश्च रुधिरप्रकृतिकत्वाद्र- क्तवर्णा एवेति पुराणम ॥ ५२ ॥

विशदाश्मकूटघटिताः क्षपाकृतः क्षणदासु यत्र च रुचैकतां गताः। गृहपङ्क्तयश्चिरमतीयिरे जनैस्तमसीव हस्तपरिमर्श- सूचिताः ॥ ५३ ॥

विशदेति । किञ्चेति चार्थः । यत्र समाया विशदाश्मकूटघटिताः स्फटिकशिलासंघात- निर्मिताः अत एव क्षणदासु क्षपाकृतो निशाकरस्य रुचा चन्द्रिकयैकता सावर्ण्यादभेद गताः अत एव तमसीव हस्तपरिमर्शसूचिताः पाणिस्पर्शैकगम्या इत्यर्थः । गृहपंक्तयः जनैश्चिरमतीयिरे अतिक्रान्ता पुरोगतान्यपि स्फटिकभवनानि चन्द्रिकाभ्रमादतीत्य गत्वा पश्चात्करपरामर्शैः कथ- ञ्चित्प्राप्यन्तइत्यर्थः । अत्र प्रकृतानां स्फटिकवेश्मनां गुणसाम्यादप्रस्तुतचन्द्रिकैक्योक्त्या सामा- न्यालङ्कार॰ । "सामान्य गुणसाम्येन यत्र वस्त्वन्तरैकता" इति लक्षणात् ॥ ५३ ॥

निलयेषु नक्तमसिताश्मनाञ्चयैर्बिसिनीवधूपरिभवस्फुटागसः ।
मुहुरत्र सद्भिरपि यत्र गौरवाच्छशलाञ्छनांशव उपांशु जघ्निरे॥५४॥

निलयेष्विति । यत्र समाया निलयेषु नक्तं रात्रौ विसिन्यो दीर्घिकापद्मिन्यस्ता एव वध्वस्तासां परिभवेन निमीलितेन दूषणेन च स्फुटागसः स्पष्टापराधाः शशलाञ्छनांशवः चन्द्र- पादा । अत्र सद्भिरत्रस्यद्भिरपि निर्दोषैरपि इति चार्थः । 'त्रासो भीमणिदोषयोः' इति विश्वः । 'वा भ्राश' इत्यादिना श्यनभावपक्षे शतृप्रत्ययः । असिताश्मनाम् इन्द्रनीलमणीना चयैः समूहै गौरवात्स्वय प्रभूतत्वात् सभावितत्वाच्च । उपांशु अशुममीपे रहश्च । 'रहश्चोपांशु चालिङ्गे' इत्यमरः । मुहुर्जघ्निरे तिरोहिता मारिताश्च । हन्तेः कर्मणि लिट् । समीपगताश्चन्द्रांशवः प्रभू तैरिन्द्रनीलांशुभिस्तिरस्कृता इत्यर्थः । अन्यत्रान्तःपुरद्रोहिणो निर्भाकरपि संभाव्यैर्दुष्कीर्तिभ- याद्गूढं हन्यन्त इति भावः । अत्र विसिनीनां वधूत्वरूपणात्तत्परिभाविनां चन्द्रांशूनां धूर्तकामु- कत्वरूपणप्रतीतेः एकदेशविवर्तिरूपकम्, तच्च गौरवादुपांशु जघ्निरे इति च श्लेषेणात्र सद्भिरपीति विरोधेन च सङ्कीर्य्यते ॥ ५४ ॥

सुखिनः पुरोऽभिमुखतामुपागतैः प्रतिमासु यत्र गृहरत्नभित्तिषु ।
नवसङ्गमैरबिभरुः प्रियाजनैः प्रमदं त्रपाभरपराङ्मुखैरपि ॥९५

सुखिन इति । यत्र सभाया नवः सङ्गमो येषा तैर्नवसङ्गमैरत एव त्रपाभरेण पराङ्मुखैर्विमुखैरपि गृहाणा रत्नभित्तिषु प्रतिमासु तत्सक्रान्तप्रतिबिम्बेषु पुरोऽग्रेऽभिमुखतामुपागतै॰ प्रियाजनै॰ कान्ताजनै सुखिनो भोगिन॰ प्रमद हर्षम् अबिभरुः बिभ्रति स्म । भृञो लङि, "श्लौ" इति द्विर्भावे "सिजभ्यस्तविदिभ्यश्च" इति झेर्जुसादेशः । स्त्रीणा वैमुख्येऽपि तत्प्रतिबिम्बाभिमुख्यात्पुसा सुखमेव स्त्रीणा तु उभयथापि क्लिष्टमित्यर्थः । अत्र वैमुख्येऽप्याभिमुख्यमिति विरोधस्य प्रतिमास्विति निरासाद्विरोधाभासोऽलङ्कार॰ ॥ ९५ ॥

तृणवाञ्छया मुहुरवाञ्चिताननान्निचयेषु यत्र हरिताश्मवेश्मनाम् ।
रसनाग्रलग्नकिरणाङ्कुराञ्जनो हरिणान्गृहीतकवलानिवैक्षत ॥९६॥

तृणेति । यत्र सभाया हरिताश्मवेश्मना मरकतमणीनाम् गृहाणाम् । 'गारुत्मत मरकतमश्मगर्भो हरिन्मणि॰' इत्यमरः । निचयेषु सघेषु तृणवाञ्छया तृणाशया मुहुरवाञ्चिताननान्नमितमुखान् । अत एव रसनाग्रेषु लग्नाः किरणा अंकुरा इव येषा ते तान् । अत एव गृहीतकवलान् उपात्ततृणग्रासानिव स्थितान् हरिणान् जन ऐक्षत ईक्षितवान् । ईक्षतेर्लङि "आडजादीनाम्" इत्याट् "आटश्च" इतिवृद्धिः । अत्र तृणवाञ्छयेति हरिणाना मरकतेषु तृणभ्रान्तेर्भ्रान्तिमदलङ्कारः । तन्मूला चेन गृहीतकवलत्वोत्प्रेक्षेति सङ्कर ॥ ९६ ॥

विपुलालवालभृतवारिदर्पणप्रतिमागतैरभिविरेजुरात्मभिः ।
यदुपान्तिकेषु दधतो महीरुहः सपलाशराशिमिव मूलसंहतिम् ९७

विपुलेति । यदुपान्तिकेषु यस्या सभाया उपान्तिकेषु समीपेषु महीरुहो वृक्षाः विपुलेष्वालवालेषु मूलजलाधारेषु । 'स्यादालवालमावालम्' इत्यमरः । भृतानि सम्भृतानि वारीण्येव दर्पणास्तेषु प्रतिमा, प्रतिबिम्बता गतैः प्रतिबिम्बितैरित्यर्थः । आत्मभिः स्वमूर्त्तिभिरित्यर्थे । सपलाशराशिं सपत्रसन्तर्तिं मूलसहतिं दधत इव दधाना इवाभिविरेजु । स्वालवालेषु स्वप्रतिबिम्बितैरधोमुखै॰ मूलेष्वपि सपत्रा इव रेजुरित्युत्प्रेक्षा ॥ ९७ ॥

उरगेन्द्रमूर्द्धरुहरत्नसन्निधेर्मुहुरुन्नतस्य रसितैः पयोमुचः ।
अभवन्यदङ्गणभुवःसमुच्छ्वसन्नववालवायजमणिस्थलाङ्कुराः९८

उरगेन्द्रेति । उरगेन्द्राणा मूर्द्धसु रुहाणि रूढानि । इगुपधलक्षणः कः । तेषा रत्नानां सन्निधेः सन्निधानात् मुहुरुन्नतस्य यदायदा तत्सन्निधिस्तदातदोदितस्येत्यर्थ । पयोमुचो मेघस्य रसितैः स्तनितैर्यदङ्गणभुवो यस्याः प्राङ्गणप्रदेशाः समुच्छ्वसन्तः प्रादुर्भवन्तो नवा॰ प्रत्यग्राः वालवायजमणिस्थलाकुराः वैदूर्य्यसूप्ररोहा यासु तास्तथोक्ता अभवन् । 'वैदूर्य्य वालवायजम्' इत्यमरः । वालवायो नाम वैदूर्यप्रभवो देशविशेषः । उरगेन्द्रमूर्द्धन्यरत्नाकुरैः सहोदितमेघध्वनेर्वैदू-

द्भूमिरुद्भिन्नाङ्कुरा भवतीति प्रसिद्धिः । तदुक्तम् उरगमूर्द्धन्यरत्नसन्निधानादकालेऽपि मेघा गर्ज-न्तीति वार्त्ता । केचित्तु यत्रैवोरगरत्न मेघरसितं च तत्रैव वैदूर्यभूमिः । अत्र समृद्धिमद्वस्तुवर्ण-नादुदात्तालङ्कारभेदः 'तदुदात्त भवेद्यत्र समृद्धं वस्तु वर्ण्यते' इति लक्षणात् ॥ ५८ ॥

नलिनीनिगूढसलिला च यत्र सा स्थलमित्यधःपतति या सुयोधने
अनिलात्मजप्रहसनाकुलाखिलक्षितिपक्षयागमनिमित्ततां ययौ॥५९

नलिनीति । यत्र सभाया निगूढसलिला दलच्छन्नत्वाददृश्यसलिला नलिनी वर्त्तत इति शेषः । या नलिनी सुष्ठु युध्यत इति सुयोधने दुर्योधने । "भाषाया शासियुधिदृशिधृषिमृषिभ्यो युच् वक्तव्यः" इति युच् । स्थलमिति भ्रान्त्या अधः पतति सति अनिलात्मजस्य भीमसेनस्य प्रहसनेनाट्टहासेनाकुलाना क्षुभितानामखिलक्षितिपाना क्षयागमे नाशप्राप्तौ निमित्तता ययौ नलि-नीदलच्छन्नत्वात्सुयोधनस्य जले स्थलभ्रान्तिः तया तस्य पातस्तेन भीमसेनप्रहासस्तेन राज्ञां क्षोभस्ततस्तेषा मारणो रणः प्रवृत्त इति परम्परया तत्क्षयकारणत्व गतेत्यर्थः । अत्र सभावर्णनां-गतया भीमसेनादिचरितवर्णनादुदात्तालङ्कारभेद. । लक्षण चोक्तम् ॥ ५९ ॥

हसितुं परेण परितः परिस्फुरत्करवालकोमलरुचावुपेक्षितैः ।
उदकांपि यत्र जलशङ्कया जनैर्मुहुरिन्द्रनीलभुवि दूरमम्बरम् ॥६०॥

हसितुमिति । यत्र सभाया परित परिस्फुरन्ती करवालकोमला असिश्यामा रुचिर्य-स्यास्तस्याम् इन्द्रनीलभुवि हसितु परेण जानतान्येन जनेनोपेक्षितैः स्थलमेतत् न जलमिति उपदि-ष्टैर्जनैरज्ञैरागतुकजनैर्जलशङ्कया जलभ्रान्त्या मुहुर्दूरमम्बर वस्त्रम् उदकार्षि नितम्बादुद्धृतम् । अत्रेन्द्र-नीलस्थलसादृश्यात्सलिलभ्रान्तिर्भ्रान्तिमदलङ्कार' ॥ ६० ॥

अभितः सदोऽथ हरिपाण्डवौ रथादमलांशुमण्डलसमुल्लसत्तनू ।
अवतेरतुर्नयननन्दनौ नभः शशिभार्गवावुदयपर्वतादिव ॥६१॥

अभित इति । अथामलाशुमण्डलेन तेज पुञ्जेन समुल्लसन्त्यौ भासमाने तनू मूर्ती ययो-स्तौ नयननन्दनौ नेत्रानन्दकरौ हरिपाण्डवौ सदोऽभितः सभाभिमुखम् । "अभित. परित." इति द्वितीया । रथात् शशिभार्गवौ अमलेत्यादिविशेषणविशिष्टौ चन्द्रशुक्रौ नभोऽभितो नभोभिमुखम् उदयाख्यात्पर्वतादुदयाचलादिवावतेरतुः अवतीर्णवन्तौ । तरतेर्लिट् "तॄफलभजत्रपश्च" इति एत्वाभ्यासलोपौ । उपमा ॥ ६१ ॥

तदलक्ष्यरत्नमयकुड्यमादरादभिधातरीत इत इत्यथो नृपे ॥
धवलाश्मरश्मिपटलाविभावितप्रतिहारमाविशदसौ सदः शनैः ॥

तदिति । अथो रथावतरणानन्तरम् असौ हरिर्नृपे युधिष्ठिरे आदरादितइत इत्यभिधातरि सति इतइत आगम्यतामित्यभिदधाने सतीत्यर्थः । तत्पूर्वोक्तमलक्ष्यरत्नमयकुड्यम् अदृश्यरत्नभि-

त्तिकम् । धवलेन शुभ्रेण रश्मिपटलेन मणिप्रभापुञ्जेनाविभावितप्रतिहारमलक्ष्यद्वारम् । 'स्त्रीद्वाद्वार प्रतीहार' इत्यमरः । सदः सभा शनैराविशत् प्रविष्टवान् । अत्र कुड्यप्रतीहारयोरलक्ष्यत्वासम्बन्धेऽपि तत्सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिः ॥ ६२ ॥

नवहाटकेष्टकचितं ददर्श स क्षितिपस्य पस्त्यमथ तत्र संसदि ।
गगनस्पृशां मणिरुचां चयेन यत्सदनान्युदस्मयत नाकिनामपि ॥

नवेति । अथ प्रवेशानन्तरं स हरिस्तत्र सभादि सभाया नवाभिर्हाटकेष्टकाभिः हिरण्येष्टकाभिश्चितम् । 'हिरण्यं हेम हाटकम्' इत्यमरः । "इष्टकेषीकामालानां चिततूलभारिषु" इति ह्रस्वः । पक्वमृत्तिकाविशेषवाचकस्येष्टकाशब्दस्य तादृशि सुवर्णविकारे सुवर्णवटवदुपचारात्प्रयोगः । क्षितिपस्य युधिष्ठिरस्य पस्त्यं सदनम् । 'निशान्तपस्त्यसदनम्' इत्यमरः । ददर्श । यत् सदनं गगनस्पृशाम् उच्चैस्तराणां मणिरुचां चयेन समूहेन नाकिनां देवानामपि सदनानि उदस्मयत अहसत् । स्मयतेरुत्पूर्वात्कर्त्तरि लङ् । अत्रापि नृपसदनस्य सुरसदनाद्याधिक्यासम्बन्धेऽपि तत्सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिः ॥ ६३ ॥

उदयाद्रिमूर्ध्नि युगपच्चकासतोर्दिननाथपूर्णशशिनोरसम्भवाम् ।
रुचिमासने रुचिरधाम्नि बिभ्रतावलघुन्यथ न्यषदतां नृपाच्युतौ ॥ ६४ ॥

उदयाद्रीति । अथ नृपसदनदर्शनानन्तरम् उदयाद्रेर्मूर्ध्नि शिखरे युगपच्चकासतोः प्रकाशमानयोः । 'चकासृ दीप्तौ, इति धातोर्लट शत्रादेशः । दिननाथपूर्णशशिनोः सूर्यपूर्णचन्द्रमसोरसम्भवां सम्भवरहितां तयोस्तथाभूतयोर्यौगपद्यायोगादभूतपूर्वामित्यर्थः । रुचिं शोभां बिभ्रतौ नृपाच्युतौ रुचिरधाम्नी उज्ज्वलतेजसि अलघुनि विपुले आसने सिंहासने न्यषदतामुपविष्टौ । सदेर्लुङि पुषादित्वात् च्लेरङादेशः, "सदिरप्रतेः" इति षत्वम् । अत्र सम्भावनया अर्कपूर्णेन्दुशोभासम्बन्धोक्तेरसम्बन्धे सम्बन्धरूपातिशयोक्तिः ॥ ६४ ॥

सुतरां सुखेन सकलक्लमच्छिदा सनिदाघमङ्गमिव मातरिश्वना ।
यदुनन्दनेन तदुदन्वतः पयः शशिनेव राजकुलमाप नन्दथुम् ॥ ६५ ॥

सुतरामिति । तद्राजकुलं कुरुकुलम् । सकलक्लमच्छिदा सकलदुःखहारिणा यदुनन्दनेन कृष्णेन सनिदाघं ससन्तापमङ्गं मातरिश्वा वायुस्तेन उदकान्यस्य सन्तीति उदन्वान् उदधिः । "उदन्वानुदधौ च" इति निपातः । तस्य पयो जलं शशिनेव सुतरामत्यन्तम् । "किमेत्तिङव्ययघादामु" इत्यादिना आमुप्रत्ययः । सुखेनाक्लेशेन नन्दथुम् आनन्दमाप । 'स्यादानन्दथुरानन्दः' इत्यमरः । "ट्वितोऽथुच्" इत्यथुच्प्रत्ययः । मालोपमा ॥ ६५ ॥

अनवद्यवाद्यलयगामि कोमलं नवगीतमप्यनवगीततां दधत् ।

स्फुटसात्त्विकाङ्गिकमनृत्यदुज्ज्वलं सविलासलासिकवि-
लासिनीजनः ॥ ६६ ॥

अनवद्येति । सविलासो विलासयुक्तो लासिकविलासिनीजनः नर्त्तकस्त्रीजनः सविलासलासिकविलासिनीजनः । 'नर्तकीलासिके समे' इत्यमरः । अनवद्यमगर्ह्यं वाद्य वशादि तस्य लयः साम्य गीतस्य समकालत्व तद्धामि द्रुतविलम्बादिमानानुवर्त्तीत्यर्थः । 'तालः कालक्रियामानं लयः साम्यम्' इत्यमरः । नव गीत यस्य तत् नवगीत तथाप्यनवगीतता दधदिति विरोधेऽपिशब्द अगर्हितत्व दधदित्यविरोधाद्विरोधाभास । 'अवगीत तु निर्वादे मुहुर्गीते च गर्हिते' इति विश्वः । सत्त्वमन्तःकरण तेन निर्वृत्तं नृत्य सात्त्विकम् अङ्ग हस्तादि तेन निर्वृत्तमाङ्गिकम् । 'निर्वृत्ते त्वङ्गसत्त्वाभ्या द्वे त्रिष्वाङ्गिकसात्त्विके' इत्यमर । ते स्फुटे यस्मिस्तत्तथोक्तम् । वाचिकस्याप्युपलक्षणमेतत् । यथाह भगवान् भरत । 'पदार्थाभिनयो नाम ज्ञेयो वागङ्गसत्त्वज.' । इति । अत एव कालिदासोऽपि 'अङ्गसत्त्ववचनाश्रय मिथ. स्त्रीषु नृत्यमुपधाय दर्शयन्' इति । कोमलं मधुरनृत्यमुज्ज्वलमुद्धत चानृत्यत् । तथोक्तं दशरूपके । 'भावाश्रय तु नृत्यं स्यान्नृत्त ताललयाश्रयम् । आद्य पदार्थाभिनयो मार्गो देशी तथापर' । मधुरोद्धतभेदेन तद्द्वय द्विविध पुन. । लास्यताण्डवरूपेण नाटकाद्युपचारकम्' इति ॥ ६६ ॥

सकले च तत्र गृहमागते हरौ नगरेऽप्यकालमहमादिदेश सः ।
सततोत्सव तदिति नूनमुन्मुदो रभसेन विस्मृतमभून्महीभृतः ॥

सकल इति । किं चेति चार्थः । स राजा हरौ कृष्णे गृहमागते सकले तत्र नगरे इन्द्रप्रस्थे अकाले प्रसिद्धवसन्ताद्यतिरिक्ते काले । महमुत्सवम् । 'मह उद्धव उत्सव' इत्यमरः । आदिदेश आज्ञापयामास । नूनमत्रोत्प्रेक्ष्यते । उन्मुदः कृष्णागमनादुत्कटानन्दस्य महीभृतो धर्मनन्दनस्य तन्नगर सततम् उत्सवा यस्मिन् तत् सततोत्सवमिति इत्येतद्रभसेन त्वरया विस्मृतमभूत् । अन्यथा कथ कृतकरणोपदेश इति भावः ॥ ६७ ॥

हरिराकुमारमखिलाभिधानवित्स्वजनस्य वार्तमथमन्वयुङ्क्त
च । महतीमपि श्रियमवाप्य विस्मयः सुजनो न विस्मरति
जातु किञ्चन ॥ ६८ ॥

हरिरिति । किञ्चेति चार्थः । अखिलान्यभिधानानि नामानि वेत्तीति अखिलाभिधानवित् सकलनामप्रपञ्चाभिज्ञः । 'नामरूपे व्याकरवाणि' इति श्रुतेरिति भावः । 'आख्याह्वे अभिधान च नामधेय च नाम च' इत्यमरः । अथ हरिः कृष्णः कुमारमारभ्येत्याकुमारम् । "आङ्मर्यादाभिविध्योः' इत्यभिधानादव्ययीभावः । स्वजनस्य बन्धुजनस्य । 'बन्धुस्वस्वजनाः समाः' इत्यमरः । वार्त्तमनामयम् आरोग्यमित्यर्थः । 'वार्तं फल्गुन्यरोगे च' इत्यमरः "ब्राह्मणं कुशलं पृच्छेत्क्षत्रबन्धुमनामयम्" इति मनुस्मरणात् । अन्वयुङ्क्त अपृच्छत् । 'प्रश्नोऽनुयोगः पृच्छा

च ' इत्यमर । युजेः कर्तरि लट् । तथा हि महतीं श्रियं सम्पदमवाप्यापि विस्मय. निरहङ्कारः सुजन अत एव जातु कदाचिदपि किञ्चन किमपि न विस्मरति । सुजन सम्पन्नोऽप्यहङ्कारं न करोतीति भाव । सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यास. ॥ ६८ ॥

मर्त्यलोकदुरवापमवाप्तरसोदयं नूतनत्वमतिरिक्ततयानुपदं दधत् । श्रीपतिः पतिरसाववनेश्च परस्परं सङ्कथामृतमनेकमसिस्वदतामुभौ ॥ ६९ ॥

इति श्रीमाघकविकृतौ शिशुपालवधे महाकाव्ये श्रीशब्दालंकृतसर्गान्ते श्रीकृष्णसमागमो नाम त्रयोदशः सर्गः॥ १३ ॥

मर्त्येति । उभौ श्रीपति कृष्णः असाववने. पतिः धर्मसुतश्च परस्पर मर्त्यलोकैर्मनुष्यलोकैर्दुरवाप दुर्लभम् अवाप्तरसोदय प्राप्तरसोत्कर्षं स्वादूभवदित्यर्थः । अतिरिक्ततया अतिस्निग्धतया अनुपदमनुक्षण प्रतिवाक्य च नूतत्वमपूर्वता दधत् अनेक वहुल सकथा सभाषण चेदिराजजरासन्धादिकार्यचिन्तारूप तदेवामृत तदसिस्वदता स्वादितवन्तौ । ' आकर स्वपरत्रिकथाना प्रायशो हि सुहृदोः सहवास ' इति भावः । स्वदतेर्णौ चङ्युपधाया ह्रस्व' । सकथामृतमिति रूपकालकार' स्वादनलिगात् ॥ ६९ ॥

इति श्रीमहामहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचिते माघकाव्यव्याख्याने सर्वङ्कषाख्ये त्रयोदश सर्ग ॥१३॥

चतुर्दशः सर्गः ।

तं जगाद गिरमुद्गिरन्निव स्नेहमाहितविकासया दृशा । यज्ञकर्मणि मनः समादधद्वाग्विदां वरमकद्वदो नृपः ॥ १ ॥

तमिति । वदतीति वद' । पचाद्यच् कुत्सितस्य वदः कद्वद. गर्ह्यवाक्।'गर्ह्यवादी तु कद्वदः' इत्यमरः । "रथवदयोश्च" इति कोः कदादेशः।स न भवतीत्यकद्वद साधुवादी नृपो युधिष्ठिरः यज्ञकर्मणि यज्ञानुष्ठाने मन. समादधत् सम्यगादधत् तदेव हृदि निधायेत्यर्थः । आहितविकासया कृतप्रसादया दृशा दृष्ट्या स्नेहमुद्गिरन्नुद्वमन्निवेत्युत्प्रेक्षा दृष्टिविकासात् प्रकटितस्नेहः सन्नित्यर्थः । वाचो विन्दन्ति वक्तु विवेक च जानन्तीति वाग्विद. वाक्यकोविदाः । " सत्सूद्विष " इत्यादिना क्विप्। तेषा वर श्रेष्ठं त हरि गिरं जगाद । गतेरर्थग्रहणात् ' दुह्याच् " इत्यादिना गदेर्द्विकर्मकत्वम्। अत्रोत्प्रेक्षावृत्त्यनुप्रासयोः संसृष्टिः । अस्मिन्सर्गे रथोद्धता वृत्तम् ' रान्नराविह रथोद्धता लगौ 'इति लक्षणात् ॥ १ ॥

गिरं जगादेत्युक्त तामेव गिर दशभिः प्रपञ्चयति—

लज्जते न गदितः प्रियं परो वक्तुरेव भवति त्रपाधिका ।
व्रीडमेति न तव प्रियं वदन्ह्रीमतात्र भवतैव भूयते ॥ २ ॥

लज्जत इत्यादिभिः । पर' अन्य' कश्चित्पुमान् प्रियं गादितः प्रियवाक्यमुक्तः सन्नित्यर्थः। गदेर्दुहादित्वादप्रधाने कर्मणि क्तः । 'अप्रधाने दुहादीनाम्' इति वचनात् । न लज्जते तस्योत्सुकत्वादिति भाव' । किन्तु वक्तु स्तोतुरेवाधिका त्रपा भवति । भयादिना मिथ्यावाचकत्वादिति भावः । प्रकृते तु नैवमित्याह—तव प्रिय वदन् त्वा स्तुवन्नित्यर्थः । व्रीडा न एति अनन्तगुणाधारे त्वयि वहोरपि प्रियस्य अमिथ्यात्वादिति भाव । किन्तु स्तवनेन अत्रभवता पूज्येनैव ह्रीमता भूयते प्रत्युत त्वमेवात्र जिह्रेषीत्यर्थ । महतामनुत्सुकत्वादिति भाव. 'पूज्यस्तत्रभवान्' इति सज्जनः। "इतराभ्योऽपि" इति सार्वविभक्तिकस्तसिल्प्रत्ययः, "सुप्सुपा" इति समासः ॥ २ ॥

तोषमेति वितथैः स्तवैः परस्त च तस्य सुलभाः शरीरिभिः ।
अस्ति न स्तुतिवचोऽनृतं तव स्तोत्रयोग्य न च तेन तुष्यसि ३॥

तोषमिति । परस्त्वदन्य वितथैरसत्यभूतै' स्तवैः स्तोत्रैः । 'स्तव' स्तोत्रं स्तुतिर्नुतिः' इत्यमर' । तोषमुत्सुकतामेति ते च तस्य परस्य ते मिथ्यास्तवाः शरीरिभि. प्राणिभिः सुलभाः असम्बद्धप्रलापानानिर्गलत्वादिति भावः । त्वयि तु नैवमित्याह । अस्तीति । हे स्तोत्रयोग्य ! गुणाकरत्वादिति भाव । अत एव तव सम्बन्धि स्तुतिवचोऽनृत नास्ति न भवति तेन स्तुतिवचसा न तुष्यसि न प्रसीदसि गम्भीरत्वादिति भाव । अत्र श्लोकद्वये पुरुषान्तरादुपमानभूतादाधिक्यकथनाद्व्यतिरेकालङ्कारः ॥ ३ ॥

बह्वपि प्रियमयं तव ब्रुवन्न व्रजत्यनृतवादितां जनः ।
सम्भवन्ति यददोषदूषिते सार्व सर्वगुणसम्पदस्त्वयि॥ ४ ॥

बह्वपीति । अय जन. स्वयमित्यर्थ परामृश्यते । बह्वपि तव प्रिय ब्रुवन् सन् अनृतवादिता मिथ्यावादित्वं न व्रजति न गच्छति यद्यस्मात् हे सार्व सर्वहितत्वात्सार्वः तत्सम्बोधनम् । "सर्वपुरुषाभ्या णढञौ" इति णप्रत्यय. । दोषदूषितो न भवतीत्यदोषदूषिते सर्वगुणवर्जिते त्वयि सर्वगुणसम्पद' सम्भवन्ति । अनारोपितगुणवादो भूयानपि न विपर्येतीति भाव' । अत्रोत्तरवाक्यार्थेन पूर्ववाक्यार्थसमर्थनाद्वाक्यार्थहेतुक काव्यलिङ्गम् ॥ ४ ॥

सा विभूतिरनुभावसम्पदां भूयसी तव यदायतायति ।
एतदूढगुरुभार भारतं वर्षमद्य मम वर्त्तते वशे ॥ ५ ॥

सेति । हे ऊढगुरुभार । विश्वम्भरत्वादिति भावः । एतत् भरतस्य राज्ञ इद भारत भारतनामाख्य वर्षम् । 'वर्षोऽस्त्री भारतादौ च' इति हैमः । 'लोकोऽय भारत वर्षम्' इत्यमरः । अद्येदानीमायतायति बहुतरकालस्थिर यथा तथेत्यर्थः । 'उत्तर. काल आयतिः' इत्यमरः ।

ममवशे आयत्ततायां वर्तत इति यावत् । 'वश आयत्ततायाश्च' इति विश्वः । सा मद्वशव-र्त्तन विधेयप्राधान्यात् स्त्रीलिङ्गता । तवानुभावसम्पदा सामर्थ्यातिशयाना भूयसी महती विभू-तिर्महिमा । कार्यमिति यावत् । त्वत्प्रसादलब्धमिदमैश्वर्यमित्यर्थः । अत्र निजैश्वर्यस्य भगवदनु-भावसम्पद विना सम्बन्धेऽप्यसम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिः ॥ ५ ॥

तदेव स्तुत्या हरिमाभिमुखीकृत्य कृत्यांशमावेदयति—

सततन्तुमधिगन्तुमिच्छतः कुर्वनुग्रहमनुज्ञया मम ।
मूलतामुपगते खलु त्वयि प्रापि धर्ममयवृक्षता मया ॥ ६ ॥

सप्तेति । सप्त तन्तवः सस्था यस्य त सप्ततन्तु क्रतुम् । 'सप्ततन्तुर्मख क्रतुः ' इत्यमर । अधिगन्तु प्राप्तुमिच्छतो ममानुज्ञयानुज्ञादानेनानुग्रह प्रसाद कुरु साहाय्य कुर्वित्यर्थः । स्वतः समर्थस्य किं मदनुग्रहणेत्याह । हे प्रभो त्वयिमूलता मुख्यकारणतामत्रिन्य चोपगते सति-मया धर्ममयवृक्षता धर्मात्मकवृक्षता प्रापि प्राप्ता । प्राप्नोतेः कर्मणि लुङ् । प्रागपि त्वदनुग्रहादेव धर्ममर्जयन् धर्मराजोऽहमस्मीति भावः । अत्र नृपस्य धर्मवृक्षत्वेन हरेस्तन्मूलत्वेन रूपणात्सा-ङ्गवरूपकम् । तेन त्वदनुग्रहः सर्वथा प्रार्थनीयो मया धर्मार्थिनेति तात्पर्यं व्यज्यते ॥ ६ ॥

सम्भृतोपकरणेन निर्मलां कर्तुमिष्टिमभिवाञ्छता मया ।
त्वं समीरण इव प्रतीक्षितः कर्षकेण वलजान्पुपूषता॥ ७ ॥

सम्भृतेति । निर्मला निर्दोषाम् इष्टिं यागम् । यजे' स्त्रियां क्तिन्, "वचिस्वपि" इत्यादिना सम्प्रसारणम् । कर्तुमभिवाञ्छता अत एव सम्भृतोपकरणेन सम्पादितसाधनेन मया वलजान् धान्यराशीन् । 'वलजो धान्यराशिः स्यात्' इति वैजयन्ती । पुपूषता पवितु सावयितु निस्तुषीं कर्तुम् इच्छता । पुनातेः सन्नन्ताल्लट' शत्रादेश "सनि ग्रहगुहोश्च" इति चकारादिटः प्रति-षेधः । कर्षकेण कृषीवलेन समीरणो वायुरिव प्रतीक्षित. प्रवाते शूर्पादिना धान्यस्योत्क्षेपः पवनं तद्वात विनेव त्वा विना समाहृतसम्भारेणापि मया यागो दुष्कर इति भाव. ॥ ७ ॥

वीतविघ्नमनघेन भाविता सन्निधेस्तव मखेन मेऽधुना ।
को विहन्तुमलमास्थितोदये वासरश्रियमशीतदीधितौ ॥ ८ ॥

वीतविघ्नमिति । अधुना तव सन्निधेर्हेतोर्मे मखेन क्रतुना कर्त्रा । वीतविघ्नमविघ्नम् अन-घेन निर्दोषेण भाविता । भविष्यत इत्यर्थः । भावे लुट्, "स्यसिच्सीयुट्" इत्यादिना लुटि चि-ण्वद्भावात् वृद्धिः । तथा हि । अशीतदीधितावुष्णांशावास्थितोदये प्राप्तोदये सति को वासरश्रियं दिनशोभा विहन्तुमल शक्त । न कोऽपीत्यर्थः । अत्र हरिमरीचिमालिनोर्वाक्यभेदात् बिम्बप्रति-बिम्बतया सन्निहितद्योतितया समानधर्मतया निर्दोषो दृष्टान्तालङ्कारः । 'यत्र वाक्यद्वये बिम्ब-प्रतिबिम्बतयोच्यते । 'सामान्यधर्मवाक्योक्तेः स दृष्टान्तो निगद्यते' इति लक्षणात् ॥ ८ ॥

स्वापतेयमधिगम्य धर्मतः पर्यपालयमवीवृधं च यत् ।
तीर्थगामि करवै विधानतस्तज्जुषस्व जुहवानि चानले ॥ ९ ॥

स्वापतेयमिति । यत् स्वपतौ स्वामिनि साधु स्वापतेयं वित्तम् । "पथ्यतिथिवसतिस्वपतेर्ढञ्" इति ढञ्प्रत्ययः 'द्रव्य वित्त स्वापतेयम्' इत्यमर. । धर्मतः क्षत्रियस्य विजितमिति शास्त्रोक्तप्रकारादित्यर्थ. । अधिगम्य लब्ध्वा । यत्नेन पर्य्यपालय पालितवान् अवीवृध वृद्धिं च प्रापितवान् । तत्तीर्थगामि विप्राधीनं करवै करिष्यामि विधानत' 'पालित वर्द्धयेन्नीत्या वृद्ध पात्रेषु निक्षिपेत्' इति स्मरणात् । तच्च पात्र त्वमेवेत्याह । तत्सर्व जुषस्व सेवस्व सदैव भुङ्क्वेत्यर्थः । 'जुषी प्रीतिसेवनयोः' इति धातोर्लोट् । अनले जुहवानि च जुहुयाम् । तन्मुखेनापि तवैव भोक्तृत्वादिति भाव' । जुहोतेः सप्रेश्न लोटि मेर्निरादेश. ॥ ९ ॥

पूर्वमङ्ग जुहुधि त्वमेव वा स्नातवत्यवभृथे ततस्त्वयि ।
सोमपायिनि भविष्यते मया वाञ्छितोत्तमवितानयाजिना॥ १०

पूर्वमिति । वेति पक्षान्तरे अथवेत्यर्थः । अङ्ग हे कृष्ण ! 'अथ सम्बोधनार्थकाः । स्युः याट्पाडङ्ग हे है भो. ।' इत्यमरः । पूर्व त्वमेव जुहुधि यजस्वेत्यर्थ. । "हुझल्भ्यो हेर्धिः" इति हेर्धिरादेश । सोमपायिनि त्वयि अवभृथे यज्ञे । 'दीक्षान्तोऽवभृथो यज्ञः' इत्यमरः । स्नातवति सति ततोऽनन्तर मया वाञ्छितः उत्तमो वितान राजसूयाख्यः । 'क्रतुविस्तारयोरस्त्री वितानं त्रिषु तुच्छके' इत्यमर' । तेन तथा याजिना भविष्यते । भावे लृट् । त्वयि इष्टवति पश्चादह यक्ष्य इत्यर्थः । अत्र श्लोकद्वयेन हरेर्योगासम्बन्धे तत्सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्ति' ॥ १० ॥

किं विधेयमनया विधीयतां त्वत्प्रसादजितयार्थसम्पदा ।
शाधि शासक जगत्त्रयस्य मामाश्रवोऽस्मि भवतः सहानुजः ११

किमिति । अथवा त्वत्प्रसादेन त्वदनुग्रहेण जितया जयलब्धया अनयार्थसम्पदा धनसम्पदा किं विधेयं किमनुष्ठेय विधीयता त्वयैव क्रियताम् । अह तु अस्वतन्त्र इत्याह हेजगत्त्रयस्य शासक ! न तु ममैवेति भावः । मा शाधि शिक्षयेत्यर्थ' । शासेलाटि "हुझल्भ्यो हेर्धिः" इति धिरादेशः, "झलो झलि" इति सकारलोप. । सहानुज' । सानुजः सन् "वोपसर्जनस्य" इति सहशब्दस्य सभावविकल्प. । भवत. तवाश्रवो विधेयोऽस्मि । 'विधेयो विनयग्राही वचनेस्थित आश्रव' इत्यमरः । अत्रानाश्रवस्याश्रवत्वसम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिरिति दशश्लोक्यामाचार्यमतेऽतिप्रियतराख्यानात्प्रेयोऽलङ्कारः । 'प्रेय' प्रियतराख्यानात्' इति लक्षणात् । आधुनिकास्तु भावनिबन्धने प्रेयोऽलङ्कार इति लक्षयन्ति । स चोन्नीतस्तत्र तत्रोन्नेष्यते च ॥ ११ ॥

तं वदन्तमिति विष्टरश्रवाः श्रावयन्नथ समस्तभूभृतः ।
व्याजहार दशनांशुमण्डलव्याजहारशबलं दधद्वपुः ॥ १२ ॥

तमिति। अथानन्तर विष्टराविव श्रवसी यस्य स विष्टरश्रवा । 'विष्णुर्नारायण कृष्णो वैकुण्ठो विष्टरश्रवा' इत्यमरः। इति एतद्वचो वदन्त नृप समस्तभूभृत सर्वान् नृपान् श्रावयन् दशनांशुमण्डलमिति व्याजोऽपदेशो यस्य तेन हारेण मुक्ताहारेण शबल गौर वपुर्दधत् व्याजहार व्याहृतवान् । अत्र दशनांशुमण्डलस्य व्याजशब्देनासत्यत्वप्रतिपादनाद्- पह्नवभेद ॥ १२ ॥

यदुक्त 'सा विभूति' इत्यादि तत्रोऽत्तरमाह–

सादिताखिलनृपं महन्महः सम्प्रति स्वनयसम्पदैव ते ।
किं परस्य स गुणः समश्नुते पथ्यवृत्तिरपि यद्यरोगिताम्॥ १३॥

सादितेति। सम्प्रति ते तव महन्महस्तेज स्वनयसम्पदैव निजनीतिमहिम्नैव सादिता- खिलनृप विजितसमस्तराजक न तु मदनुभावादिति भाव । तथा हि पथ्या विना वृत्तिरन्नपानादि यस्य क्रिया सोऽपि अरोगितामारोग्यं समश्नुते यदि प्राप्नोतीति चेत्सोऽपि तदारोग्यमित्यर्थ । विधेयप्राधान्यात्पुँल्लिङ्गता । परस्य भिषजः सगुण किं नेत्यर्थ. । पथ्यवृत्तरारोग्यमौषधनाध्यत्वा- द्भिषजो गुणोऽस्तु हितमेध्याशिनो न तथेत्यर्थ । स्वयमसमर्थ पराधीनसिद्धिरित्युपचार इति भाव । दृष्टान्तालङ्कार सुगम. ॥ १३ ॥

यदुक्त 'पूर्वमङ्ग जुहुधि त्वमेव' इति तत्राप्याह–

तत्सुराज्ञि भवति स्थिते पुरः कः क्रतुं यजतु राजलक्षणम् ।
उद्धृतौ भवति कस्य वा भुवः श्रीवराहमपहाय योग्यता ॥१४॥

तदिति। तत्तस्मादुक्तरीत्या तवैवाधिकारित्वादित्यर्थ । सुराज्ञि विजयप्रजारक्षणादि- गुणयोगात् शुद्धक्षत्रिये । 'न पूजनात्' इति समासान्तप्रतिषेध । भवति त्वयि पुर स्थिते सति कस्त्वदन्य क इत्यर्थः। राज्ञः क्षत्रियस्य लक्षण चिह्नमसाधारण यस्य त क्रतु राजसूय- मित्यर्थ'। यजतु न कोऽपीत्यर्थ । 'राजा राजसूयेन यजेत' इति राजाधिकारताश्रवणाद्राजा त्वमे- वेति भाव । सभावनाया लोट् । अत्र दृष्टान्तमाह । भुव उद्धृतौ भुव उद्धरणे श्रीवराहम् आदिवराहम् अपहाय कस्य पुनर्योग्यता सामर्थ्य भवति न कस्यापीत्यर्थ । योगाय प्रभवतीति योग्य । "योगाद्यच्च" इति यत्प्रत्यय' । अत्र राजवराहयो वाक्यभेदेन प्रतिबिम्बकरणाद् दृष्टान्तालङ्कार. ॥ १४ ॥

यच्चोक्त 'सम्भृतोपकरणेन' इत्यादिना तत्राह–

शासनेऽपि गुरुणि व्यवस्थितं कृत्यवस्तुषु नियुङ्क्ष्व कामतः ।
त्वत्प्रयोजनधनं धनञ्जयादन्य एष इति मां च मावगाः ॥१५॥

शासन इति। गुरुण्यतिदुष्करेऽपि शासने नियोगे व्यवस्थित तदाज्ञाकरमित्यर्थः। मा कृत्यवस्तुषु कर्तव्यार्थेषु कामतो यथेच्छ नियुङ्क्ष्व प्रेषय । अनुचितमेतन्नियन्तरीति सङ्कोचं

चारयन्नाह । त्वदिति । त्वत्प्रयोजनमेव धनं यस्य स त्वदर्थैकनिष्ठमित्यर्थः । मा धनानि जयतीति धनञ्जयोऽर्जुनः । "सञ्ज्ञायां भृतृवृजिधारिसहितपिदमः" इति खश्प्रत्यये मुमागमः । तस्मादेपोऽन्यः कृष्ण इति मा मावगाः - मावेहि च । नियोगसमुच्चयार्थश्चकारः । अवपूर्वादिणो माङि लुङ् 'इणो गा लुङि' इति गादेशः, "न माङ्योगे" इत्यट्प्रतिषेधः । उभयोस्तत्कार्यनिबन्धनान्नरनारायणात्मत्वाच्च नावयोर्भेदप्रतिपत्तिः कार्येत्यर्थः । तथा च तद्वदेव नियोगेऽप्यसङ्कोचे उचित इति भावः । अत एवानयोर्वाक्यार्थयोर्हेतुहेतुमद्भावाद्वाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कारः । स च कृष्णयोर्भेदाभेदरूपातिशयोक्तिमूल इति अनयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः ॥ १५ ॥

यच्चोक्तं 'वीतविघ्नम्' इत्यादि तत्राभयदानं प्रतिजानीते—

यस्तवेह सवने न भूपतिः कर्म कर्मकरवत्करिष्यति ।
तस्य नेष्यति वपुः कबन्धतां बन्धुरेष जगतां सुदर्शनः ॥ १६ ॥

य इति । यो भूपतिः तवेहास्मिन् सवने यज्ञे । 'सवनं यजने स्नाने सोमे निर्दलनेऽपि च' इति विश्वः । कर्मकरवद्भृत्यवत् कर्म न करिष्यति तस्य भूपतेर्वपुः जगतां बन्धुः । क्षेमङ्करत्वादिति भावः । एष सुदर्शनो मच्चक्रम् । 'शङ्खो लक्ष्मीपतेः पाञ्चजन्यश्चक्रं सुदर्शनम्' इत्यमरः । कबन्धतां शिरःशून्यतां नेष्यति प्रापयिष्यति छेत्स्यामि चक्रेणास्य शिर इत्यर्थः । 'कबन्धं सलिले प्रोक्तमपमूर्द्धकलेवरे' इति विश्वः । अतो विघ्नशङ्का न कार्य्येति भावः । अत्र सुदर्शने बन्धुत्वरूपणाद्रूपकालङ्कारः ॥ १६ ॥

इत्युदीरितगिरं नृपस्त्वयि श्रेयसि स्थितवति स्थिरा मम ।
सर्वसम्पदिति शौरिमुक्तवानुद्वहन्मुदमुदस्थित क्रतौ ॥ १७ ॥

इतीति । इतीत्थम् उदीरितगिरमुपन्यस्तवाचं शौरिं नृपो युधिष्ठिरः त्वयि श्रेयस्यभ्युदये विषये स्थितवति त्वयि क्षेमङ्करे सतीत्यर्थः । मम सर्वसम्पत् स्थिरेत्युक्तवान् । मुदम् उद्वहन् सहायसम्पत्त्या सन्तुष्यन् सन् क्रतावुदस्थित क्रतुं कर्तुम् उद्युक्तवानित्यर्थः । तिष्ठतेर्लुङि "उदोऽनूर्ध्वकर्मणि" इत्यादिनात्मनेपदम् "स्थाघ्वोरिच्च" इति सिच कित्वादिकारः "ह्रस्वादङ्गात्" इति सकारलोपः ॥ १७ ॥

अथ पञ्चत्रिंशता श्लोकैरनेकधा क्रतुं वर्णयति—

आननेन शशिनः कलां दधद्दर्शनक्षयितकामविग्रहः ।
आप्लुतः स विमलैर्जलैरभूदष्टमूर्तिधरमूर्तिरष्टमी ॥ १८ ॥

आननेत्यादि । आननेन शशिनः कलामिव कलां कान्तिं दधत् निदर्शनालङ्कारः । शशिमुख इत्यर्थः । अन्यत्र शशिखण्डधरेत्यर्थः । दर्शनेन क्षयितौ नाशितौ कामविग्रहौ कामक्रोधौ

येन सः । अन्यत्र दृष्टिदग्धस्मरशरीरो विमलैर्जलैराप्लुतः स्नातः । 'नद्या स्नातीति' दीक्षाग्ग स्नानविधानादिति भावः । अन्यत्र गङ्गोदकसिक्ता गङ्गाधरीत्यर्थः । स नृपः अष्टानां पूरणी अष्टमी । "तस्य पूरणे डट्" इति डट् प्रत्ययः "नान्तादसङ्ख्यादेर्मट्" इति मडागमः, 'टिड्ढाणञ्' इत्यादिना ङीप् । अष्टाना मूर्तीनां समाहारोऽष्टमूर्ति । "तद्धितार्थ" इत्यादिना समाहारे द्विगुरेकवचन नपुसक च । तस्य धरो धारयिताऽष्टमूर्तिधरः शिवः तस्य अष्टमी मूर्तिरभूत् सोमदीक्षितोऽभूदित्यर्थः । तस्याप्यागमे शिवमूर्तित्वप्रसिद्धेः । अत्र प्रकृताप्रकृतयोः नृपशिवयोः शिवशब्दमात्रसाधर्म्यात् श्लेषालङ्कार ॥ १८ ॥

तस्य सांख्यपुरुषेण तुल्यतां बिभ्रतः स्वयमकुर्वतः क्रियाः ।
कर्तृता तदुपलम्भतोऽभवद्वृत्तिभाजि करणे यथर्त्विजि ॥ १९ ॥

तस्येति । क्रियाः कर्माणि होमादीनि । अन्यत्र पुण्यपापकर्माणि । स्वयमकुर्वतोऽननुतिष्ठतः । अन्यत्र उदासीनस्य । अत एव सांख्यपुरुषेण सांख्यशास्त्रोक्तेनात्मना तुल्यता बिभ्रतस्तस्य राज्ञः करणे अन्तःकरणे यथा बुद्धाविवेत्यर्थः । ऋतौ यजतीति ऋत्विक् याजकः । 'ऋत्विजो याजकाश्च ते' इत्यमरः । 'ऋत्विग्दधृग' इति निपातः । तस्मिन्वृत्तिभाजि होमादिव्यापारं कुर्वतीत्यर्थः । अन्यत्र पुण्यपापकारिणि सति तदुपलम्भतः तस्य ऋत्विग्वृत्तेरुपलम्भान्ममेदमित्यनुसन्धानादेव कर्तृता क्रियानुष्ठातृत्वमभवत् । तथैव विधिसामर्थ्यादिति भावः । अत एवाह भगवान् जैमिनिः । 'अन्या या स्यात्परिक्रिया स्नानात्सत्यप्यात्मनेपदे' इति । अन्यत्र 'तदुपलम्भतस्तस्या बुद्धिवृत्तेरुपलम्भात्साक्षित्वेनानुसन्धानादेव कर्तृत्वमभवत्' स्वयं क्रियाभोगरहितोऽपि आत्मा बुद्धेः सन्निधानाद्रक्तस्फटिकवत्तथा भवतीत्यर्थः । उपमालङ्कारः ॥ १९ ॥

शब्दितामनपशब्दमुच्चकैर्वाक्यलक्षणविदोऽनुवाक्यया ।
याज्यया यजनकर्मिणोऽत्यजन्द्रव्यजातमपदिश्य देवताम् ॥ २० ॥

शब्दितामिति । वाक्यलक्षणविदो मीमांसाशास्त्रज्ञाः यजनकर्मिणो यजनव्यापारवन्तः ऋत्विजः । ब्रीह्यादित्वादिनिप्रत्ययः । अनुच्यत इति अनुवाक्या तया अनुवाक्यया । 'अनूच्यया याज्यया जुहोति' इति श्रुतेः । सा च प्रशास्तृपाठ्या तदभावे होतृपाठ्या देवताह्वानी ऋक् । वचेः "ऋहलोर्ण्यत्" 'चजोः कु घिण्यतोः' इति कुत्वम्, शब्दसंज्ञात्वात् "वचोऽशब्दसंज्ञायाम्" इति न प्रतिषेधः । उच्चकैः अनुपशब्दं यथा तथा शब्दिता मन्त्रवर्णेनोच्चैः प्रकाशितामित्यर्थः । 'उच्चैः ऋचा क्रियते' इति विधानात् । 'शब्द शब्दने' इति धातोश्चौरादिकात्कर्मणि क्तः । देवतामिन्द्रादिकमुद्दिश्य द्रव्यजातं पशुपुरोडाशादि हविस्समूहं इज्यतेऽनयेति याज्या सा च होतृपाठ्या यागाङ्गसाधनमृक् 'याज्यया जुहोति' इति श्रुतेः । पूर्ववत् "ऋहलोर्ण्यत्" इति करणे ण्यत्, "यजयाचरुचप्रवचर्चश्च" इति कुत्वप्रतिषेधः । तया अत्यजन् अयजन्नित्यर्थः । देवतोद्देशेन द्रव्यत्यागो यागः इति लक्षणात् । स च त्यागः सामान्यतः 'आहवनीये जुहोति' इति

तदाहवनीय इति 'सामान्यन्यायात्' विधानादन्यत्रेति ध्येयम् । द्रव्यत्यागस्याध्वर्युमात्रकर्तृत्वेऽपि याज्यापुरोऽनुवाक्यद्वारा होतृप्रशास्त्रोरपि साहित्यादत्वजन्निति बहुत्वव्यपदेश. । तथा च मैत्रावरुणेन परोऽनुवाक्यायामनुक्ताया तत्प्रकाशितदेवतोद्देशेनाध्वर्युर्होतृपठितयाज्यान्ते वषट्कारेण सोमादिक हविस्त्यावत्याक्षीदित्यर्थः । स्वभावोक्तिरलङ्कारः ॥ २० ॥

सप्तभेदकरकल्पितस्वरं साम सामविदसङ्गमुज्जगौ ।
तत्र सूनृतगिरश्च सूरयः पुण्यमृग्यजुषमध्यगीषत ॥ २१ ॥

सप्तेति । तत्र क्रतौ सामानि वेत्तीति सामविदुद्गाता सप्तभेदं सप्तप्रकार तथा तथा करेण हस्तेन कल्पिता सम्पादिता स्वरा निषादाद्यो यस्य तत् करविन्यासभेदादिभिर्व्यञ्जितसप्तस्वरमित्यर्थः । 'निषादर्षभगान्धारषड्जमध्यमधैवताः । पञ्चमश्चेत्यमी सप्त' इत्यमरः । यद्वा स्वराः कष्टादय. 'कष्टः प्रथमो द्वितीयो मन्दो नीच' इत्यादय साम बृहद्रथन्तरादिकमसङ्गमस्खलितमुज्जगौ उदगायत् । किञ्च सूनृतगिरिः प्रियसत्यवाचः । 'प्रियं सत्यञ्च सूनृतम्' इत्यमरः । सूरयो विद्वासो होत्रध्वर्य्वादयः पुण्यं श्रेयस्करम् । ऋचश्च यजूंषि च तत् ऋग्यजुषम् 'अग्निमीळे, इष इत्यादिकम् । द्वन्द्वैकवद्भाव "अचतुर" इत्यादिना द्वन्द्वे समासान्तनिपातः । अध्यगीषत । इङो लुङि ' विभाषा लुङ्लृङोः " इति गाङादेशपक्षे कुटादित्वात् सिचः कित्त्वे " घुमा " इत्यादिना ईत्वम् । अत्र साममामेत्यादौ वृत्त्यनुप्रासभेदो द्रष्टव्य ॥ २१ ॥

बद्धदर्भमयकाञ्चिदामया वीक्षितानि यजमानजायया ।
शुष्मणि प्रणयनादिसंस्कृते तैर्हवींषि जुहवाम्बभूविरे ॥ २२ ॥

बद्धेति । बद्ध दर्भमयं दर्भविकार काञ्चिदाम रशनागुणो यस्यास्तया । दामेति "डाबुभाभ्यामन्यतरस्याम्" इति डाप्प्रत्यय. । यजमानो यष्टा । "पूङ्यजोः शानन्" इति यजे. शानन्प्रत्यय । तस्य जायया पत्न्या वीक्षितानि दृष्टानि हवींषि आज्यादीनि 'पत्न्यवेक्षेत' इत्याज्यस्य प्रत्यवेक्षणसंस्कारविधानात् अर्थप्रधानत्वात् सर्वेषामाज्यादीना प्राणभृन्न्यायेन वीक्षितत्वव्यपदेश. । प्रणयन नाम गार्हपत्यादुद्धृत्य मन्त्रेणायतने सादनम् । आदिशब्दात्परिस्तरणपरिधानसंमार्गादिसंस्कारसंग्रह । तै प्रणयनादिभि' संस्कृते आहितातिशये शुष्मणि अग्नौ । 'बर्हिः शुष्माकृष्णवर्त्मा ' इत्यमर' । अत्रापि 'आहवनीये जुहोति' इति हूयमाने अध्वर्यु' कर्ता जुहूपात्रव्यापृतया स्रुवाहवनीय प्रधानमिति न्यायवचनात् । तैः ऋत्विग्भिः जुहवाम्बभूविरे । जुहोते' कर्म्मणि लिट्. "भीह्रीभृहुवाम्" इत्यादिना विकल्पादाम्प्रत्ययः । अत्र विषयस्य योक्त्रस्यानुपादानेन विषयिणः काञ्चीगुणस्यैव तदभेदेन निर्देशाद्भेदे अभेदरूपातिशयोक्तेरनुप्रासेन सङ्करः ॥ २२ ॥

नाञ्जसा निगदितुं विभक्तिभिर्व्यक्तिभिश्च निखिलाभिरागमे ।
तत्र कर्मणि विपर्य्यणीनमन्मन्त्रमूहकुशलाः प्रयोगिणः ॥२३॥

नेति । तत्र तस्मिन् कर्मणि यज्ञकर्मणि अन्यथाश्रुतस्य शब्दस्यान्यथालिङ्गवचनादिभेदेन विपरिणमनमूहः तत्र कुशला प्रयोग एषामस्तीति प्रयोगिणः प्रयोक्तारः ऋत्विजः आगमे आम्नाये निखिलाभिर्विभक्तिभिः प्रथमादिभिः सुब्विभक्तिभिस्तिङ्विभक्तिभिश्च । विभक्तिग्रहणं वच-नोपलक्षणम् । व्यक्तिभिः लिङ्गैश्चाञ्जसा सुखेन निगदितु पठितुं न भवत्यशक्यत्वादिति नाञ्जसा निगदितुम् । "अञ्जस उपसङ्ख्यानम्" इति अलुक्, नञर्थस्य नशब्दस्य "सुप्सुपा" इति समासः । अथवा अञ्जकेति तृतीयान्तप्रतिरूपकमव्ययं तत्त्वार्थे 'अञ्जसा तत्त्वतूर्णयोः' इति विश्वः । अञ्जसा तत्त्वत इत्यर्थः । अस्मिन् पक्षे नैकपदनियमः त मन्त्र कर्मान्निर्देशतारूपवाक्य विपर्यणीनसन् विपरिणमन्ति स्म विपरिणमितवन्त इत्यर्थः । विपरिपूर्वकात् नमन्तात् णमश्चातो लुङ् सन्वद्भावे 'सन्यत' इत्यभ्यासस्येत्वम् "दीर्घो लघोः" इति दीर्घ "उपसर्गादसमासेऽपि णोपदेशस्य" इति णत्वम् । अत्र नाञ्जसेति पाठविशेषणगत्या मन्त्रविपरिणमनहेतुत्वात्पदार्थ-हेतुक काव्यलिङ्गम् ॥ २३ ॥

संशयाय दधतोः सरूपतां दूरभिन्नफलयोः क्रियां प्रति ।
शब्दशासनविदः समासयोर्विग्रहं व्यवससुः स्वरेण ते ॥ २४ ॥

संशयायेति । संशयाय सन्देहोत्पादनाय सरूपता सादृश्य दधतोरुभयत्र रूपसाम्यादयं समासोऽयं वेति संशय कुर्वतोरित्यर्थः । यथेन्द्रशत्रुरित्यत्रेन्द्रस्य शत्रुः शातयिता हन्तेति षष्ठी-तत्पुरुषः । उतेन्द्रः शत्रुर्यस्येति बहुव्रीहिरिति सारूप्यसंशय तत्रानियमे दोषमाह । क्रिया प्रकृत कर्म ता प्रति तामुद्दिश्येत्यर्थः । दूरभिन्नमत्यन्तविलक्षण फल ययोर्दूरभिन्नफलयोस्तयोरर्थभेदा-त्कर्मणः फलभेद प्रतिपादयतोरित्यर्थः । यथेन्द्रशत्रुरित्यत्रैव षष्ठीसमासस्येष्टत्वे वृत्रस्येन्द्रहन्तृत्व बहुव्रीहौ तु तस्येन्द्रेण वध्यत्वमिति फलभेद इति भाव । समासयोस्तत्पुरुषबहुव्रीह्योः प्रसक्तयोः सतोरित्यर्थः । भावलक्षणे सप्तमी । शब्दशासनविदः शब्दशास्त्रज्ञा अन्येषामनधिकारा-दिति भाव । ते प्रकृता ऋत्विजः स्वरेण तत्तत्समासविहितस्वरवशेन विग्रह वाक्येन समर्थाभिधान व्यवससुः निश्चिक्युः । अस्मिन् स्वरेऽयं समास तत्राय विग्रह इति अन्य-तरपक्षावधारण चक्रुः । यथेन्द्रशत्रुरित्यत्रैव पूर्वपदे उदात्तत्वेन बहुव्रीहिस्वरेण बहुव्रीहिसमास-निश्चयः इन्द्रः शत्रुर्यस्येति विग्रहावधारणमित्यर्थः । व्यवपूर्वस्य स्यतेर्लिटि "आदेच" इत्यात्वे द्विर्वचनादिकार्ये झेरुसादेशः । अत्र संशयजनकत्वफलभेदप्रतिपादकपदार्थयोर्विशेषणगत्या 'सन्दि-ग्धे न्यायः प्रवर्तते' इति न्यायेन विग्रहस्य व्यवसायहेतुत्वात्पदार्थहेतुक काव्यलिङ्गमलङ्कारः ॥ २४ ॥

लोलहेतिरसनाशतप्रभामण्डलेन लसता हसन्निव ।
प्राज्यमाज्यमसकृद्वषट्कृतं निर्मलीमसमलीढ पावकः ॥ २५ ॥

लोलेति । लसता प्रकाशमानेन लोलाश्चला हेतयो ज्वाला एव रसना रसज्ञाः । 'वह्ने-र्द्वयोर्ज्वालकीलावर्चिर्हेतिः शिखा स्त्रियाम्' इति 'रसज्ञा रसना जिह्वा' इति चामरः । तासां

शतानि तेषां प्रभामण्डलेन हसन्निवेति रूपकसङ्कीर्णोत्प्रेक्षा । पावको वह्निः वषट्कृत वषट्कारे त्यक्तं हुतमित्यर्थः । 'हुत त्रिषु वषट्कृतम्' इत्यमरः । निर्मलीमसममलिन शुद्धमित्यर्थः । 'मलीमस तु मलिनम्' इत्यमरः । "ज्योत्स्नातमिस्रा" इत्यादिना मलिनशब्दान्मत्वर्थे ईमसच्प्रत्ययान्तो निपातः । प्राज्यं प्रभूतमाज्यमसकृदलीढ आस्वादयत् । लिहेः स्वरितेत्त्वाल्लुङि "हो ढ" इति ढत्वम् "झषस्तथोर्धोऽधः" इति धत्वष्टुत्वे ढलोपदीर्घौ ॥ २५ ॥

तत्र मन्त्रपवितं हविः क्रतावश्नतो न वपुरेव केवलम् ।
वर्णसम्पदमतिस्फुटां दधन्नाम चोज्ज्वलमभूद्धविर्भुजः ॥२६॥

तत्रेति । तत्र क्रतौ । मन्त्रैरुत्पवनादिमन्त्रैः पवित पवित्रित शोधितमित्यर्थ । "पूङश्च" इति विकल्पादिडागमः हविराज्यादिकमश्नतो भुञ्जानस्य । अशेर्भोजनार्थाल्लटः शत्रादेशः । हवींषि भुङ्क्त इति हविर्भुजोऽग्नेः सम्बन्धि अतिस्फुटाम् अतिविकसिता वर्णसम्पदं रूपसमृद्धिं दधत् केवलमेकम् । 'केवलं त्वेककृत्स्नयोः' इति शाश्वतः । वपुरेवोज्ज्वलमोजिष्ठं नाभूत् । किन्तु अतिस्फुटामतिव्यक्ता वर्णसम्पदमक्षरसमुदायं दधत 'वर्णो द्विजादौ शुक्लादौ स्तुतौ वर्णं तु चाक्षरे' इत्यमरः । नाम हविर्भुगिति नामधेयं चोज्ज्वल रूढम् अभूत् निरन्तर हविर्भोजनाद्वपुः पुष्टिमाप । नाम चार्थवदासीदित्यर्थः । अत्र भोजनस्याश्नत इतिविशेषणगत्या हेतुत्वात्पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गम् ॥ २६ ॥

स्पर्शमुष्णमुचितं दधच्छिखी यद्ददाह हविरद्भुतं न तत् ।
गन्धतोऽपि हुतहव्यसंभवाद्देहिनामदहदोघमंहसाम् ॥ २७ ॥

स्पर्शमिति । उचितं स्वाभाविकम् उष्णमुष्णाख्य स्पर्श स्पर्शनेन्द्रियमात्रग्राह्य गुणविशेषं दधत् दधान शिखी शिखावानग्निः । व्रीह्यादित्वादिनि । हविराज्यादिक ददाह भस्मीचकारेति यत तदद्भुत न उष्णस्पर्शसहकृतस्याग्नेः पार्थिवद्रव्यदहनशक्ते स्वाभाविकत्वादिति भावः । कुतः हुतहव्यसम्भवात् हुतहवनीयहविर्जन्यात् गन्धतो गन्धादपि । सक्रामिकगुणादपीत्यर्थः । देहिना गन्ध जिघ्रता प्राणिनामित्यर्थः । अंहसा पापानामोघमपीति भावः । अदहत् भस्मीकृतवान् नाशितवानित्यर्थः । अदाह्यदहनं त्वाश्चर्यमिति भाव । अत्रोष्णस्पर्शधारणस्य शिखिविशेषणभावेनास्य हविर्दाहहेतुत्वात् पदार्थहेतुक तावदेक काव्यलिङ्गम् । उत्तरार्द्धे त्वहसा भस्मीकरणाभावलक्षणदाहविरोधस्य नाशलक्षणया समाधानाद्विरोधाभासे लक्ष्यस्य वाच्याभेदाध्यवसायमूलातिशयोक्तिप्रतिभोत्थापितः स एवादाह्यदाहकत्वरूपो वाक्यार्थभूतपूर्वोक्तपदार्थहेतुककाव्यलिंगसहकृतो हविर्दहनाद्भुतत्वहेतुरिति वाक्यार्थहेतुक काव्यलिंगमन्यैः प्राधान्येन सङ्कीर्य्यते ॥ २७ ॥

उन्नमन्सपदि धूम्रयन्दिशः सान्द्रतां दधदधःकृताम्बुदः ।
व्याभियाय दहनस्य केतनः कीर्त्तयन्निव दिवौकसां श्रियम् ॥२८॥

उन्नमन्निति । सपदि होमक्षणमेवोन्नमन्नुद्गच्छन् दिशो धूम्रयन् धूम्रवर्णाः कुर्वन् सान्द्रं नीरन्ध्रतां दधत् अत एवाधः कृताम्बुदः शोभयाधःकृतमेघो मेघोपरिगतश्च दहनस्याग्नेः केतनं केतुर्धूम इत्यर्थः । द्यौरोको येषां तेषां दिवौकसां देवानाम् । पृषोदरादित्वात्साधुः । अथवा दिवमोको येषामिति विग्रहः । 'दिव स्वर्गान्तरिक्षयोः' इति विश्वः । तेषां प्रियमिष्टं कीर्तयन् कथयन्निव कीर्तनहेतोरिव कीर्तनार्थमिवेत्यर्थः । अत एव फलोत्प्रेक्षा । कीर्तयन्निति "लक्षणहेत्वोः क्रियायाः" इति हेत्वर्थे लटः शत्रादेशः । व्यामन्तरिक्षमियाय प्राप । इणो लिट् ॥ २८ ॥

निर्जिताखिलमहार्णवौषधिस्यन्दसारममृतं ववल्गिरे ।
नाकिनः कथमपि प्रतीक्षितुं हूयमानमनले विषेहिरे ॥ २९ ॥

निर्जितेति । नाकः स्वर्ग एषामस्तीति नाकिनो देवाः अखिलानां महार्णवौषधीनां महार्णवमन्थनसमये उत्थितानां दिव्यौषधिलतानां स्यन्दो मन्थनान्निःसृतो रसस्तस्य सारो मूर्धांशोऽमृतमिति यावत् । स निर्जितो येन तत् अमृतादपि स्वाद्वित्यर्थः । अमृतं हविरास्यामृतम् । 'अमृतं यज्ञशेषे स्यात्पीयूषे सलिले घृते' इति मेदिनी । ववल्गिरे अभ्यवजह्रुः । 'वल्ग भोजने' कर्तरि लिट् । 'वल्गा चाभ्यवहारः प्रत्यवसानं च जेमनं जग्धिः' इति हलायुधः । तस्यामृताधिक्यं व्यनक्ति । अनले हूयमानं दीयमानममृतमिति भावः । प्रतीक्षितुं कथमपि विषेहिरे सोढवन्तः होमविलम्बं कथंचिदसहन्तेत्यर्थः । तृष्णा तु प्रागेव जिघ्रतीति रसातिशयोक्तिः । अत्र हविषोऽमृतमित्यभेदोक्त्याभेदरूपातिशयोक्तिस्तद्विशेषणपदार्थस्य वल्गनहेतुत्वात्काव्यलिङ्गभेदः । तथा सङ्कीर्यते । "परिनिविष्य नेवसितसयसिवुस्तह" इत्यादिना सहैव पत्वम् ॥ २९ ॥

तत्र नित्यविहितोपहूतिषु प्रोषितेषु पतिषु द्युयोषिताम् ।
गुम्फिताः शिरसि वेणयोऽभवन्न प्रफुल्लसुरपादपस्रजः ॥ ३० ॥

तत्रेति । तत्र क्रतौ नित्यं विहितोपहूतिषु कृताह्वानेषु पतिषु भर्तृषु इन्द्रादिषु प्रोषितेषु प्रवासं गतेषु । वसेः कर्तरि क्तः "वसतिक्षुधोः" इतीडागमः । द्युयोषितां स्वर्गस्त्रीणाम् इन्द्राण्यादीनां शिरसि वेणयो जटा एव गुम्फिता ग्रथिता अभवन् । प्रफुल्ला विकसिताः सुरपादपस्रजो मन्दारमालाः न गुम्फिता अभवन् । अत्र सुरयोषितां वेण्यसम्बन्धेऽपि सम्बन्धोक्तेः स्रक्सम्बन्धेऽप्यसम्बन्धोक्तेश्च सम्बन्धेऽसम्बन्धरूपा असम्बन्धे सम्बन्धरूपा चातिशयोक्तिः । ताभ्यां च क्रतोः रजस्त्वं व्यज्यते इत्यलङ्कारेण वस्तुध्वनिः ॥ ३० ॥

प्राशुराशु हवनीयमत्र यत्तेन दीर्घममरत्वमध्यगुः ।
उद्धतानधिकमेधितौजसो दानवांश्च विबुधा विजिग्यिरे ॥ ३१ ॥

प्राशुरिति । विबुधाः सुराः अत्र क्रतौ आशु क्षिप्रं हूयत इति हवनीयं हविः यत् प्राशुः प्राशितवन्तः । 'अश भोजने' लिट्, द्विर्वचनादिकार्ये "अत आदेः" इत्यभ्यासदीर्घः । तेन हविःप्राशनेन दीर्घं चिरभोग्यममरत्वं देवत्वमध्यगुः प्रापुः । "इणो गा लुङि" इति गादेशः । कि-

अधिकमत्यन्तमेधितौजसो वार्द्धितबलाः सन्तः उद्धतानुद्धतान् दानवान् असुरांश्च विजिग्यिरे जितवन्तः। विपूर्वाज्जयतेः कर्त्तरि लिट् "विपराभ्यां जेः" इत्यात्मनेपदम्। अत्र विबुधाना दीर्घामरत्वासुरविजयित्वासम्बन्धेऽपि सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिः, एधितौजस्त्वस्य विशेषणमत्या विजयहेतुत्वात्काव्यलिङ्गम्, तदुत्थापितश्चामरत्वासुरविजयक्रियासमुच्चय इति सङ्करः। 'गुणक्रियायौगपद्य समुच्चयः' इति लक्षणात्॥ ३१॥

नापचारमगमन्क्वचित्क्रियाः सर्वमत्र समपादि साधनम्।
अत्यशेरत परस्परं धियः सत्रिणां नरपतेश्च सम्पदः॥३२॥

नापचारमिति। अत्र क्रतौ कचित् कुत्रापि क्रियाः कर्म्माणि अपचारं लोपविषयविपर्य्यासादिदोषं नागमन्। गमेर्लुङि "पुषादि" इत्यादिना च्लेरङादेशः। अनपचारे हेतुमाह। अत्र सर्वं साधन समपादि सम्पन्नम्। पद्यतेः कर्त्तरि लुङ्, "चिण् ते पदः" इति चिण् प्रत्ययः। कर्मणि वा। सम्पादितमित्यर्थः। "चिण् भावकर्मणोः" इति चिण्प्रत्ययः। साधनसम्पत्तिमेव व्यनक्ति। अतीति। सत्रं यज्ञतन्त्र येषामस्तीति सत्रिणाम् ऋत्विजाम्। 'सत्रमच्छादन यज्ञम्' इत्यमरः। धिय उत्तरोत्तरप्रयोगविज्ञानानि। तदुक्तम् 'ओच तुर्थात्कर्मणोऽन्ते समीक्षेतेदङ्कीरष्यामि' इति। तथा नरपतेः राज्ञः सम्पदः पदार्थसमृद्धयश्च परस्परम् अत्यशेरत अतिशयितवत्यः उभयेऽप्यतिसमग्रा इत्यर्थः। ज्ञानद्रव्ये हि क्रियासाधने। तत्सम्पन्नस्य कुतः क्रियापचार इति भावः। अत्रानपचारवाक्यार्थस्य साधनसम्पत्तिवाक्यार्थहेतुकत्वाद्वाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गम्, तस्य परस्परातिशयक्रियारूपधर्मसाम्यगम्यौपम्यकेवलप्रकृतधीसम्पद्गोचरया तुल्ययोगितयोज्जीवितेत्यनयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः॥ ३२॥

दक्षिणीयमवगम्य पंक्तिशः पंक्तिपावनमथ द्विजव्रजम्।
दक्षिणः क्षितिपतिर्व्यशिश्रणद्दक्षिणाः सदसि राजसूयिकीः॥३३॥

दक्षिणीयमिति। अथानन्तर दक्षिण औदार्यवान्। 'दक्षिणः सरलोदारौ' इत्यमरः। क्षितिपतिः राजा। दक्षिणामर्हतीति दक्षिणीयः 'दाक्षीणीयो दाक्षिणार्हस्तत्र दाक्षिण्य इत्यपि' इत्यमरः। "कडङ्करदक्षिणाच्छ च" इति छप्रत्ययः। त पक्तेः स्वाधिष्ठितायाः पावन पावयितार पंक्तिपावनम्। पावयतेः कर्त्तरि ल्युट्। द्विजव्रज ऋत्विग्वर्गमित्यर्थः। पंक्तिशः पंक्त्यनुसारेण अधिगम्य प्राप्य सदसि राजसूयिकीः राजसूयकाण्डोक्ता इत्यर्थः। दक्षिणाशब्दः स्फुटार्थः। राजसूयिकीरित्यत्र दक्षिणार्थ एव ठको विधानात्। व्यशिश्रणत् विश्राणयति स्म वितीर्णवानित्यर्थः। 'विश्राणन वितरणम्' इत्यमरः। 'श्रण दाने' इति धातोर्लुङ् "णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः" इति ह्रस्वः। वृत्त्यनुप्रासोऽलङ्कारः॥ ३३॥

वारिपूर्वमखिलास्तु सत्क्रियालब्धशुद्धिषु धनानि बीजवत्।
आवि बिभ्रति फलं महद्द्विजक्षेत्रभूमिषु नराधिपोऽवपत्॥३४॥

वारीति । नराधिपो राजा सत्क्रियाभिषेकसंस्कारैर्लब्धा शुद्धिर्निर्दोषता याभिस्तासु अक्लि- ष्टासु । द्विजा एव क्षेत्रभूमयः केदारभूमयः तासु । 'क्षेत्रं गेहे पुरे देहे केदारे योनिभार्ययोः' इति वैजयन्ती । भावि भविष्यत् महत्फलं स्वर्गादिकं धान्यादिकं च बिभ्राति बिभ्राणानीत्यर्थः । "वा नपुंसकस्य" इति विकल्पान्नुमागमप्रतिषेधः । धनानि बीजवत् बीजैस्तुल्यं वारिपूर्वमुद- कदानपूर्वकमवपत् उप्तवान् दत्तवानित्यर्थः । अत्र बीजवत् इत्युपमानम् 'तेन तुल्यम्" इति तुल्यार्थे वतेर्विधानात् । तथापि वापक्रियायोगात् द्विजक्षेत्रेति रूपकसमासो न नोपमितसमासः किन्तु रूपकस्याङ्गमुपमा तदुत्थापितत्वादिति सङ्करः ॥ ३४ ॥

किं नु चित्रमधिवेदि भूपतिर्दक्षयन्द्विजगणानपूयत ।
राजतः पुपुविरे निरेनसः प्राप्य तेऽपि विमलं प्रतिग्रहम् ॥ ३५ ॥

किमिति । भूपतिरधिवेदि वेद्यां मखवेद्यामित्यर्थः । अत्र विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः । द्विजगणानृत्विग्गणान् दक्षयन् हर्षयन् दक्षिणाप्रतिग्रहेण सदक्षिणान् कुर्वन् प्रतिग्राहयन्नित्यर्थः । 'तत्क्षणे दक्षिणा प्रतिगृह्य' इति श्रुतिदर्शनात् । 'दक्ष नैपुण्ये' इति धातोर्ण्यन्तात्लट शत्रादेशः अत एव 'निष्णाते दक्षिणे वापि नैपुण्ये निपुणेऽपि च' इति भट्टः । अपूयत पूतोऽभवदिति । कर्म्मकर्त्तरि लङ् । किं चित्रं दाता पूत इति न चित्रमित्यर्थः । किन्तु प्रतिग्रहीतापि पूत इति चित्रमाह । ते द्विजगणा अपि निरेनसो निष्पापाः राजतो राज्ञः पञ्चम्यास्तसिल् । विमलं शुद्धं प्रतिग्रहं प्राप्य पुपुविरे पूता बभूवुः । 'विशुद्धाच्च प्रतिग्रहः' इत्यभिज्ञानादिति भावः । अत्रापि पूञः कर्मकर्त्तरि लिट् । प्रतिग्रहीतापि शुद्ध इति विरोधः । स एव वाक्यार्थभूतश्चित्र- त्वनिषेधहेतुरिति विरोधवाक्यार्थहेतुककाव्यलिङ्गयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः ॥ ३५ ॥

स स्वहस्तकृतचिह्नशासनः पाकशासनसमानशासनः ।
आशशाङ्कतपनार्णवस्थितेर्विप्रसादकृत भूयसीर्भुवः ॥ ३६ ॥

स इति । पाको नाम कोऽपि राक्षसस्तस्य शासनः शासको हन्ता पाकशासन इन्द्रस्तेन समानं शासनं तुल्या आज्ञा यस्य स इत्यर्थः । स राजा स्वहस्तेन कृतं लिखितं चिह्नं स्वनाम लेखनादिलाञ्छनं येषु तानि शासनानि नियमपत्राणि यस्य सः दत्तस्वहस्तलेखाङ्कितशासनः सन्नित्यर्थः । आशशाङ्कतपनार्णवस्थितेः शशाङ्कतपनार्णवानभिव्याप्य आकल्पमित्यर्थः । अभिवि- धावाङ् । 'आङ्मर्यादाभिविध्योः" इति विकल्पादसमासः । भूयसीर्भुवो देयभूमीः विप्रसात् विप्राधीनाः । "देये त्रा च" इति चकारात्सातिप्रत्ययः । अकृत कृतवान् दत्तवानित्यर्थः । कृञो लुङि तङ "उश्च" इति सिचः कित्त्वात् "ह्रस्वादङ्गात्" इति सकारलोपो गुणाभावश्च पाकशासनसमानशासन इत्युपमानुप्रासयोः संसृष्टिः ॥ ३६ ॥

शुद्धमश्रुतिविरोधि बिभ्रतं शास्त्रमुज्ज्वलमवर्णसङ्करैः ।
पुस्तकैः सममसौ गणं मुहुर्वाच्यमानमशृणोद्द्विजन्मनाम् ॥ ३७ ॥

शुद्धमिति । असौ नृप शुद्धमाचारपूतम् अन्यत्र विभक्तिविपरिणामेन शुद्धैरकलङ्कैः । श्रुतिविरोधि वेदविरुद्ध न भवतीत्यश्रुतिविरोधि शास्त्र विश्रुतम् आत्मनि धारयन्त सकलवेदशास्त्राभिज्ञमित्यर्थ । "नाभ्यस्ताच्छतुः" इति नुम्प्रतिषेधः । अन्यत्र श्रुत्यविरोधिभिः पुराणादिभिः वाच्यमानम् अन्वयगुणादिक्रमेण प्रस्तूयमानमन्यत्र वाच्यमान द्विजगणेन व्याख्यायमानमित्यर्थ. । वचेश्चौरादिकात्कर्मणि लटः शानजादेशः । द्विजन्मनां ब्राह्मणानां गणम् अवर्णसङ्करैरसङ्कीर्णाक्षरैः अन्यत्र जातिसङ्कररहितमिति विपरिणामः । पुस्तकैः समं पुस्तकाक्षरैर्वाक्यैः सह अशृणोत् । दानकाले प्रत्येकं ब्राह्मणाना गुणान् गोष्ठीश्च श्रुतवानित्यर्थः । मुखस्थविद्यानामपि पुस्तकधारणाद्विलक्षणत्वेनोक्तमित्यदोषः । अन्यत्र पुस्तकैः सम द्विजगुणम् अशृणोदिति । सम्बन्धिभेदे भिन्नयो श्रवणयोरभेदाध्यवसायभेदे अभेदरूपातिशयोक्तिचमत्कारिणी द्विजानां प्रकृतत्वात् पुस्तकानीव द्विजानिति वैवक्षिकोपमानोपमेयभावपर्यवसायिनी श्लेषसङ्कीर्णा सहोक्तिरलङ्कार । 'सहार्थेनान्वयो यत्र भवेदतिशयोक्तितः । कल्पितौपम्यपर्यन्ता सा सहोक्तिरिहेष्यते' इति लक्षणात् । कश्चित् पुस्तकैः सम वाच्यमानमिति योजयित्वा पुस्तकेषु द्विजगणान् । लेखेषु पठ्यमानानिति व्याचक्षते । तैः पुस्तकेषु शास्त्रभरणासम्भवाद्वर्णसङ्करेति श्लिष्टविशेषणावगतप्रकृतश्लेषभङ्ग पुस्तकाना वाचनकरणत्वात्समादिशब्दवैयर्थ्यमुक्तसहोक्त्यलङ्कारभ्रंशश्चेति एवमादयो दोषा दुस्तरा इत्यलं विस्तरेण ॥ ३७ ॥

तत्प्रणीतमनसामुपेयुषां द्रष्टुमाहवनमग्रजन्मनाम् ।
आतिथेयमनिवारितातिथिः कर्तुमाश्रमगुरुः स नाश्रमत् ॥३८॥

तद्दिति । अनिवारिताः अप्रत्याख्याता अतिथयो येन सः आश्रमाणा ब्रह्मचर्यादीनां गुरुर्नियन्ता न राजा आ समन्ताज्जुहोत्यस्मिन्नित्याहवन यागम् जुहोतेर्ल्युट् द्रष्टुमुपेयुषामागतानाम् । अत एव प्रणीतमनसां सत्कर्मदर्शनात् हृष्टचित्तानाम् अग्रजन्मनाम् अतिथिषु साध्वातिथेयमतिथिसत्कारम् । "पथ्यतिथि" इत्यादिना ढञ्प्रत्ययः । कर्तुं नाश्रमत् न श्रान्तः । श्रम्यतेः पुषादित्वाल्लुङि च्लेरङादेश । अत्रानिवारितातिथित्वस्य विशेषणगत्या श्रमनिषेधहेतुत्वात्काव्यलिङ्ग तदनुप्रासेन संसृज्यते ॥ ३८ ॥

मृग्यमाणमपि यद्दुरासदं भूरिसारमुपनीय तत्स्वयम् ।
आसतावसरकांक्षिणो बहिस्तस्य रत्नमुपदीकृतं नृपाः॥ ३९ ॥

मृग्यमाणमिति । यत् रत्नं मृग्यमाणम् अन्विष्यमाणमपि दुरासद दुर्लभं भूरिसारं महासारम् उपदीकृतमुपायनीकृत मनसा यथा सङ्कल्पितमित्यर्थ. । 'उपायनमुपग्राह्यमुपहारस्तथोपदा' इत्यमरः । तद्रत्न श्रेष्ठवस्तु । 'रत्न श्रेष्ठे मणावपि' इति विश्व. । नृपाः स्वयमुपनीय तस्य राज्ञोऽवसरकाङ्क्षिणः सेवावसर प्रतीक्षमाणाः बहिरासत स्थिता इत्यैश्वर्यातिशयोक्तिः । अत्र रत्ने उपदात्वस्यारोप्यमाणस्य प्रकृतोपयोगात्परिणामालङ्कार. ॥ ३९ ॥

एक एव वसु यद्ददौ नृपस्तत्समापकमतर्क्यत क्रतोः ।
त्यागशालिनि तपःसुते ययुः सर्वपार्थिवधनान्यपि क्षयम् ॥ ४० ॥

एक इति । एक एव नृपो यद्वसु धन ददौ उपायनमिति भावः । तद्धनमेव क्रतोः समापक सम्पूरकम् अतर्क्यत दक्षिणादानादिसर्वक्रतुव्ययपर्य्याप्ततया तर्कितमित्यर्थः । तपःसुते धर्मपुत्रे त्यागशालिनि सति सर्वपार्थिवधनान्यपि क्षय व्यय ययुः । अत्रैकपार्थिवधनस्य क्रतुसमापकत्वासम्बन्धेऽपि तत्सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिः । तयोश्च सापेक्षत्वात्सजातीयसङ्कर. ॥ ४० ॥

प्रीतिरस्य ददतोऽभवत्तथा येन तत्प्रियचिकीर्षवो नृपाः ।
स्पर्शितैरधिकमागमन्मुदं नाधिवेश्म निहितैरुपायनैः ॥ ४१ ॥

प्रीतिरिति । ददतो दान कुर्वतोऽस्य राज्ञस्तथा तेनैव प्रकारेण राजोपायनानाम् आर्थिसात्करणेनैव प्रीतिरभवदासीत् न तु कोशगृहार्पणेनेत्यर्थ । कुतः । येन प्रकारेण तस्य राज्ञः प्रिय चिकीर्षव. प्रिय कर्त्तुमिच्छवः । मधुपिपासुप्रभृतित्वात् द्वितीयासमास । नृपा' स्पर्शितैः प्रतिपादितैः । 'स्पर्शन प्रतिपादनम्' इत्यमर' । उपायनैरुपहारैरधिक यथा तथा मुदमागमन्प्राप्ताः । तथैव प्रभुप्रीतिसिद्धेः सोपायनाना स्विद्धिनियोगलाभाच्चेति भाव. । अधिवेश्म वेश्मनि निहितैरुपायनैर्मुदं नागमन् । तथोक्तप्रयोजनासिद्धेरिति भावः । येनैव राज्ञां मोदः स्वस्य च महान् धर्म्मलाभ तेनोपायनानामर्थिसात्करणादेव राज्ञः प्रीतिरासीत् न कोशगृहार्पणादित्यर्थः । अत एव दानसंग्रहयोः प्रकृतयोः प्रीतेः सग्रहपरिहारेण दान एव नियमनात्परिसंख्यालङ्कारः । 'एकस्यानेकत्र प्राप्तावेकत्र नियमन परिसंख्या' इति लक्षणात् । एतेन सर्वस्वदान व्यज्यते इत्यालङ्कारेण वस्तुध्वनि ॥ ४१ ॥

यं लघुन्यपि लघूकृताहितः शिष्यभूतमशिषत्स कर्मणि ।
सस्पृहं नृपतिभिर्नृपोऽपरैर्गौरवेण ददृशेतरामसौ ॥ ४२ ॥

यमिति । लघूकृता अल्पीकृता अहिताः शत्रवो येन सः । स राजा शिष्येण तुल्य शिष्यभूतम् । 'भूतं क्ष्मादौ पिशाचादौ न्याय्यसत्योपमानयो.' इति विश्वः । "सुप्सुपा" इति नित्यसमासः । यं नृपं लघुन्यप्यल्पेऽपि यज्ञीयपशुरक्षणादिकर्म्मणि अशिषत् आज्ञापितवान् । "सर्तिशास्त्यर्त्तिभ्यश्च" इति लुङि च्लेरङादेशः "शास इदङ्हलोः" इतीकारः । असौ कर्म्मकरो नृपः अपरैस्ततोऽन्यैर्नृपतिभिः सस्पृह अहो समान इति साभिलाषं गौरवेण ददृशेतराम् अतिशयेन दृष्टः । दृशे. कर्म्मणि लिट् "तिङश्च" इति तरप्प्रत्यये "किमेत्तिङव्ययघादाम्वद्रव्यप्रकर्षे" इत्यमुप्रत्यय. "तद्धितश्चासर्वविभक्तिः" इत्यव्ययसंज्ञा । अत्र कर्म्मकरनृपस्येतरनृपकर्तृक विशिष्टदर्शनकर्म्मत्वासम्बन्धेऽपि सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिः । तथा राज्ञो निरंकुशाज्ञत्वं व्यज्यत इत्यलङ्कारेण वस्तुध्वनिः ॥ ४२ ॥

आद्यकोलतुलितां प्रकम्पनैः कम्पितां मुहुरनीदृगात्मनि ।
वाचि रोपितवतामुना महीं राजकाय विषया विभेजिरे ॥ ४३ ॥

आद्येति । आद्यकोलः आदिवराहः । 'वराहः सूकरो घृष्टिः कोलः पोत्री किरिः किटिः' इत्यमरः । तेन तुलिता कल्पादौ उद्धृताम् । तथापि प्रकम्पनैः प्रक्षोभकैर्हिरण्याक्षप्रमुखैः कम्पिता क्षोभिता महीम् । अनीदृगात्मनि अनेवरूपाया केनाप्यकम्पितायामस्खलितायां वाचि रोपितवता स्थापितवता स्थिरेण रोपणेन स्थिरीकुर्वतेत्यर्थः । अमुना राज्ञा राजकाय राज्ञां समूहाय । 'गोत्रोक्ष' इत्यादिना वुञ् प्रत्ययः । विषया देशाः । 'नीवृज्जनपदो देशविषयौ तूपवर्त्तनम्' इत्यमरः । विभेजिरे अस्यायमिति विभक्ताः । प्राक् विजयोद्धृतान् राज्ञः पुनः पदेषु स्थापयामासेत्यर्थः । अत्रादिवराहो महीमुद्धृतवानेव वाचैवासौ तु निरातङ्क स्थापितवांश्चेति उपमानादुपमेयस्याधिक्यकथनाद्व्यतिरेकालङ्कारः ॥ ४३ ॥

आगताद्व्यवसितेन चेतसा सत्त्वसम्पदविकारिमानसः ।
तत्र नाभवदसौ महाहवे शात्रवादिव पराङ्मुखोऽर्थिनः ॥४४॥

आगतादिति । सत्त्वसम्पदा गुणाधिक्येन अविकारिमानसो लोभाभिभवाभ्याम् अनुपप्लुतचित्त इत्यर्थः । 'सत्त्वं गुणे पिशाचादौ बले द्रव्यस्वभावयोः' इति विश्वः । असौ राजा तत्र तस्मिन् आ समन्तात् जुह्वति अस्मिन्नित्याहवो यागः । 'ऋदोरप्' इति जुहोतेरप्प्रत्यये गुणावादेशौ आहूयन्ते शत्रवो यस्मिन्नित्याहवो युद्धम् 'आङि युद्धे' इति ह्वयतेराङ्पूर्वादप्प्रत्ययः सम्प्रसारणम् । 'आहवो यागयुद्धयोः' इति विश्वः । महांश्चासौ स च महाहवस्तस्मिन्महाहवे व्यवसितेन निश्चितेन धनलाभं निश्चितवता । अन्यत्र शत्रोर्मृत्युरेवेति निश्चितवतेत्यर्थः । व्यवपूर्वात् स्यतेः सकर्म्मकत्वादप्यविवक्षिते कर्मकर्त्तरि क्तः । 'प्रसिद्धेरविवक्षातः कर्मणोऽकर्मिका क्रिया' इति वचनात् । चेतसा आगतात् चेतसा स्वयं निश्चित्यागतादित्यर्थः । अर्थिनो याचकात् । शत्रुरेव शात्रवः । स्वार्थेऽण् प्रत्ययो राक्षसवत् । तस्मादिव पराङ्मुखो नाभवत् । 'आहवेष्वनिवर्तित्वं प्रजानां चैव पालनम् । शुश्रूषा ब्राह्मणानां च राज्ञां श्रेयस्करं परम्' इति मनुस्मरणात् इति भावः । श्लेषसङ्कीर्णेयमुपमा ॥ ४४ ॥

नैक्षतार्थिनमवज्ञया मुहुर्याचितस्तु न च कालमाक्षिपत् ।
नादितात्पमथ न व्यकत्थयद्दत्तमिष्टमपि नान्वशेत सः ॥४५॥

नैक्षतेति । स राजा अर्थिनं याचकं मुहुरवज्ञया अनादरेण नैक्षत । तर्हि विलम्बितं किं नेत्याह । याचितस्तु प्रार्थित एव कालं नाक्षिपत् न यापयामास । याचकबहुत्वात्तर्ह्यल्पदाता नेत्याह । अल्पमपि नादित न ददौ किं तु यथार्थिकाममिति भावः । ददातेर्लुङि तङि "स्थाघ्वोरिच्च" इतीकारः, "ह्रस्वादङ्गात्" इति सलोपः । तर्हि विकत्थनः किं नेत्याह । न व्यकत्थयत् आत्मश्लाघां न चकार । 'कत्थ श्लाघायाम्' किंच इष्टं प्रियमपि दत्तं वस्तु नान्वशेत

नानुतप्तवान् । दत्तानुतापस्यापि प्रत्यवायहेतुत्वादिति भाव. । अत्रार्थिसन्दोहयाच्ञादिना ; न्न कारणसामग्र्येऽपि विलम्बादिकार्य्यानुत्पत्तेर्विशेपोक्तिरलङ्कार । 'तत्सामग्र्यादनुत्पत्तिर्विशेषोक्ति-र्निगद्यते' इति लक्षणात् । तथा दातु सात्विक व्यज्यत इत्यलङ्कारेण वस्तुध्वनिः ॥ ४९ ॥

निर्गुणोऽपि विमुखो न भूपतेर्दानशौण्डमनसः पुरोऽभवत् ।
वर्षुकस्य किमपः कृतोन्नतेरम्बुदस्य परिहार्य्यमूषरम् ॥ ४६ ॥

निर्गुण इति । दानशौण्डमनसो दानशूरचित्तस्य । वहुप्रदस्येत्यर्थ' । 'स्युर्वदान्यस्थूल-लक्षदानशौण्डा वहुप्रदे । मत्ते शौण्डोत्कटक्षीवाः' इत्यमर । भूपतेः पुरोऽग्रे निर्गुणस्तपोवि-द्यादिगुणहीनोऽपि विमुखो निष्फलो नाभवत् किन्तु पूर्णकाम एवाभवत् । भूरिदाने सर्वस्यापि पात्रत्वादिति भावः । अत एव तेनापात्रवर्पदोपोऽपि न करुणवृत्तेरित्याशयेन दृष्टान्तमाह । वर्पुकस्येति । अपो जलानि । "न लोक" इत्यादिना पष्ठीप्रतिपेध । वर्पुकस्य वर्पणशीलस्य । "लपपत" इत्यादिना उकञ्प्रत्यये लघूपधगुणः । कृतोन्नतेः कृतोदयस्याम्वुदस्य अम्बुदेनेत्यर्थ । "कृत्याना कर्तरि वा" इति पष्ठी । 'स्यादूपः क्षारमृत्तिका' इत्यमरः । तद्वत्क्षेत्रमूपरम् । 'ऊप-वानूपरोद्वावप्यन्यलिङ्गौ स्थल स्थली' इत्यमरः , "ऊपशुपिमुष्कमधो र" इति रप्रत्ययः । परिहार्यं त्याज्य किं नेत्यर्थः । अत्र पर्जन्यभूपाल्योर्वाक्यभेदेन विम्वप्रतिविम्वतया समानधर्माभि-धानात् दृष्टान्तालङ्कार ॥ ४६ ॥

प्रेम तस्य न गुणेषु नाधिकं न स्म वेद न गुणान्तरञ्च सः ।
दित्सया तदपि पार्थिवोऽर्थिनं गुण्यगुण्य इति न व्यजीगणत् ४७

प्रेमेति । तस्य राज्ञो गुणेपु अधिक प्रेम नेति न । किन्तु अस्त्येवेत्यर्थ । राजा गुणान्तरं गुणविशेप न वेद न वेत्ति स्मेति न च किन्तु वेदैवेत्यर्थः । "लट् स्मे" इति भूतार्थे लट् "विदो लटो वा" इति णलादेश । 'सभाव्यनिपेधनिवर्त्तने द्वौ प्रतिपेधौ' इति वामनः । सभावितयोर-विमर्शादेवागुणप्रीतिज्ञानयोर्निपेध इति भाव । तदपि तथापि पृथिव्या ईश्वर. पार्थिव । "सर्व-भूमिपृथिवीभ्यामणञौ" इत्यञ् प्रत्यय । दित्सया दातुमिच्छया सर्वपात्रदानकौतुकेनेत्यर्थ. । "सनि मीमा" इत्यादिना इसादेश., 'अत्र लोपोऽभ्यासस्य" इत्यभ्यासलोप. । अर्थिन याचक गुणी गुणवान् अगुण्यो नाय गुणवानिति न व्यजीगणत् न गणयति स्म । गुणप्रियोऽपि गुणज्ञोऽपि दानशौण्डोऽर्थितया गुण्यगुण्या न गणयामासेत्यर्थ. । गणेणौ चङि" "ई च गणः" इत्यभ्यासस्य विकल्पादीकारः । अत्र गुणप्रियत्वगुणज्ञत्वरूपकारणसामर्थ्येऽपि गुणागुणविमर्श-रूपकार्यानुत्पत्तेः दित्सयेत्युक्तनिमित्ता विशेषोक्तिरुक्तलक्षणात् ॥ ४७ ॥

दर्शनानुपदमेव कामतः स्वं वनीयकजनेऽधिगच्छति ।
प्रार्थनार्थरहितं तदाभवदीयतामिति वचोऽतिसर्जने ॥४८॥

दर्शनेति । वनीयकजने अर्थिजने । दर्शनानुपदं राजविलोकनानन्तरमेव प्रार्थनामकृत्वे-त्यर्थः । 'वनीयको याचनको मार्गणो याचकार्थिनौ' इत्यमरः । कामतो यथेच्छं स्वं धनमधिगच्छति लभमाने सति । तदा दीयतामिति वचो दीयतामित्येतत्पदं प्रार्थना याच्ञा मह्यं दीयतामिति वाञ्छा सैवार्थस्तेन रहितं शून्यं सत् तदा अतिसर्ज्जने त्यागेऽभवत् अवर्त्तत । मह्यं दीयतामिति अर्थिवाक्याभावादस्मै दीयतामिति दातृवाक्यमेवान्वर्थमभूदित्यर्थः । अर्थिनामागमनमेव याचनमिति विवेकिनां किं याच्ञादैन्यदर्शनचापलेनेति भावः । अत्र दीयतामिति वचः सप्रार्थनार्थवर्जनेन तेनातिसर्जनार्थताकथनादेकस्यानेकत्वप्रसक्तावेकत्र नियमनाख्या परिसंख्या ॥ ४८ ॥

नानवाप्तवसुनार्थकाम्यता नाचिकित्सितगदेन रोगिणा ।
इच्छताशितुमनाशुषा न च प्रत्यगामि तदुपेयुषा सदः ॥ ४९ ॥

नानेति । अर्थकाम्यता अर्थमात्मन इच्छता धनार्थिना । "काम्यच्च" इति काम्यच् । प्रत्यये सनाद्यन्तत्वेन धातुत्वाल्लटि शत्रादेशः । तत्सद उपेयुषा प्राप्तवता पुरुषेण अनवाप्तवसुना अलब्धधनेन न प्रत्यगामि । न प्रत्यावर्त्ति । रोगिणा उपेयुषा अचिकित्सितगदेन अशमितरोगेण । 'रोगव्याधिगदामयाः' इत्यमरः । न प्रत्यगामि । आशितुं भोक्तुम् इच्छता उपेयुषा अनाशुषा च अनशितेनाभुक्तवतेत्यर्थः । "उपेयिवाननाश्वाननूचानश्च" इति क्वसुप्रत्ययान्तो निपातः । न प्रत्यगामि । किन्तु सर्वेणापि पूर्णकामेनैव प्रत्यगामीत्यर्थः । गमेर्भावे लुङ् । अत्रार्थिरोगिक्षुधितानां प्रकृतानामेव पूर्णकामत्वसाम्याद्धर्म्यौपम्यत्वात्केवलप्रकृतविषया तुल्ययोगिता । तथा च यो यत्काम आगतः स तत्सर्वमेवास्मादलभतेति व्यज्यते ॥ ४९ ॥

स्वादयन्रसमनेकसंस्कृतप्राकृतैरकृतपात्रसङ्करैः ।
भावशुद्धिसहितैर्मुदं जनो नाटकैरिव बभार भोजनैः ॥५०॥

स्वादयन्निति । अनेकानि बहूनि संस्कृतानि हिंगुमरिचादिना कृतसंस्काराणि प्राकृतानि प्रकृतिसिद्धानि संस्कारं विना स्वादूनि कृतानि फलादीनि च येषु तैः । अन्यत्रानेकविचित्रसंस्कृतप्राकृतौ भाषाविशेषौ येषु तैः अकृतः पात्राणां भाजनानाम् अन्यत्र भूमिकानां च सङ्करो व्यतिकरो येषु तैः । भावशुद्धिः पदार्थानां मृष्टता अथवा भावशुद्धिः गर्हाविरहः तत्सहितैः । अन्यत्र भावाः स्थायिनो रत्यादयः तेषां शुद्धिः सजातीयविजातीयातिरस्कृतरूपकम् । 'सजातीयैर्विजातीयैरतिरस्कृतमूर्तिमान् । यावद्रसं वर्त्तमानः स्थायीभाव उदाहृतः ।' इति लक्षणात् । तत्सहितैर्भोजनैरभ्यवहारैर्नाटकैः रूपकविशेषैरिव रसं मधुरादिकं शृङ्गारादिकं च स्वादयन्ननुभवन् जनो भोक्तृजनः सामाजिकजनश्च मुदमानन्दं बभार । श्लेषसङ्कीर्णेयमुपमा ॥ ५० ॥

रक्षितारमिति तत्र कर्मणि न्यस्य दुष्टदमनक्षमं हरिम् ।
अक्षतानि निरवर्तयत्तदा दानहोमयजनानि भूपतिः ॥५१॥

रक्षितारमिति । इतीत्थं भूपतिर्युधिष्ठिरः । तत्र कर्मणि राजसूयाध्वरे दुष्टानां दर्प- मर्दने क्षमं समर्थं हरिं रक्षितारं विघ्नेभ्यस्त्रातारं न्यस्य निधाय अक्षतानि अविहतानि दानहोम- यजनानि निरवर्त्तयदन्वतिष्ठत् । स्वकीयस्य द्रव्यस्य स्वस्वत्वनिवृत्तिपरस्वत्वोत्पादनं दानम्, देवतोद्देशेनाग्नौ हविःप्रक्षेपो होमः, हुतस्य देवतोद्देशेन वाङ्मनसाभ्यां न ममेति त्यागो यागः । अत्र दुष्टदमनक्षमत्वस्य विशेषणगत्या हरेः रक्षाधिकारहेतुन्यासहेतुत्वात्पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गम् ॥ ९१ ॥

एक एव सुसखैष सुन्वतां शौरिरित्यभिनयादिवोच्चकैः ।
यूपरूपकमनीनमद्भुजं भूश्चषालतुलिताङ्गुलीयकम् ॥ ९२ ॥

एक इति । सुन्वतां सोमाभिषवं कुर्वताम् । सोमयाजिनामित्यर्थः । सुनोतेर्लटः शत्रादेशः । सुसखा सत्सहायः । "न पूजनात्" इति समासान्तप्रतिषेधः । एषः शौरिरेक एवेत्यभिनयादिव तद्व्यञ्जकचेष्टां कृत्वेवेत्युत्प्रेक्षा । 'व्यञ्जकाभिनयौ समौ' इत्यमरः । भूर्देवयजनभूमिः । चषालेन यूपकटकेन । 'चषालो यूपकटकः' इत्यमरः । तेन तुलितं समीकृतमित्यर्थः । तुलयतेस्तत्करो- तेर्ण्यन्तात्कर्मणि क्तः । तदङ्गुलीयकमूर्मिका यस्य तम् अङ्गुलीयकोपमानचषालमित्यर्थः । अङ्गुली- यकमूर्मिका इत्यमरः । "जिह्वामूलाङ्गुलेश्छः" इति भावे छप्रत्ययः । उच्चकैरुन्नतं यूपं पशुबन्ध- नदारुविशेषो रूपकं स्वरूपं यस्य तं भुजम् अनीनमत् उन्नमितवती । नमेर्णौ चङि सन्वत्कार्यम् । अत्र सापेक्षत्वादुपमोत्प्रेक्षयोः सङ्करः ॥ ९२ ॥

इत्थमत्र विततक्रमे क्रतौ वीक्ष्य धर्ममथ धर्मजन्मना ।
अर्घदानमनु चोदितो वचः सभ्यमभ्यधित शन्तनोः सुतः॥९३॥

इत्थमिति । इत्थमत्र क्रतौ विततक्रमे विस्तृतानुष्ठाने सति अथानन्तरं धर्माज्जन्म यस्य तेन धर्मजन्मना धर्मात्मजेन । 'जन्माद्युत्तरपदो बहुव्रीहिर्व्यधिकरणे' इति वामनः । धर्मं वीक्ष्य धर्मशास्त्रमनुस्मृत्येत्यर्थः । अर्घदानं पूजादानमनु । सदस्यपूजामुद्दिश्येत्यर्थः । 'मूल्ये पूजाविधा- वर्घः' इत्यमरः । चोदितः कस्मै देयमिदमिति पृष्टः शन्तनोः सुतो भीष्मः सभ्यं सभायां साधु "सभाया यः" इति यप्रत्ययः । वचो वाक्यमभ्यधित अभिहितवान् । दधातेर्लुङि तङि "स्था- घ्वोरिच्च" इति इत्वे, "ह्रस्वादङ्गात्" इति सकारलोपः । वृत्त्यनुप्रासः ॥ ९३ ॥

अथासर्गसमाप्तेः भीष्मवचःप्रपञ्चमेव सफलं दर्शयति—

आत्मनैव गुणदोषकोविदः किं न वेत्सि करणीयवस्तुषु ।
यत्तथापि न गुरून्न पृच्छसि त्वं क्रमोऽयमिति तत्र कारणम् ९४

आत्मनेति । तत्रात्मनो बहुमानकरणात् प्रीतस्तत्रभवान् भीष्मो राजानं तावत् उत्सा- हार्थमेकेनोपश्लोकयति । वेत्तीति विदो ज्ञाता । इगुपधलक्षणः कप्रत्ययः । कस्य विद्यास्थानस्य विदः कोविदः । गुणदोषयोः कोविदो विवेक्ता । करणीयवस्तुषु कर्तव्यार्थेषु आत्मनैव स्वय-

दैव परोपदेशानपेक्षयैवेत्यर्थः । प्रकृत्यादित्वात् तृतीया । किं न वेत्सि सर्वं जानासीत्यर्थः । तथापि त्वं ज्ञातापि गुरून्न पृच्छसीति न, किन्तु पृच्छस्येवेति । यत् । ज्ञानप्रसक्तं न पृच्छसीति वारणाय नञ्द्वयम् । तत्र गुर्वनुयोगे अयं क्रम इति न्यायः । सदाचारपरिपाटीत्येतदेव कारणं तत्त्वज्ञानमित्यर्थः । अत्र कर्तव्यार्थप्रश्नस्याज्ञानहेतुकत्ववारणेनापरहेतुकत्वे नियमनात्पूर्वोक्तलक्षणपरिसंख्यानम् ॥ ९४ ॥

एवं राजानमुपश्लोक्य प्रश्नस्योत्तरमाह—

स्नातकं गुरुमभीष्टमृत्विजं संयुजा च सह मेदिनीपतिम् ।
अर्घभाज इति कीर्तयन्ति षट् ते च ते युगपदागताः सदः॥९५॥

स्नातकमिति । स्नातको गृहस्थविशेषस्तं गुरुं पित्रादिकं अभीष्टमिष्टबन्धुमृत्विजं याजकं संयुज्यत इति संयुक् सम्बधी जामाता तेन सह मेदिनीपतिं राजानं च तं च मेदिनीपतिं चेत्यर्थः । षट् षडेतान् अर्घभाजः पूजार्हा इति । इतिशब्देनाभिहितत्वान्न कर्मणि द्वितीया । यथाह वामनः ' निपातेनाप्यभिहिते कर्मणि न कर्मणि विभक्तिः परिगणनस्य प्रायिकत्वात् ' इति । कीर्तयन्ति कथयन्ति वृद्धा इति शेषः । न च ते दूरा इत्याह । ते च षडपि ते तव सदः सभां युगपदागताः प्राप्ताः । अत्र स्नातकादीनां प्रकृतानामेवार्घभाक्त्वसाधर्म्यादौपम्यावगमात् तुल्ययोगिताभेदः ॥ ९५ ॥

शोभयन्ति परितः प्रतापिनो मन्त्रशक्तिविनिवारितापदः ।
त्वन्मखं मुखभुवः स्वयंभुवो भूभुजश्च परलोकजिष्णवः ॥९६॥

शोभयन्तीति । किञ्च प्रतापयितुं शीलं येषां ते प्रतापिनः शत्रुतापकाः । ताच्छील्ये णिनिः । अन्यत्र तेजस्विनः । 'स प्रतापः प्रभावश्च यत्तेजः कोशदण्डजम् ' इत्यमरः । " अत इनिठनौ " इति इनि प्रत्ययः । मन्त्रशक्त्या वेदमहिम्ना अन्यत्र विचारसामर्थ्येन विनिवारिताः आपदो दैवमानुषविपत्तयो यैस्ते । 'वेदवादे गुप्तमन्त्रे मन्त्रः ' इत्यमरः । परलोकस्य लोकान्तरस्य शत्रुजनस्य च जिष्णवो जयशीलाः । स्वयंभुवो ब्रह्मणो मुखभुवो मुखजाता ब्राह्मणाः । 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत् ' इति श्रुतेः । भूभुजो राजानश्च । त्वन्मखं तव क्रतुं परितः शोभयन्ति परिष्कुर्वन्ति सर्वेऽप्यागत्य वसन्तीत्यर्थः । अत्र राज्ञां ब्राह्मणानां च प्रकृतानामेव प्रतापादिसाधर्म्येणोपमानात्तुल्ययोगिताभेदः साधर्म्यं च श्लेषनिबन्धनमिति सङ्करः ॥ ९६ ॥

आभजन्ति गुणिनः पृथक्पृथक्पार्थ सत्कृतिमकृत्रिमाममी ।
एक एव गुणवत्तमोऽथ वा पूज्य इत्ययमपीष्यते विधिः ॥९७॥

आभजन्तीति । हे पार्थ पृथापुत्र । " तस्येदम् " इत्यण् । सामान्यस्य विशेषपर्यवसाननियमादपत्यार्थलाभः । अन्यथा " स्त्रीभ्यो ढक् " इति ढक् स्यात् । गुणिनो गुणाढ्या अमी पूर्वश्लोकद्वयोक्ताः स्नातकादयः पृथक् पृथक् प्रत्येकमकृत्रिमामकपटां सत्कृतिं सत्कारम् आभजन्ति

अर्हन्ति । सममेषां प्रत्येक पूजा कार्य्येत्यर्थ. । अथ स्वामिमत पक्षान्तरमाह । अथे'
अथ वा गुणवत्तमोऽतिगुणवानेक एव पूज्य इत्ययमपि विधिः शास्त्रमनुष्ठान वेष्यते । इत्ये..
शेषः । अत्र स्नातकादीनां पूज्यत्वे गुणो विशेषगत्या हेतुरिति काव्यलिङ्गभेदः । तदपेक्षा
गुणवत्तमत्वमेकस्यैवपूज्यत्वे तथैव हेतुरिति काव्यलिङ्गान्तरमिति सजातीयसङ्कर. ॥ ९७ ॥

अथ कस्तथा सर्वोत्तर पुमानस्तीत्याकाङ्क्षायां कोऽन्यो हरिं विनेत्याह—

अत्र चैष सकलेऽपि भाति मां प्रत्यशेषगुणबन्धुरर्हति ।
भूमिदेवनरदेवसङ्गमे पूर्वदेवरिपुरर्हणां हरिः ॥ ९८ ॥

अत्रेति । अत्रास्मिन् कालेऽपि भूमिदेवा ब्राह्मणा नरदेवा राजानस्तेषा सङ्गमे ब्राह्मणक्षत्रियसमवाये इत्यर्थः । अशेषगुणाना बन्धुः सुहृत्सर्वगुणाढ्य इत्यर्थः । असाधारणगुणानाह । पूर्वेति । पूर्वदेवाः सुरद्विषस्तेषा रिपुर्हन्ता एषः हरिः कृष्णः अर्हणा पूजाम् अर्हति प्राप्नोतीति मामधिकृत्य भाति मम प्रतिभातीत्यर्थः । अन्ये तु नार्हतीत्यपि सिद्धमिति भाव. । अत्र तत्रान्येषु च प्रसक्ताया पूजाया हरावेव नियमात्परिसंख्यालङ्कारः । 'एकस्य वस्तुन प्राप्तावनेकत्रैकदा यदा । एकत्र नियमः सा हि परिसंख्या निगद्यते' इति लक्षणात् ॥ ९८ ॥

ननु तस्मिन् ब्राह्मणक्षत्रियसमूहे कथमस्यैव पूज्यत्वमित्याशंक्य सर्वोत्तमत्वादित्याशयेनासर्गसमाप्तेरेन स्तौति—

मर्त्यमात्रमवदीधरद्भवान्मैनमानमितदैत्यदानवम् ।
अंश एष जनतातिवर्त्तिनो वेधसः प्रतिजनं कृतस्थितेः ॥९९॥

मर्त्येत्यादि । आनमिताः प्रह्वीकृताः दैत्याः दितिसुताः दानवा' दनुसुताश्च येन तमेनं हरिं भवान् मर्त्यमात्र मनुष्यमात्र माऽवदीधरत् न जानीयात् । "शेषे प्रथमः" इति प्रथमपुरुषः । कुतः । एष. कृष्णो जनतातिवर्तिनः सर्वलोकातीतस्य प्रतिजन कृतस्थितेश्च सर्व्वभूतान्तर्यामिण इत्यर्थः । वेधस परमात्मनोंऽशः कला । अतो न मर्त्यमात्रमित्यर्थ. । अत एव वाक्यहेतुक काव्यलिङ्गम् ॥ ९९ ॥

पुनरप्यमानुषत्वमेव व्यनक्ति—

ध्येयमेकमपथे स्थितं धियः स्तुत्यमुत्तममतीतवाक्पथम् ।
आमनन्ति यमुपास्यमादराद्दूरवर्त्तिनमतीव योगिनः ॥ १०० ॥

ध्येयमिति । योगिनो नारदादय एकमद्वितीयम् उत्तम सर्वोत्तम यमेन ध्येय ध्यातव्यम् । एकार्थगोचरात्मधारण ध्यान तदर्हमित्यर्थः । तथापि धियो ज्ञानस्यापथेऽमार्गे स्थित तदगोचरमित्यर्थः । "पथो विभाषा" इति समासान्तः "अपथ नपुंकम्" इति नपुंसकम् । आमनति कथयन्ति । "पाघ्रा" इत्यादिना म्नाधातोर्मनादेश' । स्तुत्य स्तोतुमर्ह तथापि अतीतो वाक्पथो येन तम् अवाङ्मनसगोचरमित्यर्थः 'यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' इति

श्रुतेः।आमनन्ति । आदरादास्थया उपास्य सेव्यम् । तथापि अतीवात्यन्तम् । अतीवेति निपातसमुदायोऽत्यन्तार्थेऽव्ययम् । दूरवर्तिनम् आमनन्ति । यमेनमचिन्त्यरूपमामनन्ति तमेन मर्त्यमात्रं मावदीधरदिति पूर्वेणान्वयः । अवाङ्मनसगोचरत्वदूरवर्तित्वाना ध्येयत्वस्तुत्यत्वोपास्यत्वैः सह विरोधस्य हरेरचिन्त्यमहिमत्वेन समाधानाद्विरोधाभासोऽलङ्कारः ॥ ६० ॥

ननु हरिहरहिरण्यगर्भास्त्रयो देवाः सर्वोत्तरमहिमानः सन्त्येन न जानीम इत्यत आह—

पद्मभूरिति सृजञ्जगद्रजः सत्त्वमच्युत इति स्थितिं नयन् ।
संहरन्हर इति श्रितस्तमस्त्रैधमेष भजति त्रिभिर्गुणैः ॥६१॥

पद्मभूरिति । एष हरिः रज रजोगुणं श्रितः जगत् सृजन् पद्मभूर्ब्रह्मेति । सत्त्व सत्त्वगुण श्रितः जगत् स्थिति नयन् स्थापयन् अच्युतो विष्णुरिति । तमस्तमोगुण श्रितः जगत् संहरन् हर इति त्रिभिर्गुणैः सत्त्वरजस्तमोभिस्त्रैधं त्रैविध्यं भजति । " द्वित्र्योश्च धमुञ् " इति विधार्थे धमुञ्प्रत्ययः । अस्यैव गुणाभिन्नास्तास्तिस्रोऽपि मूर्तयः इत्ययमेव सर्वोपास्य इति भावः । अत्र सत्त्वादिगुणयोगस्य सृष्ट्यादिगुणयोगस्य च विशेषणगत्या त्रैविध्यहेतुत्वात् पदार्थहेतुक काव्यलिङ्गम् ॥ ६१ ॥

तर्हि कीदृशमस्य स्वरूप कुतो वा मानुषविग्रह इत्यपेक्षायामुभय निरूपयन्नाह—

सर्ववेदिनमनादिमास्थितं देहिनामनुजिघृक्षया वपुः ।
क्लेशकर्मफलभोगवर्जितं पुंविशेषममुमीश्वरं विदुः ॥ ६२ ॥

सर्वेति । अमु कृष्ण सर्ववेदिन सर्वज्ञमित्यर्थः । अत एवानादिमादिरहितम् अनादिनिधनमित्यर्थ । तथापि देहिना प्राणिनाम् अनुजिघृक्षया अनुग्रहीतुमिच्छया । भूभारावतरणार्थमित्यर्थः । ग्रहे सन्नन्तात् स्त्रियाम् "अप्रत्ययात्" इति अप्रत्यये टाप् । वपुरास्थित मानुषविग्रहमास्थित कर्म्मारब्धशरीरभाजमित्यर्थः । अत एव क्लेशकर्म्मफलभोगवर्जितम् । क्लेशा पञ्च क्लेशाः अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाख्याः । कर्म्माणि पुण्यपापानि तेषा फले सुखदु.खे तयोर्भोगोऽनुभवस्तेन क्लेशैश्च वर्जित तैरसस्पृष्टमित्यर्थ. । ईश्वरम् ईश्वरशब्दितम् पुविशेष क्षेत्रज्ञविलक्षण पुरुषविशेष परमपुरुष वा विदु विदन्ति सन्त इति शेषः । "विदो लटो वा" इति झेरुसादेशः । अत्राकर्मारब्धत्वान्नित्यज्ञानात्वादि विरोधसमर्थनाद्विरोधाभासोऽलङ्कारः । तेषामेव गुणाना विशेषणगत्या पुविशेषहेतुत्वात्काव्यलिङ्गमिति सङ्करः ॥ ६२ ॥

एव हरेः स्वरूप निरूप्य तदुपासनात्फल युग्मेनाह—

भक्तिमन्त इह भक्तवत्सले सन्ततस्मरणरीणकल्मषाः ।
यान्ति निर्वहणमस्य संसृतिक्लेशनाटकविडम्बनाविधेः॥ ६३ ॥

भक्तिमन्त इति । भक्तवत्सले भक्तप्रिये इहास्मिन् हरौ भक्तिमन्तोऽनुरागवन्तो जनाः । पूज्येषु अनुरागो भक्तिः । सन्तत सतत तत्स्मरणेन निरन्तरध्यानेन रीणकल्मषाः क्षीणपापाः

सन्त' । 'रीड् क्षये' "ल्वादिभ्यः" इति निष्ठानत्वम्। अस्य अनुभूयमानस्य कृष्णस्य सृति संसारस्तस्य क्लेशः दुःख तदेव नाकमिति रूपकम् । तस्य विडम्बनामिनयस्तस्य निर्वहण समाप्तिं यान्ति । मुच्यते इत्यर्थ. । 'तमेव विद्वानमृत इह भवति' इति श्रुतेरिति भाव. ॥६३॥

ग्राम्यभावमपहातुमिच्छवो योगमार्गपतितेन चेतसा ।
दुर्गमेकमपुनर्निवृत्तये यं विशन्ति वशिनं मुमुक्षवः ॥६४॥

ग्राम्येति । ग्रामे भवा' ग्राम्या' प्राकृता मूढा इति यावत् । "ग्रामाद्यखञौ" इति यप्रत्यय' । तेषा भावस्तम् अपहातु मोक्तुमिच्छवः मुमुक्षवो मोक्षार्थिनः अपुनर्निवृत्तयेऽपुनरावृत्तये पुनरावृत्त्यभावाय मोक्षाय इत्यर्थ' । दु'खेन गम्यत इति दुर्गं दुष्प्रापम् एकमेवाद्वितीय वशिन स्वतन्त्र य हरिं योगमार्गनिपतितेन ध्यानमार्गनिष्टेन । योग. सन्नहनोपायध्यानसङ्गतियुक्तिषु' इत्यमर । चेतसा विशन्ति । ध्यायन्तीत्यर्थः । य विशन्ति इह भक्तिमन्त इति पूर्वेणान्वयः॥६४॥

अथ भक्त्युद्रेकान्नमस्करोति—

आदितामजननाय देहिनामन्ततां च दधतेऽनपायिने ।
बिभ्रते भुवमधः सदाथ च ब्रह्मणोऽप्युपरि तिष्ठते नमः ॥६५॥

आदितामिति । देहिना प्राणिनाम् आदिता कारणता अन्तोऽन्तकरो नाशहेतु' । "तत्करोति" इति ण्यन्तादन्तयते. पचाद्यच् । तस्य भावस्तत्तामन्तता च दधते । 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इत्यादिश्रुतेः । स्वयमजननाय जन्मरहिताय अपायोऽस्यास्तीत्यपायी स न भवतीत्यनपायी तस्मै अनपायिने नाशरहिताय च कालतोऽपरिच्छिन्नायेत्यर्थः । देशतोऽपि तथेत्याह । सदाऽध पाताले भुव बिभ्रते कूर्मरूपेण दधते अथ च तथैव ब्रह्मणो लोकस्याप्युपरि तिष्ठते सर्वव्यापिने इत्यर्थः । तस्मै हरये इति शेष । नमः नमस्कारः । 'नमः स्वस्ति" इत्यादिना चतुर्थी । अत्र हरेरनादिनिधनत्वेन तद्वतः पुरुषान्तरादाधिक्यवर्णनाद्व्यतिरेकालङ्कारः ॥ ६५ ॥

केवलं दधति कर्तृवाचिनः प्रत्ययानिह न जातु कर्मणि ।
धातवः सृजतिसंहृशास्तयः स्तौतिरत्र विपरीतकारकः ॥ ६६ ॥

केवलमिति । सृजतिश्च संहृ च शास्तिश्च सृजतिसंहृशास्तयः । 'सृज विसर्गे' 'हृञ् हरणे' सम्पूर्वोऽयम् 'शासु अनुशिष्टौ' इत्येते त्रय इत्यर्थः। " इकश्तिपौ धातुनिर्देशे" इति वचनादेव निर्देशः । धातवो "भूवादयो धातव" इत्युक्तलक्षणाः शब्दविशेषा. । इहास्मिन् भगवतिविषये केवलमनन्ययोगव्यवच्छिन्न यथा तथा कर्तृवाचिन' कर्तृकारकवाचकान् दधति । तदन्ता एव भवन्तीत्यर्थ. । जातु कदाचित्कर्मणि प्रत्ययान् कर्मार्थविहितान् यागादीन् न दधति न तदन्ता भवन्तीत्यर्थः । सर्वकर्तृत्वान्नियन्तृत्वाच्च सृजति स्रष्टा संहरति संहर्ता शास्तीति शासितेत्यादिभिः

कर्तृत्वेन निर्दिश्यते न कदाचित्सृज्यते साह्रियते शिष्यते इत्यादिभिः कर्मत्वेन । अनादिनिधनत्वादनियम्यत्वाच्चेति भावः । किञ्च अत्र भगवति स्तौतिः 'ष्टुञ् स्तुतौ' इति धातु. । विपरीतं कारक यस्य स' विपरीतकारक स्तूयते स्तुत्य इत्यादकर्मप्रत्ययान्त एव नतु कदाचित् स्तौति स्तोता इत्यादिकर्तृप्रत्ययान्त. । सकललोकस्तुत्यस्य तस्य स्तुत्यन्तराभावादित्यर्थः । अत्र शब्दानां कर्मकर्तृप्रत्ययविधिनिषेधद्वारा विभक्त्यन्तरेण सर्वकर्तृत्वसर्वोपास्यत्वादिसूक्ष्मार्थबोधपरत्वात्सौक्ष्म्याख्यो गुणः । 'अन्तः सकलपरूपत्व शब्दाना सौक्ष्म्यमुच्यते' इति लक्षणात् । अत्र भगवतः सृष्ट्यादिकर्तृकर्मत्वोभयप्राप्तावेकत्रैकनियमात्परिसङ्ख्या । तत्र जातु कर्मणीति शब्दादेव कर्मत्वनिषेधादितरनिवृत्तिः स्तौतिशब्दात् स्तुतौ कर्तृत्वनिवृत्तिरार्थीति भेदद्वयससर्गः । अनया च भगवत पुरुषान्तराधिक्यप्रतीतेर्व्यतिरेकश्च प्रतीयते इत्यलङ्कारेणालङ्कारध्वनि' ॥ ९६ ॥

पूर्वमेष किल सृष्टवानपस्तासु वीर्यमनिवार्यमादधौ ।
तच्च कारणमभूद्धिरण्मयं ब्रह्मणोऽसृजदसाविदञ्जगत् ॥९७॥

पूर्वमिति । एष हरिः पूर्वं प्रथममपः सृष्टवान् । किलेत्यैतिह्ये । तास्वप्सु अनिवार्य्यं वीर्य्यं रेतः । 'शुक्रं तेजोरेतसी च बीजवीर्य्येन्द्रियाणि च' इत्यमरः । आदधावाहितवान् तद्वीर्य्यं तु हिरण्यस्य स्वर्णस्य विकारः हिरण्मयम् । "दाण्डिनायन" इत्यादिना निपातः । ब्रह्मणश्चतुर्मुखस्य कारणमभूत् । ब्रह्माण्ड जातमित्यर्थः । असौ तदुत्पन्नो ब्रह्मा ब्रह्माण्डमिदं जगदसृजत् । सर्वस्यापि प्रपञ्चस्यायमेवमूलकारणमिति भावः । अत्र मनुः । 'अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत् । तदण्डमभवद्धैमं सहस्रांशुसमप्रभम् । तस्मिञ्जज्ञे स्वय ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः' इति । अत्र वीर्य्यमनिवार्यमिति वृत्त्यनुप्रासः ॥ ९७ ॥

अथैनं त्रिभिर्विशिनष्टि—

मत्कुणाविव पुरा परिप्लवौ सिन्धुनाथशयने निषेदुषः ।
गच्छतः स्म मधुकैटभौ विभोर्यस्य नैद्रसुखविघ्नतां क्षणम् ॥९८॥

मत्कुणाविवेत्यादिना । पुरा पूर्वं परिप्लवौ चञ्चलौ मुहुरितस्ततश्चलन्तावित्यर्थ । 'चञ्चल चपल तूर्णं पारिप्लवपरिप्लवे' इत्यमर । मधुकैटभावसुरविशेषौ मत्कुणौ सुप्तासृक्पायिनौ-मलोद्भवौ कीटविशेषौ ताविवेत्युपमा । सिन्धुनाथः सरित्पति स एव शयन तत्र निषेदुषो निषण्णस्य समुद्रशायिन इत्यर्थः । "भाषायां सदवसश्रुव." इति लिटः क्वसुरादेशः । विभोः प्रभोः यस्य हरेः क्षणं निद्रायास्सम्बन्धिनः आगत या नैद्र यत्सुख तस्य विघ्नतां विघातु कर्तुं गच्छतः स्म गतौ । तादृशावपि महासुरौ मत्कुणाविव क्षणमात्रेण प्रनष्टाविति भगवतः प्रभावातिशयोक्तिः । एषां त्रयाणां पूर्वेणान्वयः ॥ ९८ ॥

श्रौतमार्गसुखगानकोविदब्रह्मषट्चरणगर्भमुज्ज्वलम् ।
श्रीमुखेन्दुसविधेऽपि शोभते यस्य नाभिसरसीसरोरुहम् ॥९९॥

श्रौतीति। श्रौतमार्गस्य सुख सुखकर यद्गान तस्य कोविदोऽभिज्ञ । श्रोतिः व्याख्यात. । च चासौ ब्रह्मा च स एव षट्चरणः स गर्भे यस्य तन् उज्ज्वल निर्मल यस्य हरेर्नाभिरेव सरसी सर· कासार । 'कासारः सरसीसरः' इत्यमर । तस्या सरोरुह पङ्क श्रियो मुखमिवेन्दुस्तस्य सन्निधौ समीपेऽपि शोभत इति विरोध. । स च मुखस्येन्दुत्वरूपणायत्त इत्यनयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्कर ॥ ६९ ॥

सत्यवृत्तमपि मायिनं जगद्वृद्धमप्युचितनिद्रमर्भकम् ।
जन्म बिभ्रतमजं नवं बुधा यं पुराणपुरुषं प्रचक्षते ॥ ७० ॥

सत्येति । य हरिं सत्यवृत्तम् अकपटचरितम् अपि मायिनं मायाविनं कपटवन्तमिति विरोध । माया नाम शक्ति तद्वन्तमित्यविरोध । व्रीह्यादित्वादिनिप्रत्यय । जगद्वृद्ध सर्वलोक-पितामहत्वात् स्थविरमपि । 'प्रवया. स्थविरो वृद्धः' इत्यमर । उचितनिद्र परिचितयोग-निद्रम् अर्भक डिम्भम् । वटस्य पत्रस्य पुटे शयान बाल मुकुन्द मनसा स्मरामि ' इत्यागमव-चनादिति भाव. । 'पोतः पाकोऽर्भको डिम्भ· ' इत्यमर. । न जायत इत्यजो जन्मरहित । " अन्येभ्योऽपि दृश्यते " इति जनेर्डप्रत्यय. । तमपि जन्म बिभ्रतम् । कामवशात् कृष्णादि जन्म-भाजमित्यर्थ । नव रमणीयत्वादभिनव तथापि पुराणं प्राचीनमनादिं च पुरुष प्रचक्षते बुधा. । इति वाक्य सर्वत्र सम्बध्यते । सर्वेऽपि विरोधा हरेरचिन्त्यमहिमत्वेनाभास्या इति विरोधाभा-सचतुष्टयसंसृष्टि ॥ ७० ॥

अथ षोडशभिरवतारान् वर्णयिष्यन् वराहावतार तावदेकेनाह—

स्कन्धधूननविसारिकेसरक्षिप्तसागरमहाप्लवाश्रयम् ।
उद्धृतामिव मुहूर्त्तमैक्षत स्थूलनासिकवपुर्वसुन्धराम् ॥७१॥

स्कन्धेति । स्थूलनासिकवपुर्वराहमूर्तिरय हरिः स्कन्धस्य कन्धराया. धूननेन कम्पनेन विसारिभिर्विसर्पिभि केसरै सटाभिः क्षिप्तोऽवकीर्णः सागरस्य महाप्लवो महापूर. यस्यास्ता जला-पसारेण प्रकाशितामित्यर्थ. । वसुन्धरा भुव मुहूर्त क्षणमात्रम् । 'मुहूर्त्तमल्पकालेऽपि' इति शब्दा-र्णवे । उद्धृताम् अनावृतत्वात्सागरादुत्क्षिप्तामिव ऐक्षत प्रेक्षितवान् इत्युत्प्रेक्षा । ईक्षतेर्लङि "आडजादीनाम्" इत्याट् " आटश्च " इति वृद्धिः ॥ ७१ ॥

द्वाभ्या नृसिंहावतारमाह—

दिव्यकेसरिवपुः सुरद्विषो नैव लब्धशमसायुधैरपि ।
दुर्निवाररणकण्डुकोमलैर्वक्ष एष निरदारयन्नखैः ॥ ७२ ॥

दिव्येति । दिव्यकेसरिवपुर्दिव्यसिंहमूर्तिः । हरेरायुधैर्वज्रादिभिरपि नैव लब्धशमम-प्राप्तशान्ति दुर्निवार दुर्जया रणकण्डूर्यस्य तत् रणव्यसनीत्यर्थ. " गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य "

इति ह्रस्वः । सुरद्विषो हिरण्यकशिपोर्वक्षः कोमलैर्नखैः निरदारयत् अभिनत् । वज्राद्यभेद्यस्य कोमलनखविदार्यत्व भगवत्प्रभावादिति विरोधाभासोऽलङ्कार· ॥ ७२ ॥

वारिधेरिव कराग्रवीचिभिर्दिङ्मतङ्गजमुखान्यभिघ्नतः ।
यस्य चारुनखशुक्तयः स्फुरन्मौक्तिकप्रकरगर्भतां दधुः ॥ ७३ ॥

वारिधेरिति । कराग्राणि वीचय इवेत्युपमितसमास । वारिधेरिवेति लिङ्गात् । ताभिः कराग्रवीचिभिर्दिगन्तविततााभिरिति भावः । अत एव दिङ्मतङ्गजानां मुखान्यभिघ्नतो रोपातिरेकात्प्रहरतो यस्य सिंहमूर्त्तेर्हरेर्वारिधेरिव चारुनखा· शुक्तय इव । पूर्ववदुपमितसमासः । स्फुरन्मौक्तिकप्रकरो दिग्गजकुम्भसम्भूतमुक्ताव्रातो गर्भेऽन्तरगतो यासा तासा भावस्तत्ता ता दधु । एप निरदारयदिति पूर्वेणान्वयः । एतेन नरहरिक्रोधस्य महासुरेऽपि न पर्य्याप्तमिति व्यज्यत इति वस्तुना वस्तुध्वनिः । उपमालङ्कार· ॥ ७३ ॥

अथ चतुर्भिर्वामनावतारमाह-

दीप्तिनिर्जितविरोचनादयं गां विरोचनसुतादभीप्सतः ।
आत्मभूरवरजाखिलप्रजः स्वर्पतेरवरजत्वमाययौ ॥ ७४ ॥

दीप्तीत्यादि । आत्मना भवतीति आत्मभूः स्वयम्भूरपि । अवरजाश्चरमजा अखिलाः प्रजा जना यस्य सोऽपि सर्वज्येष्ठोऽपीत्यर्थ· । अय हरि दीप्तिनिर्जितविरोचनात् ज्योतिर्विजितमार्तण्डात् । विरोचन प्रह्लादपुत्रः । 'विरोचनोऽर्के दहने चन्द्रे प्रह्लादनन्दने' इत्युभयत्रापि विश्व । तस्य सुताद्बलेर्गाम्भुवम् अभीप्सतः । प्राप्तुमिच्छतोऽभ्याहर्त्तुमिच्छत· । सन्नन्तादाप्नोतेर्लटः शत्रादेश· । स्वर्पतेरवरजत्वमिन्द्रानुजत्व ययौ । बलिध्वंसनार्थमिति शेप । लोकानुग्रहार्थिनः किन्न कुर्वन्तीति भावः । अत्राजत्वावरजत्वसामानाधिकरण्यविरोधो भगवत्प्रभावादाभासीकृत इति विरोधाभासोऽलङ्कारः ॥ ७४ ॥

किं क्रमिष्यति किलैष वामनो यावदित्थमहसन्न दानवाः ।
तावदस्य न ममौ नभस्तले लङ्घितार्कशशिमण्डलक्रमः ॥ ७५ ॥

किमिति । एप वामनः खर्वः । 'खर्वो ह्रस्वश्च वामन·' इत्यमर । किं क्रमिष्यति इत्थम् अनेन प्रकारेण दानवा यावन्नाहसन् तावत् ततः प्रागेव लङ्घिते अतिक्रान्ते अर्कशशिमण्डले येन सोऽस्य हरेः क्रम· पादविक्षेपो नभस्तले न ममौ न परिमाण गतवान् यथा न माति तथा ववृधे इत्यर्थः । अत्राधारान्नभस्तलादाधेयस्य क्रमस्याधिक्यकथनादधिकालङ्कारभेद· । 'आश्रयाश्रयिणोराधिक्यमधिकम्' इति लक्षणात् ॥ ७५ ॥

गच्छतापि गगनाग्रमुच्चकैर्यस्य भूधरगरीयसाङ्घ्रिणा ।
क्रान्तकन्धर इवाबलो बलिः स्वर्गभर्तुरगमत्सुबन्धताम् ॥ ७६ ॥

गच्छतेति । गगनाग्रं गगनोपरिभागं गच्छतापीति विरोधः । भूधरवद्गरीयसं... यस्य वामनस्योच्चकैस्तनैराविणा क्रान्तकन्धरोऽवष्टब्धकण्ठ इवावलो दुर्बलो बलि... स्वर्गभर्तुरिन्द्रस्य सुखेन बध्यते इति सुबन्धः । "ईषद्दुःसुषु" इत्यादिना खल्प्रत्ययः । तत्तागग... गुरुद्रव्यावष्टब्धकण्ठो हि सुखेन बध्यते इति भावः" न लोका" इत्यादिना कृद्योगलक्षणाया ष... षष्ठ्या निषेधात्स्वर्गभर्तुरिति शेषे षष्ठी । अत्र क्रान्तकन्धर इवेत्युत्प्रेक्षाया भूधरगरीयसेत्युपमा सापेक्षत्वात्सङ्करः । विरोधेन त्वनपेक्षिता संसृष्टिः ॥ ७६ ॥

क्रामतोऽस्य ददृशुर्दिवौकसो दूरमूरुमलिनीलमायतम् ।
व्योम्नि दिव्यसरिदम्बुपद्धतिस्पर्द्धयेव यमुनौघमुत्थितम् ॥ ७७ ॥

क्रामत इति । क्रामतः पादं विक्षिपतोऽस्य सम्बन्धिनं दूरमायतमलिनीलम् भृङ्गश्यामं ऊरुं सक्थि दिवौकसो देवा व्योम्नि दिव्यसरितो मन्दाकिन्या अम्बुपद्धत्या जलप्रवाहेण स्पर्द्धया उत्थितमूर्ध्वतः प्रवृत्तं यमुनौघं यमुनाप्रवाहमिव ददृशुरित्युत्प्रेक्षेयमुपमा सङ्कीर्णा ॥ ७७ ॥

अवतारान्तरमाह-

यस्य किञ्चिदपकर्तुमक्षमः कायनिग्रहगृहीतविग्रहः ।
कान्तवक्त्रसदृशाकृतिं कृती राहुरिन्दुमधुनापि बाधते ॥ ७८ ॥

यस्येति । कायनिग्रहेणामृतविभागकाले देहच्छेदेन गृहीतविग्रहो बद्धवैरः कृती कुशलो राहुर्यस्य हरेः किञ्चिदकर्तुमक्षमः सन् कान्तं रम्यं यद्वक्त्रं हरिमुखं तेन सदृशी आकृतिर्यस्य तं तत्सुहृदमित्यर्थः । इन्दुम् अधुनापि बाधते पीडयति उपरागमिषेणेति भावः । अत्र साक्षात् प्रतिपक्षहरिनिग्रहाशक्त्या राहोस्तदीयेन्दुनिग्रहोक्त्या प्रत्यनीकालङ्कारः । तथा च सूत्रम् । 'प्रतिपक्षप्रतीकाराशक्तौ तदीयतिरस्कारः प्रत्यनीकम्' इति ॥ ७८ ॥

दत्तात्रेयावतारमाह-

सम्प्रदायविगमादुपेयुषीरेष नाशमविनाशिविग्रहः ।
स्मर्तुमप्रतिहतस्मृतिः श्रुतीर्दत्तइत्यभवदत्रिगोत्रजः ॥ ७९ ॥

सम्प्रदायेति । अविनाशिविग्रहोऽनपायस्वरूपः अत एव अप्रतिहता स्मृतिः स्मरणशक्तिर्यस्य स एष हरिः सम्प्रदायः उपदेशपरम्परा तस्य विगमादपायान्नाशं कालदोषाध्ययनविच्छेदमुपेयुषीः प्राप्ताः । "उगितश्च" इति ङीप् । श्रुतीर्वेदान् । 'श्रुतिः स्त्री वेद आम्नायः' इत्यमरः । स्मर्तुं श्रुतिसम्प्रदायं प्रवर्त्तयितुमित्यर्थः । दत्त इति विख्यात इति शेषः । अत्रिगोत्रे जातोऽत्रिगोत्रजोऽभवत् । दत्तात्रेयोऽभूदित्यर्थः । अत्रानपायित्वस्मृत्यप्रतिघातयोर्विशेषणगत्या श्रुतिस्मृतिहेतुत्वोक्त्या काव्यलिङ्गम् ॥ ७९ ॥

परशुरामावतारमाह—

रेणुकातनयतामुपागतः शातितप्रचुरपत्रसंहतिः ।
लूनभूरिभुजशाखमुज्झितच्छायमर्जुनवनं व्यधादयम् ॥८०॥

रेणुकेति । अय हरि· रेणुकातनयतां परशुरामत्वमुपागतः सन् । अर्ज्जुनः कार्त्तवीर्यार्जुनः । 'अर्जुन ककुभे पार्थे कार्त्तवीर्यमयूरयोः' इत्यनेकार्थेऽपि रैणुकेयविरोधित्वान्निश्चयः । तदुक्तं हरिणा । 'संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता । अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः । सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः । शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतव.' ॥ इति । स एव वनं तत् शातिता छिन्ना प्रचुरा प्रभूता पत्रसंहतिर्वाहनसमूहः पर्णसंघातश्च यस्य तत् । 'पत्रं स्याद्वाहने पर्णे' इति विश्वः । लूनाश्छिन्ना भूरयः प्रचुरा भुजा एव शाखा यस्य तत् उज्झिता छाया कान्तिरनातपश्च यस्य तत्तथा व्यधात् विहितवान् । दधातेर्लुङि "गातिस्था" इत्यादिना सिचो लुक् । 'छाया सूर्यप्रिया कान्तिः प्रतिबिम्बमनातपः' इत्यमरः । अत्र समस्तवस्तुविषयं सावयवं रूपकं व्यक्तं तच्च छायेति पत्रेति च श्लेषप्रतिभोत्थापिताभेदातिशयोक्त्यानुप्राणितमिति सङ्करः ॥ ८० ॥

रामावतारमाह—

एष दाशरथिभूयमेत्य च ध्वंसितोद्धतदशाननामपि ।
राक्षसीमकृत रक्षितप्रजस्तेजसाधिकविभीषणां पुरीम् ॥ ८१ ॥

एष इति । किञ्चेति चार्थः । रक्षितप्रजः एष हरिर्दशरथस्यापत्यं पुमान् दाशरथी राम· अत इञ् । तस्य भावः दाशरथिभूयं रामत्वम् । "भुवो भावे" इति क्यप् । एत्य प्राप्य । ध्वंसितो हत उद्धतो दृप्तो दशाननो रावणो यस्या तामपि राक्षसीं रक्षस्सम्बन्धिनीं पुरीं लङ्कां तेजसा स्ववीर्य्येण अधिकविभीषणामत्यन्तभीषणाम् अकृतेति विरोधः । भयहेतोरुद्धतस्य रावणस्य ध्वंसनात् अधिको महान् विभीषणो रावणानुजो यस्यां तामित्यविरोधः । अत एव विरोधाभासोऽलङ्कारः ॥ ८१ ॥

अथ पञ्चभिः प्रस्तुतं कृष्णावतारमाह—

निग्रहन्तुममरेशविद्विषां प्रार्थितः स्वयमथ स्वयम्भुवा ।
सम्प्रति श्रयति सूनुतामयं कश्यपस्य वसुदेवरूपिणः ॥ ८२ ॥

निग्रहन्तुमिति । अथ रामावतारानन्तरम् अयं हरिः अमरेशविद्विषां निग्रहन्तुं चैद्यादीन् इन्द्रशत्रून् हन्तुमित्यर्थः । "जातिनिग्रहण" इत्यादिना कर्म्मणि षष्ठी । स्वयम्भुवा ब्रह्मणा स्वयमात्मनैवार्थित. प्रार्थितः सन् सम्प्रतीदानीं वसुदेवरूपिणो वसुदेवमूर्त्तिधरस्य कश्यपस्य पुत्रतां श्रयति व्रजति कृष्णरूपेणेति भावः । अत्र स्वयम्भूप्रार्थनाया विशेषणगत्या वसुदेवपुत्रताप्राप्तिहेतुत्वात्पदार्थहेतुकङ्काव्यलिङ्गम् ॥ ८२ ॥

२३

तात नोदधिविलोडनं प्रति त्वद्विनाथ वयमुत्सहामहे ॥
यः सुरैरिति सुरौघवल्लभो बल्लवैश्च जगदे जगत्पतिः ॥ ८३ ॥

तातेति । सुरौघवल्लभः सुरगणप्रियः जगत्पतिर्यो हरिः सुरैर्देवैर्बल्लवैर्गोपैश्च हे तात त्वन्नेति छेदे उदधिविलोडनं समुद्रमथनं प्रति नो इति छेदे दधिविलोडनं दधिमन्थनं च प्रति त्वद्विना त्वां विहायेत्यर्थः । "पृथग्विना" इत्यादिना विकल्पात्पञ्चमी । अथ वयं न नो वोत्सहामहे न क्षमामहे इति जगदे गदितम् । अत्र हरिवर्णनाङ्गत्वेन सुराणां बल्लवानां च प्रकृतानामेव नोदधिशब्दमूलाभेदाध्यवसायलब्धवदङ्ग्युदधिविलोडनक्षमत्वकर्मसाम्याद्गम्यौपम्यत्वात्तुल्ययोगिताभेदः, तेन च हरेर्दधिमन्थनकालवदुदधिमन्थनमपीति वस्तु व्यज्यत इत्यलङ्कारेण वस्तुध्वनिः ॥ ८३ ॥

नात्तगन्धमवधूय शत्रुभिश्छायया च शमितामरश्रमम् ।
योऽभिमानमिव वृत्रविद्विषः पारिजातमुदमूलयद्दिवः ॥ ८४ ॥

नात्तगन्धमिति । किञ्चेति चार्थः । यो हरिः शत्रुभिरवधूयाभिभूय नात्तगन्धमनाघ्रातसौरभमनभिभूतं च । 'आत्तगन्धोऽभिभूतः स्यात्' इत्यमरः । नञर्थस्य नशब्दस्य "सुप्सुपा" इति समासः । छायया अनातपेन पालनेन च । 'छाया स्यादातपाभावे प्रतिबिम्बार्कयोषितोः । पाल्योत्कर्षयोः कान्तिसच्छोभापङ्क्तिषु स्त्रियाम्' इति विश्वः । शमितामरश्रमं निवारितसुरखेदं पारिजातं वृत्रद्विषः शक्रस्याभिमानमहङ्कारमिव दिवः स्वर्गादुदमूलयत् उन्मूलितवानिति पारिजातहरणोक्तिः । श्लेषसविशेषणेयमुपमेति केचित् श्लेषवचान्ये ॥ ८४ ॥

यं समेत्य च ललाटलेखया बिभ्रतः सपदि शम्भुविभ्रमम् ।
चण्डमारुतमिव प्रदीपवच्चेदिपस्य निरवाद्विलोचनम् ॥ ८५ ॥

यमिति । किञ्चेति चार्थः । ललाटमेव लेखा तया ललाटलेखया ललाटदेशेन शम्भोर्विभ्रमं सौन्दर्यं बिभ्रतः ललाटलोचनमित्यर्थः । चेदिपस्य शिशुपालस्य लोचनं तृतीयनेत्रं कर्तृ । यं हरिमेव चण्डमारुतं चण्डमारुतमिव समेत्य प्रदीपवत् प्रदीपेन तुल्यम् । 'तेन तुल्यम्' इति वतिप्रत्ययः । निरवात् निर्वाति स्म । नष्टमित्यर्थः । निर्पूर्वाद्वाधातोर्लङ् । निरवापेति क्वाचित्कः पाठः स न सम्यक् । वातेः प्रक्रियाविरोधादाप्नोतेरसङ्गतार्थत्वादिति अनेकार्थेयमुपमा ॥ ८५ ॥

/ यः कोलतां बल्लवतां च बिभ्रद्दंष्ट्रामुदस्याशु भुजां च गुर्वीम् ।
मग्नस्य तोयापदि दुस्तरायां गोमण्डलस्योद्धरणं चकार ॥ ८६ ॥

य इति । यो हरिः कोलतां वराहत्वम् । 'वराहः सूकरो घृष्टिः कोलः पोत्री किरिः किटिः' इत्यमरः । बल्लवतां गोपालत्वं च बिभ्रत् । आशु गुर्वीं दंष्ट्रां भुजां च यथासङ्ख्यमिति भावः । उदस्योद्यम्य दुस्तरायां तोयापदि जलसङ्कटे एकत्र समुद्रकृतायाम् अन्यत्र वर्षकृतायां च मग्नस्य गोमण्डलस्य भूगोलस्य धेनुवृन्दस्य चोद्धरणं चकार । अत्र कोलत्वबल्लवत्वयोः प्रकृतयोरेव श्लेषमूलाभेदाध्यवसायेन गोमण्डलोद्धरणस्य दंष्ट्राभुजोद्यमनस्य च साम्यादौपम्यगम्यतया तुल्ययोगिता सती यथासङ्ख्येन सङ्कीर्यते । इन्द्रवज्रा वृत्तम् । 'स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ गः' इति लक्षणात् ॥ ८६ ॥

एवं देवं स्तुत्वानन्तरं कर्तव्यमुपदिशति—

धन्योऽसि यस्य हरिरेष समक्ष एव दूरादपि क्रतुषु यज्वभिरिज्यते यः। दत्त्वार्घमत्रभवते भुवनेषु यावत्संसारमण्डलमवाप्नुहि साधुवादम् ॥ ८७ ॥

धन्योऽसीति। धनलब्धा धन्य पुण्यवानसि। 'सुकृती पुण्यवान् धन्यः' इत्यमरः। 'धनगण लब्धा'' इति यत्प्रत्यय। यस्य ते एष हरिः समक्ष एव अक्ष्णोः समीपे एव पुरत एवेत्यर्थः। स्थित इति शेषः। सामीप्येऽव्ययीभाव, "अव्ययीभावे शरत्प्रभृतिभ्यः" इति समासान्त। अत एव "तृतीयासप्तम्योर्बहुलम्" इति सप्तम्या अमभावः। अन्यत्र को विशेष तत्राह। यो हरिर्दूरादपि परोक्षेऽपि क्रतुषु योगेषु यज्वभिर्विधिवदिष्टवद्भिः। 'यज्वा तु विधिनेष्टवान्' इत्यमरः। सुयजोर्ङ्वनिप्'' इति ङ्वनिप्प्रत्यय। इज्यते पूज्यते स ते प्रत्यक्ष इति धन्यस्त्वमित्यर्थः। फलितमाह। अत्रभवते पूज्यायेत्यर्थः। 'पूज्यस्तत्रभवान्' इति सज्जनः। इतरेभ्योऽपि दृश्यन्ते'' इति सार्वविभक्तिके त्रल्प्रत्यये "सुप्सुपा" इति समासः। अर्घं पूजा दत्त्वा यावत्संसारमण्डलं वर्तते तावदिति शेषः। भुवनेषु साधुर्वादः शब्दस्तं साधुवाद साधुसमाख्याम् अवाप्नुहि लभस्वेत्यर्थ। अत्र राज्ञो धन्योऽसीति विशेषणगत्या यस्येत्यादिवाक्यार्थहेतुत्वात्पदार्थहेतुक काव्यलिङ्गमलङ्कार। वसन्ततिलका वृत्तम् ॥ ८७ ॥

भीष्मोक्तं तदिति वचो निशम्य सम्यक्साम्राज्यश्रियमधिगच्छता नृपेण। दत्तेऽर्घे महति महीभृतां पुरोऽपि त्रैलोक्ये मधुभिदभूदनर्घ एव ॥ ८८ ॥

इति श्रीमाघकविकृतौ शिशुपालवधे महाकाव्ये कृष्णार्घदानं नाम चतुर्दशः सर्गः ॥ १४ ॥

भीष्मेति। 'येनेष्टं राजसूयेन मण्डलस्येश्वरश्च यः। शास्ति यश्चाज्ञया राज्ञः स सम्राट्' इत्यमरः। सम्राजो भाव. साम्राज्यं तदेव श्रीस्तां श्रियम् अधिगच्छता भजता नृपेण युधिष्ठिरेण इतीत्थं भीष्मोक्तं तद्वचः सम्यङ् निशम्य श्रुत्वा महीभृतां राज्ञां पुरोऽग्रे महति अर्घे पूजायां दत्तेऽपि मधुभिद्धरिः त्रयो लोकास्त्रैलोक्यम्। चातुर्वर्ण्यादित्वात्स्वार्थे ष्यञ्प्रत्यय.। तत्र त्रैलोक्ये कृष्णोऽनर्घः पूजारहित एव अभूदिति विरोधः। अमूल्य एवाभूदित्यविरोधः। 'मूल्ये पूजाविधावर्घः' इत्यमरः। अत्रार्घयोरभेदाध्यवसायाद्विरोधः, तदध्यवसायादविरोध. इति विरोधाभासोऽलङ्कारः। प्रहर्षिणी वृत्तम् ॥ ८८ ॥

इति श्रीमहामहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचिते माघकाव्यव्याख्याने सर्वङ्कषाख्ये चतुर्दशः सर्गः ॥ १४ ॥

पञ्चदशः सर्गः ।

अथ तत्र पाण्डुतनयेन सदसि विहितं मधुद्विषः ।
मानमसहत न चेदिपतिः परवृद्धिमत्सरि मनो हि मानिनाम् ॥ १ ॥

अथेति । अथ हरिपूजानन्तरं चेदिपतिः शिशुपालः तत्र सदसि सभायां पाण्डुसुतेन युधिष्ठिरेण विहितं मधुद्विषो हरेर्मानं पूजां नासहत । ईर्ष्यां चकारेत्यर्थः । 'परोत्कर्षाक्षमेर्ष्या स्याद्दौर्जन्यान्मन्युतोऽपि च' इति लक्षणात् । तथा हि मानिनामहङ्कारिणां मनः परवृद्धौ मत्सरि हि परशुभद्वेषि खल्वित्यर्थः । सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः । अस्मिन् सर्गे उद्गता वृत्तम् । 'सजसादिमे सलघुके च नसजगुरुकेष्वथोद्गता । अङ्घ्रिगतभनजगायुता जसनभा जगौ चरणमेकतः पठेत्' इति लक्षणात् ॥ १ ॥

पुर एव शार्ङ्गिणि सवैरमथ पुनरमुं तदर्च्चया ।
मन्युरभजदवगाढतरः समदोषकाल इव देहिनं ज्वरः ॥ २ ॥

पुर इति । पुरः पूर्वमेव शार्ङ्गिणि सवैरं सक्रोधममुं चैद्यम् अथ पुनः अतः परं तदर्च्चया हरिपूजया अवगाढतरो निबिडतरो मन्युः क्रोधो रौद्ररसस्य स्थायीभाव इति भावः । देहिनं शरीरिणं समौ तुलितौ दोषोऽपथ्यसेवाकालः कर्म्मविपाकश्च यस्य स ज्वर इवाभजत् । उपमालङ्कारः ॥ २ ॥

अथाष्टभिरस्य गात्रारब्धक्रोधचेष्टाः प्रपञ्चयति-

अभितर्ज्जयन्निव समस्तनृपगणमसावकम्पयत् ।
लोलमुकुटमणिरश्मि शनैरशनैः प्रकम्पितजगत्त्रयं शिरः ॥ ३ ॥

अभीत्यादि । असौ चैद्यः समस्तनृपगणमभितर्जयन्निवेत्युत्प्रेक्षा । 'तर्ज भर्त्सने' चौरादिकस्यानुदात्तत्वेन प्राप्तस्य आत्मनेपदस्य चक्षिङादेशस्य स्यात्र स्थानिवद्भावानादरेण पुनर्ङित्करणसामर्थ्यादनित्यत्वज्ञापनात्परस्मैपदम्, अत एव तर्जयतीत्यपि दृश्यते क्वचित्' इति भट्टमल्लः । अशनैरतिमात्रं प्रकम्पितं जगत्त्रयं येन तत् त्रैलोक्यभीषणं शिरः शनैर्लोलाश्चपला मुकुटमणिरश्मयो यस्मिन् कर्म्मणि तद्यथा तथा अकम्पयत् क्रोधातिरेकादिति भावः ॥ ३ ॥

स वमन् रुषाश्रु घनघर्म्मविगलदुरुगण्डमण्डलः ।
स्वेदजलकणकरालकरो व्यरुचत्प्रभिन्न इव कुञ्जरस्त्रिधा ॥ ४ ॥

स इति । रुषा रोषेणाश्रु वमन् मुञ्चन् घनेन सान्द्रेण घर्म्मेण क्रोधोष्मणा विगलत् स्रवदुरु महत् गण्डमण्डलं यस्य सः स्विद्यत्कपोल इत्यर्थः । स्वेदजलकणैः स्वेदबिन्दुभिः करालकरो दन्तु-

रहस्तः स चैद्यः त्रिधा नेत्रकपोलहस्तदेशैः प्रभिन्नो मदस्रावी मत्तः । 'प्रभिन्नो मत्त. स्यात्' इति वैजयन्ती । कुञ्जर इव व्यरुचत् । रुचेः "द्युद्भ्यो लुङि" इति विकल्पात् परस्मैपदम् । एतेन स्वेदाख्य. सात्त्विकभाव. उक्तः । उपमालङ्कार. ॥ ४ ॥

स निकामघर्मितमभीक्ष्णमधुवदवधूतराजकः ।

क्षिप्तबहुलजलबिन्दुवपुः प्रलयार्णवोत्थित इवादिसूकरः ॥ ५ ॥

स इति । राज्ञां समूहो राजकम् । "गोत्रोक्ष" इत्यादिना वुञ् प्रत्ययः । तदवधूतमभिभूतं येन स तथोक्त स चैद्यो निकाम घर्मित सञ्जातघर्म्ममुद्धवत्स्वेदमित्यर्थः । 'घर्म्मः स्यादातपे ग्रीष्म उष्णस्वेदाम्भसोरपि' इति विश्वः । तारकादित्वादितच्प्रत्यय । वपु. प्रलये अर्णवस्तस्मादुत्थित आदिसूकर इव क्षिप्ताः प्रेरिता. बहुला सान्द्रा जलबिन्दवो यस्मिन् कर्म्मणि तद्यथा तथा अभीक्ष्णमधुवत् क्रोधाकुलवति स्म । 'धूञ् विधूनने ' इति धातोस्तौदादिकाल्लङ् । अत्रापि स्वेदः सात्त्विक एवोक्त । उपमालङ्कारः ॥ ५ ॥

क्षणमाक्षिपद्घटितशैलशिखरकठिनांसमण्डलः ।

स्तम्भमुपहितविधूतिमसावधिकावधूनितसमस्तसंसदम् ॥ ६ ॥

क्षणमिति । घटितं सुसहित यच्छैलशिखर तद्वत्कठिनमंसमण्डलं यस्य सोऽसौ चैद्यः उपहितावनाहिना आरोपितेत्यर्थ । विधूति कम्पो यस्मिंस्तम् अधिकमत्यन्तमवधूनिता कम्पिता समस्ता सकला समत् सभा येन त स्तम्भ क्षणम् आक्षिपत् क्षिप्टवान् । तेनांसमण्डलेनाहतवानित्यर्थ. । अत एव कठिनांसमण्डल इति विशेषण च । पुषादित्वात् च्लेरङादेशः । आलिङ्गनार्थत्वे तु " क्षिप आलिङ्गने " इति क्सादेशः स्यात् । क्रोधान्धा. किमु न कुर्वन्तीति भाव. । अत्रांसकाठिन्यस्य विशेषणगत्या स्तम्भाश्लेषहेतुत्वात् काव्यलिङ्ग शैलशिखरोपमया संकीर्यते ॥ ६ ॥

कनकाङ्गदद्युतिभिरस्य गमितमरुचत्पिशङ्गताम् ।

क्रोधमयशिखिशिखापटलैः परीतः परीतमिव बाहुमण्डलम् ॥ ७ ॥

कनकेति । कनकस्याङ्गदयो· केयूरयोः द्युतिभिः पिशङ्गता पिङ्गलवर्णता गमित प्रापितमिति तद्गुणालङ्कारः । अस्य चैद्यस्य बाहुमण्डल क्रोधमयशिखिशिखापटलैः कोधाग्निज्वालाजालैः परितः परीत परिवृतमिवारुचत् इत्युत्प्रेक्षा । "द्युद्भ्यो लुङि" इति परस्मैपदम् ॥ ७ ॥

कृतसन्निधानमिव तस्य पुनरपि तृतीयचक्षुषा ।

क्रूरमजनि कुटिलभ्रु गुरुभ्रुकुटीकठोरितललाटमाननम् ॥ ८ ॥

कृतेति । कुटिले भ्रुवौ यस्य तत्कुटिलभ्रु । उपसर्जनस्य ह्रस्वः । गुर्व्या भ्रुकुट्या भ्रूभङ्गेन कठोरित भीषणीकृत ललाट यस्य तत् तस्य चैद्यस्यानन पुनरपि तृतीयचक्षुषा कृतसन्निधानं कृतसंसर्गमिवेत्युत्प्रेक्षा । 'क्रूरमजनि भयङ्करमभूत् । जने. कर्त्तरि लुङ्, "दीपजन" इत्यादिना विकल्पाच्चिण्प्रत्ययः ॥ ८ ॥

अतिरक्तभावमुपगम्य कृतमतिरमुष्य साहसे ।
दृष्टिरगणितभयासिलतामवलम्बते स्म समया सखीमिव॥९॥

अतिरक्तेति । अमुष्य चैद्यस्य दृष्टिः अतिरक्तस्य भावस्तमतिरक्तभाव रोषातिरेकादत्यरुणतामन्यत्र कर्मातिरेकादत्यनुरागितामुपगम्य प्राप्य साहसे कृष्णादिधूननरूपे अन्यत्र युद्धे कृतमतिः सर्वथा गमिष्यामि हनिष्यामि इति च कृतनिश्चया अर्थनिर्द्धारण मतिरिति । अगणितमविचारित भय शत्रोर्गुरुजनाच्च यया सा सती समया समीपे असिलता सखीमिवावलम्बते स्म सावनत्वेन स्वीचकार । क्रोधाज्जिघांसया खड्गमद्राक्षीदित्यर्थः । अत्र प्रस्तुतदृष्टिविशेषणसाम्यादप्रस्तुतनायिकाप्रतीते समासोक्तिरुपमासङ्कीर्णा ॥ ९ ॥

करकुड्मलेन निजमूरुमुरुतरनगाश्मकर्कशम् ।
त्रस्तचपलचलमानजनश्रुतभीमनादमयमाहतोच्चकैः ॥१०॥

करेति । अय चैद्य. उरुतरो महत्तरो नगाश्मवत् शैलशिलेव कर्कश इत्युपमया । त निजमात्मीयमरु सक्थि । 'सक्थि क्लीबे पुमानूरु.' इत्यमरः । करः कुड्मल इवेत्युपमितसमास. । तेन संहतप्रसारिताङ्गुलिना पाणितलेनेत्यर्थ । त्रस्तो भीत अत एव चपलं चञ्चल चलमानेन जनेन श्रुतो भीमनादो भयकरध्वनिर्यस्मिन् कर्मणि तद्यथा तथा उच्चकैराहत आहतवान् । अलब्धलक्ष्या क्रोधान्धा स्वात्मानमेव घ्नन्तीति भाव । आङ्पूर्वाद्धन्तेर्लङ् "आङो यमहनः" इति अकर्मकाधिकारेऽपि 'स्वाङ्गकर्मकाच्चेति वक्तव्यम्' इत्यात्मनेपदे "अनुदात्तोपदेश" इत्यादिनाऽनुनासिकलोप. ॥ १० ॥

इति चुक्रुधे भृशमनेन ननु महदवाप्य विप्रियम् ।
याति विकृतिमपि संवृतिमत्किमु यन्निसर्गनिरवग्रहं मनः॥११॥

इतीति । इतीत्थमनेन प्रकारेण अनेन चैद्येन भृश चुक्रुधे क्रुद्धम् । भावे लिट् । संवृतिमदपि संवृतिर्विकारगुप्तिः तद्वदपि धीरमपीत्यर्थ । मनो महाद्विप्रियम् अप्रियमवाप्य विकृति विकार याति ननु प्राप्नोति खलु । यन्मनो निसर्गात्स्वभावान्निरवग्रह चपलमित्यर्थ । ग्रहे खल्मत्यय । तदिति शेष । किमु विकृति यातीति किमु वक्तव्यमित्यर्थ । चपलचित्तश्चाय चैद्य इति भाव' अत्र चैद्यकोपस्य नन्वित्यादिवाक्यार्थहेतुत्वाद्वाक्यार्थहेतुक काव्यलिङ्गम् ॥ ११ ॥

एव गात्रारब्धविकारानुक्त्वा वागारब्धान् वक्तुमुपोद्घातयति-

प्रथमं शरीरजविकारकृतमुकुलबन्धमव्यथी ।
भाविकलहफलयोगमसौ वचनेन कोपकुसुमं व्यचीकसत् ॥१२॥

प्रथममिति । न व्यथते बिभेतीति अव्यथी निर्भय. । 'जिदृक्षि' इत्यादिना नञ्पूर्वाद् व्यथतेरिनिः । असौ चैद्यः प्रथम शरीरजैर्विकारैः पूर्वोक्तैः शिरःकम्पनादिभि कृतो मुकुलबन्धो मुकुलप्रादुर्भावो यस्य तत् भाविकलहस्य रणस्यैव फलस्य योगो यस्य तत् । 'अत्रिया सम-

रानीकरणाः कलहविग्रहौ' इत्यमरः । कोप एव कुसुम तत् वचनेन ' यदपूपुजः ' इत्यादिवक्ष्यमाणवाक्येन व्यचीकसत् विकासयति स्म । कसेः "णौ चङ्युपधाया ह्रस्व" "दीर्घो लघोः" इत्यभ्यासदीर्घ. । अत्र विकारकलहवचनकोपेषु मुकुलफलविकासकुसुमत्वरूपणात्समस्तवस्तुवर्ति सावयवरूपकम् ॥ १२ ॥

ध्वनयन्सभामथ सनीरघनरवगभीरवागभीः ।
वाचमवददतिरोषवशादतिनिष्ठुरस्फुटतराक्षरामसौ ॥ १३ ॥

ध्वनयन्निति । अथ सनीरघनरवगभीरवाक् सजलमेघगार्जितगभीरस्वर इत्यर्थः । अभीः निर्भीक. असौ चैद्य. सभामास्थान ध्वनयन् अतिरोषवशात् अतिनिष्ठुराणि अतिपरुषाणि स्फुटतराणि चाक्षराणि यस्यास्ता वाचमवदत् । घनरवगभीरेत्युपमालङ्कारः ॥ १३ ॥

वाचमवददित्युक्तम् अथ तामेव प्रपञ्चयन् पञ्चभिः पाण्डवोपालम्भमाह—

यदपूपुजस्त्वमिह पार्थ मुरजितमपूजितं सताम् ।
प्रेम विलसति महत्तदहो दयितं जनः खलु गुणीति मन्यते॥१४॥

यदित्यादि । हे पार्थ पृथापुत्रेति मातृप्राधान्येनामन्त्रण मर्म्मोद्घाटनार्थम् । सताम-पूजित सद्भिरपूज्यमानमित्यर्थ । " मतिबुद्धिपूजार्थेभ्यश्च " इति वर्तमाने क्तः । "क्तस्य च वर्त्तमाने" इति षष्ठी । मुरजित कृष्णम् इह सदसि यद्यस्मादपूपुजः पूजयसि स्म । "णौ चङ्युपधाया ह्रस्व." । तत्तस्मात् महत्प्रेम विलसति स्फुरति अन्यथा कथमपूज्ये पूज्यत्वाभिमान इत्यभिप्रेत्याह जनो लोकः दयित प्रिय जन गुणीति मन्यते खलु अगुणिनमपीत्यर्थः । अहो आश्चर्यम् । कृष्ण प्रेम्णा पूजितो न गुणादिति भावः । अत्र प्रेमविलसितस्योत्तरवाक्यार्थहेतुक काव्यलिङ्गम् ॥ १४ ॥

यदराज्ञि राजवदिहार्घ्यमुपहितमिदं मुरद्विषि ।
ग्राम्यमृग इव हविस्तदयं भजते ज्वलत्सु न महीशवह्निषु १५॥

यदिति । अराज्ञि अभिषेकादिराजगुणविरहिणीत्यर्थः । "नञस्तत्पुरुषात्" इति समासान्तप्रतिषेध' । इहास्मिन् मुरद्विषि कृष्णे । अपात्रद्योतनार्थमसम्प्रदानविभक्तिनिर्देश' । राजानमर्हतीति राजवत् राजार्हम् । तदर्हमिति वतिप्रत्ययः । " तद्धितश्चासर्वविभक्तिः" इत्यव्ययत्वम् । यदिदमर्घ्यमर्घार्थ द्रव्यम् । अर्हणमित्यर्थः । उपहितमर्पितं तदर्घ्यमय कृष्णः महीशा अवनिपा वह्नय इव इत्युपमितसमासः तेषु महीशवह्निषु ज्वलत्सु सत्सु अन्यत्र महीपा इव वह्नयः तेषु ज्वलत्सु सत्स्वित्यर्थः । ग्राम्यमृगः शुनको हविरिव न भजते न प्राप्नोति । उपमालङ्कारः ॥ १५ ॥

अनृतां गिरं न गदसीति जगति पटहैर्विघुष्यसे ।
निन्द्यमथ च हरिमर्चयतस्तव कर्मणैव विकसत्यसत्यता ॥१६॥

अनृतामिति । हे पार्थ ! अनृतामसत्यां गिरं न गदसि न वदसीति जगति लोके पटहैर्वाद्यविशेषैः कर्तृभिः । विघुष्यसे उद्घोष्यसे अथ च तथापि निन्द्यं हरिमर्चयतस्तव कर्मणा अपूज्यपूजाकरणेनैवासत्यता सत्यहीनता विकसति प्रकाशते । अत्रासत्यप्रसिद्धसत्याचारयोर्विरूपयोर्घटनाद्विरूपघटनारूपो विषमालङ्कारः ॥ १६ ॥

तव धर्मराज इति नाम कथमिदमपष्ठु पठ्यते ।
भौमदिनमभिदधत्यथवा भृशमप्रशस्तमपि मङ्गलं जनाः॥ १७ ॥

तवेति । हे पार्थ ! तवेदं धर्मराज इति नाम कथमपष्ठु असत्यमेव पठ्यते । "अपदुःसुषु स्थः" इत्यौणादिकः कुप्रत्ययः । "अम्बाम्बगोभूमि" इत्यादिना षत्वम् । यद्वा युक्तमेव तदित्याह । अथवा जनाः भृशमप्रशस्तमपि भौमदिनममङ्गलवासरं मङ्गलम् अभिदधति व्यपदिशन्ति तद्वदिदमपीत्यर्थः । लोकैरप्रशस्तं प्रशस्तशब्देन विरुद्धार्थेनापि व्यपदिश्यते तदुच्चारणदोषात् । तदधर्म्मराजस्यापि ते धर्मराजव्यपदेश इति भावः । अत्र धर्मराजभौमदिनयोर्निरपेक्षवाक्यद्वये प्रतिबिम्बकरणात् दृष्टान्तालङ्कारः ॥ १७ ॥

यदि वार्चनीयतम एष किमपि भवतां पृथासुताः ।
शौरिरवनिपतिभिर्निखिलैरवमाननार्थमिह किं निमन्त्रितैः॥१८॥

यदि वेति । हे पृथासुताः कौन्तेयाः ! एष शौरिर्वा शौरिरेवेत्यर्थः । 'वा स्याद्विकल्पोपमयोरेवार्थे च समुच्चये' इति विश्वः । किमपि कथमपि भवतामर्च्चनीयतमो यदि पूज्यश्चेत् । तर्हीति शेषः । अवमानस्तिरस्कारः तस्मै तदर्थमेव । "अर्थेन सह नित्यसमासः विशेष्यलिङ्गता च वक्तव्या" क्रियाविशेषणम् । निमन्त्रितैराहूतैर्निखिलैरवनिपतिभिरिह किं कोऽर्थः साध्य इत्यर्थः । अत एव साधनक्रियापेक्षया करणत्वे तृतीया । अत्र गम्यमानक्रियापेक्षयापि कारकवृत्तिरिति न्यासोद्योते । अत्र सकलराजनिषेधस्य पूर्ववाक्यार्थहेतुकत्वात्काव्यलिङ्गभेदः ॥ १८ ॥

अथ त्रिभिर्भीष्मोपालम्भमाह—

अथ वा न धर्ममसुबोधसमयमवयात बालिशाः ।
काममयमिह वृथापलितो हतबुद्धिरप्रणिहितः सरित्सुतः ॥१९॥

अथेत्यादि । अथवा बालिशाः मूर्खाः । यूयमिति शेषः । सुबोधो न भवतीत्यसुबोधो दुर्बोधः समय आचारो यस्य तं धर्मं नावयात न जानीत । अवपूर्वाद्याधातोर्लोट् । लोटः "तस्थ" इत्यादिना थस्य तादेशः । किन्तु वृथा निष्फलं पलितं यस्य स वृथापलितः वृथापरिणत इत्यर्थः । 'पलितं जरसा शौक्ल्यम्' इत्यमरः । वृथात्वे हेतुः हतबुद्धिर्नष्टमतिरयं सरित्सुतो

भीष्मोऽपि कामप्रणिहितोऽनवहितः प्रमत्तः बालाः पाथा न जानन्तु हन्त वृद्धोऽपि न जानातीति चित्रमित्यर्थः । अत एव सत्यपि कारणे कार्य्यानुदयाद्विशेषोक्तिरलङ्कारः, तथा बालिशत्वधर्मदुर्बोधत्वयोर्विशेषणगत्या धर्मज्ञानाहेतुत्वात्काव्यलिङ्गं चेत्यनयोः सापेक्षत्वात्सङ्करः ॥ १९ ॥

स्वयमेव शन्तनुतनूज यमपि गणमर्घ्यमभ्यधाः ।
तत्र मुररिपुरयं कतमो यदनिन्द्यबन्दिवदभिष्टुषे वृथा ॥ २० ॥

स्वयमेवेति । हे शन्तनुतनूज भीष्म ! स्वयमेव त्वमेवेत्यर्थः । यमपि गण वर्गमर्घ्यम' र्घार्हं पूज्यम् "दण्डादिभ्यो यत्" इति यत्प्रत्यय. । अभ्यधा अवोचः । स्नातकं गुरुम् इत्यादि श्लोक इति भाव. । धाधातोर्लुङि "गातिस्था-" इत्यादिना सिचो लुक् । तत्र स्नातकादिगणे अय मुररिपु. कतम न कोऽपीत्यर्थः । मास्तु अस्तु वा अस्मदुपालम्भे को हेतुरत आह । यमिति । य मुररिपुमनिन्द्य बन्दिवत्प्रगल्भवैतालिकवदित्युपमा । अभिष्टुषे मिथ्या स्तौषि । अतस्त्वमेवोपलभ्यस इति भावः । "उपसर्गात्सुनोति-" इत्यादिना षत्वम् ॥ २० ॥

अवनीभृतां त्वमपहाय गणमतिजडः समुन्नतम् ।
नीचि नियतमिह यच्चपलो निरतः स्फुटं भवसि निम्नगासुतः २१

अवनीति । अतिजडोऽतिमूढोऽतिशीतश्च चपलोऽस्थिरः सत्वरश्च त्व समुन्नतम् उन्नतम-वनीभृतां राज्ञां भूधराणां च गणमपहाय न्यञ्चतीति न्यङ् तस्मिन् नीचि नीचवृत्ते निम्ने च । " अच. " इत्यकारलोपे " चौ " इति दीर्घः । इहास्मिन् कृष्णे यद्यस्मान्नियत नित्यं निरतोऽनुरक्तः प्रवणश्च स इति शेषः । निम्न नीच गच्छतीति निम्नगा नदी । " अन्यत्रापि दृश्यते " इति डप्रत्ययः । तस्याः सुतो भवसि स्फुट व्यक्तम् । नीचनिरतत्वादिधर्म्मसङ्क्रमादिति भावः । उक्त च । ' न पित्र्यमनुवर्त्तन्ते मातृकं द्विपदा' ' इति । अत्र चतुर्थपादार्थस्य पूर्ववाक्यार्थहेतुकत्वात्काव्यलिङ्गभेदः ॥ २१ ॥

अथ सप्तदशभिः कृष्णोपालम्भं करोति—

प्रतिपत्तुमङ्ग घटते च न तव नृपयोग्यमर्हणम् ।
कृष्ण कलय ननु कोऽहमिति स्फुटमापदां पदमनात्मवेदिता २२

प्रतिपत्तुमिति । हे अङ्ग ! तव नृपयोग्य राजार्हमर्हण पूजन प्रतिपत्तु स्वीकर्तु न च घटते न युज्यते । नन्वहमपि राजैव कथमर्हणं मे न युक्त तत्राह । कृष्णेति । हे कृष्ण ! अह क इति कलय अह राजा न वेति निजस्वरूपमालोचयेत्यर्थः । अनालोचनेऽनर्थमाह अनात्मवेदिता अनात्मज्ञत्वम् आपदां पद स्थान स्फुटं खलु सत्यमित्यर्थः । आत्मा च कसकिङ्करस्तस्य पशुपालकत्वादिति भावः । अतो निजस्वरूप चिन्त्यमिति हेतुमद्भावात्काव्यलिङ्गमिति ॥ २२ ॥

असुरस्त्वया न्यवधि कोऽपि मधुरिति कथं प्रतीयते ।
दण्डदलितसरघः प्रथसे मधुसूदनस्त्वमिति सूदयन्मधु ॥ २३ ॥

असुर इति । मधुरिति कोऽप्यसुरस्त्वया न्यवधि हतः । "आत्मनेपदेष्वन्यतरस्याम्" इति हन्तेर्लुङि विकल्पाद्वधादेशः । इति कथं प्रतीयते विश्वस्यते न कथञ्चिदित्यर्थः । 'प्रत्ययोऽधीनशपथज्ञानविश्वासहेतुषु' इत्यमरः । किन्तु दण्डेन दलिता ध्वस्ता सरघा मधुमक्षिका येनेदृशस्त्वम् । 'सरघा मधुमक्षिका' इत्यमरः । अत एव मधु क्षौद्रं सूदयन् पीडयन् मधुसूदन इति प्रथसे प्रथितोऽसि । मक्षिकासूदनमेव मधुसूदनसंज्ञाप्रवृत्तिनिमित्तं न तु मधुनाम्नो दैत्यस्य सूदनमित्यर्थः । अत्र मधुसूदनसंज्ञाया प्रसिद्धार्थनिरसनस्योत्तरवाक्यस्यान्यथा व्युत्पादनहेतुत्वाद्वाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गम् ॥ २३ ॥

मुचुकुन्दतल्पशरणस्य मगधपतिशातितौजसः ।
सिद्धमबल सबलत्वमहो तव रोहिणीतनयसाहचर्य्यतः ॥ २४ ॥

मुचुकुन्देति । हे अबल बलहीन ! कुतः मुचुकुन्दो नाम कश्चिद्राजा । यस्यासुरविजयश्रान्त्या निद्रायमाणस्य देवतावरप्रसादात् निद्राविघातकारी दृष्टिपाताद्भस्मीभवति तस्य तल्पं शय्या तदेव शरणं रक्षकं यस्य तस्य । कालयवनविद्रावितस्येति भावः । तथा मगधपतिना जरासन्धेन शातितौजसः अष्टादशकृत्वो नष्टवीर्यस्य तव रोहिणीतनयस्य बलापरनाम्नो बलभद्रस्य साहचर्यतः साहचर्य्यात् सबलत्वं सिद्धम् । न तु स्वबलसम्पत्त्येत्यर्थः । अहो कारणं विना कार्य्योदयादाश्चर्य्यम् । अत एव विभावनालङ्कारः । पुरुषैर्यशो लभ्यते इति भावः ॥ २४ ॥

छलयन्प्रजास्त्वमनृतेन कपटपटुरैन्द्रजालिकः ।
प्रीतिमनुभवसि नग्नजितः सुतयेष्टसत्य इति सम्प्रतीयसे ॥२५॥

छलयन्निति । इन्द्रजालं वेत्तीति ऐन्द्रजालिकः । अत एव कपटपटुर्वञ्चनाकुशलस्त्वं अनृतेनासत्येन प्रजाश्छलयन् वञ्चयन् इष्टं सत्यं यस्य स इष्टसत्यः प्रियसत्य इति सम्प्रतीयसे सम्यक् ख्यायसे । 'प्रतीते प्रथिताख्यातवित्तविज्ञातविश्रुताः' इत्यमरः । नग्नजितो नग्नजिन्नाम्नो राज्ञः सुतया सत्यभामया सत्यापराख्यया प्रीतिमानन्दम् अनुभवसि । सत्यायोगादिष्टसत्यो न तु सत्ययोगादिति भावः । अत्र हरेः सत्यसम्बन्धेऽपि तदसम्बन्धोक्तेः सम्बन्धे असम्बन्धरूपातिशयोक्तिः ॥ २५ ॥

धृतवान्न चक्रमरिचक्रभयचकितमाहवे निजम् ।
चक्रधर इति रथाङ्गमदः सततं बिभर्षि भुवनेषु रूढये ॥ २६ ॥

धृतवानिति । आहवे युद्धे अरिचक्रादरिसैन्याद्भयेन चकितं सम्भ्रान्तम् । 'चकितं भयसंभ्रमः' इति सज्जनः । निजमात्मीयं चक्रं सैन्यं न धृतवान् नावलम्बितवान् न रक्षितवान्

इत्यर्थ. । किं तु चक्रधर इति भुवनेषु रूढये प्रसिद्धये अदः इद रथाङ्ग चक्रापराख्य सतत बिभर्षि दधासि वृथाभारमिति भावः । 'चक्र सैन्यरथाङ्गयोः' इति हेमसज्जनौ । अयोविकारधरः चक्रधरो भवानाग्भीतचक्रावारकन्यादित्यर्थः । अत्र हरौ भगवति चक्रधारणसम्बन्धेऽप्यसम्बन्धो-क्तेरतिशयोक्ति ॥ २६ ॥

जगति श्रिया विरहितोऽपि यदुदधिसुतामुपायथाः ।
ज्ञातिजनजनितनामपदां त्वमतः श्रियः पतिरिति प्रथामगाः॥२७॥

जगतीति । श्रिया राजलक्ष्म्या विरहितोऽपि । यदूना ययातिशापाद्राज्यानधिकारित्वादिति भावः । ज्ञातिजनेन बन्धुजनेन जनित प्रवर्तित नामपद श्रीपतिरिति पारिभाषिकसज्ञाशब्दो यस्यास्ताम् उदधिसुताम् अब्धिकन्या यद्यस्मादुपायथाः उदूढवानित्यर्थ । 'विवाहोपयमौ समौ' इत्यमर । "उपाद्यमः स्वकरणे" इत्यात्मनेपदम् । 'तनादिभ्यस्तथासोः" इति सिचो लुक् । 'अनुदात्तोपदेश" इत्यादिना अनुनासिकलोपः । अतो जगति श्रिय' पतिरिति प्रथा ख्यातिमगा प्राप्तवानसि । "इणो गा लुङि" इति गादेशः । न राजान्तरवद्राजलक्ष्मीयोगात्तत्र श्रीपतित्वम् । किं तु श्रीसञ्ज्ञिकायाः कस्याश्चिद्दराक्या परिग्रहादिति भाव. । अत्रोग्रसेन-स्याभिषेकसत्कारेऽपि त्रैलोक्यप्रतिष्ठापकस्य हरेरेव सकलराज्यश्रीधुरधरत्वसम्बन्धेऽप्यसम्ब-न्धोक्तेरतिशयोक्ति ॥ २७ ॥

अभिशत्रु संयति कदाचिदविहितपराक्रमोऽपि यत ।
व्योम्नि कथमपि चकर्थ पदं व्यपदिश्यसे जगति विक्रमीत्यतः॥

अभीति । सयति युद्धे कदाचित् कदापि अभिशत्रु शत्रुमभिव्याप्य । आभिमुख्येऽव्ययीभावः । अविहितपराक्रमोऽकृतपौरुषोऽपि यद्यस्मात्कथमपि महता प्रयत्नेन व्योम्नि पद पादक्षेपं चकर्थ कृतवानसि । "ऋतो भारद्वाजस्य" इति इट्प्रतिषेधः, पित्त्वेनाकित्त्वाद्गुणः । अतो जगति विक्रमी विक्रमवानिति व्यपदिश्यसे व्यवह्रियसे न तु पराक्रमयोगादित्यर्थ । अत्रापि पराक्रम-सम्बन्धेऽपि असम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिः ॥ २८ ॥

पृथिवीं बभर्थ यदि पूर्वमिदमपि गुणाय वर्तते ।
भूमिभृदिति परहारितभूस्त्वमुदाह्रियस्व कथमन्यथा जनैः २९

पृथिवीमिति । पूर्वं प्रागपि सम्पत्संभवेऽपीति भावः । पृथिवीं बभर्थ यदि भृतवाश्चेत् । भृञो लिटि भारद्वाजीयेट्प्रतिषेधः, पित्त्वाद्गुणः । इद भूधारणमपि गुणायोत्कर्षाय वर्तते । भूतपूर्वगत्यापि व्यपदेशत्वात्तदपि नास्तीति भाव. । प्रत्युत परैः शत्रुभि' हारितभूः परिहारितभूमिकः । जरासन्धेन मथुरानगरान्निष्कासितत्वादिति भावः । अत्र हर्तुरवहरणक्षमत्वमेव हारयितृत्वमिति णिजर्थोपपत्तिः । जनैः कथमन्यथा अर्थवैपरीत्येन भूमिभृदिति उदाह्रियस्व ।

उदाह्रियेथा' सभावनाया लोट् । असंभावितमेवेत्यर्थ' । अत्रापि भूधरणसम्बन्धेऽप्यसं - - नेऽतिशयोक्तिः ॥ २९ ॥

तव धन्यतेयमपि सर्वनृपतितुलितोऽपि यत्क्षणम् ।
क्लान्तकरतलधृताचलकः पृथिवीतले तुलितभूभृदुच्यसे ॥ ३० ॥

तवेति । तव । धन्यता पुण्यवत्ता कथ सर्वैर्नृपतिभिस्तुलितोऽवधूतोऽपि तिरस्कृतोऽपी' त्यर्थ. । क्षण क्लान्ते भारवत्त्वैव श्रान्ते करतले धृत. अचलकोऽल्पाचलो येन स सन् पृथिवीतले तुलितभूभृदुद्धृतराजकश्च उच्यसे इति यत् इयमप्यपरा ते धन्यतेत्यर्थः । गोवर्द्धनाख्यक्षुद्रभूधरतोलनात्तुलितभूभृच्च भवति न मादृशामिव महावीरातितुल्नादिति भाव । अत्र सर्वनृपतितुलितोऽपि तत्तोल्क इति विरोधो भूभृदिति श्लेषमूलाभेदाध्यवसायोत्थापित इति विरोधातिशयोक्त्यो सङ्कर । तेन गोवर्द्धनोद्धरणमपि नातीवाद्भुत बाहुबलशालिनामिति वस्तु व्यज्यते ॥ ३० ॥

त्वमशक्नुवन्नशुभकर्मनिरत परिपाकदारुणम् ।
जेतुमकुशलमतिर्नरकं यशसेऽधिलोकमजयः सुतं भुवः ॥ ३१ ॥

त्वमिति । हे अशुभकर्मनिरत पापाचारपर ! अत एवाकुशलमतिर्दुर्बुद्धिस्त्व परिपाके फलकाले दारुण विचित्रपापयातनामयत्वाद्भयङ्करमित्यर्थ । नरक निरयम् । 'स्यान्नारकस्तु नरको निरयो दुर्गति· स्त्रियाम् ' इत्यमर । जेतुमशक्नुवन् पापिष्ठैर्दुर्जयत्वादिति भाव. । अधिलोक लोके । विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः । यशसे सनरकविजयीति प्रसिद्धये भुव सुत नरकाख्यम् अजय जितवानसि परलोकप्रतारणमात्रपरो न परलोकवाप्योऽसीति भाव. । अत्र निरयापराख्यनरकविजयाशक्तेर्विशेषणगत्या तज्जयस्यार्थिनो हरेर्नरकासुरविजयप्रवृत्तिहेतुकत्वात्पदार्थहेतुकङ्काव्यलिङ्गम् । तच्च नरकयो' श्लेषमूलाभेदात्तदुत्थापितमिति सङ्कर ॥ ३१ ॥

सकलैर्वपुः सकलदोष समुदितमिदं गुणैस्तव ।
त्यक्तमपगुण गुणत्रितयत्यजनप्रयासमुपयासि किं मुधा ॥ ३२ ॥

सकलैरिति । हे अपगुण निर्गुण । सकलैः सर्वैर्दोषै' समुदित युक्त तवेद वपुः सकलैर्गुणै' शौर्यादिभिस्त्यक्त सर्वगुणान्निवर्तितमेवेत्यर्थः । एव च सति गुणत्रयस्य त्यजने त्यागे यः प्रयासः तं मुधा वृथा किं किमर्थमुपयासि । मुमुक्षयेति भाव । यत्र सकलगुणस्य त्यागस्तत्र गुणत्रयस्य त्यागोऽन्तर्गत्या सिद्ध एव अन्यथा साकल्यव्याघातादित्यर्थः । स्वभावतो निर्गुणस्य परवस्तुनः कुतो गुणत्रयचिन्तेति ध्वनिः । गुणत्रयत्यागनिषेधस्य सकलैरित्यादिवाक्यार्थहेतुकत्वात्काव्यलिङ्गभेद ॥ ३२ ॥

त्वयि पूजनं जगति जाल्म कृतमिदमपाकृते गुणैः।
हासकरमघटते नितरां शिरसीव कङ्कतमपेतमूर्द्धजे ॥ ३३ ॥

त्वयीति । हे जाल्म असमीक्ष्यकारिन् । 'जाल्मोऽसमीक्ष्यकारी स्यात्' इत्यमरः । गुणैरपाकृते निरस्ते गुणहीने त्वयि पूजनं कृतं जगति हासकरं परिहासजनकम् इदं पूजनम् । अपेतमूर्द्धजे अपगतकेशे शिरसि कङ्कतं दारुदन्तादिमयः केशप्रसाधनविशेषः । 'प्रसाधनं कङ्कतिकम्' इति विश्वामरौ । कङ्कतमेव कङ्कतिका कङ्कणमिति पाठे शेखरमित्यर्थः । 'कङ्कणं शेखरे हस्तसूत्रमण्डनयोरपि' इति विश्वः । तदिव नितरामघटते न सङ्गच्छते इत्यर्थः । "नञो नलोपस्तिङि क्षेपे इत्युपसंख्यानम्" इति निन्दायां तिङ्योगेऽपि नलोपः । उपमालङ्कारः ॥ ३३ ॥

सम्प्रति राज्ञां रोषमुत्पादयन्नाह—

मृगविद्विषामिव यदित्थमजनि मिषतां पृथासुतैः।
अस्य वनशुन इवापचितिः परिभाव एष भवतां भुवोऽधिपाः ॥ ३४ ॥

मृगेति । हे भुवोऽधिपाः राजानः । मृगविद्विषां सिंहानामिव भवतां मिषतां पश्यतां भवत्सु मिषत्सु मिषतो युष्मान् अनादृत्येत्यर्थः । "षष्ठी चानादरे" इति विकल्पाद्भावलक्षणे षष्ठी । इत्थं पृथासुतैः कौन्तेयैः । पितरमेतेषां न वेद्मीति भावः । अस्य कृष्णस्य वनशुनो वनशुनकस्येव । जम्बुकस्येवेति यावत् । अपचितिः पूजा अजनि जनिता कृतेति यत् । जनेर्ण्यन्तात्कर्मणि लुङ् । एष भवतां परिभावः परिभवः । "परौ भुवोऽवज्ञाने" इति विभाषया घञ्प्रत्ययः ॥ ३४ ॥

अवधीज्जनङ्गम इवैष यदि हतवृषो वृषं ननु।
स्पर्शमशुचिवपुरर्हति न प्रतिमाननां तु नितरां नृपोचिताम् ॥ ३५ ॥

अवधीदिति । हतवृषो हतसुकृतः । 'सुकृते वृषभे वृषः' इति विश्वः । एष कृष्णो जनङ्गमश्चाण्डाल इव । 'चाण्डालप्लवमातङ्गदिवाकीर्तिजनङ्गमाः' इत्यमरः । "गमेश्च" इति संज्ञायां जनपूर्वाद्गमधातोः खच्प्रत्ययः, "अरुर्द्विषत्" इत्यादिना मुमागमः । वृषं वृषभरूपिणम् अरिष्टाख्यमसुरमवधीद्यदि हतवांश्चेत् । "लुङि च" इति हनो वधादेशः । अत एव अशुचिवपुः अशुद्धात्मा स्पर्शं नार्हति । नृपोचितां राजार्हां प्रतिमाननां पूजां तु नितरां नार्हति । स्पर्शायोग्योऽयं कथं पूज्य इत्यर्थः । उपमा ॥ ३५ ॥

यदि नाङ्गनेति मतिरस्य मृदुरजनि पूतनां प्रति।
स्तन्यमघृणमनसः पिबतः किल धर्मतो भवति सा जनन्यपि ॥ ३६ ॥

यदीति । अस्य कृष्णस्य मतिः पूतनामाम बालग्रहविशेषः तां प्रति अङ्गना इति हेतोः मृदुः कृपा दया नाजनि यदि न जाता चेत् मास्त्विति शेषः । जनेः कर्तरि लुङ् "दीपजन"

इत्यादिना चिण्प्रत्ययः । अघृणमनसो निर्घृणचित्तस्य स्तने भवं स्तन्यं पयः । "शरीरावयवाच्च" इति यत्प्रत्ययः । पिबतोऽस्य सा पूतना धर्मतः शास्त्रतो जनन्यपि माता च भवति किल खलु । स्त्रीति कृपाऽभावेऽपि मातेति जुगुप्साऽप्यस्य नास्तीत्यहो न केवलं स्त्रीहन्ता किन्तु मातृहन्ता चायं स्तनप्रदाया उपमातृत्वादिति भावः । अत्र स्तनपानस्य विशेषणगत्या जननीत्वहेतुत्वात्काव्यलिङ्गम् ॥ ३६ ॥

शकटव्युदासतरुभङ्गधरणिधरधारणादिकम् ।
कर्म यदयमकरोत्तरलः स्थिरचेतसां क इव तेन विस्मयः ॥ ३७ ॥

शकटेति । तरलश्चपलोऽयं कृष्णः शकटव्युदासः शकटासुरमर्दनं तरुभङ्गो यमलार्जुनभञ्जनं धरणिधरधारणं गोवर्द्धनोद्धरणं तान्यादिर्यस्य तत्तथोक्तं यत्कर्म अकरोत् तेन कर्मणा स्थिरचेतसां धीरचित्तानां क इव विस्मयो न कोऽपीत्यर्थः । अत्र स्थिरचेतस्कतायाः विशेषणगत्या विस्मयनिषेधहेतुत्वात्काव्यलिङ्गं वृत्त्यनुप्रासेन संसृज्यते ॥ ३७ ॥

अयमुग्रसेनतनयस्य नृपशुरपरः पशूनवन् ।
स्वामिवधमसुकरं पुरुषैः कुरुते स्म यत्परममेतदद्भुतम् ॥ ३८ ॥

अयमिति । अपरोऽन्यः ना पशुरिवेति नृपशुरित्युपमितसमासः । कार्याकार्यविवेकशून्यत्वादेवेत्यर्थः । अयं कृष्णः उग्रसेनतनयस्य कंसस्य पशून् अवन् गाः पालयन् पुरुषैरसुकरं लोकवेदविगीतत्वात् दुष्करं स्वामिवधं यत् कुरुते स्म चकारेति यावत् । एतत्परममद्भुतम् अभूतपूर्वादिति भावः । अत्र पश्ववनस्य विशेषणगत्या कंसकृष्णयोः स्वामिभृत्यभावहेतुत्वात्काव्यलिङ्गम् ॥ ३८ ॥

अष्टत्रिंशश्लोकादूर्ध्वमेते चतुस्त्रिंशच्छ्लोकाः प्रक्षिप्ताः सन्ति । ते चाटीकाविषया इति मूलभूता एवेह प्रदर्श्यन्ते–

ननु सर्व एव समवेक्ष्य कमपि गुणमेति पूज्यताम् । सर्वगुणविरहितस्य हरेः परिपूजया कुरु नरेन्द्र को गुणः ॥ १ ॥ न महानयं न च बिभर्ति गुणममतया प्रधानताम् । स्वस्य कथयति चिराय पृथग्जनताङ्गमयन्नभिमाननान्दवन् ॥ २ ॥ रहितं कलाभिरखिलाभिरकृतरससंभावनविदम् । क्षेत्रविदमुपदिशन्ति जना पुरबाह्यमेनमपन विदग्धताम् ॥ ३ ॥ अतिभूयसापि सुकृतेन दुरुपचर एव शक्यते । भक्तिशुचिभिरुपचारपरैरपि न ग्रहीतुमभियोगिभिर्नृभिः ॥ ४ ॥ व्रजति स्वतामनुचितोऽपि सविनयमुपासितो जनैः । नित्यमपरिचितचित्ततया पर एव सर्वजगतस्तथाप्ययम् ॥ ५ ॥ उपकारिणञ्चिरपकारमनरिमरिमप्रियं प्रियम् । साधुमितरमसुवं बुधमित्यविशेषतः सततमेव पश्यति ॥ ६ ॥ उपकारकस्य दधतोऽपि बहुगुणतया प्रधानताम् । दुःखमयमनिशमाप्रतो न परस्य किञ्चिदुपकर्तुमिच्छति ॥ ७ ॥ स्वयमक्रियं कुटिलमेव तृणमपि विधातुमक्षमः । भोक्तुमविरतमलज्जतया फलमीहते परकृतस्य कर्मणः ॥ ८ ॥ य इमं समाश्रयति कश्चिदुदयविणद्रोर्निराकुलम् । तस्य भवति जगतीह कुतः पुनरुद्भवो विकरणत्वमेयुषः ॥ ९ ॥ गुणवन्तम-

ध्वयमपास्य जनमखिलमव्यवस्थितैः । याति सुचिरमतिबालतया धृतिमेक एव परिवारितो जडैः ॥ १० ॥ मुक्तोऽपि सेवकजनस्य बहुदिवसखिन्नचेतसः । सर्वजनविहितनिर्विदय सकृदेव दर्शनमुपैति कस्यचित् ॥ ११ ॥ स्वजने सखिष्वनुगतेषु नियतमनुरागवत्स्वपि । स्नेहममृदुहृदयः क्षपयन्निरपेक्ष एष समुपैति निर्वृतिम् ॥ १२ ॥ क्षणमेष राजसतयैव जगदुदयदर्शितोद्यतिः । सत्त्वहितकृतमतिः सहसा तमसा विनाशयति सर्वमावृतः ॥ १३ ॥ अभिहन्यते यदभिहन्ति परितपति यच्च ताप्यते । नास्य भवति वचनीयमिदं चपलात्मिका प्रकृतिरेव हीदृशी ॥ १४ ॥ अतिसत्त्वयुक्त इति पुम्भिरयमतिशयेन वर्ण्यते । सूक्ष्ममतिभिरथ चापगते समुपैति नाल्पमपि सत्त्वमकरन् ॥ १५ ॥ प्रलय परस्य महतोऽपि निरतमिह निस्सुखे गुणाः । यान्ति जगदपि सदोपमद स्वकञ्चैव पश्यति गुणान् द्विषन्नयम् ॥ १६ ॥ क्षितिपीठमम्भसि निमग्नमुदहरत य. परः पुमान् । एष किल स इति कैरखुवैरभिधीयमानमपि तत्प्रतीयते ॥ १७ ॥ नरसिंहमूर्तिरयमेव दितिसुतमदारयन्नखैः । आप्तजनवचनमेतदपि प्रतिपत्तुमोमिति जनोऽयमर्हति ॥ १८ ॥ अपहाय तुङ्गमपि मानमुचितमवलम्ब्य नीचताम् । स्वार्थकरणपटुरेष पुरा बलिना परेण सह सम्प्रयुज्यते ॥ १९ ॥ क्रमते नभोरभसयैव विरचयति विश्वरूपताम् । सर्वमतिशयगत कुरुते स्फुटमिन्द्रजालमिदमेष मायया ॥ २० ॥ किल रावणारिरयमेव किमिदमियदेवमिष्यते । सत्त्वमधिबलमधिधृति यत्तदशेषमेष इति धृष्टमुच्यताम् ॥ २१ ॥ चलतैव पादयुगलेन गुरुशकटमीषदस्पृशत् । दैवकल्पितमथवोदलनदलितोरुभाण्डचयमात्मनैव तत् ॥ २२ ॥ स्तुवतामुना स्तनयुगेन जनितजननीजनादरा । स्त्रीति सदयमविधाय मनस्तदकारि साधु यदवाति पूतना ॥ २३ ॥ अभनक्तरुकथमिदंपि कृतवरणिरिङ्गणः क्षणात् । बाढमिदमपि न बालकृत ननु देवताविधिरयं विजृम्भते ॥ २४ ॥ विहरन्वने विजन एव महति दधदेष गोपताम् । नाम जगति मधुसूदन इत्यगमद्धतेन मधुना महीयसा ॥ २५ ॥ अविमृश्य गोव्रजसमुत्थमयमवममीमरद्वृषम् । रष्टिमुपगु समुपोढमद यदसौ किलासुर इति प्रमार्ष्टि तत् ॥ २६ ॥ मुखकन्दरान्तरगतोऽपि विकटदशनेन केशिना । नास्य सपदि यदखादि भुजस्तदहो तिरश्चि सहजैव मूढता ॥ २७ ॥ यदुदस्य बाहुमयमेकमभृत गिरिमद्भुतन्न तत् । भूरिसलिलमविषह्यमिव जलदे विमुञ्चति गवां समागता ॥ २८ ॥ किमिवात्र चित्रमयमन्नमचलमहकल्पित यदि । प्राश निखिलमखिलेऽपि जगत्युदरं गते बहुभुजोऽस्य न व्यथा ॥ २९ ॥ अमुना करेण पृथुदन्तमुसलमुदखानि दन्तिनः । तेन यदवधि स एव पुनर्बलशालिना क इव तत्र विस्मय. ॥ ३० ॥ शिशुरेव शिक्षितनियुद्धकरणमकृतक्रियः स्वयम् । मल्लमलघुकठिनांसतट न्यवधीदयेष तददृष्टकारितम् ॥ ३१ ॥ यदयुध्यमानमपि सन्तमुपहितगुरौघमाध्वसम् । कंसमभियमयमभ्यभवत्समुदा जनेन तदपि प्रशस्यते ॥ ३२ ॥ इति निन्दितु कृतवियापि वचनममुना यदाददे । स्तोतुमनिशमुचितस्य परैः स्तुतिरेव सा मधुनिघातिनोऽभवत् ॥ ३३ ॥ यदुवाच दुष्टमतिरेष परिविवदिषुर्मुर द्विषन् । इत्यर्थमपि सदसि चेदिपतेस्तदतोऽपवर्गगमनामगाद्वच' ॥ ३४ ॥

इति क्षिप्तश्लोकाः ।

इति वाचमुद्धतमुदीर्य सपदि सह वेणुदारिणा ।
सोढरिपुबलभरोऽसहनः स जहास दत्तकरतालमुच्चकैः ॥ ३९ ॥

इतीति । सोढः क्षान्तो रिपूणां बलभरो वीर्य्यातिशयो येन सः न सहत इति असहनः असहिष्णुः स चैद्य इतीत्थम् उद्धत निष्ठुर यथा तथा वाचम् उदीर्य्य सपदि वेणुदारिणा नरकात्मजेन सह दत्तः करतालः परस्परपाणिताडन यस्मिन् कर्मणि तद्यथा तथा उच्चकैस्तार जहास कृष्णदोषोद्घाटनहर्षादट्टहास चकारेत्यर्थः । स्वभावोक्तिः ॥ ३९ ॥

कटुनापि चैद्यवचनेन विकृतिमगमन्न माधवः ॥
सत्यनियतवचसं वचसा सुजनं जनाश्चलयितुं क ईशते ॥ ४० ॥

कटुनेति । माधव' कटुनापि चैद्यवचनेन विकृतिं नागमत् । गमेर्लृदित्वात् च्लेरङादेशः । तथाहि सत्ये नियतवचसम् अस्खलितवचसं सत्यमन्व सुजन के जना' वचसा तीव्रेणापीति भाव' । चलयितुमीशते शक्नुवन्ति न केऽपीत्यर्थः । 'सहिष्ये शतमागांसीति' प्रतिज्ञाभङ्गभयादसहतेति भावः । सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ ४० ॥

न च तं तदेति शपमानमपि यदुनृपाः प्रचुक्रुधुः ।
शौरिसमयनिगृहीतधियः प्रभुचित्तमेव हि जनोऽनुवर्त्तते ॥ ४१ ॥

न चेति । किञ्चेति चार्थः । तदा तत्काले इतीत्थं शपमानमाक्रोशन्तमपि । 'शपतेराक्रोशे' इति भट्टमल्लः । त चैद्यम् । यदुनृपा यादव. शौरेः कृष्णस्य समयेन सकेतेन निगृहीतधियो निरुद्धबुद्धयः सन्तो न प्रचुक्रुधुः । 'क्रुधद्रुहोरुपसृष्टयोः कर्म्म" इति कर्मत्वम् । तथाहि जनो लोकः प्रभुचित्तमेव अनुवर्त्तते । शौरिसकेतनिरुद्धबुद्धेर्यदुविशेषणगम्या क्रोधाभावहेतुत्वात् काव्यलिङ्गमर्थान्तरन्यासेन सकीर्य्यते ॥ ४१ ॥

विहितागसो मुहुरलङ्घ्यनिजवचनदामसंयतः ।
तस्य कतिथ इति तत्प्रथमं मनसा समाख्यदपराधमच्युतः ४२ ॥

विहितेति । अलङ्घ्येन निजवचनदाम्ना स्वप्रतिज्ञापाशेन सयतो बद्धोऽच्युतः मुहुर्विहितागसः पूर्वं सहस्रशः कृतापराधस्यापि तस्य चैद्यस्यापराध स एव प्रथमो यस्मिन् कर्मणि तत्प्रथमं यथा तथा कतिथः कतीनां पूरण इति "तस्य पूरणे डट्" इति डट् प्रत्ययः "षट्कतिकतिपयचतुरां थुक्" इति थुगागमः । मनसा समाख्यत् गणना चकार । "अस्यतिवक्तिख्यातिभ्योऽङ्" इति च्लेरङादेशः । अत्र प्रतिज्ञापाशबन्धनस्य विशेषणगत्या प्राचीनापराधानन्त्येऽपि तात्कालिकापराधगणनाहेतुत्वात्काव्यलिङ्गभेद. ॥ ४२ ॥

स्मृतिवर्त्म तस्य न समस्तमपकृतमियाय विद्विषः ।
स्मर्त्तुमधिगतगुणस्मरणाः पटवो न दोषमखिलं खलूत्तमाः ॥ ४३ ॥

स्मृतीति । विद्विपश्चैद्यस्य सम्बन्धि समस्तमपकृतमपकारजातम् । नपुंसके भावे क्तः । तस्य हरेः कृष्णस्य स्मृतिपथं नेयाय न प्राप । न तमपकारं सस्मारेत्यर्थः । अर्थान्तरं न्यस्यति । अविगतगुणस्मरणाः परिचितोपकारस्मृतयः उत्तमाः सज्जनाः अखिलं दोषमपकारं स्मर्तुं न पटवः खलु नालम्भवन्तीत्यर्थः । " पर्य्याप्तिवचनेष्वलमर्थेषु " इति तुमुन्प्रत्ययः । उपकारमेव स्मरन्ति साधवो नापकारमित्यर्थः ॥ ४३ ॥

नृपतावधिक्षिपति शौरिमथ सुरसरित्सुतो वचः ।
स्माह चलयति भुवं मरुति क्षुभितस्य नादमनुकुर्वदम्बुधेः ॥ ४४ ॥

नृपताविति । अथ नृपतौ चेदिपे शौरिं हरिम् अधिक्षिपति सति सुरसरित्सुतो भीष्मः मरुति प्रलयमारुते भुवं चलयति कम्पयति सति क्षुभितस्योद्वेलस्याम्बुधेर्नादमनुकुर्वत्तद्वद्गम्भीरं वचः आह स्म उवाच । " लट् स्मे" इति भूतार्थे लट् " ब्रुवः पञ्चानामादित आहो ब्रुवः" इति ब्रुवस्याहादेशः । यद्यपि ' न पादादौ खल्वादयः ' इत्याह वामनः । तथापि कविप्रौढ्या स्मशब्दस्य पादादौ प्रयोगः । उपमालङ्कारः ॥ ४४ ॥

उक्तमेवार्थं वक्तुराशयाविष्कारार्थमाह—

अथ गौरवेण परिवादमपरिगणयंस्तमात्मनः ।
प्राह मुररिपुतिरस्करणक्षुभितः स्म वाचमिति जाह्नवीसुतः ४५ ॥

अथेति । अथ शिशुपालप्रलापानन्तरं मुररिपुतिरस्करणेन हरिनिन्दया क्षुभितः कलुषमनाः जाह्नवीसुतो गाङ्गेयः गौरवेण धैर्य्येण तमात्मनः परिवादम् ' काममयम् ' ' वृथापलित' इत्यादि स्वनिन्दामपरिगणयन् इति वक्ष्यमाणप्रकारेण वाचं प्राह स्म प्रोक्तवान् । गम्यमेतत् । धीराः स्वनिन्दामेव सहन्ते न गुरुदेवादिनिन्दामिति भावः । अत्र क्षोभस्य विशेषणगत्या वचनहेतुत्वात्काव्यलिङ्गभेदः ॥ ४५ ॥

विहितं मयाद्यसदसीदमपमृषितमच्युतार्चनम् ।
यस्य नमयतु स चापमयं चरणः कृतः शिरसि सर्वभूभृताम् ॥ ४६ ॥

विहितमिति । मया अद्य सदसि सभायां विहितं कृतम् इदम् अच्युतार्चनं यस्यापमृषितमतितिक्षितमसोढमित्यर्थः । ' मृष तितिक्षायाम् ' इति धातोः कर्मणि क्तः, उपसर्गवशाद्विपरीतार्थता । अत एव मृषस्तितिक्षायामेव किच्चनिषेधादतितिक्षार्थत्वान्न गुणः " मतिबुद्धिपूजार्थेभ्यश्च " इति चकाराद्वर्तमानार्थता " क्तस्य च वर्त्तमाने " इति षष्ठी । सोऽपमन्ता पुरुषश्चापं नमयतु आरोपयतु सर्वभूभृतां भिषतामिति भावः । शिरस्ययं चरणः कृतः न्यस्तः । अयमिति भूमौ पात्यमानस्य चरणस्य हस्तेन निर्देशः । अथ कोपामर्ष इत्यनुसन्धेयम् ॥ ४६ ॥

इति भीष्मभाषितवचोऽर्थमधिगतवतामिव क्षणात् ।
क्षोभमगमदतिमात्रमथो शिशुपालपक्षपृथिवीभृतां गणः ॥ ४७ ॥

इतीति। इतीत्थं भीष्मेण भाषितस्योक्तस्य वचसोऽर्थमभिधेयं शिरसि पादन्यासरूपम् क्षणात् अधिगतवतां ग्रासवतामिव सतामित्यर्थः। शिशुपालस्य पक्षा ये पृथिवीभृतो राजानः तेषामसौ गणोऽतिमात्र क्षोभं क्रोध विकारमगमत् एतेनैषाम् आत्मविनाशावसायी रौद्रस्थायी क्रोधः प्रादुरभू-दित्युक्तम्। उत्प्रेक्षा ॥ ४७ ॥

अथैषा दशभिर्गात्रारम्भान् क्रोधानुभवानाह-

शितितारकानुमितताम्रनयनमरुणीकृतं क्रुधा ।
बाणवदनमुददीपि भिये जगतः सकीलमिव सूर्यमण्डलम् ॥

शितीत्यादि। क्रुधा क्रोधेन अरुणीकृतमत एव शिती श्यामे ये तारके कनीनिके ताभ्याम् अनुमिते अनुमापिते ताम्रे नयने यस्य तत्। 'तारकाक्ष्णः कनीनिका' इत्यमरः। सर्व-मुखस्य रक्तत्वादिति भावः। बाणो नृपस्तस्य वदनं सकील कीलाकारच्छायासहित परिधियुक्त-मिति यावत्। सूर्यमण्डलमिव जगतो भिये भयाय उददीपि प्रजज्वाल। दीप्यते. कर्त्तरि लुङि "दीपजन" इत्यादिना चिण्प्रत्यये तलुक्। अत्र नयनयोः स्वधावन्यत्यागेनारुण्यस्वीकारात्त-द्गुणः। तत्सापेक्षत्वादौत्पातिकसूर्यमण्डलोपमासङ्करः ॥ ४८ ॥

प्रविदारितारुणतरोग्रनयनकुसुमोज्ज्वलः स्फुरन् ।
प्रातरहिमकरताम्रतनुर्विषजद्रुमोऽपर इवाभवद्द्रुमः ॥ ४९ ॥

प्रवीति। प्रविदारिते अतिविकासिते अरुणतरे क्रोधादतिरक्ततरे अत एवोग्रे भयङ्करे ये नयने ते एव कुसुमे ताभ्यामुज्ज्वलो दीप्तः स्फुरन् स्वतेजसा दीप्यमानः प्रातरहिमकरताम्रतनुः प्रभातार्कारुणविग्रहः प्रसिद्धो द्रुमो द्रुमाख्यो नृपः अपरो विषजद्रुम इवाभवत् इत्युत्प्रेक्षा रूपक-संकीर्णा ॥ ४९ ॥

अनिशान्तवैरदहनेन विरहितवतान्तरार्द्रताम् ।
कोपमरुदभिहतेन भृशं नरकात्मजेन तरुणेव जज्वले ॥ ५० ॥

अनिशान्तेति। अनिशान्तोऽनिर्वाणो वैरदहनो विरोधाग्निर्यस्य तेन अत एवान्तरभ्यन्तरे आर्द्रता सारस्य विरहितवता त्यक्तवता। रहयतेः क्तवतुप्रत्ययः। कोपो मरुदिव तेनाभिहतः प्रज्वलित तेन नरकात्मजेन वेणुदारिणा तरुणा वृक्षेणेव भृशं जज्वले ज्वलितम्। भावे लिट्। उपमालङ्कारः ॥ ५० ॥

अभिधित्सतः किमपि राहुवदनविकृतं व्यभाव्यत ।
ग्रस्तशशधरमिवोपलसत्सितदन्तपङ्क्ति मुखमुत्तमौजसः ॥५१॥

अभीति। किमप्यभिधित्सतोऽभिधातुमिच्छतः। दधातेः सन्नन्ताल्लटः शत्रादेशः। उत्तमौ-जसो नाम राज्ञः संबंधि राहुवदनविकृत व्यात्तत्वाद्राहुवक्त्रवत् करालम्। उपलसन्ती लक्ष्यमाणा

सिता दन्तपङ्क्तिर्यस्य तन्मुखं ग्रस्तशशधरमिव सदष्टचन्द्रमिव व्यभाव्यतातर्क्यत इत्युत्प्रेक्षा ॥ ९१ ॥

कुपिताकृतिं प्रथममेव हसितमशनैरसूचयत् ।
कुलिशाग्निदलिताद्रितटध्वनि दन्तवक्रमरिचक्रभीषणम् ॥ ९२॥

कुपितेति । प्रथमं प्रागेवाकुपितावस्थायामपीत्यर्थः । कुपितस्येवाकृतिर्मुखरागो यस्येत्युपमा । अरिचक्रभीषणं परबलभयङ्करं दन्तवक्रं दन्तवक्रनामानं राजानम् अशनिदलितस्य वज्राहतस्याद्रितटस्य ध्वनिरिव ध्वनिर्यस्य तदित्युपमा । न शनैरशनै उच्चैर्हसितमट्टहासः सक्रुधमसूचयत् । सर्वदा मुखरागस्य विशेषणादनुभावान्तरवेद्यः क्रुद्ध इत्यर्थः । अत्र कोपव्यञ्जकसम्बन्धेऽप्यसम्बन्धोक्तरतिशयोक्तिरुपमासङ्कीर्णा ॥ ९२ ॥

प्रतिघः कुतोऽपि समुपेत्य नरपतिगणं समाश्रयत् ।
यामिहरणजनितानुशयः समुदाचचार निज एव रुक्मिणः ॥९३॥

प्रतिघ इति । प्रतिघः कोपः । 'कोपक्रोधामर्षरोषप्रतिघाः' इत्यमरः । कुतोऽपि समुपेत्यागत्य नरपतिगणं राजमण्डलं समाश्रयत समाविशत् । रुक्मिणस्तु यामिः स्वसा । 'यामिः स्वकुलस्त्रियोः' इत्यमरः । तस्या रुक्मिण्या हरणेन जनितोऽनुशयो हा कष्टमापन्नं कदा निर्यातयामीति अनुतापो यस्मिन्सः । 'अथानुशयो दीर्घद्वेषानुतापयोः' इत्यमरः । निजो नित्य एव प्रतिघः । 'निजमात्मीयनित्ययोः' इति विश्वः । समुदाचचार समुद्दिदीपे । भीष्मवाक्यमन्येषां कोपोत्पादकमासीत् । रुक्मिणस्तु प्रागेवारूढकोपस्योद्दीपकमासीदित्यर्थः । अत्रानुशयस्य विशेषणगत्या कोपोद्दीपनहेतुत्वात्काव्यलिङ्गभेदः ॥ ९३ ॥

चरणेन हन्ति सुवलः स्म शिथिलितमहीध्रबन्धनाम् ।
तीरतरलजलराशिजलामवभुग्नभोगिफणमण्डलां भुवम् ॥ ९४॥

चरणेनेति । सुवलो नाम राजा महीं धारयन्तीति महीध्राः पर्वताः । कप्रकरणे "मूलविभुजादिभ्य उपसङ्ख्यानम्" इति कप्रत्ययः । शिथिलितानि विश्लेषितानि महीध्राणां बन्धनानि सन्धयो यस्यास्ताम् । तीरेण तरलानि भूकम्पाच्चलितानि जलराशेरम्बुधेर्जलानि यस्यास्ताम् । अवभुग्नं कुटिलम् अतिभारादित्यर्थः । भोगिनां फणिनां फणमण्डलं फणसमूहो यस्यास्तां भुवं चरणेन हन्ति स्म जघान । "लट् स्मे" इति भूतार्थे लट् । अत्र पादाघातादेः कम्पासम्बन्धेऽपि तत्सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिः ॥ ९४ ॥

कुपितेषु राजसु तथापि रथचरणपाणिपूजया ।
चित्तकलितकलहागमनो मुदमाहुकिः सुहृदिवाधिकां दधौ ॥९५॥

कुपितेष्विति । रथचरणपाणेः चक्रपाणेः पूजया राजसु तथा कुपितेष्वपि चित्ते कलिन निश्चित कलहागमनं युद्धलाभो येन सः आहुकिर्नाम राजा शोभन हृदय यस्य स सुहृत् मित्रमिव कृष्णपक्षपातीत्यर्थः । "सुहृद्दुर्हृदौ मित्रामित्रयोः" इति निपातः । अधिका मुद दधौ सन्तोष धत्तवान् । सुदुस्सहोऽपि कृष्णोत्कर्षः कलहकण्डूलत्वाहोराहुकेर्मोदहेतुरासीदित्यर्थः । उपमालङ्कारः ॥ ९९ ॥

गुरुकोपरुद्धपदमापदसितयवनस्य रौद्रताम् ।
व्यात्तमशितुमिव सर्वजगद्विकरालमास्यकुहरं विवक्षतः ॥९६॥

गुर्वीति । विवक्षतः किमपि वक्तुमिच्छतः । वचे सन्नन्ताल्लटः शत्रादेशः । असितयवनस्य कालयवनस्य राज्ञः सम्बन्धि सर्वजगदशितुमत्तुमिव व्यात्त विवृतम् अत एव विकरालम् अतिविकृतम् । 'करालो दन्तुरे तुङ्गे विशाले विकृतेऽपि च' इति वैजयन्ती । गुरुणा कोपेन रुद्धपद प्रतिबद्धवचनम् हास्यकुहरं वक्त्र विवर रौद्रता भयङ्करतामापत् । अत्राशितुमिवेति फलोत्प्रेक्षा व्यादानक्रियानिमित्ता ॥ ९६ ॥

विवृतोरुबाहुपरिघेण सरभसपदं निधित्सता ।
हन्तुमखिलनृपतीन्वसुना वसने विलम्बिनि निजे विचस्खले ॥९७॥

विवृतेति । अखिलनृपतीन् हन्तु विवृत' प्रसारित' उरुबाहुरेव परिघ आयुधविशेषो येन तेन । 'परिघ' प्रतिघातेऽस्त्री' इति हेमः । सरभस सत्वर यत्पाद तन्निधित्सता निधातुमिच्छता । दधातेः सन्नन्ताल्लटः शत्रादेशः । वसुना तन्नाम्ना राज्ञा विलम्बिनि उत्पातवेगात् विस्रंसिनि निजे वसने स्वाम्बरे विचस्खले स्खलितम् । तद्वधस्य दुर्निमित्तमिति भावः । भावे लिट् । अत्र वस्त्रस्रंसनस्य विशेषणगत्या स्खलनहेतुत्वात्काव्यलिङ्ग तद्बाहुपरिघेति रूपकेण संसृज्यते ॥ ९७ ॥

इति तत्तदा विकृतरूपमभजत्तदभिन्नचेतसम् ।
मारबलमिव भयङ्करतां हरिबोधिसत्त्वमभि राजमण्डलम् ॥९८॥

इतीति । इतीत्थ तदा तस्मिन् काले विकृतरूप रोषभीषणाकार तद्राजमण्डल मारबलमिव मदनसैन्यमिव । 'मदनो मन्मथो मारः' इत्यमरः । अभिन्नचेतसमविकृतचित्त बोधिसत्त्वो बुद्धः । 'बुद्धस्तु श्रीघनः शास्ता बोधिसत्त्वो विनायकः' इति वैजयन्ती । स हरिरिवेत्युपमितसमासः । त हरिबोधिसत्त्वमभि तत्समक्षमित्यर्थः । "अभिरभागे" इत्यभेः कर्मप्रवचनीयत्वात्तद्योगे द्वितीया । भयकरोतीति भयङ्करः । "मेघर्तिभयेषु कृञः" इति खच्प्रत्यये मुमागमः । तस्य भावस्तत्तामभजत् । उपमालङ्कारः । तेन भगवतो बुद्धस्य समाधिभङ्गाय प्रवृत्तं मारबल यथा तेन भग्न तथा राजमण्डलमपि हरिणा भज्यत इति वस्तु व्यज्यते ॥ ९८ ॥

रभसादुदस्थुरथ युद्धमनुचितमियोऽभिलाषुकाः ।
सान्द्रमुकुटकिरणोच्छलितस्फटिकांशवः सदसि मेदिनीभृतः॥५९॥

रभसादिति । अथानन्तरम् अनुचितमियोऽनभ्यस्तसाध्वसाः । 'अभ्यस्तेऽप्युचितम्' इति यादवः । अत एव युद्धमभिलाषुकाः युद्धार्थिनः । "लषपत" इत्यादिना उकञ् प्रत्यये "न लोका" इत्यादिना षष्ठीप्रतिषेधः । सदसि मेदिनीभृतः सदसि स्थिताः चैद्यपक्षीया राजानः सान्द्रैर्मुकुटकिरणैरुच्छलिताः स्फटिकांशवः सभाभित्तिस्फटिकमणिमयूखाः यैस्ते तथोक्ताः सन्तो रभसाद्वेगात् उदस्थुरुत्थिताः । "उदोऽनूर्ध्वकर्मणि" इत्यस्य प्रत्युदाहरणमेतत् । अत्र युद्धाभिलाषुकस्य विशेषणगत्योत्थानहेतुत्वात्काव्यलिङ्गभेदः ॥ ५९ ॥

स्फुरमाणनेत्रकुसुमोष्ठदलमभृत भूभृदङ्घ्रिपैः ।
धूतपृथुभुजलतं चलितैर्द्रुतवातपातवनविभ्रमं सदः ॥ ६० ॥

स्फुरमाणेति । स्फुरमाणानि नेत्राण्येव कुसुमान्योष्ठा एव दलानि च यस्मिन् कर्मणि तद्यथा तथा धूताः कम्पिताः पृथवो भुजा एव लताः शाखा यस्मिन् कर्मणि तत् यथा तथा चलितैः भूभृतो राजानस्त एव अङ्घ्रिपा पादपास्तैः सदः सभामण्डपं द्रुतः शीघ्रो वातपातो वायुप्रचारो यस्य तस्य वनस्य विभ्रमं शोभाम् । 'विभ्रमः संशये भ्रान्तौ शोभायां च' इति वैजयन्ती । अभृत बभार । भृञो लुङि तङ् । "उश्च" इति सिचः कित्त्वाद्गुणाभावः, "ह्रस्वादङ्गात्" इति सलोपः । अत्र वनविभ्रममिति सादृश्याक्षेपादसम्भवद्वस्तुसम्बन्धा निदर्शना नेत्रकुसुमेत्यादिरूपकोत्थापितेति सङ्करः ॥ ६० ॥

हरिमप्यमंसत तृणाय कुरुपतिमजीगणन्न वा ।
मानतुलितभुवनत्रितयाः सरितः सुतादबिभयुर्न भूभृतः ॥ ६१ ॥

हरिमिति । मानतुलितभुवनत्रितया अहङ्कारात धारितजगत्त्रयाः भूभृतश्चैद्यपक्षा राजानः हरिमपि तृणायामसत तृणसममन्यन्त । तथा लघुं मेनिरे इति अनादरोक्तिः । मन्यतेः कर्त्तरि लुङि च्लेः सिच् अनुदात्तत्वादिट्प्रतिषेधः "मन्यकर्मणि" इत्यादिना चतुर्थी । कुरुपतिं च नाजीगणन्न धर्मराजं गणयन्ति स्मेत्यर्थः । गणेर्णौ चङि "ई च गणः" इत्यभ्यासस्येकारः । सरितः सुताद्भीष्मादपि नाबिभयुर्न भीताः । बिभीतेर्लङि "श्लौ" इति द्विर्भावे 'सिजभ्यस्तविदिभ्यश्च" इति झेर्जुसादेशः, "जुसि च" इति गुणः । अत्र राजसु हर्यवमानाद्यनेकक्रियायौगपद्यात्समुच्चयः इति सर्वस्वकारः ॥ ६१ ॥

गुरु निःश्वसन्नथ विलोलसदवथुवपुर्वचोविषम् ।
क्षीणदशनकिरणाग्निकणः फणवानिवैष विससर्ज चेदिपः॥६२॥

गुर्विति । अथैष चेदिपः फणवान् फणीव गुर्वधिकं निःश्वसन् फूत्कुर्वन् विलोलं सदवथु ससन्तापम् । 'सन्तापो दवथुरित्यनेकार्थात्' इति सज्जनः । तद्वपुर्यस्य स विलोलसदवथुवपुः ।

"द्वितोऽथुच्" कीर्णा विक्षिप्ता दशनकिरणा अग्निकणा इव यस्य सः तथा सन् वचो विषमिव तद्वचोविष विससर्ज विषप्राग वच इत्जगारेत्यर्थः । अतः फणवानिवेति व्यस्तोपमालिङ्गात्सर्वत्रोपमितसमासाश्रयणम् ॥ ६२ ॥

अथैतद्वचोविषमेव चतुर्भिराह-

किमहो नृपाः समममीभिरुपपतिसुतर्न पञ्चभिः ।

वध्यमभिहत भुजिष्यममुं सह चानया स्थविरराजकन्यया ६३

किमित्यादि । हे नृपाः ! अमीभिः पञ्चभिरुपपतिसुतैः सम जारजैः सह । पाण्डवाना क्षेत्रजत्वादित्थ प्रलापः । अनया स्थविरराजकन्यया क्षत्रियाङ्गनया च सह । 'कन्या कुमारिकानार्य्योः' इति विश्वः । भीष्मस्योर्ध्वरेतस्कत्वेन निन्दा । वध्य वधार्हम् अराज्ञो राजार्हणग्रहणापराधादिति भावः । अराजत्वं व्यनक्ति । अमु भुजिष्य किङ्कर । कसपशुपालनादिति भावः । 'भुजिष्य किङ्करो मतः' इति हलायुधः । किं नाभिहत किमिति न मार्यत । किन्तु अभिहतेत्यर्थ । हन्तेर्वधार्थे लोट्, लोटो लङ्वत्' इति थस्य तादेशः । "अनुदात्तोपदेश" इत्यादिनानुनासिकलोप. । अहो अतिवध्योऽपि न हन्यत इत्याश्चर्ये । अत्रामर्पानुभावो वागारम्भ. । 'क्रोध. कृतापराधेषु स्थिरोऽमर्ष इतीर्यते' इति क्रोधलक्षणात् ॥ ६३ ॥

अथवाऽऽध्वमेव खलु यूयमगणितमरुद्गणौजसः ।

वस्तु कियदिदमयं न मृधे मम केवलस्य मुखमीक्षितुं क्षमः ६४॥

अथवेति । अथवा अगणितमरुद्गणौजस अवधीरितसुरसंघब. ।. यूयमाध्वमेव तूष्णी तिष्ठतैव खलु । आस्तेर्लोटि 'धि च'' इति सकारलोप । इद कृष्णहनन । कियद्वस्तु कियत्कार्य्यम् अल्पमित्यर्थः । कुतः । अय कृष्णो मृधे युद्धे । मृधमास्कन्दन सख्यम्' इति युद्धपर्यायेष्वमरः । केवलस्यैकाकिनो ममैव मुखमीक्षितु न क्षम. युष्माक का वार्त्तेति भाव. । एतेनास्य बलगर्वो व्यज्यते । "आत्मोत्कर्षोऽन्यधिकारो यल्लावण्यविभूतिभि." इति लक्षणात् ॥ ६४ ॥

विदतुर्यमुत्तममशेषपरिषदि नदीजधर्मजौ ।

यातु निकषमधियुद्धमसौ वचनेन किं भवतु साध्वसाधुवा ६५॥

विदतुरिति । किञ्च नदीजधर्मजौ भीष्मयुधिष्ठिरौ अशेषपरिषदि समग्रससदि । 'परिषत् संसत्' इति विश्व. । य कृष्णमुत्तम विदतुर्विदितवन्तावित्यर्थः । "विदो लटो वा" इति तसोऽतुसादेश. । असौ कृष्णः अधियुद्ध युद्धे । विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः । निकष निकषण यातु परीक्ष्यतामित्यर्थः । ततः साधूत्कर्षोऽसाध्वनुत्कर्षो वा भवतु व्यक्तमस्त्वित्यर्थः । वचनेन किं वृथा वाग्वीर्य्यैरलमित्यर्थः । अत्रापि गर्वामर्षौ व्यज्येते ॥ ६५ ॥

अचिरान्मया सह गतस्य समरमुरगारिलक्ष्मणः ।

तीक्ष्णविशिखमुखपीतमसृक्पततां गणैः पिबतु सार्द्धमुर्वरा ६६॥

अचिरादिति । किञ्च मया सह समर गतस्योरगारिलक्ष्मण, गरुडध्वजस्य सम्बन्धि तीक्ष्णैर्विशिखमुखैः पीत मद्वाणोच्छिष्टमित्यर्थः । असृक् रक्तमुर्वरा भूमिः । 'उर्वरा सर्वसस्याढ्यभूमौ स्याद्भूमिमात्रके' इति विश्वः । पतता गणैः पक्षिसमूहैः । 'पतत्पत्ररथाण्डजा.' इत्यमरः । सार्धमचिरात् पिबतु । अद्यैवाहमेन हनिष्यामीत्यर्थ. । अत्रापि अमर्ष एवेति भावः ॥ ६६ ॥

अभिधाय रूक्षमिति मा स्म गम इति पृथासुतेरिताम् ।
वाचमनुनयपरां स ततः सहसावकर्ण्य निरियाय संसदः॥६७॥

अभिधायेति । स चैच इतीत्थं रूक्ष परुषमभिधाय ततः पृथासुतैः पार्थैरीरितामुक्तामनुनयपरा मा स्म गमो न गच्छेति वाचम् । "स्मोत्तरे लङ् च" इति चकाराद्गमेराशिषि लुङि पुषादित्वात् च्लेरङादेश "न माङ्योगे" इत्यडभावः । अवकर्ण्य अनादरेण श्रुत्वा सहसा संसद. सदसो निरियाय निर्ययौ अमर्षादेवेति भावः ॥ ६७ ॥

गृहमागताय कृपया च कथमपि निसर्गदक्षिणाः ।
क्षान्तिमहितमनसो जननीस्वसुरात्मजाय चुकुपुर्न पाण्डवाः६८

गृहमिति । निसर्गदाक्षिणाः स्वभावतो दाक्षिण्यसम्पन्नाः परच्छन्दानुवर्तिन इत्यर्थः 'त्रिषु वाक्कुशलावामपरच्छन्दानुवर्तिषु । दक्षिणा' इति वैजयन्ती । किञ्च क्षान्त्या क्षमया महितमनसः पूजितचित्ताः क्षमावन्तः पाण्डवा । किञ्च गृहमागतायाभ्यागतायेत्यर्थः । किञ्च जननीस्वसुर्मातृष्वसुरात्मजाय शिशुपालाय कृपया च कथमपि असह्यापराधेऽपीत्यर्थः । न चुकुपुः न चुक्रुधु । सद्यो वध्यस्यापि तस्याभ्यागतत्वात् मातृबन्धुत्वात् स्वयं क्षान्तत्वात् दाक्षिण्यात् कृपया च कथमपि जिघांसा न चक्रुरित्यर्थः । 'क्रुधद्रुह' इत्यादिना सम्प्रदानत्वाच्चतुर्थी । अत्राभ्यागतत्वादिविशेषणाना साभिप्रायत्वादकोपहेतुत्वाच्च परिकरः । काव्यलिङ्गे सति सापेक्षत्वात् संकीर्यते ॥ ६८ ॥

चलितं ततोऽनभिहतेच्छमवनिपतियज्ञभूमितः ।
तूर्णमथ ययुमिवानुययुर्दमघोषसूनुमवनीशसूनवः ॥ ६९ ॥

चलितमिति । अथ चैद्यनिर्याणानन्तरम् अवनीशसूनवः तद्गणराजपुत्रास्ततस्तस्याः अवनिपतेर्युधिष्ठिरस्य यज्ञभूमितो यज्ञभूमेर्देवयजनात् । पञ्चम्यास्तसिल् । अनभिहतेच्छमप्रतिहतमनोरथं यथा तथा चलितं प्रस्थितं दमघोषसूनुं शिशुपालम् । याति परलोकमिति ययुः । परलोकप्रापकोऽश्वमेधीयोऽश्वः । 'ययुरश्वोऽश्वमेधीयः' इत्यमरः "यो द्वे च' इति यातेरौणादिकः उक्द्वित्वं च । त ययुमिव तूर्णमनुययुः ययुरपि राजकै राजपुत्रैरन्वीयते । "चतुश्शता रक्षन्ति इति श्रुते. । अश्वमेध्याश्वोपमया चैद्यस्य वध्यत्व व्यज्यत इत्यलङ्कारेण वस्तुध्वनिः ॥ ६९ ॥

विशिखान्तराण्यतिपपात सपदि जवनैः स्ववाजिभिः ।
द्रष्टुमलघु रभसापतिता वनिताश्चकार न सकामचेतसः ॥ ७० ॥

विशिखान्तराणीति। स चैद्य. सपदि जवनैर्वेगशालिभिर्वाजिभिरश्वैर्विशिखान्तराणि रथ्यान्तराणि । 'रथ्या प्रतोली विशिखा' इत्यमरः । अतिपपात अतिचक्राम । अत एव द्रष्टुमलघुरभसेनातिवेगेनापतिता आधावन्तीर्वनिताः सकामानि साभिलाषाणि चेतांसि चित्तवृत्तयो यासा ता. सकामचेतसः सफलमनोरथा इत्यर्थ. । न चकार अतिशीघ्रलङ्घनान्न दर्शनावकाशस्तासामासीदित्यर्थः । अत एव वाक्यार्थहेतुक काव्यलिङ्गम् ॥ ७० ॥

क्षणमीक्षितः पथि जनेन किमिदमिति जल्पता मिथः ।
प्राप्य शिबिरमविशङ्कमनाः समनीनहद्द्रुतमनीकिनीमसौ॥७१॥

क्षणमिति। असौ चैद्यः पथि किमिदमिति मिथ. जल्पता कोऽयमनर्थः सवृत्त इति परस्परमालपता जनेन क्षणमीक्षितः सन् शिबिर स्वकटक प्राप्याविशङ्कितमना निःशङ्कचित्त. द्रुत शीघ्रम् अनीकिनीं सेना समनीनहत् सन्नाहयति स्म । नह्यते. सम्पूर्वकात् लुङि "णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः" अभ्यासदीर्घश्च । शिबिर शकटमिति केचित् । एतेनास्य रौद्रस्थायिनः कोपस्य प्ररूढत्व वेदितव्यम् ॥ ७१ ॥

त्वरमाणशांखिकसवेगवदनपवनाभिपूरितः ।
शैलकटकतटभिन्नरवः प्रणनाद सान्नहनिकोऽस्य वारिजः॥७२॥

त्वरमाणेति । शख शिल्पमस्येति शांखिक. । "शिल्पम्" इति ठक् । त्वरमाणस्य जवमानस्य शाखिकस्य यः सवेगो वदनपवनो मुखमारुतः तेनाभिपूरितः प्रध्मात शैलाना कटकतटेषु नितम्बपदेशेषु भिन्नरवो मूर्च्छितप्रतिध्वनिरस्य चैद्यस्य सम्बधि सन्नहन प्रयोजनमस्येति सान्नहीनकः योधाना रणसन्नाहप्रवर्त्तक इत्यर्थः। "तदस्य प्रयोजनम्" इति ठक् । वारिजः शखः । 'वारिजः शंखपद्मयोः' इति विश्वः । प्रणनाद दध्वान । सन्नहनशख दध्मावित्यथः । "उपसर्गादसमासेऽपि णोपदेशस्य" इति णत्वम् । एतेनास्य महानुत्साहो वीररसस्थायी व्यज्यते ॥ ७२ ॥

जगदन्तकालसमवेतविषदविषमेरितारवम् ।
धीरनिजरवविलीनगुरुप्रतिशब्दमस्य रणतूर्यमावधिः ॥ ७३ ॥

जगदिति । जगदन्तकाले कल्पान्ते समवेता मिलिता ये विषदास्तोयदाः पुष्करावर्त्तकाद्यो मेघाः । 'विष तु गरले तोये' इति विश्वः । तैर्विषम दारुण यथा तथेरित उत्पादितो य आरवः स इवारवो यस्य तत् । धीरे गम्भीरे निजरवे विलीना अन्तर्गता गुरव. प्रतिशब्दाः शब्दान्तराणि यस्य तत् । अस्य चैद्यस्य रणतूर्य रणदुन्दुभिराऽधि आहतम् । आहन्तेः कर्मणि लुङ् "आत्मनेपदेष्वन्यतरस्याम्" इति हनो वधादेशः । अत्राप्युत्साहो व्यज्यते । उपमालङ्कारः ॥ ७३ ॥

सहसा ससम्भ्रमविलोलसकलजनतासमाकुलम् ।
स्थानमगमदथ तत्परितश्चलितोडुमण्डलनभस्थलोपमाम् ॥७४॥

सहसेति । अथ रणदुन्दुभिताडनानन्तरं सहसा झटिति ससम्भ्रमं सव्यग्रं यथा तथा विलोलया चञ्चलया सकलया समग्रया जनतया जनसमूहेन समाकुलं सङ्कीर्णम् । तत् स्थानं परितश्चलितं प्रस्थितम् उडुमण्डले ज्योतिश्चक्रम् यस्मिन् तस्य नभःस्थलस्योपमां सादृश्यमगमत् । अत्रोडुमण्डलस्य चलनासम्बन्धेऽपि सम्भावनया तत्सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिः । उपमा तु तदुज्जीविता प्रतीतिमात्रसारा तदङ्गं तत्रैव चमत्कारस्फुरणात् । 'पुष्पं प्रवालोपहितं यदि स्यात्' इत्यादिवत् ॥ ७४ ॥

दधतो भयानकतरत्वमुपगतवतः समानताम् ।
धूमपटलपिहितस्य गिरेः समवर्मयन् सपदि मेदिनीभृतः ॥७५॥

दधत इति । मेदिनीभृतो राजानः धूमपटलेन पिहितस्य छादितस्य अत एव भयानकतरत्वम् अतिभयकरत्वम् उपगतवतो गिरेः समानतां सादृश्यं दधतो दधानाः सपदि समवर्मयन् सवर्मयन्ति स्म । सम्यग्वर्मणाऽनह्यन्नित्यर्थः । "सत्यापपाश" इत्यादिना णिच् उपमालङ्कारः ॥ ७५ ॥

परिमोहिणा परिजनेन कथमपि चिरादुपाहृतम् ।
वर्म करतलयुगेन महत्तनुचूर्णपेषमपिषद्भुपापरः ॥७६॥

परिमोहिणेति । परोऽन्यो नृप. परिमुह्यतीति परिमोही । "सम्पृचा" इत्यादिना घिनुण्प्रत्ययः । तेन खेदयुक्तेनेत्यर्थ । परिजनेन सेवकजनेन कथमपि विलम्बेन कष्टसृष्ट्या चिरादुपाहृतम् आनीतं महद्वर्म्म सन्नाहं करतलयुगेन पाणितलद्वयेन तनुचूर्णपेषं तनुचूर्णं पिष्टा । "शुष्कचूर्णरूक्षेषु पिषः" इति णमुल्प्रत्ययः । अपिषत् चूर्णितवान् । तच्च जिगीषोर्दुर्निमित्तमितिभावः । 'कषादिषु यथाविध्यनुप्रयोगः' । इत्यनुप्रयोगः । पिषेर्लुङि "पुषादि" इत्यादिना च्लेरङादेशः । अत्र वर्म्मणः पेषणासवधेऽपि तत्सम्बन्धक्तेरतिशयोक्तिः । तया च अमानुषवीर्य्यमस्य व्यज्यते ॥ ७६ ॥

रणसम्मदोदयविकासि बलकलकलाकुलीकृते ।
शारिमशकदधिरोपयितुं द्विरदे मदच्युति जनः कथञ्चन ॥७७॥

रणेति । रणेन रणारम्भेण यः सम्मदो हर्षः । "प्रमदसम्मदौ हर्षे" इति निपात. । तस्योदयेन जन्मना विकासिभिर्विस्तारिभिर्बलकलकलैः सैन्यकोलाहलैराकुलीकृते सक्षोभिते अत एव मदं च्योततीति मदच्युति मदस्राविणि । क्विप् । द्विरदे गजे । जनः परिजनः शारिं पर्य्याणम् । 'ना पर्य्याणे विहङ्गे स्त्री शारिर्द्यूतगुडे न पुम्' इति वैजयन्ती । 'शारिर्नाऽक्षोपकरणे

स्त्रिया शकुनिकान्तरे । युद्धार्थे गजपर्य्याणे व्यवहारान्तरे क्वचित्' इति विश्वप्रकाशश्च । अधिरोपयितुम् आरोपयितुम् कथञ्चन । कृच्छ्रादशकत् शशाक । शकेर्लुङि "पुषादिना" च्लेरङादेश. अत्र विशेषणगत्या सेनाकलकलस्य मदहेतुत्वान्मदस्य शारिदुरारोपत्वहेतुत्वाच्च काव्यलिङ्गद्वय तत्सापेक्षत्वात्सङ्कीर्य्यते ॥ ७७ ॥

परितश्च धौतमुखरुक्मविलसदहिमांशुमण्डलाः ।
तेनुरतनुवपुषः पृथिवीं स्फुटलक्ष्यतेजस इवात्मजाः श्रियः ७८॥

परित इति । किञ्चेति चार्थः । धौतेषु शोधितेषु मुखरुक्मेषु मुखस्य रुक्मा भरणेषु विलसत्प्रत्येक प्रतिफलदहिमांशुमण्डलमर्कबिम्बं येषां ते तथोक्ता. । अत एव स्फुटलक्ष्यमन्तर्गत्वा बहि' स्फुरित तेजोऽन्तस्सारो येषां ते इव स्थिता इत्युत्प्रेक्षा । तेजो व्याख्यात पञ्चमे तेजोनिरोधे इत्यत्र । अतनुवपुषो महाकाया श्रिय' आत्मजा अश्वा । 'ल'क्ष्मीपुत्रोऽश्व आढये च ' इति वैजयन्ती । परित' पृथ्वीं तेनुः व्याप्तवन्तः ॥ ७८ ॥

प्रधिमण्डलोद्धतपरागघनवलयमध्यवर्त्तिनः ।
पेतुरशनय इवाशनकैर्गुरुनिस्स्वनव्यथितजन्तवो रथाः ॥ ७९ ॥

प्रधीति । 'चक्रधारा प्रधिर्नेमिः ' इति हलायुध. । प्रधिमण्डलैर्नेमिवलयैरुद्धता उत्थापिता परागा पांसव एव घना मेघास्तेषां वलयानि मण्डलानि तेषां मध्यवर्तिन. गुरुभिर्नि.स्वनैः स्वनैः व्यथिता भीषिता जन्तव' प्राणिनो यैस्ते रथा अशनय' वज्रा इवाशनकैः पेतुस्तीव्रमधावन् । अत्र रथानामशनित्वेनोत्प्रेक्षा परागाणां घनत्वरूपकसापेक्षेति सङ्कर' ॥७९॥

दधतः शशाङ्कितशशाङ्करुचि लसदुरश्छदं वपुः ।
चक्रुरथ सह पुरन्ध्रिजनैरयथार्थसिद्धि सरकं महीभृतः ॥ ८० ॥

दधत इति । लसन्नुरश्छद' कवचो यस्मिन् कर्म्मणि तद्यथा तथा । 'उरश्छदः कङ्कटको जगर. कवचोऽस्त्रियाम् 'इत्यमर' । अत एव शशाङ्कितो मृगलाञ्छितो य. शशाङ्कः इन्दुस्तस्य रुचिरिव रुचिर्यस्येत्युपमा । तद्वपुर्दधतो दधानाः महीभृतो राजान पुरन्ध्रिजनैरङ्गनाजनै सह अयथार्था असत्या सिद्धिर्मदकार्योत्पत्तिर्यस्मिन्तदयथार्थसिद्धिरहित्र् अनिर्वृतचित्तत्वादमादक-मित्यर्थ सरकं मधुपान चक्रु. । उत्साहवर्द्धनार्थमिति भाव । मणौ शीधौ शीधुपाने सरक मधुभाजनम्' इति वैजयन्ती ॥ ८० ॥

अथासर्गसमाप्ते प्रयाणिकामन्त्रणाय प्रियानन्दनाना भटानामागामिशुच सूचिकास्ता-त्कालिकचेष्टाः वर्णयति—

दयिताय सासवमुदस्तमपतदवसादिनः करात् ।
कांस्यमुपहितसरोजपतद्भ्रमरौघभारगुरुराजयोषितः ॥ ८१ ॥

दयितायेत्यादि । दयिताय प्रेयसे उदस्त पानार्थमुत्क्षिप्त सासव समद्यम् अत एवोपहिते वासनार्थं निहिते सरोजे पतन् भ्रमरौघ एव भारस्तेन गुरु दुर्भरम् । 'गुरुस्तु वाक्पतौ श्रेष्ठे तुङ्गे पितरि दुर्भरे' इति शब्दार्णवे । कांस्य पानभाजनम् । 'कांस्योऽस्त्री पानभाजनम्' इत्यमरः । "वृतॄवदिहनिकमिकषिभ्यः स" इति कमेर्द्धातोरौणादिकः सप्रत्ययः । तस्मै हित कसीय लोहविशेषः । 'प्राक्क्रीताच्छः' इति छप्रत्ययः तस्य विकारः कांस्य पानपात्रम् । "कसीयपरशव्ययोर्यञलुकौ च" इति यञ्प्रत्यये छस्य लुक् । राजयोषित. कस्याश्चिद्राजवध्वाः सम्बन्धिन अवसादिन शैथिल्यभाज. करादपतत् । तच्च दुर्निमित्तमिति भावः । एतेनास्या भाविविरहशोकादेवाप्रसन्नदृष्टे काचिच्चिन्ता व्यज्यते । अत्रावसादभारगौरवयोर्विशेषणगत्या पात्रपातहेतुत्वात् काव्यलिङ्गम् ॥ ८१ ॥

भृशमङ्गसादमरुणत्वमविशददृशः कपोलयोः ।
वाक्यमसकलमपास्य मदं विदधुस्तदीयगुणमात्मना शुचः ॥८२॥

भृशमिति । शुचो भाविविरहभावनाप्रसूताः शोकाः अविशददृशः शोकादेवाप्रसन्नदृष्टेः । कस्याश्चिदिति शेषः । मदमपास्य तदुत्पत्ति प्रतिरुध्य तदीयं गुण तद्धर्म्म मदकार्य्यभूतमित्यर्थ. । अङ्गसादमङ्गशैथिल्य कपोलयोररुणत्वम् असकलमसमाप्त वाक्य चात्मना स्वयम् । प्रकृत्यादिभ्य उपसंख्यानात् तृतीया । भृश विदधुः करुणेन शृङ्गारस्तिरस्कृत इत्यर्थ । अत्र मदाभावेऽपि तत्कार्य्योदयात्तस्याव लोकननिमित्तकत्वोक्त्या उक्तनिमित्ताख्यो विभावनाभेद' ॥ ८२ ॥

सुदृशः समीकगमनाय युवभिरथ सम्बभाषिरे ।
शोकपिहितगलरुद्धगिरस्तरसागताश्रुजलकेवलोत्तराः ॥ ८३ ॥

सुदृश इति । अथास्मिन्नवसरे युवभिः समीकगमनाय युद्धगमनाय । 'समीक साम्परायिकम्' इत्यमरः । सुदृश' शोकपिहिते शोकावृते गले कण्ठे रुद्धगिरः प्रतिबद्धोत्तरवाचस्तथापि तरसा वेगेनागतमश्रुजलमेव केवल निर्णीतमुत्तर यासा ताः । 'निर्णीत केवल चोक्तम्' इति विश्वः । सम्बभाषिरे संभाषिता. । योद्धु गच्छाम इत्यामन्त्रिता हा कष्टमिदमेवान्तिमदर्शनमिति वाक्यभेदेऽप्यश्रुपातेनैवानक्षर दत्तोत्तराश्चासन्नित्यर्थः । अत्राप्यश्रुपाताद्दुर्निमित्तमिति भाव' । एतेन गन्तव्य चेत् गम्यता वय च युष्मत्सालोक्यकामा इत्यनिष्टविध्याभासरूपाक्षेपालङ्कारो व्यज्यते । "अनिष्टविध्याभासश्च" इति सूत्रेणेष्टनिषेधाभासवदस्यापि लक्षणात् ॥ ८३ ॥

विपुलाचलस्थलघनेन जिगमिषुभिरङ्गनाः प्रियैः ।
पीनकुचतटनिपीडदलद्वरवारबाणमुरसालिलिङ्गिरे ॥ ८४ ॥

विपुलेति । जिगमिषुभिर्युद्धाय गन्तुमिच्छुभिः प्रियैः कर्तृभिः । अङ्गनाः विपुल गरुच-लस्य स्थल तद्वद्घनेन दृढेन उरमा निजवक्षसा करणेन । पीने कुचतटे निपीडो नितरा पीडन तेन दलन्तो विदीर्यमाणा वरा श्रेष्ठा वारबाणाः कञ्चुका यस्मिन् कर्मणि तद्यथा तथा । 'कञ्चुको वारवाणोऽस्त्री' इत्यमर । आलिलिङ्गिरे आलिङ्गिता । अत्र वारबाणाना दलनास-म्बन्धेऽपि तत्सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिः ॥ ८४ ॥

न मुमोच लोचनजलानि दयितजयमङ्गलैषिणी ।
यातमवनिमवसन्नभुजान्न गलद्विवेद वलयं विलासिनी ॥ ८५ ॥

नेति । दयितस्य जयमगल तदर्थमगलमित्यर्थ । अश्ववासादिवदत्तर्थे षष्ठीसमास । तदि-च्छतीति तदैषिणी विलासिनी काचिदङ्गना लोचनजलान्यश्रूणि न मुमोच अश्रुपातस्यामगलत्वा-दिति भाव । अमंगल तदन्तत प्रवृत्तमेवेत्याह । यातमिति । अवसन्नभुजाच्छोकशिथिला-त्करान् गलद्गलदवनिं भुव यात प्राप्त वलय कङ्कणं न विवेद अवश्यभाविना को निवारक इति भाव । एष च दैन्यचिन्तेति अत्रावसादस्य विशेषणगत्या वलयपातहेतुत्वात्काव्य-लिङ्गम् ॥ ८५ ॥

प्रविवत्सतः प्रियतमस्य निगडमिव चक्षुरक्षिपत् ।
नीलनलिनदलदामरुचि प्रतिपादयुग्ममचिरोढसुन्दरी ॥ ८६ ॥

प्रेति । अचिरोढसुन्दरी काचिन्नवोढा स्त्री प्रविवत्सत प्रवास कर्तुमिच्छत । वसे सन्न-न्ताल्लट शत्रादेशः । प्रियतमस्य प्रतिपादयुग्म पादयुग्मे । विभक्त्यर्थेऽव्ययीभाव । नीलन-लिनदलदामरुचि नीलोत्पलमालासच्छायमित्युपमा । निगडमिव शृङ्खलमिव चक्षुर्नेत्रमक्षिपत प्रेरयदित्यर्थः । चक्षुषो दूरे पदमपि गन्तु न शशाकेत्यर्थ । तच्च दुर्निमित्तमिति भाव । प्रयाणे ह्यवलोकननिषेधात् । उक्तोपमासापेक्षा चक्षुषो निगडत्वोत्प्रेक्षेति सङ्कर ॥ ८६ ॥

व्रजतः क्व तात वजसीति परिचयगतार्थमस्फुटम् ।
धैर्यमभिनदुदितं शिशुना जननीनिभर्त्सनविवृद्धमन्युना ॥ ८७ ॥

व्रजत इति । जनन्या अपशकुनभीताया मातुर्निभर्त्सनाद्विवृद्धमन्युना । प्रवृद्धकोपेन शिशुना बालकेन हे तात जनक ! 'तातस्तु जनक पिता' इत्यमर । क्व वजसि कुत्र व्रजसि इत्यस्फुटम् उदितमुक्तम् । वदेः कर्मणि क्त "वचिस्वपि" इत्यादिना सम्प्रसारणम् । व्रजसीति सरेफपदमपाटवादरेफमुच्चारितमित्यर्थ । तथापि परिचयादभ्यासपाटवाद्गतार्थम् । पितृभ्या केव-लात्रगताभिधेयम् । वचनमिति शेष । व्रजत प्रस्थातु धैर्य प्रयाणोत्साहमभिनत् गमनका-रिणो दुर्निमित्तत्वादिति भाव । उक्त च योगयात्रायाम् । 'यानात्पुरा निपतन वृहतीव काचित् गर्भेण भारवृहती स्वपुरः स्थिता स्त्री । आगच्छ तिष्ठ कुत इत्यलमर्थवाचिशब्दाश्च राजगमने प्रति-षेधकाः । स्यु' इति । अत्र दम्पत्योर्दैन्यविषादचिन्ताशङ्कादयः सञ्चारिणोऽनुसन्धेयाः ॥ ८७ ॥

शठ नाकलोकललनाभिरविरतरतं रिरंससे ।
तेन वहसि मुदमित्यवदद्रणरागिणं रमणमीर्ष्ययाऽपरा ॥ ८८ ॥

शठेति । अपरा स्त्री रणरागिण युद्धोत्साहिन रमणं हे शठ वञ्चक ! नाकलोकललनाभिरप्सरोभिः सहेत्यर्थः । "सहयुक्तेऽप्रधाने" इति सहार्थे तृतीया "वृद्धो यूना" इतिवत् । अविरतरतमविच्छिन्नसुरत यथा भवति तथा रिरंससे रन्तुमिच्छसि । रमेः सन्नन्ताल्लट् "पूर्ववत्सनः" इत्यात्मनेपदम् । तेनाप्सरोरिरंसाकरणेन मुद वहसीति ईर्ष्यया सापत्न्याक्षमया अवदत् । अर्थाद्विरहासहनया प्रस्थानप्रतिषेधपरया व्याहृतमिदमेवास्य मरणाशंसिनी दुरुपश्रुतिरिति भावः । ईर्ष्यात्र कण्ठोक्त एव संचारी ॥ ८८ ॥

ध्रियमाणमप्यगलदश्रु चलति दयिते नतभ्रुवः ।
स्नेहमकृतकरसन्दधतामिदमेव युक्तमिति मुग्धचेतसाम् ॥ ८९ ॥

ध्रियमाणमिति । दयिते चलति प्रतिष्ठमाने सति नतभ्रुवः वध्वाः अश्रुध्रियमाणममङ्गलभिया वार्यमाणमपि । धरतेः कर्मणि लटः शानजादेशः । अगलदस्रवत् शोकातिरेकाद्धारयितुमशक्यमासीदित्यर्थः । तथाहि अकृतकरसमकृत्रिमराग स्नेहं प्रेम दधताम् अत एव अतिमुग्धचेतसाम् अत्यन्ताकपटबुद्धीनाम् इदमेवाचरण युक्तम् । अन्यथा स्नेहव्याघातेन तत्कालविरुद्धमश्रुमोचन नानुचितमिति भावः । रसस्नेहयो रागप्रेमापरनाम्नोरवस्थाभेदात् भेदः । 'रागस्तत्सम्बन्धी प्रेम तद्वियोगासहिष्णुता ' इति रससागरे । सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ ८९ ॥

सह कज्जलेन विरराज नयनकमलाम्बुसन्ततिः ।
गण्डफलकमभितः सुतनोः पदवीव शोकमयकृष्णवर्त्मनः ॥ ९० ॥

सहेति । सुतनोः शुभाङ्ग्याः गण्डफलकमभितो गण्डस्थलयोरित्यर्थः । "अभितः परितः" इत्यादिना द्वितीया । नयनकमलाम्बुसन्ततिरश्रुधारा । कज्जलेनाञ्जनेन सह शोक एव शोकमयस्तस्य कृष्णवर्त्मनः शोकाग्नेः पदवी निःसरणमार्ग इव विरराज शुशुभे । येन वर्त्मना अग्निर्गच्छति तत् कृष्णं भवतीति कृष्णवर्त्मा । अत्राप्यश्रुपात एव दुर्निमित्तमिति भावः ॥ ९० ॥

क्षणमात्ररोधि चलितेन कतिपयपदन्नतभ्रुवः ।
स्रस्तभुजयुगगलद्वलयस्वनितम्प्रति क्षुतमिवोपशुश्रुवे ॥ ९१ ॥

क्षणेति । कतिपयं च तत्पद च तत् । जातावेकवचनम् । कतिचित्पदानीत्यर्थः । पदशब्दस्य तदवच्छिन्नदेशवाचित्वादत्यन्तसयोगे द्वितीया । चलितेन प्रस्थितेन केनचिदिति शेषः । क्षणमात्ररोधि क्षणमात्रप्रतिबन्धकम् । प्राणदानैकजीविनामवसरे सत्यधिक स्थातुमनौचित्यादिति भावः । नतभ्रुवः स्रस्तानामङ्गसादेन झटिति प्रकोष्ठाग्रे पतितानां भुजयुगगलद्वलयानां

हस्तद्वयचलत्कङ्कणाना स्वनित रणत्कार प्रति प्रतिमुख श्रुतमिव उपश्रुश्रुवे उपश्रुतम् । 'क्षी क्षुत्क्षुत क्षवः पुसि ' इत्यमर. । रणत्कारे क्षुतभ्रान्त्या निवृत्त क्षणमात्रं स्थितमित्यर्थ. । अक्षुते क्षुतभ्रान्त्या भ्रान्तिमदलङ्कार । दैन्यविषादाख्याः सञ्चारिण ॥ ९१ ॥

अभिवर्त्म वल्लभतमस्य विगलदमलायतांशुका ।
भूमिनभसि रभसेन यती विरराज काचन समं महोल्कया॥९२॥

अभीति । वल्लभतमस्य प्रियतमस्याभिवर्त्माभिमार्गं विगलद्गमनादाद् स्रसमानममलमायत चाशुक वस्त्र यस्याः अन्यत्र विगलन्तो निर्गीर्यमाणा अमला उज्ज्वला आयता दीर्घीभूता अंशवो रश्मयो यस्या. सा । शेषिक कश्चन । भूमिर्नभ एव तस्मिन् भूमिनभसि रभसेन वेगेन यती यान्ती । इणः शतरि "उगितश्च" इति ङीप् । काचनाङ्गना महोल्कया समं सदृश विरराज । अत्र प्रस्थातुरग्रे स्वकान्ताया महोल्कासादृश्यभवनमेव दुर्निमित्तमिति भावः । उपमालङ्कारः ॥ ९२ ॥

समरोन्मुखे नृपगणेऽपि तदनुमरणोद्यतैकधीः ।
दीनपरिजनकृताश्रुजलो न भटीजनः स्थिरमना विचक्लमे॥९३॥

समरेति । नृपगणे समरोन्मुखेऽपि तस्य नृपगणस्यानुमरणे सहमरणे उद्यतायुक्ता अत एवैका मुख्या धीर्यस्य स दीनेनाप्यशोच्येन परिजनेन कृताश्रुजलो मुक्ताश्रुः दासीमुक्ताश्रुबिन्दुरित्यर्थ । तथापि स्वय स्थिरमना अचलितचित्तो भटीजनो भटस्त्रीलोक. । जातावेकवचनम् पुयोगादाख्यायाम्' इति ङीप् । न विचक्लमे न तत्रास । सहमृत्युप्रियाणा कुतः सत्रास इति भाव । अत्र मरणोद्योगस्य विशेषणगत्या अक्लैब्यहेतुत्वात्काव्यलिङ्गभेदः ॥ ९३ ॥

विदुषीव दर्शनममुष्य युवतिरतिदुर्लभं पुनः ।
यान्तमनिमिषमवितृप्तमनाः पतिमीक्षते स्म भृशमादृशःपथः९४

विदुषीति । युवतिः काचिदङ्गना अमुष्य पत्युर्दर्शन पुनः पश्चादतिदुर्लभम् । तस्या पुनरावृत्तेरिति भाव । विदुषी जानतीवेत्युत्प्रेक्षा । "विदेः शतुर्वसुः" इति वस्वादेश , "उगितश्च" इति ङीप् । अवितृप्तमना अवितृप्तचित्ता सती यान्तं योद्धुं गच्छन्त पतिं भर्त्तारम् आदृशः पथ आदृष्टिपथात् । दृष्टिपयातिक्रमपर्य्यन्तमित्यर्थः । आङ्मर्य्यादाभिविध्यो " इति विकल्पादाडो न समास' । भृशमनिमिष निमेषरहितं यथा तथा ईक्षते स्म ॥ ९४ ॥

सम्प्रत्युपेयाः कुशली पुनर्युधः सस्नेहमाशीरिति भर्तुरीरिता ।
सद्यः प्रसह्य स्थितयेन नेत्रयोः प्रत्याचचक्षे गलता भटस्त्रियाः ९५

सम्प्रतीति । सम्प्रतीदानीमेव कुशली अक्षत सन् युधो युद्धात्पुनः उपेयाः प्रत्यावर्त्तस्वेति सस्नेहं भर्तुरीरिता भर्त्रे प्रयुक्ता आशीराशीर्वाद' सद्य' प्रसह्य बलात् गलदम्भसा स्रवद-

श्रुणा तस्या मदक्रियास्तस्य वध्या एव । अश्नीति प्रतिषेधान्नदीत्वादाडागमः । नेत्रयोर्हितयेन प्रत्याचचक्षे प्रत्याख्याता निराकृतेत्यर्थः । अमङ्गलेनाश्रुपातेन निष्फलीकृतेत्यवश्यं भवितव्यं भवत्येवेति भावः । "वा लिटि" इति विकल्पान्न चक्षिङः ख्याञादेशः । अत्राश्रुपातस्य नेत्रविशेषणद्वारा आशीःप्रत्याख्याने हेतुत्वात्काव्यलिङ्गभेदः ॥ ९५ ॥

काचित्कीर्णा रजोभिर्दिवमनुविदधे भिन्नवक्त्रेन्दुलक्ष्मीरश्रीकाः
काश्चिदन्तर्दिश इव दधिरे दाहमुद्भ्रान्तसत्त्वाः । भ्रेमुर्वात्या
इवान्याः प्रतिपदमपरा भूमिवत्कम्पमापुः प्रस्थाने
पार्थिवानामशिवमिति पुरोभाव नार्य्यः शशंसुः ॥ ९६ ॥

इति श्रीमाघकविकृते शिशुपालवधे महाकाव्ये
पञ्चदशः सर्गः ॥ १५ ॥

काचिदिति । काचित् स्त्री रजोभिरार्तवैरङ्गसंस्कारत्यागात्पांशुभिर्वा कीर्णा । 'स्याद्रजः पुष्पमार्तवम्' इति । पांशुर्ना न द्वयो रजः' इति चामरः । दिवस्त्वौत्पातिकपांशुवर्षणाद्रजः कीर्णता । वक्त्रमिन्दुरिव अन्यत्र वक्त्रमिवेन्दुर्भिन्नास्तस्य लक्ष्म्यो यस्याः सा भिन्नवक्त्रेन्दुलक्ष्मीः । बहुवचनान्तो बहुव्रीहिः, एवमपि एकवचनान्तस्यैव लक्ष्मीशब्दस्योरःप्रभृतिषु पाठान्न तन्निमित्तः कप्रत्ययः, शैषिकस्तु वैभाषिक इत्यविरोधः । काचिन्नारी दिवमनुविदधे अनुचकार । काश्चिन्नार्य्यः दिश इवाश्रीका वीतशोभा उद्भ्रान्तसत्त्वा उद्भ्रान्तचित्ता उद्भ्रान्तजन्तुकाश्च सत्यः । अन्तरात्मनि मध्ये च दाहं सन्तापम् । अन्यत्रौत्पातिकं प्रज्वलनं दधिरे दधुः । अन्या नार्य्यो वात्या इव वातसमूहा इव । "शाखादिभ्यो यत्" इति यत्प्रत्ययः । प्रतिदिशं दिशिदिशि । "अव्ययीभावे शरत्प्रभृतिभ्यः" इति समासान्तष्टच् प्रत्ययः । भ्रेमुर्बभ्रमुः । "वा जभ्रमुत्रसाम्" इति विकल्पादेत्वाभ्यासलोपौ अपरा नार्य्यो भूम्या तुल्यं भूमिवत् कम्पमापुः इतीत्थं पार्थिवानां प्रस्थाने प्रयाणे नार्य्यो भाव्यशुभं पुरः पूर्वं शशंसुः सूचयामासुरित्यर्थः । अत्र नारीणां भाव्यशुभसूचनस्य रजोदाहादिवाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गम् । तत्र नारीणां द्युदिगाद्युपमाभिस्तद्रजोदाहादिवन्नारीरजोदाहादीनाम् अशुभसूचकत्वमित्युपमाकाव्यलिङ्गयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः । सञ्चारिणश्च पूर्ववद्विषादादयः सुगमाः । अत्र 'काश्चित्कीर्णा रजोभिर्दिवमनु विदधुर्भिन्नवक्त्रेन्दुलक्ष्म्यो निश्रीकाः काश्चित्' इति पाठे काचित्कीर्णेत्येकवचनप्रक्रमभङ्गे दोषो नास्ति । न चैवमुपमानोपमेययोर्भिन्नवचनत्वदोषः लोकेषु चन्द्रादिष्वेकत्वनियतेषु दोषबुद्ध्यनुदयात् । यथाह दण्डी 'न लिङ्गवचने भिन्ने न हीनाधिकतापि वा । उपमादूषणायालं यत्रोद्वेगो न धीमताम्' इति । स्रग्धरा वृत्तम् । 'म्रभ्नैर्यानां त्रयेण त्रिमुनियतियुता स्रग्धरा कीर्तितेयम्' इति लक्षणात् ॥ ९६ ॥

इति श्रीमहामहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचिते माघकाव्यव्याख्याने
सर्वङ्कषाख्ये पञ्चदशः सर्गः ॥ १५ ॥

षोडशः सर्गः ।

अथानन्तरसर्गे हरेश्चैद्यदूतसंवादं वर्णयति—

दमघोषसुतेन कश्चन प्रतिशिष्टः प्रतिभानवानथ ।
उपगम्य हरिं सदस्यदः स्फुटभिन्नार्थमुदाहरद्वचः ॥ १ ॥

दमघोषेत्यादि । अथ नन्त्वाहानन्तरं दमघोषसुतेन शिशुपालेन प्रतिशिष्टः प्रहितः प्रतिभानमस्यास्तीति प्रतिभानवान् अवसरोचितोत्तरस्फुरणशक्तिमानित्यर्थः । कश्चन कश्चिद् दूतः हरिं कृष्णमुपगम्य प्राप्य सदसि सभायां स्फुटौ भिन्नावर्थौ पृथगर्थौ प्रियाप्रियरूपौ यस्मिंस्तत् स्फुटभिन्नार्थं युगपदुभयार्थाभिधानकमित्यर्थः । तथैव वक्ष्यति 'उभयं युगपन्मयोदितं त्वरया सान्त्वमथेतरच्च ते' इति । अदः इदं वक्ष्यमाणं वचः उदाहरत् व्याहरत् । अस्मिन्सर्गे वैतालीयाख्यं मात्रावृत्तम् । 'षड्विषमेऽष्टौ समे कलास्ताश्च समे स्युर्नो निरन्तराः । न समात्र पराश्रिता कला वैतालीयेऽन्ते रलौ गुरुः' इति लक्षणात् ॥ १ ॥

स्फुटभिन्नार्थमुदाहरद्वच इत्युक्तं तदेव चतुर्दशभिः श्लोकैरभिधत्ते—

अभिधाय तदा तदप्रियं शिशुपालोऽनुशयम्परङ्गतः ।
भवतोऽभिमनाः समीहते सरुषः कर्त्तुमुपेत्य माननाम् ॥ २ ॥

अभिधायेत्यादि । शिशुपालस्तदा अर्थस्वीकारकाले तत्तादृशमप्रियमभिधाय परमनुशयम् अनुतापं गतः अभिमनाः उत्कण्ठितचित्तः सन् उपेत्यागत्य सरुषः समन्योर्भवतस्तव माननां पूजां कर्तुं समीहते अनुनेतुमिच्छतीत्यर्थः । अयं मधुरोऽर्थः । परुषस्तु तदा तदप्रियमभिधाय परम् अनुशयं केवलं न शक्तव्यः किन्तु हन्तव्यश्चेति दीर्घद्वेषं गतः प्राप्तः । 'रन्ध्रे शब्देऽथानुशयो दीर्घद्वेषानुतापयोः' इत्युभयत्राप्यमरः । अत एव नास्ति भीर्यस्येत्यभि निर्भीकं मनो यस्य सोऽभिमनाः निःशङ्कचित्तः सन् उपेत्य स्वयमागत्य सरुषः सकोपस्य भवतो माननां हननं कर्तुं समीहते । 'मानना हनने माने' इत्युभयत्रापि केशवः । भवन्तं हन्तुमिच्छतीत्यर्थः । 'मन स्तम्भे' इति धातोश्चौरादिकात् ल्युट् णिचो लुक् । अत्र चतुर्दशश्लोक्यां परहृदयपरीक्षापराणां दूतानां प्रियाप्रिये द्वे अपि वक्तव्ये चमत्काराय तु श्लेषभङ्ग्याभिधीयेते इति प्रियाप्रिययोर्द्वयोरपि प्रकृतत्वादभिधेयत्वाच्छन्दमात्रसाधर्म्याच्च केवलप्रकृतगोचरः श्लेषः । 'गतप्रकृताप्रकृतोभयमुक्तेश्चेच्छब्दमात्रसाधर्म्यं श्लेषोऽयम्' इति लक्षणात् । न चोभयगतः निन्दास्तुत्योरन्यतरगम्यतया तदुत्थापनात् इह 'उभयं युगपन्मयोदितं त्वरया सान्त्वमथेतरच्च ते' इति वक्ष्यमाणलिङ्गादुभयोर्वाच्यत्वावगमादित्यलं प्रपञ्चेन ॥ २ ॥

विपुलेन निपीड्य निर्दयं मुदमायातु नितान्तमुन्मनाः ।
प्रचुराधिगताङ्गनिर्वृतिस्परितस्त्वां खलु विग्रहेण सः ॥ ३ ॥

विपुलनेति । उन्मनाः उत्सुकचेताः स चैद्यः परितः प्रचुर प्रभूत यथा तथा अधिगता प्राप्ता अङ्गनिर्वृतिः सुहृत्स्पर्शकृतमङ्गसुख येन त त्वां विपुलेन विशिष्टपुलकेन । 'पुलः स्यात्पुलके नापि पुल तु विपुलेऽन्यवत्' इति विश्व । विग्रहेण वपुषा निर्दय गाढ निपीड्यालिङ्ग्य नितान्त मुदमायातु खलु । परुपस्तु । उन्मना मनस्वी स चैद्यः प्रचुरेणाधिना मनोव्यथया गताङ्गनिर्वृतिं विगतशरीरसौख्य त्वा विपुलेन महता विग्रहेण समरेण 'विग्रहः समरे काये' इति विश्वः । निर्दय निष्कृप निपीड्य हत्वा मुदमायातु ॥ ३ ॥

प्रणतः शिरसा करिष्यते सकलैरेत्य समं धराधिपैः ।
तव शासनमाशु भूपतिः परवानद्य यतस्त्वयैव सः ॥ ४ ॥

प्रणत इति । भूपतिः चैद्यः सकलैर्धराधिपैः सम सह एत्यागत्य शिरसा प्रणतः प्रणाम कृतवान् । कर्त्तरि क्तः । आशु तव शासनमाज्ञा करिष्यते त्वदाज्ञाकरो भविष्यति । कुतः यतः स चैद्योऽस्मिन् अवसरे त्वयैव परवान् त्वदेकपरतन्त्रः । परुपस्तु । शिरसा प्रणतो नमस्कृतो नराधिपैरिति भावः कर्मणि क्तः । भूपतिस्तव शासन शास्तिं शिक्षा करिष्यते यतस्त्वयैव परवान् शत्रुवान् त्वमेक एवास्य शत्रुरवशिष्ट इति भावः । अन्यत्समम् । 'शासन राजदत्तोर्व्या लेखाज्ञा-शास्त्रशास्तिपु' इति विश्वः ॥ ४ ॥

प्रणामे हेतुमाह—

अधिवह्निपतङ्गतेजसो नियतस्वान्तसमर्थकर्मणः ।
तव सर्वविधेयवर्तिनः प्रणतिं बिभ्रति केन भूभृतः ॥ ५ ॥

अधीति । अधिगत वाहेपतङ्गयोरग्निभान्वोरिव तेजो येन तस्य तत्तुल्यतेजसः इत्यर्थः । नियतस्वान्तो नियतचित्तः स चासौ समर्थकर्मा च । खञ्जकुब्जवद्विशेषणसमासः । तस्य तथोक्तस्य सर्वे विधेयवार्त्तिनो वशवार्त्तिनः कर्म्मकरा यस्य तस्य तव के भूभृतः प्रणतिं नतिं न विभ्रति । सर्वेऽपि विभ्रतीत्यर्थः । परुपस्तु । प्रणामे हेतुमाह । अधिवह्नि अग्नौ पतङ्गस्य शलभस्येव तेजः पौरुष यस्य तस्य । 'पतङ्गः शलभे भानौ' इति विश्वः । नियते अव्यभिचारे स्वान्ते स्वविनाशे समर्थं हेतभूत कर्म्म यस्य तस्य सर्वेषां विधेये वर्त्तते विधेयं वर्त्तयति वा सर्व विधेयवर्त्तिनः सर्वकिङ्करस्य निष्पौरुषस्य तव केन गुणेन भूभृतः प्रणति विभ्रति न केनापीत्यर्थः ॥ ५ ॥

जनताम्भयशून्यधीः परैरभिभूतामवलम्बसे यतः ।
तव कृष्ण गुणास्ततो नरैरसमानस्य दधत्यगण्यताम् ॥ ६ ॥

जनतामिति । हे कृष्ण हे हरे ! भयशून्यधीर्निर्भीकचित्तः सन् परैः शत्रुभिरभिभूता जनतां जनसमूहम् । "ग्रामजन" इत्यादिना समूहे तल् प्रत्यय. । यतोऽवलम्बसे परिगृह्णासि रक्षसीत्यर्थः । ततो हेतोर्नरैरसमानस्य सर्वोत्कृष्टस्य तव गुणाः आर्त्तभूभरणादयः अगण्यतामसंख्येयता दधति । परस्तु । हे कृष्ण मलिनात्मक ! भयशून्यधीर्मूढबुद्धिः परैस्त्वदन्यै । 'पर दूरान्यमुख्येषु परोऽरिपरमात्मनोः' इत्युभयत्रापि वैजयन्ती । अभिभूताम् अवधीरिता जनता पशुपालनपारतन्त्र्यादिना पृथग्जनत्वम् । भावेऽर्थे तल्प्रत्ययः । यतोऽवलम्बसे आश्रयसि । ततो नरैरसमानस्य ततोऽपि हीनस्येत्यर्थः । तव गुणाः लेशतः स्वभावतोऽपीति भाव. । अगण्यतामनादरणीयता दधति ॥ ६ ॥

अहितादनपत्रपस्त्रसन्नतिमात्रोज्झितभीरनास्तिकः ।
विनयोपहितस्त्वया कुतः सदृशोऽन्यो गुणवानविस्मयः ॥७॥

अहितादिति । त्वया सदृशोऽन्यो गुणवान् गुणाढय. कुतः । न कुत्रापीत्यर्थः । कुतस्त्वम् अहितादनर्थात्त्रसन् अधर्मभीरुरित्यर्थः । अपत्रपो निस्त्रपो न भवतीति अनपत्रपस्त्रपावान् । अकार्य्यजुगुप्सुरित्यर्थः । अतिमात्रमत्यन्तमुज्झितभीस्त्यक्तारिभय इत्यर्थः । न अस्ति मतिरस्येति नास्तिकः नास्तिपरलोकः । "अस्तिनास्तिदिष्ट मतिः" इति ठक् । स न भवतीत्यनास्तिकः आस्तिक इत्यर्थः । विनयेनानौद्धत्येनोपहितो विशिष्टः विनयवानित्यर्थः । विस्मयो विशिष्टगर्वो न भवतीति अविस्मयोऽगर्वः । परस्तु । त्वया सदृशोऽन्यो गुणवान्न भवतीत्यगुणवान् निर्गुणः कुतः कुत्र । न कुत्रापीत्यर्थ । कुत. त्वमहिताच्छत्रोस्त्रसन् भीरुः । नास्ति अपत्रपा लज्जाविशेषो यस्येत्यनपत्रपः निर्लज्ज' । 'लज्जा सापत्रपान्यतः' इत्यमरः । नतिमात्रेण प्रणामेनैवोज्झितभीरपाकृतारिभयः । न तु पराक्रमेणेति भाव. । अस्ति मतिरस्येत्यास्तिकोऽस्तिपरलोक' । पूर्ववत् ठक् । स न भवतीत्यनास्तिकः नास्तिक इत्यर्थः । विनयो नयातीतः । अपहितो हितादपेतः विस्मयो विगर्वो न भवतीति अविस्मयो गर्वी गर्वयुक्त इत्यर्थः । अत्राहितादित्यर्थश्लेषः । अन्यत्र शब्दश्लेष इत्यनयोः सङ्करः ॥ ७ ॥

कृतगोपवधूरतेर्घ्नतो वृषमुग्रे नरकेऽपि सम्प्रति ।
प्रतिपत्तिरधः कृतैनसो जनताभिस्तव साधु वर्ण्यते ॥ ८ ॥

कृतेति । गोप्य एव वध्वो गोपवध्वः । "स्त्रियाः पुंवत्" इत्यादिना पुंवद्भावः । तासु रतिः कृता येन तस्य गोपीजनवल्लभस्येत्यर्थः । वृष वृषभरूपिणम् अरिष्टाख्यम् असुर घ्नतो मारयतः । हन्तेर्लटः शत्रादेशः । अधःकृतैनसो निरस्तकल्मषस्य तवोग्रे भयङ्करे नरके नरकासुरे प्रतिपत्तिः प्रवृत्तिः पुरस्कार इति यावत् । सम्प्रति जनताभिर्जनसमूहैः साधु वर्ण्यते । अहो महद्दुष्कर कृतमित्युपश्लोक्यते परस्तु । गोपाना वधूषु रति. कृता येन तस्य॰ पारदारिकस्य वृष धर्म्म वृषभ वा घ्नतः 'सुकृते वृषभे वृषः' इति विश्वः । अत एव कृतैनस. पापकृतः तेन उग्रे दारुणे नरके निरये अधः प्रतिपत्तिरधः प्राप्तिः । 'प्रतिपत्तिः पदप्राप्तौ पौरुषे गौरवेऽपि च ' इति विश्वः । जनताभिः

साधु वर्ण्यते दुस्तरोऽस्य पापिष्ठस्य नरकपात इत्युद्धोष्यते इत्यर्थः । अत्र गोपपारदारिकोऽप्यघः कृतैना इति विरोधाभासः श्लेषेण सङ्कीर्य्यते ॥ ८ ॥

विहितापचितिर्महीभृता द्विषतामाहितसाध्वसो बलैः ।
भव सानुचरस्त्वमुच्चकैर्महतामप्युपरि क्षमाभृताम् ॥ ९ ॥

विहितेति । सहानुचरैः सानुचरः सभृत्यो महीभृता चैद्येन विहितापचितिः कृतपूजः । लोकवेदयोः सानुचरस्यैव राज्ञः पूज्यत्वप्रसिद्धेरिति भावः । अतएव बलैः सैन्यैर्द्विषतां शत्रूणामाहितसाध्वसो जनितभयः सन् महतामपि क्षमाभृतां राज्ञामुपरि उच्चकैरुन्नतस्त्वं भव सर्वोत्कर्षेण वर्त्तस्व । परत्रस्तु । महीभृता चैद्येन विहितापचितिः कृतहानिः । 'भवेदपचितिः पूजाव्ययहानिषु निष्कृतौ' इति विश्वः । अतएव द्विषतां बलैराहितसाध्वसो भीषितः सन्महतां क्षमाभृतां भूधराणामुपरि सानुषु चरतीति सानुचरः स भव । "चरेष्टः" । अत्रापि शब्दार्थश्लेषसङ्करः ॥ ९ ॥

घनजालनिभैर्दुरासदाः परितो नागकदम्बकैस्तव ।
नगरेषु भवन्तु वीथयः परिकीर्णा वनजैर्मृगादिभिः ॥ १० ॥

घनेति । तव नगरेषु वीथयो रथ्याः घनजालनिभैर्मेघसमूहतुल्यैः वनजैर्वनभवैर्मृगादिभिः मृगप्रभृतिभिर्भद्रो मन्द्रो मृगश्चेत्येवं त्रिविधैरपीत्यर्थः । नागकदम्बकैर्गजवृन्दैः परितः परिकीर्णाः व्याप्ता अत एव दुरासदा दुष्प्रवेशा भवन्तु । राज्ञा सन्धाने महैश्वर्य्यं च ते भविष्यतीत्यर्थः । परत्रस्तु घनजालनिभैः सान्द्रानायतुल्यैः । 'आनायः पुंसि जालं स्यात्' इत्यमरः । नागकदम्बकैः सर्पसङ्घैर्वनजैर्मृगादिभिर्मृगव्यालपुलिन्दप्रभृतिभिः । अथवा मृगादिभिः मृगभक्षकैः शार्दूलादिभिः दुरासदा भवन्तु । राजविग्रहादरण्यप्रायगता भवन्त्वित्यर्थः ॥ १० ॥

सकलापिहितस्वपौरुषो नियतव्यापदवर्द्धितोदयः ।
रिपुरुन्नतधीरचेतसः सततव्याधिरनीतिरस्तु ते ॥ ११ ॥

सकलेति । उन्नतमुदारं धीरमविकारं चेतो यस्य तस्य ते तव रिपुः सकलैरपिहितं तिरस्कृतं स्वपौरुषं यस्य सः नियता नित्या व्यापदो विशिष्टापदो यस्य सः अवर्द्धितोदयः असम्पूरिताभ्युदयः सततव्याधिः सततरोगः अनीतिर्नीतिरहितः एवंविधोऽस्तु । परत्रस्तु । अचेतसोऽमनस्विनः ते रिपुश्चैद्यः सकलैरपिहितस्वपौरुषः अतिरस्कृतात्मविक्रमः । "वष्टि भागुरिरल्लोपमवाप्योरुपसर्गयोः" इत्यल्लोपे नञ्समासः । नियतं नित्यं व्यापत् विगतापत् अवर्द्धितोदयः अच्छिन्नोदयः । 'वृधु च्छेदने वृद्धौ' इति धातोः कर्म्मणि क्तः । उन्नतधीरुदारबुद्धिः सततव्याधिर्विगताधिर्मनोव्यथारहितः अनीतिरीतिबाधारहितोऽस्तु । 'अतिवृष्टिरनावृष्टिः शलभा मूषिकाः खगाः । प्रत्यासन्नाश्च राजानः षडेता ईतयः स्मृताः' । अत्र सर्वत्र पदभङ्गेनार्थद्वयप्रतिपादनाज्जतुकाष्ठवदेकशब्दप्रतीतेः शब्दश्लेषः ॥ ११ ॥

विकचोत्पलचारुलोचनस्तव चैद्येन घटामुपेयुषः ।
यदुपुङ्गव बन्धुसौहृदात्त्वयि पाता ससुरो न वासवः ॥ १२ ॥

विकचेति । पुमान् गौरिव पुङ्गवः पुरुषर्षभः । उपमितसमासः । "गोरतद्धितलुकि" इति समासान्तष्टच्प्रत्ययः । यदुषु पुगव यदुश्रेष्ठ ! 'श्रेष्ठोक्षाणौ तु पुगवौ' इति वैजयन्ती । चैद्येन । कर्त्रा । घटा घनसन्विम् उपेयुपस्तव सम्बन्धीनि विकचोत्पलानि वासनार्थविहितानि तान्येव चारुलोचनानि यस्य सः। सह सुरया माध्व्या गौड्या वा ससुरः । 'गौडी पैष्टी च माध्वी च विज्ञेया सा सुरा त्रिधा ' इति वचनात् । अत्र राजन्यवैश्ययोः पैष्टयामेव निषेधः नवासवो नवमद्य नालिकेरादिकमिति सुरासवयोर्न पौनरुक्त्यम् । बन्धुसौहृदात् बन्धौ त्वयि स्नेहात् पाता पास्यते । त्वद्गृहे सह पान करिष्यते सम्प्रति ते सत्प्रतिपक्षत्वादिति भावः । पिबतेः कर्म्मणि लुट् । परस्तु । हे यदुपुगव यादवबलीवर्द ! चैद्येन सह घटाम् उपेयुष समराभियोग गतस्य तव विकचोत्पलचारुलोचनः ससुर. सदेवो वासवोऽपि बन्धुसौहृदात् उपेन्द्रे त्वयि सौभ्रात्रादित्यर्थः । पाता त्राता न । कि पुनर्मशका भीष्मादय इति भावः । पातेस्तृच् । सुहृदयस्य भावः सौहृद-मिति विग्रहः यवादित्वादण्प्रत्ययः । "हृदयस्य हृल्लेख" इत्यादिना हृद्भावविधानसामर्थ्यान्न "हृद्भग" इत्यादिनोभयपदवृद्धिः अत एव 'सौहृददौर्हृदशब्दाभ्यामाणि हृद्भावौ' इति वामनः । सुहृदस्तु सौहार्दमेव । शब्दार्थश्लेषशङ्करः ॥ १२ ॥

चलितानकदुन्दुभिः पुरः सबलस्त्वं सह सारणेन तम् ।
समितौ रभसादुपागतस्सगदस्सम्प्रतिपत्तुमर्हसि ॥ १३ ॥

चलितेति । रभसाद्धर्षादुपागतः प्राप्तस्त चैद्य त्व पुरश्चलितानकदुन्दुभिः पुरोगतवसुदेवः 'वसुदेवोऽस्य जनकः स एवानकदुन्दुभि.' इत्यमर. । सबलो बलभद्रसहित. सारणेन सारणा-ख्येन पुत्रेण सह सगदः गदाख्येन अनुजेन सहितः समितौ सभाया सम्प्रतिपत्तुं सम्भावयितुम् अर्हसि सर्वबन्धुसमेतः प्रत्येतुमर्हसीत्यर्थः । परस्तु । समितौ समरे रभसाद्वेगादुपागत' 'रभसो वेगहर्षयो.' 'समिति. समरे साम्ये सभायामपि सगता' इत्युभयत्रापि विश्वः । त चैद्य पुरतः चलिता आनका' पटहाः दुन्दुभयो भेर्यश्च यस्य सः । 'आनकः पटहोऽस्त्री स्याद्भेरी स्त्री दुन्दुभिः पुमान्' इत्यमरः । सबल' ससैन्यः सगदः गदया कौमोदक्या सहितः सन्सहसा झटिति रणेन युद्धेन सम्प्रतिपत्तुमभियोक्तुमर्हसि । अत्रापि शब्दार्थश्लेषसङ्करः ॥ १३ ॥

समरेषु रिपून्विनिघ्नता शिशुपालेन समेत्य सम्प्रति ।
सुचिरं सह सर्वसात्वतैर्भव विश्वस्तविलासिनीजनः ॥ १४ ॥

समरेष्विति । किञ्च समरेषु रिपून् विनिघ्नता अतिशूरेणेत्यर्थः । शिशुपालेन समेत्यैक्य प्राप्य सम्प्रति सुचिर बहुकाल सत्वतः अपत्यानि पुमासः सात्वताः यादवाः । "उत्सादि-भ्योऽञ्" इत्यञ् । तैः सर्वैः सर्वसात्वतैः सह विश्वस्तविलासिनीजनः शिशुपालभयनिवृत्तिवि-

श्रब्धविलासिनीजनो मत्र । 'समौ विश्रम्भविश्वासौ' इत्यमरः । परत्वस्तु । रिपुघातिना शिशुपालेन सह समरेषु समेत्य सगत्य सम्प्रत्येत्र सर्वसात्त्वतैः सह विश्वस्तविलासिनीजनो मत्र 'विश्वस्ता विधवा समे' इत्यमरः । "आदितश्च" इति चकरादनुक्तसमुचायार्थाच्छसेर्निष्ठायामिट्प्रतिषेधः । शिशूनामनुद्धतानामेवाय पालयिता नोद्धतानामिति सर्वथा यादवानचैव हनिष्यतीति भावः ॥ १४ ॥

विजितक्रुधमीक्षतामसौ महतां त्वा महितं महीभृताम् ।
असकृज्जितसंयतं पुरो मुदितः सप्रमदं महीपतिः ॥ १५ ॥

विजितेति । असौ महीपतिश्चैद्यः मुदितः सन् विजितक्रुध मैत्रीबन्धान्निरस्तक्रोधं महता महीभृता राज्ञा महित पूजितम् । "मतिबुद्धि" इत्यादिना वर्तमाने क्तः, तद्योगे षष्ठी । असकृद्बहुशो जिता. सयतः आजयो येन स तम् 'समुदायः स्त्रिया सयत्समित्याजिसमिद्युधः' इत्यमरः । सप्रमदं सहर्षं त्वा त्वाम् । "त्वामौ द्वितीयायाः" इति त्वादेशः । पुरोऽग्रे ईक्षतां पश्यतु । परत्वस्तु । विजितक्रुध्र सत्यक्तक्रोध महता महीभृतां चैद्यादीनामहितमरिमसकृज्जितश्चानौ सयतश्च । स्नातानुलिप्तवत्पूर्वकालेति समास । 'बद्धो नद्धश्च संयतः' इति वैजयन्ती । सप्रमदं सस्त्रीक त्वामिति पदच्छेदः असकृदीक्षताम् ॥ १५ ॥

इति जोपमवस्थितं द्विषः प्रणिधिं गामभिधाय सात्यकिः ।
वदति स्म वचोऽथ चोदितश्चलितैकभ्रु रथाङ्गपाणिना ॥ १६ ॥

इतीति । इतीत्थम्भूतां गा वाचम् 'अर्जुनीनेत्रदिग्बाणभूवाग्वारिषु गौर्मता' इति विश्वः । अभिधाय जोपमवस्थितम् । 'तूष्णीं जोष भवेन्मौने' इति वैजयन्ती । द्विपः प्रणिधि दूत सात्यकिः शैनेयः । अथ दूतवाक्यानन्तर रथाङ्ग चक्र पाणौ यस्य तेन रथाङ्गपाणिना हरिणा । "प्रहरणार्थेभ्यः परे निष्ठासप्तम्यौ भवतः" इति पाणे. परनिपातः । चलिता प्रेरिता एका भ्रूर्यस्मिन् कर्मणि तत् । "गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य" इति ह्रस्वः । चोदित अस्योत्तर देहीति भ्रूसञ्ज्ञया प्रेरितः सन्नित्यर्थः । वचो वदति स्मावादीत् ॥ १६ ॥

किं तद्वचस्तदेकविंशतिश्लोकैराह—

मधुरं बहिरन्तरप्रियं कृतिनाऽवाचि वचस्तथा त्वया ।
सकलार्थतया विभाव्यते प्रियमन्तर्बहिरप्रियं यथा ॥ १७ ॥

मधुरमित्यादि । कृतिना कुशलेन त्वया बहिः प्रकाशे मधुर प्रियम् अन्तर्गर्भे अप्रिय वचस्तथा तेन प्रकारेणावाचि उक्तम् । वचेः कर्म्मणि लुङि चिणि वृद्धिः । यथा येन प्रकारेण सकलार्थतया सम्पूर्णोभयार्थतया हेतुना अन्तःप्रियं बहिरप्रिय विभाव्यते अवधार्य्यतेऽप्रियगर्भं प्रिय यदुक्त तदस्माक तु प्रियगर्भमप्रियमेव प्रतीयते । इदमुक्तिचातुर्य्यं तवैवेत्याभिप्रेत्योक्त कृतिनेति । अतो न श्रद्धेयमिद वच इति भावः ॥ १७ ॥

अथ वा बहिरेव प्रिय अन्तरेवाप्रियम् तथापि न ग्राह्यमित्युपमया व्यनक्ति–

अतिकोमलमेकतोऽन्यतः सरसाम्भोरुहवृन्तकर्कशम् ।
वहति स्फुटमेकमेव ते वचनं शाकपलाशदेश्यताम् ॥ १८ ॥

अतीति । एकतो बहिरतिकोमलम् अन्यतः अन्तः सरसमार्द्रं यदम्भोरुहस्य वृन्त प्रसवबन्धन तदिव कर्कश परुषम् एकमेव ते तव वचनम् ईषदसमाप्त शाकपलाश महापत्राख्यतरुपत्र तत्तुल्यम् । 'शाकः पलाशसारः स्याद्दूरदारु. करच्छदः । महापत्रो महाशाकः स्थिरदारुर्हनीटकः' इत्यभिधानरत्नमालायाम् । "ईपदसमाप्तौ कल्पब्देश्यदेशीयरः" इति देश्यप्रत्ययः । कल्पदेश्यदेशीयानि सादृश्यवाचकानीति दण्डी । तस्य भावस्तत्ता ता स्फुट वहति । अन्तःपरुषस्य बहिर्माधुर्यं शाकपलाशवदिति भावः । अत्र शाकपलाशोपमायाः पद्मवृन्तोपमासापेक्षत्वात् सङ्करः ॥ १८ ॥

नन्वप्रियगर्भेऽपि वाक्ये गुणग्राहिभि प्रियमेव गृह्यतां हसै क्षीरमिवाम्भसीत्याशङ्क्याह-

प्रकटं मृदु नाम जल्पतः परुषं सूचयतोऽर्थमन्तरा ।
शकुनादिव मार्गवर्तिभिः पुरुषादुद्विजितव्यमीदृशात् ॥ १९ ॥

प्रकटमिति । प्रकट प्रकाश मृदु नाम मृदुकल्प जल्पतः कथयतः । अन्तरान्तः परुषमनिष्टमर्थं सूचयतः ईदृशादन्त शुद्धिशून्यात्पुरुषादीदृशः शकुनादिव बहि शुभङ्कर कुर्वतोऽन्तरा परुष सूचयतः पिङ्गलादिपक्षिण इव मार्गवर्तिभिः सन्मार्गवर्तिभिरध्वगैश्च उद्विजितव्यं नचांऽशतोऽपि ग्राह्यम् । विषसपृक्तान्नवदखिलस्यानर्थहेतुत्वादिति भाव । "विज इट्" इतीडादि क्वित्वान्न गुणः ॥ १९ ॥

एवं दूत निर्भर्त्स्य, अथ चैद्य तद्दोषोद्घाटनपूर्वकं भर्त्सयते–

हरिमर्चितवान्स भूपतिर्यदि राज्ञस्तव कोऽत्र मत्सरः ।
न्यसनाय ससौरभस्य कस्तरुसूनस्य शिरस्यसूयति ॥ २० ॥

हरिमित्यादि । स भूपतिर्युधिष्ठिरो हरिमर्चितवान् यदि पूजितवांश्चेत् । अत्र हर्य्यर्चनेन तव राज्ञश्चैद्यस्य मत्सरः कः । निरर्थक इत्यर्थः । ससौरभस्य परिमलयुक्तस्य तरुसूनस्य । तरुग्रहणं सूनस्य साधारणताद्योतनार्थम् । शिरसि न्यासनायार्पणाय कोऽसूयति न कोऽपीत्यर्थः । "क्रुधद्रुह-" इत्यादिना सम्प्रदानसञ्ज्ञा । सर्वत्र गुणवद्वस्तु गुणज्ञैर्बहु मन्यते तटस्थानां किमत्र वृथा सन्तापेनेति भावः । अत्र हरितरुसूनयोर्वाक्यद्वये बिम्बप्रतिबिम्बभावेनार्चाशिरोधारणरूपसमानधर्मनिर्देशात् दृष्टान्तालङ्कारः ॥ २० ॥

अथ कथं महान् महतः पूजा सहत इत्याशङ्क्य हरिचैद्ययोर्महदन्तरं मनसि निधाय सामान्यतः सुजनदुर्जनयोरन्तरं चतुर्भिराह—

सुकुमारमहो लघीयसां हृदयं तद्गतमप्रियं यतः ।
सहसैव समुद्गिरन्त्यमी क्षपयन्त्येव हि तन्मनीषिणः ॥ २१ ॥

सुकुमारमित्यादि । लघीयसामल्पीयसां हृदयं सुकुमारं तनु । कुतः । यतोऽमी लघीयांसस्तद्गतं हृदयगतम् अप्रियं सहसैव झटित्येव समुद्गिरन्ति समुच्चारयन्ति मनीषिणस्तु तदप्रियं कथञ्चित् सम्भाव्यमानमपीति शेषः । अन्तरेव क्षपयन्ति जरयन्ति न तूद्गिरन्तीत्यर्थः । अहो इत्याश्चर्ये । चैद्यश्चोद्गिरति नैव हरिरिति अहो महदन्तरमनयोरिति भावः । अत एवाप्रस्तुतात् सामान्यात् प्रस्तुतविशेषप्रतिपत्तिरूपोऽयमप्रस्तुतप्रशंसाभेदः । 'अप्रस्तुतस्य कथनात्प्रस्तुतं यत्र गम्यते । अप्रस्तुतप्रशंसेयं सारूप्यादिनियन्त्रिता' इति लक्षणात् । आदिशब्दात्सामान्यविशेषसंग्रहः एवमुत्तरश्लोकत्रयेऽपि द्रष्टव्यं विशेषं तु वक्ष्यामः ॥ २१ ॥

उपकारपरः स्वभावतः सततं सर्वजनस्य सज्जनः ।
असतामनिशं तथाप्यहो गुरुहृद्रोगकरी तदुन्नतिः ॥ २२ ॥

उपकारेति । किञ्च सज्जनः स्वभावतः सततं सर्वजनस्योपकारपरो भवति न तूपाधिवशात् कदाचित्कस्यचिदेवेति भावः । तथापि सर्वोपकारित्वेऽपि तदुन्नतिस्तस्य सज्जनस्योत्कर्षः । असतामसाधूनामनिशं गुरुहृद्रोगकरी अत्यन्तहृदयसन्तापकारिणी अहो आश्चर्यम् । "कृञो हेतु" इत्यादिना ताच्छील्ये टप्रत्यये "टिड्ढाणञ्" इत्यादिना ङीप् । हरिचैद्यावेवंभूताविति सैवाप्रस्तुतप्रशंसा ॥ २२ ॥

परितप्यत एव नोत्तमः परितप्तोऽप्यपरः सुसंवृतिः ।
परवृद्धिभिराहितव्यथः स्फुटनिर्भिन्नदुराशयोऽधमः ॥ २३ ॥

परितप्यत इति । किञ्च उत्तमः परवृद्धिभिर्न परितप्यते न व्यथत एव उत्तमस्यापरशुभद्वेष एव नास्तीत्यर्थः । अपरो मध्यम एवेत्यर्थः । परितप्तोऽपि शोभना संवृतिः परितापगोपनं यस्य सः सुसंवृतिः सन्तमपि परशुभद्वेषं न प्रकाशयतीत्यर्थः । अधमस्तु परवृद्धिभिराहितव्यथः उत्पादितसन्तापः, तथा स्फुटं निर्भिन्नः प्रकाशितो दुराशयः परशुभद्वेषलक्षणो दुरभिप्रायो यस्य सः परशुभद्वेषं प्रकाशयत्येवेत्यर्थः । चैद्यश्चाधमो हरिस्तूत्तम इति प्रतीतेः पूर्वोक्त एवालङ्कारः ॥ २३ ॥

ननु मानिना परोत्कर्षे परद्वेषो भूषणमेवेत्याशङ्क्य नेत्याह—

अनिराकृततापसम्पदं फलहीनां सुमनोभिरुज्झिताम् ।
खलतां खलतामिवासतीं प्रतिपद्येत कथं बुधो जनः ॥ २४ ॥

अनिराकृतेति । अनिराकृता अनिवारिता तापसम्पत्तापातिशयो यया ताम् एकत्र सन्तापजननैकस्वभावादपरत्रासतश्छायाविरहाच्चेति भावः । तथा फलहीनाम् एकत्र इहामुत्र चोपकारशून्या प्रत्युतोभयत्राप्यनर्थकरीं चेति भावः । अन्यत्र सर्गार्थरहिता सुमनोभिर्विबुधैरुज्झिताम् अन्यत्र पुष्पैर्वर्जिताम् । 'सुमना पुष्पमालत्योः स्त्रीदेवबुधयोः पुमान्' इति वैजयन्ती । असतीं दुष्टाम् अन्यत्र निष्पाद्या खलस्य भावः खलता ता खलता दुर्जनत्वम् । खस्य लता ता खलता गगनलतिकामिव बुधो जनः सदसद्विवेककुशलो जनः कथं प्रतिपद्येतावलम्बेत । न कथमपीत्यर्थः । वृथा मत्सरो न कस्यापि गुण इति भावः । तथापि स खलता प्रतिपद्यते न चैव हरिरिति प्रतीतेः सैवाप्रस्तुतप्रशंसा खलतामिवेत्युपमया सङ्कीर्य्यते । 'अत्यन्तासत्यपि ह्यर्थे ज्ञान शब्द करोति हि' इति न्यायादसत्याया अपि खलतिकायाः प्रतीतिसत्यतया खलतोपमात्वप्रसिद्धिः ॥ २४ ॥

नन्वेव महानुभावो हरिः किमर्थं तथा सदसि राज्ञा निर्भर्त्स्यमानो मौनमास्थित इत्याशङ्क्य सत्यमनादरान्न तु कातर्य्यादित्याह–

प्रतिवाचमदत्तकेशवःशपमानाय न चेदिभूभुजे ।
अनुहुङ्कुरुते घनध्वनिं नहि गोमायुरुतानि केसरी ॥ २५ ॥

प्रतीति । केशवः शपमानाय क्रोशते । स्वरितेत्त्वादात्मनेपदम् । चेदिभूभुजे । क्रियाग्रहणात् सम्प्रदानत्वम् । प्रतिवाचं प्रत्युत्तरं नादत्त । केसरी सिंहो घनध्वनिमनुहुङ्कुरुते । गर्ज्जति गोमायुरुतानि शिवारुतानि नानुहुङ्कुरुते । 'स्त्रिया शिवा भूरिमायगोमायुमृगधूर्त्तकाः' इत्यमरः । महतामवमेष्ववज्ञैव नीतिरिति भावः । दृष्टान्तालङ्कार ॥ २५ ॥

किञ्च राज्ञो हरिणा विरोधोऽपि न योग्य इत्याह–

जितरोषरया महाधियः सपदि क्रोधजितो लघुर्जनः ।
विजितेन जितस्य दुर्मतेर्मतिमद्भिः सह का विरोधिता ॥ २६ ॥

जितेति । महाधियः सुधियो जितो रोषरयो यैस्ते तथोक्ताः । लघुरल्पो जनस्तु सपदि क्रोधजित एव विजितेन जितस्य । जितेन क्रोधेन जितस्येत्यर्थः । दुर्मतेर्मूर्खस्य मतिमद्भिः पण्डितैः सह विरोधिता स्पर्धा का । मूर्खपण्डितयोर्मैत्रीव स्पर्धापि न सङ्गतेत्यर्थः । मूर्खश्चाय चैद्य इति अप्रस्तुतात् सामान्यात् विशेषप्रतीतेरप्रस्तुतप्रशंसाभेदः ॥ २६ ॥

नापि चैद्यप्रलापैः कृष्णस्य किञ्चिल्लाघवमित्याशयेनाह–

वचनैरसतां महीयसो न खलु व्येति गुरुत्वमुद्धतैः ।
किमपैति रजोभिरौर्वरैरवकीर्णस्य मणेर्महार्घता ॥ २७ ॥

वचनैरिति । उद्धतैर्निष्ठुरैरसतां दुर्ज्जनानां वचनैर्महीयसो महत्तमस्य गुरुत्वं गौरव न व्येति नापैति खलु । और्वरैर्भौमैः । 'उर्वरा सर्वशस्याढ्यभूमौ स्याद्भूमिमात्रके' इति विश्वः ।

रजोभिर्रक्तीगस्य छन्नस्य मर्गेमहार्घता महाहूयत्वम्। 'मूल्ये पूजाविधावर्घः' इत्यमरः। अपैति किं नान्वेत्यर्थः। अत्र मणेमहीयसोर्मक्यभेदेन प्रतिबिम्बकरणाद्दृष्टान्तालङ्कारः। महीयस इति सामान्याद्धरेरिति विशेषप्रतीतेरप्रस्तुतप्रशंसा चेति सङ्करः, हरिमण्योरुपमाध्वनिश्च ॥ २७ ॥

युक्तं चैतत्पारुष्यं दुरात्मनामित्याह—

परितोषयिता न कश्चन स्वगतो यस्य गुणोऽस्ति देहिनः।
परदोषकथाभिरल्पकः स्वजनं तोषयितुं किलेच्छति॥ २८॥

परीति। यस्य देहिनो जन्तोः परितोषयिता परेषामानन्दयिता स्वगतो गुणः कश्चन कश्चिदपि नास्ति अल्पकः तुच्छस्स इति शेषः। यत्तदोर्नित्यसम्बन्धात्। परदोषकथाभिरन्यजनदोषोक्तिभि स्वजनम् न तु मध्यस्थमिति भावः। तोषयितुमिच्छति किल ईहते खलु। चैद्यस्यापि निर्गुणत्वात्परदूषणं युक्तमिति अत एवाप्रस्तुतप्रशंसाभेदः॥ २८ ॥

नन्वात्मनो निर्दोषत्वाभिमानादित्थं विजृम्भणमित्याशङ्क्याह—

सहजान्धदृशः स्वदुर्नये परदोषेक्षणदिव्यचक्षुषः।
स्वगुणोच्चगिरो मुनिव्रताः परवर्णग्रहणेष्वसाधवः॥ २९॥

सहजेति। असाधवः खलाः स्वदुर्नये स्वदोषे। महत्यपीति भावः। सहजा स्वाभाविकी अन्धा अपश्यन्ती दृग्येषां ते जात्यन्धा इत्यर्थः। परदोषाणां सूक्ष्माणामपीति भावः। ईक्षणे दर्शने दिव्यचक्षुषोऽप्रतिहतदृष्टयः। किञ्च स्वगुणेषूच्चागिरः आत्मप्रशंसायामतिप्रगल्भवाच इत्यर्थ.। परवर्णग्रहणेषु परस्तुतिवचनेषु। 'स्तुतौ वर्णं तु वाक्षरे' इत्यमर.। मुनिव्रता मौनव्रतिन.। "अर्शआदिभ्योऽच्"। चैद्यश्चैवंविध इति प्रतीतेरप्रस्तुतप्रशंसा॥ २९॥

साधवस्तु नैवमित्याह—

प्रकटान्यपि नैपुणं महत्परवाच्यानि चिराय गोपितुम्।
विवरीतुमथात्मनो गुणान्भृशमाकौशलमार्य्यचेतसाम्॥ ३०॥

प्रकटानीति। आर्य्यचेतसां सुमनसां प्रकटान्यपि परवाच्यानि परदूषणानि चिराय गोपितुं गोपायितुं संवरितुमित्यर्थः। "आयादय आर्द्धधातुके वा" इति विकल्पादायप्रत्ययाभावः। महन्नैपुणं कौशलम्। अथेति वाक्यारम्भे। अथात्मनो गुणान् विवरीतुं प्रकटयितुं आत्मप्रशंसां कर्त्तुमित्यर्थः। भृशमाकौशलमत्यन्तमकौशलं साधवो न परान्निन्दन्ति नवात्मानं प्रशंसन्ति। 'आत्मप्रशंसां परगर्हामिव वर्जयेत्' इत्यापस्तम्बीये निषेधस्मरणादिति भावः। "नञः शुचीश्वरक्षेत्रज्ञकुशलनिपुणानाम्" इति विकल्पान्नञ्पूर्वपदस्यापि वृद्धिः। कृष्णश्चैवम्भूत इति विशेषप्रतीतेरप्रस्तुतप्रशंसैव॥ ३०॥

किमिवाखिललोककीर्त्तितं कथयत्यात्मगुणं महामनाः।
वदिता न लघीयसोऽपरः स्वगुणं तेन वदत्यसौ स्वयम्॥३१॥

किमिति । किञ्च महामना महात्मा अखिललोककीर्तितं स्वत एव सर्वैर्लोकैः प्रख्यातमात्मगुणं किमिव किमर्थं कथयत्येव स्वत एव सर्वैः लोकैः कीर्त्यमानत्वादित्यर्थः । लघीयसस्तुच्छस्य तु स्वगुणं वदिता वक्ता । वदेस्तृच्प्रत्ययः । अत एव " न लोका " इत्यादिना षष्ठीप्रतिषेधः । अपरोऽन्यो नास्ति तेन कारणेनासौ लघीयान् स्वगुणं स्वयमेव वदति न केवलं निषेधात् । किञ्च प्रयोजनाभावादपि महान् आत्मप्रशंसां न करोति तुच्छस्तु वक्त्रान्तरासम्भवात् स्वयमेव तां प्रलपतीत्यर्थः । पूर्वार्द्धे पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गम्, उत्तरार्द्धे वाक्यार्थहेतुकं चोन्नेयम् । कृष्णचैद्यौ चैवंविधाविति विशेषप्रतीतेरप्रस्तुतप्रशंसा चेति सङ्करः ॥ ३१ ॥

किञ्च महात्मानः क्रुद्धाः काले पराक्रमन्ति दुरात्मानस्तु केवलं प्रलपन्तीत्याह—

विसृजन्त्यविकत्थिनः परे विषमाशीविषवन्नराः क्रुधम् ।
दधतोऽन्तरसाररूपतां ध्वनिसाराः पटहा इवेतरे ॥ ३२ ॥

विसृजन्तीति । परे नराः सत्पुरुषाः विषमाशीविषवत् क्रूरसर्पवदित्युपमा । अविकत्थिनोऽनात्मश्लाघिन एव क्रुधं क्रोधं विसृजन्ति वमन्ति पराक्रमन्तीत्यर्थः । अन्तरभ्यन्तरे असाररूपतां निःसाररूपतां दधतो दधानाः । " नाभ्यस्ताच्छतुः " इति नुमभावः । इतरे जना दुर्जनाः पटहा इव ध्वनिरेव सारो बलं येषां ते ध्वनिसारा वाक्शूरा एव न तु बाहुबलशालिन इति भावः । अत्रापीदृशौ कृष्णचैद्यावित्यप्रस्तुतसामान्यात् प्रस्तुतविशेषप्रतीतेरप्रस्तुतप्रशंसाभेदः ॥ ३२ ॥

'अभिधाय तदा तदप्रियम्' इत्यादिना यद्दूतेन युगपत्प्रियाप्रिये अभिहिते तत्रोत्तरमाह—

नरकच्छिदमिच्छतीक्षितुं विधिना येन स चेदिभूपतिः ।
द्रुतमेतु न हापयिष्यते सदृशं तस्य विधातुमुत्तरम् ॥ ३३ ॥

नरकेति । स महीपतिश्चेदिभूपतिर्येन विधिना येन प्रकारेण सन्धिना विग्रहेण वा नरकच्छिदं नरकस्यात्यन्तकं किमन्येषामशक्तानामिति भावः । ईक्षितुम् इच्छति तस्य विधेः सदृशमुत्तरं प्रतिक्रिया स्नेहो विरोधो वा विधातुं न हापयिष्यते । अविलम्बेन विधास्यत इत्यर्थः । जहातेर्ण्यन्तात्कर्मणि लृट् । विधानक्रियया अनभिधानेऽपि प्रधानभूतक्रियया अभिहितत्वादुत्तरमिति न कर्मणि द्वितीया । द्रुतं शीघ्रमेतु आगच्छतु । आगमने स्वयमेव हीयत इति भावः ॥ ३३ ॥

नन्वभिधायेत्यादौ मया सान्त्वमेव विवक्षितं न विग्रहः न् किमुभयाभ्यनुज्ञयेत्याशङ्क्याह—

समनद्ध किमङ्ग भूपतिर्यदि सन्धित्सुरसौ सहाच्युता ।
हरिराक्रमणेन सन्नतिं किल बिभ्रीत भियेत्यसम्भवः ॥ ३४ ॥

समनद्धेति । अङ्गेत्यामन्त्रणे । असौ भूपतिश्चैद्योऽमुना हरिणा सह सन्धित्सुर्यदि, सन्धातुमिच्छश्चेत् । दधातेः सन्नन्तादुप्रत्ययः । किं समनद्ध किमर्थं सन्नद्धवान् ततो नायं सन्धित्सुरिति भावः । नह्यतेः स्वरितेत्वात्कर्त्तरि लुङि तङ्, "झलो झलि" इति सकारलोपः । कृष्णभीषणार्थं सन्नाह इत्यत आह । हरिः सिंहः कृष्णश्च किलाक्रमणेनाभिभवेन या भीस्तया सन्नतिं नम्रतां बिभ्रीत बिभृयादित्यसम्भवः । सम्भवो नास्ति खलु इत्यर्थः ॥ ३४ ॥

अथाक्रमणेऽनिष्टमाचष्टे—

महतस्तरसा विलङ्घयन्निजदोषेण कुधीर्विनश्यति ।
कुरुते न खलु स्वयेच्छया शलभानिन्धनमिद्धदीधितिः ॥३५॥

महत इति । कुधीरासन्नविनाशत्वाद्विपरीतबुद्धिमान् महतो महानुभावान् तरसा बलेन । 'तरसी बलरंहसी' इति विश्वः । विलङ्घयन्नाक्रामन् निजदोषेण स्वापराधेनैवोल्लङ्घनरूपेण विनश्यति । तथाहि इद्धदीधितिर्दीप्तार्चिरग्निः स्वया निजयेच्छया शलभान् पतङ्गान् । 'समौ पतङ्गशलभौ' इत्यमरः । इन्धनं दाह्यं न कुरुते खलु । किन्तु त एव निजोऽन्यायान्निपत्य दह्यन्त इत्यर्थः । इतः परं न क्षम्यत इति भावः । दृष्टान्तालङ्कारः ॥ ३५ ॥

नन्वसहने शार्ङ्गिणः शतापराधसहनप्रतिज्ञाभङ्गः स्यादित्यत्राह—

यदपूरि पुरा महीपतिर्न मुखेन स्वयमागसां शतम् ।
अथ सम्प्रति पर्य्यपूपुरत्तदसौ दूतमुखेन शार्ङ्गिणः ॥ ३६ ॥

यदिति । पुरा पूर्वं महीपतिश्चैद्यो मुखेन स्ववाचा यत् आगसाम् अपराधानां शतम् । 'आगोऽपराधो मन्तुश्च' इत्यमरः । शार्ङ्गिणः कृष्णस्य स्वयं नापूरि नापूरयदित्यर्थः । पूरयतेः कर्त्तरि लुङ्, "दीपजन" इत्यादिना विकल्पाच्चिण्प्रत्यये लुक् । अथ स्वप्रलापानन्तरं सम्प्रतीदानीमसौ चैद्यः दूतमुखेन दूतवाचा तत् आगसां शतं पर्य्यपूपुरत् परिपूरयामास । दूतमुखत्वात् राज्ञा तेन कृष्णस्यावसरदानेन महदुपकृतमायुष्मनेति भावः । पूरयतेर्लुङि "णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः" इति ह्रस्वः, अभ्यासदीर्घः ॥ ३६ ॥

निगमयन् फलितमाह—

यदनर्गलगोपुराननस्त्वमितो वक्ष्यसि किञ्चिदप्रियम् ।
विवरिष्यति तच्चिरस्य नः समयोद्वीक्षणरक्षितां क्रुधम् ॥ ३७ ॥

यदिति । अनर्गलमविष्कम्भं विवृतमिति यावत् । 'तद्विष्कम्भोऽर्गलं न ना' इत्यमरः । यद्गोपुरं पुरद्वारं तदिवाननं यस्य सः वाच्यावाच्यविवेकशून्य इत्यर्थः । त्वमितः इतः परं यदप्रियं वक्ष्यसि तदप्रियं चिरस्य चिरात्प्रभृति । 'चिराय चिररात्राय चिरस्याद्याश्चिरार्थकाः' इत्यव्ययेष्वमरः । समयोद्वीक्षणेन संवित्प्रतीक्षणेन रक्षितां रुद्धामित्यर्थः । 'समयाः शपथाचारकालसिद्धान्तसंविदः',

इत्यमरः । क्रुधं क्रोध विवरिष्यति । "वृतो व" इति दीर्घविकल्पः । इतः पर स्तम्भि टण्डच एवेति भावः ॥ ३७ ॥

निशमय्य तदूर्जितं शिनेर्वचनं नप्तुरनाप्तुमेनसाम् ।
पुनरुज्झितसाध्वसो द्विषामभिधत्त स्म वचो वचोहरः ॥ ३८ ॥

निशमय्येति । एनसामनाप्तुः असत्स्रष्टुः । सत्यवादिन इति भावः । आप्नोतेस्तृच् । शिनेर्नाम्नः कस्यचिद्यादवस्य नप्तुः पौत्रस्य सात्यकेरिति भावः । तदूर्जितम् अर्थयुक्त वचन निशमय्य श्रुत्वा । "ल्यपि लघुपूर्वात्" इति णेरयादेशः । पुनर्भूयोऽप्युज्झितसाध्वस त्यक्तभय यथा तथा द्विषा वचो हरतीति वचोहरो दूतः "हरतेरनुद्यमनेऽच्" वचोऽभिधत्ते स्म अभिहितवान् ॥ ३८ ॥

विविनक्ति न बुद्धिदुर्विधः स्वयमेव स्वहितं पृथग्जनः ।
यदुदीरितमप्यदः परैर्न विजानाति तदद्भुतं महत् ॥ ३९ ॥

विविनक्तीति । बुद्ध्या दुर्विधो दरिद्रः बुद्धिशून्य इत्यर्थः । 'नि स्वस्तु दुर्विधो दीनो दरिद्रो दुर्गतश्च सः' इत्यमरः । पृथग्जनः पामरजनः स्वयमेव परोपदेश विनैवात्महितं न विविनक्ति तद्युक्तमेवेति भावः । किन्तु परैरुदीरितम् उपदिष्टमप्यदो हितं न विजानातीति यत् तन्महदद्भुतम् । अतः सूक्त न गृह्णातीति भावः ॥ ३९ ॥

अथ किमद्भुतं मूर्खेष्वित्याशङ्क्याह—

विदुरेष्यदपायमात्मना परतः श्रद्दधतेऽथ वा बुधाः ।
न परोपहितं न च स्वतः प्रमिमीतेऽनुभवादृतेऽल्पधीः ॥ ४० ॥

विदुरिति । बुधाः बुद्धिमन्तः एष्यन्तमागामिनम् अपायमनर्थमात्मना स्वयमेव प्रकृत्यादिभ्य उपसङ्ख्यानात्तृतीया । विदुर्विदन्ति । "विदो लटो वा" इति विकल्पाज्झेर्जुसादेशः । अथ वा परतोऽन्यस्मादाप्तात् श्रद्दधते विश्वसन्ति । आप्तोक्त गृह्णन्तीत्यर्थः । "श्रदन्तरोरुपसङ्ख्यानम्" इति उपसर्गसङ्ख्यानाद्धातोः प्राक् प्रयोग । अल्पधीर्मूढस्तु अनुभवादृते स्वानुभव विना । "अन्यारादितरर्ते" इत्यादिना पञ्चमी । न प्रमिमीते न जानाति अधमस्तु स्वानुभवैकप्रमाण इत्यर्थः । अधमस्त्वमिति भावः । अत एवाप्रस्तुतसामान्यात्प्रस्तुतविशेषप्रतीतेरप्रस्तुतप्रशंसाभेदः ॥ ४० ॥

अतः प्रस्तुते किमायात तत्राह—

कुशलं खलु तुभ्यमेव तद्वचनं कृष्ण यदभ्यधामहम् ।
उपदेशपराः परेष्वपि स्वविनाशाभिमुखेषु साधवः ॥ ४१ ॥

कुशलमिति । हे कृष्ण ! अह यद्वचनमभ्यधाम् अभिधायेत्यादिना राज्ञा सन्धिर्गुणाय विग्रहस्त्वनर्थायेत्येमवोचमित्यर्थः । तद्वचनं तुभ्यमेव कुशल हितम् । "चतुर्थी चाशिष्यायुष्यमद्रभद्रकुशलसुखार्थहितैः" इति चतुर्थी । नन्वहितेषु हितोपदेशात्प्रत्ययः कथमित्याशङ्कामर्थान्तरन्यासेन

परिहरति । साधवः सुजना स्वविनाशाभिमुखेषु प्रबलविरोधादात्मविनाशहेतुभूतकर्मप्रवृत्तेष्विस्यर्थः । परेषु शत्रुष्वपि उपदेशपराः उपदिशन्त्येव कृपालुतयेति भावः ॥ ४१ ॥

तथापि अर्थद्वये त्वद्वाक्ये किं ग्राह्यं तत्राह—

उभयं युगपन्मयोदितं त्वरया सान्त्वमथेतरच्च ते ।
प्रविभज्य पृथङ् मनीषया स्वगुणं यत्किल तत्करिष्यसि ४२॥

उभयमिति । मया सान्त्वं सामादि अथेति पक्षान्तरे इतरदसान्त्वं विग्रहश्चेत्यर्थः । युगपदुदितं त्वं तु मनीषया बुद्ध्या पृथक् भेदेन प्रविभज्य विविच्य यत्स्वगुणं तत्र द्वयेऽपि त्वरया यच्छुभोदर्कं तत्करिष्यसि किल खलु 'हंसः क्षीरमिवाम्भसि' इति भावः ॥ ४२ ॥

अथ वा सुजनत्वभावात् कृतोऽपि हितोपदेशो मूर्खेषु निष्फल इत्याह—

अथ वाभिनिविष्टबुद्धिषु व्रजति व्यर्थकतां सुभाषितम् ।
रविरागिषु शीतरोचिषः करजालं कमलाकरेष्विव ॥४३॥

अथ वेति । अथ वा अभिनिविष्टबुद्धिषु दुराग्रहग्रस्तचित्तेषु विषये सुभाषितं हितोपदेशवचनं रविरागिषु कमलाकरेषु शीतरोचिषः शीतभानोः करजालमिव व्यर्थकतां निरर्थकतां व्रजति । तस्मादलमेव त्वयि हितोपदेशचिन्तयेति भावः ॥ ४३ ॥

नन्वभिनिविष्टोऽपि सुजनैर्बलादपि हिते प्रवर्त्तयितव्य इत्याशङ्क्य न शक्यत इत्याह—

अनपेक्ष्य गुणागुणौ जनः स्वरुचिं निश्चयतोऽनुधावति ।
अपहाय महीशमार्चिचत्सदसि त्वां ननु भीमपूर्व्वजः ॥४४॥

अनपेक्ष्येति । जनस्त्वादृशः पृथग्जनः । गुणागुणौ गुणदोषौ । "विप्रतिषिद्धञ्चानधिकरणवाचि" इति विभाषया न द्वन्द्वैकवद्भावः । अनपेक्ष्याविमृश्य निश्चयतः स्वनिश्चयादेव स्वरुचिं स्वेच्छामनुधावति, न तु स्वहितमनुसरतीत्यर्थः । तत्र पार्थ एव प्रमाणमित्याह । भीमपूर्वजः भीमाग्रजो युधिष्ठिरः । मूर्खाग्रणीरिति भावः । महीशं चेदिपमपहाय सदसि त्वामार्चिचत् अर्चितवान् । खलु । अर्चयतेर्णौ चङि "अजादेर्द्वितीयस्य" "न न्द्राः संयोगादयः" इति रेफवर्जितस्यैकाचो द्विर्भावः । सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ ४४ ॥

पार्थानादरादेव राज्ञो लाघवं ज्ञेयमित्याशङ्क्य परिहरति—

त्वयि भक्तिमता न सत्कृतः कुरुराजा गुरुरेव चेदिपः ।
प्रियमांसमृगाधिपोज्झितः किमवद्यः करिकुम्भजो मणिः॥४५॥

त्वयीति । हे कृष्ण ! त्वयि भक्तिमता प्रेमवता कुरूणा राट् "सत्सूद्विष" इत्यादिना क्विप् । तेन कुरुराजा कुरुराजेन पार्थेन न सत्कृतो नार्चितश्चेदिपो गुरुरेव पूज्य एव । तथा हि प्रियं मांसं यस्य तेन मांसगृध्नुना मृगाधिपेन सिंहेनोज्झितस्त्यक्तः । करिकुम्भजो

मणिर्मुक्तामणिरवद्यो गर्ह्यः किम्, अनवद्य एवेत्यर्थः । मूर्खानादरान्न महता किञ्चिल्लाघवमि-त्यर्थः । 'कुपूयकुत्सिताऽवद्यखेटगर्ह्याणकाः समाः' इत्यमरः । "अवद्यपण्य" इत्यादिना निपातः । दृष्टान्तालङ्कारः ॥ ४५ ॥

विदुषा तु पूज्य एव चैद्य इत्याशयेनाह-

क्रियते धवलः खलूच्चकैर्धवलैरेव सितेतरैरधः ।
शिरसौघमधत्त शङ्करः सुरसिन्धोर्मधुजित्तमङ्घ्रिणा ॥ ४६ ॥

क्रियत इति । धवलो निर्मलो धवलैर्निर्मलैरेव उच्चकैरुन्नतः क्रियते खलु । सितेतरैर्म-लिनैरधः क्रियते । तथा हि शङ्करः शिवः सुरसिन्धोरोघं मन्दाकिनीपूरं शिरसा अधत्त उभयो-र्नैर्म्मल्यादिति भावः । मधुजित् । मधुशत्रुर्विष्णुस्तु तमोघम् । अङ्घ्रिणा अधत्त स्वयं मलिन-त्वादिति भावः । अतो विशेषविदुषा राजा पूज्य एवेति भावः । विशेषेण सामान्यसमर्थन-रूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ ४६ ॥

किञ्च यथा पार्थानादराद्राज्ञो न किञ्चिल्लाघवं तथा तदादराच्च न किञ्चिद्गौरव-मित्याह-

अबुधैः कृतमानसंविदस्तव पार्थैः कुत एव योग्यता ।
सहसि प्लवगैरुपासितं न हि गुञ्जाफलमेति सोष्मताम् ॥४७॥

अबुधैरिति । अबुधैरज्ञैः पार्थैः कृते मानसंविदौ पूजातोषणे यस्य तस्य । 'संवित् क्रिया प्रतिज्ञाया संकेताचारनामसु । सम्भाषणे तोषणे च' इति विश्वः । तव योग्यता कुत एव । न कुतोऽपीत्यर्थः । तथा हि सहसि मार्गशीर्षे । 'मार्गशीर्षे सहा मार्गः' इत्यमरः । प्लवगैरुपासितं सेवितं गुञ्जाफलं काकफलानि । जातावेकवचनम् । 'काकचिञ्चीगुञ्जे तु कृष्णला' इत्यमरः । सोष्मतामूष्मतां नैति हि । न हि पुंसां मूढपरिग्रहापरिग्रहौ गौरवागौर-वयोः प्रयोजकावित्यर्थः । अत्र कृष्णगुञ्जाफलयोर्विशेषयोरेव वाक्यभेदेन प्रतिबिम्बकरणात् दृष्टान्तालङ्कारः ॥ ४७ ॥

यदपूरीत्यादिना यत्सात्यकिना शतापराधक्षमत्वमुक्तं तत्रोत्तरमाह-

अपराधशतक्षमं नृपः क्षमयात्येति भवन्तमेकया ।
हृतवत्यपि भीष्मकात्मजां त्वयि चक्षाम समर्थ एव यत् ॥४८॥

अपराधेति । नृपश्चैद्यः अपराधस्य शतक्षमं राज्ञः शतापराधसहिष्णुं भवन्तम् एकया क्षमया एकापराधसहनेनेत्यर्थः । अत्येति अतिक्रामति । अपराधकोटीनामपि तद्देशेनापि साम्या-सम्भवादिति भावः । तामेव क्षमां दर्शयति । त्वयि भीष्मकात्मजां रुक्मिणीं हृतवत्यपि समर्थः प्रतीकारक्षम एव सन्नपि चक्षाम क्षाम्यति स्मेति यत् तया क्षमयेत्यर्थः ॥ ४८ ॥

'राक्षस' क्षत्रियस्यैवम्' इति स्मरणात् राक्षसोद्वाहस्य क्षात्रधर्म्मत्वाद्रुक्मिणीहरणे कोऽस्माकमपराधः राज्ञो वा कात्र क्षमेत्याकाङ्क्षायामाह—

गुरुभिः प्रतिपादितां वधूमपहृत्य स्वजनस्य भूपतेः ।
जनकोऽसि जनार्दन स्फुटं हतधर्म्मार्थतया मनोभुवः ॥ ४९ ॥

गुरुभिरिति । हे जनार्दन ! गुरुभिः पित्रादिभिः प्रतिपादिता राज्ञे दत्ताम् अत एव स्वजनस्य बन्धोर्भूपतेर्महाराजस्य वधू जायामपहृत्य हतौ धर्म्मार्थौ येन तत्तया हतधर्म्मार्थतया हेतुना स्फुटं मनोभुवः कामस्य जनकोऽसि धर्मार्थवाधेन काममात्रनिष्ठोऽसीत्यर्थः । नायं राक्षसो विवाहः । 'हत्वा छित्वा च भित्वा च क्रोशन्तीं रुदन्तीं तथा । प्रसह्य कन्याहरणं राक्षसो विधिरुच्यते' इति कन्याहरणस्य राक्षसत्वलक्षणात् । अत्र तु परदारापहरणे बन्धुद्रोहो राजद्रोहश्चेत्यहो पापिष्ठस्य कामान्धस्य ते परमसाहसिकत्वमिति भावः ॥ ४९ ॥

सत्यमीदृगेवाह ततः किमित्याशङ्क्य किमन्यद्वधादित्याह—

अनिरूपितरूपसम्पदस्तमसो वान्यभृतच्छदच्छवेः ।
तव सर्व्वगतस्य सम्प्रति क्षितिपः क्षिप्नुरभीशुमानिव ॥९०॥

अनिरूपितेति । अनिरूपितरूपसम्पदः शैल्यवद्बहुरूपधारित्वादज्ञातरूपविशेषस्यावाङ्मनसगोचररूपवैभवस्येति च गम्यते । अन्यत्र आरोपितकृष्णरूप तमः । तेजो विशेषाभावस्तम इति च मतद्वयेऽपि प्रमाणानवधृतरूपसम्पद इत्यर्थ. । अन्यभृतच्छदच्छवेः कोकिलपक्षकान्तेस्तव तमसो वा तिमिरस्येव । 'वा स्याद्विकल्पोपमयो.' इति विश्व । सर्व्वगतस्य क्षितिपश्चेदिपोऽभीशुमानंशुमानिव सम्प्रतीदानीमेव क्षिप्नुः क्षेप्ता आहन्तेत्यर्थः । शास्तासौ दुरात्मनामिति भाव. "त्रसिगृधिधृषिक्षिपे. क्नु" इति क्नुप्रत्यय. । "न लोका" इत्यादिना कृद्योगे षष्ठ्या निषेधे तवेति शेषे षष्ठी । पर्य्यवसानात्तु कर्म्मत्वलाभः । 'अभीषु' प्रग्रहे रश्मौ' इत्यमरविश्वप्रकाशादयः सर्व्वेऽप्यभिधानिका मूर्द्धन्यान्तेषु पेठुः । लोकवेदयोस्तालव्यान्तो दृश्यते । अभीशूनां महिमानमित्यादि ॥ ९० ॥

तर्ह्यस्मदर्थं त्वया राजा सान्त्वयितव्य इत्याशङ्क्य नेत्याह—

क्षुभितस्य महीभृतस्त्वयि प्रशमोपन्यसनं वृथा मम ।
प्रलयोल्लसितस्य वारिधेः परिवाहो जगतः करोति किम् ॥९१॥

क्षुभितस्येति । त्वयि विषये क्षुभितस्यातिक्रुद्धस्य महीभृतो राज्ञो मम प्रशमोपन्यसन शान्तोपदेशो वृथा निष्फलः । तथा हि प्रलयोल्लसितस्य कल्पान्तक्षुभितस्य वारिधेः जगतः परिवाहो जगत्कृतो जलनिर्गममार्गः किङ्करोति न किञ्चिदित्यर्थः । दृष्टान्तालङ्कारः ॥ ९१ ॥

तर्हसन्धित्सुना राज्ञा किमर्थं भवानिह प्रहितस्तत्राह—

प्रहितः प्रधनाय माधवानहमाकारयितुं महीभृता ।
न परेषु महौजसश्छलादपकुर्वन्ति मलिम्लुचा इव ॥९२॥

प्रहित इति । प्रधनाय युद्धाय माधवान् यादवानाकारयितुमाहातुम् । 'युद्धमायोधन जन्यं प्रधन प्रविदारणम्' । हूतिराकारणाह्वानम्' इति चामरः । महीभृता राज्ञाह प्रहितः प्रेरितः ननु रन्ध्रे हन्तव्याः शत्रवो नाह्वातव्या इत्यत्राह । नेति । महौजसो महावीरा. परेष्वरिषु मलिम्लुचा. पाटच्चरा इव । 'पाटच्चरमलिम्लुचाः' इत्यमर' । छलात् कपटात् नापकुर्वन्ति । तस्मादाह्वान कर्तव्यमिति वाक्यार्थहेतुक काव्यलिङ्गमुपमालङ्कारसकीर्णम् ॥ ९२ ॥

तदेवागमप्रयोजनमुक्त्वा हितमुपदिशति—

तदयं समुपैति भूपतिः पयसां पूर इवानिवारितः ।
अविलम्बितमेधि वेतसस्तरुवन्माधव मा स्म भज्यथाः ॥९३॥

तदयमिति । तत्तस्माद्युद्धार्थित्वादय भूपतिश्चैद्यः पयसा पूरः प्रवाह इवानिवारित. समुपैति । हे माधव ! अविलम्बित शीघ्र वेतसः एधि भव तद्वन्नम्रम् आत्मानं रक्षेत्यर्थ. । अस्तेर्लोट् सिपि हेर्धि', "घ्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्च" इति एत्वम् "धि च" इति सकारलोपः । माधव ! त्व तरुवत्त महावृक्षवत् मा स्म भज्यथाः मा भज्यस्व । अतः आत्मन न विनाशयेत्यर्थः । भजेः कर्मण्याशिषि लिङः (अर्थे) "स्मोत्तरे लङ् च" इति लङ् "न माङ्योगे" इत्यडभावः । उपमालङ्कार' ॥९३॥

ननु राज्ञि शिशुपाले यूनामफलमित्याशङ्क्याह—

परिपाति स केवलं शिशूनिति तन्नामनि मा स्म विश्वसीः ।
तरुणानपि रक्षति क्षमी स शरण्यः शरणागतान्द्विषः ॥ ९४ ॥

परिपातीति । स शिशुपालः केवलमित्यवधारणे क्रियाविशेषणम् । शिशून् परि पातीति शिशूनेव पालयतीति तन्नामनि तस्य शिशुपालसञ्ज्ञायां मा स्म विश्वसीः मा विश्वासं कुर्वित्यर्थः । श्वसेः "स्मोत्तरे लङ् च" इति लङि "रुदश्च पञ्चभ्यः" इति ईडागमः, चकाराल्लुङि वा तत्र"अस्ति सिचोऽपृक्ते" इति ईडागमः, "ह्मयन्तक्षणश्वसजागृणिश्व्येदिताम्" इति वृद्धिप्रतिषेधः, "न माङ्योगे" इत्यडभावस्तूभयत्र । किन्तु क्षमी क्षमावान् । व्रीह्यादित्वा-दिनि. । शरणे रक्षणे साधुः शरण्यः रक्षणक्षमः । "तत्र साधुः" इति यत्प्रत्ययः । स शिशुपालः शरणं रक्षितारमागतान् प्राप्तान् । 'शरण गृहरक्षित्रोः, शरण रक्षणे गृहे' इत्युभयत्रापि विश्वः । द्विषः शत्रून् तरुणान् यूनोऽपि रक्षति अतो निःशङ्क शरणमागच्छेत्यर्थः ॥ ९४ ॥

ननु वय द्रोग्धारः सोऽप्यतिक्षुभितः किल कथ नः पालयेदित्याशङ्क्याह—

न विदध्युरशङ्कमप्रियं महतः स्वार्थपराः परे कथम् ।
भजते कुपितोऽप्युदारधीरनुनीतिं नतिमात्रकेण सः ॥ ९५ ॥

नेति । स्वार्थपराः स्वार्थनिष्ठाः परे शत्रवो महतोऽधिकस्य कथम् अप्रियम् अपकारम् अशङ्कं यथा तथा न विदध्युः कुर्य्युरेव कार्य्यवशादित्यर्थः । किन्तु उदारधीर्महामतिः । 'उदारो दातृमहतोः' इत्यमरः । स राजा कुपितोऽपि नतिमात्रकेण प्रणतिमात्रेण अनुनीतिम् अनुनयं भजते अनुग्रहीष्यतीत्यर्थः । 'प्रणिपातप्रतीकारः संरम्भो हि महात्मनाम्' इति भावः ॥ ९५ ॥

किं बहुना तवाय हितोपदेशसंग्रह इत्याशङ्क्याह–

हितमप्रियमिच्छसि श्रुतं यदि सन्धत्स्व पुरा न नश्यसि ।
अनृतैरथ तुष्यसि प्रियैर्जयताज्जीव भवावनीश्वरः ॥ ९६ ॥

हितमिति । श्रुतम् अप्रियं हितमिच्छसि यदि अप्रिय हित श्रुतमाम्नादाकर्णित ग्रहीतुमिच्छसि चेदित्यर्थः । सन्धत्स्व राज्ञा सन्धेहि पुरा न नश्यसि अन्यथा विनङ्क्ष्यसीत्यर्थः । "यावत्पुरानिपातयोर्लट्" इति भविष्यदर्थे लट् । अथेति पक्षान्तरे । अनृतैरसत्यैः प्रियैस्तुष्यसि यदि जयतात् जयतु । "तुह्योस्तातङ्ङाशिष्यन्यतरस्याम्" इति तोस्तातङ्ङादेशः । जीव अवनीश्वरः सार्व्वभौमो भव । ततः किमेभिः प्रियालापैः अप्रियमपि प्रियमेव गृहाणेति भावः ॥ ९६ ॥

ननु कंसाद्यनेकविजयी कृष्णः कथं विजेष्यते राज्ञेत्याशङ्क्याह–

प्रतिपक्षजिदप्यसंशयं युधि चैद्येन विजेष्यते भवान् ।
ग्रसते हि तमोऽपहं मुहुर्ननु राहाह्वमहर्पतिं तमः ॥ ९७ ॥

प्रतिपक्षेति । प्रतिपक्षजिदनेकारिहन्तापि भवान् असंशयं संशयो नास्ति । अर्थाभावेऽव्ययीभावः । युधि संग्रामे चैद्येन शिशुपालेन विजेष्यते जयतेः कर्म्मणि लृट् । शेषे प्रथमः । तमांस्यपहन्तीति तमोऽपहं सर्वतमोऽपहारिणम् । "अपे क्लेशतमसोः" इति हन्तेर्डप्रत्यय. । अह्नां पतिम् अहर्पतिं सूर्य्यम् । "अहरादीनां पत्यादिषूपसङ्ख्यानम्" इति वैकल्पिकोरेफादेशः राहाह्वं राहाख्यं तमः । 'आख्याह्वे अभिधानं च' इत्यमरः । मुहुर्ग्रसते ननु गिलति हि । अत्र हरिसूर्य्ययोः राहुचैद्ययोश्च वाक्यभेदेन प्रतिबिम्बकरणात् दृष्टान्तालङ्कारः ॥ ९७ ॥

किं च न भवानेक एव विजेष्यते किन्तु सर्वैर्यादवैः सहेत्याह–

अचिराज्जितमीनकेतनो विलसन्वृष्णिगणैर्नमस्कृतः ।
क्षितिपः क्षयितोद्धतान्धको हरलीलां स विडम्बयिष्यति ॥ ९८ ॥

अचिरादिति । स क्षितिपः राजा । अचिरादविलम्बितमेव जितो मीनकेतनः कार्ष्णिः प्रद्युम्नः स्मरश्च येन सः । वृष्णयो यादवभेदास्तेषां गणैरोघैर्नमस्कृतो भीत्या प्रणतः सन् । अत एव विलसन् दीप्यमानः । अन्यत्र वृष्णीति पदच्छेदः वृष्णि उक्षाणि विलसन् वृषारूढ इत्यर्थः । गणैः प्रमथैर्नमस्कृतः । 'गणाः प्रमथसङ्घौघाः' इति 'वृषा महेन्द्रे वृषभे' इति च वैजयन्ती ।

क्षयिता नाशिता उद्धता दृप्ता अन्धका यादवभेदाः । अन्यत्रान्धकोऽसुरो येन सः । हरलीलां शम्भुविभ्रमं विडम्बयिष्यत्यनुकरिष्यति अत्र हरलीलामिति सादृश्याक्षेपान्निदर्शनाश्लेषसङ्कीर्णा ५८॥

देवासुरैरप्यजय्या यादवाः कथं राज्ञा जेष्यन्ते तत्राह—

निहतोन्मददुष्टकुञ्जराद्दधतो भूरि यशः क्रमार्जितम् ।
न बिभेति रणे हरेरपि क्षितिपः का गणनास्य वृष्णिषु ॥ ५९ ॥

निहतेति । क्षितिपश्चद्विपो निहत उन्मदो दुष्टः कुञ्जरः कुवलयापीडाख्यो येन तस्मात् । अन्यत्र हतानेकमत्तमातङ्गात् । अत एव क्रमार्जितं भूरि यशः दधतः हरेः कृष्णात् सिंहात् चेति ध्वनिः । रणे न बिभेति । अस्यैतादृशस्यैवास्य वृष्णिषु यादवेषु मेषेषु च । 'वृष्णिस्तु यादवे मेषे' इति विश्वः । का गणना कृष्णमगणयन्तो यादवाः के इत्यर्थः । अत्र कुञ्जरघातिनः सिंहस्य का कथा मेषेष्वित्यर्थान्तरप्रतीतिध्वनिरेव, न श्लेषः । हरेर्वृष्णिविशेषस्यापि प्रश्लिष्टत्वात्प्रकृताप्रकृतश्लेषे तदनङ्गीकारादित्युक्तं प्राक् ॥ ५९ ॥

हरेरपि न बिभेति इत्युक्तं तदेव प्रभावयितुं तस्य पराक्रमानासर्गान्तमात्रैर्वर्णयति—

न तदद्भुतमस्य यन्मुखं युधि पश्यन्ति भिया न शत्रवः ।
द्रवतां ननु पृष्ठमीक्षते वदनं सोऽपि न जातु विद्विषाम् ॥६०॥

नेति । युधि शत्रवो भियाऽस्य मुखं न पश्यन्तीति यत्तन्नाद्भुतम् । कुतः । सोऽपि न ईक्षते ननु खलु द्रवतां भयात्पलायमानानां विद्विषां पृष्ठं कायपार्श्वाङ्गम् ईक्षते । जातु कदाचित् वदनं न ईक्षते ननु खलु । द्वयोरन्यतरमुखेष्वन्योन्यस्य मुखविलोकनासम्भवात्स्वयं विमुखानां विद्विषाम् अभिमुखस्याप्यस्य मुखादर्शनादद्भुतमित्यर्थः । अत एव वाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गम् ॥ ६० ॥

प्रतनूल्लसिताचिरद्युतः शरदं प्राप्य विखण्डितायुधाः ।
दधतेऽरिभिरस्य तुल्यतां यदि नासारभृतः पयोभृतः ॥ ६१ ॥

प्रतन्विति । शरदम् ऋतुं प्राप्य विखण्डितायुधाः खण्डितेन्द्रचापाः अन्यत्र शरान् ददातीति शरदस्तं शरदं शरवापणं प्राप्य खण्डितशस्त्राः प्रतनूल्लसिताचिरद्युतोऽल्पस्फुरितविद्युतः. अन्यत्र प्रतनूल्लसिताः स्वल्पोल्लसितास्ता एवाचिरद्युतोऽस्थिरद्युतः । पयोभृतो मेघा आसारभृतः वृष्टिमन्तः न यदि । शरदि वृष्टिशून्यत्वादिति भावः । सुहृद्बलशून्या इत्यर्थः । 'आसारः-स्यात्प्रसरणे वेगवृष्टौ सुहृद्बले' इति वैजयन्ती । अस्यारिभिस्तुल्यता दधते । अत्र पयोभृतामुपमानानामुपमेयभावोक्तेः प्रतीपालङ्कारः, तेषामासारसम्बन्धेऽपि सम्भावनया तदसम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिभेदश्चेति सङ्करः ॥ ६१ ॥

विशेषकमाह—

मलिनं रणरेणुभिर्मुहुर्द्विषतां क्षालितमङ्गनाश्रुभिः ।
नृपमौलिमरीचिवर्णकैः खलु यस्यांघ्रियुगं विलिप्यते ॥ ६२ ॥

मलिनमित्यादि। मुहुरसकृत्। रणरेणुभिर्मलिनम् अत एव द्विषतामङ्गनाश्रुभिः क्षालितम्। नाद्यारीन् रणान्निवर्तिन इति भावः। यस्याङ्घ्रियुग चरणयुगलम्। अथ रेणुक्षालितानां नृपाणा प्रणताना राज्ञा मौलिमरीचयो मकुटमणिरश्मयस्तैरेव वर्णकैर्विलेपनैश्चन्दनैः 'चन्दने चापि वर्णकम्' इति विश्वः। विलिप्यते विशेष्यते अत्राङ्घ्रियुगस्य विशेषणमहिम्ना स्नातानुलिप्तपुरुषसाम्यप्रतीतेः समासोक्तिः॥ ६२॥

समराय निकामकर्कशं क्षणमाकृष्टमुपैति यस्य च।
धनुषा सममाशु विद्विषां कुलमाशङ्कितभङ्गमानतिम्॥ ६३॥

समरायेति। किञ्चेति चार्थः। निकामकर्कशमतिकठिन दुर्द्धर्षमित्यर्थः। समराय सम्प्रहाराय आकृष्टमाकृष्टमावर्जित च क्षणम् आशङ्कितभङ्ग मनसोत्प्रेक्षितस्वपराजयम्। अन्यत्रातिकर्षणादसम्भावितदलन यस्य विद्विषा कुलम् आशु धनुषा सममानतिं नम्रतामुपैति। अत्र धनुर्नमनकार्यस्य द्विषन्नमनस्य तत्सहभावोक्तेः कार्यकारणयोः पौर्वापर्यविपर्ययनिमित्तरूपातिशयोक्तिमूलासहोक्तिरलङ्कारः॥ ६३॥

तुहिनांशुममुं सुहृज्जनाः कलयन्त्युष्णकरं विरोधिनः।
कृतिभिः कृतदृष्टिविभ्रमाः स्रजमेके भुजगं यथापरे॥ ६४॥

तुहिनेति। अमुमवंविधं चैद्यं सुहृज्जनाः तुहिनांशु कलयन्ति आह्लादकत्वाचन्द्र मन्यन्ते। विरोधिनः उष्णकर तपन कलयन्ति। एकस्यानेकप्रतीतिमुपमिमीते। कृतिभिरिति। कृतिभिः कुशलैरैन्द्रजालिकादिभिः कृतदृष्टिविभ्रमाः जनितदृष्टिविपर्यया एके नरा यथा स्रज मालां कलयन्ति अपरे तु भुजग कलयन्ति एवमेव रज्ज्वादिकमिति शेष.। उपमालङ्कारः। स चैकस्य निमित्तवशाद्गृहीतेनेदन्तादस्तानेकधोल्लिखनात्मकेनोल्लेखेन सकीर्य्यते॥ ६४॥

दधतोऽसुलभक्षयागमास्तनुमेकान्तरतामामानुषीम्।
भुवि सम्प्रति न प्रतिष्ठिताः सदृशा यस्य सुरैरैरातयः॥ ६५॥

दधत इति। असुलभक्षयागमाः दुर्लभगृहप्राप्तयः। अन्यत्रामरत्वात् दुर्लभनाशयोगाः। 'निलयापचयौ क्षयौ' इत्यमरः। एकान्तरता भयाद्विजनस्थाने निरताम् अमानुषीं कार्श्यमालिन्यादिना पिशाचादिवत्प्रतीयमानाम्। अन्यत्रैकान्तरतां नियतसुरता नित्यभोगाममानुषीं दिव्या तनु दधतो दधानाः भुवि सम्प्रति क्वचन न प्रतिष्ठिताः राज्यभ्रंशात् क्वापि स्थितिमप्राप्ताः। अन्यत्र च भुव न स्पृशन्तीत्यर्थः। देवत्वात्। यस्यारातयः सुरैः सदृशाः। अत्राप्यसुमिति पूर्वेण संबन्धः। श्लिष्टविशेषणेयमुपमा। श्लेष एवेत्यन्ये॥ ६५॥

अतिविस्मयनीयकर्म्मणो नृपतेर्यस्य विरोधि किञ्चन।
यदभुक्तनयो नयत्यसावहितानां कुलमक्षयं क्षयम्॥ ६६॥

अतीति । अतिविस्मयनीयकर्म्मणः अत्यन्तविस्मितपौरुषस्य । स्मयतेरनीयर्प्रत्ययः । यस्य नृपतेश्चैद्यस्य विरोधि चेष्टितं द्वेपरूपं न किञ्चिदस्तीत्यर्थः । यस्मादमुक्तनयोऽत्यक्तनीतिमार्ग्गोऽसौ अक्षमयविनाशि पूर्वं केनापि क्षयं न नीतमित्यर्थः । अहितानां कुलं शत्रुजातं क्षयं नाशं नयति नीतिपौरुषाभ्यां द्विपं निर्मूलयितुरस्य का विरोधिवार्त्तेति भावः । अक्षयमपि क्षयं नयतीति विरोधस्य नेतृभेदेन परिहाराद्विरोधाभासोऽलङ्कारः ॥ ६६ ॥

चलितोर्ध्वकबन्धसम्पदो मकरव्यूहनिरुद्धवर्त्मनः ।
अतरत्स्वभुजौजसा मुहुर्महतः सङ्गरसागरानसौ ॥ ६७ ॥

चलितेति । असौ चैद्यश्चलिताः प्रवृत्ता ऊर्ध्वा उत्थिताः कबन्धसंपदः शिरोहीनकलेवरसम्पद एव कबन्धसम्पद उदकसमृद्धयो येषु तान् । श्लिष्टरूपकम् । 'कबन्धं सलिले प्रोक्तमपमूर्द्धकलेवरे' इति वैजयन्ती । मकरव्यूहाः मकराकारसैन्यविन्यसाः त एव मकरव्यूहा इति श्लिष्टरूपकम् । ' व्यूहौ समूहविन्यासौ' इति वैजयन्ती । निरुद्धवर्त्मनो निरुद्धप्रवेशमार्ग्गान् । अत एव महतो दुस्तरान् सङ्गरसागरान् समरसमुद्रान् स्वभुजौजसा निजभुजबलेनैव मुहुरसकृत् अतरत् । भुजेनाब्धितरणमदृष्टचरमत्यद्भुतमिति भावः । अत्र कबन्धा एव कबन्धाः मकरव्यूहा एव कच्छपादिव्यूहा इति श्लिष्टरूपकस्य सङ्गरेषु सागररूपणहेतुत्वात्केवलं श्लिष्टपरम्परितरूपकम् ॥ ६७॥

न चिकीर्षति यः स्मयोद्धतो नृपतिस्तच्चरणोपगं शिरः ।
चरणं कुरुते गतस्मयः स्वमसावेव तदीयमूर्द्धनि ॥ ६८ ॥

नेति । स्मयोद्धतो गर्वेण दुर्विनीतो नृपतिः शिरो निजोत्तमाङ्गं तस्य शिशुपालस्य चरणमुपगच्छतीति तच्चरणोपगं तत्पादगतं यो न चिकीर्षति कर्त्तुं नेच्छति तदीये तस्य नृपतेः सम्बन्धिनि मूर्द्धनि गतस्मयो विगर्वोऽसौ शिशुपाल एव स्वं चरणं कुरुते निधत्त इत्यर्थः । अनम्रान् सद्यो नयमति नम्रानवतीति तात्पर्य्यम् ॥ ६८ ॥

स्वभुजद्वयकेवलायुधश्चतुरङ्गामपहाय वाहिनीम् ।
बहुशः सह शक्रदन्तिना स चतुर्दन्तमगच्छदाहवम् ॥ ६९ ॥

स्वेति । स चैद्यश्चत्वार्य्यङ्गानि हस्त्यादीनि यस्यास्तां चतुरङ्गां वाहिनीं सेनामपहाय स्वभुजद्वयं केवलमेकमायुधं यस्य सः सन् शक्रदन्तिना ऐरावतेन सह चत्वारो दन्ता यस्मिन् तं चतुर्दन्तम् आहवं रणं बहुशोऽगच्छत् । चतुर्दन्तेन शक्रदन्तिना दोर्द्वयेन योद्धुं चैद्यं विना कोऽन्यः शक्त इति भावः । दन्तिनोराहवश्चतुर्दन्त इत्युक्तं न तु मनुष्यदन्तिनोरिति विरोधः । स च शक्रदन्तिनेति परिहृतः तस्य चतुर्दन्तत्वादिति विरोधाभासः ॥ ६९ ॥

अविचालितचारुचक्रयोरनुरागादुपगूढयोः श्रिया ।
युवयोरिदमेव भिद्यते यदुपेन्द्रस्त्वमतीन्द्र एव सः ॥ ७० ॥

अविचालितेति । अविचालितं परैरपर्य्यासितम् अतएव चारु शोभनं चक्रं सुदर्शनं राष्ट्रं च ययोस्तयोः । 'चक्रं राष्ट्ररथाङ्गयोः' इति विश्वः । श्रिया कमलया सम्पदा चानुरागादुपगूढयोराश्लिष्टयोर्युवयोस्तत्र तस्य च । "त्यदादीनि. सर्वैर्नित्यम्" इत्येकशेषः । इदमेव भिद्यते विशेष्यते । कर्म्मकर्त्तरि लट् । किं तदित्यत्राह । त्वमिन्द्रमुपगतः उपेन्द्र इन्द्रानुजः । तदनुचर इति यावत् । स तु इन्द्रमतिक्रान्तः अतीन्द्रः इन्द्रविजयीति यावत् इत्येव भिद्यते इति सम्बन्धः । इन्द्रकिङ्करेन्द्रजयिनोः का साम्यकथेति भावः । अत्रोपमानात् कृष्णादुपमेयस्य चैद्यस्याधिक्याद्भेदप्राधान्यसाधर्म्योक्तिर्व्यतिरेकालङ्कारः ॥ ७० ॥

किञ्च त्वत्तोऽप्यधिको राजेत्यवाच्योऽयमर्थः यदीश्वरादप्यधिक इत्याह—

भृतभूतिरहीनभोगभाग्विजितानेकपुरोऽपि विद्विषाम् ।
रुचिमिन्दुदले करोत्यजः परिपूर्णेन्दुरुचिर्महीपतिः ॥ ७१ ॥

भृतेति । भृता भूतिर्भस्म सम्पच्च येन स भृतभूतिः । 'भूतिर्भस्मनि सम्पदि' इत्यमरः । अहीना भोगिनामिनोऽहीनः शेषः तस्य भोगं कायं भजतीत्यहीनभोगभाक् शेषभूषण इत्यर्थः । अन्यत्र अहीनमन्यूनं भोगं सुखानुभवं भजतीति अहीनभोगभाक् 'भोगः सुखे स्त्र्यादिभृतावहेश्च फणकाययोः' इत्यमरः । विद्विषां विजितानेकपुरः विजितानेकविद्विट्पुर इत्यर्थः । एकत्र त्रिपुरविजयादन्यत्र शत्रुनगरविजयाच्चेति भावः । सापेक्षत्वेऽपि गमकत्वात्समासः । एवम्भूतोऽप्यजो हरः । 'अजा विष्णुहरच्छागाः' इत्यमरः । इन्दुदले चन्द्रखण्डे विषये रुचिमभिलाषं करोति । इन्दुदले या रुचिः शोभा तां करोति दधातीति चार्थः । सामान्यशब्दे विशेषलक्षणा । महीपतिस्तु परिपूर्णेन्दो रुचिरिव रुचिः शोभा यस्य सः तस्मिन् रुचिरभिलाषो यस्येति च परिपूर्णेन्दुरुचिः । 'रुचिर्मयूखे शोभायाममभिष्वङ्गाभिलाषयोः' इति विश्वः । अत्र हरः खण्डेन्दुरुचिः राजा पूर्णेन्दुरुचिरिति व्यतिरेकः । स च रुच्योरभेदाश्रयादिति श्लेषमूलाभेदातिशयोक्त्या सङ्कीर्णः ॥७१॥

अथ कलापकमाह –

नयति द्रुतमुद्धतिश्रितः प्रसभं भङ्गमभंगुरोदयः ।
गमयत्यवनीतलस्फुरद्भुजशाखं भृशमन्यमुन्नतिम् ॥ ७२ ॥

नयतीत्यादि । यः तटद्रुमैः सरितामुदकस्य पूर इव भूभृतां गणैः क्रीडतीति चतुर्थे वक्ष्यति । तत् क्रीडाप्रकारं त्रिभिर्वर्णयति । अभङ्गुरोदयः स्थिरवृद्धिः यः उद्धतिश्रितः औद्धत्यभाजः । अनम्रानिति यावत् । श्रयतेः क्विप् । नृपान् द्रुमाश्चेत्यर्थः । द्रुतं शीघ्रं प्रसभं प्रसह्य भङ्गं नयति । अवनीतले स्फुरन्त्यो भुजौ शाखे इव भुजशाखे यस्य तं भुजौ प्रसार्य्य भुवि प्रणिपतितमित्यर्थः । अन्यं नृपं द्रुमं च वेतसादिकं भृशमुन्नतिं गमयति ॥ ७२ ॥

अधिगम्य च रन्ध्रमन्तरा जनयन्मण्डलभेदमन्यतः ।
खनति क्षतसंहति क्षणादपि मूलानि महान्ति कस्यचित् ॥७३॥

अधिगम्येति । किञ्चेति चार्थः । अन्तरा मण्डलमध्ये आलवालमध्ये च रन्ध्रमार्गान् सुषिर चाधिगम्य अन्यत. मण्डलस्यामात्यादिचक्रस्य भेदमुपजाप जनयन् । अन्यत्र मण्डलस्याधारदेशस्य भेद विदारणं कुर्वन्नित्यर्थ । क्षता सहतिरैकमत्य मूलानामाश्लेषश्च यस्मिन कर्मणि तद्यथा तथा क्षणात्कस्यचिद्राज्ञ. द्रुमस्य च महान्ति मूलानि मुख्यान् जनानपि खनन्ति तापयति अन्यत्रार्द्रानपि खनत्यवदारयति ॥ ७३ ॥

घनपत्रभृतोऽनुगामिनस्तरसाकृष्य करोति कांश्चन ।
दृढमप्यपरं प्रतिष्ठितं प्रतिकूलं नितरां निरस्यति ॥ ७४ ॥

घनेति । घनानि सान्द्राणि पत्राणि वाहनानि पर्णानि च बिभ्रतीति घनपत्रभृत काश्चन नृपान् द्रुमाश्च । तरसा बलेन वेगेन च । तरसी बलरहसी' इति विश्व । आकृष्यानुगामिनोऽनुचरान् करोति दृढ यथा तथा प्रतिष्ठित प्रतिष्ठा गतमपि । प्रतिकूल प्रातिकूल्यभाजम् अपर नृप द्रुम च नितरा निरस्यति उत्पाट्यान्यत. क्षिपति द्रुमपक्षे प्रतिकूलं कूले क्षिपतीति चार्थ ॥७४॥

इति पूर इवोदकस्य यः सरितां प्रावृषिजस्तटद्रुमैः ।
क्वचनापि महानखण्डितप्रसरः क्रीडति भूभृतां गणः ॥७५ ॥

इतीति । इतीत्थं क्वचनाप्यखण्डितप्रसर' सर्वत्राखण्डितप्रवृत्तिरित्यर्थ' । महान् यः शिशुपालः प्रावृषि जातः प्रावृषिज । "सप्तम्या जनेर्ड." इति डप्रत्ययः । "प्रावृट्शरत्कालदिवा जे" इत्यलुक् । प्रावृषिक इति पाठे तत्र जातः" इत्यर्थे "प्रावृषष्ठक्" इति ठक् प्रत्यय , "ठस्येक." इतीकादेशः । सरितामुदकाना पूरस्तटद्रुमैरिव भूभृता राज्ञा गणै. सार्धं क्रीडति । 'महतः कुकुर' इत्यागामिश्लोके स महीपतिरित्यनेनास्य सम्बन्ध ॥ ७५ ॥ कलापकम् ।

अथ विशेषकमाह–

अलघूपलपङ्क्तिशालिनीः परितो रुद्धनिरन्तराम्बराः ।
अधिरूढनितम्बभूमयो न विमुञ्चन्ति चिराय मेखलाः ॥ ७६ ॥

अलघ्विंत्यादि । यस्यारिस्त्रियः सम्पद्यनुभूतमापद्यप्यनुभवन्तीति वक्ष्यति तत्प्रकारमेवाह । अधिरूढनितम्बभूमयः उन्नतश्रोणिभागा अलघुभिः उपलाना मणीना पाषाणाना च पङ्क्तिभि' शालन्त इति तच्छालिनीः । ' उपलौ मणिपाषाणौ ' इति विश्व । परितो रुद्धमावृत निरन्तर सान्द्र सन्निहित च अम्बर वस्त्रमाकाश च याभिस्ता' अधिरूढनितम्बभूमीराक्रान्तश्रोणिभागा' प्राप्तकटकाश्चेति विभक्तिविपरिणाम । मेखला रशनाः पर्वतमध्यभूमीश्च चिराय न विमुञ्चन्ति । अत्र सम्पदादिविषयत्वेनोभयेषामपि मेखलादीना वर्ण्यत्वेन प्रकृतत्वात् केवलप्रकृतगोचरः श्लेषः ॥ ७६ ॥

कटकानि भजन्ति चारुभिर्नवमुक्ताफलभूषणैर्भुजैः ।
नियतं दधते च चित्रकैरवियोगं पृथुगण्डशैलतः ॥ ७७ ॥

कटकानीति । किञ्च नवमुक्ताफलानि नूतनमौक्तिकानि भूषणानि येषां तैश्चारुभिः भुजैः कटकानि वलयानि भजन्ति । अन्यत्र नवमुक्तान्यचिरत्यक्तानि अतः अफलानि वैधव्यान्निष्फलानि आभरणानि यैस्तैर्भुजैरुपलक्षिताः कटकानि तटानि भजन्ति । किञ्चेति चार्थः । पृथुगण्डशैलतः पृथुगण्डस्थलेषु चित्रकैः पत्ररचनाभिर्नियतमवियोगं सम्पर्कं दधते । अन्यत्र च्युतस्थूलोपलेषु चित्रकैर्मृगविशेषैः सहवासं दधते । अत्रापि प्रकृतगोचरः श्लेषः ॥ ७७ ॥

इति यस्य ससम्पदः पुरा यदवापुर्भवनेष्वरिस्त्रियः ।
स्फुटमेव समस्तमापदा तदिदानीमवनीध्रमूर्द्धसु ॥ ७८ ॥

इतीति । यस्यारिस्त्रियः पुरा पूर्वं ससम्पदः सश्रीका भवनेषु सदनेषु यदवापुर्मेखलादिकमनुबभूवुः । समस्तमशेषं तदिदानीमापदा अवनीध्रमूर्द्धसु शैलशृङ्गेषु इतीत्थं स्फुटमेवावापुः । तस्य वैरिणा जीवितव्याशेति भावः । अत्रापि यदर्थस्योत्तरश्लोकेनान्वयः ॥ ७८ ॥ विशेषकम् ।

महतः कुकुरान्धकद्रुमानतिमात्रं दववद्दहन्नपि ।
अतिचित्रमिदं महीपतिर्यदकृष्णां पृथिवीं करिष्यति ॥ ७९ ॥

महन इति । यत्तदोर्नित्यसम्बन्धात् । स महीपतिर्महतोऽधिकान् कुकुराश्चान्धकाश्च यादवभेदास्तानेव द्रुमानतिमात्रं दववत् दवाग्निवत् । 'दवदावौ वनारण्यवह्नी' इत्यमरः । दहन्नपि अवनीमकृष्णामश्यामां करिष्यति इति यत् इदमतिचित्रं विरुद्धमित्यर्थः । कृष्णरहितामित्यविरोधः । अत एव विरोधाभासोऽलङ्कारः । कुकुरान्धकैः सह कृष्णं हनिष्यतीति श्लेषार्थः ॥ ७९ ॥

अथ युग्मेनाह—

परितः प्रमिताक्षरापि सर्वं विषयं प्राप्तवती गता प्रतिष्ठाम् ।
न खलु प्रतिहन्यते कुतश्चित्परिभाषेव गरीयसी यदाज्ञा ॥ ८० ॥

परित इति । प्रकर्षेण मिताक्षरापि एकत्र मितभाषितत्वादन्यत्र तु सूत्रत्वाच्चाल्पाक्षरापि सर्वं विषयं राष्ट्रकार्यं देशं च परितो व्याप्तवती सर्वत्र प्रवृत्तेत्यर्थः । प्रतिष्ठां प्रामाण्यं स्थितिं गता गरीयसी भूयिष्ठार्था यदाज्ञा यस्य राज्ञः शासनं परिभाषा अनियमनिवारको न्यायविशेषः सैव कुतश्चित् कुत्रापि न प्रतिहन्यते खलु न बाध्यते हि । 'परिभाषा ह्येकदेशे स्थिता सर्वशास्त्रमभिज्वलयति' इति भाष्यकारः । "इको गुणवृद्धी" इत्यादिका परिभाषा सिचि वृद्धिरित्यादिविषयः । उपमालङ्कारः । औपच्छन्दासिकं वृत्तम् ॥ ८० ॥

यामूढवानूढवराहमूर्तिर्मुहूर्तमादौ पुरुषः पुराणः ।
तेनोह्यते साम्प्रतमक्षतैव क्षतारिणा सम्यगसौ पुनर्भूः ॥ ८१ ॥

यामिति । या भुवमादौ पूर्वं पुराणपुरुषो विष्णुः ऊढवराहमूर्त्तिः धृतवराहशरीरः स च न तु स्वरूपेणेति भावः । मुहूर्त्तं क्षणमात्रम् ऊढवान् धृतवान् । क्षतारिणा सहतसकलविपक्षेण अत एवैना पुनस्तेन राज्ञा अविकृतेनेति भावः । अक्षतैव विपक्षैरनुपहतैव असौ भूः साम्प्रतमद्यापि न तु मुहूर्त्तमिति भावः । सम्यक् यथाशास्त्रमुह्यते धार्य्यते । वहे कर्मणि लट्, "वचिस्वपि" इत्यादिना सम्प्रसारणम् । अत्र राज्ञो विष्णोराधिक्यकथनाद्व्यतिरेकः । अत्र ध्वनिः । कश्चिद्वृद्धः स चोढवराहमूर्त्तिर्यामविकृतामादौ प्रथमं मुहूर्तमूढवान् परिणीतवानिति अत एव अक्षता पूर्वेण अक्षतयोनिका । अत एवासौ भूर्वोढुः क्षतारिणा । शौर्य्यादिगुणाढ्येनेत्यर्थः । तेन केनचिद्यूना साम्प्रतं पुनरुह्यते पुनः पुनः परिणीयते । 'सा चेदक्षतयोनिः स्यात्पुनः संस्कारमर्हति' इति स्मरणादिति भावः । सा पुनर्भूरुच्यते इति योज्यम् । 'पुनर्भूर्दिधिषूरूढा द्विस्तस्या दिधिषुः पतिः' इत्यमरः । अत्राभिधायाः प्रकृतार्थ एव नियन्त्रणादप्रकृतार्थप्रतीतिर्ध्वनिरेव ॥ ८१ ॥

भूयांसः क्वचिदपि काममस्खलन्तस्तुङ्गत्वं दधति च यद्यपि द्वयेऽपि । कल्लोलाः सलिलनिधेरवाप्य पारं शीर्य्यन्ते न गुणमहोर्म्मयस्तदीयाः ॥ ८२ ॥

भूयांस इति । द्वयेऽपि समुद्रोर्म्मयो गुणोर्मयश्चेति द्वितया अप्यूर्मय इति । द्वेस्तयप् तस्य "द्वित्रिभ्याम्" इत्यादिना अयजादेशः "प्रथमचरम" इत्यादिना जसि विभाषया सर्वनामसञ्ज्ञा । भूयासो बहुतराः क्वचिदप्यस्खलन्तोऽप्रतिहतप्रसरा इत्यर्थः । कामं तुङ्गत्वं दधति यद्यपि दधत्येव । 'यद्यपीत्यवधारणे' इति केशवः । तथापीति शेषः । सलिलनिधेः समुद्रस्य कल्लोला महोर्म्मयः । 'अथोर्म्मिषु । महत्सूल्लोलकल्लोलौ' इत्यमरः । पारं तीरमवाप्य शीर्य्यन्ते । विशीर्यन्ते । शीर्य्यतेर्दैवादिकात्कर्त्तरि लट् । तदीया गुणमहोर्म्मयस्तु पारमवाप्य न शीर्य्यन्ते । अत्र गुणमहोर्म्मीणां भूयस्त्वादिति साधर्म्येण गुरुत्वेन समुद्रस्याधिक्याद्व्यतिरेकः । अनेन राज्ञोऽपि समुद्राधिक्यं व्यज्यते । प्रहर्षिणी वृत्तम् ॥ ८२ ॥

अथ युग्मेनाह—

लोकालोकव्याहतं घर्म्मरश्मेः शालीनं वा धाम नालं प्रसर्तुम् । लोकस्याग्रे पश्यतो धृष्टमाशु क्रामत्युच्चैर्भूभृतो यस्य तेजः ॥ ८३ ॥

लोकालोकेत्यादि । लोक्यते आलोक्यते च पार्श्वान्तरेणेति लोकालोकः 'लोकालोकश्चक्रवालः' इत्यमरः । विशेषणसमासः । तेन व्याहतं निरुद्धप्रसारं लोकस्यालोकेन चक्षुःप्रकाशेन व्याहतमित्यपि स्फुरति । अत एव शालीनमधृष्टं लज्जया भग्नधार्ष्टर्यमित्यर्थः । "शालीनकौपीने अधृष्टाकार्य्ययोः" इति निपातः । इवार्थे वा शब्दः तदुत्प्रेक्षा । घर्म्मरश्मेर्धाम तेजः पश्यतो

लोका' उच्चैर्भृत' पर्वतान् राज्ञश्च प्रसत्तुं व्याप्तु नाऽ न समर्थम् । लोकालोकव्याप्तस्य लोकाग्रे सञ्चरत्वादित्यर्थः । यस्य राज्ञस्तु तेज पश्यतो लोकस्याग्रत एव धृष्ट केनाऽप्यव्याहतत्वात्प्रगल्भ सत् उच्चैर्भूभृतो राज्ञः पर्वतांश्च क्रामति व्याप्नोति । अत्राप्रतिहतप्रतापत्वेन राज्ञः सूर्यादाधिक्याद्व्यतिरेकः स च द्वयोर्लोकालोकयोर्द्वयानां भूभृताम् अभेदाध्यवसायात् श्लेषमूलातिशयोक्त्युत्थापिततया शालीनत्वोत्प्रेक्षया संकीर्यते शालिनी वृत्तमेतत् ॥ ८३ ॥

विच्छित्तिर्नवचन्दनेन वपुषो भिन्नोऽधरोऽलक्तकैरच्छाच्छे पतिताञ्जने च नयने श्रोण्यो लसन्मेखलाः । प्राप्तो मौक्तिकहारमुन्नतकुचाभोगस्तदीयद्विषामित्थं नित्यविभूषणा युवतयः सम्पत्सु चापत्स्वपि ॥ ८४ ॥

विच्छित्तिरिति । वपुषो नवचन्दनेन विच्छित्तिर्वियोग आपदि अन्यत्र चन्दनालेपनमिति यावत् । अधरोष्ठः अलक्तकैः लाक्षारागैर्भिन्नो वियुक्तः अन्यत्र युक्तः । नयने च पतिताञ्जने गलितकज्जले अत एवाच्छाच्छे अच्छप्रकारे । " प्रकारे गुणवचनस्य " इति द्विर्भावः । " कर्मधारयवत् " इति सुपो लुक् । अन्यत्र अच्छाच्छे नयने पतिताञ्जने प्राप्ताञ्जने । श्रोण्यो नितम्बा. लसन्मेखला न भवन्तीत्यलसन्मेखला निर्मेखला इत्यर्थः । अन्यत्र लसन्मेखला इति पदच्छेदः । उन्नत' कुचाभोगः कुचविस्तारो मौक्तिकाना हार हरणं प्राप्तः । अन्यत्र मुक्तादाम प्राप्त इत्थमुक्तरीत्या तदीयद्विष युवतयः सम्पत्सु चापत्स्वपि नित्यविभूषणाः । अत्रापत्सम्पदो. प्रकृताप्रकृतयो. युवतिविशेषणद्वारा वर्णनात् श्लेषः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् । लक्षणमुक्तम् ॥ ८४ ॥

सत्यमीदृशस्ते राजा, ततः किमित्याशङ्क्य तर्हि तत्त्वमाकर्णयेत्याह—

विनिहत्य भवन्तमूर्जितश्रीर्युधि सद्यः शिशुपालतां यथार्थाम् । रुदतां भवदङ्गनागणानां करुणान्तःकरणः करिष्यतेऽसौ ॥ ८५ ॥

इति श्रीमाघकृते शिशुपालवधे महाकाव्ये षोडशः सर्गः ॥ १६ ॥

विनिहत्येति । ऊर्जितश्रीरधिकैश्वर्योऽसौ राजा युधि भवन्त सद्यो विनिहत्य हत्वा रुदता क्रन्दता भवदङ्गनागणानां करुणान्तःकरणः कृपाविष्टचित्तः सन् शिशुपालता यथार्थं करिष्यते । अङ्गनागणान् प्रति तच्छिशुपालनेन निजा शिशुपालसञ्ज्ञामन्वर्थां करिष्यतीत्यर्थ' । अत्र रोदनकरुणापदार्थयोर्विशेषणगत्याक्रमात् करुणाशिशुपालनहेतुकत्वात्काव्यलिङ्गयोः सङ्करः । औपच्छन्दसिकं वृत्तम् ॥ ८५ ॥

इति श्रीमहामहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचिते माघकाव्यव्याख्याने सर्वङ्कषाख्ये षोडश सर्ग ॥ १६ ॥

सप्तदशः सर्गः ।

इतीरत वचसि वचस्विनाऽमुना युगक्षयक्षुभितमरुद्गरीयसि ।
प्रचुक्षुभे सपदि तदम्बुराशिना समं महाप्रलयसमुद्यतं सदः ॥१॥

इतीति । इतीत्थम् अमुना वचस्विना वाग्मिना । मनस्विनेति पाठे मनस्विना धीरेण दूतेन युगक्षये कल्पान्ते क्षुभित उद्धतो मरुत्तद्वद्गरीयसि वचसि ईरिते सति । सदम्बुराशिना युगक्षयवर्द्धिना समं तुल्य यथा तथा सदो हरेरास्थान महाप्रलये सर्वसंहारे समुद्यतमुद्युक्त सत् सपदि प्रचुक्षुभे प्रचुकोप । कल्पोद्धतमहामारुतेन महार्णव इव तद्वचनेन तत्सदः क्षुभितमासीदित्यर्थः । उपमा । रुचिरा वृत्तम् । ' चतुर्ग्रहैरिह रुचिरा जभस्जगाः ' इति लक्षणात् ॥ १ ॥

अथाष्टादशभिः सभाक्षोभ वर्णयति—

सरागया स्रुतघनघर्म्मतोयया कराहतिध्वनितपृथूरुपीठया ।
मुहुर्मुहुर्दशनविखण्डितोष्ठया रुषा नृपाः प्रियतमयेव भेजिरे २॥

सरागयेत्यादि । नृपा. राजान. सह रागेण पाटलिम्ना अनुरागेण च सरागया । " तेन सहेति तुल्ययोगे " इति बहुव्रीहि । स्रुत घन सान्द्र घर्म्मतोय स्वेदोदक यस्या सा तया कराहत्या पाणितलास्फालनेन ध्वनित पृथु महदूरु पीठमिव ऊरुपीठ यस्या तया मुहुर्मुहुर्दशनविखण्डितोष्ठया दन्तदष्टाधरया । रुषा प्रियतमयेव भेजिरे । आविष्टोऽनाविष्टश्च रौद्रस्थायी क्रोधः प्रादुर्भूत इत्यर्थः । उपमालकारः ॥ २ ॥

अथ सप्तदशभी राज्ञा क्रोधानुभावानाह—

अलक्ष्यत क्षणदलिताङ्गदे गदे करोदरप्रहितनिजांसधामनि ।
समुल्लसच्छकलितपाटलोपलस्फुलिंगवान्स्फुटमिव कोपपावकः ३

अलक्ष्यतेत्यादि । करोदरप्रहित पाणितलास्फालित निजमसधाम स्वासप्रदेशो येन तस्मिन् । अत एव क्षणात् दलिताङ्गदे भग्नकेयूरे । गदे गदाख्ये कृष्णानुजे समुल्लसद्भिः उत्पतद्भिः शकलितैः शकलीकृतैर्दलदङ्गदगलितै. पाटलोपलैः पद्मरागै कोपपावक. स्फुलिङ्गवानिव स्फुट व्यक्तमलक्ष्यतेत्युत्प्रेक्षा । 'त्रिषु स्फुलिङ्गोऽग्निकणः ' इत्यमरः ॥ ३ ॥

अवज्ञया यदहसदुच्चकैर्बलः समुल्लसद्दशनमयूखमण्डलः ।
रुषारुणीकृतमपि तेन तत्क्षणं निजं वपुः पुनरनयन्निजां रुचिम् ४

अवज्ञयेति। बलो बलभद्रः समुल्लसत् समन्ततः प्रसरद्दशनमयूखमण्डलं दन्तरश्मिपटलं यस्य स सन् अवज्ञया अनादरेण उच्चैः असहदिति यत् तेन हासेन रुषारुणीकृतमपि निज वपुः तत्क्षण तस्मिन् क्षणे। 'अत्यन्तसंयोगे द्वितीया' पुनर्निजां रुचिं धावल्यमेवानयत्। अत्र वपुष. स्वधावल्यत्यागेन दन्तधावल्यस्वीकारात्तद्गुणाऽलङ्कारः। 'तद्गुणः स्वगुणत्यागादन्योत्कृष्टगुणाश्रयात्' इति लक्षणात्॥ ४॥

यदुत्पतत्पृथुतरहारमण्डलं व्यवर्त्तत द्रुतमभिदूतमुल्मुकः।
बृहच्छिलातलकठिनांसघट्टितं ततोऽभवद्भ्रमितमिवाखिलं सदः ५

यदिति। उल्मुको नाम राजा उत्पतदुल्लुठत् पृथुतर हारमण्डल मुक्ताकलापो यस्मिन् कर्म्मणि तद्यथा तथा अभिदूत दूताभिमुख व्यवर्त्तत विवृत इति द्रुत यत् ततो निवर्त्तनादखिल सदः बृहता शिलातलकठिनेनांसेन स्कन्धेन घट्टितं भ्रमितमिवाभवत्। निवर्त्तवेगवशोत्थादंसघट्टनाद्भ्रमितमिवाभूदित्युत्प्रेक्षा॥ ५॥

प्रकुप्यतः श्वसनसमीरणाहतिस्फुटोष्मभिस्तनुवसनान्तमारुतैः।
युधाजितः कृतपरितूर्णवीजनं पुनस्तरां वदनसरोजमस्विदत् ६

प्रकुप्यत इति। प्रकुप्यतोऽतिक्रुध्यतो युधाजितो नाम राज्ञो वदनसरोज श्वसनसमीरणस्य निःश्वासमारुतस्याहतिभिः स्फुटः प्रकट ऊष्मा उष्णत्व येषां तैः तनुवसनान्तमारुतैः सूक्ष्मवस्त्राञ्चलवातैः कृत परितूर्णवीजन शीघ्रविधूनन यस्य तत्। अतिशीघ्र वीज्यमानमपीत्यर्थः। पुनस्तरां पुनरत्यन्तम्। अव्ययादामुप्रत्ययः। अस्विदत् स्विद्यति स्म। स्विदेर्लुङि पुषादित्वादङ्प्रत्यय.। अत्रोष्मविशेषणगत्या स्वेदहेतुत्वात्काव्यलिङ्ग वीजनेऽपि स्वेद इति विरोधः। वीजिरय चुरादिषु अन्वेषणीयः॥ ६॥

प्रजापतिक्रतुनिधनार्थमुत्थितं व्यतर्कयज्ज्वरमिव रौद्रमुद्धतम्।
समुद्यतं सपदि वधाय विद्विषामतिक्रुधं निषधमनौषधं जनः॥७॥

प्रजेति। जनः सपदि विद्विषां वधाय समुद्यतमुद्युक्तम् उद्धत तीव्रम् अत एवातिक्रुद्धमधिकक्रोधमनौषधमप्रतीकारमित्यर्थः। निषधं निषधाख्य नृप प्रजापतिक्रतुनिधनार्थं दक्षाध्वरध्वंसनार्थमुत्थित रुद्रस्येम रौद्र रुद्रसम्बन्धिन ज्वरमिव वीरभद्ररूपिणमित्यर्थः। व्यतर्कयत्। अत्र राज्ञोऽपि प्रजापतित्वात् पुनः प्रजापतिक्रतुनिधनार्थमुत्थितः साक्षाद्दक्षाध्वरविध्वंसी वीरभद्र इवायमिति उत्प्रेक्षितवानित्यर्थः। उपमा॥ ७॥

परस्परं परिकुपितस्य पिंषतः क्षतोर्म्मिकाकनकपरागपङ्किलम्।
करद्वयं सपदि सुधन्वनो निजैरनारतस्रुतिभिरधाव्यताम्बुभिः८॥

परस्परमिति। परिकुपितस्यातिक्रुद्धस्य अत एव परस्पर पिंषत. पीडयतः करद्वयमित्यर्थः। सपदि सुधन्वनो राज्ञः क्षताना विष्टानामूर्म्मिकाणामङ्गुलीयकाना कनकपरागेण सुवर्ण-

चूर्णेन पङ्किलं पङ्कवत् । पिच्छादित्वान्मत्वर्थीय इलच्प्रत्ययः । 'अङ्गुलीयकमूर्म्मिका' इत्यमरः । करद्वयं पाणियुग्मं निजैः करद्वयजन्यैरेवानारतश्रुतिभिरविरतस्राविरम्बुभिः स्वेदोदकैरधाव्यताक्षाल्यत । "धावु गतिशुद्धयोः" इति धातोः कर्म्मणि लङ् । अत्रोर्म्मिकाणां करद्वयस्य च परागत्यपङ्किलत्वासम्बन्धेऽपि सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्ती । तयोः सङ्करः ॥ ८ ॥

निरायतामनलशिखोज्ज्वलां ज्वलन्नखप्रभाकृतपरिवेषसम्पदम् ।
अविभ्रमद्भ्रमदनलोल्मुकाकृतिं प्रदेशिनीं जगदिव दग्धुमाहुकिः ९॥

निरिति । आहुकिर्नाम राजा निरायतां प्रसारिताम् अनलशिखाग्निज्वाला तद्वत् उज्ज्वलां ज्वलन्तीभिर्नखप्रभाभिः कृता परिवेषसम्पत् परिधिशोभा यस्यास्ताम् अत एव भ्रमतोऽनलोल्मुकस्यालातस्येवाकृतिः संस्थानं यस्यास्ताम् । 'अलातोऽलातमुल्मुकम्' इत्यमरः । प्रदेशिनीं जगद्दग्धुमिवेत्युत्प्रेक्षा । अविभ्रमत् भ्रमयति स्म । भ्रमेर्णौ चङ् । नूनमन्तर्जनाय भ्राम्यमाणनखप्रभापटला तर्जनी जगद्दाहाय भ्राम्यमाणालातचक्रवदलक्ष्यतेत्यर्थः ॥ ९ ॥

दुरीक्षतामभजत मन्मथस्तथा यथा पुरापरिचितदाहधाष्टर्यया ।
ध्रुवं पुनः सशरममुं तृतीयया हरोऽपि न व्यसहत वीक्षितुं दृशा १०

दुरीक्षतामिति । मन्मथः प्रद्युम्नावतारः कामस्तथा दुरीक्षता दुर्दर्शनत्वम् । ईक्षतेः खलन्तात्तल्प्रत्ययः । अभजत यथा हरोऽपि पुरा पूर्वजन्मनि परिचितमभ्यस्तं दाहधाष्टर्यं दहनसाहसं यस्यास्तया तृतीयया दृशा । सशरममुं मन्मथं ध्रुवं पुनर्वीक्षितुं न व्यसहत न शक्तः । "परिनिविभ्यः सेवसितसयसिवुसहसुट्स्तुस्वञ्जाम्" " सिवादीनां वाड् व्यवायेपि " इति विकल्पान्नत्वम् । अनयोत्प्रेक्षया रुद्रस्यापि भीषणः किमुतान्येषामिति वस्तु व्यज्यते ॥ १० ॥

विचिन्तयन्नुपनतमाहवं रसादुरः स्फुरत्तनुरुहमग्रपाणिना ।
परामृशत्कठिनकठोरकामिनीकुचस्थलप्रमुषितचन्दनं पृथुः॥११॥

विचिन्तयन्निति । पृथुर्नाम राजा उपनतं प्राप्तम् आहवं युद्धं रसाद्रणरागात् विचिन्तयन् कदेति ध्यायन् कठिनेन कर्कशेन कठोरेण प्रवृद्धेन कामिन्याः कुचस्थलेन प्रमुषितमपहृतं चन्दनं यस्य तत् । एतेनास्य सुरतसमरयोः समरसत्वं व्यज्यते । अत एव स्फुरत्तनुरुहमुद्गच्छत्पुलकमुरः । अग्रश्चासौ पाणिश्चेति समानाधिकरणसमासः । अत एव "हस्ताग्राग्रहस्तादयो गुणगुणिनोर्भेदाभेदयोः" इति वामनः । तेनाग्रपाणिना पाणितलेन परामृशत् परामृष्टवान् । रणकण्डूलपाणित्वादिति भावः । अत एव यदन्येषां रोषजनकं दूतवाक्यं तदागामिरणकारणतयास्य हर्षे हेतुरिति श्लेषार्थः ॥ ११ ॥

विलङ्घितस्थितिमभिवीक्ष्य रूक्षया रिपोर्गिरा गुरुमपि गान्दिनीसुतम् । जनैस्तदा युगपरिवर्त्तवायुभिर्विवर्त्तिता गिरिपतयः प्रतीयिरे ॥ १२ ॥

विलंघितेति । गुरु स्वभावतो धीरमपि सन्त रूक्षया परुषया रिपोर्गिरा दूतवाचा-विलङ्घितस्थितिमुल्लङ्घितमर्य्याद क्रोधादुन्मर्य्याद विकुर्वागमित्यर्थः । गान्दिनीसुतमक्रूरमभिवीक्ष्य जनैस्तदा अक्रूरविक्रियालोकनसमये युगपरिवर्त्तवायुभिः कल्पान्तवातैर्विवर्त्तिताः स्थानादुच्चालिताः गिरिपतयोऽद्रयः प्रतीयिरे विशश्वसिरे । अक्रूरविक्रियादर्शनाद्गिरिचलनमपि युगान्ते संभावितमेवेति जनैर्विश्वस्तमित्यर्थः । 'प्रत्ययोऽधीनशपथज्ञानविश्वासहेतुषु' इत्यमरः । प्रतिपूर्वादिणः कर्मणि लिट् । अत्र कल्पान्ते गिरिचलनविक्रियाकल्पेयमक्रूरविक्रियेति वाक्यभेदेन साम्याक्षेपान्निदर्शनालङ्कारः । तेनाक्रूरस्य लोकोत्तर धैर्य्यं नैसर्गिकमिति वस्तु व्यज्यते ॥ १२ ॥

विवर्त्तयन्मदकलुषीकृते दृशौ कराहतक्षितिकृतभैरवारवः ।
क्रुधा दधत्तनुमतिलोहिनीमभूत्प्रसेनजिद्गज इव गैरिकारुणः॥१३॥

विवर्तयन्निति । मदो मद्यविकारो दान च । "मदो मद्येमदानयोः" इति विश्वः । तेन कलुषीकृते आकुलीकृते दृशौ निवर्त्तयन् घूर्णयन् करेण पाणिना शुण्डादण्डेन चाहतायां क्षितौ भूमौ कृतो भैरवारवो भयङ्करध्वनिर्येन सः । क्रोधातध्यान करेण क्षितिमाघ्नन्नित्यर्थः । क्रुधा क्रोधेन अतिलोहिनीमतिलोहिताम् । "वर्णादनुदात्तात्तोपधात्तो नः" इति विकल्पात् ङीष् तकारस्य च नकारः । तनु वपुर्दधत् प्रसेनजिन्नाम राजा गैरिकारुणो धातुरक्तो गज इवाभूत् । तद्वदलक्ष्यतेत्यर्थः ॥ १३ ॥

सकुङ्कुमैरविरलमम्बुबिन्दुभिर्गवेषणः परिणतदाडिमारुणः ।
स मत्सरस्फुटितवपुर्विनिस्सृतैर्बभौ चिरं निचित इवासृजां लवैः॥१४॥

सकुंकुमैरिति । प्रसिद्धो गवेषणो नाम राजा सकुंकुमैः । सर्वाङ्गीणकश्मीरजलेपैरित्यर्थः । अत एव परिणतदाडिमारुणैः परिपक्वदाडिमबीजरक्तैरम्बुबिन्दुभिः । क्रोधसात्त्विकैः स्वेदबिन्दुभिरित्यर्थः । मत्सरेणान्तःसवृत्तेनात्युत्कटवैरेण स्फुटितान्निर्भिन्नात् वपुषो विनिस्सृतैरसृजा लवैरसृग्बिन्दुभिरविरल निरतर निचितो व्याप्त एव चिर बभौ । उत्प्रेक्षा ॥ १४ ॥

ससम्भ्रमं चरणतलाभिताडनस्फुटन्महीविवरवितीर्णवर्त्मभिः ।
रवेः करैरनुचिततापितोरगं प्रकाशतां शिनिरनयद्रसातलम् ॥१५॥

ससम्भ्रममिति । शिनिः सात्यकेः पितामहः ससम्भ्रम सत्वर चरणतलाभिताडनेन पादतलाभिघातेन स्फुटन्त्या दलन्त्या मह्या विवरैः छिद्रैः वितीर्णवर्त्मभिर्दत्तमार्गैस्तत्प्रसरणैरित्यर्थः । रवेः करैः अनुचित पूर्वमपरिचितमिद यथा तथा तापिताः सन्ताप गमिता उरगा यस्मिन् तत् रसातलं प्रकाशतां प्रगटत्वमनयत् । अत्र महीविवरोरगरसातलानां क्रमेण स्फुटनान्तःप्रवेशतापप्रकाशनैरसम्बन्धेऽपि सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिः । पादाहननैरस्मानुपी तीव्रता व्रजति स्मेति ध्वनिः ॥ १५ ॥

प्रतिक्षणं विधुवति शारणे शिरः शिखिद्युतः कनककिरीट-रश्मयः। अशङ्कितं युधमधुना विशन्त्वमी क्षमापतीनिति निरराजयन्निव ॥ १६ ॥

प्रतीति। शारणे नाम राज्ञि प्रतिक्षण शिरो विधुवति क्रोधात्कम्पयति सति। धुवस्तौदादिकाल्लटः शत्रादेशः, "अचि श्नुधातु" इत्यादिना उवङादेशः। शिखिवत् द्योतन्त इति शिखिद्युतोऽग्निप्रभाः। क्विप्। कनककिरीटरश्मयो नीराजनकर्त्तार अमी भूपा. अधुना अशङ्कितं निःशङ्क युधमाजिम्। ' समित्याजिसमिद्युधः ' इत्यमरः। विशन्त्विति क्षमापतीन्निरराजयन्निव नीराजयन्ति स्मेवेत्युत्प्रेक्षा। ' नीराजना स्याद्विजमे ' इत्यागमः ॥ १६ ॥

दधौ चलत्पृथुरसनं विवक्षया विदारितं विततबृहद्भुजालतः। विदूरथः प्रतिभयमास्यकन्दरं चलत्फणाधरमिव कोटरं तरुः १७

दधाविति। वितते विस्तृते बृहत्यौ भुजे लते इव यस्य सः विदूरथो नाम राजा। विवक्षया किमपि वक्तुमिच्छया विदारित व्यात्तम् अत एव चलन्ती पृथुर्महती रसना जिह्वा यस्मिन् तम्। ' रसज्ञा रसना जिह्वा' इत्यमर.। प्रतिभय भयङ्करमास्य कन्दर इवास्यकन्दरस्तम्। 'दरी तु कन्दरो वा स्त्री' इत्यमरः। चलन् फणाधरः फणी यस्मिन् तत् कोटरमिति। 'निष्कुहः कोटर वा ना ' इत्यमरः। दधौ। श्रौती पूर्णोपमा ॥ १७ ॥

समाकुले सदसि तथापि विक्रियां मनोऽगमन्न मुरभिदःपरोदितैः घनाम्बुभिर्बहुलितनिम्नगाजलैर्जलं न हि व्रजति विकारमम्बुधेः॥

समानकुल इति। परोदितैः शत्रुवाक्यै. सदसि आस्थाने तथा समाकुले क्षुभितेऽपि मुरभिदो हरेर्मनो विक्रिया क्षोभ नागमत्। तथा हि बहुलितानि बहुलीकृतानि क्षोभितानि निम्नगाजलानि यैस्तैर्घनाम्बुभिर्मेघोदकैरम्बुधेर्जल विकार न व्रजति। यथा वर्षोदकैर्नद्य क्षुभ्यन्ति न समुद्रस्तद्वदिति भावः। दृष्टान्तालङ्कारः ॥ १८ ॥

परानमी यदपवदन्त आत्मनः स्तुवन्ति च स्थितिरसताम-साविति। निनाय नो विकृतिमविस्मितः स्मितं मुखं शरच्छशधरमुग्धमुद्धवः॥ १९ ॥

परानिति। अमी खला. परानन्यानपवदन्ते निन्दन्ति। "अपाद्वदः" इत्यात्मनेपदम्। आत्मनः स्वानि स्तुवन्ति चति यत् असावसता खलाना स्थितिः प्रकृतिरिति। इति मत्वेत्यर्थः। गम्यमानार्थत्वादप्रयोग.। अन्यथा पौनरुक्त्यमित्यालङ्कारिका'। विस्मितो न भवतीति अविस्मितो दूतप्रलापैर्विस्मय न गतः उद्धवः स्मित स्मेरम्। उभयत्र कर्त्तरि क्तः। अत एव शरच्छशधरमुग्ध शरदिन्दुसुन्दरमित्युपमा मुख विकृतिं न निनाय न प्रापयामास। नहि महतां निन्दा स्तुतिर्वा विकारकारणमिति भावः ॥ १९ ॥

निराकृते यदुभिरिति प्रकोपिभिः स्पशे शनैर्गतवति तत्र विद्विषाम् । मुरद्विषः स्वनितभयानकानकं बलं क्षणादथ समनह्यताजये ॥ २० ॥

निराकृत इति । तत्र सदसि इतीत्थं प्रकोपिभिरतिक्रुद्धैर्यदुभि. विद्विषां स्पशे चरे । 'अपसर्पश्चर स्पश.' इत्यमरः । निराकृते धिक्कृते शनैर्गतवति गच्छति सति । सागसोऽपि दूतस्यावध्यत्वादिति भाव । अथ दूतगमनानन्तरं स्वनितेन ध्वनिता भयानकाः भयङ्कराः आनका. पटहा यस्मिंस्तत् मुरद्विषो बलं क्षणादाजये युद्धाय समनह्यत सन्नद्धम् ॥ २० ॥

मुहुः प्रतिस्खलितपरायुधा युधि स्थवीयसीरचलनितम्बनिर्भरः। अदंशयन्नरहितशौर्यदंशनास्तनूरयं नय इति वृष्णिभूभृतः॥२१॥

मुहुरिति । वृष्णिभूतो यादवनरेन्द्राः मुहुरसकृद्युधि प्रतिस्खलितपरायुधाः भग्नप्रतिपक्षायुधाः स्थवीयसी. स्थूलतराः पराक्रमानुरूपप्रकर्षवतीरित्यर्थः । 'स्थूलदूर' इत्यादिना पूर्वस्य गुणलोपौ । अचलनितम्बनिर्भरा अद्रिकटकनिबिडा' । अन्तः सारवतीरित्यर्थः । अरहितमत्यक्तं शौर्यमेव दशनं वर्म्म यासां तास्तनूर्देहान् अयं नय इति वर्मधारणं नीतिरिति हेतोर्न तु भयादिति भाव । अदंशयन् अवर्मयन् । दंशेरनुदात्तेत्त्वात्परस्मैपदं चिन्त्यमित्याहुः । अत एव भट्टमल्लः " सवर्मयति सन्नह्यत्यात्मने सज्जतीत्यमी । सन्दशते दंशयते सन्नाहे ,पदपञ्चकम् " इति । केचित्तु चुरादिपूभयपदिषु पठन्ति । अत्र साभिप्रायविशेषणत्वात् परिकरालङ्कारः ॥ २१ ॥

दुरुद्वहाः क्षणमपरैस्तदन्तरे रणश्रवादुपचयमाशु बिभ्रति । महीभुजां महिमभृतां न सम्ममुर्मुदोऽन्तरा वपुषि बहिश्च कञ्चुकाः ॥ २२ ॥

दुरुद्वहा इति । महिमभृतामैश्वर्यवतां महीभुजां राज्ञां सम्बन्धिनि रणश्रवात् युद्धश्रवणात् आशु शीघ्रम् उपचयं वृद्धिं बिभ्रति बिभ्राणे वपुषि अपरैरन्यैः क्षणं क्षणमपि दुरुद्वहा दुर्भरा मुदः सन्तोषाः अन्तरा अन्तराले न सममुः बहिः कञ्चुकाश्च न सममुः न मान्ति स्म । नावर्त्तन्तेत्यर्थः । पूर्वत्र आधेयाधिक्यादुत्तरत्राधाराधिक्यादिति विवेकः । अत्र मुदां कञ्चुकानां च प्रकृतानामेव विशेषणसाम्यादौपम्यगम्यतायां केवलप्रकृतास्पदा तुल्ययोगिता ॥ २२ ॥

सकल्पनं द्विरदगणं वरूथिनस्तुरङ्गिणो जयनयुजश्च वाजिनः । त्वरायुजः स्वयमपि कुर्वतो नृपः पुनःपुनस्तदधिकृतानतत्वरत्॥

सकल्पनमिति । द्विरदगणं सह कल्पनया सकल्पनं यथोचितसन्नाहसहितम् । 'कल्पना सज्जना समे' इत्यमरः । वरूथो रथगुप्तिरेषामस्तीति वरूथिनो रथान् 'रथगुप्तिर्वरूथो ना' इत्यमरः । तुरङ्गिणोऽश्वयुक्तान् वाजिनोऽश्वान् जयनयुजः पल्ययनादिसन्नाहसयुक्तान् । सम्पदादिभ्यः क्विप् ।

'जयनः स्यात्तुरङ्गादिसन्नाहे विजयेऽपि च' इति विश्वः । स्वयम् । त्वरायुजः त्वरायुक्तान् स्वतः कुर्व्वतोऽपि स्वत एव त्वरया कुर्व्वाणानपीत्यर्थः । तदधिकृतान् हस्त्यादिषु नियुक्तपुरुषान् नृपाः पुनःपुनरतत्वरन् त्वरयन्ति स्म । तेषां तथा रणौत्सुक्यादिति भावः । त्वरेर्णौ चङि "अत्स्मृदृत्वरप्रथम्रदस्तृस्पशाम्" इत्यभ्यासस्याकारः ॥ २३ ॥

युध परैः सह दृढबद्धकक्षया कलक्वणन्मधुपकुलोपगीतया ।
अदीयत द्विपघटया सवारिभिः करोदरैः स्वयमथ दानमक्षयम् २४

युध इति । अथ परैः सह युद्धे युद्धाय दृढबद्धा कक्षा मध्यबन्धनं यस्यास्तया । 'कक्षा बृहतिकायां स्यात् काञ्च्यां मध्येभबन्धने' इति विश्वः । अन्यत्र दृढोद्योगयेत्यर्थः । कलं क्वणता मधुपकुलेनालिगणेनोपगीतया । बन्दिमागधस्तुतया चेति गम्यते । द्विपघटया । कर्त्र्या । स्वयं सवारिभिः सोदकैः करोदरैः पुष्कराग्रैः पाणितलाग्रैश्चाक्षयमपरिमितं दानं मदः अदीयत दानं द्रव्यं चादीयत दत्तम् । अत्र प्रस्तुतगजघटाविशेषणसाम्येनाप्रस्तुतदानकर्तृप्रतीतिः समासोक्तिरलङ्कारः ॥ २४ ॥

सुमेखलाः सिततरदन्तचारवः समुल्लसत्तनुपरिधानसम्पदः ।
रणैषिणां पुलकभृतोऽधिकन्धरं ललम्बिरे सदसिलताः प्रिया इव

सुमेखला इति । शोभना मेखला बन्धनसूत्राणि काञ्च्यश्च यासां ताः सुमेखलाः । 'मेखला खड्गबन्धे स्यात् काञ्चीशैलनितम्बयोः' इति विश्वः । सिततरैर्दन्तैर्दन्तमयत्सरुभिर्दशनैश्च चारवः उल्लसन्त्यः तनवः सूक्ष्माः परिधानसम्पदः । कोशसम्पदो वस्त्रसम्पदश्च यासां ताः पुलकभृतः छायाभृतः रोमाञ्चधारिण्यश्च सदसिलताः चारुखड्गवल्लयः प्रिया इव रणैषिणां रणाकाङ्क्षिणां कन्धरास्वधिकन्धरं अधिकण्ठम् । विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः । ललम्बिरे लग्ना इत्यर्थः । श्लेषः श्लिष्टोपमा वा मतभेदात् ॥ २५ ॥

मनोहरैः प्रकृतिमनोरमाकृतिर्भयप्रदैः समितिषु भीमदर्शनः ।
सदैवतैः सततमथानपायिभिर्निजाङ्गवन्मुरजिदसेव्यतायुधैः॥२६

मनोहरैरिति । अथ प्रकृतिमनोरमाकृतिः स्वभावसुन्दरमूर्त्तिः समितिषु युद्धेषु भीमं दर्शनं यस्य स भीमदर्शनो मुरजिदर्मनोहरैः प्रकृतिमनोहरैः समितिषु भयप्रदैः सदैवतैः अधिदेवतायुक्तैः सततम् अनपायिभिः आयुधैः शार्ङ्गादिभिर्निजाङ्गवत् पृथगवस्थितैः शरीरैरिवेत्युत्प्रेक्षा । असेव्यत सेवितः ॥ २६ ॥

अवारितं गतमुभयेषु भूरिशः क्षमाभृतामथ कटकान्तरेष्वपि ।
मुहुर्युधि क्षतसुरशत्रुशोणितप्लुतप्रधिं रथमधिरोहति स्म सः॥२७॥

अवारितमिति । अथायुधसन्निधानानन्तरं स हरिरुभयेषु द्वयेषु द्विविधेष्वित्यर्थः । क्षमाभृतां राज्ञां गिरीणां च कटकान्तरेष्वपि शिबिराभ्यन्तरेषु नितम्बावकाशेषु च भूरिशो बहुशः

अवारितमप्रतिहत गत प्रस्थितं मुहुरसकृत् युधि क्षताना सुरशत्रूणामसुराणा शोणितैः प्लुताः सिक्ता प्रधयो नेमयो यस्य तम् । 'चक्रधारा प्रधिर्नेमिः' इति हलायुधः । रथमधिरोहति स्म आरुरोह ॥ २७ ॥

उपेत्य च स्वनगुरुपक्षमारुतं दिवस्त्विषा कपिशितदूरदिङ्मुखः । प्रकम्पितस्थिरतरयष्टि तत्क्षणं पतत्पतिः पदमधिकेतनं दधौ ॥ २८ ॥

उपेत्येति । किञ्चेति चार्थः । पतत्पति. अण्डजमण्डलेश्वरः गरुडः । 'पतत्पत्ररथाण्डजाः' इत्यमरः । त्विषा कान्त्या कपिशितानि कपिलीकृतानि दूराणि दिङ्मुखानि येन सः । स्वनेन गुरुर्महान् पक्षमारुतो यस्मिन् कर्म्मणि तत्तथा । दिवः स्वर्गादुपेत्यागत्य तत्क्षण तस्मिन् क्षणे प्रकम्पिना स्थिरतरा निश्चला यष्टिरावासस्तम्भो यस्मिंस्तत्तथा अधिकेतन केतने । विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः । पद दधौ निहितवान् ॥ २८ ॥

गभीरताविजितमृदङ्गनादया स्वनश्रिया हतरिपुहंसहर्षया । प्रमोदयन्नथ मुखरान्कलापिनः प्रतिष्ठते नवघनवद्रथः स्म सः ॥ २९

गभीरतेति । अथ गरुडागमनानन्तर स रथो नवघनवत् नवघनेन नवाम्बुदेन तुल्यं 'तेन तुल्यम्' इत्यादिना वतिप्रत्ययः । गभीरतया गाम्भीर्येण विजितो मृदङ्गनादो यया तया हतो रिपुहंसानां हंसानामिव रिपूणा हर्षो यया तया स्वनश्रिया ध्वनिसम्पदा मुखरान् कूजतः कलापिनो मयूरान् प्रमोदयन् प्रतिष्ठते स्म प्रतस्थे । "समवप्रविभ्यः स्थः" इत्यात्मनेपदम् । 'लट् स्मे' इति भूते लट् । तद्धितगता श्रौती पूर्णोपमा ॥ २९ ॥

निरन्तरस्थगितदिगन्तरं ततः समुच्चलद्बलमवलोकयञ्जनः । विकौतुकः प्रकृतमहाप्लवऽभवद्विशृंखलं प्रचलितसिन्धुवारिणि ॥ ३० ॥

निरन्तरेति । ततो रथप्रस्थानानन्तरं निरन्तर नीरन्ध्र स्थगितानि आच्छादितानि दिगन्तराणि येन तत् । समुच्चलत् प्रतिष्ठमानं तद्बलं सैन्यम् अवलोकयन् जनो लोकः प्रकृतः प्रक्रान्तो महाप्लवो महाप्लवे जगत्सम्प्लवरूपो येन तस्मिन् विशृङ्खलमप्रतिघात प्रचलित क्षुभित यत् सिन्धोरब्धेर्वारि तस्मिन् विकौतुको निवृत्तकौतूहलोऽभवत् । कल्पान्तक्षुभितवारिवच्च तद्बल सकलजगत्संहारशङ्कया अलक्ष्यतेत्यर्थः । अत्रान्यदर्शनादन्यदिदृक्षानिवृत्तेर्बलवारिधिवारिणोरैकत्वाक्षेपे बाधात् सादृश्याक्षेपात् वाक्यभेदेन प्रतिबिम्बकरणात् निदर्शनालङ्कारः ॥ ३० ॥

वबृंहिरे गजपतयो महानकाः प्रदध्वनुर्जयतुरगा जिहेषिरे । असम्भवद्भिरिव रगह्वरैरभ तदा रवैर्दलित इव स्व आश्रयः ॥ ३१ ॥

बबृंहिरे इति। गजपतयः बबृंहिरे बबृंहुः बृंहणं चक्रुरित्यर्थः। 'बृहि बृद्धौ शब्दे च' आत्मनेपदं चिन्त्यम्। अत एव मल्लमल्लः। 'हेषते ह्रेषतेऽश्वानां हस्तिना बृंहतीति च' इति। महानकाः प्रदध्वनुर्जयशीलास्तुरगा जयतुरगा जिहेषिरे ह्रेषां चक्रुरित्यर्थः। 'हेषृ ह्रेषृ अव्यक्ते शब्दे'। तदा तस्मिन्काले असम्भवन्त्यन्तर्द्रातुमपर्याप्नुवन्ति गिरिवरगह्वराणि येषां तैः गिरिवरगह्वरेषु अमाद्भिः अवर्त्तमानैरित्यर्थः। स्वैर्बृंहणादिघोषैः स्व आश्रयः स्वसमवायिकारणमाकाशो दलित इव विदारित इवाभूदित्युत्प्रेक्षा। तया तेषामतितीव्रत्वं व्यज्यते ॥ ३१ ॥

अनारतं रसति जयाय दुन्दुभौ मधुद्विषः फलदलघुप्रतिस्वनैः। विनिष्पतन्मृगपतिभिर्गुहामुखैर्गताः परां मुदमहसन्निवाद्रयः ॥ ३२ ॥

अनारतमिति। मधुद्विषो हरेः दुन्दुभौ रणभेर्यां जयायानारतमश्रान्तं रसति ध्वनति सति फलन्तः सक्रामन्तोऽलघवो महान्तः प्रतिस्वनाः प्रतिध्वनयो येषु तैः। विनिष्पतन्तः क्षोभान्निर्गच्छन्तः मृगपतयः सिंहा येभ्यस्तैर्गुहाभिरेव मुखैरद्रयः परां मुदं गताः सन्तः अहसन्निव। सिंहानां धावल्याद्ध्वनियोगाच्च हसनोत्प्रेक्षा ॥ ३२ ॥

जडीकृतश्रवणपथे दिवौकसां चमूरवे विशति सुराद्रिकन्दराः। अनर्थकैरजनि विदग्धकामिनीरतान्तरक्वणितविलासकौशलैः ॥ ३३ ॥

जडीकृतइति। दिवमोको येषां तेषां दिवौकसां देवानां कन्दरान्तर्गतानामित्यर्थः। जडीकृतश्रवणपथे बधिरीकृतश्रोत्रमार्गे। सापेक्षत्वेऽपि गमकत्वात्समासः। चमूरवे सेनाघोषे सुराद्रिकन्दरा मेरुगह्वराणि विशति सति। विदग्धकामिनीनां प्रौढाङ्गनानां रतान्तरे सुरतमध्ये क्वणितविलासाः कूजितसम्पदस्तासु यानि कौशलानि तैरनर्थकैरजनि जातम्। प्रेयसां नाधिश्रवादिति भावः। अत्र श्रोत्रजाड्यस्य विशेषणगत्या क्वणितानर्थक्यहेतुत्वात् काव्यलिङ्गम्। तदुपजीवितेन क्वणितानामानर्थक्यासम्बन्धेऽपि तत्सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिरित्यनयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः ॥ ३३ ॥

अरातिभिर्युधि सहयुध्वनो हतान्जिघृक्षवः श्रुतरणतूर्यनिस्स्वनाः। अकुर्वत प्रथमसमागमोचितं चिरोज्झितं सुरगणिकाः प्रसाधनम् ॥ ३४ ॥

अरातिभिरिति। सह युध्यन्त इति तान् सहयुध्वनः। "सहे च" इति क्वनिप्। अत एवारातिभिर्युधि हतान् जिघृक्षवो ग्रहीतुमिच्छवः स्वयं वरणकामाः। ग्रहेः सन्नन्तादुप्रत्ययः। सुरगणिकाः अप्सरसः श्रुतरणतूर्यनिस्स्वनाः सत्यश्चिरोज्झितं प्रायेण प्रवीरसवादाभावादिति भावः। प्रथमसमागमोचितम् अतिमोहनमित्यर्थः। प्राथम्यं च पुंसामिदं प्रथमत्वादिति भावः।

प्रसाधनम् अकुर्व्वत परिष्कृतवन्त इत्यर्थः । 'प्रतिकर्म्मप्रसाधनम्' इत्यमरः । अत्र स्वयवरणतूर्य्यश्रवणयोर्विशेषणगत्या प्रसाधनहेतुत्वात्काव्यलिङ्गम् ॥ ३४ ॥

प्रचोदिताः परिचितयन्तृकर्म्मभिर्निषादिभिर्विदितयताङ्कुशक्रियैः
गजाः सकृत्करतललोलनालिका हतामुहुः प्रणदितघण्टमाययुः ३५

प्रचोदिता इति । परिचित यन्तृकर्म सादिकृत्य यैस्तैः स्वभ्यस्तगजशास्त्रैरित्यर्थः । अत एव विदिते यताङ्कुशक्रिये गतयाताख्ये पदांकुशकर्म्मणी यैस्तैः । 'पादकर्म्म यत प्रोक्तं यातमङ्कुशवारणम्' इति हलायुधः । निषादिभिर्यन्तृभिः प्रचोदिताः प्रेरिता गजाः सकृदेकवारमेव करतललोलाभिः पाणितलचलिताभिर्नालिकाभिरन्तरनाडिकाभिर्हतास्ताडितास्तथापि मुहुः प्रणदिता असकृत् ध्वनन्ती घण्टा यस्मिन् कर्म्मणि तत्तथा आययुः प्रस्थातुमागताः । स्वभावोक्तिः ॥ ३५ ॥

सविक्रमक्रमणचलैरितस्ततः प्रकीर्णकैः क्षिपत इव क्षिते रजः ।
व्यरंसिषुर्न खलु जनस्य दृष्टयस्तुरङ्गमादभिनवभाण्डभारिणः ३६

सविक्रमेति । सविक्रमेण साधिविन्यासविशेषेण क्रमणेन गमनेन चलैः प्रकीर्णकैश्चामरैः । 'चामर तु प्रकीर्णकम्' इत्यमरः । क्षितेः रजः स्वखुरोद्धतमितस्ततः क्षिपतो निरस्यत इव स्थितादित्युत्प्रेक्षा । अभिनवभाण्डभारिणः प्रत्यग्राभरणधारिणः । 'स्याद्भाण्डमश्वाभरणम्' इत्यमरः । तुरगमात्तुरगमेभ्यः जातावेकवचनम् । "जुगुप्सा विरामप्रमादार्थानामुपसख्यानम्" इत्यपादानत्वम् । जनस्य दृष्टयो न व्यरंसिषुर्न विरताः खलु । रमेर्लुङि "व्याङ्परिभ्यो रम." इति परस्मैपदम् । "यमरमनमाता सक्च" इति सगिडागमौ इटि "नेटि" इति वृद्धिप्रतिषेधः ॥ ३६ ॥

अथ विशेषकेणाह—

चलाङ्गुलीकिसलयमुद्धतैः करैरनृत्यत स्फुटकृतकर्णतालया ।
मदोदकद्रवकटभित्तिसङ्गिभिः कलस्वरं मधुपगणैरगीयत ॥ ३७ ॥

चलेत्यादि । स्फुट कृतः कर्णतालः कर्णताडन यया तया द्विपघटया कर्त्र्या । चलाङ्गुल्य एव किसलया यस्मिन् कर्म्मणि ततथोद्धतैः करैर्हस्तैरनृत्यत अनर्त्ति । भावे लङ् । तथा मदोदकेन द्रवास्वार्द्रासु कटभित्तिषु गण्डस्थलेषु सङ्गिभिरासक्तैः मधुपगणैर्भ्रमरगणैः कलस्वरं मधुरस्वरमगीयत गीतम् । भावे लङ् ॥ ३७ ॥

असिच्यत प्रशमितपांसुभिर्मही मदाम्बुभिर्धृतनवपूर्णकुम्भया ।
अवाद्यत श्रवणसुखं समुन्नमत्पयोधरध्वनिगुरु तूर्य्यमाननैः ॥ ३८

असिच्यतेति । धृतौ नवौ पूर्णकुम्भौ शिरःपिण्डकलशौ यया तया द्विपघटया कर्त्र्या । 'कुम्भौ घटेभमूर्द्धांशौ' इत्यमरः । प्रशमितपांसुभिर्मदाम्बुभिर्मही असिच्यत सिक्ता । आननैर्मुखैः करणैः । श्रवणयोः सुखयतीति सुखं सुखकरम् । 'सुखहेतौ सुखे सुखम्' इति शब्दार्णवे ।

समुन्नमत्पयोधरध्वनिगुरु उद्यन्मेघगर्जितगम्भीरं तूर्यम् अवाद्यत वादितम् । स्वमुखबृंहणैरेव तूर्यं सम्पादितमित्यर्थः ॥ ३८ ॥

उदासिरे पवनविधूतवाससस्ततस्ततो गगनलिहश्च केतवः ।
यतः पुरः प्रतिरिपु शार्ङ्गिणः स्वयं व्यधीयत द्विपघटयेति मंगलम् ॥

उदासिरे इति । पवनेन विधूतवाससः कम्पितपटाः गगनलिहोऽभ्रङ्कषा केतवो ध्वजाश्च ततस्तत उदासिरे उत्क्षिप्ता इतीत्थं द्विपघटया प्रतिरिपु रिपून्प्रति । आभिमुख्येऽव्ययीभावः । यतो गच्छतः । इणो लटः शत्रादेशः । शार्ङ्गिण पुरोऽग्रे स्वयं मंगलं व्यधीयत विहितम् । अत्र श्लोकत्रये प्रस्तुतद्विपघटाविशेषणसाम्यादप्रस्तुतमङ्गलाचरणपरपुरन्ध्रीप्रतीतेः समासोक्तिरलङ्कारः ॥ ३९ ॥ विशेषकम् ।

न शून्यतामगमदसौ निवेशभूः प्रभूततां दधति बले चलत्यपि ।
पयस्यभिद्रवति भुवं युगावधौ सरित्पतिर्न हि समुपैति रिक्तताम् ॥

नेति । प्रभूततां भूमानं दधति दधाने बले सैन्ये चलति प्रतिष्ठमानेऽपि असौ निवेशभूः सेनानिवेशभूमिः शून्यतां रिक्ततां नागमत् । तथा हि । युगावधौ युगान्ते पयसि भुवमभिद्रवत्यभिप्लवमाने सति सरित्पतिः समुद्रो रिक्ततां न समुपैति हि । दृष्टान्तालङ्कारः ॥ ४० ॥

यियासितामथ मधुभिद्विवस्वता जनोजरन्महिषविषाणधूसराम् ।
पुरः पतत्परबलरेणुमालिनीमलक्षयद्दिशमभिधूमितामिव ॥ ४१ ॥

यियासितामिति । अथ मधुभिद्धरिरेव विवस्वान् तेन यियासितां यातुमिष्टां जिगमिषिताम् । यातेः सन्नन्तात्कर्मणि क्तः । पततोऽतिधावतः परबलस्य शत्रुसैन्यस्य रेणून्मलते धारयतीति तन्मालिनी । मलतेर्णिनिप्रत्ययः । अत एव जरतो वृद्धस्य महिषस्य विषाणवद्धूसरां धूम्रां पुरोऽग्रे दिशमभितो धूमोऽस्याः सञ्जातस्तामभिधूमितामिव जनो लोकोऽलक्षयत् । मधुभिद्विवस्वतेति रूपकोत्थापिता अग्रादिशि धूमितत्वोत्प्रेक्षेति सङ्करः । अत्राहुः । 'अङ्गारिणी दिग्रविविप्रयुक्ता यस्यां रविस्तिष्ठति सा प्रदीप्ता । प्रधूमिता यास्यति या दिनेशः शेषाः प्रशस्ताः शुभदाश्च ताः स्युः' । इति ॥ ४१ ॥

मनस्विनामुदितगुरुप्रतिश्रुतिः श्रुतस्तथा न निजमृदङ्गनिस्स्वनः ।
यथा पुरः समरसमुद्यतद्विषद्बलानकध्वनिरुदकर्षयन्मनः ॥ ४२ ॥

मनस्विनामिति । उदिता उत्पन्ना गुरुर्गभीरा प्रतिश्रुतिः प्रतिध्वनिर्यस्य सः निजमृदङ्गनिस्स्वनः स्वसेनातूर्यघोषः श्रुतः सन् तथा मनस्विनां मनो नोदकर्षयत् नाचकर्ष । कृषिरेव स्वार्थण्यन्तः । यथा पुरोऽग्रे समरसमुद्यते समरोद्युक्ते द्विषद्बले शत्रुसैन्ये ये आनकाः तेषां ध्वनिरुदकर्षयत् । एतेनैषां वीरस्थायी महोत्साह उक्तः । अत्र भयकरस्यापि परसैन्यघोषस्योत्सा-

हननकाले महावीरेषु न विरुध्यन इति विरोधाभासोऽलङ्कारः । भीहेतौ सत्यपि भयानुत्पत्तेर्विशेषोक्तिरलङ्कारोऽतपत्तेर्विषमभेदश्चेति सङ्करः ॥ ४२ ॥

यथा यथा पटहरवः समीपतामुपागमत्स हरिवराग्रतस्सरः ।
तथा तथा हृषितवपुर्मुदाकुला द्विषाञ्चमूरजनि जनीव चेतसा॥४३

यथा यथेति । हरिर्वरो जामातेव हरिवरः । 'वरो जामातृवर्ययोः' इति विश्वः । तस्याग्रतः पुरतोऽग्रसरः 'पुरोऽग्रतोऽग्रेषु सर्तेः' इति टच्प्रत्ययः स पूर्वोक्तः पटहरवो यथा यथा समीपतां सन्निहिततामुपागमत् । तथा तथा तावत्तावद्द्विषतां चमूर्जनीव वधूरिव । 'जनी सीमन्तिनीवध्वः' इति विश्वः । चेतसा मुदाकुला आनन्दाविला हृषितवपू रोमाञ्चितागी 'हृषेर्लोमसु' इतीडागम । अजनि जाता । जने कर्तरि लुङ् "दीपजन" इत्यादिना चिण्प्रत्ययः । वधूवरसमागमवत् प्रतिद्वन्द्विसमागमो महोत्साहवर्द्धनो वीरसेनाया इत्युपमार्थः । तेन सैन्ययोरन्योऽन्यशब्दश्रवणकारिणी प्रत्यासत्तिरासीदिति व्यज्यते ॥ ४३ ॥

प्रसारिणी सपदि नभस्तले ततःसमीरणभ्रमितपरागरूषिता ।
व्यभाव्यत प्रलयजकालिकाकृतिर्विदूरतःप्रतिबलकेतनावलिः॥४४

प्रसारिणीति । ततः श्रवणानन्तरं सपद्यविलम्बेन नभस्तले प्रसारिणी व्याप्ता समीरणेन वायुना भ्रमितेन परागेण रूषिता रूक्षीकृता अत एव प्रलयजायाः कल्पान्तप्रादुर्भूतायाः कालिकायाः महाकाल्याः आकृतिरिवाकृतिर्यस्याः सा । प्रतिबले प्रतिपक्षसैन्ये केतनावलिर्ध्वजपङ्क्तिर्विदूरतो दूरादलक्ष्यत । एतावता प्रत्यासत्तिरासीदित्यर्थः । उपमालङ्कारः ॥ ४४ ॥

क्षणेन च प्रतिमुखतिग्मदीधितिप्रतिप्रभास्फुरदसिदुःखदर्शना ।
भयङ्करा दृशमपि दर्शनीयतां ययावसावसुरचमूश्च भूभृताम् ४५॥

क्षणेनेति । प्रतिमुखस्याभिमुखस्य तिग्मरश्मेः उष्णांशोः प्रतिप्रभाभिः प्रतिफलितदीप्तिभिः स्फुरद्भिर्देदीप्यमानैरसिभिः खड्गैर्दुःखं दुष्करं दर्शनं यस्याः सा दुर्दर्शेत्यर्थः असावसुरचमूश्चैद्यसेना क्षणेन च भूभृतां हरिसैनिकानां भृशं भयं करोतीति भयङ्करापि । "मेघर्तिभयेषु कृञः" इति खच्प्रत्ययः । दर्शनीयतां मनोहरतामिति विरोधः । दृष्टिविषयतां ययावित्यविरोधः । अत एव विरोधाभासोऽलङ्कारः ॥ ४५ ॥

पयोमुचामभिपततां दिवि द्रुतं विपर्य्ययः पतित इवातपस्य सः । समक्रमः सपदि विषमेष्वथ क्षणात् क्षमातलं बलजलराशिरानशे ॥ ४६ ॥

पयोमुचामिति । अथासुरसेनादर्शनानन्तरं समविषमेषु निम्नोन्नतेषु समक्रमस्तुल्यसञ्चारः बलजलराशिः सैन्यसागरः दिवि व्योम्नि द्रुतमभिपततामभिधावतां पयोमुचां सम्बन्धी

आतपस्य विपर्य्ययः छायेव परित क्षणात् क्षमातलं भूतल आनशे । 'अशू व्याप्तौ' "अत आदे." इत्यभ्यासदीर्घ. । "अश्नोतेश्च" इति नुमागमः । उपमालङ्कारः ॥ ४६ ॥

ममौ पुरः क्षणमिव पश्यतो महत्तनूदरस्थितभुवनत्रयस्य तत् । विशालतां दधति नितान्तमायते बलं द्विषां मधुमथनस्य चक्षुषि ॥ ४७ ॥

ममाविति । पुरोऽग्रे क्षणमिव पश्यत क्षणमात्र विलोकयत । इवशब्दो वाक्यालङ्कारे । तनौ क्षोदीयस्युदरे कुक्षौ स्थित भुवनत्रयं यस्य तस्य मधुमथनस्य हरेः सम्बन्धिनि विशालता वैपुल्य दधति दधाने नितान्तमायते दीर्घे द्राघीयसि चक्षुषि महत् द्विषां बलं ममौ ववृते । क्षणमीक्षणादेव परबले इयत्ता परिचिच्छेदेत्यर्थ । क्षोदीयस्यपि कुक्षौ भुवनत्रय परिच्छिन्दत. हरेरतिमहति चक्षुषि अल्पबलपरिच्छेद' कियानिति भाव । अत्र भुवनत्रयापेक्षयाधारस्य कुक्षेरल्पत्वाच्चक्षुरपेक्षयाधेयस्य बलस्याल्पत्वाच्चाधिकालङ्कारौ सङ्कीर्य्येते ॥ ४७ ॥

भृशस्विदः पुलकविकाशिमूर्तयो रसाधिके मनसि निविष्टसाहसाः । मुखे युधः सपदि रतेरिवाभवन् ससम्भ्रमाः क्षितिपचमूवधूगणाः ॥ ४८ ॥

भृशेति । क्षितिपचम्वो वध्व इवेत्युपमितसमास । रतेरिवेति लिङ्गात् । तासा गणाः युधो मुखे युद्धारम्भे रतेर्मुखे रत्यारम्भ इव सपदि भृश स्विद्यन्तीति भृशस्विदः क्विप् । पुलकविकाशिमूर्त्तयो रोमाञ्चोदञ्चितगात्राः रस वीर शृङ्गारश्च तेनाधिके निर्भरे मनसि निविष्टसाहसा प्रविष्टधार्ष्ट्या. ससम्भ्रमा ससत्वराश्चाभवन् । यादृशी वधूना सुरतरसकर्मण्युत्कण्ठा तादृशी चमूना समरकर्म्मणीत्युपमार्थः । तेनैतासा समरसुरतयो समरसत्व व्यज्यते ॥ ४८ ॥

ध्वजांशुकैर्ध्रुवमनुकूलमारुतप्रसारितैः प्रसभकृतोपहूतयः । यदूनभिद्रुततरमुद्यतायुधाः क्रुधा परं रयमरयः प्रपेदिरे ॥ ४९ ॥

ध्वजांशुकैरिति । अरय चैद्यरक्षा अनुकूलमारुतेन प्रसारितै ध्वजांशुकैर्ध्रुव प्रसभेन बलात्कारेण कृतोपहूतयः कृताह्वाना इवेत्यर्थ । यदून् अभि यादवान् प्रति द्रुततरमुद्यतायुधाः उत्क्षिप्तायुधा. सन्त' क्रुधा क्रोधेन परम् अधिक त्वरा प्रपेदिरे । ध्वजांशुकदर्शनोत्थक्रोधहेतुकस्य शीघ्राभिपातस्य ध्वजाह्वानहेतुकत्वमुत्प्रेक्ष्यते ध्रुवमिति ॥ ४९ ॥

हरेरपि प्रति परकीयवाहिनीरधिस्यदम्प्रववृतिरे चमूचराः । विलम्बितुं न खलु स हा मनस्विनो विधित्सतः कलहमवेक्ष्य विद्विषः

हरेरिति । हरेरपि चमूषु चरन्तीति चमूचरा सैनिकाः । चरेष्टः । परेषामिमाः परकीयाः वाहिनी. सेनाः प्रति अधिस्यदम् अधिकरयं यथा तथा । ' रहस्तरसी तु रयः स्यद. '

इत्यमरः । प्रववृतिरे प्रवृत्ताः । तथा हि मनस्विनो धीराः कलह युद्धं विधित्सतः विधातुमिच्छतः दधातेः सन्नन्ताल्लटः शतरि रूपम् । तान् विद्विषः शत्रून् अवेक्ष्य विलम्बितुम् । "शकधृष" इत्यादिना तुमुन्प्रत्ययः । सहन्ते इति सहाः क्षमाः । पचाद्यच् । न खलु । सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ ९० ॥

उपाहितैर्वपुषि निवातवर्मभिः स्फुरन्मणिप्रसृतमरीचिसूचिभिः ।
निरन्तरं नरपतयो रणाजिरे रराजिरे शरनिकराचिता इव ॥९१॥

उपाहितैरिति । रणाजिरे रणाङ्गणे नरपतयो राजानो वपुषि उपाहितैरामुक्तैः स्फुरन्तो मणिप्रसृता रत्ननिर्गता मरीचय एव सूचयो येषां तैः निवातवर्मभिः अच्छिद्रकञ्चुकैः । 'निवातो दृढसन्नाहे निर्वाते चाश्रयेऽपि च ' इति विश्वः । ' तनुत्रं वर्म्म कञ्चुकम् ' इत्यमरः । निरन्तरं नीरन्ध्रं शरनिकरैराचिताः प्रोता इव रराजिरे । "फणां च सप्तानाम्" इति विकल्पादेत्वाभ्यासलोपाभावः । मणिरोचिषः सादृश्याच्छरनिकरत्वोत्प्रेक्षा ॥ ९१ ॥

अथोच्चकैर्जरठकपोतकन्धरातनूरुहप्रकरविपाण्डुरद्युति ।
बलैश्चलच्चरणविधूतमुच्चरद्घनावलीरुदचरत क्षमारजः ॥ ९२ ॥

अथेति । अथानन्तरम् उच्चकैरुन्नत जरठकपोतकन्धरातनूरुहप्रकरविपाण्डुरद्युति जीर्णपारावतकन्धरारोमनिकरधूसरच्छायमित्युपमा । 'पारावत· कलरवः कपोतः' इत्यमरः । बलैः सैन्यैश्चलद्भिश्चरणैर्विधूतमुद्धूत मरित सदुच्चरदुत्पदत् क्षमारजो भूरेणुर्घनावलीर्घनपङ्क्तीरुदचरत प्रचक्रामेत्यर्थः । "उदश्चरः सकर्म्मकात्" इत्यात्मने पदम् । अस्य प्रत्युदाहरणमुच्चरदिति । अत्र भूरेणोर्मेघमण्डलाक्रमणासंबन्धेऽपि सबन्धोक्तेरतिशयोक्तिरुपमासङ्कीर्णा ॥ ९२ ॥

विषङ्गिभिर्भृशमितरेतरं क्वचित्तुरङ्गमैरुपरिनिरुद्ध निर्गमाः ।
चलाचलैरनुपदमाहताः खुरैर्विबभ्रमुश्चिरमध एव धूलयः ॥९३॥

विषङ्गिभिरिति । चलाचलैश्चटुलैः खुरैरनुपद प्रतिपदम् आहताः उद्धताः भृशमितरेतर परस्परम् । निरन्तरमिति पाठे अभितो निरन्तर नीरन्ध्र विषङ्गिभिर्मिथः श्लिष्टैस्तुरङ्गमैरुपरि निरुद्धो निर्गमो यासा ताः धूल्यः क्वचित् चिरमध एव विबभ्रमुर्नोत्पेतुरिति भावः । अत्रोद्धतानाम् अधोभ्रमणविरोधस्योपरि निर्गमरोधेन विशेषणगत्या परिहारात्काव्यालिङ्गसङ्कीर्णो विरोधाभासोऽलङ्कारः ॥ ९३ ॥

गरीयसः प्रचुरमुखस्य रागिणो रजोऽभवद्व्यवहितसत्त्वमुत्कटम् ।
सिसृक्षतः सरसिजजन्मनो जगद्बलस्य तु क्षयमपनेतुमिच्छतः ९४

गरीयस इति । गरीयसः सर्वलोकपितामहत्वात्पूज्यतरस्य अन्यत्र महत्तरस्य । प्रचुरमुखस्य चतुर्मुखस्येत्यर्थः । अन्यत्र बहुप्रवाहस्य रागिणो रक्तवर्णस्य अन्यत्र रणे रागिणोऽ-

नुरागवतः एवम्भूतस्य सरसिजजन्मनो ब्रह्मणो जगत्सिसृक्षतः जगत् स्रष्टुमिच्छतः सतः । सृजेः सन्नन्ताल्लटः शत्रादेशः । व्यवहितसत्त्वं तिरस्कृतसत्त्वगुणकम् अन्यत्र तिरोहितजन्तुकं रजो रजोगुणो रेणुश्चोत्कटमुद्रिक्तमभवत् । बलस्य सैन्यस्य तु जगत्क्षयमपनेतुमिच्छतः सतोऽभवत् । अत्र ब्रह्मबलयोर्गरीयस्त्वादिसाधर्म्येऽपि रजःशब्देन एकस्य सिसृक्षोरन्यस्य संजिहीर्षोरिति व्यतिरेकः श्लेषोत्थापित इति सङ्करः ॥ ५४ ॥

क्षुरा शरक्षतिजनितानि संयुगे नयन्ति नः प्रसभमसृञ्जि पङ्कताम् ।
इति ध्रुवं व्यलगिषुरात्तभीतयः खमुच्चकैरनलसखस्य केतवः ॥५५॥

क्षुरेति । संयुगे युद्धे सति शरक्षतिजनितानि क्षतजानि असृञ्जि रुधिराणि नोऽस्मान् प्रसभं प्रसह्य पङ्कतां पुरा नयन्ति नेष्यन्ति । "यावत्पुरानिपातयोर्लट्" इति भविष्यदर्थे लट् । इतीत्थमालोच्य ध्रुवमात्तभीतयः प्राप्तभयाः सन्तोऽनलसखस्याग्निमित्रस्य वायोः केतवो रेणवः तल्लिङ्गत्वाच्चस्येति भावः । उच्चकैरुन्नतं खमाकाशं व्यलगिषुः वियदारूढा इत्यर्थः । ध्रुवमित्युत्प्रेक्षायाम् ॥ ५५ ॥

क्वचिल्लसद्घननिकुरम्बकर्बुरः क्वचिद्धिरण्मयकणपुञ्जपिञ्जरः ।
क्वचिच्छरच्छशधरखण्डपाण्डुरः खुरक्षतक्षितितलरेणुरुद्ययौ ५६

क्वचिदिति । क्वचिल्लसन् घननिकुरम्बवन्मेघाभ्रपटलवत्कर्बुरः शबलः । क्वचिद्धिरण्मयकणपुञ्जपिञ्जरः कनकचूर्णराशिकपिशः । क्वचिच्छरच्छशधरखण्डपाण्डुरः खुरैः क्षतस्य क्षितितलस्य रेणुरुद्ययौ उज्जगाम । अत्रोपमात्रयस्य संसृष्टिः ॥ ५६ ॥

महीयसां महति दिगन्तदन्तिनामनीकजे रजसि मुखानुषङ्गिणि ।
विसारितामजिहत कोकिलावलीमलीमसा जलदमदाम्बुराजयः ॥

महीयसामिति । महति अनीकजे सेनासमुत्थे रजसि महीयसां दिगन्ता एव दन्तिनः तेषां मुखानि पुरोभागा एव मुखान्याननानि इति श्लिष्टरूपकम् । तेष्वनुषङ्गिणि लग्ने सति । कोकिलावलीवन्मलीमसा मलिना जलदा दिङ्मुखसङ्गिन एव ये मेघास्त एव मदाम्बुराजयो मदरेखाः विसारितां प्रसृमरत्वमजिहत अगच्छन् । प्राप्ता इत्यर्थः । पांसुपातस्य दन्तिनां मदहेतुत्वादिति भावः । तदुक्तं महाभारते । 'स्त्रियो जारेण तुष्यन्ति गावः स्वच्छन्दचारतः । कुञ्जराः पांसुवर्षेण ब्राह्मणाः परनिन्दया' इति । दिगन्तलम्बिनो मेघाः सेनारजोमेलनाद्बहुलीबभूवुरित्यर्थः । अत्र दिगन्तेषु तन्मेघेषु च दन्तित्वतन्मदत्वरूपणात् समस्तवस्तुवर्ति सावयवरूपकं मुखमेव मुखमिति श्लिष्टपरम्परितमिति सङ्करः । अजिहतेति ओहाङो लङि तङ् "श्नाभ्यस्तयोरातः" इत्याकारलोपः "अदभ्यस्तात्" इत्यदादेशः ॥ ५७ ॥

शिरोरुहैरलिकुलकोमलैरमी मुधा मृधे मृषत युवान एव मा ॥
बलोद्धतं धवलितमूर्धजानिति ध्रुवं जनाञ्जरत इवाकरोद्रजः ॥५८॥

शिरोरुहैरिति । अलिकुलकोमलैः भ्रमरवृन्दमनोरमैः । शिरोरुहैः केशैरुपलक्षिता अमी राजानो युवान एव मुधा वृथा मृधे युद्धे 'मृधमास्कन्दनम्' इति युद्ध पर्यायेषु अमरः । मा मृषत न म्रियन्ताम् म्रियतेर्माङि लुङि "न माङ्योगे" इत्यडभावः, "उश्च" इति सिचः कित्वान्न गुणः । इतीत्थमालोच्येत्यर्थः । बलोद्धत रजः कर्तृ । धवलितमूर्द्धजान् धवलीकृतकेशान् जनान् जरत इवाकरोत् । वृद्धानिवाकरोदित्यर्थः । ध्रुवमित्युत्प्रेक्षायाम् । अत्रेवशब्दस्यावधारणार्थत्वान्न तेन पौनरुक्त्यम् । 'इवौपम्येऽवधारणे' इति विश्वः । 'प्रवयाः स्थविरो वृद्धो जीनो जीर्णो जरन्नपि' इत्यमरः । जीर्य्यतेरतृन्" इति अतृन् प्रत्ययः ॥ ५८ ॥

सुसंहतैर्दधदपि धाम नीयते तिरस्कृतिं बहुभिरसंशयम्परैः ।
यतः क्षितेरवयवसम्पदोऽणवस्त्विषान्निधेरपि वपुरावरीषत ॥५९॥

सुसंहतैरिति । धाम तेजो दधदपि दधानोऽपि तेजस्व्यपीत्यर्थः परैरन्यैः सुसंहतैः सुसङ्गतैः परैरैक्यङ्गतैश्च बहुभिः तिरस्कृतिं नीयते । असशयं निश्चितम् अर्थाभावेऽव्ययीभावः । कुतः । यतः अणवः सूक्ष्माः क्षितेरवयवसम्पदो रेणुसमृद्धयः त्विषां निधेः सूर्यस्यापि वपुरावरीषत आच्छादितवत्यः । वृङो लुङि "वतो वा" इति इटो दीर्घः । विशेषेण सामान्यसमर्थनं रूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ ५९ ॥

द्रुतद्रवद्रथचरणक्षतक्षमातलोल्लसद्बहुलरजोऽवगुण्ठितम् ।
युगक्षयक्षणनिरवग्रहे जगत्पयोनिधेर्जल इव मग्नमाबभौ ॥ ६० ॥

द्रुतेति । द्रुत शीघ्र द्रवता धावता रथाना चरणैश्चक्रैः क्षतात् क्षुण्णात् क्षमातलादुल्लसता पतता बहुलेन सान्द्रेण रजसावगुण्ठितमाच्छादित जगद्युगक्षयक्षणे कल्पान्तकाले निरवग्रहे निष्प्रतिबन्धे पयोनिधेर्जले मग्नमिवाबभावित्युत्प्रेक्षा ॥ ६० ॥

समुल्लसद्दिनकरवक्त्रकान्तयो रजस्वलाः परिमलिताम्बरश्रियः ।
दिगङ्गनाः क्षणमविलोकनक्षमाः शरीरिणांपरिहरणीयतां ययुः६१॥

समुल्लसदिति । समुल्लसन्ती दिनकरस्येव वक्त्रस्य कान्तिर्यासां ताः रजो रेणुरेव रज आर्त्तवमासामस्तीति रजस्वलाः । "रजःकृष्यासुतिपरिषदः" इत्यादिना मत्वर्थीयो वलच्प्रत्ययः । धूलिधूसराः उदक्याश्च परिमलिताः परितः सञ्जातमला अम्बरस्याकाशस्येवाम्बरस्य वस्त्रस्य च श्रीर्यासां ताः । अत एवाविलोकनक्षमा विलोकानानर्हाः दिशः एवाङ्गना दिगङ्गनाः शरीरिणां प्राणिना क्षणमीत्काल परिहरणीयतामगम्यतां ययुः । तस्मान्मलवद्वासस न सविशेदेवेत्यादिनिषेधादिति भावः । श्लिष्टपरम्परितरूपकम् ॥ ६१ ॥

निरीक्षितु वियति समेत्य कौतुकात्पराक्रमं समरमुख महीभृताम् ।
रजस्ततावनिमिषलोचनोत्पलव्यथाकृति त्रिदशगणैः पलाय्यत६२

निरीक्षितुमिति । त्रिदशगणैर्देवगणैः समरमुखे रणारम्भे महीभृता राज्ञां प्रपाक्रम निरीक्षितु वियति कौतुकात्समेत्य रजस्ततौ रजस्तोमे न निमिषन्त्यनिमिषाणि पक्ष्मपातरहितानि । मिषे. पचाद्यच् कुटादित्वान्न गुण. । तेषां लोचनोत्पलाना व्यथाकृति दुःखकारिण्या सत्याम् । कृञः क्विप् । पलाय्यत अवाय्यत । भावे परापूर्वादयतेर्लङि तङ्, "उपसर्गस्यायतौ" इति रेफस्य लत्वम् । अत्र लोचनोत्पलाना व्यथाऽसम्बन्धेऽपि सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिभेदः ॥ ६२ ॥

विषंगिणि प्रतिपदमापिबत्यपो हताचिरद्युतिनि-समीरलक्ष्मणि ।
शनैःशनैरुपचितपङ्कभारिकाः पयोमुचः प्रययुरपेतवृष्टयः॥ ६३॥

विषंगिणीति । विषंगिणि विषक्ते अत एव हताचिरद्युतिनि विरमिताचिरद्युतिनि समीरलक्ष्मणि वातकर्तौ रजसि प्रतिपद प्रतिक्षणम् आपोऽम्भांसि आपिबत्याकर्षति सति अतएव अपेतवृष्टयो निवृत्तवर्षा पयोमुच. । उपचिताः प्रवर्द्धिताः पङ्कभारिकाः पङ्कभरणानि येषां ते उपचितपङ्कभारिकाः सन्त. । "पर्यायार्हणोत्पत्तिषु ण्वुच्" इत्यर्हणार्थे ण्वुच् प्रत्ययः । अर्हणं च करणसामर्थ्यम् । अतएव भाराच्छनैःशनै. प्रययुः प्राप्ताः । अत्र पयोमुचा पङ्कभरणासम्बन्धेऽपि तत्सम्बधोक्तेरतिशयोक्तिः ॥ ६३ ॥

नभोनदीव्यतिकरधौतमूर्त्तिभिर्वियद्गतैरनधिगतानि लेभिरे ।
चलच्चमूतुरगखुराहतोत्पतन्महीरजः स्नपनसुखानि दिग्गजैः॥६४॥

नभोनदीति । नभोनदीव्यतिकरेणाकाशगङ्गाया अवगाहेन धौतमूर्तिभिः क्षालिताङ्गैः वियद्गतै. खेचरै. अतएव दिग्गजैरनधिगतानि अननुभूतचराणि चलद्भिश्चमूतुरगखुरैराहतम् अत एवोत्पतदुद्गच्छत् महीरजस्तेन स्नपनमभिषचन तेन यानि सुखानि तानि लेभिरे । कुञ्जराः पांसुवर्षेणेत्युदाहृतम् । अत्रापि दिग्गजाना रजःस्नपनासम्बधेऽपि सम्बन्धोक्तरतिशयोक्तिः ॥ ६४ ॥

गजव्रजाक्रमणभरावनम्रया रसातलं यदखिलमानशे भुवा ।
नभस्तलं बहुलतरेण रेणुना ततोऽगमत्त्रिजगदिवैकतां स्फुटम् ६५

गजेति । यद्यस्माद्गजव्रजानाम् आक्रमणभरेण । पादक्षेपगौरवेणावनम्रया भुवाखिल रसातल पातालमानशे व्याप्तम् यद्यस्माच्च नभस्तल बहुलतरेण रेणुनानशे ततः कारणात् त्रिजगत् जगत्त्रयम् । "तद्धितार्थे" इत्यादिना समाहारे द्विगुः "द्विगुरेकवचनम्" । एकता भूलोकतामिवागमत् स्फुटमित्युत्प्रेक्षायाम् ॥ ६५ ॥

समस्थलीकृतविवरेण पूरिता महीभृतां बलरजसा महागुहाः ।
रहस्त्रपाविधुरवधूरतार्थिनां नभःसदामुपकरणीयतां ययुः ॥ ६६ ॥

समेति । समस्थलीकृतानि विवराणि निम्नस्थानानि येन तेन बलरजसा पूरिता. महीभृता भूधराणा महागुहा. । रहो रहसि । अत्यन्तसयोगे द्वितीया । त्रपया विधुराणा विलक्षणाना

वधूना रत सुरतमर्थयन्त इति तदार्थिना नभ सदा सुराणाम् उपकरणीयतामुपकारकत्व ययु' । तासा रज प्रागारंसामन्त्रकरणत्वादिति भाव. । "कृत्यल्युटो बहुलम्" इत्यनीयर' कर्त्रर्थता । अत्र रज प्रागम्य विशेषणगत्योपकारकहेतुत्वात् काव्यलिङ्गभेदस्तथोपकारकत्वासम्बन्धेऽपि सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिरिति सङ्करः ॥ ६६ ॥

गते मुखच्छदपटसादृशीन्दृशः पथस्तिरोदधति घने रजस्यपि ।
मदानिलैरधिगतचूतगन्धिभिर्द्विपाद्विपानभिययुरेवरंहसा ॥६७॥

गतइति । छाद्यतेऽनेनेति छदः मुखस्य छदो मुख च्छद । "पुसि सज्ञाया घ' प्रायेण' इति घप्रत्यय', "छादेर्घेऽद्व्युपसर्गस्य" इति ह्रस्वः । स चासौ पटश्च तत्सादृशीं तत्सादृश्यम् । ब्राह्मणादित्वात् ष्यञ्प्रत्यये "षिद्गौरादिभ्यश्च" इति ङीष् स च 'ष्यञः षित्करणादीकारो बहुलम्' इति वामनवचनाद्वैकल्पिकः गते प्राप्ते । गजाना युद्धपूर्वकाले मुखावरणकारणात् तत्सदृशे घने सान्द्रे रजसि दृशो दृष्टे पथो मार्गान्तिरोदधति छादयति सत्यपि अधिमधो' अधिकमकरन्दस्य चूतस्येव गन्धो येषा तैः । "उपमानाच्च" इति गन्धस्येत्वे तदेकान्तग्रहण तु व्यभिचारि । मदानिलैरभिज्ञानैर्द्विपा गजा द्विपान् गजान् प्रति रहसा वेगेनाभिययुरेव । अत्र तिरोहितदृष्टेरभिधानविरोधस्य मदानिलै. परिहाराद्विरोधाभासोऽलङ्कार. ॥ ६७ ॥

सदाम्भसा परिगलितेन सप्तधा गजाञ्जनः शमितरजश्चयानधः ।
उपर्य्यवस्थितघनपांसुमण्डलानलोकयत्ततपटमण्डपानिव ॥६८॥

मदाम्भसेति । सप्तधा । "करात्कटाभ्या मेढ्राच्च नेत्राभ्या च मदश्रुति." इति पालकाप्ये । सप्तभि. स्रोतोभि परिगलितेन स्रुतेन मदाम्भसा अधःशमितोरजश्चयो यैस्तान् उपर्य्यवस्थितानि तथैव स्थितानि घनानि सान्द्राणि पांसुमण्डलानि पूर्वोत्थरजःपुञ्जा येषा तान् गजान् जनो लोकस्तता उपरि विस्तृता' पटमण्डपाः येषा तानिवेत्युत्प्रेक्षा अलोकयत् ॥ ६८ ॥

अन्यूनोन्नतयोऽतिमात्रपृथवः पृथ्वीधरश्रीभृतस्तन्वन्तः कनकावलीभिरुपमां सौदामिनीदामभिः ॥ वर्षन्तः शममानयन्नुपलसच्छृङ्गारलेखायुधाःकाले कालियकायकालवपुषः पांसून्गजाम्भोमुचः ॥ ६९ ॥

इति श्रीमाघकविकृते शिशुपालवधे महाकाव्ये यदुवंशक्षोभणं नाम सप्तदशः सर्गः ॥ १७ ॥

अन्यूनेति । अन्यूनोन्नतयो महोच्छ्रायाः अतिमात्रपृथवोऽत्यन्तविपुला' अत एव पृथ्वीधरश्रीभृतः शैलशोभाधारिण इति निदर्शनालङ्कारः । कनकावलीभिरावरणहेतुहेमराजिभिः करणैः सुदाम्ना पर्वतेनैकदिशः सौदामिन्यो विद्युतः । " तेनैकदिक् " इत्यणुप्रत्ययेङीप् । ताभिर्दामभिरिव सौदामिनीदामभिर्विद्युल्लताभिः उपमा सादृश्य तन्वन्तः । 'तडित्सौदामिनी विद्युत्' इत्यमरः । 'अतुलोपमाभ्याम्' इति सदृशवचनस्यैव निषेधादिह सादृश्यवाचित्वात्तृतीया । उपलसन्त. शृङ्गाराः सिन्दूरादिमण्डलान्येव लेखायुधानि सुरधनूंषि येष' ते तथोक्ताः । 'शृङ्गारः सुरते नाट्ये रसे च गजमण्डने । लेखो लेख्ये सुरे' इति च विश्वः । कालियस्य कालियनागस्य कायवत्कालवपुषः कृष्णदेहाः । गजा एव अम्भोमुचो मेघाः काले योग्यकाले वर्षन्तो मदाम्बु मुञ्चन्तः पांसून् शम शान्तिम् अनयन् प्रापयन् । रूपकालङ्कार' । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तमुक्तम् ॥ १९ ॥

इति श्रीमहामहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचिते माघकाव्यव्याख्याने सर्वङ्कषाख्ये सप्तदश' सर्गः ॥ १७ ॥

अष्टादशः सर्गः ।

अथाग्रिमसर्गे तुमुलयुद्धवर्णनाय सेनयोर्मेलन तावदाह—

संजग्माते तावपायानपेक्षौ सेनाम्भोधी धीरनादौ रयेण ।
पक्षच्छेदात्पूर्वमेकत्र देशे वाञ्छन्तौ वा विन्ध्यसह्यौ निलेतुम् ॥ १ ॥

संजग्माते इति । अपायोऽपगमो युद्धादपसरण तस्यानपेक्षौ तमनिच्छन्तौ युद्धानिवर्तिनावित्यर्थः । ईक्षतेः पचाद्यचि नञ्समासः । धीरनादौ गम्भीरघोषौ तौ सेनाम्भोधी सेनासागरौ । पक्षच्छेदात्पूर्वं पश्चादसंभवादिति भावः । एकत्र देशे एकस्थाने निलेतु वस्तुम् । लीङ् गताविति धातोस्तुमुन्प्रत्यये गुण. । वाञ्छन्ताविच्छन्तौ सह्यविन्ध्यौ वा सह्यविन्ध्याख्यौ पर्वताविव । 'वा स्याद्विकल्पोपमयोः' इति विश्व । सञ्जग्माते मिलितवन्तौ । सपूर्वाद्गच्छतेरकर्मकाल्लिटि 'समो गम्यृच्छि ' इत्यादिना आत्मनेपदम् । अत्र सह्यविन्ध्ययोः सपक्षयोरप्येकत्रमेलनस्यासिद्धस्य संभावनामात्रेणोक्तत्वादुपमानाप्रसिद्धेर्नोपमा किं तूत्प्रेक्षेति सक्षेपः । अस्मिन्सर्गे शालिनीवृत्तम् । "शालिन्युक्ताम्तौ तगौ गोऽब्धिलोकैः" इति लक्षणात् ॥ १ ॥

सेनाम्भोधी सञ्जग्माते इत्युक्त तत्सङ्गतिप्रकार तावद्वर्णयति—

पत्तिः पत्तिं वाहमेयाय वाजी नागं नागः स्यन्दनस्थो रथस्थम् ।
इत्थं सेना वल्लभस्येव रागादङ्गेनाङ्गम्प्रत्यनीकस्य भेजे ॥ २ ॥

पत्तिरिति । पत्तिः पदातिः पत्तिं पदातिम् । 'पदातिपत्तिपदगपादातिकपदाजयः' इत्यमरः एयाय प्राप आङ्पूर्वादिणो लिट् । वाज्यश्वो वाहमश्वमेयाय । 'वाजिवाहार्वगन्धर्वा' इत्यमरः । नागो गजो नागम् एयाय । स्यन्दनस्थो रथस्थमेयाय । न तु व्युत्क्रमेण धर्म्मयुद्धत्वादिति भावः । इत्थमुक्तरीत्या सेना रागाद्रणरागात् रतिरागाच्च अङ्गेन स्वाङ्गेन पत्त्यादिना करचरणादिना च वल्लभस्य प्रियतमस्येव प्रत्यनीकस्य प्रतिबलस्य । 'वरूथिनी बलं सैन्यं चक्रं चानीकमस्त्रियाम्' इत्यमरः । अङ्गं पत्त्यादिकं करचरणादिकं च भेजे । यथा कान्ता कान्तस्योरुमूरुणा करं करेण मुखं मुखेन भजति तथा सेना प्रतिसैन्यस्य पत्तिं पत्तिना अश्वमश्वेनेत्यादि क्रमेण न तु व्युत्क्रमेणेत्यर्थः । वल्लभस्येवेत्युपमया समरसुरतयोः समरसत्व व्यज्यते ॥ २ ॥

रथ्याघोषैर्बृंहणैर्वारणानामैक्यं गच्छन्वाजिनां हेषया च ।
व्योमव्यापी सन्ततं दुन्दुभीनामव्यक्तो भूदीशितेव प्रणादः॥३॥

रथ्येति । सततं व्योमव्यापी गगनस्पृक् । अन्यत्र सर्व्वगत इत्यर्थः । दुन्दुभीनां रणभेरीणां प्रणादो महाघोषः । "उपसर्गादसमासेऽपि णोपदेशस्य" इति णत्वम् । रथानां समूहो रथ्या । 'त्रिषु द्वैपाद्यो रथ्या रथकट्या रथव्रजे' इत्यमरः । 'खलगोरथात्' इति यत्प्रत्ययः । समूहार्थे । तासां घोषैः वारणानां बृंहणैः कण्ठघोषैः । 'बृंहणं गजगर्ज्जितम्' इति वैजयन्ती । वाजिनामश्वानां हेषया हेषणेन च । 'हेषा ह्रेषा च निस्वने' इत्यमरः । "गुरोश्च हलः" इत्यप्रत्यये टाप् । ऐक्यं मेलनं गच्छन् । अन्यत्र तत्त्वम्पदार्थशोधनादद्वितीयतां गच्छन् । ईशिता ईशयिता ईश्वरत्वोपाधिमान् परमात्मेव । ईशस्तृच् । अव्यक्तोऽभूत् अयं दुन्दुभिघोष इति दुर्भेदो बभूव अन्यत्र जीवेश्वरोपाधिविलयादयमीश्वरोऽयं जीव इति भेदरहितोऽभूदित्यर्थः । अत्रैक्यगमनस्य विशेषणगत्या अव्यक्तहेतुत्वात्काव्यलिङ्गमुपमाङ्गमिति सङ्करः ॥ ३ ॥

रोषावेशाद्गच्छतां प्रत्यमित्रं दूरोत्क्षिप्तस्थूलबाहुध्वजानाम् ।
दीर्घास्तिर्य्यग्वैजयन्तीसदृश्यः पादातानां भ्रेजिरे खड्गलेखाः ॥४॥

रोषावेशादिति । रोषावेशात् प्रत्यमित्रमभिशत्रुम् । आभिमुख्येऽव्ययीभावः गच्छतां धावतां द्रवतां दूरादुत्क्षिप्ताः उद्यताः स्थूलाः पीवराः बाहुध्वजाः ध्वजस्तम्भा इव बाहवो येषां तेषां पादातानां पादातिसमूहानाम् । 'पादातं पत्तिसंहतिः' इत्यमरः, । "भिद्दिादिभ्योऽङ्" तिर्य्यग्दीर्घाः तिर्य्यगायता इत्यर्थः । लेखा इव खड्गाः खड्गलेखाः वैजन्तीसदृश्यः पताकासदृश्यः सत्य इत्यर्थः । 'वैजयन्ती पताका स्यात्' इत्यमरः । "समानान्ययोश्च" "क्स च वक्तव्यः" । इति समानशब्दोपपदाद्दृशेः कञ्प्रत्ययः । "दृग्दृशवतुषु" इति समानस्य सभावः । भ्रेजिरे रेजिरे । 'भ्राजृ दीप्तौ' इति धातोः कर्त्तरि लिट् "फणां च सप्तानाम्" इति विकल्पादेत्वाभ्यासलोपौ । आर्थीयमुपमा ॥ ४ ॥

वर्द्धाबद्धा धौरितेन प्रयातामश्वीयानामुच्चकैरुच्चलन्तः ।
रौक्मा रेजुः स्थासका मूर्त्तिभाजो दर्पस्येव व्याप्तदेहस्य शेषाः ५

वद्ध्रेति । धौरितेन धौरिताख्येन गतिविशेषेण प्रयाता धावताम् । यातेर्लटः शत्रादेशः । अश्वीयानामश्वसमूहानाम् । "केशाश्वाभ्यां यञ्छावन्यतरस्याम्" इति छप्रत्ययः । उच्चकैरुच्चलन्तो गतिवशादूर्ध्वमुत्पतन्तः । वर्द्धन्ते इति वर्द्धाणि पर्याणबन्धनवरत्रा । 'वर्द्धं त्रपुवरत्रयो.' इति विश्वः । 'वृधुवचित्रपिभ्यो रन्'' इति रन्प्रत्ययः । लघूपधगुणो रपर । तेर्वाबद्धा स्थापिता रौक्माः सौवर्णाः स्थासका बुद्बुदाकारमण्डलानि व्याप्तदेहस्य सर्वाङ्गीणस्य मूर्त्तिभाजो मूर्त्तिभूत. दर्पस्यान्तरस्य तेजसः शेष अन्तरमानाद्बहिर्निर्गता अतिरेका इव रेजुरित्युत्प्रेक्षा ॥ ५ ॥

सान्द्रत्वक्कास्तलपलाश्लिष्टकक्षा आङ्गीं शोभामाप्नुवन्तश्चतुर्थीम् ।
कल्पस्यान्ते मारुतेनोपनुन्नाश्चेलुश्चण्डं गण्डशैला इवेभाः ॥ ६ ॥

सान्द्रेति । सान्द्रत्वक्का सान्द्रचर्माणः । शषिकः कप्रत्यय. । तलपलाः पृष्ठवंशाः तेषु श्लिष्टा कक्षाः मध्यबद्धवरत्रा येषां ते । 'दूष्या कक्ष्या वरत्रा स्यात्' इत्यमर. । गजानां विंशत्युत्तरशतायुषां द्वादश दशा भवन्ति । तत्र चतुर्दशारूढा प्राङ्गशोभा तदेवाह । अथ चतुर्थीमाङ्गीं शारीरीं शोभामाप्नुवन्त चत्वारिंशद्वर्षदेश्या इत्यर्थ. । इभाः गजा कल्पस्यान्ते मारुतेनोपनुन्ना प्रलयमारुतप्रेरिता गण्डशैला स्थूलोपला इव चण्डं तीव्रं चेलुः प्रतस्थिरे इत्युपमा ॥ ६ ॥

संक्रीडन्ती तेजिताश्वस्य रागादुद्यम्याराममग्रकायोत्थितस्य ।
रंहोभाजामक्षधूः स्यन्दनानां हाहाकारं प्राजितुः प्रत्यनन्दत् ७॥

संक्रीडन्तीति । संक्रीडन्ती संघर्षात् कूजन्ती । "समोऽकूजने च वक्तव्यम्" इति वचनात् कूजने "क्रीडोऽनुसम्परिभ्यश्च" इति वचनादात्मनेपदम् । रंहोभाजां वेगभाजां स्यन्दनानां रथानामक्षस्य चक्राधारकाष्ठस्य धूरग्रमक्षधूः । 'अक्षं रथाङ्ग आधारे' इति वैजयन्ती । अनक्षे इति निषेधात् "ऋक्पूः" इत्यादिना न समासान्तः । रागात् भरं प्रतोदमुद्यम्य तेजिता उत्साहिता अश्वा येन तस्य अग्र चासौ कायश्च स उत्थितो यस्य तस्योत्थितपूर्वकायस्येत्यर्थः । आहिताग्न्यादित्वात्साधुः । प्राजितुः सारथेः । 'नियन्ता प्राजिता यन्ता सूतः क्षता च सारथिः' इत्यमरः । हाहाकारमुत्साहवर्द्धनार्थं हाहाशब्दम् । एवकार इत्यत्रैवग्रहणस्योपलक्षणत्वात् । अन्यत्रापि यथा दर्शनं शब्दनिर्देशात्कारप्रत्ययः अथवा हाहाकारं हाहाकरणम् । भावे घञ्प्रत्ययः प्रत्यनन्दत् साधुसाध्वित्यन्वमोदत । किमित्युत्प्रेक्षा ॥ ७ ॥

कुर्वाणानां साम्परायान्तरायं भूरेणूनां मृत्युनामार्जनाय ।
सम्मार्जन्यो न्यूनमुद्धूयमाना भान्ति स्मोच्चैः केतनानां पताकाः ८

कुर्व्वाणानामिति । उच्चैरुन्नताः केतनाना ध्वजस्तम्भानां पताका वैजयन्त्यः साम्पराँ यान्तरायं युद्धविघ्न कुर्व्वाणानाम् । 'अनीक साम्परायिकम्' इत्यमर. । भूरेणूनां मार्जनाय प्रमार्जनाय मरुता अन्तकेनोधूयमानाः प्रकम्प्यमाना समार्जन्यः शोधिन्य इव भान्ति स्म । 'सन्मार्जनी शोधिनी स्यात्' इत्यमर' । नूनमित्युत्प्रेक्षा ॥ ८ ॥

उद्यन्नादं धन्विभिर्निष्ठुराणि स्थूलान्युच्चैर्मण्डलत्व दधन्ति ।
आस्फाल्यन्ते कार्म्मुकाणि स्म कामं हस्त्यारोहैः कुञ्जराणां शिरांसि ॥

उद्यन्नादमिति । धन्विभिर्धनुष्मद्भिः । व्रीह्यादित्वादिनिप्रत्ययः । निष्ठुराणि कर्कशानि स्थूलानि पीवराणि उच्चैरुन्नतानि मण्डलत्व दधन्ति वर्त्तुलत्व दधानानि । एकत्राकर्षणादन्यत्र स्वभावाच्चेति भाव. । कर्म्मणि प्रभवन्तीति कार्म्मुकाणि धनूंषि । उक्तञ् । उद्यन्नादमुज्जृम्भमाण-घोष यथा तथा काममास्फाल्यन्ते स्म पाटवपरीक्षार्थं पाणिभिरास्फालितानि । हस्तिनमारोहन्ति इति हस्त्यारोहैर्निषादिभिः कर्म्मण्यण् । कुञ्जराणा शिरांसि आस्फाल्यन्ते स्म । उत्साहार्थमिति भाव । अत्र कार्म्मुकाणा कुञ्जरशिरसाञ्च प्रकृतानामेव निष्ठुरत्वादिविशेषणसाम्येनौपम्यावग-मात् केवलप्रकृतास्पदा तुल्ययोगिता ॥ ९ ॥

घण्टानादो निस्स्वनो डिण्डिमाना ग्रैवेयाणामारवो बृंहितानि ।
आमेतीवम्प्रत्यवोचन् गजानामुत्साहार्थं वाचमाधोरणस्य १० ॥

घण्टानाद इति । घण्टानादः किङ्किण्यादिघोष. डिण्डिमाना वाद्यविशेषाणां निस्स्वनः । ग्रीवासु भवाना ग्रैवेयाणा कण्ठशृङ्खलानाम् "ग्रीवाभ्योऽण् च" इति ढञ् प्रत्ययः । आरवः । बृंहितानि बृंहणानि गजानाम् उत्साहार्थमाधोरणस्य हस्तिपकस्य । 'आधोरणा हस्तिपकाः' इत्यमरः । वाच बृंहणादिशब्दम् आमेति प्रत्यवोचन्निवैवमेवेत्यनुकूलमूचिर इवेत्युत्प्रेक्षा । 'आमा-नुगुण्ये स्मरणे' इत्यमर ॥ १० ॥

यातैश्चातुर्विध्यमस्त्रादिभेदादव्यासङ्गैस्सौष्ठवाल्लाघवाच्च ।
शिक्षाशक्तिं प्राहरन्दर्शयन्तो मुक्तामुक्तैरायुधैरायुधीयाः ॥ ११ ॥

यातैरिति । आयुधेन जीवन्तीत्यायुधीयाः आयुधजीविनः 'शस्त्राजीवे काण्डपृष्ठायुधीया-युधिकाः समा'' इत्यमरः । "आयुधाच्छ च" इति छप्रत्ययः । शिक्षाशक्तिमभ्यासपाटवं दर्श-यन्तः अस्त्रादिभेदादस्त्रमहास्त्रादिकभेदाच्चातुर्विध्य यातैः प्राप्तैः । सुष्ठुभावः सौष्ठव नैशित्यादि-गुणवत्त्व तस्मात् । उद्गात्रादित्वादञ् प्रत्ययः । लाघवाद्वेगवत्त्वाच्च "इगन्ताच्च लघुपूर्वात्" इत्यण् प्रत्ययः । अव्यासङ्गैरप्रतिषिद्धैः मुच्यन्त इति मुक्तानि शरादीनि न मुच्यन्त इत्यमुक्तानि खड्गादीनि च तैस्तैर्मुक्तामुक्तैरिति द्वन्द्वः । आयुधैः प्राहरन् । स्वभावानुप्रासयोः संसृष्टिः ॥ ११ ॥

रोषावेशादाभिमुख्येन कौचित्पाणिग्राहं रंहसैवोपयातौ ।
हित्वा हेतीर्म्मल्लवन्मुष्टिघातं घ्नन्तौ बाहूबाहवि व्यासृजेताम् १२ ॥

रोषावेशादिति । कौचिद्योधौ रोषावेशात्क्रोधपारवश्यादभिमुख्येन रहसा वेगेनैवोपेत्य मिथः प्रत्यासन्नौ अत एव पाणिग्राहमन्योन्यं पाणिं गृहीत्वा । "द्वितीयायां च" इति णमुल्प्रत्ययः । हेतीः शस्त्राणि हित्वा त्यक्त्वा वैकल्यादिति भावः । 'हेतिस्तु शस्त्रे द्वयोः' इति केशवः । मल्लवन्मल्लाभ्यां तुल्यम् । 'तेन तुल्यम्' इति वतिप्रत्ययः । मुष्टिभिर्हत्वा । "करणे हनः" इति णमुल्प्रत्ययः । घ्नन्तौ प्रहरन्तौ । हन्तेर्लटः शत्रादेशः, कषादित्वादनुप्रयोगः । मुष्टिभिर्घ्नन्तावित्यर्थः । बाहुभ्यां बाहुभ्यां प्रहृत्य प्रवृत्तमिदं युद्धं बाहूबाहवि बाहुयुद्धम् । "तत्र तेनेदमिति सरूपे" इति बहुव्रीहौ "इच् कर्मव्यतीहारे" इतीच्प्रत्ययः समासान्तः "अन्येषामपि दृश्यते" इति दीर्घः, तिष्ठद्गुप्रभृतिषु पाठादव्ययीभावत्वादव्ययत्वम् । तत्र व्यासृजतां व्यासक्तवन्तौ । "कर्त्तरि कर्मव्यतीहारे" इत्यात्मनेपदम् । मल्लवदिति तद्धितगता श्रौती पूर्णोपमा ॥ १२॥

शुद्धाः सङ्गं न क्वचित्प्राप्तवन्तो दूरान्मुक्ताः शीघ्रतां दर्शयन्तः ।
अन्तस्सैन्यं विद्विषामाविशन्तो युक्तञ्चक्रुःसायका वाजितायाः॥१३॥

शुद्धा इति । शुद्धा निर्विषाः । 'न कर्णिभिर्नापि दिग्धैर्नाग्निज्वलिततेजनैः' इति निषेधादिति भावः । अन्यत्र जात्या इत्यर्थः । क्वचित्कुत्रापि सङ्गं प्रतिबन्धं न प्राप्तवन्तः न प्राप्ता दुर्वारा इत्यर्थः । दूरान्मुक्ता दूरत एव विसृष्टाः । "स्तोकान्तिकदूरार्थकृच्छ्राणि क्तेन" इति समासः । "पञ्चम्याः स्तोकादिभ्यः" इत्यलुक् । शीघ्रतां जवनत्वं दर्शयन्तः । विद्विषां सेनासु अन्तस्सैन्यम् । विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः । आविशन्तः सेनामध्यं प्रविशन्तः इत्यर्थः । सायका बाणा वाजितायाः पक्षवत्तायाः अश्वत्वस्य च । 'वाजो निस्वनपक्षयोः' इति विश्वः । युक्तमनुरूपं कर्म चक्रुः । एवंविधसेनाप्रवेशस्य वाजिनामेव सम्भवादिति भावः । अत्राभिधायाः प्रकृतपक्षत्वमात्रोपक्षीणत्वाद्वाजिताशब्देन प्रकृतस्यैव प्रतीतेः ध्वनिरेवेति न श्लेषावकाशः । किन्तु सिद्धादिपदार्थपुञ्जविशेषणगत्या सायकानां युक्तकारिताहेतुत्वात् पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गम् ॥ १३ ॥

आक्रम्याजेरग्रिमस्कन्धमुच्चैरास्थायाथो वीतशङ्कं शिरश्च ।
हेलालोलावर्त्म गत्वातिमर्त्यं द्यामारोहन्मानभाजः सुखेन॥१४॥

आक्रम्येति । मानभाजोऽभिमानवन्त उच्चैरुन्नतम् आजेर्युद्धस्याग्रिमस्कन्धमग्रभागमसम्प्रदेशं चाक्रम्यारुह्य वीतशङ्कं शिरः सम्मुखं उत्तमकायम् चास्थायारुह्य हेलासु युद्धक्रीडासु लीलासु च लोला उत्सुका सन्तः अतिमर्त्यं वर्त्म गत्वा अमानुष्यं युद्धं कृत्वेत्यर्थः । अन्यत्रामानुषगम्यमारोहणमार्गं गत्वा सुखेनानायासेन द्यां स्वर्गमभ्रङ्कषं गिरिशिखरादि क्रीडास्थानम् । 'द्यौः स्वर्गसुखवर्त्मनोः' इति विश्वः । आरोहन्नारूढाः । "युध्यमानाः परं शक्त्या स्वर्गं यान्त्यपराङ्मुखाः" इति मनुस्मरणादिति भावः । यथा कथञ्चित्कश्चित् स्कन्धमूर्द्धारोहणक्रमेण किञ्चिद्दुरारोहमद्रितटादिकमारोहति तद्वदिति प्रतीतेर्विशेषणमहिम्नागता समासोक्तिः ॥ १४ ॥

रोदोरन्ध्रं व्यश्नुवानानि लोलैरङ्गस्यान्तर्मापितैः स्थावराणि ।
केचिद्गुर्वीमेत्य संयन्निषद्यां क्रीणन्ति स्म प्राणमूल्यैर्यशांसि ॥ १५ ॥

रोदोरन्ध्रमिति । केचिद्वीराः गुर्वीं महतीं सयतो युध एव निषीदन्त्यस्यामिति निषद्याम् आपणम् । 'आपणस्तु निषद्यायाम्' इत्यमरः । "सज्ञाया समजनिषद" इत्यादिना क्यप् । एत्य प्राप्य । समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप् । देहस्यान्तरभ्यन्तरे मापितैः परिच्छिन्नैः । मातेर्मोडो वा ण्यन्तात्कर्मणि क्तः । "अतिह्री" इत्यादिना पुगागमः । लोलैरस्थिरैः प्राणैरेव मूल्यैः प्राणमूल्यै रोदसोर्द्यावापृथिव्यो रन्ध्रमन्तरालं व्यश्नुवानानि व्याप्नुवन्ति । अश्नोतेर्लटः शानजादेशः । स्थावराणि स्थिराणि यशांसि क्रीणन्ति स्म स्वीचक्रुरित्यर्थः । अत्र न्यूनैः प्राणैः ततोऽधिकयशः परिवर्तनात् न्यूनपरिवृत्तिरलङ्कारः । "समन्यूनाधिकानां च यदा विनिमयो भवेत् । साक समाधिकन्यूनैः परिवृत्तिरसौ मता" इति लक्षणात् ॥ १५ ॥

वीर्योत्साहश्लाघि कृत्वावदानं संग्रामाग्रे मानिनां लज्जितानाम् ।
अज्ञातानां शत्रुभिर्युक्तमुच्चैः श्रीमन्नाम श्रावयन्ति स्म नग्नाः ॥ १६ ॥

वीर्योत्साहेति । संग्रामाग्रे रणाग्रे वीर्योत्साहाभ्या श्लाघ्यते इति श्लाघि विक्रमाहङ्कारशोभि । अवदान महत्कर्म कृत्वा । 'अवदान कर्मवृत्तम्' इत्यमरः । लज्जिताना मानित्वात् स्वनामाख्याने सङ्कोचवतामित्यर्थः । शत्रुभिरज्ञातानाम् अज्ञातनामकानां मानिनां मानशालिनां शूराणा सम्बन्धि श्रीमत् शौर्यश्रीयुक्त नाम नग्नाः वन्दिनः । 'वन्दिनि क्षपणे नग्नः' इति विश्वः । उच्चै श्रावयन्ति स्म अयमसाविति कथयामासुरित्यर्थः । युक्त सर्वमेतदुचितमित्यर्थः । अत्र लज्जमानाज्ञातयोर्विशेषणगत्या वन्दिश्रवणहेतुत्वात्काव्यलिङ्गभेदः ॥ १६ ॥

आधावन्तः सम्मुखं धारितानामन्यैरन्ये तीक्ष्णकौक्षेयकाणाम् ।
वक्षःपीठैरात्सरोरात्मनैव क्रोधेनान्धाः प्राविशन्पुष्कराणि ॥ १७ ॥

आधावन्त इति । क्रोधेनान्धाः अपश्यन्तोऽन्ये भटाः आधावन्तोऽभिमुखमापतन्तः सन्तः अन्यैः सैन्यैः प्रतिद्वन्द्वाभिसम्मुख धारिताना धृताना तीक्ष्णकौक्षेयकाणा निशितासिनाम् "कुलकुक्षिग्रीवाभ्यः श्वास्यलङ्कारेषु" इति ढकञ्प्रत्ययः । पुष्कराणि फलानि खड्गमुखानीत्यर्थः । 'पुष्कर तूर्यवक्त्रे च काण्डे खड्गफलेऽपि च' इति विश्वः । वक्षांसि पीठानीव वक्षःपीठैः वक्षःस्थलैः आत्सरोरामुष्टेः । 'त्सरुः खड्गादिमुष्टौ स्यात्' इत्यमरः । "आङ्मर्यादाभिविध्योः" इति विकल्पादसमासः । आत्मना स्वयमेव परप्रयत्न विनेत्यर्थः । प्राविशन् प्रविष्टाः । अत्र क्रोधान्धविशेषणगत्या पुष्करप्रवेशहेतुत्वात् काव्यलिङ्गभेदः ॥ १७ ॥

मिश्रीभूते तत्र सैन्यद्वयेऽपि प्रायेणायं व्यक्तमासीद्विशेषः ।
आत्मीयास्ते ये पराञ्चः पुरस्तादभ्यावर्ती सम्मुखो यः परोऽसौ ॥ १८ ॥

मिश्रीभूत इति । तत्र युद्धे सैन्यद्वयेऽपि मिश्रीभूते मिलिते सति प्रायेणाय भिन्नो- ऽसाधारणधर्म्मो व्यक्तमासीत् । क इत्याह । पुरस्तादग्रे ये पराञ्चः पराङ्मुखाः परेऽपीति भावः ते आत्मीया अवध्या इत्यर्थः । 'न भीत न परावृत्तम्' इति वधनिषेधश्रवणात् । यः पुरस्ताद- भ्यावर्त्ती परावर्त्ती सम्मुखोऽभिमुख स्वकीयोऽपीति भावः । असौ परः शत्रुर्वध्य इत्यर्थः । प्राण- लुब्धस्य स्वामिद्रोहित्वादित्यर्थः ॥ १८ ॥

सद्वंशत्वादंगसंसङ्गिनीत्वं नीत्वा कामङ्गौरवेणावबद्धा ।
नीता हस्तं वञ्चयित्वा परेण द्रोहश्चक्रे कस्यचित्स्वा कृपाणी १९॥

सदिति । सद्वंशत्वाच्छुद्धाकरत्वात्कुलीनत्वाच्चाङ्गसंसगिनीत्वमङ्गसम्बन्धित्वं नीत्वा । अगु- णत्वविवक्षाया "त्वतलोर्गुणवचनस्य" इति न पुंवद्भावः । काम गौरवेणादरेणावबद्धा संयता च कस्यचित्स्वा स्वकीया कृपाणी अमिलिता परेणान्येन वञ्चयित्वा प्रतार्य हस्त नीता स्वाय- त्तीकृता सती द्रोह हिंसा व्यभिचार च चक्रे कृतवती । अत्र प्रकृतकृपाणीविशेषणसाम्यादप्रकृतस्वै- रिणीप्रतीते समासोक्तिः ॥ १९ ॥

नीते भेदं धौतधाराभिघातादम्भोदाभे शात्रवेणापरस्य ।
सासृग्राजिस्तीक्ष्णमार्गस्य मार्गो विद्युद्दीप्तः कङ्कटे लक्ष्यते स्म२०

नीत इति । शात्रवेण शत्रुणा । प्रज्ञादित्वात् स्वार्थेऽण्प्रत्ययः । धौताया उत्तेजितायाः धाराया खड्गधाराया अभिघातात् भेद नीते विदारिते अम्भोदाभे मेघश्यामे अपरस्य भटस्य कङ्कटे कवचे । 'उरश्छद. कङ्कटको जगर कवचोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः । सहासृग्राज्या- स्यासृग्राजि सरक्तरेखः तीक्ष्णमार्गस्य खड्गस्य मार्ग' प्रहारो विद्युद्दीप्तस्तडिदुज्ज्वलो लक्ष्यते स्म उपमालङ्कारः ॥ २० ॥

आमूलान्तात्सायकेनायतेन स्यूते बाहौ मण्डलश्लिष्टमुष्टेः ।
प्राप्यासह्यां वेदनामस्तधैर्य्यादप्यभ्रश्यच्चर्म नान्यस्य पाणेः॥२१॥

आमूलान्तादिति । अन्यस्य भटस्य बाहौ आयतेन दीर्घेण सायकेन आमूलान्तात् मूलप्रदेशपर्य्यन्तम् आकक्षमित्यर्थः । विकल्पादसमासः । स्यूते प्रोते सति असह्यां वेदनां व्यथां प्राप्य अत एवास्तधैर्य्यात्त्यक्तधैर्य्यादपि धारयितुमक्षमादपि मण्डलं सङ्ग्राहे श्लिष्टा सादृष्टा मुष्टिर्यस्य तस्मात्पाणेश्चर्म्म फलकम् । 'फलकोऽस्त्री फल चर्म्म सङ्ग्राहो मुष्टिरस्य य.' इत्य- मरः । नाभ्रश्यन्नापतत् । अत्र सायकप्रोतमुष्टिश्लेषयोर्विशेषणगत्या धैर्य्यत्यागचर्म्मभ्रंशौ प्रति- हेतुत्वात्काव्यलिङ्गभेद ॥ २१ ॥

भित्त्वा घोणामायसेनाधिवक्षः स्थूरीपृष्ठो गार्द्धपक्षेण विद्धः ।
शिक्षाहेतोर्गाढरज्ज्वेव बद्धो हर्तुं वक्त्रं नाशकद्दुर्मुखोऽपि ॥ २२ ॥

भित्त्वेति । आयसेनायोमयेन गार्ध्रो गृध्रसम्बन्धी पक्षः पत्रं यस्य तेन गार्ध्रपक्षेण बाणविशेषेण घोणा नासा भित्त्वा । 'घोणा नासा च नासिका' इत्यमरः । अधिवक्षो वक्षसि । विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः । विद्धः प्रहृतः । व्यधेः कर्म्मणि क्तः "ग्रहिज्या" इत्यादिना सम्प्रसारणम् । स्थूरीपृष्ठो नवारूढोऽश्वः शिक्षैव हेतुः तस्य शिक्षाहेतोः शिक्षया निमित्तेन शिक्षार्थमिति यावत् । "षष्ठी हेतुप्रयोगे" इति षष्ठी । गाढरज्ज्वा गाढपाशेन बद्ध इवेत्युत्प्रेक्षा । दुर्म्मुखोऽप्यशिक्षितमुखोऽपि वक्त्रं हर्त्तुमपाक्रष्टुं नाशकत् न शक्तः । शकेर्लुङि पुषादित्वात् च्लेरङादेशः । शिक्षितो हि शिक्षावशादबद्धोऽपि बद्धवदास्ते अशिक्षितस्तु निबद्धोऽपि झटिति मुखमपहरतीति भावः । अपिर्विरोधे । अत एव विरोधाभासोऽलङ्कारः ॥ २२ ॥

कुन्तेनोच्चैः सादिना हन्तुमिष्टान्नाजानेयो दन्तिनस्त्रस्यति स्म ।
कर्मोदारं कीर्त्तये कर्त्तुकामान्किं वा जात्याः स्वामिनो ह्रेपयन्ति २३

कुन्तेनेति । आजानेयः कुलीनाश्वः । 'आजानेयाः कुलीनाः स्युः' इत्यमरः । "शुभ्रादिभ्यश्च" इति ढक्प्रत्ययः । सादिना अश्वारोहेण कर्त्रा । उच्चैरुन्नतेन कुन्तेन प्रासेन करणेन । हन्तुं प्रहर्त्तुमिष्टादभिप्रेतात् दन्तिनो न त्रस्यति स्म न त्रस्तः । "वा भ्राश" इत्यादिना श्यन्प्रत्ययः । तथा हि जात्याः कुलीनाः भवार्थे यत्प्रत्ययः । कीर्त्तये उदारं कर्म्म महापौरुषं कर्त्तुं कामो येषां तान् कर्त्तुकामान् । "तुं काममनसोरपि" इति मकारलोपः । स्वमेषामस्तीति स्वामिनो भर्तॄन् । "स्वामिन्नैश्वर्य्ये" इति निपातः । ह्रेपयन्ति लज्जयन्ति किं न ह्रेपयन्तीत्यर्थः । "अर्तिह्री" इत्यादिना पुगागमः । सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ २३ ॥

जेतुञ्जैत्राः शेकिरे नारिसैन्यैः पश्यन्तोऽधोलोकमस्तेषुजालाः ।
नागारूढाः पार्व्वतानि श्रयन्तो दुर्गाणीव त्रासहीनास्त्रसानि २४

जेतुमिति । जेतार एव जैत्राः जयशीलाः जेतृप्रकृतेः प्रज्ञादित्वात्स्वार्थेऽण्प्रत्ययः । लोकं जनमधः पश्यन्तः स्वयमुपर्य्यवस्थानात् लोकमधोदेशे पश्यन्तः अवज्ञां मन्यमानाश्च । अस्तेषुजालाः क्षिप्तशरनिकराः त्रासहीना दुर्गस्थत्वान्निर्भीकाः । नागारूढाः गजारोहाः त्रस्यन्ति गच्छन्तीति त्रसानि जङ्गमानि । 'चरिष्णुजङ्गमचरं त्रसमिङ्गं चराचरम्' इत्यमरः । पार्वतानि पर्वतसम्बन्धीनि दुर्गाणि । गिरिदुर्गाणीत्यर्थः । श्रयन्तोऽधितिष्ठन्त इत्युत्प्रेक्षा । तेऽप्येवंभूता एवेति भावः । अरिसैन्यैः कर्तृभिः । जेतुं न शेकिरे अशक्ता बभूवुरित्यर्थः । शकेः कर्म्मणि लिट् । अत्र मनुः । 'धनुर्दुर्गं महीदुर्गमब्दुर्गं वनमेव च । नृदुर्गं गिरिदुर्गं च समाश्रित्य वसेन्नृपः । सर्वेणैव प्रकारेण गिरिदुर्गं समाश्रयेत् । तेषां हि बहुगुण्येन गिरिदुर्गं विशिष्यते' इति ॥ २४ ॥

विष्वद्रीचीर्विक्षिपन् सैन्यवीचीराजावन्तः क्वापि दूरं प्रयातम् ।
वभ्रामैको बन्धुमिष्टं दिदृक्षुः सिन्धौ वाद्यो मण्डलङ्गोर्वराहः ॥२५॥

विष्वगिति। एकः कोऽपि वीरः विष्वगञ्चन्तीति विष्वद्रीचीः सर्वव्यापिनीः । " विष्वग्देवयोश्च टेरद्र्यञ्चतावप्रत्यये " इति टेरद्र्यादेशः । धातोरप्यञ्चतेरुपसंख्यानात् " उगितश्च " इति ङीप् " अचः " इत्यकारलोपे "चौ" इति दीर्घः । सैन्यानि वीचीरिव सैन्यवीचीरित्युपमितसमासः । सिन्धौ वेति लिङ्गात् विक्षिपन्नपाकुर्वन् । अन्तः आजिमध्ये क्वापि दूरं प्रयातम् इष्टं बन्धुं दिदृक्षुर्द्रष्टुमिच्छुः सन् । दृशेः सन्नन्तादुप्रत्ययः । क्वापि प्रयातं मग्नं गोभूमेर्मण्डलं भूगोलं दिदृक्षुराद्यो वराहः सिन्धौ वा समुद्रे इव । ' उपमाया विकल्पे वा ' इत्यमरः । आजौ वराम् एकवीरस्य कुतो भयमित्यर्थः ॥ २५ ॥

यावच्चक्रे नाञ्जनं बोधनाय व्युत्थानज्ञो हस्तिचारी मदस्य ।
सेनास्वानाद्दन्तिनामात्मनैव स्थूलास्तावत्प्रावहन्दानकुल्याः २६

यावदिति। व्युत्थानं गजोत्थापनम् जानातीति व्युत्थानज्ञः हस्तिनि चरतीति हस्तिचारी यन्ता । मदस्य बोधनायोत्थापनायाञ्जनमुद्दीपनं कर्म्म यावन्न चक्रे तावत् प्रागेव । असमाप्ते विधावित्यर्थः । सेनास्वानात्सेनाकलकलश्रवणादित्यर्थः । दन्तिनामात्मना स्वयमेव स्थूलाः महत्यो दानकुल्या मदसरितः प्रावहन् इति दन्तिनामुत्साहातिरेकोक्तिः अञ्जनात् । प्राग्दानसम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिः ॥ २६ ॥

क्रुध्यन् गन्धादन्यनागाय दूरादारोढारं धूतमूर्द्धावमत्य ।
घोरारावध्वानिताशेषदिक्के विष्के नागः पर्यणंसीत्स्व एव ॥ २७ ॥

क्रुध्यन्निति। दूरात् दूरत एव गन्धात् मदगन्धाघ्राणात् अन्यनागाय प्रतिगजाय क्रुध्यन् तं जिघांसुरित्यर्थः । "क्रुधद्रुह" इत्यादिना सम्प्रदानत्वम् । नागो धूतमूर्द्धा विधूतमस्तकः सन् । आरोढारम् यन्तारम् अवमत्य अवधूय । घोरारावैर्दारुणक्रन्दनैः ध्वानिता अशेषदिशो येन तस्मिन् तथा उच्चैराक्रोशतीत्यर्थः । शैषिकः कप्रत्ययः । स्वे स्वकीय एव स्वपुत्र एवेत्यर्थः । " पूर्वादिभ्यो नवभ्यो वा " इति विकल्पान्न स्मिन्नादेशः । अत एव स्वे स्वपुत्रे विष्के इति क्लिष्टगत्या व्याख्याय पुत्रस्यापि ज्ञातित्वान्न सर्वनामसञ्ज्ञेति वल्लभोक्तिः प्रामादिकी । विष्कः विंशतिः वर्षके डिम्भे । ' विष्को विंशतिवर्षकः ' इति वैजयन्ती । पर्यणंसीत् तिर्य्यक् प्रजहारेत्यर्थः । ' तिर्य्यग्दन्तप्रहारस्तु गजः परिणतो मतः ' इति हलायुधः । " यमरमनमातां सक् च " इति नमेर्लुङि सगिडागमौ 'नेटि, इति वृद्धिप्रतिषेधः ॥ २७ ॥

प्रत्यासन्ने दन्तिनि प्रातिपक्षे यन्त्रा नागः प्रास्तवक्त्रच्छदोऽपि ।
क्रोधाक्रान्तः क्रूरनिर्दारिताक्षः प्रेक्षाञ्चक्रे नैव किञ्चिन्मदान्धः २८

प्रत्यासन्ने इति। प्रातिपक्षे प्रतिपक्षसम्बन्धिनि । " तस्येदम् " इत्यण् । दन्तिनि गजे प्रत्यासन्ने सति यन्त्रा सादिना प्रास्तवक्त्रच्छदोऽपि निरस्तमुखपटोऽपि क्रोधाक्रान्तः अत एव क्रूरं घोरं निर्दारिताक्षः तथापि मदान्धो नागो गजो न किञ्चिदेव प्रेक्षांचक्रे । किमपि पुरोगतं

प्रतिपक्षमन्यद्वा न ददर्शेत्यर्थः । आवरणान्तराभावेऽपि मदावरणस्यानपायादिति भावः । ' इजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छः " इत्याम्प्रत्ययः । अत्रानावृतोन्मीलिताक्षस्याप्यदर्शनविरोधस्य मदान्धेनाविरोधाद्विरोधाभासोऽलङ्कारः ॥ २८ ॥

तूर्णं यावन्नापनिन्ये निषादी वासश्चक्षुर्वारणं वारणस्य ।
तावत्तूर्णैरन्यनागाधिरूढः कादम्बानामेकपातैरसीव्यत् ॥२९॥

तूर्णमिति । निषादी यन्ता वारणस्य गजस्य चक्षुर्वारणं नेत्रावरणं वासो मुखपटं यावत्तूर्णं नापनिन्ये नापचकार तावदन्यनागाधिरूढः प्रतिगजाधिरोहः एकः एककालीनः पातो येषां तैरेकपातैर्युगपत्पत्तिभिरिति शीघ्रतोक्तिः । कादम्बानां शराणाम् । 'कादम्बमार्गणशराः' इत्यमरः । पृषत्कैर्मार्तैरसीव्यत् । चक्षुषा सह तद्वासः स्यूतवानित्यर्थः । सीव्यतेर्लङ् । अत्र चक्षुषः सीवनासम्बन्धेऽपि सदन्वोक्तेरतिशयोक्तिः ॥ २९ ॥

आस्थद्दष्टेराच्छदश्च प्रमत्तो यन्ता यातुः प्रत्यरीभं द्विपस्य ।
मग्नस्योच्चैर्बर्हभारेण शङ्कोरावव्राते वीक्षणे च क्षणेन ॥ ३० ॥

आस्थदिति । यन्ता प्रमत्तः सन् प्रत्यरीभमरिगजं प्रति । आभिमुख्येऽव्ययीभावः । यातुर्गन्तुः । यातेस्तृच् । द्विपस्य दृष्टेराच्छदमावरणम् । "पुंसि संज्ञायां घः" । आस्थत् निरस्तवान् । "अस्यतिवक्तिख्यातिभ्योऽङ्" इति च्लेरङादेशः, "अस्यतेस्थुक्" इति थुगागमः । मग्नस्य मुखनिमग्नस्य शङ्कोः शल्यायुधस्य । 'वा पुंसि शल्यं शङ्कुर्ना' इत्यमरः । उच्चैर्बर्हभारेण पिच्छपटलेन वीक्षणे चक्षुषी क्षणेनाव्राते आवृते । वृणोतेः कर्मणि लिट् । अन्योन्यसमुच्चयचकाराभ्याम् आवरणनिरासे पुनरावरणयोरेककाले सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिः ॥ ३० ॥

यत्नाद्रक्षन्सुस्थितत्वादनाशं निश्चित्यान्यश्चेतसा भावितेन ।
अन्त्यावस्थाकालयोग्योपयोगं दध्रेऽभीष्टं नागमापद्धनं वा ३१

यत्नादिति । अन्यः गजारोहः भावितेनालोचितेन चेतसा सुस्थितत्वादनपायि देशत्वादनाशमनपायं निश्चित्य यत्नाद्रक्षन् वञ्चकेभ्यस्त्रायमाणः सन् अन्त्यावस्थाकाले साधनान्तरकाले नाशकाले योग्योपयोगम् अत एवाभीष्टं नागं गजमापद्धनं वापद्धनमिव दध्रे अन्यतोपसार्य धारयामास । धरतेः स्वरितेत्त्वात्कर्तरि लिट् तङ् ॥ ३१ ॥

अन्योन्येषां पुष्करैरामृशन्तो दानोद्भेदानुच्चकैर्भुग्नवालाः ।
उन्मूर्द्धानः सन्निपत्यापरान्तैः प्रायुध्यन्त स्पष्टदन्तध्वनीभाः ३२

अन्योन्येषामिति । इभा गजाः अन्योन्येषां परस्परेषाम् । " कर्मव्यतीहारे सर्वनाम्नो द्वे भवतः " इति वक्तव्यात् द्वित्वम् । " समासवच्च बहुलम् " इति विकल्पादसमासवत्त्वपक्षे पूर्वपदस्य प्रथमैकवचनं वक्तव्यम् । उद्भिद्यन्ते एष्विति उद्भेदाः । " अकर्त्तरि कारके च सञ्ज्ञायाम् "

इत्यविकरणार्थे घञ्प्रत्ययः । दानोद्भेदान्कटादिमदस्थानानि पुष्करैर्हस्ताग्रैः । ' पुष्करं करिहस्ताग्रम् ' इत्यमरः । आमृशन्तो जिघ्रन्त उच्चकैरुन्नता भुग्नवालाः मह्रीकृतपुच्छाः । ' बाल. केशे शिशौ मूर्खे बालो वाजीभपुच्छयोः ' इति विश्वः । उन्मूर्द्धानः उन्नतमस्तकाः सन्तः स्पष्टदन्तध्वनि यथा तथा सन्निपत्यापरान्तैः सह प्रायुध्यन्त । दिवादि[illegible] लङ् । स्वभावोक्ति ॥ ३२ ॥

द्राघीयांसः संहताः स्थेमभाजश्चारूदग्रास्तीक्ष्णतामत्यजन्तः ।
दन्ता दन्तैराहताः सामजानाम्भङ्गं जग्मुर्न स्वयं सामजाताः ३३

द्राघीयांस इति । द्राघीयांसो दीर्घतराः । ' प्रियस्थिर ' इत्यादिना दीर्घस्य ईयसुनि द्राघादेश. । संहता सुघटिता अत एव स्थेमभाज' स्थैर्यभाज । " प्रियस्थिर " इत्यादिना स्थिरशब्दस्येमनिचि स्थादेशः । चारवो रम्या उदग्रा उन्नताश्च ते चारूदग्राः । विशेषणसमास । तीक्ष्णतां नैशित्यम् अत्यजन्तः सामजाना गजाना दन्तादन्तैः प्रतिगजविषाणैराहता सन्तो भङ्ग भेद जग्मु बभञ्जुः । सामजाताः दन्तिनस्तु स्वय भङ्ग पराजयं न जग्मुः, दंतभङ्गेऽपि स्वय न परावर्तन्त इत्यर्थः । अत्रापरावर्त्तित्वेन वर्ण्यतया प्रकृतत्वादुपमेयाना दान्तिनामुपमानदन्तापेक्षया अभग्नत्वेनाधिक्योक्तेर्व्यतिरेकस्तुल्ययोगितायां बाधक इति गमयितव्यम् ॥ ३३ ॥

मातंगानां दन्तसंघट्टजन्मा हेमच्छेदच्छायचञ्चच्छिखाग्रः ।
लग्नोऽप्यग्निश्चामरेषु प्रकामं माञ्जिष्ठेषु व्यज्यते न स्म सैन्यैः ३४

मातङ्गानामिति । मातगाना दन्तिना दन्तसंघट्टजन्मा दन्तसघर्षोत्थः हेमच्छेदच्छायानि कनकपरागवर्णानि चञ्चन्ति चलन्ति च शिखाग्राणि ज्वालाग्राणि यस्य सोऽग्निः मञ्जिष्ठया ओषधिविशेषेण रक्तेषु माञ्जिष्ठेषु । "तेन रक्तं रागात्" इत्यण्प्रत्यय' । 'मञ्जिष्ठा विकसा जिंगी' इत्यमर. । चामरेषु लग्नोऽपि सैन्यै. प्रकाम न व्यज्यते न विविच्यते स्म । सावर्ण्यादिति भाव. । अतः सामान्यालकारः । ' सामान्य गुणसाम्येन यत्र वस्त्वन्तरैकता' इति लक्षणात् । स च विशेषणोत्थकाव्यलिङ्गसंकीर्णः ॥ ३४ ॥

ओषामासे मत्सरोत्पातवाताश्लिष्यद्दन्तक्ष्मारुहां घर्षणोत्थैः ।
यौगान्तैर्वा वह्निभिर्वारणानामुच्चैर्मूर्द्धव्योम्नि नक्षत्रमाला ॥३५॥

ओषामासे इति । मत्सरो वैरमेवोत्पातवातः आकस्मिकवायुस्तेनाश्लिष्यतो सयुज्यमानाना दन्तानामेव क्ष्मारुहा वृक्षाणा घर्षणेनोत्था जन्म येषा तैर्वह्निभिर्यौगान्तैर्वा युगान्तभवैर्वह्निभिरिव वारणानामुच्चैरुन्नते. मूर्द्धा व्योमेव तस्मिन्मूर्द्धव्योम्नि नक्षत्रमाला हारविशेषः । ' सैव नक्षत्रमाला स्यात् सप्तविंशतिमौक्तिकः ' इत्यमरः । ज्योतिर्मण्डल च ओषामासे उवोष दग्धेत्यर्थः । ' उष दाहे ' इति धातोः कर्मणि लिट् । "उषविदजागृभ्योऽन्यतरस्याम्" इत्याम्प्रत्ययः ।

त्वनूपधगुणः "कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि" इत्यस्तेश्चानुप्रयोगः । अत्र नक्षत्रमालयोरभेदाध्यवसायेन निर्देशात् रूपकश्लेषसङ्कीर्णेयमुपमा ॥ ३५ ॥

सान्द्राम्भोदश्यामले सामजानां वृन्दे नीताः शोणितैः शोणिमानम् । दन्ताः शोभामापुरम्भोनिधीनां कन्दोद्भेदा वैद्रुमा वारिणीव ॥ ३६ ॥

सान्द्राम्भोदेति । सान्द्रं च तदम्भोदश्यामलं च तस्मिन् सामजानां गजानां वृन्दे शोणितैः शोणिमानमारुण्यं नीता दन्ता अम्भोनिधीनां वारिनिधीनां वारिणीव विद्रुमाणां प्रवालानां इमे वैद्रुमाः 'विद्रुमः पुंसि प्रवालं पुनपुंसकम्' इत्यमरः । कन्दो मूलपिण्डः तस्योद्भेदाः प्ररोहा इव शोभामापुरित्युपमा ॥ ३६ ॥

आकम्प्राग्रैः केतुभिः सन्निपातं तारोदीर्णग्रैवनादं व्रजन्तः । मग्नानङ्गे गाढमन्यद्विपानां दन्तान्दुःखादुत्खनन्ति स्म नागाः ॥ ३७ ॥

आकम्प्राग्रैरिति । आकम्प्राणि दन्तोत्खननसङ्क्षोभाद्भृशं कम्प्राण्यग्राणि येषां तैः केतुभिर्ध्वजैः सन्निपातं सम्पर्कं व्रजन्त इति दुःखहेतूक्तिः । नागाः गजास्तारमुच्चैरुदीर्णः उत्पन्नः ग्रैवाणां ग्रीवासूत्पन्नानां शृङ्खलभूषणादीनां नादो यस्मिन् कर्म्मणि तत्तथा अन्यद्विपानां प्रतिगजानाम् अङ्गे गाढं मग्नान् अन्तः प्रविष्टान् दन्तान् दुःखादुत्खनन्ति स्म तेषां गाढमग्नत्वात्स्वयं केतुभाराक्रान्तत्वाच्च कृच्छ्रादुज्जहुरित्यर्थः । अत्रोक्तभारमज्जनयोर्विशेषणगत्या दुःखोत्खननहेतुत्वात्काव्यलिङ्गम् ॥ ३७ ॥

उत्क्षिप्योच्चैः प्रस्फुरन्तं रदाभ्यामीषादन्तः कुञ्जरं शात्रवीयम् । शृङ्गप्रोतप्रावृषेण्याम्बुदस्य स्पष्टम्प्रापत्साम्यमुर्वीधरस्य ॥ ३८ ॥

उत्क्षिप्येति । ईषे लाङ्गलदण्डाविव दन्तौ यस्य स ईषादन्तो महादन्तो दन्ती । 'ईषा लाङ्गलदण्डः स्यात्' इत्यमरः । प्रस्फुरन्तं प्राणोत्क्रमणदुःखादुल्लसन्तं शात्रवस्येदं शात्रवीयं कुञ्जरं रदाभ्यां दन्ताभ्याम् उच्चैरुत्क्षिप्योर्ध्वमुद्यम्य शृङ्गे शिखरे प्रोतः स्यूतः प्रावृषेण्यः प्रावृषि भवोऽम्बुदो यस्य तस्य । "प्रावृष एण्यः" इत्येण्यप्रत्ययः । उर्वीधरस्य गिरेः साम्यं सादृश्यं स्पष्टं प्रापत् । आप्नोतेर्लुङि पुषादित्वात् च्लेरङादेशः । उपमा ॥ ३८ ॥

भग्नेऽपीभे स्वे परावर्त्य देहं योद्धा सार्द्धं व्रीडया मुञ्चतेषून् । साकं यन्तुः सम्मदेनानुबन्धी दूनोऽभीक्ष्णं वारणः प्रत्यरोधि ॥ ३९ ॥

भग्नेऽपीति । स्वे स्वकीये इभे गजे भग्नेऽपि देहं स्वाङ्गं परावर्त्य प्रतिपक्षाभिमुखमावर्त्य । वृत्तेर्ण्यन्ताल्ल्यप् । अण्यन्तस्त्वपपाठः अकर्म्मकस्य कर्म्मानन्वयात् । व्रीडया सार्द्धमिषून् मुञ्चता

इषुमोक्षणेन स्वगजभगक्रीडा निरस्यतेत्यर्थः । योद्धा भग्नेभस्थेन भटेन । कर्त्रा । अभीक्ष्णं नूनः इषुभिस्तस्य । "ल्यादिभ्यः" इति निष्ठानत्वम् । अनुबध्नातीत्यनुबन्धी वारणो यन्तु. प्रतिगजारोहस्य सम्मर्देन साकं क्षेमजयजन्येन हर्षेण सह । "प्रमदसम्मदौ हर्षे" इति निपातः । प्रत्यरोधि प्रतिरुद्धः तत्प्रतिरोधेन तत्सम्मदस्यापि प्रतिरोधव्याप्तेरिति भावः । 'साकं सार्द्धं समं सह' इत्यमरः । अत्र क्रीडितेषुमोक्षयोः सम्मदयन्तृप्रतिरोधयोश्च कार्य्यकारणयोस्तत्पौर्वापर्य्यविपर्ययः रूपातिशयोक्त्या सहभावोक्तेः सहोक्तिः सङ्कीर्य्यते ॥ ३९ ॥

व्याप्तं लोकर्दुःखलभ्यापसारं संरम्भित्वादेत्य धीरो महीयः ।
सेनामध्यङ्गाहते वारणः स्म ब्रह्मैव प्रागादिदेवोदरान्तः ॥ ४० ॥

व्याप्तमिति । वारणः कश्चिद्दन्ती संरम्भित्वात् कोपित्वात् । 'संरम्भः सम्भ्रमे कोपे' इति विश्व. । धीरो निर्भीकः सन् एत्यागत्य महीयो विपुलं लोकैः जनैः अन्यत्र भुवनैश्च व्याप्तम् । 'लोकस्तु भुवने जने' इत्यमरः । अतो दुःखलभ्योऽपसारोऽपसरणं यत्र तत्सेनामध्यं प्राक् पुरा आदिदेवस्य विष्णोः उदरान्तरुदराभ्यन्तरं ब्रह्मा स्रष्टेव गाहते स्म प्रविवेश । यथा पुरा किल बाह्य सिसृक्षुः ब्रह्मा पूर्वसृष्टिदिदृक्षया विष्णोः कुक्षिं प्रविशादिति पौराणिकी कथा । केचित् ब्रह्मा ब्राह्मणो मार्कण्डेय इति व्याचक्षते सोऽपि भगवन्महिमावलोकनकौतुकात्तदनुज्ञया महाप्रलये तदुदरं प्रविश्य बभ्रामेत्यागमः । 'ब्रह्मा विप्रः प्रजापतिः' इत्यमरः । उपमालङ्कारः ॥ ४० ॥

भृङ्गश्रेणीश्यामभासां समूहैर्नाराचानां विद्धनीरन्ध्रदेहः ।
निर्भीकत्वादाहवेनाहतेच्छो हृष्यन्हस्ती हृष्टरोमेव रेजे ॥ ४१ ॥

भृङ्गेति । भृङ्गश्रेणीव श्यामभासा कृष्णवर्णानां नाराचानामयोमयेषुविशेषाणां समूहैः विद्धो नीरन्ध्रो निर्विवरो देहो यस्य स. तथापि निर्भीकत्वादाहवेनाहतेच्छः अव्याहतोत्साहः अत एव हृष्यन् मोदमानो हस्ती हृष्टरोमेव हर्षात्पुलकित इवेत्युत्प्रेक्षा । "हृषेर्लोमसु" इति विकल्पादिडभावः । रेजे शुशुभे । "फणां च सप्तानाम्" इति विकल्पादेत्वाभ्यासलोपौ ॥ ४१ ॥

आताम्राभा रोषभाजः कटान्तादाशूत्खाते मार्ग्गणे धूर्गतेन ।
निश्च्योतन्ती नागराजस्य जज्ञे दानस्याहो लोहितस्येव धारा ॥

आताम्रेति । रोषभाजः क्रुद्धस्य नागराजस्य महेभस्य कटान्तात् गण्डस्थलान्निश्च्योतन्ती प्रागेव स्रवन्ती दानस्य मदस्य धारा आताम्राभा क्रोधादरुणवर्णा जज्ञे जाता । अहो धूर्गतेन पुरोगतेन यन्त्रा मार्ग्गणे शरे आशूत्खाते लोहितस्य क्षतजस्येव धारा जज्ञे । जने कर्त्तरि लिट् । किमियं क्रोधारुणा मदधारा शरोद्धरणजन्या रक्तधारा वेत्युभयकारणसम्भवात् सादृश्याच्च संशयः, स च विकल्पितसादृश्यमूल इत्यलङ्कारः ॥ ४२ ॥

क्रामन्दन्तौ दन्तिनः साहसिक्यादीषादण्डौ मृत्युशय्यातलस्य ।
सैन्यैरन्यस्तत्क्षणादाशशङ्के स्वर्ग्गस्योच्चैरर्द्धमार्ग्गाधिरूढः ४३

क्रामन्निति । मृत्युशय्यातलस्यान्तकपर्य्यंकरूपस्य । 'अधः स्वरूपयोरस्त्री तलम्' इत्यमरः । ईषादण्डौ दारुविशेषौ तत्सदृशावायतावित्यर्थः । दन्तिनो दन्तौ सहसा वर्त्तेत इति साहसिकः "ओजःसहोम्भसा वर्तते" इति ठक्प्रत्ययः तस्य भावात्साहसिक्यात् क्रामन् साहसवानित्यर्थः । अन्यस्तत्क्षणादुच्चरूर्ध्वस्य स्वर्गस्य अर्धश्चासौ मार्गश्चेति तदर्द्धमार्गं तदधिरूढ इति सैन्यैराशशके उत्प्रेक्षित इत्युत्प्रेक्षा ॥ ४३ ॥

कुर्वञ्ज्योत्स्नाविप्रुषां तुल्यरूपस्तारस्ताराजालसारामिव द्याम् ।
खड्गाघातैर्दारितादन्तिकुम्भादाभाति स्म प्रोच्छलन्मौक्तिकौघः ॥

कुर्वन्निति । ज्योत्स्नाविप्रुषा तुल्यरूपः चन्द्रिकाबिन्दुस्वरूपः तारः शुद्धः । 'तारो मुक्तादिसशुद्धौ' इति विश्वः । खड्गाघातैर्दारितादन्तिकुम्भात् प्रोच्छलन्नुत्पतन् मौक्तिकौघो मुक्तापुञ्जो द्यामाकाश ताराजालसारा नक्षत्रशबलिता तारकिता कुर्वन्नित्युत्प्रेक्षा 'सारः शबलपीतयोः' इति विश्वः । आभाति स्म बभौ ॥ ४४ ॥

दूरोत्क्षिप्तक्षिप्रचक्रेण कृत्तम्मत्तो हस्त हस्तिराजः स्वमेव ।
भीमम्भूमौ लोलमानं सरोषः पादेनासृक्पङ्कपेषम्पिपेष ॥ ४५ ॥

दूरोत्क्षिप्तेति । मत्तो हस्तिराजः करीन्द्रः दूरादुत्क्षिप्तेन प्रास्तेन अत एव क्षिप्रेण सत्वरेण चक्रेण कृत्तम् अत एव भूमौ लोलमानम् लुण्ठमानम् । लोलतेरनात्मनेपदित्वात् "ताच्छील्यवयोवचनशक्तिषु चानश्" इति ताच्छील्ये चानश्प्रत्ययः । अतएव 'लोलमानादयश्चानशि' इति वामनः । भीम भयङ्कर स्व स्वकीयमेव हस्त सरोषः सन् पादेनाङ्घ्रिणा असृक्पङ्केन पङ्कीभूतेनासृजा पिनष्टीति असृक्पङ्कपेषम् । "स्नेहने पिषः" इति णमुल् । पिपेष । कषादित्वादनुप्रयोगः । रक्तपङ्केन स्नेहद्रव्येण ममर्देत्यर्थः । क्रुद्धमत्तयोः कुतो विवेक इति भावः । अत्र पेषणासम्बन्धेऽपि सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिः ॥ ४५ ॥

आपस्काराल्लूनगात्रस्य भूमिन्निःसाधारं गच्छतोऽवाङ्मुखस्य ।
लब्धायामं दन्तयोर्युग्ममेव स्वं नागस्य प्रापदुत्तम्भनत्वम् ॥ ४६ ॥

आपस्कारादिति । गात्रमूलमापस्कारम् आपस्कारादामूलात् । आङो विकल्पादसमासः । लूनगात्रस्य छिन्नजङ्घस्य । 'द्वौ पूर्वपश्चाज्जङ्घादिदेशौ गात्राऽवरे क्रमात्' इत्यमरः । अतएवावाङ्मुखस्य सतः साधारं सावलम्बन न भवतीति निःसाधार यथा तथा भूमिं गच्छतः पतत इत्यर्थः । नागस्य लब्धायाम प्राप्तदैर्घ्य आयतमित्यर्थः । स्वं स्वकीय दन्तयोर्युग्ममेवोत्तम्भनत्वमवलम्बनत्व प्रापत् । जङ्घाच्छेदेऽपि दन्तावष्टम्भादपतित इत्यर्थः । अत्र स्वभावातिशयोक्त्योः संसृष्टिः ॥ ४६ ॥

लब्धस्पर्शम्भूव्यथादव्यथेन स्थित्वा किञ्चिद्दन्तयोरन्तराल ।
ऊर्ध्वार्द्धासिच्छिन्नदन्तप्रवेष्टं जित्वोत्तस्थे नागमन्येन सद्यः ॥ ४७ ॥

लब्धस्पर्शमिति । भूग्नधाइन्ताभ्या भुवो विद्धत्वादित्यर्थः । "व्यवजपोरनुपसर्गे" इत्यप्प्रत्ययः । अव्यथेन स्वयमविद्धत्वादव्यथेन सताऽन्येन केनचिद्भटेन दन्तयोरन्तराले किञ्चित् लब्धः स्पर्शो यस्मिन् कर्म्मणि तद्दन्ताभ्या भटस्पर्श यथा तथा स्थित्वा ऊर्ध्वं प्रसारितेनार्द्रासिना खड्गैकदेशेन छिन्नः चूर्णितो दन्तप्रवेष्टो दन्तवेष्टन यस्य त नाग जित्वा सद्य एव उत्तस्थे उत्थितम् । भावे लिट् । अत्रापि तथोत्थानाद्यसम्बन्धेऽपि सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिः ॥ ४७ ॥

हस्तेनाग्रे वीतभीति गृहीत्वा कश्चिद्व्यालः क्षिप्तवानूर्ध्वमुच्चैः ।
आसीनानां व्योम्नि तस्यैव हेतोर्दिव्यस्त्रीणामर्प्पयामास नूनम् ॥

हस्तेनेति । "व्यालो दुष्टदन्ती । व्यालो दुष्टगजे सर्पे" इति विश्वः । अग्रे वीतभीति निर्भीक भीरो. स्वर्गाभावादिति भावः । कश्चिद्वीर हस्तेन गृहीत्वा ऊर्ध्वमुपर्य्युच्चैः क्षिप्तवान् । उत्प्रेक्ष्यते तस्यैव हेतोस्तेनैव हेतुना । तद्धरणार्थमेवेत्यर्थ. । "सर्वनाम्नस्तृतीया च" इति चकारात् षष्ठी । व्योम्नि आसीनानामवस्थितानाम् । "ईदास." इति शानच ईकार. । स्वर्गस्त्री-णाममरनारीणामर्पयामास नूनम् ॥ ४८ ॥

कश्चिद्दूरादायतेन द्रढीयः प्रासप्रोतस्रोतसान्तःक्षतेन ।
हस्ताग्रेण प्राप्तमेवाग्रतोऽभूदानैश्वर्य्यं वारणस्य ग्रहीतुम् ॥ ४९ ॥

कश्चिदिति । दूरादायतेनान्त'क्षतेन विक्षतेन अत एव द्रढीयसा प्रासेन प्रोतं स्रोतो यत्र तेन हस्ताग्रेण करेणन । अग्रत प्राप्तमपि कश्चिद्भट ग्रहीतुम् आदातु वारणस्य अनीश्वरस्य भावः आनैश्वर्य्यम् असामर्थ्यमभूत् । "नञ शुचीश्वर" इत्यादिना नञ् पूर्वपदोभयपदवृद्धिः । अत्रापि आनैश्वर्य्यसम्बन्धोक्तरतिशयोक्तिः ॥ ४९ ॥

तन्वाः पुंसो नन्दगोपात्मजायाः कंसेनेव स्फोटितायाः गजेन ।
दिव्या मूर्त्तिर्व्योमगैरुत्पतन्ती वीक्षामासे विस्मितैश्चण्डिकेव ५० ॥

तन्वा इति । गजेन स्फोटिताया. विदारितायाः पुसः कस्यचिद्वीरस्य तन्वाः शरीरात् कसेन स्फोटिताया नन्दगोपात्मजाया नन्दकन्याया इवोत्पतन्ती दिव्या मूर्ति. चण्डिकेव नन्द-कन्याशरीरादाविर्भवन्ती कालिकेव विस्मितैर्व्योमगै' खेचरै. वीक्षामासे वीक्षिता । ईक्षतेः कर्म्मणि लिट् , "इजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छः" इत्याम्प्रत्ययः । मनुष्यभावमुत्सृज्य देवभाव गते-त्यर्थः । उपमा व्यक्ता । पुरा किल दुरात्मनः कसस्य प्रतारणाय भगवदाज्ञया तन्माया शक्ति-र्नन्दगोपाज्जाता कसेन हिसितेति पौराणिकाः ॥ ५० ॥

आक्रम्यैकामग्रपादेन जंघामन्यामुच्चैराददानः करेण ।
सास्थिस्वानं दारुवद्दारुणात्मा कश्चिन्मध्यात्पाटयामास दन्ती ५१

आक्रम्येति । दारुणात्मा क्रुद्धचित्तो दन्ती एका जंघामग्रपादेनाक्रम्यान्या जघा-मुच्चैरुन्नतेन करेणाददान. आकर्षयन् । सास्थिस्वान भज्यमानास्थिचटचटाशब्दयुक्त यथा तथा-

कश्चिद्वीर दारुवत्काष्ठवत् मध्यात्पाटयामास मध्य विभज्य पाटयामासेत्यर्थः । ल्यब्लोपे पञ्चमी । उपमा ॥ ९१ ॥

शोचित्वाग्रे भृत्ययोर्मृत्युभाजोरर्य्यः प्रेम्णा नो तथा वल्लभस्य ।
पूर्वं कृत्वा नेतरस्य प्रसादं पश्चात्तापादाप दाहं यथान्तः ॥९२॥

शोचित्वेति । ऋच्छतीत्यर्यः । "अर्यः स्वामिवैश्ययोः" इति यत्प्रत्ययान्तो निपातः । अग्रे समक्षं मृत्युभाजोर्मरणं गतयोर्भृत्ययोः शोचित्वा वल्लभस्यैतयोर्मध्ये प्रियभृत्यस्य सम्बन्धिना प्रेम्णा । तद्गतप्रेम्णेत्यर्थः । तथा तेन प्रकारेणान्तर्दाहं सतापं नो आप । यथा येन प्रकारेण इतरस्यावल्लभस्य पूर्वं जीवनकाले प्रसादं प्रीतिदानाद्यनुग्रहं न कृत्वा पश्चात्तापाद्गतोऽयमस्माभिरप्रीणित एव प्राणान् प्रादादित्यनुशयात् दाहमाप । प्रियभृत्यमरणादप्यसम्मानितमरणमेव स्वामिनो तु सहदुःखहेतुरासीदित्यर्थः । स्वभावोक्ति ॥ ९२ ॥

उत्प्लुत्यारादर्द्धचन्द्रेण लूने वक्रेऽन्यस्य क्रोधदष्टोष्ठदन्ते ।
सैन्यैः कण्ठच्छेदलीने कबन्धाद्भूयो बिभ्ये वल्गतः सासिपाणेः॥९३॥

उत्प्लुत्येति । अर्द्धचन्द्रेण बाणेन लूने छिन्ने तथापि क्रोधेन दष्टौ ओष्ठौ यैस्ते दन्ता यस्य तस्मिन् अन्यस्य योधस्य वक्रे आरादनतिदूरमुत्प्लुत्य । 'आराद्दूरसमीपयोः' इत्यमरः । भूयः पुनरपि कण्ठस्य छेदः छिन्नदेशः तत्र लीने स्थिते सति वल्गतो नृत्यतः सासिः पाणिर्यस्य तस्मात्कबन्धादपमूर्द्धकलेवरात् "भीत्रार्थानां भयहेतुः" इति पञ्चमी । सैन्यैर्बिभ्ये भीतम् । भावे लिट् । लूनस्यापि वक्त्रस्य पुनः स्वस्थानपातित्वाद्वल्गनासिधारणाभ्यां कबन्धादप्यकबन्धभ्रान्त्या नर्त्ते बिभ्युरित्यर्थः । अत एव भ्रान्तिमदलङ्कारः ॥ ९३ ॥

तूर्य्यारावैराहितोत्तालतालैर्गायन्तीभिः काहलं काहलाभिः ।
नृत्ते चक्षुःशून्यहस्तप्रयोगं काये कूजन्कम्बुरुच्चैर्जहास ॥९४॥

तूर्य्यारावैरिति । आहिताः सम्पादिता उत्तालाः प्रस्फुटाः तालाः करपुटादिक्रियामानानि येषु तैः । 'ताल कालक्रियामानम्' इत्यमरः । तूर्य्यारावैर्मृदङ्गादिवाद्यघोषैस्तथा काहलं भृशं गायन्तीभिः ध्वनन्तीभिः काहलाभिः शुष्कैर्वाद्यविशेषैश्च करणैः । 'काहलं भृशशुष्कयोः । वाद्यभाण्डविशेषे तु काहल' काहला खले' इति विश्वः । काये अपमूर्ध्नि कलेवरे । अतएव चक्षुश्शून्यो दृष्टिरहितः हस्तप्रयोगो यस्मिन् कर्मणि तत्तथा नृत्ते नृत्यति सति । कर्त्तरि क्तः । कूजन् ध्वनन् कम्बुः शङ्खस्तटस्थ इवेत्यर्थः । उच्चैस्तर्गं जहास । दृष्टिशून्याभिनयस्य नाट्यशास्त्रविरोधात् अट्टहासमकरोदित्यर्थः । व्यञ्जकाप्रयोगात् गम्योत्प्रेक्षा । 'अङ्गैरालापयेद्गीतं हस्तेनार्थं प्रदर्शयेत् । दृष्टिभ्यां भावयेद्भाव पादाभ्यां तालनिर्णयः' इति नाट्यविदः ॥ ९४ ॥

प्रत्यावृत्तं भङ्गभाजि स्वसैन्ये तुल्यं शुक्लराकिरन्ति स्म कश्चित् ।
एकौघेन स्वर्णपुङ्खैर्द्विषन्तः सिद्धा माल्यैः साधुवादैर्द्वयेऽपि ९५ ॥

प्रत्यावृत्तमिति । स्वसैन्ये भङ्गभाजि सति प्रत्यावृत्तमभ्यमित्रं कश्चिद्वीरं तुल्यमेककालं शुक्लैः स्वर्णपुङ्खैः शरविशेषैः एकौघेन एकप्रहारेण द्विषन्त आकिरन्ति स्म । सिद्धाः खेचराः माल्यैर्दिव्यमालाभिः । चातुर्वर्ण्यादित्वात् ष्यञ् प्रत्ययः । आकिरन्ति स्म । द्वयेऽपि द्विषन्तः सिद्धाश्च साधुवादैः साधुसाध्विति वाक्यैराकिरन्ति स्म । एतन्त्रितयमपि युगपत् प्रवृत्तमित्यर्थः । अत्र स्वर्णपुङ्खशुरमाल्यसाधुवादानां प्रकृतानामेव तुल्यकालैकौघप्रवृत्तिसाम्यादौपम्यावगमात्केवलप्रकृतास्पदा तुल्ययोगिता ॥ ९५ ॥

बाणाक्षिप्तारोहशून्यासनानां प्रक्रान्तानामन्यसैन्यग्रहीतुम् ।
संरब्धानां भ्राम्यतामाजिभूमौ वारी वारैः सस्मरे वारणानाम् ९६

बाणेति । बाणैराक्षिप्ताः पातिताश्च रोहाः सादिनो येभ्यस्तानि अत एव शून्यानि रिक्तान्यासनानि आस्तरणानि येषाम् । अत एवान्यैः सैन्यैः परसैनिकैर्ग्रहीतुं प्राक्रान्तानामारब्धानां समन्तादवरुध्यमानानामित्यर्थः । अत एव संरब्धानां क्षुभितानाम् अत एव आजिभूमौ भ्राम्यताम् अनवतिष्ठमानानां वारणानां वारैर्वृन्दैः वारी बन्धनस्थानम् । 'वारः सूर्यादिदिवसे वारो वरणवृन्दयोः । वारी कटीभबन्धन्योः' इति विश्वः । सस्मरे स्मृता । तद्धर्मयोगादिति भावः । कर्मणि लिट् । अत्र शून्यासनत्वादीनां विशेषणगत्या वारीस्मरणहेतुत्वात्काव्यलिङ्गम् ॥ ९६ ॥

पौनःपुन्यादस्रगन्धेन मत्तो मृद्नन्कोपाल्लोकमायोधनोर्व्याम् ।
पादे लग्नामत्र मालामिभेन्द्रः पाशीकल्पामायतामाचकर्ष ॥ ९७ ॥

पौनःपुन्यादिति । अत्र आयोधनोर्व्यां युद्धभूमौ पौनःपुन्यात्पुनः पुनरावृत्तेरित्यर्थः । ब्राह्मणादित्वात् ष्यञ्प्रत्ययः । "अव्ययानां भमात्रे टिलोपस्य साय प्रातिपदिकार्थउपसंख्यानम्" इति टिलोपः । अस्रगन्धेन । रक्तगन्धाघ्राणादित्यर्थः । मत्त इभेन्द्रो महागजः कोपाल्लोकं जनं मृद्नन् क्षुभ्नन् पादे लग्नाम् ईषदसमाप्ता पाशी पाशीकल्पा पाशबन्धनसदृशीम् । 'पाशस्त्वश्वादिबन्धनम्' इति विश्वः । "बह्वादिभ्यश्च" इति विकल्पादीकारः, अभाषितपुंस्कत्वात् "घरूप" इत्यादिना ह्रस्वो न भवति । आयता दीर्घां मालामाचकर्ष । पाशीकल्पेत्यत्र तद्धितगता पूर्णोपमा ॥ ९७ ॥

कश्चिन्मूर्छामेत्य गाढप्रहारः सिक्तः शीतैः शीकरैर्वारणस्य ।
उच्छ्वास प्रस्थिता तज्जिघृक्षुर्व्यर्थाकूता नाकनारी मुमूर्छ ९८

कश्चिदिति । गाढः प्रहारो यस्य सः कश्चिद्वीरो मूर्छामेत्य वारणस्य शीतैः शीकरैः पुष्करतुषारैः सिक्तः सन् उच्छ्वास उज्जीवति स्म किन्तु तं मूर्छामागतं जिघृक्षुर्ग्रहीतुमिच्छुः । ग्रहेः सन्नन्तादुप्रत्ययः । प्रस्थिता तं वरीतुमागतेत्यर्थः । नाकनारी व्यर्थाकूता तदुज्जीवना-

द्विफलमनोरथा नती मुमूर्च्छ । अत्राकूतवैयर्थ्यस्य विशेषणगत्या नाकनारीमूर्च्छाहेतुत्वात्काव्यलिङ्ग मूर्च्छासम्बन्धातिशयोक्त्या सकीर्य्यते ॥ ५८ ॥

लूनग्रीवात्सायकेनापरस्य द्यामत्युच्चैराननादुत्पतिष्णोः ।
त्रेसे मुग्धैः सैंहिकेयानुकाराद्रौद्राकाराद्प्सरोवक्त्रचन्द्रैः ॥ ५९ ॥

लूनग्रीवादिति । अपरस्य सायकेन लूनग्रीवाच्छिन्नकण्ठात् अत एव द्यामाकाशं प्रति आशु उच्चैरुत्पतिष्णोरुत्पतनशीलात् । "अलङ्कृञ्" इत्यादिना इष्णुच् प्रत्ययः । अत एव सिंहिकाया अपत्यं पुमान् सैंहिकेयो राहुः । 'तमस्तु राहुः स्वर्भानुः सैंहिकेयो विधुन्तुदः' इत्यमरः । "स्त्रीभ्यो ढक्" । तमनुकरोतीति तदनुकारात्तत्सदृशादित्यर्थः । कर्मण्यण्प्रत्ययः । रौद्राकारात् भीषणाकृतेरस्य वीरस्य आननात् मुग्धैः सुन्दरैः अप्सरसां वक्त्रैरेवचन्द्रैरिति रूपकं सिद्धम् । तस्य सैंहिकेयानुकारादिति स्पष्टोपमापेक्षत्वात् सङ्करः ॥ ५९ ॥

वृत्तं युद्धे शूरमाश्लिष्य काचिद्रन्तुं तूर्णं मेरुकुंजं जगाम ।
त्यक्त्वा नाग्नौ देहमेति स्म यावत्पत्नी सद्यस्तद्वियोगासमर्था ॥ ६० ॥

वृत्तमिति । काचिदमरनारी युद्धे वृत्तं मृतम् । 'वृत्तोऽतीते दृढे ख्याते वर्त्तुलेऽपि वृते मृते' इति विश्वः । शूरमाश्लिष्य रन्तुं तूर्णं मेरोः कुञ्जं गह्वरं जगाम । यावत्तद्वियोगासमर्था तद्विरहासहा पत्नी सद्योऽग्नौ देहं त्यक्त्वा नैति स्म नाजगाम । अत्र मेरुकुञ्जासम्बन्धेऽपि सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिः ॥ ६० ॥

त्यक्तप्राणं संयुगे हस्तिनीस्था वीक्ष्य प्रेम्णा तत्क्षणादुद्गतासुः ।
प्राप्याखण्डं देवभूयं सतीत्वादाश्लिक्षत्स्वैव कश्चित्पुरन्ध्री ॥ ६१ ॥

त्यक्तेति । संयुगे युद्धे त्यक्तप्राणं कश्चिद्वीरं हस्तिन्यां तिष्ठतीति हस्तिनीस्था करिणीमारूढा सती वीक्ष्य प्रेम्णा तत्क्षणादुद्गतासुर्गतप्राणा । स्वैव पुरन्ध्री स्वभार्य्यैव सतीत्वात्पतिव्रतात्वादखण्डमक्षय्यं देवभूयं देवत्वम् । "भुवो भावे" इति क्यप् । प्राप्याश्लिक्षत् स्त्रीणां पातिव्रत्यमेव पतिसालोक्यमिदानीं नाग्निप्रवेशादिकमिति भावः । अत्र सतीत्वस्य विशेषणगत्या देवभूयहेतुत्वानुक्तेर्न काव्यलिङ्गम् । अतिशयोक्त्यादिकं तु यथासम्भवमूह्यम् ॥ ६१ ॥

स्वर्गेवासं कारयन्त्या चिराय प्रत्यग्रत्वं प्रत्यहं धारयन्त्या ।
कश्चिद्भेजे दिव्यनार्य्या परस्मिन्लोके लोकं प्रीणयन्त्येह कीर्त्या ॥

स्वर्गे इति । कश्चिद्वीरश्चिराय चिरकालं स्वर्गेवासम् "शयवासवासिष्वकालात्" इति विकल्पादलुक् । कारयन्त्या अनुभावयन्त्या अहन्यहनि प्रत्यहम् । "नपुंसकादन्यतरस्याम्" इत्यव्ययीभावे समासान्तष्टच्प्रत्ययः "अव्ययानां भमात्रे टिलोपः" इत्युक्तम् । प्रत्यग्रत्वं नूतनत्वं धारयन्त्या । परप्रेमास्पदत्वादिति भावः । लोकं प्रीणयन्त्या अह्लादं प्रापयन्त्या ।

प्रीञो ण्यन्तालटः शतरि ङीप् 'धूञ्प्रीञोर्नुग्वक्तव्यः" इति नुगागमः । दिव्यनार्य्या परस्मिँल्लोके इह लोके कीर्त्या च भेजे प्राप्तः । भजे. कर्म्मणि लिट् । रणमरणाल्लोकद्वयमपि जिगायेत्यर्थः । अत्र दिव्याङ्गनाकीर्त्योः प्रकृतयोरेव तुल्यधर्मसम्बन्धात् केवलप्रकृतास्पदा तुल्ययोगिता ॥ ६२ ॥

गत्वा नूनं वैबुधं सद्म रम्यं मूर्च्छाभाजामाजगामान्तरात्मा ।
भूयो दृष्टप्रत्ययाः प्राप्तसंज्ञाः साधीयस्ते यद्रणायाद्रियन्ते ॥६३॥

गत्वेति । मूर्च्छाभाजामन्तरात्मा जीवः रम्य वैबुधं सद्म दिव्यभवन गत्वा आजगाम । मूर्च्छासमये सुरलोकरामणीयकं दृष्ट्वा आजगाम । नूनमुत्प्रेक्षायाम् । कुत । यद्यस्मात्प्राप्तसंज्ञा लब्धबोधाः सन्तः दृष्टप्रत्ययाः दृढविश्वासाः भूयः पुनरपि साधीयो बाढतरम् । बाढादीयसुनि "अन्तिकबाढयोर्नेदसाधौ" इति साधादेशः । रणाय रण कर्त्तुमाद्रियन्ते उत्सेहिरे इत्यर्थ. । कर्त्तरि लट् श्यन् प्रत्यय । कथञ्चिदुज्जीवितानां पुनर्मृत्युप्राप्तिः श्रेयोदर्शनहेतुकेति भावः ॥ ६३ ॥

कश्चिच्छस्त्रापातमूढोऽपवोढुर्लब्ध्वा भूयश्चेतनामाहवाय ।
व्यावर्तिष्ट क्रोशतः सख्युरुच्चैस्त्यक्तश्चात्मा का च लोकानुवृत्तिः॥

कश्चिदिति । शस्त्रापातमूढः प्रहारमूर्च्छित. कश्चिद्वीरश्चेतना संज्ञां लब्ध्वा अपवोढुर्मूर्च्छासमये युद्धभूमेरपनेतुः सख्युर्मित्रस्योच्चैः क्रोशतः आगच्छागच्छेत्याक्रोशति । "षष्ठी चानादरे" इति षष्ठी । क्रोशन्तमनादृत्येत्यर्थः । भूय पुनरपि आहवाय रणाय व्यावर्त्तिष्ट । आत्मा देहस्त्यक्तश्च तथाहि लोकानुवृत्तिश्च का नैवेत्यर्थ । सुहृज्जनानुरोधस्तु हितार्थिन परिच्छेत्तुं वृथेत्यर्थः । सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यास ॥ ६४ ॥

भिन्नोरस्कौ शत्रुणाकृष्य दूरादासन्नत्वात्कौचिदेकेषुणैव ।
अन्योऽन्यावष्टम्भसामर्थ्ययोगादूर्ध्वावेवस्वर्गतावप्यभूताम् ६५॥

भिन्नोरस्काविति । शत्रुणा दूरादाकृष्यासन्नत्वात्तयोरित्यर्थः । सन्निकृष्टत्वादेकेषुणैव भिन्नोरस्कौ विदारितवक्षसौ कौचिद्वीरावन्योऽन्यावष्टम्भ एव सामर्थ्यं तस्य योगात्स्वभावदूर्ध्वावेव ऊर्ध्वं तिष्ठन्ताविव स्वर्गतावपि मृतावभूताम्। अपिश्चार्थ । तत्र मृतयोरूर्ध्वावस्थानासम्बन्धेऽपि सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्ति ॥ ६५ ॥

भिन्नान्वीरैर्मोहभाजोऽभिजातान्हन्तुं लोलं वारयन्तः स्ववर्गम् ।
जीवग्राहं ग्राहयामासुरन्ये योग्येनार्थाः कस्य न स्याज्जनेन ६६॥

भिन्नानिति । अन्ये वीरा अस्त्रैर्भिन्नान् विदारितान् अत एव मोहभाजो मूर्च्छाभाजो मूर्च्छागतानभिजातान्कुलीनान् । 'अभिजातः स्थितौ न्याये कुलीनप्राज्ञयोरपि' इति विश्वः । हन्तुं लोलम् उत्सुकं स्ववर्गं वारयन्तः जीवं गृहीत्वा जीवग्राहं ग्राहयामासुः जीवमेव ग्राहयामासुरित्यर्थः । "समूलाकृतजीवेषु हन्कृञ्ग्रहः" इति णमुल्प्रत्ययः । कषादित्वादनुप्रयोगः । जीव-

ग्रहणप्रयोजनमर्थान्तरन्यासेनाह । तथा हि योग्येन जनेन हेतुना कस्य पुंसोऽर्थः कीर्त्यादिप्रयोजनं न स्यात् । स्यादेव सर्व्वस्यापीत्यर्थः । अतो वीराणा रणेष्वपि अतिपरिक्षतरक्षणमेव श्रेयः । 'नार्त्तं नातिपरिक्षतम्' इति हननिषेधादिति भाव' ॥ ९६ ॥

भग्नैर्दण्डैरातपत्राणि भूमौ पर्य्यस्तानि प्रौढचन्द्रद्युतीनि ।
आहाराय प्रेतराजस्य रौप्यस्थालानीव स्थापितानि स्म भान्ति॥

भग्नैरिति । भग्नैर्दण्डैः हेतुना । भग्नदण्डत्वादिति भावः । भूमौ पर्यस्तानि उत्तानपतितानि प्रौढचन्द्रद्युतीनि पूर्णेन्दुप्रभाणि आतपत्राणि । श्वेतच्छत्राणीत्यर्थः । प्रेतराजस्यान्तकस्य आहाराय भोजनाय स्थापितानि विहितानि रौप्यस्थालीनि राजतभाजनानीव भान्ति स्मेत्युत्प्रेक्षा ॥ ९७ ॥

रेजुर्भ्रष्टा वक्षसः कुंकुमाङ्का मुक्ताहाराः पार्थिवानां व्यसूनाम् ।
हासाल्लक्ष्याः पूर्णकामस्य मन्ये मृत्योर्दन्ताः पीतरक्तासवस्य ९८

रेजुरिति । व्यसूना मृताना पार्थिवाना वक्षसो भ्रष्टाः पतिताः कुङ्कुमाङ्काः कुङ्कुमारुणिता इत्यर्थः । मुक्ताहाराः पूर्णकामस्य सकलराजकमहारात्सफलमनोरथस्य अत एव पीत रक्तमेवासव येन तस्य मृत्योः हासादट्टहासाल्लक्ष्या दृश्या दन्ता रेजुरिति मन्ये इत्युत्प्रेक्षा ॥ ९८ ॥

निम्नेष्वोघीभूतमस्रक्षतानामस्रं भूमौ यच्चकासाञ्चकार ।
रागार्थं तत्किं नु कौसुम्भमम्भःसंव्यानानामन्तकान्तःपुरस्य९९

निम्नेष्विति । भूमौ निम्नेषु निम्नस्थलेषु ओघीभूत राशीभूतम् अस्रक्षताना सम्बन्धि यदस्र रक्त चकासाञ्चकार दिदीपे । 'चकासृ दीप्तौ' इति धातोर्लिट् "कास्यनेकाच आम् वक्तव्य" इत्याम्प्रत्यये कृञोऽनुप्रयोगः । तदस्रमन्तकान्त.पुरस्य कृतान्तावरोधस्य सव्यानानामुत्तरीयाणा रागार्थं रञ्जनार्थं कुसुम्भमयस्येद कौसुम्भम् अम्भ. किंनु कुसुम्भद्रवो नु वेत्युत्प्रेक्षा ॥ ९९ ॥

रामेण त्रिःसप्तकृत्वो ह्रदानां चित्रं चक्रे पञ्चकं क्षत्रियास्रैः ।
रक्ताम्भोभिस्तत्क्षणादेव तस्मिन्संख्येऽसंख्याः प्रावहन्द्वीपवत्यः॥

रामेणेति । रामेग भार्गवेण सामर्थ्यात्त्रीन्वारान् त्रिः । "द्वित्रिचतुर्भ्यः सुच्" इति सुच्प्रत्ययः । त्रिरावृत्ताः सप्त त्रिःसप्तकृत्वः एकविंशतिवारानित्यर्थः । "सख्यायाः क्रियाभ्यावृत्तिगणने कृत्वसुच्" इति कृत्वसुच्प्रत्यय. । क्षत्रियास्रै राजन्यरक्तैः चित्रमद्भुत ह्रदानां पञ्चपरिमाणमस्य पञ्चकम् । "सख्यायाः । सज्ञासघसूत्राध्ययनेषु" इति सङ्घार्थे कन् प्रत्ययः । चक्रे कृत तस्मिन् सङ्ख्ये युद्धे । 'मृधमास्कन्दन सङ्ख्यम्' इत्यमरः । क्षणादेव रक्तैरे-

वाम्भोभिः असख्या द्वीपवत्यो नद्यः प्रावहन् प्रासरन् रामेण वहुकालेन च स्यमन्तपञ्चकाख्य ह्रदपञ्चकमेव कथञ्चित् कृतम् । अत्र तु क्षणमात्रेणासख्या नद्य प्रवृत्ता इत्युपमानादुपमेयस्याधिक्योक्तर्व्यतिरेकालङ्कार ॥ ७० ॥

सन्दानान्तादङ्घ्रिभिः शिक्षिताश्वैराविश्याधः शातशस्त्रावलूनाः ।
कूर्मौपम्यं व्यक्तमन्तर्नदीनामैभाः प्रापन्नङ्घ्रयोऽसृङ्मयीणाम् ॥ ७१ ॥

सन्दानान्तादिति । शिक्षिताश्वैरभ्यस्ताश्वविचरद्भिरायुधीयैः अश्वः रथानामधस्तादाविश्य प्रविश्य सन्दानान्तात् बन्धनप्रदेशात् गुल्फदेशमधिकृत्येत्यर्थः । शात शितम् ।"शाच्छोरन्यतरस्याम्" इति विकल्पादीत्त्वाभाव । तेन शस्त्रेणाव नाः छिन्नाः । इभानामिमे ऐभाः अङ्घ्रयश्चरणा. असृङ्मयीणा नदीनामान्तरभ्यन्तरे व्यक्त कूर्मौपम्य कमठोपमाम् । स्वार्थे ष्यञ् प्रत्ययः । अत एवौपम्यादन. चातुर्वर्ण्यवदिति वामन. । प्रापन् प्राप्ता । आपो लुङि । पुषादित्वात् च्लेरङादेशः । उपमा । ॥ ७१ ॥

पद्माकारैर्योधवक्त्रैरिभानां कर्णभ्रष्टैश्चामरैरेव हंसैः ।
सोपस्कारा: प्रावहन्नस्रतोयाः स्रोतस्विन्यो वीचिपूच्चैस्तरद्भिः ॥ ७२ ॥

पद्माकारैरिति । उच्चैर्वीचिषु तरद्भि' प्लवमानैः पद्माकारैः कमलकल्पैर्योधवक्त्रैर्भटमुखैरिभाना कर्णेभ्यो भ्रष्टैश्चामरैर्हंसै सोपस्काराः सपरिकरा' । ' उपात्प्रतियत्नवैकृत" इत्यादिना सुडागम । अस्रतोय॰ रक्तजला स्रोतस्विन्यो नद्यः प्रावहन् । अत्र रूपकोपमयोः सङ्करः सुगमः ॥ ७२ ॥

उत्क्रान्तानामामिषायोपरिष्टादध्याकाशम्बभ्रमुः पत्त्रवाहाः ।
मूर्ताः प्राणा नूनमद्याप्यवेक्षामासुः कायन्त्याजिता दारुणास्त्रैः ॥ ७३ ॥

उत्क्रान्तानामिति । पत्त्राणि वहन्तीति पत्त्रवाहाः पक्षिणः आमिषाय आमिषमत्तुम् । "क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिन" इति चतुर्थी । उत्क्रान्तानां मृतानाम् उपरिष्टादध्याकाशमाकाशे । विभक्त्यर्थेऽव्ययीभाव । बभ्रमुः भ्रेमु' । " वा: जॄभ्रमुत्रसाम्" इति विकल्पादेत्वाभ्यासलोपाभावः । अत्रोत्प्रेक्ष्यते । दारुणास्त्रै' घोरास्त्रै काय त्याजिता विसर्जिता' । त्यजेर्ण्यन्तात् द्विकर्मकात्कर्मणि क्त' । 'ण्यन्ते कर्तुश्च कर्मणः' इति वचनात् । मूर्ता मूर्तिमन्त. । प्राणा अद्येदानीमपि कायमवेक्षामासु' पूर्वाभिमानात् पुन' कायप्रवेशापेक्षिणो मूर्ताः प्राणा एव नूनमाराद्भ्रमन्तीत्युत्प्रेक्षार्थ । ' इजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छः" इत्याम्प्रत्यय " कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि" इत्यस्तेरनुप्रयोग: " आम्प्रत्ययवत्" इत्यत्र कृञ् एवेति नियमादस्तेर्नात्मनेपदम् ॥ ७३ ॥

आतन्वद्भिर्दिक्षु पत्त्रागनादम्प्राप्तैर्दूरादाशु तीक्ष्णैर्मुखाग्रैः ।
आदौ रक्तं सैनिकानामजीवैर्जीवैः पश्चात्पत्त्रिपूगैरपायि ॥ ७४ ॥

आतन्वद्भिरिति । दिक्षु पत्त्राग्रनाद पक्षान्तघोषम् आतन्वद्भिर्विस्तृणद्भिर्दूरादाशु प्रातैरागतैरजीवन्त्यजीवैरचेतनैः पचाद्यजन्तेन नञ्समासः । पत्त्रिगैर्बाणव्रातैरित्यर्थः । तीक्ष्णैर्मुखाग्रैः करणैः । सैनिकानां रक्तमपि पीतम् । पिबतेः कर्मणि लुङ् "आतो युक्चिण्कृतोः" इति युगागमः । पक्षे जीवैश्चेतनैः पत्त्रिगैः पक्षिसङ्घैः कर्तृभिः । तीक्ष्णैर्मुखाग्रैश्चञ्चुपुटैः । करणैः । अत्रापि अतो पत्त्रिगा प्रकृतत्वात्केवलप्रकृतविषयः श्लेषः ॥ ७४ ॥

ओजोभाजां यद्रणे संस्थितानामादत्तीव्रं सार्द्धमङ्गेन नूनम् ।
ज्वालाव्याजादुद्वमन्ती तदन्तस्तेजस्तारं दीप्तजिह्वा ववाशे ॥ ७५ ॥

ओजोभाजामिति । दीप्ता ज्वलन्ती जिह्वा यस्याः सा दीप्तजिह्वा शिवा रणे संस्थितानां मृतानामोजोभाजामोजस्विनाम् अङ्गेन गात्रेण सार्द्धं यत्तीव्रं तिग्मं तेज आददभक्षयत् । अदेर्लङ् "अद सर्वेषाम्" इत्यडागमोऽपृक्तस्य । "आडजादीनाम्" इत्याडागमोऽङ्गस्य । "आटश्च" इति वृद्धिः । तदन्तरन्तरेऽन्तरितं तेजो ज्वालाव्याजान्मुखोल्काच्छलादुद्वमन्ती तारमुच्चैर्ववाशे ररास । 'तिरश्चां वाशितं रुतम्' इत्यमरः । नूनमित्युत्प्रेक्षायाम् । अत्र व्याजशब्देन ज्वालात्वापह्नवेन तेजस्त्वोत्प्रेक्षणे सापह्नवोत्प्रेक्षेति सर्वस्वकारः ॥ ७५ ॥

नैरन्तर्यच्छिन्नदेहान्तरालं दुर्भक्षस्य ज्वालिना वाशितेन ।
योद्धुर्बाणप्रोतमादीप्य मांसम्पाकापूर्वस्वादमादे शिवाभिः ॥ ७६ ॥

नैरन्तर्येति । नैरन्तर्येणाविच्छेदेन छिन्नं देहस्यान्तरालं यस्मिन् कर्मणि तद्यथा तथा बाणैः प्रोतं स्यूतम् अत एव दुर्भक्षस्य भक्षितुमशक्यस्य । कृच्छ्रार्थे खल्प्रत्ययः । योद्धुर्योधस्य सम्बन्धि मांसं ज्वालिना ज्वालावता वाशितेन रुतेन । शिवानां वाशने जिह्वा ज्वलतीति प्रसिद्धिः । आदीप्य प्रज्वाल्य । बाणदाहाय मांसपाकाय चेति भावः । अत एव पाकेनापूर्वोऽभिनवः स्वादो रुचिर्यस्य तत्तथा शिवाभिर्गोमायुभिः । 'स्त्रियां शिवा भूरिमायगोमायुमृगधूर्तकाः' इत्यमरः । आदे जग्धे भक्षितमित्यर्थः । "लिट्यन्यतरस्याम्" इति विकल्पाददेर्न घस्लादेशः । वाशितोत्थया जिह्वाज्वालया दग्धे इष्टप्रतिबन्धेन पाकरुचिरं जघस इत्यर्थः । अत्र पाकापूर्वस्वादाद्यसम्बन्धेऽपि सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिः ॥ ७६ ॥

ग्लानिच्छेदी क्षुत्प्रबोधाय पीत्वा रक्तारिष्टं शोणिताजीर्णशेषम् ।
स्वादुङ्कारं कालखण्डोपदंशं क्रोष्टा डिम्बं व्यष्वणद्व्यस्वनच्च ॥ ७७ ॥

ग्लानीति । क्रोष्टा जम्बुकः क्षुत्प्रबोधाय ग्लानिच्छेदी खेदहारी शोणितो जारितः अजीर्णशेषो येन तद्रक्तमेवारिष्टं पानविशेष इति रूपकम् । तत्पीत्वा स्वादुङ्कारं स्वादूकृत्य "स्वादुमि णमुल्" इति णमुल् । कालखण्डेन यकृता उपदंशं कालखण्डमुपदंश्य कृत्वेत्यर्थः । 'कालखण्डयकृती तु समे' इत्यमरः । "उपदंशस्तृतीयायाम्" इति णमुल् । कालखण्डस्य

दशनक्रियाकर्मत्वेऽपि भुजिक्रियाकरणत्वात् तृतीयोपपदतया "तृतीयाप्रभृतीन्यन्यतरस्याम्" इति विकल्पेनोपपदसमासः। डिम्भ कलेवरं व्यष्वणत् भुक्तवानित्यर्थः। "वेश्च स्वनो भोजने" इति षत्वम्। व्यस्वनदवादयच्चेति समुच्चयः। अभोजनार्थत्वात् पत्र न॥ ७७॥

क्रव्यात्पूगैः पुष्कराण्यानकानामत्याशाभिर्मेदसो दारितानि।
आभीलानि प्राणिनः प्रत्यवस्यन्कालो नून व्याददावाननानि॥

क्रव्यादिति। क्रव्यमदन्तीति क्रव्यादो मांसभक्षका कङ्कगृध्रादयः। "क्रव्ये च" इति विट्प्रत्ययः। तेषा पूगै कर्तृभिः। मेदसो वपाया.। 'मेदस्तु वपा वसा' इत्यमरः। प्रत्याशाभिस्तृष्णाभिर्दारितानि मेदरिवत्वभ्रान्त्या पाटितान्यानकाना तूर्याणा पुष्कराणि मुखानि। 'पुष्करं करिहस्ताग्रे वाद्यभाण्डमुखे जले' इत्यमर.। प्राणिन. करितुरगादीन् प्रत्यवस्यन् अभ्यवहरन्। 'अभ्यवहार. प्रत्यवसान भोजन जग्धि.' इति हलायुध.। कालोऽन्तक. आभीलानि भयङ्कराणि। 'आभील भीमकृच्छ्रयोः' इति विश्वः। आननानि व्याददौ विददार। "आङो ढोनास्यविहरणे" इत्यस्य प्रत्युदाहरणमेतत्। यानि विदारितानि पुष्कराण तान्येवाननानि। नूनमित्युत्प्रेक्षायाम्॥ ७८॥

कीर्णा रेजे साजिभूमिः समन्तादप्राणद्भिः प्राणभाजां प्रतीकैः।
बह्वारम्भैरर्द्धसंयोजितैर्वा रूपैः स्रष्टुः सृष्टिकर्मान्तशाला॥७९॥

कीर्णेति। अप्राणद्भिरजीवद्भिः छिन्नत्वान्निष्प्राणैरित्यर्थः। 'अन प्राणने' इति धातोर्लटः शत्रादेशः। प्राणभाजा प्राणिना प्रतीकैरवयवै.। 'अङ्ग प्रतीकोऽवयव' इत्यमर'। समन्तात्कीर्णा सा आजिभूमिः ईषदसमाप्तारम्भैरिति बह्वारम्भैः किञ्चिदूनसृष्टैरित्यर्थः। "विभाषा सुपो बहुच् पुरस्तात्तु" इति बहुच्प्रत्ययः। तथार्द्धसयोजितैरर्द्धसृष्टैश्च रूपैः आकारैः। 'रूप स्वरूपे सौन्दर्ये आकारश्लपयोरपि' इति विश्वः। कीर्णा स्रष्टु' धातुः सृष्टिकर्मान्तशाला वा सृष्टिकर्मणो नियतागारमिव रेजे इत्युत्प्रेक्षा॥ ७९॥

आयन्तीनामविरतरयं राजकानीकिनीनामित्थं सैन्यैः समसलघुभिः श्रीपतेरूर्मिमद्भिः। आसीदोघैर्मुहुरिव महद्वारिधेरापगानां दोलायुद्धं कृतगुरुतरध्वानमौद्धत्यभाजाम्॥ ८०॥

इति श्रीमाघकविकृतौ शिशुपालवधे महाकाव्ये संकुलयुद्धवर्णनं नामाष्टादशः सर्गः॥ १८॥

आयन्तीनामिति। इत्थमुक्तरीत्या अविरतरयमविच्छिन्नवेग यथा तथा आयन्तीनामभिधावन्तीनामौद्धत्यभाजा प्रागल्भ्यभाजा राज्ञा समूहा राजकानि। "गोत्रोक्ष" इत्यादिना वुञ्

अन्वयः । तेषामनीकिन्यः सेनास्तासां राजकानीकिनीनाम् अलघुभिर्महद्भिरूर्म्मिमद्भिस्तरङ्गवद्भिः श्रीपतेः कृष्णस्य सैन्यैः सम सेनाभिः सह अपां समूह आपम् । "भिक्षादिभ्योऽण्" । आपेन गच्छन्तीति आपगानामुक्तविशेषणविशिष्टानां वारिधेरोघैः प्रवाहैरिव कृतो गुरुतरध्वानो महाध्वनिर्यस्मिन् तन्महद्दोलायुद्धम् अनियतजयपराजययुद्धम् मुहुरासीत् । उपमा । मन्दाक्रान्ता वृत्तमेतत् ॥८०॥

इति श्रीमहामहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचिते माघकाव्यव्याख्याने सर्वङ्कषाख्येऽष्टादशः सर्गः ॥ १८ ॥

एकोनविंशः सर्गः ।

तदेवमष्टादशसर्गे तुमुलं युद्धमभिधायेदानीमेकोनविंशे सर्गे द्वन्द्वयुद्धमनुष्टुभेन छन्दसा चित्रबन्धेन वर्णयितुमारभते—

अथोत्तस्थे रणाटव्यामसुहृद्वेणुदारिणा ।
नृपाङ्घ्रिपौघसङ्घर्षादग्निवद्वेणुदारिणा ॥ १ ॥

अथेत्यादि । अथैव तुमुलयुद्धानन्तरं रणोऽटवीवेत्युपमितसमासः । अग्निवदिति तद्धितौपम्यलिङ्गात् । एवमुत्तरत्रापि द्रष्टव्यम् । तस्यां रणाटव्याम् असुहृदः शत्रवो वेणवो वंशा इव । 'वेणुमस्करतेजनाः' इति वंशपर्यायेष्वमरः । तान्दारयति यस्तेनासुहृद्वेणुदारिणा वेणुदारिणा बाणात्मजेन नृपाः अङ्घ्रिपाः पादपा इव तेषामोघाः प्रवाहास्तेषां सङ्घर्षात् मत्सरात् श्लेषाच्च अग्निवदग्नितुल्यम् । "तेन तुल्यम्" इत्यादिना तुल्यार्थे वतिप्रत्ययः।उत्तस्थे उत्थितम् । भावे लिट्।अत्राग्निवदिति तुल्यार्थेन वतिना धर्म्मव्यवधाने सादृश्यप्रतिपादिना उपमानोपमेयसमानधर्म्मसादृश्यप्रतिपादकानां चतुर्णां चोपादानाच्चेयमार्थी तद्धितगता पूर्णोपमा । सा च रणाटव्यादिसमासगतोपमासापेक्षेति सङ्करः । सर्गेऽस्मिन् अनुष्टुप् वृत्तम् । 'पञ्चमं लघु सर्वेषु सप्तमं द्विचतुर्थयोः । गुरु षष्ठं च सर्वेषामेतच्छ्लोकस्य लक्षणम्' इति लक्षणात् । अत्रैकान्तरक्रमेण यमकाद्यन्यतमशब्दालङ्कारनियमः, सर्व्वत्र यथासम्भवमर्थालङ्कारश्च, तत्र यमकलक्षणमुक्तं दण्डिना—"अव्यपेतव्यपेतात्मा व्यावृत्तिर्वर्णसंहतेः । यमकं तच्च पादानामादिमध्यान्तगोचरम् । एकद्वित्रिचतुष्पादैर्यमकानां विकल्पना । आदिमध्यान्तमध्यान्तमध्याद्याद्यान्तसर्व्वतः" इति । अत्रेदं समपादान्तं यमकं द्विपादयमकभेदः ॥ १ ॥

आपतन्तममुं दूराद्दूरीकृतपराक्रमः ।
बलोऽवलोकयामास मातङ्गमिव केसरी ॥ २ ॥

आपतन्तमिति । आपतन्तमाधावन्तम् अमु वेणुदारिण दूरात् ऊरीकृतपराक्रमोऽङ्गीकृतपौरुषस्तेन सहानुगतसप्रहार इत्यर्थः । बलो बलभद्रः केसरी सिंहो मातङ्ग गजमिवावलोकयाम्बभूव । अनयोरिव तदन्तरमिति भाव । अतोऽलङ्कारेण वस्तुध्वनि' ॥ २ ॥

एकाक्षरपादश्लोकः ।

जजौजोजाजिजिज्जाजी तंततोऽतितताततुत् ।
भाभोऽभीभाभिभूभाभूरारारिररिरीररः ॥ ३ ॥

जजाविति । ततोऽवलोकनानन्तर जजन्तीति जजा' योधाः । 'जज युद्धे' पचाद्यच् । जजानामोजसा जाता जजौजोजा तामाजि जयतीति जजौजोजाजिजित् । जयते क्विप् । जजतीति जाजी योधी । ताच्छील्ये णिनिः । अतिततानत्युद्धतान् अतितुदति अतिव्यथयतीति अतितुत् । तुदतेः क्विप् । भस्यामेवाभा यस्य स भाभो नक्षत्रकान्तिः । 'नक्षत्रमृक्ष भ तारा' इत्यमरः । नास्ति भीर्येषा तेऽभियो निर्भीकाः तानिमान् गजान् अभिभवतीति अभीभाभिभूः । क्विप् । तस्याः भासस्तेजसो भूः स्थानं अभीभाभिभूभाभूः । अरा सन्त्येषामित्यरीणि चक्राणि तैः रीणन्ति गच्छन्तीति अरेर्यो रथाः । 'री गतिश्लेषणयोः' इति धातोः क्विप् । तेषाम् ईर प्रेरण राति अरिरीररो रथिकः । आतोऽनुपसर्गेकः । अरिः शत्रुर्बलभद्र त वेणुदारिणम् आर योद्धुमाससारेत्यर्थः । 'ऋ गतौ' इति धातोर्लिट् द्विर्भावकृते णलि वृद्धिः, अभ्यासस्योरदत्वे 'अत आदेः'' इति दीर्घे पुनः सवर्णदीर्घः । भिन्नैकाक्षरपादाख्योऽनुप्रासभेदः । भाभ इत्युपमानुप्रासयोरेकवाचकानुप्रवेशलक्षणस्सङ्करः ॥ ३ ॥

भवन्भयाय लोकानामाकम्पितमहीतलः ।
निर्घात इव निर्घोषभीमस्तस्यापतद्रथः ॥ ४ ॥

भवन्निति । लोकाना जनाना जगता च । 'लोकस्तु भुवने जने' इत्यमरः । भयाय भवन् सम्पद्यमान' भय जनयन्नित्यर्थः । ''क्लृपेः सम्पद्यमाने चतुर्थी च वक्तव्या''. इति क्लृपेरर्थनिर्देशाच्चतुर्थी । आकम्पितमहीतलो भूकम्प कुर्वन्नित्यर्थः । निर्घोषेण भीमो भयङ्करः तस्य बलभद्रस्य र थो निर्घात इवापतत अधावत् । श्रौती पूर्णोपमा ॥ ४ ॥

रामे रिपुः शरानाजिमहेष्वास विचक्षणे ।
कोपादथैनं शितयामहेष्वा स विचक्षणे ॥ ५ ॥

राम इति । रिपुर्वेणुदारी आजिमहेषु रणोत्सवेष्विति रूपकम् । 'मह उद्धव उत्सवः' इत्यमरः । विचक्षणे प्रगल्भे । विचष्ट इति कर्त्तरि ल्युडिति न्यासकारः । ''असनयोश्च प्रतिषेधो वक्तव्यः'' इति चाक्षिङः ख्याञादेशाभावः । रामे बलभद्रे शरान् आस चिक्षेप अस्यतेर्लिट् ''अत आदेः'' इत्यभ्यासदीर्घे सवर्णदीर्घ । कोपात्स राम एन वेणुदारिण शितया शातया । ''शा-

च्छोरन्यतरस्याम्'' इतीत्वम्। महेष्वा महेषुणा । 'पत्री रोप इषुर्द्वयो' इत्यमरः । विचक्षणे जघान । 'क्षणु हिंसायाम्' इति धातोः कर्त्तरि लिट् । अभिन्नसमपादोनाम पादाभ्यासयमकभेद । एवमुत्तरत्रापि द्रष्टव्यम् ॥ ५ ॥

दिशमर्कमिवावाचीं मूर्च्छागतमपाहरत् ।
मन्दप्रतापं तं सूतः शीघ्रमाजिविहायसः ६ ॥

दिशमिति । मूर्च्छागतं रामेषुपातान्मोहमुपगतम्। अत एव मन्दप्रतापमल्पप्रकाश वेणुदारिणम् अवाचीं दक्षिणा दिशं प्राप्तम् । अत एव मन्दप्रतापमर्कमिव सूतः सारथिरनूरुश्च आजेविहायस आकाशादिवाजिविहायस इत्युपमितसमास । शीघ्रमपाहरत् अपसारितवान् । उपमा ॥ ६ ॥

कृत्वा शिनेः साल्वचमूं सप्रभावा चमूर्जिताम् ।
ससर्ज्ज वक्त्रैःफुल्लाब्जसप्रभा वाचमूर्जिताम् ॥ ७ ॥

कृत्वेति । प्रभावेन सह वर्त्तत इति सप्रभावा महानुभावशिने सात्यकिपितामहस्य चमूः सेना साल्वो नाम चैद्यपक्षो राजा तस्य चमू सेना जिता कृत्वा जित्वेत्यर्थः । अत एव वक्त्रैः मुखै । "येनाङ्गविकारः" इति तृतीया । विकासस्यापि विकारत्वात् । फुल्लाब्जस्य प्रफुल्लारविन्दस्य सप्रभा समानप्रभा । हर्षेण विकसितवक्त्रासतीत्यर्थः । ऊर्ज्जितामुदारां वाच समर्ज्ज । के यूयमस्मदग्र इत्याद्युच्चैर्जगर्ज जगादेत्यर्थ. । उपमायमकयो. संसृष्टिः ॥ ७ ॥

उल्मुकेन द्रुमं प्राप्य संकुचत्पत्त्रसञ्चयम् ।
तेजः प्रकिरता दिक्षु सप्रतापमदीप्यत ॥ ८ ॥

उल्मुकेनेति । दिक्षु तेज. प्रभाव प्रकाश च प्रकिरता विक्षिपता उल्मुकेन भागवतेन राज्ञा अलातेन च । सङ्कुचन्ती पत्त्रसम्पद्वाहनसम्पत्पर्णसमृद्धिश्च यस्य तम् । सप्रताप सपराक्रम प्रकटतापसहित च द्रुमं द्रुमाख्य राजान वृक्ष च प्राप्यादीप्यत प्रजज्वले । भावे लङ् । अत्राभिधायाः प्रकृतार्थे नियन्त्रणादप्रकृतार्थप्रतीतिर्ध्वनिरेव न श्लेषः ॥ ८ ॥

पृथोरध्यक्षिपद्रुक्मी यया चापमुदायुधः ।
तयैव वाचापऽगमं ययाचापमुदायुधः ॥ ९ ॥

पृथोरिति । रुक्मी भीष्मकात्मजो रुक्मिणीभ्राता । उदायुध उद्यतायुधः सन् यया वाचा पृथो राज्ञश्चापमध्यक्षिपत् निगिद वृथा कष्टमिति निनिन्द अपगता मुत् यस्यास्तया अपमुदा-निरुत्साहया तयैव वाचा युधो युद्धादपगममपसरण ययाच । मां त्राहि पलायमान शरणागतोऽस्मीति प्रार्थयामासेत्यर्थः । याचिरुभयपदी ॥ ९ ॥

समं समन्ततो राज्ञामापतन्तीरनीकिनीः ।
कार्ष्णिः प्रत्यग्रहीदेकः सरस्वानिव निम्नगाः ॥ १० ॥

सममिति । सम युगपत्समन्ततः आपतन्तीरागच्छन्ती राज्ञा चैद्यपक्षाणामनीकिनी' सेनाः। कृष्णस्यापत्य पुमान् कार्ष्णि. प्रद्युम्नः । अत इञ् । निम्नगाः नदी सरस्वान् समुद्र इवैकोऽसहाय' प्रत्यग्रहीत् प्रत्यवरुरोध ॥ १० ॥

दधानैर्घनसादृश्यं लसदायसदंशनैः ।
तत्र काञ्चनसच्छायाससृजे तैः शराशनिः ॥ ११ ॥

निरोष्ठ्य. ।

दधानैरिति । लसन्ति आयसानि अयोमयानि दशनानि वर्म्माणि येषा तै' । 'तनुत्र वर्म्म दशनम्' इत्यमर । अत एव घनसादृश्य कार्ष्ण्यान्मेघसाम्य दधानैस्तै सैनिकै' तत्र कार्ष्णौ काञ्चनसच्छाया सुवर्णवर्णा शर एवाशनि. विद्युत्ससृजे उत्सृष्टा । उपमारूपकयो ससृष्टि । ओष्ठ्यवर्णविरहान्निरौष्ठ्य चित्रभेदः । शब्दालङ्कारः ॥ ११ ॥

नखांशुमञ्जरीकीर्णामसौ तरुरिवोच्चकैः ।
बभौ बिभ्रद्धनुःशाखामधिरूढशिलीमुखाम् ॥ १२ ॥

नखेति । नखाशवो मञ्जर्य इव ताभि कीर्णा व्याप्ता अधिरूढा शिलीमुखा बाणा अलयश्च यस्या ताम् । 'अलिबाणौ शिलीमुखौ' इत्यमर । धनुः शाखेव ता बिभ्रदसौ कार्ष्णिरुच्चकैरुन्नतस्तरुरिव बभौ । तरुरिवेति लिङ्गात्सर्वत्रोपमितसमास' । शिलीमुखेति श्लिष्टविशेषणेयमुपमा ॥ १२ ॥

प्राप्य भीममसौजन्यं सौजन्यन्दधदानते ।
विध्यन्मुमोच न रिपूनरिपूगान्तकः शरैः ॥ १३ ॥

प्राप्येति । अरिपूगान' शत्रुसङ्घानामन्तक अरिपूगान्तकोऽसौ कार्ष्णिः भीम भयङ्कर जन्य युद्धं प्राप्य । "युद्धमायोधन जन्यम्" इत्यमर. । आनते नम्रे सौजन्य सौहार्द दधत् न तु विध्यन् । 'न क्लीव न कृताञ्जलिम्' इति निषेधादिति भावः । रिपून् प्रतिपक्षान् शरैर्विध्यन् प्रहरन् न मुमोच न ररक्षेत्यर्थः । सदशयमकभेदः ॥ १३ ॥

कृतस्य सर्वक्षितिपैर्विजयाशंसया पुरः ।
अनेकस्य चकारासौ बाणैर्बाणस्य खण्डनम् ॥ १४ ॥

कृतस्येति । असौ कार्ष्णिः सर्वक्षितिपैर्विजयाशसया विजयाशङ्कया पुरोऽग्रे कृतस्य नियुक्तस्य प्रयुक्तस्य वा अनेकस्यानेकाकिनः ससहायस्येत्यर्थ' । अन्यत्रानेकस्य बहुसङ्ख्यस्य

बाणस्य बाणासुरस्य शरजातस्य च बाणैः खण्डनं छेदं चकार । अत्र बाणयोर्द्वयोरपि प्रकृतत्वात्केवलप्रकृतयोः श्लेषः ॥ १४ ॥

या बभार कृतानेकमाया सेना ससारताम् ।
धनुः स कर्षन्रहितमायासेनाससार ताम् ॥ १५ ॥

येति । या सेना कृतानेकमाया कृतबहुकपटा सती ससारता सारवत्तां बभार तां सेनां स कार्ष्णिः धनुः कर्षन् धनुषा विध्यन्नित्यर्थः । आयासेन रहितमनायासं यथा तथा आससार अभियुक्तवानित्यर्थः । बाणं भङ्क्त्वा तत्सेनां बभञ्जेत्यर्थः ॥ १५ ॥

ओजो महौजाः कृत्वाधस्तत्क्षणादुत्तमौजसः ।
कुर्वन्नाजावमुख्यत्वमनयन्नाम मुख्यताम् ॥ १६ ॥

ओज इति । महौजा महाबलः प्रद्युम्नः उत्तमौजसो नाम राज्ञः ओजस्तत्क्षणादेवाधःकृत्वाभिभूय आजौ युद्धे अमुख्यत्वमप्रधानत्वं कुर्वन् अथवा अमुख्यत्वम् अमुख्यार्थत्वं तन्नाम्नः कुर्वन् नाम निजं प्रद्युम्ननामधेयं मुख्यतां प्रधानतां प्रसिद्धार्थतां चानयत् । प्रकृष्टं द्युम्नं बलं यस्येति प्रद्युम्न इति स्वामी ॥ १६ ॥

दूरादेव चमूर्भल्लैः कुमारो हन्ति स स्म याः ।
न पुनः सांयुगीं तास्स्म कुमारोहन्ति सस्मयाः ॥ १७ ॥

दूरादिति । स कुमारः प्रद्युम्नः सस्मयाः सगर्वाः याश्चमूर्दूरादेव भल्लैर्बाणविशेषैर्हन्ति स्म जघान ताश्चम्वः पुनर्भूयः सयुगस्येमां सांयुगीं कुं पृथ्वीं रणभुवमित्यर्थः 'गोत्रा कुः पृथिवी पृथ्वी' इत्यमरः । न आरोहन्ति स्म नारूढाः ॥ १७ ॥

निपीड्य तरसा तेन मुक्ताः काममनास्थया ।
उपाययुर्विलक्षत्वं विद्विषो न शिलीमुखाः ॥ १८ ॥

निपीड्येति । तेन प्रद्युम्नेन तरसा बलेन कामं निपीड्य अनास्थया अनादरेण मुक्ताः 'आर्ता न परिहन्तव्याः' इति निषेधनाद्वध्या इति जीवन्तो मुक्ता इत्यर्थः । अन्यत्र क्षिप्ताः विद्विषो विलक्षत्वं सत्रपत्वमाययुः । 'विलक्षस्तुत्रपान्विते' इत्यमरः । शिलीमुखा बाणास्तु विलक्षत्वं लक्षभ्रष्टत्वं नाययुः । अत्र द्वयोरपि विलक्षत्वयोरभेदाध्यवसायादयं व्यतिरेको विद्विषां शिलीमुखानां च प्रकृतत्वात्तुल्ययोगितौपम्याश्रित इति सङ्करः ॥ १८ ॥

तस्यावदानैः समरे सहसा रोमहर्षिभिः ।
सुरैरशंसि व्योमस्थैः सह सारो महर्षिभिः ॥ १९ ॥

तस्येति । समरे तस्य प्रद्युम्नस्यावदानैरत्युग्रकर्मभिः करणैः । सहसा सद्यः रोमहर्षिभिः रोमाञ्चवद्भिः व्योमस्थैः सुरैः महर्षिभिः सह सार्द्धं सारो बलमशंसि शंसितः ॥ १९ ॥

सुगन्धयद्दिशः शुभ्रमम्लानि कुसुमं दिवः ।
भूरि तत्रापतत्तस्मादुत्पपात दिवं यशः ॥ २० ॥

सुगन्धयदिति । दिशः सुगन्धयन् सुगन्धाः कुर्वन् सुगन्धाः 'तत्करोति' इति ण्यन्ताल्लटः शत्रादेशः । शुभ्रं धवलम् अम्लानि म्लानिरहितं भूरि प्रभूतं कुसुमं दिवोऽन्तरिक्षात्तत्र प्रद्युम्ने अपतत् तस्मात्प्रद्युम्नाद्यशः पूर्वोक्तगुणयुक्तं दिवमन्तरिक्षं प्रति उत्पपात । अत्र प्रद्युम्नयोः कुसुमयशोभ्यामन्योऽन्योपस्कारजननादन्योन्यालङ्कारः । "परस्परं क्रियाजननेऽन्योऽन्यम्" इति लक्षणात् ॥ २० ॥

सोढुं तस्य द्विषो नालमपयोधरवा रणम् ।
ऊर्णुनाव यशश्च द्यामपयोधरवारणम् ॥ २१ ॥

सोढुमिति । अपगता भयान्निवृत्ता योधानां रवाः सिंहनादा येषां ते अपयोधरवाः द्विषः शत्रवः तस्य कार्ष्णे रणं सोढुं नालमशक्ताः । अत एव यशश्च अविद्यमानं पयोधराणां वारणं मेघप्रतिघातो यस्य तत् अपयोधरवारणं सत् द्यामूर्णुनाव मेघमण्डलं विलङ्घ्य स्वर्गमाच्छादयामासेत्यर्थः । ऊर्णोतेर्लिट् । "अजादेर्द्वितीयस्य" इति द्वितीयस्यैकाचो द्विर्भावः । गुणवृद्ध्यादाम्प्रतिषेधः । यमकवाक्यार्थहेतुकाव्यलिङ्गयोः संसृष्टिः ॥ २१ ॥

केशप्रचुरलोकस्य पर्य्यस्कारि विकासिना ।
शेखरेणेव युद्धस्य शिरः कुसुमलक्ष्मणा ॥ २२ ॥

केशेति । विकासिना विविधमार्गचारिणा विकस्वरेण च कुसुमलक्ष्मणा पुष्पकेतुना प्रद्युम्नेन अन्यत्र कुसुमचिह्नं तन्मयेनेत्यर्थः । केशवत्प्रचुराः प्रभूता लोकाः जना यस्मिन् तस्य युद्धस्य शिरोऽग्रभूमिः अन्यत्र केशैः प्रचुरस्य केशाढ्यस्य लोकस्य जनस्य शिरः मूर्द्धा शेखरेणापीडेनेव शिखामाल्येनेवेत्यर्थः । 'शिखास्वापीडशेखरौ' इत्यमरः । पर्य्यस्कारि परिष्कृतं भूषितमित्यर्थः । परिपूर्वात्करोतेः कर्म्मणि लिट् "संपरिभ्यां करोतौ भूषणे" इत्यादिना सुडागमः, "अड्भ्यासव्यवायेऽपि" इति नियमात् "परिनिविभ्यः" इत्यादिना षत्वे "सिवादीनां वाड्व्यवायेऽपि" इति विकल्पः । उपमा ॥ २२ ॥

सादरं युध्यमानाऽपि तेनान्यनरसादरम् ।
सा दरं पृतना निन्ये हीयमाना रसादरम् ॥ २३ ॥

सादरमिति । सादरं साभिनिवेशं युद्ध्यमानापि सम्प्रहरन्त्यपि अरं द्रुतम् । हठादिति यावत् । रसात् रणे रागात् हीयमाना अपकृष्यमाणा । प्रद्युम्नमहिम्नेति भावः । अत एवात्र विरोधाभासोऽलङ्कारः । जहातेः कर्मणि लटः शानजादेशः । सा पृतना चैद्यसेना तेन प्रद्युम्नेन अन्येषां तटस्थानामपि नराणां सादं निश्चेष्टतां राति ददातीति अन्यनरसादरम् । "आतोऽनुप-

सर्गे कः'' इति कप्रत्ययः । दर भयम् । 'दरोऽस्त्रियां भये श्वभ्रे' इत्यमरः । निन्ये नीता ॥ नयते. प्रधाने कर्मणि लिट् "प्रधानकर्मण्याख्येये लादीनाहुर्द्विकर्मणाम्'' इति वचनात् । विरोधाभासयमकयोः संसृष्टिः ॥ २३ ॥

इत्यालिङ्गितमालोक्य जयलक्ष्म्या झषध्वजम् ।
क्रुद्धयेव क्रुधा सद्यः प्रपेदे चेदिभूपतिः ॥ २४ ॥

इत्थेति । इतीत्थं जयलक्ष्म्या आलिङ्गितं झषध्वजं मत्स्यकेतुं प्रद्युम्नम् । 'पृथुरोमा झषो मत्स्य'' इत्यमरः । आलोक्य सद्यः क्रुद्धया सपत्न्यागमात्कोपितयेवेत्युत्प्रेक्षा । क्रुधा प्रद्युम्नाश्रितया रुषा कर्त्र्या । चेदिभूपतिः प्रपेदे प्राप्तः । तं विहायेति शेषः । कामिन्यः प्रायेण साहसिक्यः सपत्नीगन्धमसहमानाः सद्यः पुरुषान्तरमाश्रयन्ते इति भावः । विजयिनं प्रद्युम्नं दृष्ट्वा सद्यश्चैद्यश्चुकोपेत्यर्थः ॥ २४ ॥

अहितानभि वाहिन्या स मानी चतुरङ्गया ।
चचाल वल्गत्कलभसमानीचतुरङ्गया ॥ २५ ॥

अहितानिति । मानी अभिमानवान् स क्रुद्धश्चैद्य. वल्गन्तः प्लवमानाः कलभसमाः-कलभप्रमाणाः अत एवानीचा उच्चास्तुरङ्गा यस्या तया वल्गत्कलभसमानीचतुरङ्गया । चत्वार्यङ्गानि हस्त्यादीनि यस्यास्तया चतुरङ्गया वाहिन्या करणेन अहितानभि शत्रून् प्रति चचाल । कलभसमेत्युपमा यमकेन संसृज्यते ॥ २५ ॥

अथ कलापकेन सेना वर्णयति—

ततस्ततधनुर्मौर्वीविष्फारस्फारनिस्स्वनैः ।
तूर्यैर्युगक्षये क्षुभ्यदकूपारानुकारिणी ॥ २६ ॥

ततस्ततेत्यादि । ततश्चैद्यचलनानन्तरं ततानामाकृष्टाना धनुर्मौर्वीणां विष्फारैः स्फाराः प्रभूताः निस्स्वनाः येषां तैस्तूर्यैः युगक्षये कल्पान्ते क्षुभ्यन्तमुद्वेलन्तमकूपारं समुद्रमनुकरोतीति तदनुकारिणी सा सेनेत्युत्तरेणान्वयः । उपमा ॥ २६ ॥

सर्वतोभद्र. ।

स का र ना ना र का स
का य सा द द सा य का ॥
र सा ह वा वा ह सा र
ना द वा द द वा द ना ॥ २७ ॥

सकारेति । पुनः कीदृशी । 'कारो वधे निश्चये च बले यत्ने रतावपि' इति विश्वः । सकाराः सयत्नाः सोत्साहाः नाना नानाविधाश्च ये आरा अरीणा समूहाः । "भिक्षादिभ्योऽ-

ण्" । तेषां कासा गतिभेदः कायाः विग्रहाश्च तेषां साद ददतीति साददाः नाशकारकाः सायकाः यस्या सा तथोक्ता रसेन रागेणाहवो यस्याः सा रसाहवा रणरागिणीत्यर्थः । वाहसाराणां वाहश्रेष्ठानां ये नादा हेषादिघोषास्तेषां वाद कलह ददतीति वादनानि तैः सह कलहायमानानि वादनानि वाद्यानि यस्यां सा वाहसारनादवाददवादना । तूर्यतुल्यवाहघोषेत्यर्थः । अत एव तेषां तुल्यतोक्तेरतिशयोक्तिः । सर्वतोभ्रमणात्सर्वतोभद्राख्यश्चित्रबन्धः । अत एव दण्डी । 'तदिष्टं सर्वतोभद्रं भ्रमणं यदि सर्वतः' इति । उद्धारस्तु । चतुःषष्टिकोष्ठे चतुरङ्गबन्धे क्रमेणाद्यपङ्क्तिचतुष्टये पादचतुष्कं विलिख्यानन्तरं पङ्क्तिचतुष्टयेऽप्यधः क्रमेण पादचतुष्टयलेखने प्रथमासु चतसृषु प्रथमपादः सर्वतो वाच्यते एवं द्वितीयादिषु द्वितीय इत्यादि ॥ २७ ॥

लोलासिकालियकुला यमस्येव स्वसा स्वयम् ।
चिकीर्षुरुल्लसल्लोहवर्मश्यामा सहायताम् ॥ २८ ॥

लोलेति । लोलान्यसीनामेव कालियानां कृष्णसर्पविशेषाणां कुलानि यस्याः सा उल्लसद्भिर्लोहवर्मभिरयःकञ्चुकैः श्यामा अतएव यमस्यान्तकस्य सहायतां भ्रातृस्नेहादस्मिन् सेनासंहारे साहाय्यं चिकीर्षुः स्वयं साक्षात्स्वसा तस्यैव भगिनी यमुनेव स्थितेत्युत्प्रेक्षा ॥ २८ ॥

मुरजबन्धः ।

सा सेनागमनारम्भ
रसेनासीदनारता ।
तारनादजनामत्त
धीरनागमनामया ॥ २९ ॥

सा सेनेति । तारोऽत्युच्चैर्नादः सिंहनादो येषां ते जना यस्यां सा तारनादजना अनामया अव्यथा सा पूर्वोक्ता सेना मत्ता धीरा अदुष्टाश्च नागा गजा यस्मिन् कर्मणि तत्तथा गमनारम्भे रसेन रागेण अनारता अविरता आसीत् अविच्छिन्नरणरागाभूदित्यर्थः । मुरजबन्धः । तस्योद्धारस्तु । 'तिर्यग्रेखा लिखेत्पञ्च नवोर्ध्वास्तत्र पङ्क्तयः । अष्टकोष्ठाश्चतस्रः स्युस्तासु श्लोकं लिखेत् क्रमात् । तत्राद्यद्वित्रितुर्यासु तुर्यत्रिद्व्याद्यपङ्क्तिषु । आद्यद्वित्रिचतुःपञ्चषट्सप्ताष्टमकोष्ठगः । दृश्यते प्रथमः पादश्चतुर्थश्चैवमेव हि । चतुर्थपङ्क्तिप्राथम्यात्प्रथमावधिवीक्षणात् । द्वितीयादावाद्यद्वित्र्योर्द्वितुर्ये त्रितुरीयके । तुर्यद्वित्रोस्तृतीयाद्ये द्रष्टव्योऽङ्घ्रिर्द्वितीयकः । तृतीयोऽङ्घ्रिर्द्वितीयान्त्ये आद्यसप्तमषष्ठयोः । द्वित्रिपञ्चमयोस्तुर्यषष्ठसप्तमयोः क्रमात् । तृतीयान्त्ये च लक्ष्योऽयमथान्यः क्रम उच्यते । आद्यन्त्ययुग्मयोः पङ्क्त्योश्चिन्त्यो गोमूत्रिकाक्रमः । कृत्वैकं द्वितयं द्वे च द्वयमेकमिति क्रमात् । यद्वा द्वितयमेकं च द्वयमेकं द्वयं पुनः । स्वपङ्क्तिप्रक्रमादेव विन्यासद्वितयं भवेत् । द्वौ प्रथमतुर्याङ्घ्री स्वपङ्क्त्योस्तदनुक्रमात् । द्वितीयोऽङ्घ्रिर्द्वितीयस्यां क्रमादाद्यचतुष्टये । व्युत्क्रमाच्च तृतीयस्य माद्यमेव चतुष्टये । व्युत्क्रमेण द्वितीयस्यां तृतीयस्याः क्रमेण च । द्रष्टव्यो हि

तृतीयोऽद्धिरन्त्यकोष्ठचतुष्टये । विन्यासभेदास्त्वन्येऽपि सन्त्येव वहवोऽत्र हि । विस्तरात्तु न लिख्यन्ते । स्वयमृह्या विचक्षणै ' इति । कलापकम् ॥ २९ ॥

धूतधौतासयः प्रष्ठाः प्रातिष्ठन्त क्षमाभृताम् ।
शौर्य्यानुरागनिकषः सा हि वेलानुजीविनाम् ॥ ३० ॥

धूतेति । क्षमाभृता राज्ञा प्रतिष्ठन्त इति प्रष्ठा' अग्रेसराः । " सुपि. स्थः " इति कप्रत्ययः । ' प्रष्ठोऽग्रगामिनि '' इति पत्वे ष्टुत्वम् । धूता' कम्पिताः धौता उत्तेजिताः असयो यैस्ते धूतधौतासय' सन्तः प्रातिष्ठन्त प्रस्थिता' । " समवप्रविभ्य' स्थः " इति तङ् । सा वेला अनुजीविना शस्त्रजीविना शौर्य्यानुरागयोः पुरुषकारस्वामिभक्त्योर्निकषः परीक्षास्थान हि । अतोऽग्रे स्थातव्यम् अन्यथा भीरुत्व स्वामिद्रोहश्च स्यातामिति भाव । वाक्यार्थहेतुक काव्य-लिङ्गम् ॥ ३० ॥

दिवमिच्छन्युधा गन्तुं कोमलामलसम्पदम् ।
दधौ दधानोऽसिलतां कोऽमलामलसं पदम् ॥ ३१ ॥

दिवमिति । युधा युद्धेन कोमलाश्चारव. अमलाः शीतोष्णादिदोपरहिताः सम्पदो यस्यान्तां कोमलामलसम्पदम् । दिव स्वर्ग गन्तुमिच्छन् कः पुमान् अमला धौताम् असिलतां दधान' अलस पदं दधौ सर्वोऽपि निःशङ्कमात्रामत इत्यर्थः । अत्र स्वर्गेच्छाया विशेषणगत्या निःशङ्कप्रस्थानहेतुत्वात्काव्यलिङ्ग तद्यमकेन ससृज्यते ॥ ३१ ॥

कृतोरुवेगं युगपद्व्यजिगीषन्त सैनिकाः ।
विपक्षं वाहुपरिघैर्जङ्घाभिरितरेतरम् ॥ ३२ ॥

कृतेति । सेनाया समवेता' सैनिका' सैन्या । सेनाया पाक्षिकष्ठक् । वाहुभिः परिघै-रिव वाहुपरिघै' वाहुदण्डै विपक्ष शत्रु जङ्घाभिः प्रसृताभिः । ' जङ्घा तु प्रसृता ' इत्यमरः । इतरेतरमन्योऽन्य सयूथीयमेव कृत उरुर्महान् ऊर्वोश्च वेगो यस्मिन् कर्म्मणि तद्यथा तथा युगपव्द्यजिगीपन्त विजेतुमैच्छत् । अहमहमिकया योद्धुमधावन्नित्यर्थः । विपूर्वाज्जयते' सन्नन्ता-ल्लङि " पूर्ववत्सन' " इत्यात्मनेपदम् । अत्र विपक्षसयूथयोर्बाहुजङ्घयोश्च प्रकृतत्वात् केवलप्रकृता-स्पदा तुल्ययोगिता ॥ ३२ ॥

वाहनाजनि मानासे साराजावनमा ततः ।
मत्तसारगराजेभे भारीहावज्जनध्वनि ॥ ३३ ॥

वाहनेति । ततोऽनन्तर मानमभिमानम् अस्यति क्षिपेतीति तस्मिन् मानासे पराहङ्कारहा-रिणि । कर्म्मण्यण् । मत्ताः सारगाः बलभाजश्च राजेभा नृपगजा यस्मिन् मत्तसारगराजेभे साराजौ श्रेष्ठयुद्धे । आजेः पुलिङ्गता ज्ञेया । भारी भारवान् पूर्ण ईहावतामुत्साहवता

जनाना ध्वनिर्यस्मिन् तत् भारीहावजनध्वनि यथा तथा न नमतीत्यनमा अभङ्गुरा । पचाद्यजन्तेन नञ्समासः । वाहना निर्वाहयितृत्वम् । " ण्यास श्रन्थो युच् " अजनि जाता । सैनिकानामित्यर्थात् सिद्धम् । जने कर्त्तरि लुङि " दीपजन " इत्यादिना चिण् ॥ ३३ ॥

एतत्प्रातिलोम्येन श्लोकान्तरमाह—

श्लोकप्रतियमकम् ।

निध्वनज्जवहारीभा भेजे रागरसात्तमः ।
ततमानवजारासा सेना मानिजनाहवा ॥ ३४ ॥

निध्वनदिति । निध्वनन्तो वहन्तो जवा जवनाः हारिणो मनोहराश्चेभा यस्या सा निध्वनज्जवहारीभा ततो विस्तृतो मानवजो मनुष्यजात आरासः कलकलो यस्या सा ततमानवजारासा मानिना मानवता जनानामाहवो यस्या सा मानिजनाहवा सेना रज्यतेऽनेनेति रागः क्रोधः स एव रसस्तस्मात् रागरसात् तमो मोह भेजे । क्रोधान्धाजनीत्यर्थ. । अत्र प्रातिलोम्येन पूर्वश्लोकावृत्तेः श्लोकप्रतिलोमयमकम् । तदुक्त दण्डिना । ' आवृत्तिः प्रातिलोम्येन पादार्द्धश्लोकगोचरा । यमक प्रतिलोमत्वात्प्रतिलोममिति स्मृतम् ' इति ॥ ३४ ॥

अभग्नवृत्ताः प्रसभादाकृष्टा यौवनोद्धतः ।
चक्रन्दुरुच्चकैर्मुष्टिग्राह्यमध्या धनुर्लताः ॥ ३५ ॥

अभग्नेति । अभग्ना अभङ्गुरा वृत्ता वर्त्तुलाग्राश्च यास्ता अभग्नवृत्ताः । विशेषणसमासः । अन्यत्राचलितचरित्राः । बहुव्रीहि. । मुष्टिग्राह्य मुष्टिधार्यं मध्य यासा ताः धनुर्लताः अन्यत्र मुष्टिमेयमध्याः यौवनेनोद्धतैर्धृष्टैर्दत्तैश्च प्रसभाद्बलादाकृष्टाः सत्यः एकत्र गुणेऽन्यत्र कचेषु चेति भावः । उच्चैस्तरा चक्रन्दुष्टङ्कारध्वनिं चक्रुर्धनुलता अन्यत्र चुक्रुशुश्च । अत्र प्रस्तुतधनुर्लताविशेषणादप्रस्तुतधूर्त्तास्कन्दितपतिव्रताप्रतीते समासोक्तिः । तथा च आकर्षणस्य विशेषणगत्याक्रन्दनहेतुत्वात्काव्यलिङ्गमङ्गाङ्गिभावेन सङ्कीर्य्यते ॥ ३५ ॥

करेणुः प्रस्थितोऽनेको रेणुर्घण्टाः सहस्रशः ।
करेऽणुः शीकरो जज्ञे रेणुस्तेन शमं ययौ ॥ ३६ ॥

करेणुरिति । अनेको बहुः करेणु. करेणवः प्रस्थित जातावेकवचनम् । असख्याताः करिणो योद्धु ययुरित्यर्थः । ' करेणुरिभ्या स्त्री नेभे ' इत्यमर. । सहस्रशो घण्टाः करिकण्ठस्था रेणुर्दध्वनुः । " अत एकहल्मध्येऽनादेशादेर्लिटि " इत्येत्वाभ्यासलोपौ । करे पुष्करे अणुरल्पः शीकरोऽम्बुकणो जज्ञे । जातावेकवचनम् । करेष्वणवः शीकरा जाता इत्यर्थः । जनेः कर्त्तरि लिट् । तेनाणुना शीकरेण रेणु' रज' शमं ययौ । एतेन करिणां बाहुल्यं व्यज्यते ॥ ३६ ॥

धृतप्रत्यग्रशृङ्गाररसरागैरपि द्विपैः ।
सरोषसम्भ्रमैर्बभ्रे रौद्र एव रणे रसः ॥ ३७ ॥

धृतेति । धृतः प्रत्यग्र शृङ्गाररस एव रागो यैस्तैरपीति विरोधः । रौद्रशृङ्गारयोर्विरोधित्वात् । धृतसिन्दूररञ्जनैरित्यविरोध । अत एव विरोधाभासोऽलङ्कार. । 'शृङ्गारःसुरते नाट्ये रसे च गजमण्डने । शृङ्गार चूर्णसिन्दूरे लवङ्गकुसुमेऽपि च' इति विश्वः । सरोपसम्भ्रमैः द्विपैः रणे रौद्ररस एव क्रोधरस एव बभ्रे भृतः । कर्म्मणि लिट् ॥ ३७ ॥

न तस्थौ भर्तृतः प्राप्तमानसम्प्रतिपत्तिषु ।
रणैकसर्गेषु भयं मानसं प्रति पत्तिषु ॥ ३८ ॥

नेति । भर्तृत स्वामिन' प्राप्ते मानसम्प्रतिपत्ती पूजासौमनस्ये यैस्तेषु प्राप्तमानसम्प्रतिपत्तिषु रणे एकसर्गेषु नियतोत्साहेषु नियतनिश्चयेषु वा 'सर्गास्तु सर्जनाध्यायस्वभावोत्साहनिश्चयाः' इति वैजयन्ती । पत्तिषु पदातिषु मानसम्प्रति पत्तीना मानसेष्वित्यर्थः । "कर्म्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया" भयं न तस्थौ पूर्वोपकारस्मारिणो रणाय निर्भीका' प्रातिष्ठन्तेत्यर्थः । अन्यथा 'यस्तु भीतिपरावृत्तः सङ्ग्रामे हन्यते परैः । भर्त्तुर्यद्दुष्कृतं किञ्चित्तत्सर्वं प्रतिपद्यते । यदस्य सुकृत किञ्चिदमुत्रार्थमुपार्जितम् । भर्त्ता तत्सर्व्वमादत्ते परावृत्तहतस्य तु' इति निषेधस्मरणादिति भावः । अत्र मानसम्प्रतिपत्त्योर्विशेषणगत्या भयानवस्थानहेतुत्वात्पदार्थहेतुक काव्यलिङ्गं यमकेन संसृज्यते ॥ ३८ ॥

बाणाहिपूर्णतूणीरकोटरैर्धन्विशाखिभिः ।
गोधाश्लिष्टभुजाशाखैरभूद्भीमा रणाटवी ॥ ३९ ॥

बाणेति । रणमेवाटवी रणाटवी बाणैरिवाहिभिः पूर्णा तूणीरा निषङ्गा एव कोटरा कुहरा येषां तैः गोधास्तलानि निहाकाश्च । 'गोधा तले निहाकायाम्' इति विश्व.।तल ज्याघातवारणम् । ततो गोधा एव गोधा इति श्लिष्टरूपकम् । ताभिराश्लिष्टा' भुजः एव शाखा येषां तैर्धन्विभिर्धानुष्कैरेव शाखिभिर्वृक्षैर्भीमा भयङ्करा अभूत् । समस्तवस्तुवर्णनात्सावयवरूपकम् ॥ ३९ ॥

प्रतिलोमानुलोमपाद ।

नानाजावनजानाना सा जनौघघनौजसा ।
परानिहाहानिराप तान्वियाततयाऽन्विता ॥ ४० ॥

नानेति । इहास्यां नानाविधायाम् आजौ चित्रयुद्धे ओजसा तेजसाम् अवजानाना अवज्ञां कुर्वती । "अकर्म्मकाच्च" इत्यात्मनेपदम् । जनौघैर्घना सान्द्रा जनौघघना बहुजनेत्यर्थः । अहानिरभया 'वियाततया धैयात्येन धाष्टर्येनान्विता धृष्टेत्यर्थः । 'धृष्टे धृष्णुर्वियातश्च' इत्यमरः । सा चैद्यसेना तान्परान् अरीन् आप प्राप । अत्र प्रतिपादं पादार्द्धस्यैवावृत्तेरर्द्धपादप्रतिलोमयमकम् ॥ ४० ॥

विषमं सर्वतोभद्रचक्रगोमूत्रिकादिभिः ।
श्लोकैरिव महाकाव्यं व्यूहैस्तदभवद्बलम् ॥ ४१ ॥

विषममिति । तद्बलं चैद्यसेना सर्वतोभद्रचक्रगोमूत्रिकादिभिः आदिग्रहणान्मुरजबन्धादिसंग्रहः । श्लोकैर्महाकाव्यं शिशुपालवधादिकमिव व्यूहैः सर्वतोभद्रादिभिरेव बलविन्यासैः 'व्यूहस्तु बलविन्यासे' इत्यमरः । विषमं दुरवग्रहमभवत् । नगनगरादिवर्णनयुक्तलक्षणं महाकाव्यम् ॥ ४१ ॥

संहत्या सात्वतां चैद्यं प्रति भास्वरसेनया ।
वव्ले योद्धुमुत्पन्नप्रतिभा स्वरसेन या ॥ ४२ ॥

संहत्येति । भास्वरा तेजिष्ठा सेना यस्यास्तया भास्वरसेनया सात्वतां यदूनां संहत्या सङ्घेन चैद्यं प्रति वव्ले प्रचेले । 'वल चलने इति धातोर्भावे लिट्' 'न शसददवादि' इत्यादिना वकारादित्वादेत्वाभ्यासलोपयोः प्रतिषेधः । या यदूनां संहतिः स्वरसेन स्वभावेन योद्धुमुत्पन्नप्रतिभा सञ्जातप्रतिभा या स्वयं रणकण्डूला सा पराहूता कथं निवर्तेत इति भावः ॥ ४२ ॥

अथ यदुसेनायाः प्रतिबलाभियोगं युग्मेनाह–

विस्तीर्णमायामवती लोललोकनिरन्तरा ।
नरेन्द्रमार्गं रथ्येव पपात द्विषतां बलम् ॥ ४३ ॥

विस्तीर्णमित्यादि । आयामवती द्राघीयसी लोललोकनिरन्तरा चलज्जनसङ्कुला सा सेनेत्युत्तरश्लोकेनान्वयः सा यदुसेना विस्तीर्णं द्विषतां बलं नरेन्द्रमार्गं राजपथं रथ्या विशिखेव पपात सञ्जगाम । उपमानेऽपि विशेषणं योज्यम् ॥ ४३ ॥

वारणागगभीरा सा साराऽभीगगणारवा ।
कारितारिवधा सेना नासेधा वारितारिका ॥ ४४ ॥

वारणेति । कीदृशी सेना वारणैर्नागैरचलैर्गभीरा दुरवगाहा वारणागगभीरा साराणां श्रेष्ठानां न भियं गच्छन्तीत्यभीगाना निर्भीकाणां गणानां जन्तुसङ्घानामारवो यस्याः सा साराभीगगणारवा कारितारिवधा कृतशत्रुवधा । 'रामो राज्यमकारयत्' इतिवदत्र स्वार्थे णिच् । नास्त्यासेधः प्रतिषेधो यस्याः सा नासेधा नञर्थेन नशब्देन बहुव्रीहिः । अनासेधा वा वारितारिका ईप्सितशत्रुका अनेनाहं योत्स्ये इति स्वयंवृतप्रतिभटेत्यर्थः । शेषिकः कप्रत्ययः । सा सेना पपातेति पूर्वेणान्वयः । अत्र प्रातिलोम्येन अर्द्धावृत्तेरर्द्धप्रतिलोमयमकमेतत् । लक्षणं तूक्तं निघ्नदित्यादिश्लोकप्रतिलोमयमके ॥ ४४ ॥ युग्मम् ।

अधिनागं प्रजविनो विकसत्पिच्छचारवः ।
पेतुर्बर्हिणदेशीयाः शङ्कवः प्राणहारिणः ॥ ४५ ॥

अध्वीति । प्रजवन्तीति प्रजविनोऽतिजवनाः । "प्रजोरिनि." इति इनिप्रत्ययः । विकसद्भिः पिञ्छैः कृत्वा पैश्वारव' अतएव ईपदसमाप्तबर्हिणा बर्हिणदेशीया मयूरकल्पा. । " ईपदसमाप्तौ " इत्यादिना देशीयर् प्रत्यय. । प्राणहारिण शङ्कवः शल्यायुधानि । 'वा पुंसि शल्यं शङ्कुर्ना' इत्यमर. । नागेत्रविनागम् । विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः । गजेषु सर्पेषु च निपेतु. सर्पेषु बर्हिणा इत्यर्थः । अत एवोपमालङ्कार. । 'अहो आहिगजा नागा.' इति वैजयन्ती ॥ ४९ ॥

प्रवृत्ते विकसद्धानं साधने प्यविषादिभिः ।
वद्वृपे विकसद्दानं युधमाप्यविषाणिभिः ॥४६॥

प्रवृत्ते इति । विकसन् जृम्भमाणो ध्वानो ध्वनिर्यस्मिन् तद्यथा तथा साधने सम्प्रहारे प्रवृत्तेऽयविषादिभिर्विगाढरहितैर्विषाणमिदन्तिभियुधम् आप्य प्राप्य. विकसत्प्रभूत दानं मदो ववृपे युद्धारम्भे धनदान च व्यन्यते । सत्त्वसम्पन्नत्वात् । साधनेऽपि अविषादस्याविरोधाद्विरोधाभासः गोमूत्रिकाचित्रबन्धोऽयम् । ' वर्णानामेकरूपत्व ग्येकान्तरमर्द्धयो । गोमूत्रिकेति तम्प्राहुर्दुष्करं तद्विदो विदु. ' इति लक्षणात् । पोडशकोष्ठद्वये पङ्क्तिद्वयेऽर्द्धद्वय क्रमेण विलिख्यैकान्तरविविनिमयेन वाचने श्लोकनिष्पत्तिरित्युद्धार ॥ ४६ ॥

पुरः क्रुत्तैर्युद्धं तत्र्वलितैर्लब्धशुद्धिभिः ।
आलापैरिव गान्धर्वमदीप्यत पदातिभिः ॥ ४७ ॥

पुर इति । तद्युद्ध पुर प्रयुक्तः गजादभ्यः प्राक् प्रवर्तितैः । अन्यत्र गानात्पूर्वमुच्चारितैः चलितैः मण्डलचारिभिः अन्यत्र मुहुरावर्तितैरित्यर्थ. । लब्धशुद्धिभिः । कातर्यकपटादिदोषरहितैरित्यर्थ. । अन्यत्रावृत्तै रागानुगुणैरित्यर्थः । पदातिभि पत्तिभि करणैः । गान्धर्व गानमालापैरालापिभिरिवाक्षरविशेषैरिवादीप्यताशोभत ॥ ४७ ॥

केनचित्स्वासिनान्येषां मण्डलाग्रानऽवद्यता ।
प्रापे कीर्तिप्लुतमहीमण्डलाग्राऽनवद्यता ॥ ४८ ॥

केनचिदिति । स्वासिना स्वखड्गेन अन्येषा मण्डलाग्रान् अवद्यता खण्डयता । द्यतेर्लटः शत्रादेश. । केनचिद्वीरेण कीर्तिप्लुत यशोव्याप्त महीमण्डलाग्र भूपृष्ठ यस्या. सा कीर्तिप्लुतमहीमण्डलाग्रा अनवद्यता अनिन्द्यता प्रापे प्राप्ता ॥ ४८ ॥

विहन्तुं विद्विषस्तीक्ष्णः सममेव सुसंहतेः ।
परिवारात्पृथक्चक्रे खड्गश्चात्मा च केनचित् ॥ ४९ ॥

विहन्तुमिति । केनचिद्वीरेण विद्विषो विहन्तु तीक्ष्णो निशितः परिच्छेत्ता च खड्गः सुसंहते. सुघटितात् सुष्ठु सघीभूताच परिवारात्कोशात् परिजनाच 'परिवार. परिजने खड्गकोशे परि-

च्छदे' इति विश्वः। सममेव पृथक् चक्रे उद्धृतः। आत्मा च पृथक् चक्रे विभक्तः। खड्गमुत्क्षिप्य स्वसैन्यान्निर्गत्यारिमध्ये पपातेत्यर्थः। अत्र खड्गात्मनोः प्रकृतयोः समानक्रियायोगात् केवलप्रकृतास्पदा तुल्ययोगिता ॥ ४९ ॥

अन्येन विदधेऽरीणामतिमात्राविलासिना।
उद्गूर्णेन चमूस्तूर्णमतिमात्राविलाऽसिना ॥ ५० ॥

अन्येनेति। अन्येन वीरेण विलासिना विलसनशीलेन उद्गूर्णेन उद्यतेन असिना खड्गेन मात्र मानमतिक्रान्तातिमात्रा अपरिमिता अरीणा चमूः सेना तूर्णं शीघ्रम् अतिमात्रमत्यन्तमाविला कलुषा अतिमात्राविला अत्याविला विदधे कृता ॥ ५० ॥

सहस्रपूरणः कश्चिल्लूनमूर्द्धाऽसिना द्विषः।
तथोर्द्ध्व एव काबन्धीमभजन्नर्तनक्रियाम् ॥ ५१ ॥

सहस्रेति। पृणातीति पूरणः। 'पॄ पालनपूरणयोः' कर्त्तरि ल्युट्। सहस्राणां पूरणः पालयिता पूरयिता वा सहस्रपूरणः सहस्ररक्षी सहस्रहन्ता वा कश्चिद्भटः। कबन्धस्तु सहस्रपूरणः सहस्रसंख्यापूरकः सहस्रादेक कबन्धो नृत्यतीति प्रसिद्धिः। असिना स्वासिना द्विषो लूनमूर्द्धा लूनशत्रुमूर्द्धा सापेक्षत्वेऽपि गमकत्वात्समासः। कबन्धस्तु द्विषोऽसिना लूनमूर्द्धा तथा कबन्धवदेवोर्द्ध्व एव तिष्ठते। कबन्धस्येमा काबन्धीं नर्त्तनक्रियामभजत्। निजप्रहर्षात्स्वयमपि कबन्धवन्नर्नर्त्तेत्यर्थः। अत एव सादृश्याक्षेपादसम्भवद्वस्तुसम्बन्धाख्यो निदर्शनाभेद। 'कबन्धोऽस्त्री क्रियायुक्तमपमूर्द्धकलेवरम्' इत्यमरः ॥ ५१ ॥

शस्त्रव्रणमयश्रीमदलङ्करणभूषितः।
ददृशेऽन्यो रावणवदलङ्करणभूषितः ॥ ५२ ॥

शस्त्रेति। शस्त्रव्रणमयानि तद्रूपाणि। स्वार्थे मयट्। तैरेव श्रीमद्भिः शोभावद्भिरलङ्करणैरलङ्कारैर्भूषितोऽलङ्कृतः। शस्त्रव्रणालङ्कृत इत्यर्थः। अन्यः कश्चित् अविद्यमाना लङ्का यस्याः सा अलङ्केति बहुव्रीहिः अत एव "स्त्रियाः पुंवत्" इत्यादिना पुंवद्भावः। सा रणभूश्च तस्यामुषितः स्थितोऽलङ्करणभूषितः। वसेर्निवासार्थात्कर्त्तरि क्तः, "वचिस्वपि" इत्यादिना सम्प्रसारणम्। रावणवत् ददृशे दृष्टः सर्वाङ्गीणव्रणभूषणत्वेन रावण एवायं लङ्कासम्बन्धविरहात्तु व्यतिरेक इत्यर्थः। उपमाव्यतिरेकयमकानां सङ्करः ॥ ५२ ॥

द्विषद्विशसनच्छेदनिरस्तोरुयुगोऽपरः।
सिक्तश्चास्रैरुभयथा बभूवारुणविग्रहः ॥ ५३ ॥

द्विषदिति। द्विषद्विशसनम्। 'निर्वापण विशसनं मारणं प्रतिघातनम्' इत्यमरः। तस्मिञ्छेदेनारिशस्त्रप्रहारेण निरस्तमूरुयुगं यस्य सः अत एवास्रैरसृग्भिश्च सिक्तोऽपरो वीरः उभयथा उभाभ्यां प्रकाराभ्याम्। "प्रकारे गुणवचनस्य" इति थाल्। अरुणस्यानूरोरिव अरुणोऽरुण

र्णश्च विग्रहो यस्य सोऽरुणविग्रहो बभूव । 'अरुणोऽर्कार्कसारथ्योररुणो लोहितेऽन्यवत्' इति विश्वः । अत्रोरुच्छेदास्रसिक्तयोर्विशेषणगत्योभयथारुणविग्रहमात्रहेतुत्वात्काव्यलिङ्गमुपमाश्लेषाभ्यां सङ्कीर्य्यते ॥ ९३ ॥

भीमतामपरोऽम्भोधिसमेऽधित महाहवे ।
दाक्षे कोपः शिवस्येव समेधितमहा हवे ॥ ९४ ॥

भीमेति । अम्भोधिसमे सागरसदृशे महान् आहवस्तस्मिन् महाहवे सम्यगेधितमहाः सम्वर्द्धिततेजाः अपरो वीरः दक्षप्रजापतेरयं दाक्षस्तस्मिन्दाक्षे हवे यज्ञे । 'हवो यज्ञे तथाह्वाने' इति विश्वः । समेधितमहाः सन्दीपिततेजाः शिवस्य कोप इव वीरभद्र इवेत्यर्थः । भीमता भयङ्करताम् अधित धृतवान् । बिभेत्यस्मादिति भीमः । "भियः षुक्वा" इत्यौणादिके मप्रत्यये भीमो भीष्मश्च । "भीमादयोऽपादाने" इति निपातनादपादानार्थता । उपमायमकयोः संसृष्टिः ९४

दन्तैश्चिच्छिदिरे कोपात्प्रतिपक्षकुञ्जा इव ।
परनिस्त्रिंशनिर्लूनकरवालाः पदातयः ॥ ९५ ॥

दन्तैरिति । परेषां निस्त्रिंशैः खड्गैर्निर्लूनकरवालाः छिन्नखड्गाः पादाभ्यामतन्तीति पदातयः पत्तयः 'अज्यतिभ्यां पादे च' इत्यौणादिक इण्, "पादस्य पदाज्यातिगोपहतेषु" इति पदादेशः । कोपात् गजा इव प्रतिपक्षं शत्रु दन्तैर्दशनैर्विषाणैश्च चिच्छिदिरे चिच्छिदुः ॥ ९५ ॥

रणे रभसनिर्भिन्नद्विपपाटविकासिनि ।
न तत्र गतभीः कश्चिद्विपपाट विकासिनि ॥ ९६ ॥

रण इति । 'रभसो वेगहर्षयोः' इति विश्वः । रभसेन वेगेन निर्भिन्नद्विपाः पाटितगजाः पाटविकानां पाटववताम् असवो यस्मिन् । पाटवशब्दान्मत्वर्थीयठक्प्रत्ययः । विकासिनि प्रवृद्धे तत्र तस्मिन् रणे गतभीर्निर्भीकः अत एव कश्चित्कोऽपि न विपपाट न पाटयामास न पलायत । अत्र गतभीकत्वस्य विशेषणगत्या अपलायनहेतुत्वात्काव्यलिङ्गम् । द्विपदलनेऽपि रणे निर्भीक इति विरोधश्च यमकेन संसृज्यते ॥ ९६ ॥

यावन्न सत्कृतैर्भर्तुः स्नेहस्यानृण्यमिच्छुभिः ।
अमर्षादितरैस्तावत्तत्यजे युधि जीवितम् ॥ ९७ ॥

यावादिति । सत्कृतैः स्वस्वामिना पूर्वसंमानितैः अत एव भर्तुः स्नेहस्य स्वामिप्रेम्णः आनृण्यमनृणत्वमिच्छुभियोधैरिति शेषः । युधि जीवितं यावन्न तत्यजे त्यक्तं तावदितरैरसत्कृतैः रमर्षादसत्कारक्रोधाज्जीवितं तत्यजे । अथ वास्मान्पश्येति स्वामिनमुपालभ्य स्वयमेव प्राक् प्राणान् प्रजहुरित्यर्थः । सत्कारादिविशेषणोत्थकाव्यलिङ्गं सुगमम् ॥ ९७ ॥

अथैवंविधानां मरणस्यैव कर्त्तव्यतामुपपादयति—

समुद्गयमकम् ।

अयशोभिदुरालोके कोपधामरणादृते ।
अयशोभिदुरा लोके कोपधा मरणादृते ॥ ९८ ॥

अयश इति । अयः शुभावहो विधिरिति अयशोभी भाग्यवान् सचासौ दुरालोकस्तेजस्वित्वाद्दुर्दर्शश्चेति विशेषणसमासः तस्मिन् अयशोभिदुरालोके । कोपधाम कोपाश्रयः कुपित इत्यर्थः । अथाप्यकोपे भीरुत्वापातात् । अत एव रणमादृत. रणादृतः रणार्थीत्यर्थ' । कर्त्तरि क्तः । कोपधाम चासौ रणादृतश्च तस्मिन् कोपधामरणादृते लोके एवंविधे वीरलोके अयशोभिदुरा स्वाग्यनादरनिमित्तापकीर्तिनिवर्तिका । " विदिभिदिच्छिदेः कुरच् " उपधा उपायो मरणादृते प्राणत्यागं विनेत्यर्थः । का न कापीत्यर्थः । "अन्यारादितरर्त्ते" इति पञ्चमी । अत्रायशोभित्यादीना लोकविशेषणद्वारा तद्वर्तितामुपजीविनामवसरे जीवत्यागहेतुत्वात् काव्यलिङ्गं यमकेन सङ्कीर्यते । समुद्गयमकभेदोऽयम् 'अर्द्धाभ्यासः समुद्गः स्यादस्य भेदास्त्रयो मता.' इति लक्षणात् ॥ ९८ ॥

स्खलन्ती न क्वचित्तैक्ष्ण्यादभ्यग्रफलशालिनी ।
अमोचि शक्तिः शाक्तीकैर्लोहजा न शरीरजा ॥ ९९ ॥

स्खलन्तीति । शक्ति. प्रहरणं येषां तै शाक्तीकै. । 'शाक्तीकः शक्तिहेतिकः' इत्यमर. । "शक्तियष्टयोरीकक्" इति प्रहरणार्थे ईकक् प्रत्यय. । तैक्ष्ण्यात् नैशित्यात् क्वचिदपि न स्खलन्ती प्रतिहतिं न प्राप्नुवती । अभ्यग्रं समग्रं यत् फलं शल्यं तेन शालते । अन्यत्र अभ्यग्रेणासन्नेन फलेन श्रेयसा शालत इति अभ्यग्रफलशालिनी । लोहजा अयोमयी शक्तिरायुधविशेषः । अमोचि शत्रुषु मुक्ता । शरीरजा शक्तिः सामर्थ्याख्या तु नामोचि । अतिव्यायामेऽप्यक्षीणशक्तिका एवायुध्यन्तेत्यर्थः । अत्र द्वयोरपि प्रकृतत्वात्केवलप्रकृतश्लेषः ॥ ९९ ॥

आपदि व्यापृतनयास्तथा युयुधिरे नृपाः ।
आप दिव्या पृतनया विस्मयञ्जनता यथा ॥ ६० ॥

आपदीति । नृपाः राजानः आपदि व्यसनेऽपि व्यापृतनयाः प्रवृत्तनीतिका एव सन्तः न तु श्वापदवृत्त्येति भावः । पृतनया सेनया साधनेन । वाक्यान्तरस्थस्यापि पृतनाशब्दस्यात्रान्वयः चित्र सोढव्यः । तथा तेन प्रकारेण युयुधिरे सम्प्रजह्रुः । यथा दिव्या जनता अन्तरिक्षवर्तिसिद्धविद्याधरसघो विस्मयमाप । अमानुषं युद्ध चक्रुरित्यर्थः । अयं च पादाभ्यासयमकभेदः ॥ ६० ॥

स्वगुणैराफलप्राप्तेराकृष्य गणिका इव ।
कामुकानिव नालीकांस्त्रिणताः सहसामुचन् ॥ ६१ ॥

स्वगुणैरिति। त्रिषु स्थानेषु मध्येषु नताः त्रिणताः शार्ङ्गाणि। "पूर्वपदात्संज्ञायाम्" इति णत्वम्। गणिका वेश्या इव ता अपि त्रिणता मध्य भ्रवोश्च नतत्वात्। नालीकान् इषुविशेषान्। 'नालीकः शरशल्योः' इति विश्वः। कार्मुकानिव स्वगुणैर्ज्याभि. रूपलावण्यादिभिश्च। 'गुणस्त्वावृत्तिशब्दादिज्येन्द्रियामुख्यतन्तुषु' इति वैजयन्ती। आफलप्राप्तैराशल्यस्पर्शादाधनला-भाच्च आकृष्य कर्णान्तिकं नीत्वा वशीकृत्य च सहसा अमुचन् अत्याक्षुः। मुचेर्लुङि "पुषादि" इति च्लेरङादेशः। अनेकैवोपमा ॥ ६१ ॥

वाजिनः शत्रुसैन्यस्य समारब्धनवाजिनः।
वाजिनश्च शरा मध्यमविशन्द्रुतवाजिनः ॥ ६२ ॥

वाजिन इति। द्रुत व्रजन्तीति द्रुतवाजिनः शीघ्रगामिनः। 'व्रज गतौ' इति धातोर्णिनिः। वाजिनोऽश्वाः। वाजिनः पक्षवन्तः शराश्च। 'पक्षौ वाजस्त्रिषूत्तरे' इत्यमरः। समारब्धा नवा अपूर्वा आजिर्युद्धं येन तस्य समारब्धनवाजिनः शत्रुसैन्यस्य मध्यमविशन्। अत्र वाजिना शराणा च प्रवेशाख्यतुल्ययोगिताभेदो यमकेन संसृज्यते ॥ ६२ ॥

पुरस्कृत्य फलं प्राप्तैः सत्पक्षाशयशालिभिः।
कृतपुङ्खतया लेभे लक्षमप्याशु मार्गणैः ॥ ६३ ॥

पुरस्कृत्येति। फलं शल्य पुरस्कृत्य पुरोधाय। अन्यत्र फल लाभं पुरस्कृत्य सम्भाव्येत्यर्थः। प्राप्तैरागतैः सत्पक्षाश्रयेण साधुकङ्कादिपत्रग्रन्थनेन। अन्यत्र साधुमहायावलम्बेन शालन्ते इति तथोक्तैः मार्गणैः सायकैरर्थिभिश्च। 'मार्गणौसायकार्थिनौ' इत्यमरः। कृतपुङ्खतया सुबुद्ध-कर्त्तरीकतया। 'मुखस्थकर्त्तरी पुङ्खः' इति यादव.। अन्यत्र कुशलतयेत्यर्थः। लक्षं शरव्यम् अन्यत्र लक्षसङ्ख्यमपि धनं लेभे शतादिकं किमु वक्तव्यमिति भावः। 'लक्षं शरव्ये संख्यायाम्' इति विश्वः। अत्राभिधायाः प्रकृतार्थनियन्त्रणादर्थान्तरप्रतीतेर्ध्वनिरेव ॥ ६३ ॥

रक्तद्युतिं जपासूनसमरागामिषुं व्यधात्।
कश्चित्पुरः सपत्नेषु समरागामिषु व्यधात् ॥ ६४ ॥

रक्तेति। कश्चिद्वीरः पुरोऽग्रे समरागामिषु सङ्गरमागतेषु सपत्नेषु इषुं व्यधात् बाणप्रहा-रात्। "व्यधजपोरनुपसर्गे" इत्यप्प्रत्ययः। जपासूनसमरागां रक्तद्युतिं रक्तशात्र व्यधात् विहि-तवान्। दधातेर्लुङि "गातिस्था-" इत्यादिना सिचो लुक्। उपमायमकयो संसृष्टिः ॥ ६४ ॥

रयेण रणकाम्यन्तौ दूरादुपगताविभौ।
गतासुरन्तरा दन्ती वरण्डक इवाभवत् ॥ ६५ ॥

रयेणेति। रणमात्मनः इच्छन्तौ रणकाम्यन्तौ। "काम्यच्च" इति रणशब्दात्काम्यच्प्रत्यये सनाद्यन्तधातुत्वाल्लटि शत्रादेशः। रयेण दूरादुपगतौ। इभावन्तरा इभयोर्मध्ये। "अन्तरा न्तरेण युक्ते" इति द्वितीया। गतासुर्मृतो दन्ती द्वैतोन्मध्यवर्ती हस्तिकुम्भ इत्यर्थः। वरण्ड-

कोऽन्तरावेदिरिवाभवत् । 'वरण्डकोऽन्तरावेदौ सन्दोहमुखरागयोः' इति विश्वः । अभ्यासकाले काञ्चन वेदिमन्तर्धाय दन्तिनौ योधयत इति प्रसिद्धम् । उपमा ॥ ६५ ॥

द्व्यक्षरः ।

भूरिभिर्भारिभिर्भीरैर्भूभारैरभिरेभिरे ।
भेरीरेभिभिरभ्राभैरभीरुभिरिभैरिभाः ॥ ६६ ॥

भूरिभिरिति । भूरिभिः भूयोभिः भारिभि. पताकास्तरणादिभारवद्भिः । मत्वर्थीय इनिप्रत्ययः । भिय रान्तीति भीरास्तैर्भीरैः भयदैः । 'रा दाने' "आतोऽनुपसर्गे कः" इति कः । भूभारै महाकायत्वाद्भुवो भारायमाणै भेर्य इव रेभन्ते ध्वनन्तीति भेरीरेभिभिः 'रेभृ शब्दे', ताच्छील्ये णिनिः । अभ्राभैर्मेघमेचकैरिति चोपमाद्वयम । अभीरुभिर्निर्भीकैः इभैर्गजैः इभाः प्रतिगजाः तादृशा इव अभिरेभिरे अभियुक्ता । उपमानुप्रासयोः सङ्करः । व्यक्षरानुप्रासः॥६६॥

निशितासिलतालूनैस्तथा हस्तैर्न हस्तिनः ।
युध्यमाना यथा दन्तैर्भग्नैरापुर्विहस्तताम् ॥ ६७ ॥

निशितेति । युध्यमाना. सम्प्रहरन्तः हस्ता येषा सन्तीति हस्तिन· "हस्ताज्जातौ" इतीनिप्रत्ययः । यथा भग्नैर्दन्तैः विषाणैः विहस्तता हस्तहीनत्वमिति कर्त्तव्यतामूढत्व चापुः । 'विहस्तव्याकुलौ समौ' इत्यमरः । तथा निशिताभिरसिलताभिर्लूनैश्छिन्नैर्हस्तै. शुण्डादण्डैर्विहस्ततां नापु· । हस्तेभ्योऽपि दन्ताना प्रहारासाधनत्वादिति भाव. । अत्र हस्तस्याच्छेदे वैहस्त्यं न हस्तच्छेदे इति विरोध· । प्रतिपत्तिमूढतया समाहित इति विरोधाभासोऽलङ्कार. ॥ ६७ ॥

असयोग. ।

निपीडनादिव मिथो दानतोयमनारतम् ।
वपुषामदयापातादिभानामभितोऽगलत् ॥ ६८ ॥

निपीडनादिति । इभाना वपुषाम् अदयापातान्निर्दयाभियोगाद्धेतोः मिथो निपीडनादिव वस्त्रादिनिपीडनादिवेत्युत्प्रेक्षा । अनारतमश्रान्त दानतोयमभितोऽगलत् वस्त्रवत् निर्दयापातेऽपि म ।तिक इति गजानामुत्साहातिशयोक्तिः । अत्र सयोगाभावादसयोगश्चित्रभेदः । "हलोनऽ न्त. संयोगः" ॥ ६८ ॥

रणाङ्गणं सर इव प्लावितं मदवारिभिः ।
गजः पृथुकराकृष्टशतपत्रमलोडयत् ॥ ६९ ॥

रणेति । गजो मदवारिणा प्लावितमुक्षित रणाङ्गणं सर इव पृथुना करेणाकृष्टानि शतपत्राणि अमितवाहनानि अन्यत्र कुशेशयानि च यस्मिन् कर्म्मणि तत्तथा रणाङ्गणमलोडयत् व्याक्षोभयत् । श्लेषविशेषणेयमुपमा ॥ ६९ ॥

शरक्षतेगजे भृङ्गैः सविषादिविषादिनि ।
रुतव्याजेन रुदितं तत्रासीदतिसीदति ॥ ७० ॥

शरक्षते इति । गजे शरेण क्षते प्रहृते अत एव विषादिना विषादवता विषादिना यन्त्रा सह वर्तते इति तस्मिन् सविषादिविषादिनि तत्र रणे अतिसीदति अतिसन्ने सति मृते सतीत्यर्थः । सदेर्लटः शत्रादेशः । भृङ्गैः कर्तृभिः । " न लोका " इत्यादिना षष्ठीप्रतिषेधः । रुतव्याजेन रुतच्छलेन रुदितं रोदनमासीत् । स्वाश्रयनाशदुःखाद्रोदनं कृतमिवेत्युत्प्रेक्षा व्यञ्जकाप्रयोगाद्गम्या । सा च रुतव्याजेनेत्यपह्नवपूर्वकत्वात्सापह्नवेति सर्वस्वकारः ॥ ७० ॥

अन्तकस्य पृथौ तत्र शयनीय इवाहवे ।
दशनव्यसनादीयुर्मत्कुणत्वं मतङ्गजाः ॥ ७१ ॥

अन्तकस्येति । अन्तकस्य मृत्योः सम्बन्धिनि शेतेऽस्मिन्निति शयनीये तल्प इव स्थित इत्यर्थः । " कृत्यल्युटो बहुलम् " इत्यधिकरणेऽनीयर् । पृथौ विशाले तत्राहवे मतङ्गजाः दन्तव्यसनाद्विषाणभङ्गाद्धेतोः मत्कुणत्वमीयुः मत्कुणा इव दृष्टा इत्यर्थः । सुप्तरक्तपायिनः खट्वाश्रयाः कीटविशेषा मत्कुणाः । 'कालेऽप्यजातदन्ते च शय्याजन्तौ च मत्कुणः' तत्सादृश्याददन्तेषु दन्तिषु तथात्वरूपकम् अन्तकस्य शयनीय इवेत्युत्प्रेक्षासापेक्षमिति सङ्करः ॥ ७१ ॥

अथ युग्मेनाह—

अर्धभ्रमकः ।

अ भी क म ति के ने द्धे
भी ता न न्द स्य ना श ने ।
क न त्स का म से ना के
म न्द का म क म स्य ति ॥ ७२ ॥

अभीकेत्यादि । अभीका निर्भीका मतिर्यस्य तेनाभीकमतिकेन निर्भयचित्तेन शैषिकः कप्प्रत्ययः । इद्धे दीप्ते । भीतानामानन्दस्य नाशने । नशेर्ण्यन्तात्कर्तरि ल्युट् । कनन्ती दीप्यमाना सकामा विजयित्वात्पूर्णकामा सेना यत्र तस्मिन् कनत्सकामसेनाके । पूर्ववत्कप् । मन्दकामकं मन्दोत्साहम् । पूर्ववदेव कप् । अस्यति निराकुर्वाणे रणे इत्युत्तरेण सम्बन्धः । अत्र सर्वतोभद्रवत्सर्वतो भ्रमणाभावात्पादार्द्धानमेव भ्रमणादर्द्धभ्रमकम् । उद्धारस्तु सर्वतोभद्रवत्स्यादेव ॥ ७२ ॥

दधतोऽपि रणे भीममभीक्ष्णं भावमासुरम् ।
हताः परैरभिमुखाः सुरभूयमुपाययुः ॥ ७३ ॥

दधत इति। रणे पूर्वोक्तप्रकारे अभीक्ष्णमत्यन्त भीम भयङ्करम् आसुरमसुरसम्बन्धिन भाव पुरुषकारलक्षणम्। 'भावो लीलाक्रियाचेष्टाभूत्यभिप्रायजन्तुषु' इति वैजयन्ती। असुरत्वं च दधत. दधाना अपि परैः शत्रुभिः अभिमुखा एव स्थिताः हताः। वीरा इति शेषः। अत एव सुराणा भाव सुरभूय सुरत्व देवत्वमुपाययुः। 'स्वर्गं मान्त्यपराङ्मुखाः' इति स्मरणादिति भावः। 'भुवो भावे" इति क्यप्। अत्रासुरभावेऽपि सुरभूयमुपाययुरिति विरोधस्य भावशब्दस्यार्थान्तरत्वेन परिहाराद्विरोधाभासः॥ ७३॥

येनाङ्गमूहे व्रणवत्सरुचा परतोमरैः।
समत्वं स ययौ खड्गत्सरुचापरतोऽमरैः॥ ७४॥

येनाङ्गमिति। रुचा सह वर्त्तते यस्तेन सरुचा तेजस्विना येन वीरेण परतोमरैः शत्रुशस्त्रैः व्रणवत्सव्रणमङ्गमूहे ऊढम्। वहेः कर्म्मणि लिट् सम्प्रसारणम्। खड्गत्सरौ खड्गमुष्टौ चापे च रत. खड्गत्सरुचापरत' खड्गेषुप्रहारेण युद्ध कुर्व्वन्नित्यर्थः। 'त्सरुः खड्गादिमुष्टौ स्यात्' इत्यमर। स वीरोऽमरैः समत्व ययौ पौरुषेणेति भावः। उपमायमकयोः संसृष्टिः॥ ७४॥

निपातितसुहृत्स्वामिपितृव्यभ्रातृमातुलम्।
पाणिनीयमिवालोकि धीरैस्तत्समराजिरम्॥ ७५॥

निपातितेति। निपातिता वीरशय्या गमिताः सुहृदादयो यत्र तत्तथोक्तम् अभिमुखबन्धोरपि रणे वध्यत्वादिति भावः। अन्यत्र निपातिताः लक्षणाभावे शब्दसाधुत्वाय सूत्रकृता सूत्रस्वरूपेणोच्चारिताः सुहृदादिशब्दाः यत्र तदित्यर्थः। अत एव तत्समराजिर रणाङ्गण पाणिनिना प्रोक्त पाणिनीयम् अष्टाध्यायीव्याकरणमिव "तेन प्रोक्तम्" इति छप्रत्ययः। धीरैर्धृष्टैरेवालोकि दृष्टम्। उभयत्राप्यधीरैर्दुरवगाहत्वादिति भावः। शोभन हृदय यस्य स सुहृत्। "सुहृद्दुर्हृदौ मित्रामित्रयोः" इति हृदयशब्दस्य हृद्भावो निपातितः। स्वमस्यास्तीति स्वामी ईश्वरः। "स्वामिन्नैश्वर्य्ये" इति मत्वर्थीयनिपातः। 'पितुर्भ्राता पितृव्यः स्यान्मातुर्भ्राता तु मातुलः' इत्यमरः। "पितृव्यमातुलमातामहपितामहाः" इति व्यड्डुलजन्तानिपाता'। बिभर्त्तीति भ्राता नप्तृनेष्ट्रादिसूत्रादौणादिको निपातः॥ ७५॥

अभावि सिन्ध्वा सन्ध्याभ्रसदृग्रुधिरतोयया।
हृते योद्धुं जनः पांसौ स दृग्रुधि रतो यया॥ ७६॥

अभावीति। सन्ध्याभ्रसदृक् सन्ध्यामेवसदृश रुधिरमेव तोय यस्यास्तया सिन्ध्वा रक्तनद्या अभावि भूतम्। भावे लुङि चिण्। यया सिन्ध्वा दृशो रुणद्धीति दृग्रुधि दृष्टिरोधके। रुधेः क्विप्। पांसौ रजसि हृते सति स जनो वीरलोको योद्धुं रतः उत्सुकः अभूदिति शेषः। उपमायमकयोः संसृष्टिः॥ ७६॥

विदलत्पुष्कराकीर्णाः पतच्छङ्खकुलाकुलाः ।
तरत्पत्ररथा नद्यः प्रासर्पन्रक्तवारिजाः ॥ ७७ ॥

विदलदिति । विदलद्भिर्विदीर्यमाणैः पुष्करैः करिहस्ताग्रैः अन्यत्र विकसद्भिः पद्मैराकीर्णाः व्याप्ताः पतद्भिः शङ्खकुलैः ललाटास्थिसङ्घैः कम्बुसङ्घैश्चाकुलाः तरन्ति प्लवमानानि पत्राणि वाहनानि रथाश्च अन्यत्र पत्ररथा अण्डजा यासु ताः रक्तवारिजा रुधिरतोयजन्याः अन्यत्र रक्तानि वारिजानि यासु ताः नद्यः प्रासर्पन् प्रावहन् । अत्र नदीनां रक्तनदीनां च श्लेषः ॥ ७७ ॥

असृग्जनोऽस्त्रक्षतिमानवमज्जवसादनम् ।
रक्षःपिशाचं मुमुदे नवमज्जवसादनम् ॥ ७८ ॥

असृगिति । अस्त्रक्षतिमान् अस्त्रप्रहारवान् जनो वीरजनोऽसृग्रक्तं जवसादनं जवस्य चेष्टावेगस्य सादनं सादकं यथा स्यात्तथा अभवत् । नवयोर्मज्जवसयोर्मेदोरसयोरदनं भक्षकम् । कर्त्तरि ल्युट् । रक्षांसि च पिशाचाश्च रक्षःपिशाचम् । समाहारे द्वन्द्वैकवद्भावः । मुमुदे जहर्ष । अत्र मोदस्य वमनवाक्यार्थहेतुत्वाद्वाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गं तच्च यमकेन संसृज्यते ॥ ७८ ॥

चित्रं चापैरपेतज्यैः स्फुरद्रक्तशतह्रदम् ।
पयोदजालमिव तद्वीराशंसनमाबभौ ॥ ७९ ॥

चित्रमिति । अपेतज्यैरपगतमौर्वीकैः । "मौर्वी ज्या शिञ्जिनी गुणः" इत्यमरः । चापैश्चित्रं विचित्रं स्फुरन्ति रक्तान्येव शतह्रदाः शम्पा यस्मिन् तत् । 'शम्पा शतह्रदा ह्रादिनी' इत्यमरः । तत्प्रकृतं वीरः आशंस्यते अत्रेति वीराशंसनं भयङ्करा युद्धभूमिः । 'सा वीराशंसनं युद्धभूमिर्याति भयप्रदा' इत्यमरः । पयोदजालमिवाबभौ ॥ ७९ ॥

बन्धौ विपन्नेऽनेकेन नरेणह तदन्तिके ।
अशोचि सैन्ये घण्टाभिन रेणे हतदन्तिके ॥ ८० ॥

बन्धाविति । इह सैन्ये बन्धौ विपन्ने मृते सति अनेकेन नरेण अनेकैर्नरैरित्यर्थः । जातावेकवचनम् । तदन्तिके तस्य मृतस्य बन्धोरन्तिके अशोचि किञ्च हता दन्तिनो यत्र तस्मिन् हतदन्तिके सैन्ये घण्टाभिर्न रेणे न दध्वने रणतेर्भावे लिट् । अत्र हतदन्तिके इति विशेषणगत्या घण्टानामरणनहेतुत्वात्पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गं यमकेन संसृज्यते ॥ ८० ॥

कृत्तैः कीर्णा मही रेजे दन्तैर्गात्रैश्च दन्तिनाम् ।
क्षुण्णलोकासुभिर्मृत्योर्मुसलोलूखलैरिव ॥ ८१ ॥

कृत्तैरिति । कृत्तैः छिन्नैः दन्तिनां दन्तैर्गात्रैश्च कीर्णा मही रणभूमिः क्षुण्णाः पिष्टाः लोकासवो जनप्राणा यैस्तैः मृत्योर्मुसलोलूखलैः कीर्णेव रेजे । 'अयोग्रं मुसलोऽस्त्री स्यादुदूखलमुलूखलम्'

इत्यमरः । अत्र मुसलोलूखलैरिति राजदन्तादिपाठेऽपि "सर्वकूलाभ्र" इत्यादिसूत्रादेव व्यभिचारज्ञापकात्परनिपातव्यत्ययः ॥ ८१ ॥

युद्धमित्थं विधूतान्यमानवानभियो गतः ।
चैद्यः परान्पराजिग्ये मानवानभियोगतः ॥ ८२ ॥

युद्धमिति । मानवानभिमानवान् चैद्यो युद्धं गतः प्राप्तः सन् इत्थं विधूता अभिभूता अन्ये चैद्यातिरिक्ता मानवा यैस्तान् विधूतान्यमानवान् अभियः निर्भीकान् परानरीन् अभियोगतोऽभियोगादभ्यवरोधात् पराजिग्ये जिगायेत्यर्थः । "विपराभ्यां जेः" इत्यात्मनेपदम् । "सन्लिटोर्जेः" इति कुत्वम् ॥ ८२ ॥

अथ भगवदभियोगं पञ्चभिः कुलकेनाह—

अथ वक्षोमणिच्छायाच्छुरितापीतवाससा ।
स्फुरदिन्द्रधनुर्भिन्नतडितेव तडित्वता ॥ ८३ ॥

अथेत्यादि । अथ चैद्यजयानन्तरं वपुषा राजन् परः पुमान् अदृश्यतेति पञ्चमेन सम्बन्धः । तद्वपुस्तावत्त्रिभिर्विशिनष्टि । वक्षोमणेः कौस्तुभस्य छायया छुरितानि व्याप्तान्यापीतवासांसि पीताम्बराणि यस्य तेन अत एव स्फुरता इन्द्रधनुषा भिन्नाः सङ्गतास्तडितो यस्य तेन तडित्वता मेघेनेव स्थितेनेत्यर्थः ॥ ८३ ॥

द्व्यक्षरः ।

नीलेनानालनलिननिलीनोल्लुलनालिना ।
ललनालालनेनालं लीलालोलेन लालिना ॥ ८४ ॥

नीलेनेति । पुनः कीदृशेन वपुषा नीलेन श्यामलेन तथा अनालं नालरहितं यन्नलिनं तत्र निलीना आसन्नाः उल्लुलन्तीत्युल्लुलनाश्चलाश्चालयो यस्य तेन अनालनलिननिलीनोल्लुलनालिना मुखसौरभलोभपरिभ्रमद्भ्रमरेणेत्यर्थः । ललनानां विलासिनीनां स्त्रीणां लालनेन उपलालनेन वशीकरणेनेत्यर्थः । अलमत्यन्तं लीलालोलेन क्रीडालोलुपेन 'लीलालानेन' इति पाठे लीलानां विलासानामालानेनालयेनेत्यर्थः । लालयति भक्तानिति लालिना । भक्तानुकम्पिनेत्यर्थः । द्व्यक्षरानुप्रासोऽलङ्कारः ॥ ८४ ॥

अपूर्वयेव तत्कालसमागमसकामया ।
दृष्टेन राजन्वपुषा कटाक्षैर्विजयश्रिया ॥ ८५ ॥

अपूर्वयेति । किञ्च अपूर्वयेव अपूर्वसमागममेव तत्कालसमागमे सकामया साभिलाषया विजयश्रिया चैद्यविरक्तयेति भावः । कटाक्षैरपाङ्गैर्दृष्टेनालोकितेन वपुषा राजन् दीप्यमानः । अत्र प्रस्तुतजयश्रीविशेषणसाम्यादप्रस्तुतानुरक्तमानिनीप्रतीतेः समासोक्तिः । प्रतीयमानाभेदाध्यवसायादपाङ्गदर्शनोत्प्रेक्षा च ॥ ८५ ॥

द्व्यक्षरः ।

विभावी विभवी भाभो विभाभावी विवो विभीः ।
भवाभिभावी भावावो भवाभावो भुवो विभुः ॥ ८६ ॥

विभावीति । विभावोऽस्यास्तीति विभावी प्रभावसम्पन्नः विभवोऽस्यास्तीति विभवी ऐश्वर्य्यवान् भस्याभेवाभा यस्य सभाभो नक्षत्रवदुज्ज्वल इत्यर्थः । विभा विशिष्टाभा भावयति सम्पादयति विश्वस्येति विभाभावी । 'तस्य भासा सर्व्वमिदं विभाति' इति श्रुतेः । भुवो ण्यन्तात् णिनिः । विना पक्षिणा वाति गच्छतीति विवः । पक्षिवाहन इत्यर्थः । 'आतोऽनुपसर्गे कः' । विभीर्निर्भीकः । भव संसारम् अभिभवतीति भवाभिभावी । भक्तानां संसारनिवर्त्तक इत्यर्थः । भुवो णिनिः भावान् जन्तून् अवतीति भावावः विश्वत्राता । 'भावो लीलाक्रियाचेष्टाभूत्यभिप्रायजन्तुषु' इति वैजयन्ती । अवतेः कर्म्मण्यण् । भवाभावोऽस्यास्तीति संसारदुःखैरस्पृष्ट इत्यर्थः । अर्श-आदित्वादच् प्रत्ययः भुवो भूमेर्विभुर्भर्त्ता ॥ ८६ ॥

उपैतुकामैस्तत्पारन्निश्चितैर्य्योगिभिः परैः ।
देहत्यागकृतोद्योगैरदृश्यत परः पुमान् ॥ ८७ ॥

उपैतिविति । एवम्भूतः परः पुमान् परमपुरुषो हरिः । तत्पारं तस्य हरेः पारम् अन्तमुपैतुकामैस्त जिगीषुभिः अन्यत्र दिदृक्षुभिरित्यर्थः । "तुङ्काममनसोरपि" इति मकारलोपः । निश्चितैर्योद्धुं कृतनिश्चयैरित्यर्थः । अन्यत्र निश्चिततत्त्वैः । सकर्म्मकादप्यविवक्षिते कर्म्मणि क्तः । यद्वा पीता गावः विभक्ता भ्रातर इत्यादिवदूहयितव्यम् । स्फुटीकृतं चैतत् घण्टापथे 'स वर्णिलिङ्गी विदितः' इत्यत्र । देहत्यागकृतोद्योगैर्मरणोद्यतैः अन्यत्र मुमुक्षुभिरित्यर्थः । योगिभिः सन्नाहवद्भिरुपायवद्भिर्वा । अन्यत्र ध्यानवद्भिः । 'योगः सन्नहनोपायध्यानसङ्गतियुक्तिषु' इत्यमरः । परैः शत्रुभिः अन्यत्र परमयोगिभिः अदृश्यत परेषामग्रेऽतिष्ठतेत्यर्थः । अन्यत्र साक्षात्कृतः 'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति' इति श्रुतेः । अर्थान्तरप्रतीतिर्ध्वनिरेव न श्लेषः अभिधायाः प्रकृतार्थे नियन्त्रणात् ॥ ८७ ॥

युग्मेनाह—

गतप्रत्यागतः ।

तं श्रिया घनयाऽनस्तरुचा सारतया तया ।
यातया तरसा चारुस्तनयाऽनघया श्रितम् ॥ ८८ ॥

तमिति । घनया आनन्दसान्द्रया । अनस्तरुचा अक्षीणकान्त्या सारतया सारत्वेन सर्वोत्कर्षणगुणेन यातया व्याप्तया । चारुस्तनया रम्यकुचया । "स्वाङ्गाच्चोपसर्जनादसंयोगोपधात्" इति विकल्पादनीकारः । अनघया निर्दोषया तया प्रसिद्धया श्रिया रमया तरसा त्वरया श्रितमालिङ्गितं तं हरिमुद्रीक्ष्येत्युत्तरेण सम्बन्धः । अत्रापि प्रातिलोम्येनार्द्धावृत्तेरर्द्धप्रतिलोमयमकम् । एतल्लक्षणं तु प्रागेवोक्तम् ॥ ८८ ॥

युग्मम्।

विद्विषोऽद्विषुरुद्वीक्ष्य तथाप्यासन्निरेनसः ।
अरुच्यमपि रोगघ्नं निसर्गादेव भेषजम् ॥ ८९ ॥

विद्विष इति । त पूर्वोक्त हरिम् उद्वीक्ष्य विद्विषः शत्रव. अद्विषुः द्विषन्ति स्म लङि । "द्विषश्च" इति विकल्पेन झेर्जुसादेशः । तथापि द्विषन्तोऽपि निरेनसो निष्पापा आसन् द्वेषवीक्षण-स्याप्येनोनिवर्त्तकत्व दृष्टान्तेनाह । अरुच्यमिति रोचत इति रुच्यम् "राजसूय" इत्यादिना क्यबन्तो निपातितः । अरुच्यमरोचमानमपि भेषजमौषधम् । 'भेषजौषधभैषज्यानि' इत्यमरः । निसर्गात् स्वभावशक्तेरेव रोग हन्तीति रोगघ्नम आरोग्यकारी । 'हरिर्हरति पापानि' इति वचनादिति भावः । "अमनुष्यकर्तृके च' इति टप्रत्ययः ॥ ८९ ॥

प्रतिलोमेनायमेवार्थः ।

विदितं दिवि केऽनीके तं यातं निजिताजिनि ।
विगदं गवि रोद्धारो योद्धा यो नतिमेति न ॥ ९० ॥

विदितमिति । किञ्च योद्धा वीरो यो हरिः नतिं परेषां नम्रतां नैति नापैति । नितरां जिता आजयो येन तस्मिन् निजिताजिनि अनेकाजिविजयिन्यपि अनीके सैन्ये 'वरूथिनी बल सैन्य चक्र चानीकमस्त्रियाम्' इत्यमरः । यात योद्धुमागतम् । दिवि स्वर्गेऽपि विदितं प्रख्यात विगदं निरामय त हरिं गवि भुवि रोद्धारो जेतारः के । न केऽपीत्यर्थः । प्रातिलोम्येऽप्येत एव पदार्थवाक्यार्थाः । एतदपि श्लोकप्रतिलोमयमकमेव पदपदार्थादिसवादस्तु । वैचित्रीविशेषः । लक्षण तु निध्वनदित्यत्रैवोक्तमनुसन्धेयम् ॥ ९० ॥

नियुज्यमानेन पुरः कर्म्मण्यतिगरीयसि ।
आरोप्यमाणोरुगुणं भर्त्रा कार्मुकमानमत् ॥ ९१ ॥

नियुज्यमानेनेति । पुरोऽग्र अतिगरीयसि कर्म्मणि रणकर्मणि अन्यत्र दुष्करे कस्मिंश्चित्कृत्यव-स्तुनि नियुज्यमानेन व्यापारयिष्यता आज्ञापयिष्यता च भर्त्रा स्वामिना आरोप्यमाणोऽधिक्रियमाणः उरुर्महान् गुणो ज्या यस्मिन् तत् । अन्यत्र वर्ण्यमानसौन्दर्य्यादिकः । कर्म्मणे प्रभवतीति कार्म्मुक धनुः । "कर्म्मण उकञ्" इत्युकञ्प्रत्ययः । आनमत् गुणाकर्षणादाकुञ्चितकोटिकमभूत् अन्यत्र प्रणत इत्यर्थः । अत्र प्रकृतकार्म्मुकविशेषणसाम्यादप्रस्तुतनियोज्यपुरुषप्रतीतेः समा-सोक्तिः ॥ ९१ ॥

तत्र बाणाः सुपरुषः समधीयन्त चारवः ।
द्विषामभूत्सुपरुषस्तस्याकृष्टस्य चाऽरवः ॥ ९२ ॥

तत्रेति । तत्र कार्म्मुके शोभनानि परूषि येषा ते सुपरुषः सुपर्वाणः । अतएव चारवोऽतिरम्या बाणाः समधीयन्त निहिताः आकृष्टस्य तस्य कार्म्मुकस्यारवश्च द्विषा सुष्ठु परुषः सुपरुषोऽतिकर्कशोऽभूत् । यमकविशेषालङ्कारः ॥९२॥

पश्चात्कृतानामप्यस्य नराणामिव पत्रिणाम् ।
यो यो गुणेन संयुक्तः स स कर्णान्तमाययौ ॥ ९३ ॥

पश्चादिति । नराणा पुसामिव पश्चात्कृताना निषङ्गसङ्गितया पृष्ठस्थापितानामपि अन्यत्रायधीरितानामपि । पात्रिणामिषूणा मध्ये इत्यर्थः । यो यः पत्री नरश्च गुणेन ज्यया दाक्षिण्यादिना च सयुक्तः सवद्धः स स पत्री नरश्चास्य हरेः कर्णान्तं कर्णसमीपमाययौ आगतः गुणयोगादाकर्णमाकृष्टः अन्यत्रान्तिकमागत इत्यर्थः । श्लेषसङ्कीर्णोपमा॥ ९३ ॥

द्व्यक्षरः ।

प्रापे रूपी पुराऽरेपाः परिपूरी परः परैः ।
रोपैरपारैरुपरि पुपूरेऽपि पुरोऽपरैः ॥ ९४ ॥

प्राप इति । पुरा पूर्वं रूपी मत्स्यकूर्माद्यनेकरूपवान् अरेपाः निष्पापः परिपूरयति कामैर्भक्तानिति परिपूरी भक्तवरदः । पूरयतेर्णिनिः । परः परमपुरुषो हरिः परैः शत्रुभिः प्रापे प्राप्तः अवरुद्ध इत्यर्थः । अपरैरन्यैः शत्रुभिः कर्तृभिः । अपारैरनन्तैरोपैरिषुभिः । 'पत्री रोप इषुर्द्वयोः' इत्यमरः । पुरोऽग्रे उपरि च पुपूरे पूरितः । पृणातेः कर्म्मणि लिट् । द्व्यक्षरानुप्रासोऽलङ्कारः ॥ ९४ ॥

दिङ्मुखव्यापिनस्तीक्ष्णान्ह्रादिनो मर्मभेदिनः ।
चिक्षेपैकक्षणेनैव सायकानहितांश्च सः ॥ ९५ ॥

दिगिति । स हरिर्दिङ्मुखव्यापिनो दिगन्तव्यापकान् । अतितीक्ष्णान् निशितान् क्रूरांश्च । ह्रादन्ते इति ह्रादिनः पक्षनादवतः सिंहनादवतश्च मर्म्मभेदिनो मर्म्मस्थानविदारकान् सायकानिषून् अहितानरींश्च एकक्षणेनैव चिक्षेप निरास । अत्र सायकानामहिताना च प्रकृतानामेक तुल्यधर्म्मयोगादौपम्योपगमात्तुल्ययोगितामेदः ॥ ९५ ॥

गूढचतुर्थः ।

शरवर्षी महानादः स्फुरत्कार्मुककेतनः ।
नीलच्छविरसौ रेजे केशवच्छलनीरदः ॥ ९६ ॥

शरेति । शरवर्षी बाणवर्षी नीरवर्षी च । 'शर नीरे शरो बाणे' इति विश्वः । महान् नादः सिंहनादो गर्जित च यस्य स महानादः स्फुरन्ती कार्म्मुककेतने धनुर्ध्वजौ यस्य सः । अन्यत्रेन्द्रचापचिह्न इत्यर्थः । नीलच्छविः श्यामकान्तिः । केशवस्य छलं कपट यस्य स नीरदः

केशवच्छलनीरदो हरिमेघोऽसौ रेजे रणरङ्गे सर्वोत्कर्षेण दिदीपे इत्यर्थः । अत्र छलशब्देन हरित्वापह्नवेन मेघत्वारोपणाच्छलादिशब्दैरसत्यत्वप्रतिपादनरूपोऽपह्नवालङ्कारः । त्रिपाद्यन्तर्गतचतुर्थपादाक्षरत्वाद्गूढचतुर्थाख्यश्चित्रविशेषः । शब्दालङ्कारश्चेति सकरः ॥ ९६ ॥

न केवलं जनैस्तस्य लघुसन्धायिनो धनुः ।
मण्डलीकृतमेकान्ताद्बलमैक्षि द्विषामपि ॥ ९७ ॥

नेति । लघु शीघ्रं सन्धत्ते यस्तस्य लघुसन्धायिनस्तस्य हरेः धनुरेव केवलम् एकान्तात् मण्डलीकृतं शीघ्रकर्षान्नियमेन वलयीकृतं जनैर्नैक्षि । कर्म्मणि लुङ् । किन्तु द्विषां बलमपि मण्डलीकृतं त्रासादेकत्र पुञ्जीकृतमैक्षि । अत्र धनुर्बलयोः प्रकृतयोरेव तुल्यधर्म्मयोगात् केवलंप्रकृतास्पदा तुल्ययोगिता ॥ ९७ ॥

युग्मेनाह—

द्व्यक्षरः ।

लोकालोकी कलोऽकल्ककलिलोऽलिकुलालकः ।
कालोऽकलोऽकलिः काले कोलकेलिकिलः किल ॥ ९८ ॥

लोकालोकीति । लोकानालोकत इति लोकालोकी त्रैलोक्यदर्शी कलो मधुरभाषी कल्केन पापेन दम्भेन वा कलिलो न भवतीति अकल्ककलिलः । 'कल्क. पापाशये पापे दम्भे' इति विश्वः । अलिकुलालकः अलिकुलनीलमूर्द्धज इत्यर्थः । कालो नीलो नीलवर्ण. कालात्मको वा नास्ति कला यस्य सोऽकलः निरंश इत्यर्थः । अकलिरकलह स्वयमकलहशील इत्यर्थः । काले प्रलयकाले कोलकेल्या वराहलीलया किलति क्रीडति कोलकेलिकिल. । किलशब्दस्तु खल्वर्थे । विव्याधेत्युत्तरेण सम्बन्धः । द्व्यक्षरानुप्रास ॥ ९८ ॥ युग्मम् ॥

अक्षितारासु विव्याध द्विषतः स तनुत्रिणः ।
दानेषु स्थूललक्ष्यत्वं नहि तस्य शरासने ॥ ९९ ॥

अक्षीति । स पूर्वोक्तगुणविशिष्टो हरिः तनुत्राणि एषां सन्तीति तनुत्रिणो वर्म्मिणः । 'तनुत्रं वर्म्म दंशनम्' इत्यमरः । तान् द्विषतः शत्रून् अक्षितारासु नेत्रकनीनिकासु विव्याध प्रजहार । तथा हि तस्य हरेः दानेषु वितरणेषु एव स्थूललक्ष्यत्वं विपुलविषयत्वम् । 'स्युर्वदान्यस्थूललक्ष्यदानशौण्डा बहुप्रदे' इत्यमरः । शरासने शरक्षेपे तु न । किन्तु सूक्ष्मलक्ष्यत्वमेव । अतोऽक्षितारावेधित्वमस्य युक्तमित्यर्थः । अतो वाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गम् ॥ ९९ ॥

द्व्यक्षरः ।

वररोऽविवरो वरिविवारी वारिरारवः ।
विववार वरो वैरं वीरो रविरिवौर्वरः ॥ १०० ॥

वरर इति । वरान् रातीति वररो वरप्रदः 'रा दाने' "आतोऽनुपसर्गे कः" इति कः । अविवरो निर्विवरो नीरन्ध्रः वैरिणः शत्रून् विवारयति वैरिविवारी । वारीणि रातीति वारिरः । पूर्ववत्कः । तस्येवारवो यस्य स वारिरारवः वरः श्रेष्ठो वीरः शूरः स कृष्णः उर्वरा भूमिः 'उर्वरासर्वशस्याढ्यभूमौ स्याद्भूमिमात्रके' इत्यमरः । तस्या भवः और्वरः पृथ्वीभवः रविरिव वैरं वैरिणा वृन्दं विववार विवारयामास जघानेत्यर्थः । द्व्यक्षरानुप्रासः ॥ १०० ॥

मुक्तानेकशरं प्राणानहरद्भूयसां द्विषाम् ।
तदीयं धनुरन्यस्य न हि सेहे सजीवताम् ॥ १०१ ॥

मुक्तेति । मुक्तानेकशरं क्षिप्तबहुबाणं तस्य हरेरिदं तदीयं धनुः भूयसां द्विषां प्राणानहरत् तथा हि अन्यस्य परस्य सजीवतां न सेहे । अथ वा अन्यस्य धनुषः सजीवतां सज्याकत्वं न सेहे । 'त्रिषु जीवति जीवः स्यान्मौर्व्यां स्त्री' इति वैजयन्ती । वाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गम् ॥ १०१ ॥

द्व्यक्षरः ।

राजराजी रुरोजाजेरजिरेऽजोऽजरोऽरजाः ।
रेजारिजूरजोर्जार्जी रराजर्जुरजर्जरः ॥ १०२ ॥

राजेति । न जायते इत्यजोऽनादिः । "अन्येष्वपि दृश्यते" इति जनेर्डप्रत्ययः । न जीर्यते इत्यजरः अनन्तः पचाद्यच् । नास्ति रजो यस्येत्यरजा रजोगुणरहितः । रेजन्तीति रेजाः तेजिष्ठाः । 'रेजृ दीप्तौ' पचाद्यच् । ते च ते अरयश्च तेषां जूरो हिंसनं तेन जातं रेजारिजूरजं तदूर्जं बलं अर्जयतीति रेजारिजूरजोर्जार्जी । अर्जेर्णिनिः । ऋजुरार्जवान् । जर्जरो न भवतीत्यजर्जरो दृढः स हरिः आजेरजिरे रणाङ्गणे राजराजीः राजश्रेणी रुरोज बभञ्ज । 'रुजो भङ्गे' लिट् । अत एव रराज दिदीपे । द्व्यक्षरानुप्रासः ॥ १०२ ॥

उद्धतान्द्विषतस्तस्य निघ्नतो द्वितयं ययुः ।
पानार्थे रुधिरं धातौ रक्षार्थे भुवनं शराः ॥ १०३ ॥

उद्धतानिति । उद्धतान् दृप्तान् द्विषतः शत्रून् निघ्नतो हिंसतः "जासिनिप्रहणन" इत्यादि सूत्रे निप्रेतिसंघातविपर्य्यस्तव्यस्तग्रहणोपदेशान्निहन्तेरशेषकर्म्मणि द्वितीयैव । तस्य हरेः शराः पानार्थे धातौ 'पा पाने' इति धातौ सति रुधिरं रक्षार्थे धातौ 'पा रक्षणे' इति धातौ सति भुवनं जगच्चेति द्वितयं ययुः । रुधिरमपिबन् भुवनमरक्षंश्चेति भावार्थः । अत्र पानयोरभेदाध्यवसायेन रुधिरभुवनयोस्तुल्ययोगितालङ्कारः तत्र पानार्थेत्यादिवाक्यस्य शत्रुवधेन भुवनमरक्षन्निति सूक्ष्मार्थगर्भत्वात् सौक्ष्म्यं नाम गुणः । 'अतः सङ्कल्परूपत्वं शब्दानां सौक्ष्म्यमुच्यते' इति लक्षणात् ॥ १०३ ॥

अथ युग्मेनाह—

द्व्यक्षरः ।

क्रूरारिकारी कोरेककारकः कारिकाकरः ।
कोरकाकारकरकः करीरः कर्करोऽर्करुक् ॥ १०४ ॥

क्रूरेति । क्रूरान् अरीन् किरति विक्षपति इति क्रूरारिकारी किरतेर्णिनिप्रत्ययः । कोर्भूमेरेककारकः एककर्त्ता करोतेर्ण्वुल् । कारिका यातनाः करोति दुष्टानामिति कारिकाकरः । 'कारिका यातनावृत्त्योः' इत्यमरः । "कृञो हेतु" इत्यादिना ताच्छील्ये टप्रत्ययः । कारिका क्रियाः । धात्वर्थनिर्देशे ण्वुल् । तत्कर इति केचित् । कोरकाकारौ करौ यस्य स कोरकाकारकरकः । कमलमुकुलरमणीयपाणिरित्यर्थः । शैषिकः कप्रत्ययः । करिणो गजान् ईरयति क्षिपतीति करीरः । 'कर्मण्यण्' कर्करो रणकर्कश इत्यर्थः । 'कर्करो दर्पणे दृढे' इति शाश्वतः । अर्कस्येव रुक् यस्य सोऽर्करुगित्युपमा । द्व्यक्षरानुप्रासः ॥ १०४ ॥

विधातुमवतीर्णोऽपि लघिमानमसौ भुवः ।
अनेकमरिसंघातमकरोद्भूमिवर्द्धनम् ॥ १०५ ॥

विधातुमिति । भुवो भूमेर्लघिमानं लघुत्वं भारापहरणं विधातुमवतीर्णोऽपि भुवि जातोऽप्यसौ पूर्वोक्तगुणो भगवान् हरिः अनेकं बहुमरिसंघातं भूमिवर्द्धनं भूभारमकरोत् । इति विरोधः । मृतमकरोदित्यविरोधः । अत एव विरोधाभासोऽलङ्कारः ॥ १०५ ॥

द्व्यक्षरः ।

दारी दरदरिद्रोऽरिदारूदारोऽद्रिदूरदः ।
दूरादरौद्रोददरद्रोदोरुग्दारुरादरी ॥ १०६ ॥

दारीति । दारी बहुदारवान् । भूमार्थे मत्वर्थीयः । दरेण भयेन दरिद्रो निर्भीकः 'दरोऽस्त्रिया भये श्वभ्रे' इत्यमरः । उदारो महान् दाता वा । 'उदारो दातृमहतोः' इत्यमरः । अद्रिवत् दुःखेन रदने दूरदो दुर्भेदोऽद्रिदूरदः 'रद विलेखने' खल् प्रत्ययः । अरौद्रः साधूनां सौम्यः रोदसी रुणद्धीति रोदोरुक् विश्वव्यापी । रुधेः क्विप् । ददातीति दारुर्दाता । ददातेरौणादिको रुप्रत्ययः । आदरोऽस्यास्तीति आदरी सन्मार्गादरवान् स हरिः अरिरेव दारु काष्ठमरिदारु दूरादेव अददरत् दारयति स्म । दारयतेर्णौ चङि "अत्स्मृदृत्वरप्रथम्रदस्तॄस्पशाम्" इत्यभ्यासस्यात्त्वम् । अरिदार्विति रूपकमर्थालङ्कारो द्व्यक्षरानुप्रासश्च ॥ १०६ ॥

एकेषुणा संघतिथान्द्विषोऽभिन्दन्द्रुमानिव ।
सजन्मान्तररामस्य चक्रे सदृशमात्मनः ॥ १०७ ॥

एकेषुणेति । स हरिरेकेषुणा एकेनैव शरेण सघानां पूरणान् संघतिथान् संघशः स्थिता-नित्यर्थः।"वहुगणसंघस्य तिथुक्" इति तिथुगागमादेव ज्ञापकादसंख्यात्वेऽपि सघात्तद् प्रत्ययः । द्विषः शत्रून् द्रुमानिवेत्युपमा भिन्दन् विदारयन् । जन्मान्तरे रामस्य दाशरथेरात्मनः सदृशं चक्रे । एकशरेणानेकारिद्रुमभेदस्तु जन्मान्तरभावनया जात इति भावः । 'बिभेद च पुनस्तालान् सप्तैकेन महेषुणा ' इति रामायणे ॥ १०७ ॥

द्व्यक्षरः ।

शूरः शौरिरशिशिरैराशाशैराशु राशिशः ।
शारारुः श्रीशरीरेशः शुशूरेऽरि शिरः शरैः ॥ १०८ ॥

शूर इति । शृणातीति शरारुः दुष्टघातुकः 'शरारुर्घातुको हिंस्रः' इत्यमरः । "शृवन्द्योरारुः" इत्यारुप्रत्ययः । श्रीशरीरस्येशः श्रीशरीरेशः लक्ष्मीप्राणनाथः । शूरो वीरः शौरिः कृष्ण अशिशिरै-स्तीक्ष्णैः आशा दिशोऽश्नुवत इत्याशाशैर्दिगन्तव्यापकैः।अश्नोतेः कर्मण्यण् । शरैर्बाणैः अरिशिरः शत्रुशिरांसि । जातावेकवचनम् । राशिशः सघशः आशु शीघ्रं शुशूरे जघान । 'शूर हिंसास्त-म्भनयोः ' इति धातोर्लिट् । द्व्यक्षरानुप्रासः ॥ १०८ ॥

व्यक्तासीदरितारीणां यत्तदीयास्तदा मुहुः ।
मनोहृतोऽपि हृदये लेगुर्नैषान्न पत्रिणः ॥ १०९ ॥

व्यक्तेति । तदा तस्मिन्समये एषाम् अरीणामरिता शत्रुता मुहुर्व्यक्ता आसीत् । यद्यस्मा-त्तस्य हरेरिमे तदीया पत्रिणो बाणाः मनो हरन्ति कायादुद्धरन्ति इति मनोहृतो मारका इत्यर्थः । हरतेः क्विप् । मनोज्ञाः प्रतीयन्ते । अत एव मनोहृतोऽपि हृदये मनसि न लेगुर्न लग्नाः इति विरोधः । वक्षो निर्भिद्य निर्जग्मुरित्यर्थः । ' हृदय वक्षसि स्वान्ते' इति विश्वः । विरोधाभासोऽलङ्कारः ॥ १०९ ॥

अतालव्यः ।

नामाक्षराणां मलिता मा भूद्भर्तुरतः स्फुटम् ।
अगृह्णत पराङ्गानामसूनस्रं न मार्गणाः ॥ ११० ॥

नामेति । भर्तुः स्वामिनो नामाक्षराणा फलेषु लिखितानां मलिता मालिन्य तिरोधानं मा भूदिति बुद्ध्येत्यर्थः । अतः मार्गणाः हरिशराः पराङ्गानाम् अरिशरीराणाम् । असून् प्राणान् अगृह्णत । ग्रहेर्लङ् । न अस्रं रक्तं रक्ताविलेपस्य आशुभावनिमित्तस्य स्वामिनामा-क्षरमालिन्यपरिहारार्थत्वमुत्प्रेक्ष्यते । स्फुटमिति । अत्र तालव्यवर्णाभावाददतालव्य इति चित्रभेदः । ' इचुयशानां तालु' इति इवर्णस्यापि तालुत्वेऽपि व्यञ्जनापेक्ष एवाय नियम इति न दोषः ॥ ११० ॥

आच्छिद्य योधसार्थस्य प्राणसर्व्वस्वमाशुगाः ।
ऐकागारिकवद्भूमौ दूराज्जग्मुरदर्शनम् ॥ १११ ॥

आच्छिद्येति । आशुगा. वाणाः योधसार्थस्य वीरवर्गस्य प्राणसर्व्वस्वम् आच्छिद्य ऐकागारिकाश्चौराः । 'चौरैकागारिकस्तेनाः' इत्यमरः । "ऐकागारिकट् चौरे" इत्यर्थे निपात्यते इत्येके । 'इकट्प्रत्यये वृद्धिश्च निपात्यते' इत्यपरे । तैस्तुल्यमैकारिकवत् । तुल्यार्थे वतिः । दूराद्भमात्रदर्शनमदृश्यता जग्मु. ॥ १११ ॥

भीमास्त्रराजिनस्तस्य बलस्य ध्वजराजिनः ।
कृतघोराजिनश्चक्रे भुवः सरुधिरा जिनः ॥ ११२ ॥

भीमेति । जिनो हरि अवतारान्तरनाम्ना व्यपदेशः भीमा अस्त्रराजयो यस्य तस्य भीमास्त्रराजिन' । "इकोऽचि विभक्तौ" इति नुमागमः । ध्वजैराजते यत्तस्य ध्वजराजिनः । ताच्छील्ये णिनिः । कृता घोरा आजिर्युद्ध येन तस्य कृतघोराजिनः । पूर्ववन्नुमागमः । तस्य बलस्य सैन्यस्य सम्बन्धिनीर्भुवस्तद्रणभूमी. सरुधिराः सास्राश्चक्रे । चतुष्पादयमकम् ॥ ११२ ॥

मांसव्यधोचितमुखैः शून्यतां दधदक्रियम् ।
शकुन्तिभिः शत्रुबलं व्यापि तस्येषुभिर्नभः ॥ ११३ ॥

मासेति । मासव्यधो मासखण्डनम् । "व्यधजपोरनुपसर्गे" इत्यप्प्रत्ययः । तत्रोचितानि परिचितानि मुखानि चञ्चव शल्यानि च येषा ते शकुन्तिभिः । कर्तृभिः । शून्यताम-चेतनत्वम् अन्यत्र तुच्छत्वममूर्त्तत्व वा दधत् अत एव अक्रियमस्पद शत्रुबल व्यापि व्याप्तम् । आप्नोते. कर्म्मणि लुङ् । तस्य हरेरिषुभि' नभो व्यापि । अत्रेषुपक्षिणा नभोबलयोर्व्याप्तितुल्य-धर्म्मयोगित्वात्तुल्ययोगितामेद. ॥ ११३ ॥

एकाक्षरः ।

दाददो दुद्दुद्दादी दादादो दूददीददोः ।
दुद्दादं दददे दुद्दे ददाददददोऽददः ॥ ११४ ॥

दाद्द इति । दद्यते इति दादः दानम् । 'दद दाने' इति धातोः कर्म्मणि घञ् । दादन्ददातीति दाददो दानप्रद' । "आतोऽनुपसर्गे कः" । दुद्दुद्दादी दुत् उपताप. । 'टुदु उपतापे' क्विप् । तद्दुतमुपताप ददति साधूनामिति दुद्दा. खलाः । पूर्ववत्कः । तेषा दुतमुपताप ददत् इति दुद्दुद्दादी । 'दद दाने' इति धातोर्णिनिः । दादादः । दाः शुद्धिः । 'दैप् शोधने' क्विप् । ता ददत इति दादादः।'दद दाने' कर्म्मण्यण् । दूददीददो. । दू' परितापः 'दूङ् परितापे' क्विप् । तां ददातीति दूदाः दुष्टाः दीः क्षयः । 'दीङ् क्षये' क्विप् । ता दत्त इति दीदौ नाशदौ । उभयत्र "आतोऽनुपसर्गे कः" दूदाना दीदौ दुष्टमर्दकौ दोषौ भुजौ यस्य

सः दूददीददोः दुष्टमञ्जकभुज इत्यर्थः । ददादददः । ददन्ते इति ददा. दातारः न ददन्ते इति अददाः अदातारः तेषां द्वयानामपि ददो दाता ददाददः । सर्वत्र 'दद दाने' पचाद्यच् । अदन्तीत्यदा बकासुरपूतनाप्रभृतयः । अदः पचाद्यच् । तान् द्यति खण्डयति इति अददः 'दोऽवखण्डने' "आतोऽनुपसर्गे कः" । एवम्भूतो हरिः दुतं ददातीति दुदः दुःखदः तस्मिन् दुदे शत्रौ दुत ददत इति दुदाद शस्त्रम् । 'दद दाने' "कर्म्मण्यण्" । दददे ददौ प्रयुक्तवानित्यर्थः । "'दद दाने' कर्त्तरि लिट् । एकाक्षरानुप्रासोऽलङ्कारः ॥ ११४ ॥

प्लुतेभकुम्भोरसिजैर्हृदयक्षतिजन्मभिः ।
प्रावर्तयन्नदीरस्रैर्द्विषां तद्योषितां च सः ॥ ११५ ॥

प्लुतेति । स हरिः प्लुताः उक्षिताः इभकुम्भाः उरसि जाता उरसिजा इव इभकुम्भा इवोरसिजाश्च यैस्तैः । हृदयक्षतिभिर्वक्षः प्रहारैः मनोभङ्गैश्च विषादापादकैः जन्म येषां तैः । 'हृदयं वक्षसि स्वान्ते' इति विश्वः । द्विषां तद्योषितां चास्रैः शोणितैरश्रुभिश्च । 'अस्रमश्रुणि शोणिते' इति विश्वः । नदीः प्रावर्त्तयत् प्रावाहयत् । अरिवधेन तन्नारीररोदयदित्यर्थः । अत्र द्वयानामप्यस्राणां प्रकृतत्वात्प्रकृतश्लेषः । तैरस्रैर्द्विषां तद्योषितां यथासंख्यसम्बन्धाद्यथासंख्यालङ्कारः । तदुपजीवनेन द्विषां तद्योषितां चास्रैः शोणितैः श्लेषमूलाभेदातिशयोक्तिमहिम्ना अस्ररूपतुल्यधर्म्मयोगित्वात्तुल्ययोगितेत्यङ्गाङ्गिभावेनैषां सङ्करः ॥ ११५ ॥

अर्थत्रयवाची ।

सदामदबलप्रायः समुद्धृतरसो बभौ ।
प्रतीतविक्रमः श्रीमान्हरिर्हरिरिवापरः ॥ ११६ ॥

सदेति । सदा मदो यस्य स सदामदः नित्यमत्तस्तं बलं बलभद्रं प्रीणातीति सदामदबलप्रायः । परत्वात्कर्म्मण्यण्प्रत्ययः । समुद्धृता रसा भूर्येन स समुद्धृतरसः प्रतीताः प्रसिद्धाः विक्रमाः पादन्यासा यस्य सः । त्रिविक्रम इत्यर्थः । श्रीमान् रमापतिः हरिः कृष्णोऽपरोऽन्यो हरिरिन्द्र इव बभौ सोऽपि सतामामदो दुःखदो यो बलासुरस्तस्य प्रायो नाशस्तं करोतीति सदामदबलप्रायः । "तत्करोति" इति ण्यन्तात्पचाद्यच् । समुद्धृतरसः अमृतपानेन सम्यगपहृतविषः । 'शृङ्गारादौ विषे वीर्य्ये द्रवे रागे गुणे रसः' इत्यमरः । प्रतीतविक्रमः प्रसिद्धपराक्रमः श्रीमान् स्वाराज्यलक्ष्मीयुक्तः । तथाऽपरोन्यो हरिः सूर्य्य इव बभौ । सोऽपि आमं रोगं द्यति खण्डयतीति आमदः । बलं पृणातीति बलप्रः । मूलविभुजादित्वात्कः । सतां भक्तानामामदो बलप्रश्च अयः उदयो यस्य स सदामदबलप्रायः । स्वोदयेन सतामारोग्यबलकारीत्यर्थः । 'उद्यन्नद्य' इत्यादिश्रुतेरिति भावः । समुद्धृतरसः घर्म्मकालसंशोषितसलिलः । प्रतीतविक्रमः प्रसिद्धखगगतिः । 'यमानिलेन्द्रचन्द्रार्कविष्णुसिंहांशुवाजिषु । शुकाहिकपिभेकेषु हरिर्ना कपिले त्रिषु' इत्यमरः । तदेवमुपमानयोरुपमेये चार्थत्रयवचनादर्थत्रयवाच्येष चित्रभेदः । एतावदेव कवेर्विवक्षितमतोऽन्यत्सुवाच्यत्वोपेक्ष्यमेव । अत्रापरो हरिरिवेत्यपरशब्दप्रयोगादुत्प्रेक्षेय

नोपमा । अन्यस्येन्द्रस्यार्कस्य वाऽप्रसिद्धेः । प्रसिद्धसादृश्यवर्णनमुपमा । प्रसिद्धताद्रूप्यारोपे रूपकम् । प्रसिद्धताद्रूप्यभावनमुत्प्रेक्षा । अत एव लक्षयन्ति । 'अप्रकृतगुणक्रियाभिसन्धानादप्रकृतत्वेन प्रकृतस्य भावनमुत्प्रेक्षा' इति तस्मादपरशब्देन प्रकृतस्याप्रकृतत्वाध्यवसायप्रतीतेरिवशब्देन तस्य साध्यत्वप्रतीतेरुत्प्रेक्षैवेति सर्वस्वकारः । तस्मादिवशब्दमात्रप्रयोग एवोपमा । अपरशब्दमात्रप्रयोगेऽतिशयोक्तिः । उभयोः प्रयोगे तूत्प्रेक्षैवेति विवेकः । अत एवात्रानेकार्थवर्णनव्यवसायिभिरपरशब्दस्यान्यार्थवाच्यतिरेकेणार्थान्तरकल्पनापि नालङ्कारिकाणां पन्था । श्लेषश्चात्रोत्प्रेक्षाबीजभूतमात्रमस्यनिर्वाहमात्रोपक्षीणतया तदङ्गमिति सङ्करः इत्यलमतिप्रसक्त्या ॥ ११६ ॥

द्विधा त्रिधा चतुर्द्धा च तमेकमपि शत्रवः ।
पश्यन्तः स्पर्द्धया सद्यः स्वयं पञ्चत्वमाययुः ॥ ११७ ॥

द्विधेति । शत्रवः एकमपि तं हरिं द्विधा द्वित्वेन त्रिधा त्रित्वेन चतुर्द्धा चतुष्टयेन पश्यन्तः भयात्तथा भ्राम्यन्त इत्यर्थः । स्पर्द्धया मत्सरेण सद्यः स्वयं पञ्चत्वं पञ्चधाभावं मरणं चाययुः । मत्सरिणस्तद्विक्रमाचरन्तीति भावः । 'स्यात्पञ्चता कालधर्मो दिष्टान्तः प्रलयोऽत्ययः । अन्तो नाशो द्वयोर्मृत्युर्मरणं निधनोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः । पाञ्चभौतिकस्य शरीरस्य पञ्चधाभावः पञ्चता । अत्र स्पर्द्धेति हेतोरुत्प्रेक्षणाद्धेतूत्प्रेक्षा सा च व्यञ्जकाप्रयोगाद्गम्या स्पर्द्धयेवेत्यर्थः ॥ ११७ ॥

समुद्गः ।

सदैव सम्पन्नवपू रणेषु स दैवसम्पन्नवपूरणेषु ।
महो दधेऽस्तारिमहानितान्तं महोदधेऽस्तारिमहा नितान्तम् ॥ ११८ ॥

सदेति । सदैव सर्वदैव सम्पन्नं सर्वलक्षणसमग्रं वपुर्यस्य स सम्पन्नवपुर्नित्यपरिपूर्णमूर्त्तिः । संहितायाम् "ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः" अस्ता निरस्तमरीणां महस्तेजो येनासौ अस्तारिमहा महानधिकः स हरिः दैवसम्पद् भाग्यसम्पत्तिः सैव नवं पूरणं प्रत्ययसाधनं येषां तेषु दैवसम्पन्नवपूरणेषु रणेषु दैवसहायेषु महोदधेर्महार्णवस्य इतान्तं प्राप्तपारं समुद्रपारगामि नितान्तं स्तारं विस्तीर्णं महस्तेजो दधे धारयामास । अर्द्धाभ्यासलक्षणसमुद्गयमकभेदः । 'अर्द्धाभ्याससमुद्गः स्यादस्य भेदास्त्रयो मताः' इत्युक्तं दण्डिना । उपेन्द्रवज्रा वृत्तम् ॥ ११८ ॥

इष्टं कृत्वार्थं पत्रिणः शार्ङ्गपाणेरेत्याधोमुख्यं प्राविशन् भूमिमाशु ।
शुद्ध्या युक्तानां वैरिवर्गस्य मध्ये भर्त्रा क्षिप्तानामेतदेवानुरूपम् ॥ ११९ ॥

इष्टमिति । शार्ङ्गं पाणौ यस्य तस्य शार्ङ्गपाणेः कृष्णस्य । "प्रहरणार्थेभ्यः परे निष्ठासप्तम्यौ भवतः" इति पाणेः परनिपातः । पत्रिणो बाणा इष्टमर्थं शत्रुवधात्मकं कृत्वा आधोमुख्यम् अधोमुखत्वमेत्य प्राप्य आशु भूमिमाविशन् शुद्ध्या लोहशुद्ध्या पवित्रतया च युक्तानां तथापि

भर्त्रा स्वामिना वैरिवर्गस्य मध्ये क्षिप्तानां पातितानाम् एतदेव आधोमुख्येन कश्चिन्निलयनमेवानुरूपमुचितम्। सामान्येन विशेषसमर्थनरूपार्थान्तरन्यासः। जगत्यां वैश्वदेवीवृत्तम्। 'पञ्चाश्वैश्छिन्ना वैश्वदेवी ममौ यौ' इति लक्षणात्॥ ११९॥

चक्रबन्धः।

सत्त्वं मानविशिष्टमाजिरभसादालम्ब्य भव्यः पुरो लब्धाघक्षयशुद्धिरुद्धुरतरश्रीवत्सभूमिर्मुदा। मुक्त्वा काममपास्तभीः परनृगव्याधः स नादं हरेरेकौघैः समकालमभ्रमुदयी रोपैस्तदातस्तरे॥ १२०॥

इति श्रीमाघकविकृतौ शिशुपालवधे महाकाव्ये एकोनविंशतितमः सर्गः॥ १९॥

सत्त्वमिति। भव्यः कल्याणमूर्तिः लब्धोऽघक्षयः शुद्धिश्च येन स लब्धाघक्षयशुद्धिः श्रीवत्सस्य लाञ्छनविशेषस्य भूमिर्वक्षः सा उद्धुरतरा उन्नततरा यस्य स उद्धुरतरश्रीवत्सभूमिः काममपास्तभीः निर्भीकः परे शत्रवस्त एव मृगास्तेषां व्याधः मृगयुरित्यश्लिष्टरूपकम्। 'व्याधो मृगवधाजीवो मृगयुर्लुब्धकोऽपि च' इत्यमरः। उदयी नित्याभ्युदयवान्। नित्ययोगे मत्वर्थीयः। स हरिः पुरः पूर्वम् आजिरभसात् रणरागात् मानविशिष्टमहङ्कारोद्धुरं सत्त्वं बलम् आलम्ब्यास्थाय मुदा उत्साहेन हरेः सिंहस्य नादं मुक्त्वा सिंहनादं कृत्वेत्यर्थः। समकालमेककालम्। अत्यन्तसंयोगे द्वितीया। एक ओघो येषां तैः एकौघैः एकप्रहारैः रोपैरिषुभिरभ्रमाकाशं तदा तस्मिन् काले आतस्तरे आच्छादयामास "ऋच्छत्यृताम्" इति गुणः। चक्रबन्धाख्यश्चित्रविशेषोऽलङ्कारः पूर्वोक्तरूपकेण संसृज्यते। चक्रबन्धोद्धारस्तु। दशमण्डलरेखात्मके नवमण्डलान्तरालवति चक्रे नाभिस्थानेन सहैकोनविंशतिकोष्ठं प्रत्येकं द्व्यक्षगतं पङ्क्तित्रयं समरेखया लिखित्वा तत्रैकस्यां पङ्क्तौ वामपार्श्वक्रमेण आद्यपादमालिख्य तथा प्रादक्षिण्येन द्वितीयतृतीययोर्द्वितीयतृतीयौ लिखित्वा नेमिस्थाने बाह्यवलये साक्षरकोष्ठषट्केन सहाष्टादशकोष्ठवति तृतीयपादान्तकोष्ठवर्तिवर्णमारभ्य प्रादक्षिण्येन चतुर्थपादं लिखित्वा तत्रैव समापयेत्। तत्र तत्राद्यन्तवर्णैः सह चतुर्थपादोद्धारः। तत्र नाभिस्थाने अद्यपादत्रयदशमाक्षरसंवादः। तृतीयान्तकोष्ठे चतुर्थाद्यन्तवर्णयोः संवादः। तृतीयवलये माघकाव्यमिदं षष्ठे शिशुपालवध इति कविकाव्यनामोद्धारः। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम्॥ १२०॥

इति श्रीमहामहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचिते माघकाव्यव्याख्याने सर्वङ्कषाख्ये एकोनविंशतितमः सर्गः॥ १९॥

विंशः सर्गः ।

अथ हरिशिशुपालयोर्युद्धं वर्णयितुमुपोद्‌घातं करोति—

मुखमुल्लसितत्रिरेखमुच्चैर्भिदुरभ्रूयुगभीषणं दधानः ।
समिताविति विक्रमानमृष्यन्गतभीराह्वत चेदिराण्मुरारिम् ॥ १ ॥

मुखमिति । इतीत्थं समितावाजौ । 'समित्याजिसमिद्युधः' इत्यमरः । विक्रमान् मुरारेः पराक्रमान् अमृष्यन् असहमान अतएव तिस्रो रेखास्त्रिरेखाः । "दिक्सङ्ख्ये सञ्ज्ञायाम्" इति समासः । ता उल्लसिता क्रोधादुद्भूता यस्मिन् तदुल्लसितत्रिरेखम् । क्वचित्त्रिलोकमित्यपि पाठः । तथा भिदुरेण ग्रन्थिलेन भ्रूयुगेन भीषणं भयङ्करम् उच्चैरुन्नतं मुखं दधानः चेदिषु राजते चेदिराट् । "सम्पदादिभ्यः क्विप्" । यद्वा चेदीनां राट् चेदिराट् । "अन्येभ्योऽपि दृश्यते" इति क्विप् । 'राजा राट् पार्थिवक्ष्माभृत्' इत्यमरः । गतभीः निर्भीकः सन् मुरारिं हरिम् आह्वत । अयमहं कालि मामभ्युपैहि इति स्पर्द्धया आमर्यादाकारयामासेत्यर्थः । विनाशकाले विपरीतबुद्धेर्दुर्वारत्वादिति भावः । "स्पर्द्धायामाङः" इति ह्वयतेर्लुङि तङ् 'आत्मनेपदेष्वन्यतरस्याम्' इति च्लेरङादेशः । अत्रामर्षस्य विशेषणगत्या आह्वानहेतुत्वात् काव्यलिङ्गम् । सर्गेऽस्मिन्नौपच्छन्दसिकं वृत्तम् । वैतालीये गुर्व्वाधिक्यात् । तदुक्तम् 'वैतालीये द्वि स्वरा अयुक्पादे युग्वसवोऽन्ते र्लगौ औपच्छन्दसिकम्' इति ॥ १ ॥

शितचक्रनिपातसम्प्रतीक्षं वहतः स्कन्धगतं च तस्य मृत्युम् ।
अभिशौरि रथोऽथ नोदिताश्वः प्रययौ सारथिरूपया नियत्या ॥ २ ॥

शितेति । अथ आह्वानानन्तरं शितचक्रनिपातं सितसुदर्शनप्रहारं सम्प्रतीक्षत इति शितचक्रनिपातसम्प्रतीक्षम् । ईक्षतेः कर्म्मण्यण् । स्कन्धगतं मृत्युं वहतः तस्य चैद्यस्य रथः सारथिरूपया नियत्या विधिनेति रूपकम् । 'भाग्यं स्त्री नियतिर्विधिः' इत्यमरः । नोदिताश्वः प्रेरिताश्वः सन् अभिशौरि शौरिमभि । आभिमुख्येऽव्ययीभावः । "अव्ययादाप्सुपः" इति सुपो लुक् । प्रययौ प्रतस्थे ॥ २ ॥

अभिचैद्यमगाद्रथोऽपि शौरेरवनिं जागुडकुङ्कुमाभिताम्रैः ।
गुरुनेमिनिपीडनावदीर्णव्यसुदेहस्रुतशोणितैर्विलिम्पन् ॥ ३ ॥

अभीति । अथ शौरेः कृष्णस्य रथोऽपि जागुडो देशविशेषः तत्र यत्कुङ्कुमं तद्वदभिताम्रैररुणैरित्युपमा । यावकेति पाठे यावकश्च कुङ्कुमं च ताभ्यामभिताम्रैरित्यर्थः । गुरूणां नेमीनां चक्रधाराणां निपीडनेन नोदनेनावदीर्णेभ्यो व्यसूनां विगतप्राणानां देहेभ्यः स्रुतैः शोणि-

तैरसृग्भिरवनिं विलिम्पन् उपढिहानः सन् । अभिचैद्य चैद्यमभि । समासो व्यासो वा विकल्पात् । अगात् । "इणो गा लुङि" इति गादेश' ॥ ३ ॥

स निरायतकेतनांशुकान्तः कलनिक्वाणकरालकिङ्किणीकः ।
विरराज रिपुक्षयप्रतिज्ञामुखरो मुक्तशिखः स्वयं नु मृत्युः ॥ ४ ॥

स इति । निरायतोऽतिदीर्घ. केतनांशुकान्तः ध्वजपटाञ्चलो यस्य स. कलनिक्वाणैः मधुरस्वरैः कराला कुशला प्रगल्भाः किङ्किण्यः क्षुद्रघण्टिका यस्य स. तथोक्तः । "नद्यृतश्च" इति कप् । ' किङ्किणी क्षुद्रघण्टिका' इत्यमरः । स कृष्णस्य रथः रिपुक्षयस्य शिशुपालवधस्य प्रतिज्ञया मुखरो वाचाल. अत एव मुक्तशिखो मुक्तकेशः । विरराज नाहमेनमहत्वा शिखाबन्धं करिष्यामीत्युद्घोषयन्नित्यर्थ । स्वय साक्षान्नु मृत्युरन्तकः किमित्युत्प्रेक्षा ॥ ४ ॥

सजलाम्बुधरारवानुकारी ध्वनिरापूरितदिङ्मुखो रथस्य ।
प्रगुणीकृतकेकमूर्द्धकण्ठैः शितिकण्ठैरुपकर्णयाम्बभूवे ॥ ५ ॥

सजलेति । सजलो योऽम्बुधर तस्यारव गर्जितमनुकरोतीति तथोक्त' तद्वद्गम्भीर इत्यर्थ' । उपमालङ्कारः । आपूरितदिङ्मुखो व्याप्तदिगन्तो रथस्य कृष्णरथस्य ध्वनि ऊर्ध्वाः कण्ठाः येषां तैरूर्द्ध्वकण्ठै । आकस्मिकाम्बररवलोभाद्विस्मयहर्षोन्नमितकन्धरैरित्यर्थः । शितिकण्ठैर्नीलकण्ठैः प्रगुणीकृता अतितारीकृताः केका यस्मिन् कर्मणि तद्यथा तथा । 'केका वाणी मयूरस्य' इत्यमर. । उपकर्णयाम्बभूवे । मेघारवभ्रान्त्या दत्तकर्णैरित्यर्थः । एतेन भ्रान्तिमदलङ्कारो व्यज्यत इति वस्तुनालङ्कारध्वनिः ॥ ५ ॥

अभिवीक्ष्य विदर्भराजपुत्रीकुचकाश्मीरजचिह्नमच्युतोरः ।
चिरसेवितयापि चेदिराजः सहसावाप रुषा तदैव योगम् ॥ ६ ॥

अभीति । चेदिराज शिशुपाल । "राजाह सखिभ्यष्टच्" इति टच् । विदर्भराजपुत्र्या रुक्मिण्या कुचयोर्यत्काश्मीरज कुङ्कुम तच्चिह्न यस्य तदच्युतोरः कृष्णवक्षः अभिवीक्ष्य चिरसेवितया चिरोपयुजापि रुक्मिणीहरणात्प्रभृति सम्भृतयापीत्यर्थः । रुषा रोषेण तदैव तदानीमिवेत्युत्प्रेक्षा । सहसा योग सम्बन्धमवाप । यथा कामी काम्यन्तरभोगचिह्नदर्शनोद्दीप्त. कान्तया सयुज्यते तद्वदित्यर्थः । परमार्थस्वरूप एव कोपो वैदर्भीकुचकुङ्कुमदर्शनादुद्दीपित इत्यर्थ । अत्र प्रकृतरुड्विशेषणसाम्यादप्रकृतकान्ताप्रतीतेः समासोक्तिः । उक्तोत्प्रेक्षा त्वङ्गमस्याः ॥ ६ ॥

जनिताशनिशब्दशङ्कमुच्चैर्धनुरास्फालितमध्वनन्नृपेण ।
चपलानिलचोद्यमानकल्पक्षयकालाग्निशिखानिभस्फुरज्ज्यम् ॥ ७ ॥

जनितेति । नृपेण चेदिपेन आस्फालित सघट्टितम् अत एव चपलानिलेन तीव्रानिलेन चोद्यमानस्य सवर्द्धमानस्य कल्पक्षयकालाग्नेर्या शिखा ज्वाला तया समाना तन्निभा ६

इति नित्यसमासः । सा स्फुरन्ती दोधूयमाना ज्या मौर्वी यस्य तत्तथोक्त धनुः जनिता उत्पादिता अशनिशब्दशङ्का यस्मिन् कर्म्मणि तत्तथोक्तम् । उच्चैस्तरामध्वनत् । अत्राग्निशिखानिमेत्यु-पमाया अशनिशब्दशङ्केति भ्रान्तिमतः आस्फालितमध्वनदिति पदार्थहेतुककाव्यालिङ्गस्य च सापेक्षत्वात्सङ्करः ॥ ७ ॥

समकालमिवाभिलक्षणीयग्रहसन्धानविकर्षणापवर्गैः ।
अथ साभिसरं शरैस्तरस्वी स तिरस्कर्तुमुपेन्द्रमभ्यवर्षत् ॥ ८ ॥

समेति । अथ धनुरास्फालनानन्तर तरस्वी बलवान् स चैद्य. समकालमिवेत्यु-त्प्रेक्षा । अत्यन्तसयोगे द्वितीया । अभिलक्षणीया दृश्या ग्रहो ग्रहण सन्धान मौर्व्या योजन विकर्षणमाकर्षणमपवर्गो मोक्षश्च येषा तै· शरै· साभिसर सानुचरम् उपेन्द्र हरिं तिरस्कर्तुमाच्छा-दयितुमभ्यवर्षत् ॥ ८ ॥

ऋजुताफलशुद्धियोगभाजां गुरुपक्षाश्रयिणां शिलीमुखानाम् ।
गुणिना नतिमागतेन सन्धिः सह चापेन समञ्जसो बभूव ॥ ९ ॥

ऋजुतेति । ऋजुता अवक्रत्वम् अकुटिलबुद्धित्व च फलं शल्य श्रेयश्च तेन योगः शुद्धि-र्लोहशुद्धिर्निर्विषयत्व च अन्यत्र बाह्याभ्यन्तरशुद्धिस्ता भजन्तीति तद्भाजा गुरोर्महतः पक्षस्य कङ्कादिपत्रस्य सहायस्य चाश्रयः आश्रयणमेषामस्तीति गुरुपक्षाश्रयिणा शिलीमुखानां शराणां गुणिना ज्यावता नतिमागतेन आकर्षणाकुञ्चितकोटित्व विधेयत्व च प्राप्तेन चापेन सह सन्धिः सम्बन्ध. समञ्जसः साधीयान् बभूव । अवलवता वलिना नम्रेण सन्धिरेवोचितेति भाव । अत्र प्रस्तुतचापशिलीमुखयोर्विशेषणसाम्यादप्रस्तुतारिविजिगीषुवस्तुप्रतीतेः समासोक्ति. । तच्च साम्यं वाच्यप्रतीयमानयोरभेदाध्यवसायात्सिद्धम् । न चात्र समानालङ्कारशङ्का कार्य्या 'सामानालङ्कृ-तिर्योगे वस्तुनोरनुरूपयो.' इत्यनुरूपयोरेव वस्तुनोर्योगेन तस्योपस्थापनादित्यनुसन्धेयम् । जिगी-षुगुणयोगिनोरिह भेदात् ॥ ९ ॥

अविषह्यतमे कृताधिकारं वशिना कर्म्मणि चेदिपार्थिवेन ।
असरद्धनुरुच्चकैर्दृढार्त्तिप्रसभाकर्षणवेपमानजीवम् ॥ १० ॥

अविषह्येति । वशिना स्वतन्त्रेण चेदिपार्थिवेन अविषह्यतमे दुष्करे कर्म्मण्यरिजय-व्यापारे कृताधिकार कृतनियोगम् । नियुज्यमानमित्यर्थः । अत एव दृढयोरत्योः कोटयोः प्रस-भाकर्षणेन वेपमाना दोधूयमाना जीवा ज्या यस्य तत् । अन्यत्र दृढयार्त्या ताडनेन प्रसभाकर्ष-णेन च वेपमानः कम्पमानो जीवः प्राणो यस्येत्यर्थः । 'अर्त्ति पीडाधनुष्कोटयो.' इत्यमरः । 'जीवः प्राणे स्त्रिया ना तु जन्तावात्मनि गीष्पतौ । त्रिषु जीवति मौर्व्यां स्त्री' इति वैजयन्ती । धनु-रुच्चकैरसरत् अध्वनदाक्रन्दत् । यथा राज्ञा नियुक्तः पराधीन· बलादाकृष्यमाणः क्रोशति तद्व-दित्यर्थः । अत्रापि प्रकृतविशेषणसाम्यादप्रकृततापराध्याधिकृतपुरुषप्रतीतेः समासोक्तिः ॥ १० ॥

अनुसन्ततिपातिनः पटुत्वं दधतः शुद्धिभृतो गृहीतपक्षाः ।
वदनादिव वादिनोऽथ शब्दाः क्षितिभर्त्तुर्धनुषः शराः प्रसस्रुः ॥ ११ ॥

अन्विति । अथाकर्षणानन्तरं क्षितिभर्त्तुश्चैद्यस्य धनुषः सकाशात् अनुसन्तत्या पतन्तीति अनुसन्ततिपातिनोऽविच्छेदवर्त्तिन. पटुत्वं लक्ष्यभेदपाटवं वाचकत्वशक्तिं च दधतः शुद्धिभृतः लोहशुद्धिभृतः निर्विषा वा अन्यत्र सावद्य इत्यर्थः । गृहीतपक्षा. स्वीकृतकङ्कादिपत्राः । अन्यत्र गृहीतनित्यत्वादिसाध्यार्थाः । 'पक्षः पार्श्वगरुत्साध्यसहायबलभित्तिषु' इति वैजयन्ती । शराः वादिन कथकस्य वदनाच्छब्दा. प्रतिज्ञाहेत्वादय इव प्रसस्रुर्निर्जग्मुः । श्लिष्टविशेषणेयमुपमेति केचित् । श्लेष एव प्रकृताप्रकृतविषय इत्यन्ये ॥ ११ ॥

गवलासितकान्ति तस्य मध्यस्थितघोरायतबाहुदण्डनासम् ।
ददृशे कुपितान्तकोन्नमद्भ्रूयुगभीमाकृति कार्म्मुकं जनेन ॥ १२ ॥

गवलेति । 'गवल माहिष शृङ्गम्' इत्यमरः । तद्वदसितकान्ति कृष्णवर्णं मध्ये स्थिता घोरा भीमा आयता च बाहुदण्डो नासा नासिकेव यस्मिन् तत्तथोक्तम् । कुपितस्यान्तकस्य मृत्योरुन्नतं यद्भ्रूयुग तद्वद्भीमा आकृतिर्यस्य तत्तस्य चैद्यस्य कार्म्मुकम् । जनेन ददृशे दृष्ट समयविस्मयमिति भाव । उपमालङ्कारः ॥ १२ ॥

तडिदुज्ज्वलजातरूपपुङ्खैः खमयःश्याममुखैरभिध्वनद्भिः ।
जलदैरिव रंहसा पतद्भिः पिदधे संहतिशालिभिः शरौघैः ॥ १३ ॥

तडिदिति । तडिद्वदुज्ज्वला दीप्ता जातरूपस्य हेम्नः पुङ्खा कर्त्तर्यो येषां तैः । अयोवत् श्याममुखैः श्यामाग्रैरभिध्वनद्भिर्ध्वनिभि. स्वनत्पक्षैर्गर्जद्भिश्च रंहसा वेगेन पतद्भिर्धावद्भिः संहतिशालिभिः सङ्घवाहिभिः शरौघैर्जलदैरिव खमाकाशं पिदधे पिहितम् । कर्म्मणि लिट् । "वष्टि भागुरिरल्लोपमवाप्योरुपसर्गयोः" इत्यपेरकारलोपः । उपमालङ्कारः ॥ १३ ॥

शितशल्यमुखावदीर्णमेघक्षरदम्भःस्फुटतीव्रवेदनानाम् ।
स्रवदश्रुततीव चक्रवालं ककुभामौर्णविषुः सुवर्णपुङ्खाः ॥ १४ ॥

शितेति । सुवर्णपुङ्खा. सुवर्णकर्त्तरिका शरा शितैर्निशितैः शल्यमुखैः फलाग्रैः अवदीर्णा अवभिन्ना ये मेघास्तेभ्यः क्षरता स्रवता अम्भसा स्फुटा व्यक्ता तीव्रा वेदना यासा तासां ककुभां सम्बन्धि स्रवन्ती अश्रुततिरश्रुसन्ततिर्यस्य तदिव शरप्रहारवेदनया रुददिव स्थितमित्युत्प्रेक्षा । चक्रवाल मण्डलमौर्णविषुः आच्छादयामासुः । ऊर्णोतेर्लुङीडागमे तस्य "विभाषोर्णोः" इति ङित्वाभावपक्षे "ऊर्णोतेर्विभाषा" इति वृद्धिविकल्पात्पक्षे गुणः । अजादित्वात् । "आटश्च" इति वृद्धि ॥ १४ ॥

अमनोरमतां यती जनस्य क्षणमालोकपथान्नभःसदां वा ।
रुरुधे पिहिताहिमद्युतिर्द्यौर्विशिखैरन्तरिता च्युता धरित्री ॥ १५ ॥

अमन इति। विशिखैश्चैद्यबाणैः कर्तृभिः। पिहिता हिमद्युतिस्तिरोहितार्का। अत एवामनोरमयतां यती प्राप्नुवती। इणः शतरि "उगितश्च" इति ङीप्। द्यौराकाशं जनस्य भौमलोकस्य आलोकपथात् दृष्टिमार्ग्गात् क्षणं रुरुधे रुद्धा। रुधेः कर्म्मणि लिट्। अत्र पथो रोधापायत्वात् 'ध्रुवमपायेऽपादानम्' इति अपादानत्वेन पञ्चमी। तथान्तरिता च्युता तिरोहिता नष्टा अत एवामनोरमता यती धरित्री नभःसदा वा आलोकपथात् रुरुधे वाकारो जनसमुच्चयार्थः। अत्र द्युधरित्र्योः प्रकृतयोरेव रोधाख्यतुल्यधर्म्मयोगात्तुल्ययोगिताभेदौ ताभ्यामेव जनस्य नभःसदा यथासंख्यान्वयाद्यथासंख्यालङ्कारः सापेक्षतया सङ्कीर्य्यते ॥ १५ ॥

विनिवारितभानुतापमेकं सकलस्यापि मुरद्विषो बलस्य।
शरजालमयं समं समन्तादुरु सद्मेव नराधिपेन तेने ॥ १६ ॥

विनिवारितेति। नराधिपेन सकलस्यापि मुरद्विषो हरेर्बलस्य सैन्यस्य विनिवारितो भानुतापो येन तदेकमद्वितीयं शरजालमयं बाणवृन्दात्मकम् उरु महत्सद्मेव सदनमिवेत्युत्प्रेक्षा। समं युगपत्समन्तात्तेने कृतमित्यर्थः। तनोतेः कर्म्मणि लिट् ॥ १६ ॥

इति चेदिमहीभृता तदानीं तदनीकं दनुसूनुसूदनस्य।
वयसामिव चक्रमक्रियाकं परितोऽरोधि विपाटपञ्जरेण ॥ १७ ॥

इतीति। इतीत्थं चेदिमहीभृता चैद्येन तदानीं तत्काले दनुसूनुसूदनस्य दानवान्तकस्य हरेस्तदनीकं बलम्। 'वरूथिनी बलं सैन्यं चक्रं चानीकमस्त्रियाम्' इत्यमरः। वयसां चक्रं पक्षिसंघ इव अक्रियाकं निश्चेष्टं यथा तथा विपाटयन्तीति विपाटाः शराः। पचाद्यच्। तैरेव पञ्जरेण परितः सर्वतः अरोधि रुद्धम्। रुधेः कर्म्मणि लुङ्। उपमा ॥ १७ ॥

इषुवर्षमनेकमेकवीरस्तदरिप्रच्युतमच्युतः पृषत्कैः।
अथ वादिकृतं प्रमाणमन्यैः प्रतिवादीव निराकरोत्प्रमाणैः ॥ १८ ॥

इष्विति। अथानीकरोधनानन्तरम् एकवीरो महाशूरोऽच्युतो हरिररिप्रच्युतं शत्रुगलितं तदनेकमपरिमितमिषुवर्षं पृषत्कैर्बाणैः वादिकृतं वादिना प्रयुक्तं प्रमाणमनुमानम् अन्यैः प्रमाणैः प्रत्यनुमानैः प्रतिवादीव निराकरोत्। "इवेन समासो विभक्त्यलोपश्च" इति समासात् समासगता श्रौती पूर्णोपमा ॥ १८ ॥

प्रतिकुञ्चितकूर्परेण तेन श्रवणोपान्तिकनीयमानगव्यम्।
ध्वनति स्म धनुर्घनान्तमत्तप्रचुरक्रौञ्चरवानुकारमुच्चैः ॥ १९ ॥

प्रतीति। प्रतिकुञ्चितकूर्परेण कुञ्चितकफोणिना। 'स्यात्कफोणिस्तु कूर्परः' इत्यमरः। तेन हरिणा श्रवणोपान्तिके नीयमाना आकृष्यमाणा गव्या ज्या यस्य तत्। 'गव्यं गवां हिते गव्या ज्याया क्षारोदके त्रिषु' इति विश्वः। धनुः शार्ङ्गं घनान्ते शरदि ये मत्ताः प्रचुरा भूयः

क्रौञ्चास्तेषां रवमनुकरोतीति तदनुकारं क्रौञ्चकूजितसदृशं यथा तथेत्यर्थः । "कर्मण्यण्" । उच्चैस्तारं ध्वनति स्म दध्वान । "लट् स्मे" इति भूते लट् । स्वभावोक्त्युपमयोः सङ्करः ॥ १९ ॥

उरसा विततेन पातितांसः स मयूराञ्चितमस्तकस्तदानीम् ।
क्षणमालिखितो नु सौष्ठवेन स्थिरपूर्वापरमुष्टिराबभौ वा ॥ २० ॥

उरसेति । तदानीं धनुष्कर्षणसमये विततेन विस्तारितेनोरसा उपलक्षितः पातितांसो नमितस्कन्धः मयूरवदञ्चितं मनोहरं मस्तकं यस्य सः उन्नमितमूर्द्धेत्यर्थः । स्थिरौ दृढौ पूर्वापरौ अग्रिमचरमौ मुष्टी गृहीततलस्तकमौर्वीकौ पाणी यस्य स हरिः सुष्ठु भावः सौष्ठवं तेन सौष्ठवेन स्थानकपाटवेन हेतुना क्षणमालिखितो नु लिखित इव आबभौ वा बभासे किम् । नुशब्दो वितर्कार्थे 'नु पृच्छायां वितर्के च' इत्यमरः । वा शब्दोऽपि तादृश इत्युत्प्रेक्षालङ्कारोऽयम् ॥ २० ॥

ध्वनतो नितरां रयेण गुर्व्यस्तडिदाकारचलद्गुणादसंख्याः ।
इषवो धनुषः सशब्दमाशु न्यपतन्नम्बुधरादिवाम्बुधाराः ॥ २१ ॥

ध्वनत इति । ध्वनतो गर्जतः तडित इवाकारो यस्य सः तडिदाकारः चलनात्तेजोमयत्वाच्चाचिरप्रभाकारश्चलन् गुणो मौर्वी यस्य तस्मात् । 'मौर्वी ज्या शिञ्जिनी गुण' इत्यमरः । धनुषः शार्ङ्गात् गुर्व्यो महत्यः असंख्या अपरिमिता इषवोऽम्बुधरान्मेघात् अम्बुधारा इवाशु सशब्दं न्यपतन् । अत्रोपमानोपमेययोरेकलिङ्गतान्वयादिषुशब्दो द्विलिङ्गोऽपि स्त्रीलिङ्ग एव प्रयुक्त इति ज्ञापनाय गुर्व्य इति विशेषणम् ॥ २१ ॥

शिखरोन्नतनिष्ठुरांसपीठः स्थगयन्नेकदिगन्तमायतान्तः ।
निरवर्णि सकृत्प्रसारितोऽस्य क्षितिभर्तेव चमूभिरेकबाहुः ॥२२॥

शिखरेति । शिखरं शृङ्गमिवोन्नतं निष्ठुरं चांसपीठं यस्य स एकदिगन्तम् एकदिग्भागं स्थगयन् आयतान्तो द्राघिष्ठस्वरूपः । 'अन्तोऽध्यवसिते मृत्यौ स्वरूपे निश्चयेऽन्तिके' इति वैजयन्ती । सकृत्प्रसारितः, न तु पुनः पुनरिति स्थैर्योक्तिः । अस्य हरेरेकबाहुश्चापरोपितो वामबाहुरित्यर्थः । चमूभिः क्षितिभर्त्तेव भूधर इव निरवर्णि साधु निरीक्षित इत्यर्थः 'निर्वर्णनन्तु निध्यानं दर्शनालोकनेक्षणम्' इत्यमरः ॥ २२ ॥

तमकुण्ठमुखाः सुपर्णकेतोरिषवः क्षिप्तमिषुव्रजं परेण ।
विभिदामनयन्त कृत्यपक्षं नृपतेर्नेतुरिवायथार्थवर्णाः ॥ २३ ॥

तमिति । अकुण्ठमुखाः निशिताग्राः प्रगल्भगिरश्च सुपर्णकेतोर्गरुडध्वजस्य हरेरिषवः परेणारिणा क्षिप्तं मुक्तम् इषुव्रजम् अयथार्थवर्णाः असत्याक्षराः कपटवचना उभयवेत्तार इत्यर्थः । 'कृत्यज्ञेयो यथा वर्णश्चारः प्रणिधिरेव च' इत्युत्पलमाला । नेतुर्नायकस्य जिगीषोः नृपतेः कृत्यपक्षम् अमात्यादिभेद्यवर्गमिव । 'कृत्या क्रियादेवतयोस्त्रिषु भेद्ये धनादिभिः' इत्यमरः । विभिदां भेदम् । "षिद्भिदादिभ्योऽङ्" इत्यङ् । अनयन्त । "स्वरित" इत्यादिनात्मनेपदम् ॥ २३ ॥

दयितैरिव खण्डितामुरारेर्विशिखैः सम्मुखमुज्ज्वलाङ्कलेखैः ।
लघिमानमुपेयुषी पृथिव्यां विफला शत्रुशरावलिः पपात ॥ २४॥

दयितैरिति । उज्ज्वलाः स्फुटा अङ्केषु लेखाश्चित्रलेखा नखरेखाश्च येषां तैः मुरारेर्विशिखैर्दयितैः प्रियैरिव सम्मुखं समक्षमेव खण्डिता छिन्ना अन्यत्रावमानिता अत एव विफला विशल्या अलब्धकामा च । अत एव लघिमानमगुरुत्वम् अल्पतां चोपेयुषी शत्रुशरावलिः पृथिव्यां पपात । अत्र प्रकृतशरावलिविशेषणसाम्यादप्रकृतखण्डितानायिकाप्रतीतेः समासोक्तिः । दयितैरिवेत्युपमा खण्डिताविशेषणान्तःपातित्वादङ्गमेव । अत एव तत्र विशेषणसाम्यं श्लिष्टतया साधारण्येनौपम्यगर्भत्वेन च भवतीत्युक्तं सर्वस्वकारैः । 'ज्ञातेऽन्यासङ्गविकृते खण्डितेर्ष्याकषायिता' इति । साप्येवं पृथिव्यां पततीति भावः ॥ २४ ॥

प्रमुखेऽभिहताश्च पत्रवाहाः प्रसभं माधवमुक्तवत्सदन्तैः ।
परिपूर्णतरं भुवो गतायाः परितः कातरवत्प्रतीपमीयुः ॥ २५ ॥

प्रमुख इति । पत्त्राणि वहन्तीति पत्त्रवाहाः पत्त्रिणश्चैद्यशराः । "कर्मण्यण्" । माधवमुक्तवत्सदन्तैः शौरिक्षिप्तशरैः प्रसभं बलात् प्रमुखे शल्याग्रे वदने चाभिहताः खण्डिताः सन्तः अत एव कातरैः त्रस्तैस्तुल्यं कातरवत् तुल्यार्थे वतिप्रत्ययः । परिपूर्णतरं गताया गन्तव्यं गताया इत्यर्थः । भुवोऽन्तरालभूमेः परितः प्रतीपं प्रतिकूलमीयुः प्रापुः प्रत्यागताश्च । माधवान्तिकात्प्रावृत्य जग्मुरित्यर्थः । चकारः पूर्वश्लोकोक्तपतनसमुच्चयार्थः । केचित् खण्डितास्तत्रैव पेतुः । केचिन्मुखेषु प्रतिहताः प्रतिनिवृत्ताः इत्यर्थः । कातरवदिति तद्धितगता श्रौती पूर्णोपमा ॥ २५ ॥

इतरेतरसन्निकर्षजन्मा फलसंघट्टविकीर्णविस्फुलिङ्गः ।
पटलानि लिहन्बलाहकानामपरेषु क्षणमज्ज्वलत्कृशानुः ॥२६॥

इतरेतरेति । इतरेतरसन्निकर्षजन्मा शराणां मिथः संश्लेषोत्थः । जन्मोत्तरपदत्वाद्व्यधिकरणोऽपि बहुव्रीहिरिष्यते । फलसंघट्टेन शल्यसंघट्टनेन विकीर्णा विस्फुलिङ्गा यस्य सः कृशानुरग्निर्बलाहकानां वारि वहन्तीति बलाहकाः । पृषोदरादित्वात्साधुः । पटलानि लिहन् आस्वादयन् अपरेषु शत्रुषु । समरेष्विति पाठे समरेषु युद्धेषु क्षणमज्ज्वलत् अदीप्यत । अत्र शत्रुबलाहकानाम् अग्निदाहत्वादासम्बन्धेऽपि तत्सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिः ॥ २६ ॥

शरदीव शरश्रिया विभिन्ने विभुना शत्रुशिलीमुखाभ्रजाले ।
विकसन्मुखवारिजाः प्रकामं बभुराशा इव यादवध्वजिन्यः ॥२७॥

शरदीवेति । विभुना देवेन कर्त्रा । शरश्रिया शरसम्पदा करणेन । शरदीव शत्रुशिलीमुखाः अभ्राणीव तेषां जाले विभिन्ने सति विकसन्ति मुखानि वारिजानि इव यासां ताः यादवध्वजिन्यः यदुसेना आशा दिश इव प्रकामं बभुः । अनेकैवेयमुपमा ॥ २७ ॥

स दिवं समचिच्छदच्छरौघैः कृततिग्मद्युतिमण्डलापलापैः ।
ददृशेऽथ च तस्य चापयष्ट्या इषुरेकैव जनैः सकृद्विसृष्टा ॥२८॥

स इति । कृतस्तिग्मद्युतिमण्डलस्यापलापो निह्नवो यैस्तैराच्छादितार्कमण्डलैरित्यर्थः । शरौघैर्दिवमाकाशं न हरिः समचिच्छदत् छादयति स्म । छादेः "णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः" "सन्यतः" इत्यभ्यासस्येत्वम् । युक्तं चैतत् । लघुहस्तत्वादस्येत्याशयेनोत्प्रेक्ष्यते । अथास्मिन्नवसरे तस्य हरेश्चापयष्ट्या इषुः सकृदेकदा विसृष्टा मुक्ता एकैव जनैर्ददृशे दृष्टा च । इषूणा पुङ्खानुपुङ्खगमनादूद्रावीयानेक एवेपुरेकदैव गच्छतीत्युत्प्रेक्षा।ईदृशलघुहस्तस्याकाशसञ्छादनं युक्तमिति भावः॥२८॥

भवति स्फुटमागतो विपक्षान्न सपक्षोऽपि हि निर्वृतेर्विधाता ।
शिशुपालबलानि कृष्णमुक्तः सुतरां तेन ततापं तोमरौघः॥२९॥

भवतीति । विपक्षाच्छत्रुकुलादागतः सपक्षः कङ्कादिपत्रवान् सुहृच्च निर्वृतेर्विधाता सुखकरो न भवति । हि यतः स्फुटम् । तेन कारणेन कृष्णमुक्तस्तोमरौघः शिशुपालबलानि सुतरां ततापं ददाह । अतः शत्रुकुलादागतः स्वजनोऽपि न विश्वसनीय इत्यर्थः । सपक्षोऽप्यनिर्वर्त्तक इति विरोधेऽपिशब्दः, विपक्षादागत इत्यविरोधाद्विरोधाभासः ॥ २९ ॥

गुरुवेगविराविभिः पतत्रैरिषवः काञ्चनपिङ्गलाङ्गभासः ।
विनतासुतवत्तलं भुवः स्म व्यथितभ्रान्तभुजङ्गमं विशन्ति ३०॥

गुर्विति । गुरुवेगविराविभिः गुरुणा वेगेन विरुवन्ति ध्वनन्तीति तथोक्तैः रौतेर्णिनिः शीघ्रवेगविराववद्भिः पतत्रैः पक्षैरुपलक्षिताः काञ्चनेन पुङ्खलिप्तेन पिङ्गलाङ्गभासः । अन्यत्र काञ्चनवदिति विग्रहः । इषवः शौरिशरा विनतासुतवद्वैनतेयैस्तुल्यं व्यथिता भीषिताः अत एव भ्रान्ता मूढा भुजङ्गमा यस्मिन् तत्तथा भुवस्तलं पातालं विशन्ति स्म । तद्धितगता श्रौती पूर्णोपमा पातालप्रवेशासम्बन्धातिशयोक्त्या सङ्कीर्यते ॥ ३० ॥

शतशः परुषाः पुरो विशङ्कं शिशुपालेन शिलीमुखाः प्रयुक्ताः ।
परमर्म्मभिदोऽपि दानवारेरपराधा इव न व्यथां वितेनुः॥३१॥

शतश इति । शिशुपालेन पुरोऽग्रे विशङ्कं निःशङ्कं शतशः प्रयुक्ताः क्षिप्ताः उच्चारिताश्च परुषाः निष्ठुराः परमर्म्मभिदोऽपि शिलीमुखाः शराः । शतशः अपराधाः पञ्चदशसर्गोक्ताः अभिशापा इव दानवारेर्हरेर्व्यथां दुःखं न वितेनुः । खलापकारा महतामकिञ्चित्करा इति भावः । समासगतोपमा ॥ ३१ ॥

विहिताद्भुतलोकसृष्टिमाय जयमिच्छन्किलमायया मुरारौ ।
भुवनक्षयकालयोगनिद्रं नृपतिः स्वापनमस्त्रमाजहार ॥ ३२ ॥

विहितेति । नृपतिश्रेष्ठो विहिता अद्भुता लोकसृष्टिरेव माया यस्मिन् तस्मिन् भुवनक्षयकाले प्रलयकाले । न त्विदानीमिति भावः । उचिता योगनिद्रा यस्य तस्मिन् मुरारौ मायया जयमिच्छन् किल । न तु जेष्यतीति भाव· । स्वापयतीति स्वापनम् अस्त्रमाजहार प्रयुक्तवानित्यर्थ । अनादिमायाधारे सकलभुवनसृष्टिसंहारमहानाटकसूत्रधारे सर्वाद्भुतनिधाने सकलकलुषक्षपणपटुतराभिधाने पुराणैन्द्रजालिके भगवति हरावपि मायया जिगीषेत्यहो महानस्य व्यामोह इति भावः । अत्र हरिविविशेषणैस्तस्य दुर्जयत्वसिद्धे· काव्यलिङ्गम् ॥ ३२ ॥

सलिलार्द्रवराहदेहनीलो विदधद्भास्करमर्थशून्यसंज्ञम् ।
प्रचलायतलोचनारविन्दं विदधे तद्बलमन्धमन्धकारः ॥ ३३ ॥

सलिलेति । सलिलेनार्द्रो यो वराहदेहस्तद्वन्नीलः भास प्रकाश करोतीति भास्करः । "दिवाविभा" इत्यादिना टप्रत्यय. । तमर्थशून्या भास्करत्वरूपप्रवृत्तिनिमित्तशून्या सज्ञा भास्कराख्या यस्य त विदधत् सौरलोकमभिभवन्नित्यर्थः । अन्ध करोतीति अन्धकारः स्वापनास्त्रप्रभवतमः । "कर्म्मण्यण्" । प्रचलानि निद्राघूर्णितानि आयतलोचनान्येवारविंदानि यस्मिन् कर्म्मणि तत्तथा । सूर्य्यतिरोधानेऽरविन्दमुकुलीभावस्यावश्यम्भावादिति भावः । तद्बलं हरिसैन्यम् अन्धमपश्य विदधे निद्रां प्राविशदित्यर्थः । अत्रान्धमन्धेति सकृद्व्यञ्जनयुग्मपौनरुक्त्यावृत्त्यनुप्रासभेद.।तस्य वराहदेहनीललोचनारविन्देत्युपमारूपकयो. ससृष्टि· ॥ ३३ ॥

गुरवोऽपि निषद्य यन्निदद्रुर्द्धनुषि क्ष्मापतयो न वाच्यमेतत् ।
क्षयितापदि जाग्रतोऽपि नित्यं ननु तत्रैव हि तेऽभवन्निषण्णाः ॥ ३४ ॥

गुरव इति । गुरवो धीराः क्ष्मापतयोऽपि धनुषि निषद्य शयित्वा निदद्रुः सुषुपुरिति यत एतद् धनुषि निद्राण वाच्य निन्द्य न भवति । कुतः । हि यस्मात्ते क्ष्मापतयो जाग्रतोऽपि प्रबुद्धा अपि जागर्ते. शतरि अस्य "जक्षित्यादय·षट्" इत्यभ्यस्तसज्ञा "नाभ्यस्ताच्छतु" इति नुम्प्रतिषेधः । क्षयितापदि सर्वापन्निवारक इत्यर्थ· । तत्रैव धनुषि नित्यं निषण्णा सश्रिता अभवन्।ननु । जागरेऽपि धनुरेकशरणाना स्वापे तदाश्रये न दोष इत्यर्थः । अत्र सदाधनुराश्रयवाक्यार्थस्यावाच्यताहेतुत्वाद्वाक्यार्थहेतुक काव्यलिङ्गम् ॥ ३४ ॥

श्लथतां व्रजतस्तथा परेषामगलद्धारणशक्तिमुज्झतः स्वाम् ।
सुगृहीतमपि प्रमादभाजां मनसः शास्त्रमिवास्त्रमग्रपाणेः ॥ ३५ ॥

श्लथतामिति । तथेति पूर्वोक्तधनुराश्रयणसमुच्चये यथा तेषा धनुराश्रयण तथाऽन्येषा धनुर्गलन चाभूदित्यर्थः । श्लथता प्रयत्नशैथिल्य व्रजतः भजतः स्वां निजा धारणशक्तिं वाहनसामर्थ्यमुज्झतः त्यजत· परेषा राज्ञाम् । अग्रश्चासौ पाणिश्चेति समानाधिकरणसमासः । 'हस्ताग्राग्रहस्तादयो गुणगुणिनोर्भेदाभेदात्' इति वामनवचनात् । तस्मादग्रपाणेः सुगृहीतं सुष्ठु धृतमपि अन्यत्र स्वभ्यस्तमपि प्रमादभाजा गुणनिकाद्यवधानरहितानां मनसश्चित्तात्

शाङ्गं विवेव अस्त्रमगलदभ्रश्यत् । निद्रापारवश्यादित्यर्थः । इवेन सह नित्यसमासात्समासगता श्रौती पूर्णोपमा ॥ ३५ ॥

उचितस्वपनोऽपि नीरराशौ स्वबलाम्भोनिधिमध्यगस्तदानीम् ।
भुवनत्रयकार्य्यजागरूकः स परं तत्र परः पुमानजागः ॥ ३६ ॥

उचितेति । नीरराशौ समुद्रे उचितस्वपनोऽपि परिचितनिद्रोऽपि तदानीं सर्व्वनिद्रावसरे स्वबलाम्भोनिधिमध्यग. स्वसेनासागरमध्यगत. । बलपाथोनिधीत्यपि पाठः । भुवनत्रयकार्य्ये त्रैलोक्यरक्षाविधौ जागरूकः प्रबुद्ध. । "जागुरूकः" इत्यूकप्रत्ययः । परः पुमान्, परमपुरुषः पर केवल हरिरेवेत्यर्थः । 'परमव्ययमिच्छन्ति केवले' इति विश्वः । तत्र निद्राणलोके अजाग. जागर्त्ति स्म । सर्व्वान्धकारहारिणो नित्यप्रकाशचिदात्मन. तत्रापि कार्य्यग्रस्तस्य कुतो निद्रेति भाव· । जागर्त्तेर्लुङि तिप् अदादित्वाच्छपो लुकि सार्व्वधातुकगुणे रपरे 'हल्ङ्याप्' इत्यादिना तिलोपे च रेफस्य विसर्जनीयः । अत्र समुद्रनिद्रालोस्तत्रैव जागरे विरोधपरिहारमुखेन कार्य्यजागरूकत्वपरमपुरुषत्वयोर्विशेषणगत्या तात्त्विकजागरणहेतुकत्वाद्विरोधाभाससङ्कीर्णं काव्यलिङ्गम् ॥ ३६ ॥

अथ सूर्य्यरुचीव तस्य दृष्टावुदभूत्कौस्तुभदर्प्पणं गतायाम् ।
पटुधाम ततो न चाद्भुतं तद्विभुरिन्द्वर्कविलोचनः किलासौ ॥ ३७ ॥

अथेति । अथान्धकारव्याप्त्यनन्तर तस्य हरेर्दृष्टौ चक्षुषि तेजसीत्यर्थः । सूर्य्यरुचीव सूर्य्यतेजसीव । कौस्तुभो दर्पण इवेत्युपमितसमास. । सूर्य्यरुचीवेतिलिङ्गात् । त कौस्तुभदर्प्पणं गतायां प्रविष्टाया सत्या ततः कौस्तुभात् पटु सर्व्वान्धकारद्रावणे समर्थं धाम तेज उदभूत् उदगात् । तद्धामोद्भवन न चाद्भुतम् । कुतः । असौ विभुर्भगवान् अर्केन्दू विलोचने यस्य स किल खलु अतस्तच्चक्षुषोः सूर्य्यात्मकत्वात्तदभिहतात् कौस्तुभाद्दर्पणादेरिव धाम प्रादुर्भावो व्यज्यते । इत्यर्थ· । अतो वाक्यार्थहेतुक काव्यलिङ्गम् ॥ ३७ ॥

महतः प्रणतेष्विव प्रसादः स मणेरंशुचयः ककुम्मुखेषु ।
व्यकसद्विकसद्विलोचनेभ्यो ददर्दालोकमनाविलं बलेभ्यः ॥ ३८ ॥

महत इति । स पूर्वोक्तो मणेः कौस्तुभस्यांशुचयः विकसन्ति उन्मीलन्ति विलोचनानि येषां तेभ्यो बलेभ्योऽनाविल प्रसन्नमालोक दर्शन तत्त्वज्ञानं च ददत्प्रतियच्छन् महतो महात्मन. प्रसादोऽनुग्रह. प्रणतेषु भक्तेषु इव ककुम्मुखेषु ककुभामग्रेषु व्यकसदमूर्च्छत् । पूर्णोपमा॥ ३८ ॥

प्रकृतिं प्रतिपादुकैश्च पादैश्चक्रुपे भानुमतः पुनः प्रसर्तुम् ।
तमसोऽभिभवादपास्य मूर्च्छामुदजीवत्सहसैव जीवलोकः ॥ ३९ ॥

प्रकृतिमिति । प्रकृति स्वभाव प्रतिपादुकैः प्रतिपद्यमानैः । "लषपतपद"इत्यादिना उकञ्प्रत्ययः, "न लोका"इत्यादिना षष्ठीप्रतिषेधः । भानुमतोऽंशुमतः पादै रश्मिभिश्च पुनर्भूयः प्रसर्तुं चक्लृपे

शोके । 'कृपू सामर्थ्ये' भावे लिट्, "कृपो रो लः" इति ऋकारस्थस्यापि रेफस्य लकारः । जीवलोक प्राणिवर्गश्च तमसोऽन्धकारस्याभिभवादभिभूतत्वादित्यर्थः । "कर्तृकर्म्मणो कृति" इति कर्म्मणि षष्ठी । सहसैव मूर्च्छामपास्य उदजीवत् उदश्वसीत् । अत्रोज्जीवनस्यार्ककरप्रसार-हेतुकत्वाद्वाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गम् ॥ ३९ ॥

घनसन्तमसैर्जवेन भूयो यदुयोधैर्युधि रेधिरे द्विषन्तः ।
ननु वारिधरोपरोधमुक्तः सुतरामुत्तपते पतिः प्रभाणाम् ॥४०॥

घनेति । घन सान्द्र सन्तमसमन्धकारो येषु । "अवसमन्धेभ्यस्तमस" इति समासा-न्तोऽच्प्रत्ययः । गतेति पाठे गत सन्तमसं येषा तैः यदुयोधैर्यादवभटैर्भूयः पुनरपि जवेन युधि द्विषन्तो रेधिरे जिहिसिरे हता इत्यर्थ. । राध्यतेः कर्म्मणि लिट् । "राधो हिंसायाम्" इत्ये-त्वाभ्यासलोपौ । तथाहि । वारिध रोपरोधात् मेघावरणात् मुक्तः प्रभाणा द्युतीनां पतिरर्कः सुतरामुत्तपत एव ननु प्रकाशत एव खलु । "उद्विभ्या तप." इत्यात्मनेपदम् । अत्र यदुयो-धाना द्युतिपतेश्च वाक्यभेदेन प्रतिबिम्बकरणाद्दृष्टान्तालङ्कार । न चोपमानोपमेययोर्भिन्नवचन-त्वदोषः लोके चन्द्रार्कादीनामुपमानानामबहुत्वेऽपि चन्द्रानना इतिवत् प्रत्येकमौपम्यात् ॥ ४० ॥

व्यवहार इवानृताभियोगं तिमिरं निर्जितवत्यथ प्रकाशे ।
रिपुरुल्बणभीमभोगभाजां भुजगानां जननीं जजाप विद्याम् ॥४१॥

व्यवहार इति । व्यवहारे न्यायवादे अनृताभियोग मिथ्याभिशंसनमिव प्रकाशे कौस्तु-भतेजसि तिमिर प्रस्वापनान्धकार निर्जितवति निरस्तवति सति अथैतन्निरसनानन्तर रिपुश्चैद्य उल्बणान् महतो भीमांश्च भोगान् फणान् कायाश्च भजन्तीति तद्भाज' 'भोगः सुखे स्त्र्यादि-भृतावहेश्च फणकाययोः' इत्यमरः । भुजगाना जननीमुत्पादिका विद्या मन्त्र जजाप जपति स्म । भुजगास्त्रमाजहारेत्यर्थः । उल्बणेत्यत्र कचिदुत्फणेति पाठ । उपमालङ्कार. ॥ ४१ ॥

पृथुदर्विभृतस्ततः फणीन्द्रा विषमाशीभिरनारतं वमन्तः ।
अभवन्युगपद्विलोलजिह्वायुगलीढोभयसृक्कभागमाविः ॥४२॥

पृथ्विति । ततो भुजगास्त्रप्रयोगानन्तर पृथुदर्विभृतः महाफणाधारिण इत्यर्थः । अत एव 'दर्वीकरो दीर्घपृष्ठः' इत्यत्र दर्वीरूपः फण एव करो हस्तो यस्य महापादाविति व्या-ख्यातम् । आशीभिर्दंष्ट्राभिः । 'आशी उरगदंष्ट्रायाम्' इति वैजयन्ती । अनारतमश्रान्त विष वमन्तः उद्गिरन्तः फणीन्द्राः महासर्पाः विलोलैश्चलैर्जिह्वायुगैर्लीढावास्वादितावुभौ सृक्कभागा-वोष्ठप्रान्तदेशौ यस्मिन् कर्म्मणि तत्तथा । 'प्रान्तावोष्ठस्य सृक्किणी' इत्यमरः । आवि-रभवत् । अत्र "उभादुदात्तो नित्यम्" इति नित्यग्रहणसामर्थ्यात् वृत्तिविषये उभशब्दस्य स्थानेऽप्युभयशब्दस्यैव प्रयोगः । उभयपुत्र इत्यादिप्रयोगसिद्धेरिति कथ्युक्तमस्माभिः प्रकटितं बहुधा सञ्जीविन्यां घण्टापथे सर्वङ्कषायां च तत्र तत्र । स्वभावोक्तिरलङ्कारः ॥ ४२ ॥

कृतकेशविडम्बनैर्विहायो विजयं तत्क्षणमिच्छुभिश्छलेन ।
अमृताग्रभुवः पुरेव पुच्छं वडवाभर्तुरवारि काद्रवेयैः ॥ ४३ ॥

कृतेति । कृतकेशविडम्बनैः कार्ष्ण्याद्विहितकेशानुकारैः छलेन कपटेन विजयमिच्छुभिरभिलाषुकैः । "विन्दुरिच्छुः" इति उप्रत्ययान्तो निपातितः "न लोका" इत्यादिना षष्ठीप्रतिषेधः। विहाय आकाश तत्क्षण काद्रवेयैः कद्रूपुत्रैः फणीन्द्रैः । "स्त्रीभ्यो ढक्" इति ढक् । पुरा पूर्वमिव अमृताग्रभुवोऽमृताग्रजस्य वडवाभर्तुः उच्चैःश्रवसः पुच्छम् अवारि आवृतम् । वृत्तेः कर्मणि लुङ् । पुरा किल कद्रूविनतयोः कश्यपभार्ययोरुच्चैःश्रवसः पुच्छस्य कार्ष्ण्यश्वैत्यविवादे दासपणे काद्रवेयैः स्वमातुर्विजयाय गृहीतवालाकारैरुच्चैःश्रवसः पुच्छाच्छादनं चक्रे इति कथा पुराणादनुसन्धेया । उपमा ॥ ४३ ॥

दधतस्तनिमानमानुपूर्व्या बभुरक्षिश्रवसो मुखे विशालाः ।
भरतज्ञकविप्रणीतकाव्यग्रथिताङ्का इव नाटकप्रपञ्चाः ॥ ४४ ॥

दधत इति । मुखे मुखभागे मुखसन्धौ च विशालाः विस्तृता आनुपूर्व्या अनुक्रमेण तनिमानं तनुत्वं मुखादन्यत्र शरीरे उत्तरोत्तरं तनुत्वं दधतः अन्यत्र प्रतिमुखादिसन्धिषु गोपुच्छवत् संक्षिप्तत्वं दधानाः अक्षिश्रवसः सर्पाः भरतज्ञो नाट्यशास्त्रज्ञः।'भरतो नाट्यशास्त्रेऽपि'इति विश्वः । तेन कविना प्रणीतं प्रकल्पितं यत्काव्यं कविकर्म लक्षणया काव्यार्थः कथा वस्तु । ब्राह्मणादित्वात् ष्यञ् प्रत्ययः । तेन ग्रथिता गुम्फिताः अङ्काः परिच्छेदरूपाः अवान्तरसन्दर्भविशेषा येषु ते तथोक्ता नाटकप्रपञ्चा नाटकविस्तारा इव बभुरित्युपमा । प्रबन्धा इति क्वचित्पाठः । 'प्रत्यक्षनेतृचरितो विन्दुबीजपुरस्कृतः ।'अङ्को नानाप्रकारार्थसंविदन्तरसाश्रितः'इति अङ्कलक्षणम् 'मुख प्रतिमुख गर्भोऽवमर्श उपसहृतिः' इति सन्धयः ॥ ४४ ॥

सविषश्वसनोद्धतोरुधूमव्यवधिम्लानमरीचिपन्नगानाम् ।
उपरागवतेव तिग्मभासा वपुरौदुम्बरमण्डलाभमूहे ॥ ४५ ॥

स इति । तिग्मभासा सूर्येण उपरागवता राहुग्रासवतेव राहुग्रस्तेनेवेत्यर्थः । 'उपरागो ग्रहो राहुग्रस्ते त्विन्दौ च पूष्णि च' इत्यमरवचनं ग्रासस्याप्युपलक्षणम् । पन्नगाना सविषैः श्वसनैः फूत्कारैः उद्धतेनोरुधूमेन यो व्यवधिस्तिरोधानं तेन म्लाना निष्प्रभा मरीचयो यस्य तत् । अत एवौदुम्बरमण्डलाभं ताम्रपिण्डसच्छायम् । 'अथ ताम्रकम् । शुल्वं म्लेच्छमुखद्व्यष्टवरिष्ठोदुम्बराणि च' इत्यमरः । वपुरूहे ऊढम् । वहेः कर्मणि लिट् । यजादित्वात्सम्प्रसारणम् ॥ ४५ ॥

शिखिपिच्छकृतध्वजावचूडक्षणसाशङ्कविवर्तमानभोगाः ।
यमपाशवदाशुबन्धनाय न्यपतन्वृष्णिगणेषु लेलिहानाः ॥४६॥

शिखीति । पुनःपुनर्लेहनशीला. लेलिहानाः सर्पाः । लिहेर्यङ्लुगन्ताच्छील्ये ५ प्रत्यये "गुणो यङ्लुकोः" इत्यभ्यासस्य गुणः । लिहोर्लिटः कानजिति वल्लभः । तदानं भ्यासगुणानुपपत्तिः, भूतार्थासङ्गतिश्च । शिखिपिच्छैर्मयूरबर्हैः कृतेभ्यो ध्वजानामग्रचूडेभ्यः नर्फाणेभ्यः क्षणं साशङ्काः जीवन्मयूरभ्रान्त्या सभयाः अत एव विवर्त्तमानकायाः व्यावृत्तदेहा सन्तः आशु वृष्णिगणेषु यादवसैन्येषु बन्धनाय यमपाशैस्तुल्य यमपाशवत् कालपाशवदित्युपमा । न्यपतन् निपत्य बबन्धुरित्यर्थः ॥ ४६ ॥

पृथुवारिधिवीचिमण्डलान्तर्विलसत्फेनवितानपाण्डुराणि ॥
दधति स्म भुजङ्गमाङ्गमध्ये नवनिर्मोकरुचिं ध्वजांशुकानि ४७

पृथ्विति । भुजङ्गमाङ्गमध्ये पृथोर्वारिधिवीचिमण्डलस्यान्तर्मध्ये विलसन्तः फेना एव वितानपाण्डुरद्युतीनि शुभ्रवर्णानीत्युपमा । ध्वजांशुकानि नवनिर्मोकरुचिं नवकञ्चुकशोभां दधति स्म । 'समौ कञ्चुकनिर्मोकौ' इत्यमरः । निर्मोकरुचिमित्यत्रान्यधर्मस्यान्यत्रासम्बन्धेन निर्मोकस्येवेति सादृश्याक्षेपादसम्भवद्वस्तुसम्बन्धनिदर्शना फेनपाण्डुरोपमयाङ्गेन सङ्कीर्य्यते ॥४७॥

कृतमण्डलबन्धमुल्लसद्भिः शिरसि प्रत्युरसं विलम्बमानैः ।
व्यरुचज्जनता भुजङ्गभोगैर्दलितेन्दीवरमालभारिणीव ॥ ४८ ॥

कृतेति । जनता जनसमूहः । "ग्रामजन" इत्यादिना समूहिकस्तल् प्रत्ययः । शिरसि कृतो मण्डलबन्धो वलयीभावो यस्मिन् कर्मणि तत्तथा उल्लसद्भिः प्रत्युरसम् उरस्युरसि । "प्रतेरुरसः सप्तमीस्थात्" इति समासान्तोऽच्प्रत्ययः । विलम्बमानैर्विशेषेण लम्बमानैः भुजङ्गभोगैरहिकायैः दलितेन्दीवरमालभारिणी विकसितनीलोत्पलमालभारिणीवेत्युत्प्रेक्षा । व्यरुचत् व्यरोचिष्ट । "द्युद्भ्यो लुङि" इति विकल्पात्परस्मैपदम् ॥ ४८ ॥

परिवेष्टितमूर्त्तयश्च मूलादुरगैराशिरसः सरत्नपुष्पैः ।
दधुरायतवल्लिवेष्टितानामुपमानं मनुजा महीरुहाणाम् ॥ ४९ ॥

परिवेष्टितेति । किञ्चेति चार्थः । मूलात्पादमारभ्येत्यर्थः । ल्यब्लोपे पञ्चमी । आशिरसः शिरोऽन्तम् । "आङ्मर्यादा" इत्यादिना विकल्पात्समासः । रत्नैरेव पुष्पैः सह वर्त्तन्ते इति सरत्नपुष्पै । "तेन सहेति तुल्ययोगे" इति बहुव्रीहिः । उरगैः परिवेष्टितमूर्त्तयो वेष्टिताङ्गाः मनुजा आयताभिर्वल्लीभिर्लताभिर्वेष्टितानां महीरुहाणाम् उपमानं सादृश्यं दधुरित्युपमा ॥ ४९॥

बहुलाञ्जनपङ्कपट्टनीलद्युतयो देहमितस्ततः श्रयन्तः ।
दधिरे फणिनस्तुरङ्गमेषु स्फुटपल्याणनिबद्धवर्ध्रलीलाम् ॥ ५० ॥

बहुलेति । बहुलाञ्जनस्य सान्द्रकज्जलस्य पङ्कपट्टः पङ्कवनस्तद्वन्नीलद्युतयः श्यामभासः देहं शरीरमितस्ततः पुच्छपार्श्वादिस्थानेषु श्रयन्तो भजन्तः फणिनस्तुरङ्गमेषु स्फुटानि उज्ज्व-

स्थानि यानि पल्याणेषु पत्ययणेषु निबद्धानि वर्ध्राणि वस्त्राः । 'वध्रं त्रपुवस्त्रयोः' इति विश्वः । तेषां लीला शोभा दधिरे दधुः । वध्रलीलामित्यत्रासम्भवद्वस्तुसम्बन्धान्निदर्शनोक्तलक्षणा ९० ॥

प्रसृतं रभसादयोऽभिनीला प्रतिपादं परितोऽभिवेष्टयन्ती ।
तनुरायतिशालिनी महाहेर्गजमन्दूरिव निश्चलं चकार ॥ ९१ ॥

प्रसृतमिति । अयसा अयोवत् अभिनीला पादेषु प्रतिपादम् । विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः । अभिवेष्टयन्ती आयत्या आयतेन दैर्घ्येण शालते या सा आयतिशालिनी महाहेर्महोरगस्य तनुर्वपुरन्दूः शृंखलेव। 'अन्दूस्तु शृङ्खलाया स्त्री' इति वैजयन्ती। रभसात्प्रसृतं प्रचरन्तं गजं निश्चलं चकार। उपमा९१

अथ सस्मितवीक्षितादवज्ञाचलितैकोन्नमितभ्रु माधवेन ।
निजकेतुशिरश्श्रितस्सुपर्णादुदपप्तन्नयुतानि पक्षिराजाम् ॥ ९२ ॥

अथेति । अथ नागपाशबन्धनानन्तरं माधवेन कृष्णेन अवज्ञया अकिञ्चित्करत्वादनादरेण चलिता प्रेरिता एका उन्नमिता उत्क्षिप्ता च भ्रूर्यस्मिन् कर्म्मणि तत्तथा । "गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य" इति ह्रस्वत्वम् । सस्मितं चैद्यचापल्यदर्शनात्समन्दहासं वीक्षितात् निजकेतुशिरश्श्रितः निजध्वजाग्रस्थितात् । श्रयतेः क्विप् । सुपर्णात् पक्षिणः राजः राजानः तेषां पक्षिराजां पक्षिराजानां गरुत्मताम्। "राजा राट् पार्थिवः" इत्यमरः । "अन्येभ्योऽपि दृश्यते" इति क्विप् । अयुतानि अयुतसङ्ख्या उदपप्तन्नुत्पेतुः । पुषादित्वाल्लुङि च्लेरङादेशः । "पतः पुम्" इति पुमागमः । उदभूवन्निति पाठे "भुवो वुक्" इति वुगागमः। माधवस्य सुपर्णवीक्षणावस्थोचितभ्रूविक्षेपादिचेष्टाविवरणात् स्वभावोक्तिः तदुक्तं दण्डिना । 'नानावस्थं पदार्थानां रूपं साक्षाद्विवृण्वती । स्वभावोक्तिश्च जातिश्च' इति । 'जातिक्रियागुणद्रव्यस्वभावाख्यानमीदृशम्' इति च ॥ ९२ ॥

द्रुतहेमरुचः खगाः खगेन्द्रादलघूदीरितनादमुत्पतन्तः ।
क्षणमैक्षिषतोच्चकैश्चमूभिर्ज्वलतः सप्तरुचेरिव स्फुलिङ्गाः ॥ ९३ ॥

द्रुतेति । द्रुतहेमरुचः प्रतप्तकाञ्चनभासः इत्युपमा । अलघूच्चैरुदीरितनादम् उच्चरितघोषं यथा तथा खगेन्द्रात् गरुत्मतः उत्पतन्तः उद्गच्छन्तः खगाः सुपर्णाः ज्वलतः प्रज्वलतः सप्तरुचेः सप्तार्चिषोऽग्नेरुच्चकैरूर्ध्वं प्रसृताः स्फुलिङ्गा इव चमूभिः क्षणमैक्षिषत ईक्षिताः । ईक्षतेः कर्म्मणि लुङ्, अत्रोपमयोः संकरः ॥ ९३ ॥

उपमानमलाभि लोलपक्षक्षणविक्षिप्तमहाम्बुवाहमत्स्यैः ।
गगनार्णवमन्तरा सुमेरोः कुलजानां गरुडैरिलाधराणाम् ॥ ९४ ॥

उपमानमिति । गगनमर्णव इव गगनार्णवस्तमन्तरा तस्य मध्ये इत्यर्थः । "अन्तरान्तरेण युक्ते" इति द्वितीया । अत्रार्णवस्यैकत्वेऽपि तदेकदेशापेक्षया भेदवत्त्वेन मध्यप्रतियोगित्वसम्भवान्न द्वितीयानुपपत्तिः । लोलैः पक्षैः क्षणाद्विक्षिप्ता महाम्बुवाहा मत्स्या इव यैस्तैर्गरुडैर्गरुत्मद्भिः सुमेरोः कुलजानां हेमाद्रिवंश्यानाम् अन्येषामहिरण्मयतया गरुडसाम्यासम्भवादित्यर्थः । इलाधराणां भूधराणाम् अर्णवान्तश्चराणामित्यर्थः । 'गौरिला कुंभिनी क्षमा' इति कोषः । उपमान

सादृश्यमलाभि अलम्भि। लभेः कर्मणि लुङि "विभाषा चिण्णमुलोः" इति विकल्पान्नुमभावः। अत्रेलाधराणामुपमानामिति व्यस्तोपमाया अन्याभ्यां समासगताभ्यामङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः॥ ९४॥

पततां परितः परिस्फुरद्भिः परिपिङ्गीकृतदिङ्मुखैर्मयूखैः।
सुतरामभवद्दुरीक्ष्यबिम्बस्तपनस्तत्किरणैरिवात्मदर्शः॥ ९५॥

पततामिति। परिस्फुरद्भिः स्वविषयसङ्क्रमात्समन्तादुल्लसद्भिः अतएव परिपिङ्गीकृतानि सौवर्णत्वात्पिशङ्गीकृतानि दिङ्मुखानि यैस्तैः पततां पक्षिणः मयूखैः तपनः सूर्यस्तत्किरणैस्तपनकिरणैः सङ्क्रान्तैरिति भावः। आत्मा स्वरूपं दृश्यतेऽत्र इत्यात्मदर्शो दर्पण इव सुतरां दुरीक्ष्यबिम्बः अभवत्। स्वत एव दुर्दर्श इदानीमतिदुर्दर्शोऽभूदित्यर्थः। अत्र तपनस्य दुरीक्ष्यत्वासम्बन्धेऽपि सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिः ९५

दधुरम्बुधिमन्थनाद्रिमन्थभ्रमणायस्तफणीन्द्रपित्तजानाम्।
रुचमुल्लसमानवैनतेयद्युतिभिन्नाः फणभारिणो मणीनाम्॥ ९६॥

दधुरिति। उल्लसमानाभिर्दीप्यमानाभिर्वैनतेयानां द्युतिभिर्भिन्नाः सवलिताः फणभारिणः फणाभृतः अम्बुधिमन्थने समुद्रमन्थने अद्रेर्मन्दराद्रेरेव मन्थस्य मन्थनदण्डस्य भ्रमणेनायस्तस्य निष्पीडितस्य फणीन्द्रस्य वासुकेः पित्तात् पित्तधातोर्जातास्तज्जास्तेषाम् 'वैशाखमन्थमन्थानमन्थानो मन्थरदण्डके' इत्यमरः। मथेर्भौवादिकस्योदित्त्वात्सर्वत्र नुमागमः। तेषां मणीनां मरकतानां रुचं दधुः वैनतेयपीतियसमेदात् कृष्णोरगा मरकतच्छायामार्च्छन्नित्यर्थः। अत्रान्यस्यान्यधर्मायोगेन रुचमिवेति सादृश्याक्षेपादसंभवद्वस्तुसम्बन्धान्निदर्शनालङ्कारः॥ ९६॥

अभितः क्षुभिताम्बुराशिधीरध्वनिराकृष्टसमूलपादपौघः।
जनयन्नभवद्युगान्तशङ्कामनिलो नागविपक्षपक्षजन्मा॥ ९७॥

अभित इति। अभितः उभयतः क्षुभितो योऽम्बुराशिः उद्वेलाम्बुराशिस्तद्वद्धीरध्वनिर्गम्भीरध्वनिरित्युपमा। आकृष्टाः पाटिताः समूलाः पादपौघास्तरुसमूहाः येन सः। अत्र पादपोन्मूलनासम्बन्धेऽपि सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिः। युगान्तशङ्कां जनयन् कल्पक्षयोत्प्रेक्षा जनयन्नित्यपि सैवातिशयोक्तिः। नागविपक्षपक्षजन्मा गरुडपक्षोद्भवोऽनिलोऽभवदुद्गमत्रदित्यर्थः॥ ९७॥

प्रचलत्पतगेन्द्रपत्रवातप्रसभोन्मूलितशैलदत्तमार्गैः।
भयविह्वलमाशु दन्दशूकैर्विवशैराविविशे स्वमेव धाम॥ ९८॥

प्रचलदिति। प्रचलतां पतगेन्द्राणां ये पत्रवातास्तैः प्रसभं उन्मूलितैराकृष्टैरुत्पाटितैश्शैलैर्दत्तो मार्गो रन्ध्रं येभ्यस्तैः विवशैः परवशैर्निश्चेष्टैरित्यर्थः। गर्हितं दशन्ति भृशमिति दन्दशूकैः सर्पैः। 'दन्दशूको विलेशयः' इत्यमरः। "लुपसदचर" इत्यादिना दंशेर्भावगर्हाया यङ्। "जपजभदहदशभञ्जपशां च" इति अभ्यासस्य नुगागमः। "यजजपदशां यङः" इति दशर्येङन्तदूकत्प्रत्ययः। भयेन विह्वलं विक्षिप्तं विचित्रं यथा तथा आशु स्वमेव धाम पातालमेव विविशे। तार्क्ष्यपत्रपवनोन्मूलितशैलरन्ध्रवर्त्मनैव पातालं प्रविष्टमित्यर्थः। विशेः कर्मणि लिट्। दन्दशूकानां रन्ध्रप्रवेशासम्बन्धेऽपि सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिः॥ ९८॥

खचरैः क्षयमक्षयेऽहिसैन्ये सुकृतैर्दुष्कृतवत्तदोपनीते ।
अशुगार्चिरिव ज्वलन्नुषाथो रिपुरौदर्चिषमाजुहाव मन्त्रम् ॥५९॥

खचरैरिति । खेचरन्तीति खचरैर्वैनतेयैः । "चरेष्टः" "तत्पुरुषे कृति बहुलम्" इति लुग्विकल्पः । अक्षये अनन्ते अहिसैन्ये सर्पसंघे सुकृतैः हरिस्मरणादिपुण्यैर्दुष्कृतवद्ब्रह्महत्याद्येनोवत् । "तत्र तस्येव" इति तत्रार्थे वतिप्रत्ययः । क्षयमुपनीते नाशं गमिते सति तदा तत्काले रुषा पौरुषवैफल्यरोषेण अशुगार्चिः सतार्चिरिव ज्वलन् दीप्यमानः असौ रिपुश्चैद्यः उदर्चिषः इममौदर्चिषमाग्नेयं मन्त्रम् आजुहाव आहूतवान् जजापेत्यर्थः । ह्वयतेर्लिटि "अभ्यस्तस्य च" इति द्विर्वचनात्प्रागेव सम्प्रसारणम् । दुष्कृतवदिति तद्धितगता श्रौती पूर्णोपमा ॥ ५९ ॥

सहसा दधदुद्धताट्टहासश्रियमुत्रासितजन्तुना स्वनेन ।
विततायतहेतिबाहुरुच्चैरथ वेताल इवोत्पपात वह्निः ॥ ६० ॥

सहसेति । अथाग्नेयास्त्राह्वानानन्तरम् उत्त्रासितजन्तुना भीषितप्राणिकेन स्वनेन ध्वनिना उद्धताट्टहासश्रियं महाट्टहाससम्पदं दधत् तेनैवाट्टहासवान् तत्तुल्यनादवानित्यर्थः । वितताः प्रसारिताः आयता दीर्घाः हेतयो ज्वाला बाहव इव हेतिबाहवो यस्य स वह्निर्वेतालो भूतविशेषः स इव सहसा झटिति उच्चैरूर्ध्वमुत्पपात उत्तस्थौ । उपमा ॥ ६० ॥

चलितोद्धतधूमकेतनोऽसौ रभसादम्बररोहिरोहिताश्वः ।
द्रुतमारुतसारथिः शिखावान्कनकस्यन्दनसुन्दरश्चचाल ॥६१॥

चलितेति । चलितश्चलश्च उद्धत उन्नतश्च धूम एव केतनं केतुर्यस्य सः रभसाद्वेगादम्बरोहिणो रोहिता वाहनमृगा अश्वा इव यस्य सः द्रुतमारुताः शीघ्रवाता एव सारथिर्यस्य सः कनकस्यन्दनसुन्दरः कनकद्रथवद्रम्य इत्युपमा । असौ शिखा ज्वाला अस्य सन्तीति शिखावान् आशुशुक्षणिश्चचाल ॥ ६१ ॥

ज्वलदम्बरकोटरान्तरालं बहुलार्द्राम्बुदपत्रबद्धधूमम् ।
परिदीपितदीर्घकाष्ठमुच्चैस्तरुवद्विश्वमुवोष जातवेदाः ॥ ६२ ॥

ज्वलदिति । जातं वेदो धनं यस्माज्जातवेदास्तनूनपात् । अम्बरं कोटरमिव तस्यान्तरालमभ्यन्तरं ज्वलद्यस्य तत् । बहुलाः सान्द्राः आर्द्राम्बुदाः पत्राणीव तेषु बद्धधूमम् । परिदीपिताः प्रज्वलिताः काष्ठा दिशः काष्ठानीव यस्य तदुच्चैरुन्नतं विश्वं जगत् तरुणा तुल्यं तरुवत् तरुमिवेत्यर्थः । तुल्यार्थे वतिप्रत्ययः । उवोष ददाह । 'उष दाहे' लिट् लघूपधगुणे पश्चाद्द्विर्भावः "अभ्यासस्यासवर्णे" इत्युवङादेशः "अनादिष्टादचः" इति गुणस्य स्थानिवत्त्वाभावात् । तरुवदिति स्पष्टोपमालिङ्गात् सर्वत्रोपमितसमासः ॥ ६२ ॥

गुरुतापविशुष्यदम्बुशुभ्राः शणमालग्नकृशानुताम्रभासः ।
स्वमसारतया मसीभवन्तः पुनराकारमवापुरम्बुवाहाः ॥ ६३ ॥

गुर्विति । गुरुतापेनातिदाहेन विशुष्यदम्बवः क्षीयमाणोदकाः अत एव शुभ्राश्चेति

विशेषणसमासः । ततः क्षणमालग्नेन कृशानुना ताम्रभासो रोहितवर्णाः अथासारतया जलशोषा-न्निःसारतया मसीभवन्तः अम्बुवाहाः पुनः स्वमाकारं नीलरूपमवापुः । अत्र मेघानां मसीभावा-द्यसम्बन्धेऽपि सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिः ॥ ६३ ॥

ज्वलितानललोलपल्लवान्ताः स्फुरदष्टापदपत्रपीतभासः ।
क्षणमात्रभवामभावकाले सुतरामापुरिवायतिं पताकाः ॥ ६४ ॥

ज्वलितेति । ज्वलितेन प्रज्वलता अनलेन अनलपातेन लोलाः पल्लवान्ताः अञ्चलाग्राणि यासां ताः स्फुरद्भिर्दीप्यमानैरष्टापदपत्रैः कनकरचनाभिः पीतभासः पिङ्गलवर्णाः पताका वैजयन्त्यः अभावकाले विनाशकाले क्षणमात्रभवां क्षणमात्रभाविनीम् । क्षणमात्रस्थायिनीमित्यर्थः । आयतिं दैर्घ्यं सुतरामापुरित्यर्थः । प्रदीपवदिति भावः । अष्टसु लोहेषु पदमस्येत्यष्टापदम् । "अष्टनः सञ्ज्ञायाम्" इति दीर्घः । 'रुक्मं कार्तस्वरं जाम्बूनदमष्टापदोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः ॥ ६४ ॥

निखिलामिति कुर्वतश्चिराय द्रुतचामीकरचारुतामिव द्याम् ।
प्रतिघातसमर्थमस्त्रमग्नेरथ मेघङ्करमस्मरन्मुरारिः ॥ ६५ ॥

निखिलामिति । अथानन्तरं मुरारिः इतीत्थं निखिलां द्यामाकाशं द्रुतचामीकरचारुतां प्रतप्तहेमकर्बुरामिवेत्युत्प्रेक्षा । चारुतामित्यत्र । चिराय कुर्वतोऽग्नेः प्रतिघातसमर्थं प्रशमनक्षमं मेघान् करोतीति मेघङ्करं मेघजननम् । "मेघर्तिभयेषु कृञः" इति खच्प्रत्ययः । "अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम्" इति मुमागमः । अस्त्रं वारुणास्त्रमस्मरत् दध्यौ आजहार ॥ ६५ ॥

चतुरम्बुधिगर्भधीरकुक्षेर्वपुषः सन्धिषु लीनसर्वसिन्धोः ।
उदगुः सलिलात्मनस्त्रिधाम्नो जलवाहावलयः शिरोरुहेभ्यः ॥ ६६ ॥

चतुरिति । चत्वारोऽम्बुधय एव गर्भास्तेन धीरो गम्भीरः कुक्षिर्यस्य तस्य वपुषः सन्धिषु लीनाः सर्वाः सिन्धवो नद्यो यस्य तस्य सलिलात्मनस्तोयात्मकस्य । त्रीणि धामानि स्थानानि भूरा-दीनि सत्वादीनि वा यस्य तस्य त्रिधाम्नो हरेः शिरोरुहेभ्यो जलवाहावलयः मेघपरम्पराः उदगुः उद्बभूवुः । 'इणो गा लुङि' इति गादेशः । "गातिस्था" इत्यादिना सिचो लुक् । 'यस्य केशेषु जीमूता नद्यः सर्वाङ्गसन्धिषु । कुक्षौ समुद्राश्चत्वारस्तस्मै तोयात्मने नमः' इत्यागमोक्तं प्रमाणमिति भावः ६६

ककुभः कृतनादमास्तृणन्तस्तिरयन्तः पटलानि भानुभासाम् ।
उदनंसिषुरभ्रमभ्रसंघाः सपदि श्यामलिमानमानयन्तः ॥ ६७ ॥

ककुभ इति । कृतनादं कृतगर्जनं यथा तथा ककुभः आस्तृणन्तः आच्छादयन्तः । स्तृणातेर्लट् । शत्रादेशे "श्नाभ्यस्तयोरातः" इत्याकारलोपः । भानुभासामर्करश्मीनां पटलानि तिरयन्तस्तिरस्कुर्वन्तः तिरःशब्दात् "तत्करोति" इति ण्यन्ताल्लटः शत्रादेशः । णाविष्ठवद्भावाट्टिलोपः । अभ्रमाकाशं श्यामलिमानमानयन्तः श्यामलत्वं प्रापयन्तः अभ्रसंघाः मेघौघाः सपदि सद्य उदनंसिषुरुत्पेतुः । उत्पूर्वान्नमतेर्लुङि "यमरमनमातां सक् च" इति सगिडागमौ "नेटि" इति वृद्धिप्रतिषेधः स्वभावोक्तिः ६७ ॥

तपनीयनिकषराजिगौरस्फुरदुत्तालतडिच्छटाट्टहासम् ।
अनुबद्धसमुद्धताम्बुवाहध्वनिताडम्बरमम्बरं बभूव ॥ ६८ ॥

तपनीयेति । तपनीयस्य हेम्नो निकषराजयः कषणलेखा इव गौर्य्य पीताः। 'गौरोऽरुणे सिते पीते' इत्यमर । स्फुरन्त्य उत्ताला उद्धतास्तडिच्छटा विद्युल्लता एवाट्टहासा यस्य तत्तथोक्तम् अनुबद्धोऽनुस्यूत समुद्धतस्तारोऽम्बुवाहाना ध्वनिताडम्बरो गार्जिताडम्बरो यस्य तदम्बर बभूव।तदाम्बुवाहै- र्विद्युत्प्रभाभिर्गार्जिताडम्बरैश्चाट्टहास कुर्व्वद्भिरिवाम्बर वभावित्यर्थ । व्यञ्जकाप्रयोगाद्गम्योत्प्रेक्षा६८॥

सवितुः परिभावुकैर्मरीचीनचिराभ्यक्तमतङ्गजाङ्गभाभिः ।
जलदैरभितः स्फुरद्भिरुच्चैर्विदधे केतनतेव धूमकेतोः ॥६९॥

सवितुरिति । सवितुर्मरीचीन् मयूखान् परिभावुकैस्तिरस्कुर्व्वद्भिः । " लपपत " इत्यादिना उकञ्प्रत्यये " न लोका " इत्यादिना षष्ठीप्रतिषेधः । अचिराभ्यक्तस्य सद्यः कृताभ्यङ्गस्य मतङ्गजाङ्गस्य नागदेहस्येव भासो येषा तैस्तथोक्तै । " भोभगो " इत्यादिना रोर्यकारस्य " हलि सर्व्वेषाम् " इति लोपः । अभित स्फुरद्भिर्जृम्भमाणैरुच्चैरुन्नतैर्जलदैर्धूमकेतोरग्नेः केतनता केतुत्व विदधे इव विहितेव । धूमकेतो. केतुत्व प्राप्तमित्यर्थः । उत्प्रेक्षालङ्कारः ॥ ६९ ॥

ज्वलतः शमनाय चित्रभानोः प्रलयाप्लावमिवाभिदर्शयन्तः ।
ववृषुर्वृषनादिनो नदीनां प्रतटारोपितवारि वारिवाहाः ॥ ७० ॥

ज्वलत इति । ज्वलतश्चित्रभानोरग्नेः प्रशमनाय प्रलये कल्पान्ते य आप्लावो महापूर. तमभिदर्शयन्त इवेत्युत्प्रेक्षा । वृषवद्वृषभवत् नदन्ति गर्ज्जन्तीति वृषनादिनः ।"कर्त्तर्य्युपमाने"इति णिनिः। अत एवोपमा । वारि वहन्तीति वारिवाहा मेघाः। "कर्म्मण्यण्"।नदीना प्रतटेषु प्रतीरेषु आरोपितानि भावितानि वारीणि यस्मिन् कर्म्मणि तद्यथा तथा ववृषु ।प्रलयकालमेघवद्वर्षन्नित्यर्थ. ॥ ७० ॥

मधुरैरपि भूयसा स मेध्यैः प्रथमं प्रत्युत वारिभिर्दिदीपे ।
पवमानसखस्ततः क्रमेण प्रणयक्रोध इवाशमद्विवादैः ॥७१॥

मधुरैरिति । इतीत्थ पवत इति पवमानो वायुः । " पूङ्यजोः शानन् " तस्य सखा पवमानखः अग्निः । " राजाह सखिभ्यष्टच् " मैत्रीमात्रविवक्षायामय निर्देश. स्वसहकारिणि मैत्रीति नियमात् । सहकारित्वाविवक्षाया वैपरीत्यात् । बहुव्रीहौ तु न समासान्त. । स्वामी तु ' रोहिताश्वो वायुसखः ' इति असमासान्तपाठेन बहुव्रीहिमाह । अत्रापि तथा पाठे न कश्चिदुपद्रवः । सोऽग्निः मधुरै. प्रियैरपि विवादैर्विविधवाक्यैः प्रणयक्रोधः प्रणयप्रयुक्तकोप इव मधुरैः स्वादुभिः अनुद्दीपकैरित्यर्थः । मेध्यैर्मेघभवैः । " दिगादिभ्यो यत् " । वारिभिः प्रथमं वैपरीत्येनापि प्रत्युतेति 'वैपरीत्ये' इति गणव्याख्याने । भूयसात्यन्त भृशमित्यर्थ । दिदीपे प्रजज्वाल । तत. क्रमेणाशमत् शान्तोऽभूत् । शाम्यतेर्लुङि पुषादित्वात् च्लेरङादेशः । जलाहतोऽग्निर्ज्वलितो नश्यति प्रणयकोपोऽपि प्रियैः भृशायित्वा शाम्यतीति प्रसिद्धम् । उपमा ॥ ७१ ॥

परितः प्रसभेन नीयमानः शरवर्षैरवसायमाश्रयाशः ।
प्रबलेषु कृती चकार विद्युद्व्यपदेशेन घनेष्वनुप्रवेशम् ॥ ७२ ॥

परित इति । परितः प्रसभेन बलात्कारेण शरवर्षैर्नीरसेकैः । 'शर नीरे शरो बाणे' इति विश्वः । अवसायमवसाद नीयमानः । कृती कुशलः आश्रयमश्नातीति आश्रयाशोऽग्निः । "कर्म्मण्यण्" । प्रबलेषु घनेषु मेघेषु विद्युद्व्यपदेशेन तडिच्छलेन अनुप्रवेश चकार । अस्ताग्निर्विद्युद्रूपेण मेघेष्वेव प्रविष्टः बलवताभिभूतस्य विदेशगमन तदनुप्रवेशो वेति नीतिरिति भावः । अत्र विशेषणसाम्यादग्नावप्रकृतदुर्बलत्वप्रतीतेः समासोक्तिः ॥ ७२ ॥

प्रयतः प्रशमं हुताशनस्य क्वचिदालक्ष्यत मुक्तमूलमर्चिः ।
बलभित्प्रहितायुधाभिघातात्त्रुटितं पक्षिपतेरिवैकपत्रम् ॥७३॥

प्रयत इति । प्रशम नाश प्रयत गच्छत । प्रैतीति प्रयन् तस्य प्रयतः।इणः शतरि यणादेशः । हुताशनस्याग्नेः सम्बन्धि मुक्तमूल त्यक्तमूल त्यक्ताश्रयमर्चिर्ज्वाला।'ज्वालाभासोर्न पुस्यर्चिः' इत्यमरः । बलभिदा शक्रेण प्रहितस्य प्रयुक्तस्यायुधस्य वज्रस्याभिघातात् प्रहारात् त्रुटित छिन्न पक्षिपते. पक्षिराजस्य गरुत्मत एक पत्र पक्षमिव क्वचिदालक्ष्यत अदृश्यत इत्युपमा । पुरा मातृदास्यविमोकायामृतमाहरता गरुडेनेन्द्रप्रयुक्तवज्रगौरवादेक पत्रं त्यक्तमित्यागमः ॥ ७३ ॥

व्यगमन्सहसा दिशां मुखेभ्यः शमयित्वा शिखिनं घनाघनौघाः
उपकृत्य निसर्गतः परेषामुपरोधं न हि कुर्वते महान्तः॥७४॥

व्यगमन्निति।घनाघनौघा. वर्षुकाब्दसमूहाः'शक्रघातुकमत्तेभवर्षुकाब्दा घनाघना'’इत्यमरः। ।शिखिनमग्निं शमयित्वा सहसा दिशा मुखेभ्यो व्यगमन्नपसस्रुः।गमेर्लुङि पुषादित्वात् च्लेरङादेशः।तथा हि महान्तो निसर्गतः स्वभावादेव परेषाम् उपकृत्य उपकार कृत्वा उपरोध नहि कुर्वते । महता निष्फलावस्थान परोपरोधायेति भावः । सामान्येन विशेषसमर्थनारूपोऽर्थान्तरन्यासः॥७४॥

कृतदाहमुदर्चिषः शिखाभिः परिषिक्तं मुहुरम्भसा नवेन ।
विगताम्बुधरव्रणं प्रपेदे गगनं तापितपायितासिलक्ष्मीम्॥७५॥

कृतेति । उदर्चिषोऽग्नेः शिखाभिः ज्वालाभिः कृतदाह विहिततपन ततो नवेनाम्भसा मुहुः परिषिक्त विगता अम्बुधरा एव व्रणा दोषा यस्य तद्गगनं सन्तापितस्ताप प्रापितः स चासौ पायितः पान कारितः पिबतेर्ण्यन्तात्कर्मणि क्तः । " शाच्छासाह्वाव्यावेपा युक् " इति युगागमः । तस्य तापितपायितस्य तप्तसिक्तस्यासेः खड्गस्य लक्ष्मीं प्रपेदे प्रापे इति निदर्शनालङ्कारः । अम्बुधरव्रणेति रूपकसङ्कीर्णः ॥ ७५ ॥

इति नरपतिरस्त्रं यद्यदाविश्चकार प्रकुपित इव रोगः क्षिप्रकारी विकारम् । भिषगिव गुरुदोषच्छेदिनोपक्रमेण क्रमविदथ मुरारिः प्रत्यहंस्तत्तदाशु ॥७६ ॥

इतीति । इतीत्थं क्षिप्रं करोतीति क्षिप्रकारी शीघ्रप्रयोक्ता अन्यत्र विकारकारी नरपतिश्चैद्यः प्रकुपितः प्रक्षुभितः सन् यद्यदस्त्रमविश्वकार रोगो विकारमिव । अथ क्रमवित्परिपाटीवेदी मुरारिर्भिषग्वैद्य इव गुरुदोषच्छेदिना गुरुदोषप्रतिघातकेन दोषनिवर्त्तकेन चोपक्रमेणोपायेन प्रत्यस्त्रप्रयोगेणेत्यर्थः । अन्यत्र महौषधप्रयोगेण तत्तदस्त्रम् आशु शीघ्रं तद्विकारमिवेति भावः । प्रत्यहन् प्रतिजघान । हन्तेर्लङ्, अदादित्वाच्छपो लुक् " हल्ङ्या " इत्यादिना लोपे रूपम् । उपमा ॥ ७६ ॥

शुद्धिं गतैरपि परामृजुभिर्विदित्वा बाणैरजय्यमविघट्टितमर्म्मभिस्तम्
मर्म्मातिगैरनृजुभिर्नितरामशुद्धैर्वाक्सायकैरथ तुतोद तदा विपक्षः ॥ ७७

शुद्धिमिति । तदा तस्मिन् समये विपक्षोऽरिश्चैद्यः परामुत्कृष्टां शुद्धिं लोहशुद्धिं गतैर्ऋजुभिरप्यविघट्टितमर्मभिरस्पृष्टमर्मस्थानैः तं हारमजय्यं जेतुमशक्यम् " क्षय्यजय्यौ शक्यार्थे " इतिनिपातः । विदित्वाऽथास्मिन्नवसरे मर्म्माणि अतिगच्छन्तीति मर्म्मातिगैर्मर्मभेदिभिरनृजुभिर्वक्रैः नितरामशुद्धैरपवित्रैः वाच एव सायकास्तैः वाक्सायकैरिति रूपकम् । तुतोद व्यथयामास चक्रप्रयोगस्यायमुपोद्घात इति भावः । अत्र वाक्सायकानां प्रसिद्धसाधनव्यतिरेकोक्तेर्व्यतिरेकरूपकयोः सङ्करः । वसन्ततिलकावृत्तम् ॥ ७७ ॥

राहुस्त्रीस्तनयोरकारि सहसा येनाश्लथालिङ्गन-
व्यापारैकविनोददुर्ललितयोः कार्कश्यलक्ष्मीर्वृथा ।
तेनाक्रोशत एव तस्य मुरजित्तत्काललोलानल-
ज्वालापल्लवितेन मूर्द्धविकलं चक्रेण चक्रे वपुः ॥ ७८ ॥

राहिति । येन चक्रेण सहसा झटिति अश्लथो दृढो य आलिङ्गनव्यापारः स एव एको मुख्यः । 'एके मुख्यान्यकेवलाः' इत्यमरः । विनोदस्तत्र दुर्ललितयोर्लोलुपयो राहुस्त्रीस्तनयो राहुरमणीकुचयोः कार्कश्यलक्ष्मीः काठिन्यशोभा वृथा व्यर्था अकारि कृता । शिरोमात्रावशेषितस्य राहोरालिङ्गनसुखासम्भवादिति भावः । मुरजिद् हरिः तत्काले तस्मिन्समये लोलाभिश्चञ्चलाभिरनलज्वालाभिरग्निदीप्तिभिः । पल्लवितेन संजातपल्लवेन । तारकादित्वादितच् । तेन चक्रेण आक्रोशत एव शपमानस्यैव तस्य शिशुपालस्य वपुर्मूर्धविकलं शिरोहीनं चक्रे चकार । शिरश्चिच्छेदेत्यर्थः । कर्तरि लिट् । राहोः शिरो वपुर्विकलमकारि, अस्य तु वपुः शिरोविकलं कृतमिति तात्पर्यम् । अत्र चक्रवर्णनेऽप्रस्तुताद्राहुस्त्रीकुचकार्कश्यवर्णनात्प्रस्तुतत्वेन सम्बन्धस्तत्पर्यायोक्तमुच्यते इति ॥ ७८ ॥

श्रिया जुष्टं दिव्यैः सपटहरवैरन्वितं पुष्पवर्षै-
र्वपुष्टश्चैद्यस्य क्षणमृषिगणैः स्तूयमानं निरीय ।
प्रकाशेनाकाशे दिनकरकरान्विक्षिपद्विस्मिताक्षै-
र्नरेन्द्रैरौपेन्द्रं वपुरथ विशद्धाम वीक्षाम्बभूवे ॥ ७९ ॥

इति श्रीशिशुपालवधे महाकाव्ये श्रीदत्तकसूनुश्रीमाघकविविरचिते शिशुपालवधो नाम विंशतितमः सर्गः ॥ २० ॥

श्रियेति । अथ शिरश्छेदानन्तर श्रिया शोभया जुष्ट सेवित दिव्यैर्दिवि भवैः सपटहरवैः सन्दुन्दुभिघोषै पुष्पवर्षैरन्वित क्षणम् ऋषिगणैः स्तूयमान तथा चैद्यस्य वपुषः शरीरत. । पञ्चम्यास्तसिल् । निरीय निर्गत्य । 'इण् गतौ' इति धातो' समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप् । प्रकाशेन आकाशे दिनकरकरानर्करश्मीन् विक्षिपत् उपेन्द्रस्येदमौपेन्द्र वपुर्हरेर्विग्रह विशत् प्रविशत् धाम शिशुपालतेजो विस्मिताक्षैर्विकसितनयनैर्नरेन्द्रै राजन्यैः ईक्षाञ्चक्रे ईक्षितम् । ईक्षतेः कर्मणि लिट् । "इजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छः" इत्याम् । "कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि" इति भुवोऽनुप्रयोगः "भावकर्मणोः" इत्यात्मनेपदम् । अत्र भगवान्व्यासः—'ततश्चेदिपतेर्देहात्तेजोऽग्र्यं ददृशे नृपैः । उत्पपात यदा राजन् तदा तेजो विवेश च॥ दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता । यदि भा सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मन ॥' इति । एतेन भगवद्वपुषोऽपि तदासक्तवचनसा (?) तारक इत्यनुसंधेयम् । यदाह नारद —'कामाद्गोप्यो भयात्कंसो द्वेषाच्चैद्यादयो नृपा. । संबन्धाद्वृष्णयः स्नेहाद्यूय भक्त्या वय प्रभो' ॥ इति सूर्यसहस्राभिभाविनः शिशुपालतेजसो हरिशरीरप्रवेशवृत्तान्तस्यालौकिकस्याद्भुतस्य प्रत्यक्षलक्ष्यमाणत्वाद्भाविकालंकार. । तदुक्तम्—'विनापराधेन कृतार्थक (?) पिना भाविक तदुदाहृतम्' इति । मेघविस्फूर्जिता वृत्तम् । 'रसर्त्वश्वैर्यमौ न्सररगुरुयुता मेघविस्फूर्जिता स्यात्' इति लक्षणात् ॥ ७९ ॥

इति श्रीमहामहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचिते माघकाव्यव्याख्याने सर्वङ्कषाख्ये विंशतितमः सर्गः समाप्त ॥ २० ॥

अथ पञ्चभिः कविवंशवर्णनम् ।

सर्वाधिकारी सुकृताधिकारः श्रीधर्मनामस्य बभूव राज्ञः ।
असक्तदृष्टिर्विरजाः सदैव देवोऽपरः सुप्रभदेवनामा ॥ १ ॥
काले मित तथ्यमुदर्कपथ्यं तथागतस्येव जनः सुचेताः ।
विनानुरोधात्स्वहितेच्छयैव महीपतिर्यस्य वचश्चकार ॥ २ ॥
तस्याभवद्दत्तक इत्युदात्त क्षमी मृदुर्धर्मपरस्तनूजः ।
य वीक्ष्य वैयासमजातशत्रोर्वचो गुणग्राहि जनैः प्रतीये ॥ ३ ॥
सर्वेण सर्वाश्रय इत्यनिन्द्यमानन्दभाजा जनित जनेन ।
यश्च द्वितीय स्वयमद्वितीयमुख्य· सतां गौणमवाप नाम ॥ ४ ॥
श्रीशब्दरम्यकृतसर्गसमाप्तिलक्ष्मलक्ष्मीपतेश्चरितकीर्तनचारु माघः ।
तस्यात्मज सुकविकीर्तिदुराशयादः काव्य व्यधत्तशिशुपालवधाभिधानम् ॥ ५ ॥

इति शिशुपालवधमहाकाव्य समाप्तम् ।

पुस्तक मिलनेका ठिकाना—

खेमराज श्रीकृष्णदास,
"श्रीवेङ्कटेश्वर" स्टीम् प्रेस-बंबई.

गङ्गाविष्णु श्रीकृष्णदास,
"लक्ष्मीवेंकटेश्वर" प्रेस-कल्याण, बम्बई.